सत्साहित्य-प्रकाशन

मेरी कहानी

•

लेखक

जवाहरलाल नेहरू

•

हिन्दी-सम्पादक

हरिभाऊ उपाध्याय

१९६१

सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली

श्रीमती कमला नेहरू

कमला को,

जिसकी अब याद ही रह गई।

सम्पादकीय

[प्रथम संस्करण से]

आज, जबकि पूर्व-प्रकाशित सूचना के अनुसार इस पुस्तक को पाठकों के हाथों में पहुंचे एक महीना हो जाना चाहिए था, मैं अपना यह प्रारम्भिक निवेदन लिखने बैठा हूं। समझ में नहीं आता, इस देरी के लिए किस प्रकार क्षमा मांगूं ! एक तो वैसे ही स्वास्थ्य कुछ बहुत अच्छा नहीं रहता, फिर दूसरी ओर ज़िम्मेदारियों का बोझ भी सिर पर था, जो इस अधमरे शरीर को थका देने के लिए काफी था। ऐसी दशा में श्री जवाहरलालजी की 'कहानी' के अनुवाद और सम्पादन के काम की ज़िम्मेदारी मेरे लिए दुःसाहस की बात थी। लेकिन पागल भावुकता का क्या इलाज ! बापूजी—महात्माजी—की 'आत्मकथा' के अनुवाद का जब सुअवसर मिला तो उसको मैंने अपना अहोभाग्य समझा। अब अपने मान्य राष्ट्रपति की जीवन-कथा के अनुवाद का सुसंयोग आने पर इस गौरव से अपनेको वंचित रखने की कल्पना ही कैसे हो सकती थी ! इसलिए जब 'सस्ता साहित्य मंडल' ने कांग्रेस-इतिहास के दोनों संस्करणों के अनुवाद और सम्पादन के बाद ही यह ज़िम्मेदारी भी उठाने के लिए मुझसे कहा तो मैंने फौरन उसे स्वीकार कर लिया और इस खयाल से कि काम जल्दी और समय पर खत्म हो जाय, अनुवाद में शक्ति से अधिक मेहनत करने लगा। नतीजा यह हुआ कि आगे चलकर शरीर ने जवाब दे दिया और गाड़ी अधबीच में ही रुक गई। लेकिन काम को जल्दी खत्म करने और पुस्तक जल्दी प्रकाशित करने की चिन्ता होना स्वाभाविक ही था। और स्वास्थ्य इतना अधिक गिर गया था कि मैं डर गया। लेकिन मेरे मित्र प्रो० गोकुललाल असावा तथा भाई शंकरलाल वर्मा (मंत्री, प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी, अजमेर) ने तुरन्त ही मुझे इस चिन्ता-भार से बचा लिया। प्रो० गोकुललाल तो 'कांग्रेस-इतिहास' की तरह शुरू से ही इस काम में भी मेरी मदद कर रहे थे। इस बार भाई शंकरलालजी भी मेरी मदद पर आ गये। यह इन

दोनों के सहयोग और सहायता का ही परिणाम है कि पुस्तक का काम जल्दी पूरा हो गया। इसके लिए मैं इनका बहुत आभारी हूं।

अनुवाद के सिलसिले में मुझे भाई श्रीकृष्णदत्त पालीवाल एम० एल० ए० (केन्द्रीय), भाई गोपीकृष्ण विजयवर्गीय (प्रधान मन्त्री, इन्दौर राज्य-प्रजा-मंडल) और श्री चन्द्रगुप्त वार्ष्णेय (अजमेर) से भी सहायता मिली है और फ्रेंच उद्धरणों का अंग्रेज़ी-भाषान्तर स्वयं मूल लेखक तथा पूज्य डॉ० हरि रामचन्द्र दिवेकर (ग्वालियर) ने किया है। इसके लिए मैं इन सबका अत्यन्त आभारी हूं।

भाई श्री वियोगी हरि ने कविता-क्षेत्र से अलग हट जाने पर भी मेरे अनुरोध पर इस पुस्तक की कविता के हिन्दी-अनुवादों का संशोधन करने की कृपा की है। श्री मुकुटबिहारी वर्मा ने इस काम को अपना ही काम समझकर प्रूफ-संशोधन और कहीं-कहीं भाषा-सम्बन्धी संशोधन आदि में शुरू से ही सहायता दी है। अतः इन दोनों का भी मैं हृदय से कृतज्ञ हूं।

अनुवाद की भाषा में प्रचलित हिन्दी, उर्दू और अंग्रेज़ी शब्दों का खुलकर प्रयोग हुआ है। अनुवाद का पहला फ़ार्म खुद जवाहरलालजी ने देख लिया था और उसकी भाषा को उन्होंने पसन्द किया था। उससे मुझे काफ़ी उत्साह मिला था। अगर सारी पुस्तक पंडितजी को पसन्द आ गई तो मुझे बड़ा संतोष मिलेगा; क्योंकि मैं वर्तमान भारत की बहुतेरी आवश्यकताओं को पंडितजी की वाणी में बोलता हुआ पाता हूं।

गांधी आश्रम, हटुंडी (अजमेर)
गांधी-जयन्ती, १९३६

—हरिभाऊ उपाध्याय

प्रकाशकीय

इस ग्रंथ का पहला संस्करण आज से कोई पच्चीस साल पहले निकला था। इन सालों में उसके नौ संस्करण निकल चुके हैं और अब यह दसवां पाठकों के हाथों में पहुंच रहा है। पुस्तक इतने महत्त्व की है कि इसकी मांग आगे भी बराबर बनी रहेगी।

पहला संस्करण बड़ी जल्दी में निकाला गया था। बाद के संस्करण में सारी किताब को फिर से मूल से मिलाकर देख लिया गया। इस प्रकार यह बराबर कोशिश होती रही है कि पुस्तक अच्छे-से-अच्छे ढंग से और शुद्ध रूप में निकले।

हिन्दी में किसी पुस्तक के दस संस्करण हो जाना उसकी आसाधारण लोकप्रियता का द्योतक है। हमें हर्ष है कि यह पुस्तक आज भी बड़ी रुचि के साथ पढ़ी जाती है।

ऐसे उपयोगी प्रकाशन की लाखों प्रतियां निकलनी चाहिए और कोई भी ऐसा शिक्षित परिवार नहीं होना चाहिए, जिसमें यह पुस्तक न हो। हमें विश्वास है कि देश में जैसे-जैसे शिक्षा बढ़ती जायगी, इस पुस्तक की मांग में भी वृद्धि होती जायगी।

दसवां संस्करण

'मेरी कहानी' का यह दसवां संस्करण पुस्तक की असाधारण लोकप्रियता का द्योतक है। यद्यपि आज देश की राजनैतिक स्थिति बदल गई है, देश गुलामी की शृंखला से मुक्त होकर स्वतंत्र हो गया है, तथापि इस पुस्तक का महत्त्व ज्यों-का-त्यों बना हुआ है। वह हमें आजादी के लिए की गई कठोर साधना का स्मरण दिलाती है और भविष्य में कर्त्तव्यपालन की प्रेरणा देती है।

पुस्तक की सामग्री यथापूर्व रक्खी गई है।

—मंत्री

प्रस्तावना

यह सारी किताब, सिर्फ़ एकाध आखिरी बात और चन्द मामूली रद्दोबदल के अलावा, जून १९३४ से फ़रवरी १९३५ के बीच, जेल में ही लिखी गई है। इसके लिखने का खास मक़सद यह था कि मैं किसी निश्चित काम में लग जाऊं, जोकि जेल-जीवन की तनहाई के पहाड़-से दिन काटने के लिए बहुत जरूरी होता है। साथ ही मैं पिछले दिनों की हिन्दुस्तान की उन घटनाओं का ऊहापोह भी कर लेना चाहता था, जिनसे मेरा ताल्लुक़ रहा है, ताकि उनके बारे में मैं स्पष्टता के साथ सोच सकूं। आत्म-जिज्ञासा के भाव से मैंने इसे शुरू किया और, बहुत हदतक, यही क्रम बराबर जारी रक्खा है। पढ़नेवालों का खयाल रखकर ही मैंने सबकुछ लिखा हो, सो बात नहीं; लेकिन अगर पढ़नेवालों का ध्यान आया भी, तो पहले अपने ही देश के लोगों का आया है। विदेशी पाठकों का खयाल करके लिखता तो शायद मैंने इससे जुदे रूप में इसे लिखा होता, या दूसरी ही बातों पर ज्यादा ज़ोर दिया होता। उस हालत में, जिन कुछ बातों को इनमें मैंने योंही टाल दिया है, उनपर ज़ोर देता, और दूसरी जिन बातों को कुछ विस्तार से लिखा है उन्हें महज़ सरसरी तौर पर लिखता। मुमकिन है कि बाहरवालों की उनमें से ज़्यादातर बातों से दिलचस्पी न हो, जिन्हें मैंने तफ़सील में लिखा है, और वे उनके लिए अनावश्यक या इतनी खुली हुई बातें हों जिनके लिए बहस-मुबाहसे की कोई गुंजाइश नहीं है; लेकिन मैं समझता हूं कि आज के हिन्दुस्तान में उनका कुछ-न-कुछ महत्त्व ज़रूर है। इसी तरह हमारे देश के राज-नैतिक मामलों और व्यक्तियों के बारे में बराबर जो कुछ लिखा गया है वह भी सम्भवतः बाहरवालों के लिए दिलचस्पी का विषय न हो।

मुझे उम्मीद है कि पाठक, इसे पढ़ते हुए, इस बात का खयाल रक्खेंगे कि यह किताब ऐसे समय में लिखी गई है, जो मेरी ज़िन्दगी का खासतौर पर कष्टपूर्ण समय था। इसमें यह असर साफ़ तौर पर झलकता है। अगर इसकी बजाय और किसी मामूली वक़्त में यह लिखी गई होती तो यह कुछ और ही तरह लिखी जाती और कहीं-कहीं शायद ज्यादा संयत होती। मगर मैंने यही मुनासिब समझा कि यह जैसी

ह वैसी ही इसे रहने दूं, क्योंकि दूसरों को शायद वही रूप ज़्यादा पसन्द हो, जिससे उन भावों का ठीक-ठीक परिचय मिलता हो, जो इस किताब को लिखते वक़्त मेरे दिमाग़ में उठते थे। इसमें, जहांतक मुमकिन हो सकता था, मैंने अपना मानसिक विकास अंकित करने का प्रयत्न किया है, हिन्दुस्तान के आधुनिक इतिहास का विवेचन नहीं। यह बात कि यह किताब ऊपर से देखने पर उक्त विवेचन-सी मालूम होती है, पाठक को गुमराह कर सकती है, और इसलिए वह इसे उससे कहीं अधिक महत्त्व दे सकता है, जितने की कि यह मुस्तहक़ है। इसलिए मैं यह चेतावनी देना चाहता हूं कि यह विवरण एकदम एकांगी—इकतर्फ़ा—है, और निश्चित रूप से, व्यक्तिगत है। अनेक महत्त्वपूर्ण घटनाओं की बिल्कुल उपेक्षा कर दी गई है और कई प्रतिभाशाली व्यक्तियों का, जिनका कि घटनाओं के निर्माण में हाथ रहा है, उल्लेख तक नहीं हो पाया है। किन्हीं बीती हुई घटनाओं के असली विवेचन में ऐसा करना अक्षम्य होता, किन्तु एक व्यक्तिगत विवरण इसके लिए क्षमापात्र हो सकता है। जो लोग हमारे निकट-भूत की घटनाओं का ठीक-ठीक अध्ययन करना चाहते हैं, उन्हें इसके लिए किन्हीं दूसरे साधनों का सहारा लेना होगा। लेकिन यह हो सकता है कि यह विवरण और ऐसी दूसरी कथाएं उन्हें छूटी हुई कड़ियों को जोड़ने और कठोर तथ्य का अध्ययन करने में सहायक हो सकें।

मैंने अपने कुछ साथियों की, जिनके साथ मुझे बरसों काम करने का सौभाग्य रहा है और जिनके प्रति मेरे हृदय में सबसे अधिक आदर और प्रेम है, खुली चर्चा की है; साथ ही समुदायों और व्यक्तियों की भी शायद और भी कड़ी आलोचना की है। मेरी यह आलोचना उनमें से अधिकतर के प्रति मेरे आदर को घटा नहीं सकती। लेकिन मुझे ऐसा लगा कि जो लोग सार्वजनिक कामों में पड़ते हैं, उन्हें आपस में एक-दूसरे के और जनता के साथ, जिसकी कि वे सेवा करना चाहते हैं, स्पष्टवादिता से काम लेना चाहिए। दिखावटी शिष्टाचार और असमंजस और कभी-कभी परेशानी में डालनेवाले प्रश्नों को टाल देने से न तो हम एक-दूसरे को अच्छी तरह समझ सकते हैं और न अपने सामने की समस्याओं का मर्म ही जान सकते हैं। आपस के मत-भेदों और उन सब बातों के प्रति जिनमें मतैक्य है, आदर और वस्तुस्थिति का, चाहे वह कितती ही कठोर क्यों न हो, मुक़ाबला ही हमारे वास्तविक सहयोग का आधार होना चाहिए। लेकिन मेरा विश्वास है कि मैंने जो कुछ भी लिखा है उसमें किसी व्यक्ति के साथ किसी प्रकार के द्वेष या दुर्भाव का लेश-मात्र भी नहीं है।

सरसरी तौर पर या अप्रत्यक्ष रूप से चर्चा करने के सिवा, मैंने भारत की मौजूदा समस्याओं के विवेचन को जान-बूझकर टाला है। जेल में मैं न तो इस स्थिति में था कि इनकी अच्छी तरह विवेचना कर सकूं, न मैं अपने मन में यही निश्चय कर सकता था कि क्या किया जाना चाहिए। जेल से छूटने के बाद भी मैंने उस सम्बन्ध में कुछ बढ़ाना ठीक नहीं समझा। मैं जो कुछ लिख चुका था, उसके यह अनुकूल नहीं जान पड़ा। इस तरह यह 'मेरी कहानी' एक व्यक्तिगत, और ऐसे अतीत के, जो वर्तमान के नजदीक, किन्तु जो उसके सम्पर्क से सतर्कतापूर्वक दूर है, अपूर्ण विवरण का रेखाचित्र-मात्र रह गई है।

वेडनवीलर, **—जवाहरलाल नेहरू**

२ जनवरी, १९३६

विषय-सूची

मेरी कहानी

पिता
(पंडित मोतीलाल नेहरू)

: १ :

कश्मीरी घराना

अपने बारे में ख़ुद लिखना मुश्किल भी है और दिलचस्प भी, क्योंकि अपनी बुराई या निन्दा लिखना ख़ुद हमें बुरा मालूम होता है, और अगर अपनी तारीफ़ करें तो पाठकों को उसे सुनना नागवार मालम होता है ।"

—अब्राहम काउली

मां-बाप धनी-मानी और बेटा इकलौता हो, तो अक्सर वह बिगड़ जाता है—फिर, हिन्दुस्तान में तो और भी ज्यादा; और जब लड़का ऐसा हो जो ११ साल की उम्र तक अपने मां-बाप का इकलौता रहा हो, तो फिर दुलार की खराबी से उसके बचने की आशा और भी कम रह जाती है । मेरी दो बहनें उम्र में मुझसे बहुत ही छोटी हैं और हम हरेक के बीच काफ़ी साल का फ़र्क़ है । इस तरह अपने बचपन में मैं बहुत-कुछ अकेला ही रहा । मुझे कोई हमउम्र साथी न मिला—यहांतक कि मुझे स्कूल का भी कोई साथी नसीब न हुआ ! क्योंकि मैं किसी किंडर-गार्टन या बच्चों के मदरसे में पढ़ने नहीं भेजा गया । मेरी पढ़ाई की ज़िम्मेदारी घरू मास्टरों या अध्यापिकाओं पर थी ।

मगर हमारे घर में किसी तरह का अकेलापन न था । हमारा परिवार बहुत बड़ा था, जिसमें चचेरे भाई वग़ैरा और दूसरे पास के रिश्तेदार बहुत थे, जैसा कि हिन्दू परिवारों में आमतौर पर हुआ करता है । मगर मुश्किल यह थी कि मेरे तमाम चचेरे भाई उम्र में मुझसे बहुत बड़े थे और वे सब हाई स्कूल या कॉलेज में पढ़ते थे । उनकी नज़र में मैं उनके कामों या खेलों में शरीक होने लायक़ नहीं हुआ था । इस तरह इतने बड़े परिवार में मैं और भी अकेला लगता था और ज्यादातर अपने ही खयालों और खेलों में मुझे अकेले अपना वक़्त काटना पड़ता था ।

हम लोग कश्मीरी हैं । २०० बरस से ज्यादा हुए होंगे, १८वीं सदी के शुरू में हमारे पुरखे यश और धन कमाने के इरादे से कश्मीर की सुन्दर तराइयों

से नीचे के उपजाऊ मैदानों में आये। वे मुग़ल साम्राज्य के पतन के दिन थे। औरंगज़ेब मर चुका था और फ़र्रुख़सियर बादशाह था। हमारे जो पुरखा सबसे पहले आये, उनका नाम था राजकौल। कश्मीर के संस्कृत और फ़ारसी के विद्वानों में उनका नाम था। फ़र्रुख़सियर जब कश्मीर गया, तो उसकी नज़र उनपर पड़ी। और शायद उसीके कहने से उनका परिवार दिल्ली आया, जो कि उस समय मुग़लों की राजधानी थी। सन् १७१६ के आसपास की बात है। राजकौल को एक मकान और कुछ जागीर दी गई। मकान नहर के किनारे था, इसीसे उनका नाम नेहरू पड़ गया। कौल, जो उनका कौटुम्बिक नाम था, बदलकर कौल-नेहरू हो गया और, आगे चलकर, कौल तो ग़ायब हो गया और हम महज़ नेहरू रह गये।

उसके बाद ऐसा डांवाडोल ज़माना आया कि हमारे कुटुम्ब के वैभव का अन्त हो गया, और वह जागीर भी तहस-नहस हो गई। मेरे परदादा, लक्ष्मीनारायण नेहरू दिल्ली के बादशाह के नाममात्र के दरबार में कम्पनी-सरकार के पहले वकील हुए। मेरे दादा, गंगाधर नेहरू, १८५७ के ग़दर के कुछ पहले तक दिल्ली के कोतवाल थे। १८६१ में ३४ साल की भरी जवानी में ही वह मर गये।

१८५७ के ग़दर की वजह से हमारे परिवार का सब सिलसिला टूट गया। हमारे खानदान के तमाम काग़ज़-पत्र और दस्तावेज़ तहस-नहस हो गये। इस तरह अपना सब-कुछ खो चुकने पर हमारा परिवार दिल्ली छोड़नेवाले और कई लोगों के साथ वहां से चल पड़ा और आगरा जाकर बस गया। उस समय मेरे पिताजी का जन्म नहीं हुआ था; लेकिन मेरे दो चाचा जवान थे और कुछ अंग्रेज़ी जानते थे। इस अंग्रेज़ी जानने की बदौलत मेरे छोटे चाचा और परिवार के कुछ दूसरे लोग एक बुरी और अचानक मौत से बच गये। हमारे परिवार के कुछ लोगों के साथ वह दिल्ली से कहीं जा रहे थे। उनके साथ उनकी एक छोटी बहन भी थी, जिसका रूप-रंग गोरा और बहुत अच्छा था, जैसा कि अक्सर कश्मीरी बच्चों का हुआ करता है। इत्तिफ़ाक़ से कुछ अंग्रेज़ सिपाही उन्हें रास्ते में मिले। उन्हें शक हुआ कि, हो-न-हो, यह लड़की किसी अंग्रेज़ की है और ये लोग इसे भगाये लिये जा रहे हैं। उन दिनों सरसरी तौर पर मुक़दमा करके सज़ा ठोंक देना एक मामूली बात थी, इसलिए मेरे चाचा तथा परिवार के दूसरे लोग किसी नज़दीकी पेड़ पर ज़रूर फांसी पर लटका दिये गए होते। मगर खुशक़िस्मती

दादा
(पंडित गंगाधर नेहरू)

से मेरे चाचा के अंग्रेज़ी-ज्ञान ने मदद की, जिससे इस फ़ैसले में कुछ देरी हुई। इतने ही में उधर से एक शख़्स गुज़रा, जो मेरे चाचा वग़ैरा को जानता था, उसने उनकी और दूसरों की जान बचाई।

कुछ बरसों तक वे लोग आगरा रहे और वहीं ६ मई, १८६१ को पिताजी का जन्म हुआ[१]। मगर वह पैदा हुए थे मेरे दादा के मरने के तीन महीने बाद। मेरे दादा की एक छोटी तस्वीर हमारे यहां है, जिसमें वह मुग़लों का दरबारी लिबास पहने और हाथ में एक टेढ़ी तलवार लिये हुए हैं। उसमें वह एक मुग़ल सरदार-जैसे लगते हैं, हालांकि सूरत-शकल उनकी कश्मीरियों की-सी ही थी।

तब हमारे परिवार के भरण-पोषण की ज़िम्मेदारी मेरे दो चाचाओं पर आ पड़ी, जो कि उम्र में मेरे पिता से काफ़ी बड़े थे। बड़े चाचा बंसीधर नेहरू थोड़े ही दिन बाद ब्रिटिश सरकार के न्याय-विभाग में नौकर होगये। जगह-जगह उनका तबादला होता रहा, जिससे वह परिवार के और लोगों से बहुत-कुछ जुदा पड़ गये। छोटे चाचा नन्दलाल नेहरू राजपूताना की एक छोटी रियासत, खेतड़ी, के दीवान हुए और वहां दस बरस तक रहे। बाद में उन्होंने क़ानून का अध्ययन किया और आगरा में वकालत शुरू की। मेरे पिता भी उन्हींके साथ रहे और उन्हींकी छत्रछाया मे उनका लालन-पालन हुआ। दोनों का आपस में बड़ा प्रेम था और उसमें बंधु-प्रेम, पितृ-प्रेम और वात्सल्य का अनोखा मिश्रण था। मेरे पिता सबसे छोटे होने के कारण स्वभावतः मेरी दादी के बहुत लाड़ले थे। वह बूढ़ी थीं और बड़ी दबंग भी। किसीकी ताब नहीं थी कि उनकी बात को टाले। उनको मरे अब पचास वर्ष हो गये होंगे, मगर बूढ़ी कश्मीरी स्त्रियां अब भी उनकी याद करती हैं और कहती हैं कि वह बड़ी ज़ोरदार औरत थीं। अगर किसीने उनकी मर्ज़ी के ख़िलाफ़ कोई काम किया तो बस मौत ही समझिये।

मेरे चाचा नये हाईकोर्ट में जाया करते थे और जब वह हाईकोर्ट इलाहाबाद चला गया तो हमारे परिवार के लोग भी वहीं जा बसे। तबसे इलाहाबाद ही हमारा घर बन गया है और वहीं, बहुत साल बाद, मेरा जन्म हुआ। चाचाजी की वकालत धीरे-धीरे बढ़ती गई और वह इलाहाबाद-हाईकोर्ट के बड़े वकीलों

---

[१] एक अजीब और मजेदार दैवयोग है कि कवि-सम्राट् रवीन्द्रनाथ ठाकुर भी उसी दिन, उसी महीने और उसी साल पैदा हुए थे।

में गिने जाने लगे । इस बीच मेरे पिताजी कानपुर के स्कूल और इलाहाबाद के कॉलेज में शिक्षा पाते रहे । शुरू-शुरू में उन्होंने महज़ फ़ारसी और अरबी की तालीम पाई थी । उनकी अंग्रेज़ी शिक्षा बारह-तेरह वर्ष की उम्र के बाद शुरू हुई । मगर उस उम्र में भी वह फ़ारसी के अच्छे जानकार समझे जाते थे और अरबी में भी कुछ दखल रखते थे । इसी कारण उनसे उम्र में बहुत बड़े लोग भी उनके साथ इज्ज़त से पेश आते थे । छोटी उम्र में इतनी लियाक़त हो जाने पर भी स्कूल और कॉलेज में वह ज्यादातर हँसी-खेल और धींगामुश्ती के लिए मशहूर थे । उन्हें संजीदा विद्यार्थी किसी तरह नहीं कह सकते थे । पढ़ने-लिखने की बनिस्बत खेल-कूद और शरारत का शौक़ बहुत था । कॉलेज में सरकश लड़कों के अगुआ समझे जाते थे । उनका झुकाव पश्चिमी लिबास की तरफ़ हो गया था, और सो भी उस वक़्त जबकि हिन्दुस्तान में कलकत्ता और बम्बई-जैसे बड़े शहरों को छोड़कर कहीं इसका चलन नहीं हुआ था । वह तेज़-मिज़ाज और अक्खड़ थे, तो भी उनके अंग्रेज़ प्रोफ़ेसर उनको बहुत चाहते थे और अक्सर मुश्किलों से बचा लिया करते थे । वह उनकी स्पिरिट को पसन्द करते थे । उनकी बुद्धि तेज़ थी और कभी-कभी एकाएक ज़ोर लगाकर वह क्लास में भी अपना काम ठीक चला लेते थे । अर्से बाद अक्सर वह अपने एक प्रोफ़ेसर का ज़िक्र प्रेम-भरे शब्दों में किया करते थे । वह थे मि० हैरिसन, जो म्योर सेण्ट्रल कालेज, इलाहाबाद के प्रिंसिपल थे । उनकी एक चिट्ठी भी उन्होंने बड़े जतन से संभालकर रखी थी । यह उन दिनों की है, जबकि वह कालेज में पढ़ते थे ।

कॉलेज की परीक्षाओं में वह पास होते चले गये । मगर कोई खास नामवरी उन्होंने हासिल नहीं की । आखिर को बी० ए० के इम्तिहान में बैठे । मगर उसके लिए उन्होंने कुछ मेहनत या तैयारी नहीं की थी और जो पहला पर्चा किया, तो उससे उन्हें बिल्कुल सन्तोष नहीं हुआ । उन्होंने सोचा, जब पहला ही पर्चा बिगड़ गया है तो अब पास होने की क्या उम्मीद ? उन्होंने बाक़ी पर्चे किये ही नहीं और जाकर ताजमहल की सैर करने लगे । (उन दिनों विश्वविद्यालय की परीक्षाएं आगरा में हुआ करती थीं)। मगर बाद को उनके प्रोफ़ेसर ने उन्हें बुलाया और बहुत बिगड़े । उनका कहना था कि पहला पर्चा तुमने ठीक-ठीक किया है और बड़ी बेवकूफ़ी की, जो आगे के पर्चे नहीं किये। खैर, इस तरह पिताजी की कॉलेज-शिक्षा हमेशा के लिए खतम हो गई और बी० ए० पास करना आखिर रही गया ।

अब उन्हें काम-धन्धा जमाने की फ़िक्र हुई। सहज ही उनकी निगाह वकालत की ओर गई; क्योंकि उस समय वही एक पेशा ऐसा था जिसमें बुद्धिमान और होशियार आदमियों के लिए काम की गुंजाइश थी और जिसकी चल जाती उसके पौ-बारह होते थे। अपने भाई की मिसाल उनके सामने थी ही। बस, हाईकोर्ट-वकालत के इम्तिहान में बैठे और उनका नम्बर सबसे पहला रहा। उन्हें एक स्वर्ण-पदक भी मिला। क़ानून का विषय उन्हें दिल से पसन्द था और उसमें सफलता पाने का उन्होंने निश्चय कर लिया था।

उन्होंने कानपुर की ज़िला-अदालतों में वकालत शुरू की, और चूंकि वह सफलता पाने के लिए बहुत लालायित थे, इसलिए जी-तोड़ मेहनत की। फिर क्या था, उनकी वकालत अच्छी चमक उठी। मगर हां, हँसी-खेल और मौज-मज़ा उनका उसी तरह जारी रहा और अबतक भी उनका कुछ वक़्त उसमें चला जाता था। उन्हें कुश्ती और दंगल का ख़ास शौक़ था। उन दिनों कानपुर कुश्तियों और दंगलों के लिए मशहूर था।

तीन साल तक कानपुर में उम्मीदवार के तौर पर काम करने के बाद पिताजी इलाहाबाद आये और हाईकोर्ट में काम करने लगे। इधर चाचा पण्डित नन्दलाल एकाएक गुज़र गये। इससे पिताजी को ज़बरदस्त धक्का लगा। वह उनके लिए भाई ही नहीं, पिता के समान थे, और उन दोनों में बड़ा प्रेम था। उनके गुज़र जाने से परिवार का मुखिया, जिसपर सारी आमदनी का दारोमदार था, उठ गया। परिवार की और पिताजी की यह बहुत बड़ी हानि थी। अब इतने बड़े कुनबे के भरण-पोषण का प्रायः सारा भार उनके तरुण कन्धों पर आ पड़ा।

वह अपने पेशे में जुट पड़े। सफलता पर तो तुले हुए थे ही, इसलिए कई महीनों तक दूसरी सब बातों से जी हटाकर इसीमें लगे रहे। चाचाजी के क़रीब-क़रीब सब मुक़दमे उन्हें मिल गये और अच्छी कामयाबी भी मिली। इससे अपने पेशे में भी उन्हें बहुत जल्दी कामयाबी मिलती चली गई। मुक़दमे धड़ाधड़ आने लगे और रुपया ख़ूब मिलने लगा। छोटी उम्र में ही उन्होंने वकालती पेशे में नामवरी हासिल कर ली; परन्तु उसकी क़ीमत उन्हें यह देनी पड़ी कि वकालत-देवी के ही मानों वह अधीन हो गये। उनके पास न सार्वजनिक और न घरू कामों के लिए वक़्त रहता था—यहांतक कि छुट्टियों के दिन भी वह वकालत के काम में ही लगाते थे। कांग्रेस उन दिनों मध्यम श्रेणी के

अंग्रेज़ी पढ़े लोगों का ध्यान अपनी तरफ़ खींचने लगी थी। वह उसकी शुरू की कुछ बैठकों में गये भी थे और, जहांतक विचारों से सम्बन्ध है, वह कांग्रेसवादी रहे भी; पर उसके कामों में कोई ख़ास दिलचस्पी नहीं लेते थे। अपने पेशे में ही इतने डूबे रहते थे कि उसके लिए उन्हें वक़्त नहीं था। हां, एक बात और थी। इसके सिवा, उन्हें यह निश्चय न था कि राजनैतिक और सार्वजनिक कार्यो का क्षेत्र उनके लिए उपयुक्त होगा या नहीं। उस समय तक इन विषयों पर उन्होंने न तो ज़्यादा ध्यान ही दिया था, न कुछ उन्हें इसकी अधिक जानकारी ही थी। वह ऐसे किसी आन्दोलन और संगठन में शामिल होना नहीं चाहते थे, जिसमें उन्हें किसी दूसरे के इशारे पर नाचना पड़ता हो। यों बचपन और जवानी के शुरू की तेज़ी देखने में कम हो गई थी, पर दरअसल उसने नया रूप ले लिया था। वकालत की ओर उसे लगा देने से उन्हें कामयाबी मिली, जिससे उनका गर्व और अपने पर भरोसा रखने का भाव बढ़ गया। पर फिर भी विचित्रता यह थी कि एक ओर वह लड़ाई लड़ना, दिक़्क़तों का मुक़ाबला करना पसन्द करते थे और दूसरी ओर उन दिनों राजनैतिक क्षेत्र से अपनेको बचाये रखते थे। फिर उन दिनों तो कांग्रेस में लड़ाई का मौक़ा भी बहुत कम था। बात दर-असल यह थी कि उस क्षेत्र से उनका परिचय नहीं था और उनका दिमाग़ अपने पेशे की बातों में और उसके लिए कड़ी मेहनत करने में लगा रहता था। उन्होंने सफलता की सीढ़ी पर अपना पैर मज़बूती से जमा लिया था और एक-एक क़दम ऊपर चढ़ते जाते थे और यह किसीकी मेहरबानी से नहीं, और न किसीकी खिद-मत करके ही, बल्कि ख़ुद अपने दृढ़ संकल्प और बुद्धि के बल पर।

साधारण अर्थ में वह ज़रूर ही राष्ट्रवादी थे। मगर वह अंग्रेज़ों और उनके तौर-तरीक़े के क़द्रदां भी थे। उनका यह ख़याल बन गया था कि हमारे देशवासी ही नीचे गिर गये है और वे जिस हालत में हैं, बहुत-कुछ उसीके लायक़ भी हैं। जो राजनैतिक लोग बातें-ही-बातें किया करते हैं, करते-धरते कुछ नहीं, उनसे वह मन-ही-मन कुछ नफ़रत-सी करते थे; हालांकि वह यह नहीं जानते थे कि इससे ज़्यादा और वे कर ही क्या सकते थे? हां, एक और ख़याल भी उनके दिमाग़ में था, जो कि उनकी कामयाबी के नशे से पैदा हुआ था। वह यह कि जो राजनीति में पड़े हैं, उनमें ज़्यादातर—सब नहीं—वे लोग हैं, जो अपने जीवन में नाकामयाब हो चुके हैं।

पिताजी की आमदनी दिन-दिन बढ़ती जाती थी, जिससे हमारे रहन-सहन में बहुत परिवर्तन हो गया था। आमदनी बढ़ी नहीं कि खर्च भी उसके साथ बढ़ा नहीं। रुपया जमा करना पिताजी को ऐसा मालूम पड़ता था मानों जब और जितना चाहें रुपया कमाने की अपनी शक्ति पर तोहमत लगाना है। खिलाड़ी की स्पिरिट और हर तरह से बढ़ी-चढ़ी रहन-सहन के शौक़ीन तो वह थे ही, जो कुछ कमाते थे, सब खर्च कर देते थे। नतीजा यह हुआ कि हमारा रहन-सहन धीरे-धीरे पश्चिमी सांचे में ढलता गया।

मेरे बचपन[१] में हमारे घर का यह हाल था।

---

[१] १४ नवम्बर १८८९, मार्गशीर्ष बदी सप्तमी, संवत् १९४६ को इलाहाबाद में मेरा जन्म हुआ था।

: २ :

बचपन

मेरा बचपन इस तरह बड़ों की छत्रछाया में बीता और उसमें कोई महत्त्व की घटना नहीं हुई। मैं अपने चचेरे भाइयों की बातें सुनता, मगर हमेशा सबकी-सब मेरी समझ में आजाती हों सो बात नहीं। अक्सर ये बातें अंग्रेज़ और यूरेशियन लोगों के ऐंठू स्वभाव और हिन्दुस्तानियों के साथ अपमानजनक व्यवहारों के बारे में हुआ करती थीं और इस बात पर भी चर्चा हुआ करती कि प्रत्येक हिन्दुस्तानी का फ़र्ज़ होना चाहिए कि वह इस हालत का मुक़ाबला करे और इसे हरगिज़ बर्दाश्त न करे। हाकिमों और लोगों में टक्करें होती रहती थीं और उनके समाचार आये दिन सुनाई पड़ते थे। उसपर भी ख़ूब चर्चा होती थी। यह एक आम बात थी कि जब कोई अंग्रेज़ किसी हिन्दुस्तानी को क़त्ल कर देता, तो अंग्रेज़ों के ज़ूरी उसको बरी कर देते। यह बात सबको खटकती थी। रेलगाड़ियों में यूरोपियनों के लिए डिब्बे रिज़र्व रहते थे और गाड़ी में चाहे कितनी ही भीड़ हो—और ज़बरदस्त भीड़ रहा ही करती थी—कोई हिन्दुस्तानी उनमें सफ़र नहीं कर सकता था, भले ही वे खाली पड़े रहें। जो डिब्बे रिज़र्व नहीं होते थे, उनपर भी अंग्रेज लोग अपना क़ब्ज़ा जमा लेते थे और किसी हिन्दुस्तानी को घुसने नहीं देते थे। सार्वजनिक बग़ीचों और दूसरी जगहों में भी बेंचें और कुर्सियां रिज़र्व रखी जाती थीं। विदेशी हाकिमों के इस बर्ताव को देखकर मुझे बड़ा रंज होता और जब कभी कोई हिन्दुस्तानी उलटकर वार कर देता, तो मुझे बड़ी खुशी होती। कभी-कभी मेरे चचेरे भाइयों में से कोई या उनके कोई दोस्त खुद भी ऐसे झगड़ों में उलझ जाते, तब हम लोगों में बड़ा जोश फैल जाता। हमारे परिवार में मेरे चचेरे भाई बड़े दबंग थे। उन्हें अक्सर अंग्रेज़ों से और ज़्यादातर यूरेशियनों से झगड़ा मोल लेने का बड़ा शौक़ था। यूरेशियन तो अपनेको शासकों की जाति का बताने के लिए अंग्रेज़ अफ़सरों और व्यापारियों से भी ज़्यादा बुरी तरह पेश आते थे। ऐसे झगड़े खासकर रेल के सफ़र में हुआ करते थे।

हालांकि देश में विदेशी शासकों का रहना और उनका रंग-ढंग मुझे नागवार मालूम होने लगा था, तो भी, जहांतक मुझे याद है, किसी अंग्रेज़ के लिए मेरे दिल में बुरा भाव नहीं था। मेरी अध्यापिकाएं अंग्रेज़ थीं और कभी-कभी मैं देखता था कि कुछ अंग्रेज भी पिताजी से मिलने के लिए आया करते थे। बल्कि यों कहना चाहिए कि अपने दिल में तो मैं अंग्रेज़ों की इज्ज़त ही करता था।

शाम को रोज़ कई मित्र पिताजी से मिलने आया करते थे। पिताजी आराम से पड़ जाते और उनके बीच दिन-भर की थकान मिटाते। उनकी ज़बरदस्त हँसी से सारा घर भर जाता था। इलाहाबाद में उनकी हँसी एक मशहूर बात हो गई थी। कभी-कभी मैं परदे की ओट से उनकी और उनके दोस्तों की ओर झांकता और यह जानने की कोशिश करता कि ये बड़े लोग इकट्ठे होकर आपस में क्या-क्या बातें किया करते हैं। मगर जब कभी ऐसा करते हुए मैं पकड़ा जाता तो खींचकर बाहर लाया जाता और सहमा हुआ कुछ देर तक पिताजी की गोदी में बैठाया जाता। एक बार मैंने उन्हें 'क्लेरेट' या कोई दूसरी लाल शराब पीते हुए देखा। 'ह्विस्की' को मैं जानता था। अक्सर पिताजी को और उनके मित्रों को पीते देखा था। मगर इस नई लाल चीज़ को देखकर मैं सहम गया और माँ के पास दौड़ा गया और कहा कि "मां, मां, देखो तो, पिताजी खून पी रहे हैं!"

मैं पिताजी की बहुत इज्ज़त करता था। मैं उन्हें बल, साहस और होशियारी की मूर्त्ति समझता था और दूसरों के मुक़ाबले इन बातों में बहुत ही ऊंचा और बढ़ा-चढ़ा पाता था। मैं अपने दिल में मनसूबे बांधा करता था कि बड़ा होने पर पिताजी की तरह होऊंगा। पर जहां मैं उनकी इज्ज़त करता था और उन्हें बहुत ही चाहता था, वहां मैं उनसे डरता भी बहुत था। नौकर-चाकरों पर और दूसरों पर बिगड़ते हुए मैंने उन्हें देखा था। उस समय वह बड़े भयंकर मालूम होते थे और मैं मारे डर के कांपने लगता था। नौकरों के साथ उनका जो यह बर्ताव होता था, उससे मेरे मन में उनपर कभी-कभी ग़ुस्सा आ जाया करता। उनका स्वभाव दरअसल भयंकर था, और उनकी उम्र के ढलते दिनों में भी उनका-सा ग़ुस्सा मुझे किसी दूसरे में देखने को नहीं मिला। लेकिन खुशक़िस्मती से उनमें हँसी-मज़ाक़ का माद्दा भी बड़े ज़ोर का था और वह इरादे के बड़े पक्के थे। इससे आम तौर पर अपने-आपको ज़ब्त रख सकते थे। ज्यों-ज्यों उनकी

उम्र बढ़ती गई उनकी संयम-शक्ति बढ़ती गई; और फिर शायद ही कभी वह ऐसा भीषण स्वरूप धारण करते थे।

उनकी तेज़-मिज़ाजी की एक घटना मुझे याद है, क्योंकि बचपन ही में मैं उसका शिकार हो गया था। कोई ५-६ वर्ष की मेरी उम्र रही होगी। एक रोज़ मैंने पिताजी की मेज़ पर दो फ़ाउण्टेन-पेन पड़े देखे। मेरा जी ललचाया। मैंने दिल में कहा––पिताजी एक साथ दो पेनों का क्या करेंगे? एक मैंने अपनी जेब में डाल लिया। बाद में बड़े ज़ोरों की तलाश हुई कि पेन कहां चला गया। तब तो मैं घबराया। मगर मैंने बताया नहीं। पेन मिल गया और मैं गुनहगार क़रार दिया गया। पिताजी बहुत नाराज़ हुए और मेरी ख़ूब मरम्मत की। मैं दर्द व अपमान से अपना-सा मुंह लिये मां की गोद में दौड़ा गया और कई दिन तक मेरे दर्द करते हुए छोटे-से बदन पर क्रीम और मरहम लगाये गए।

लेकिन मुझे याद नहीं पड़ता कि इस सज़ा के कारण पिताजी को मैंने कोसा हो। मैं समझता हूं, मेरे दिल ने यही कहा होगा कि सज़ा तो तुझे वाजिब ही मिली है, मगर थी ज़रूरत से ज्यादा। लेकिन पिताजी के लिए मेरे दिल में वैसी ही इज़्ज़त और मुहब्बत बनी रही––हां, अब एक डर और उसमें शामिल हो गया था। मगर मां के बारे में ऐसा न था। उनसे मैं बिल्कुल नहीं डरता था; क्योंकि मैं जानता था कि वह मेरे सब किये-धरे को माफ़ कर देंगी और उनके इस ज्यादा और बेहद प्रेम के कारण मैं उनपर थोड़ा-बहुत हावी होने की भी कोशिश करता था। पिताजी की बनिस्बत मैं मां को ज्यादा पहचान सका था और वह मुझे पिताजी से अपने ज़्यादा नज़दीक मालूम होती थी। मैं जितने भरोसे के साथ माताजी से अपनी बात कह सकता था, उतने भरोसे के साथ पिताजी से कहने का स्वप्न में भी ख़याल नहीं कर सकता था। वह सुडौल, क़द में छोटी और नाटी थीं और मैं जल्द ही क़रीब-क़रीब उनके बराबर ऊंचा हो गया था और अपनेको उनके बराबर समझने लगा था। वह बहुत सुन्दर थीं। उनका सुन्दर चेहरा और छोटे-छोटे ख़ूबसूरत हाथ-पांव मुझे बहुत भाते थे। मेरी मां के पूर्वज कोई दो पुश्त पहले ही कश्मीर से नीचे मैदान में आये थे।

एक और शख़्स थे––जिनपर लड़कपन में मैं भरोसा करता था। वह थे पिताजी के मुंशी मुबारक अली। वह बदायूं के रहनेवाले थे और उनके घर के लोग ख़ुशहाल थे। मगर १८५७ के ग़दर ने उनके कुनबे को बरबाद कर दिया और

अंग्रेज़ी फ़ौज ने उसको एक हदतक जड़-मूल से उखाड़ फेंका था। इस मुसीबत ने उन्हें हरेक के प्रति, और खासकर बच्चों के प्रति, बहुत नम्र और सहनशील बना दिया था और मेरे लिए तो वह, जब कभी मैं किसी बात से दुःखी होता या तकलीफ़ महसूस करता तो, सान्त्वना के निश्चित आधार थे। उनके बढ़िया सफ़ेद दाढ़ी थी और मेरी नौजवान आंखों को वह बहुत पुराने और प्राचीन जानकारी के खज़ाने मालूम होते थे। मैं उनके पास लेटे-लेटे घंटों अलिफ़लैला की और दूसरी क़िस्से-कहानियां या १८५७ और १८५८ की ग़दर की बातें सुना करता। बहुत दिन बाद, मेरे बड़े होने पर, मुंशीजी मर गये। उनकी प्यारी सुखद स्मृति अब भी मेरे मन में बसी हुई है।

हिन्दू पुराणों और रामायण-महाभारत की कथाएं भी मैं सुना करता था। मेरी मां और चाचियां सुनाया करती थीं। मेरी एक चाची, पण्डित नन्दलालजी की विधवा पत्नी, पुराने हिन्दू-ग्रंथों की बहुत जानकारी रखती थीं। उनके पास इन कहानियों का तो मानो खज़ाना ही भरा था। इस कारण हिन्दू पौराणिक कथाओं और गाथाओं की मुझे काफ़ी जानकारी हो गई थी।

धर्म के मामले में मेरे खयालात बहुत धुंधले थे। मुझे वह स्त्रियों से सम्बन्ध रखनेवाला विषय मालूम होता था। पिताजी और बड़े चचेरे भाई धर्म की बात को हँसी में उड़ा दिया करते थे और इसको कोई महत्त्व नहीं देते थे। हां, हमारे घर की औरतें अलबत्ता पूजा-पाठ और व्रत-त्यौहार किया करती थीं। हालांकि मैं इस मामले में घर के बड़े-बूढ़े आदमियों की देखादेखी उनकी अवहेलना किया करता था, फिर भी कहना होगा कि मुझे उनमें एक लुत्फ़ आता था। कभी-कभी मैं अपनी मां या चाची के साथ गंगा नहाने जाया करता, और कभी इलाहाबाद या काशी या दूसरी जगह के मन्दिरों में भी या किसी नामी और बड़े साधु-संन्यासी के दर्शन के लिए भी जाया करता। मगर इन सबका बहुत कम असर मेरे दिल पर हुआ।

फिर त्यौहार के दिन आते थे--होली, जबकि सारे शहर में रंगरेलियों की धूम मच जाती थी और हम लोग एक दूसरे पर रंग की पिचकारियां चलाते थे; दिवाली रोशनी का त्यौहार होता, जबकि सब घरों पर धीमी रोशनीवाले मिट्टी के हजारों दीये जलाये जाते; जन्माष्टमी, जिसमें जेल में जन्मे श्रीकृष्ण की आधी रात को वर्षगांठ मनाई जाती (लेकिन उस समय तक जागते रहना हमारे लिए बड़ा मुश्किल होता था); दशहरा और रामलीला, जिसमें स्वांग और

जुलूसों के द्वारा रामचन्द्र और लंका-विजय की पुरानी कहानी की नक़ल की जाती थी और जिन्हें देखने के लिए लोगों की बड़ी भारी भीड़ इकट्ठी होती थी। सब बच्चे मुहर्रम का जुलूस भी देखने जाते थे, जिसमें रेशमी अलम होते थे और सुदूर अरब में हसन और हुसैन के साथ हुई घटनाओं की यादगार में शोकपूर्ण मर्सिये गाये जाते थे। दोनों ईद पर मुंशीजी बढ़िया कपड़े पहनकर बड़ी मसजिद में नमाज़ के लिए जाते और मैं उनके घर जाकर मीठी सेवैंयां और दूसरी बढ़िया चीज़ें खाया करता। इनके सिवा रक्षाबन्धन, भैया-दूज वग़ैरा छोटे त्यौहार भी हम लोग मानते थे।

कश्मीरियों के कुछ खास त्यौहार भी होते हैं, जिन्हें उत्तर में बहुतेरे दूसरे हिन्दू नहीं मानते। इनमें सबसे बड़ा नौरोज़ याने वर्ष-प्रतिपदा का त्यौहार है। इस दिन हम लोग नये कपड़े पहनकर बन-ठनकर निकलते और घर के बड़े लड़के-लड़कियों को हाथ-खर्च के तौर पर कुछ पैसे मिला करते थे।

मगर इन तमाम उत्सवों में मुझे एक सालाना जलसे में ज़्यादा दिलचस्पी रहती, जिसका खास मुझीसे ताल्लुक़ था—याने मेरी वर्ष-गांठ का उत्सव। इस दिन मैं बड़े उत्साह और रंग में रहता था। सुबह ही एक बड़ी तराजू में मैं गेहूं और दूसरी चीज़ों के थैलों से तौला जाता और फिर वे चीज़ें ग़रीबों को बांट दी जातीं और बाद को नये-नये कपड़ों से सजा-धजाकर मुझे भेंट और तोहफ़े नज़र किये जाते। फिर शाम को दावत दी जाती। उस दिन का मानो मैं राजा ही हो जाता; मगर मुझे इस बात का बड़ा दुःख होता था कि वर्ष-गांठ साल में एक बार ही क्यों आती है? और मैंने इस बात का आन्दोलन-सा खड़ा करने की कोशिश की कि वर्ष-गांठ के मौके बरस में एक बार ही क्यों, और अधिक क्यों न आया करें? उस वक़्त मुझे क्या पता था कि एक समय ऐसा भी आयेगा जब ये वर्षगांठें हमको अपने बुढ़ापे के आने की दुःखदायी याद दिलाया करेंगी।

कभी-कभी हम सब घर के लोग अपने किसी भाई या किसी रिश्तेदार या किसी दोस्त की शादी में बारात भी जाया करते। सफ़र में बड़ी धूम रहती। शादी के उत्सवों में हम बच्चों की तमाम पाबन्दियां ढीली हो जाती थीं और हम आज़ादी से आ-जा सकते थे। शादीखाने में कई कुटुम्बों के लोग आकर रहते थे और उनमें बहुतेरे लड़के और लड़कियां भी होती थीं। ऐसे मौकों पर मुझे अकेलेपन की शिकायत नहीं रहती थी और जी भरकर खेलने-कूदने और शरारत करने

का मौक़ा मिल जाता था। हां, कभी-कभी बड़े-बढ़ों की डांट-फटकार भी ज़रूर पड़ जाती थी।

हिन्दुस्तान में क्या ग़रीब और क्या अमीर, सब जिस तरह शादियों में धूम-धाम और फ़िज़ूल-ख़र्ची करते हैं उनकी हर तरह बुराई ही की जाती है और वह ठीक भी है। फ़िज़ूल-ख़र्ची के अलावा उसमें बड़े भद्दे ढंग के प्रदर्शन भी होते हैं, जिनमें न कोई सुन्दरता होती है, न कला (कहना न होगा कि इसमें अपवाद भी होते हैं)। इन सबके असली गुनहगार हैं मध्यम वर्ग के लोग। ग़रीब भी क़र्ज़ लेकर फ़िज़ूल-ख़र्ची करते हैं। मगर यह कहना बिल्कुल बेमानी है कि उनकी दरिद्रता उनकी इन सामाजिक कुप्रथाओं के कारण है। अक्सर यह भुला दिया जाता है कि ग़रीब लोगों की ज़िन्दगी बड़ी उदास, नीरस और एक ढर्रे की होती है। जब कभी कोई शादी का जलसा होता है, तो उसमें उन्हें अच्छा खाने-पीने और गाने-बजाने का कुछ मौक़ा मिल जाता है, जोकि उनकी मेहनत-मशक़्क़त के रेगिस्तान में झरने के समान होता है। रोज़मर्रा के जी उबा देनेवाले काम-काज और जीवन-क्रम से हटकर कुछ आराम और आनन्द की छटा दीख जाती है, और जिनको हँसने-खेलने के इतने कम मौक़े मिलते हैं, उनको कौन ऐसा निष्ठुर बेपीर होगा जो इतना भी आनन्द, आराम और तसल्ली न मिलने देना चाहेगा ? हां, फ़िज़ूल-ख़र्ची को आप शौक़ से बन्द कर दीजिये और उनकी शाहख़र्ची भी—कैसे बड़े और बेमानी लफ़्ज़ हैं ये जो उस थोड़े-से प्रदर्शन के लिए इस्तेमाल किये जाते हैं, जिसे ग़रीब लोग अपनी ग़रीबी में भी दिखाते हैं—कम कर दीजिए, लेकिन मेहरबानी करके उनके जीवन को ज्यादा उदास और हँसी-ख़ुशी से ख़ाली मत बनाइये।

यही बात मध्यम श्रेणी के लोगों के लिए भी है। फ़िज़ूल-ख़र्ची को छोड़ दें, तो ये शादियां एक तरह के सामाजिक सम्मेलन ही हैं, जहां कि दूर के रिश्तेदार और पुराने साथी व दोस्त बहुत दिनों के बाद मिल जाते हैं। हमारा देश बड़ा लम्बा-चौड़ा है; यहां अपने संगी-साथियों व दोस्तों से मिलना आसान नहीं है। सबका साथ और एक जगह मिलना तो और भी मुश्किल है। इसीलिए यहां शादी के जलसों को लोग इतना चाहते हैं। एक और चीज़ इसके मुक़ाबले की है और कुछ बातों में तो, और सामाजिक सम्मेलन की दृष्टि से भी, वह उससे आगे निकल गई है। वह है राजनैतिक सम्मेलन, अर्थात् प्रान्तीय परिषदें, या कांग्रेस की बैठकें।

और लोगों की बनिस्बत, खासकर उत्तर भारत में, कश्मीरियों को एक खास सुभीता है। उनमें परदे का रिवाज कभी नहीं रहा है। मैदान में आने पर, वहां के रिवाज़ के मुताबिक़ दूसरों से और ग़ैर-कश्मीरियों से, जहांतक ताल्लुक़ है, उन्होंने उस रिवाज़ को एक हद तक अपना लिया है। उत्तर में जहां कि कश्मीरी अधिक बसते हैं, उन दिनों यह सामाजिक उच्चता का एक चिह्न समझा जाता रहा था। मगर अपने आपस में उन्होंने स्त्री और पुरुष के सामाजिक जीवन को वैसा ही आज़ाद रखा है। कोई भी कश्मीरी किसी भी कश्मीरी के घर में आज़ादी से आ-जा सकता है। कश्मीरियों की दावतों और उत्सवों में स्त्री-पुरुष आपस में एक-दूसरे के साथ मिलते-जुलते और बैठते हैं। हां, अक्सर स्त्रियाँ अपना एक झुण्ड बनाकर बैठती हैं, लड़के-लड़कियां बहुत-कुछ बराबर की हैसियत से मिलते-जुलते हैं। लेकिन यह तो कहना ही पड़ेगा कि आधुनिक पश्चिम की तरह की आज़ादी उन्हें नहीं थी।

इस तरह मेरा बचपन गुजरा। कभी-कभी, जैसा कि बड़े कुटुम्बों में हुआ ही करता है, हमारे कुटुम्ब में भी झगड़े हो जाया करते थे। जब वे बढ़ जाते तो पिताजी के कानों तक पहुंचते। तब वह नाराज़ होते और कहते कि ये सब औरतों की बेवक़ूफ़ी के नतीजे हैं। मैं यह तो नहीं समझ पाता था कि दरअसल क्या घटना हुई है, मगर मैं इतना ज़रूर समझता था कि कोई बुरी बात हुई है; क्योंकि लोग एक-दूसरे से रुष्ट होकर बोलते थे या दूर-दूर रहने की कोशिश करते थे। ऐसी हालत में मैं बड़ा दुःखी हो जाता। पिताजी जब कभी बीच में पड़ते, तो हम लोगों के देवता कूच कर जाते थे।

उन दिनों की एक छोटी-सी घटना मुझे अभी तक याद है। ६-७ वर्ष का रहा होऊंगा। मैं रोज़ घुड़-सवारी के लिए जाया करता था। मेरे साथ घुड़-सेना का एक सवार रहता था। एक रोज़ शाम को मैं घोड़े से गिर पड़ा और मेरा टट्टू—जो अरबी नस्ल का एक अच्छा जानवर था—ख़ाली घर लौट आया। पिताजी टेनिस खेल रहे थे। काफ़ी घबराहट और हलचल मच गई और वहां जितने लोग थे सब-के-सब जो भी सवारी मिली उसे लेकर, मेरी तलाश में दौड़ पड़े। पिताजी उन सबके अगुआ बने हुए थे। वह रास्ते में मुझे मिले और मेरा इस तरह स्वागत किया मानो मैंने कोई बड़ी बहादुरी का काम किया हो।

: ३ :

थियोसॉफी

जबकि मैं दस साल का था, हम लोग एक नये और काफ़ी बड़े मकान में आ गये, जिसका नाम पिताजी ने 'आनन्द-भवन' रखा था। इस मकान में एक बड़ा बाग़ और एक तैरने का बड़ा-सा हौज़ था और वहां ज्यों-ज्यों नई-नई चीज़ें दिखाई पड़तीं, त्यों-त्यों मेरी तबीयत लहरा उठती। इमारत में नये-नये हिस्से जोड़े जा रहे थे और बहुत-सा खुदाई और चुनाई का काम हो रहा था। वहां मजदूरों को काम करते हुए देखना मुझे अच्छा लगता था।

मैं कह चुका हूं कि मकान में तैरने के लिए एक बड़ा हौज़ था। मैं तैरना जान गया और पानी के भीतर मुझे ज़रा भी डर नहीं मालूम होता था। गर्मी के दिनों में कई बार मौक़ा-बेमौक़ा मैं उसमें नहाया करता। शाम को पिताजी के कई दोस्त तैरने आया करते थे। वह एक नई चीज़ थी। वहां तथा मकान में बिजली की जो बत्तियां लगाई गई थीं, वे इलाहाबाद में उन दिनों नई बातें थीं। इन नहानेवालों के झुण्ड में मुझे बड़ा आनन्द आता था और उनमें जो तैरना नहीं जानते थे उनमें से किसीको आगे धक्का देकर या पीछे खींचकर डराने में बड़ा ही लुत्फ़ आता था। मुझे डाक्टर तेजबहादुर सप्रू का क़िस्सा याद आता है, जबकि उन्होंने इलाहाबाद-हाईकोर्ट में नई-नई वकालत शुरू की थी। वह तैरना नहीं जानते थे और न जानना ही चाहते थे। वह पन्द्रह इंच पानी में पहली सीढ़ी पर ही बैठ जाते थे और क़सम खाने को एक सीढ़ी नीचे नहीं उतरते थे, और अगर कोई उन्हें आगे खींचने की कोशिश करता तो ज़ोर-से चिल्ला उठते थे। मेरे पिताजी खुद भी तैराक नहीं थे, मगर वह किसी तरह हाथ-पैर फटफटाकर और जी कड़ा करके हौज़ के आर-पार चले जाते थे।

उन दिनों बोअर-युद्ध हो रहा था। उसमें मेरी दिलचस्पी होने लगी। बोअरों की तरफ़ मेरी हमदर्दी थी। इस लड़ाई की खबरों को पढ़ने के लिए मैं अखबार पढ़ने लगा।

इसी समय एक घरेलू बात में मेरा चित्त रम गया। वह थी मेरी एक छोटी बहन का जन्म। मेरे दिल में एक अर्से से एक रंज छिपा रहता था और वह यह कि मेरे कोई भाई या बहन नहीं है, जबकि और कइयों के हैं। जब मुझे यह मालूम हुआ कि मेरे भाई या बहन होनेवाली है, तो मेरी खुशी का पार न रहा। पिताजी उन दिनों यूरोप में थे। मुझे याद है कि उस वक्त बरामदे में बैठा-बैठा कितनी उत्सुकता से इस बात की राह देख रहा था। इतने में एक डॉक्टर ने आकर मुझे बहन होने की ख़बर दी और कहा—शायद मज़ाक़ में—कि तुमको खुश होना चाहिए कि भाई नहीं हुआ, जो तुम्हारी जायदाद में हिस्सा बंटा लेता। यह बात मुझे बहुत चुभी और मुझे ग़ुस्सा भी आ गया—इस ख़याल पर कि कोई मुझे ऐसा कमीना ख़याल रखनेवाला समझे।

पिताजी की यूरोप-यात्रा ने कश्मीरी ब्राह्मणों में अन्दर-ही-अन्दर एक तूफ़ान खड़ा कर दिया। यूरोप से लौटने पर उन्होंने किसी क़िस्म का प्रायश्चित्त करने से इन्कार कर दिया। कुछ साल पहले एक दूसरे कश्मीरी पण्डित बिशननारायण दर, जो बाद में कांग्रेस के सभापति हुए थे, इंग्लैण्ड गये थे और वहां से बैरिस्टर होकर आये थे। लौटने पर बेचारों ने प्रायश्चित्त भी कर लिया, तो भी पुराने ख़याल के लोगों ने उनको जाति से बाहर कर दिया और उनसे किसी क़िस्म का ताल्लुक़ नहीं रखा। इससे बिरादरी में क़रीब-क़रीब बराबर के दो टुकड़े हो गये थे। बाद में कई कश्मीरी युवक विलायत पढ़ने गये और लौटकर सुधारकदल में मिल गये, लेकिन उन सबको प्रायश्चित्त करना पड़ता था। यह प्रायश्चित्त-विधि क्या, एक तमाशा होता था, जिसमें किसी तरह की धार्मिकता नहीं थी। उनके मानी सिर्फ़ रस्म अदा करना या एक गिरोह की बात को मान लेना होता था। और दिल्लगी यह कि एक दफ़ा प्रायश्चित्त कर लेने के बाद ये सब लोग हर तरह के नवीन सुधारों के कामों में शरीक होते थे—यहांतक कि ब्राह्मण और अहिन्दू के यहां भी आते-जाते और खाना खाते थे।

पिताजी एक कदम और आगे बढ़े और उन्होंने किसी रस्म या नाममात्र के लिए भी किसी प्रकार का प्रायश्चित्त करने से इन्कार कर दिया। इससे बड़ा तहलक़ा मच गया, खासकर पिताजी की तेज़ी और अक्खड़पन के कारण। आखिरकार कितने ही कश्मीरी पिताजी के साथ हो गये और एक तीसरा दल बन गया। थोड़े ही सालों के अन्दर जैसे-जैसे ख़यालात बदलते गये और पुरानी

पाबन्दियां हटती गईं, ये सब एक दल में मिल गये। कई कश्मीरी लड़के और लड़कियां इंग्लैण्ड और अमरीका में पढ़ने गये और उनके लौटने पर प्रायश्चित्त का कोई सवाल पैदा नहीं हुआ। खान-पान का परहेज़ क़रीब-क़रीब सब उठ गया। मुट्ठीभर पुराने लोगों को, खासकर बड़ी-बूढ़ी स्त्रियों को छोड़कर, ग़ैर-कश्मीरियों, मुसलमानों तथा ग़ैर-हिन्दुस्तानियों के साथ बैठकर खाना खाना एक मामूली बात हो गई। दूसरी जातिवालों के साथ स्त्रियों का परदा उठ गया और उनके मिलने-जुलने की रुकावट भी हट गई। १९३० के राजनैतिक आन्दोलन ने इसको एक ज़ोर का आख़िरी धक्का दिया। दूसरी बिरादरीवालों के साथ शादी-ब्याह करने का रिवाज़ अभी बहुत बढ़ा नहीं है—हालांकि दिन-दिन बढ़ती पर है। मेरी दोनों बहनों ने ग़ैर-कश्मीरियों के साथ शादी की[1] और हमारे कुटुम्ब का एक युवक हाल ही में एक हंगेरियन लड़की ब्याह लाया है। अन्तर्जातीय विवाह पर ऐतराज धार्मिक दृष्टि से नहीं, बल्कि ज़्यादातर वंश-शुद्धि की दृष्टि से किया जाता है। कश्मीरियों में यह अभिलाषा पाई जाती है कि वे अपनी जाति की एकता को और आर्यत्व के संस्कारों को क़ायम रखें। उन्हें डर है कि यदि वे हिन्दुस्तानी और ग़ैर-हिन्दुस्तानी समाज के समुद्र में कूदेंगे, तो इन दोनों बातों को खो देंगे। इस विशाल देश में हम कश्मीरियों की संख्या सागर में बूंद के बराबर है।

सबसे पहले कश्मीरी ब्राह्मण, जिन्होंने आधुनिक समय में, कोई सौ बरस पहले, पश्चिमी देशों की यात्रा की थी, मिर्ज़ा मोहनलाल 'कश्मीरी' (वह अपनेको ऐसा ही कहा करते थे) थे। वह बड़े ख़ूबसूरत और बुद्धिमान् थे। दिल्ली के मिशन कॉलेज में पढ़ते थे। एक ब्रिटिश मिशन काबुल गया तो उसके साथ फ़ारसी के दुभाषिया बनकर वह वहां गये। बाद को तमाम मध्य-एशिया और ईरान की उन्होंने सैर की। और जहां कहीं गये उन्होंने अपनी एक-एक शादी की, मगर आम तौर पर ऊंचे दर्जे के लोगों के यहाँ। वह मुसलमान हो गये थे और ईरान में शाही घराने की एक लड़की से भी शादी कर ली थी, इसीलिए उनको मिर्ज़ा की उपाधि मिली थी। वह यूरोप भी गये थे और तत्कालीन युवती महारानी विक्टो-

---

[1] पं० जवाहरलाल नेहरू की पुत्री इन्दिरा ने भी एक ग़ैर-कश्मीरी से शादी कर ली है।—अनु०

रिया से भी मिले थे। उन्होंने अपनी यात्रा के बड़े रोचक वर्णन और सुन्दर संस्मरण लिखे हैं।

जब मैं कुल ग्यारह वर्ष का था तो मेरे लिए एक नये शिक्षक आये, जिनका नाम था एफ़० टी० ब्रुक्स। वह मेरे साथ ही रहते थे। उनके पिता आयरिश थे और मां फ्रांसीसी या बेलजियन थीं। वह एक पक्के थियोसॉफ़िस्ट थे और मिसेज़ बेसेण्ट की सिफ़ारिश से आये थे। कोई तीन साल तक वह मेरे साथ रहे। कई बातों में मुझपर उनका गहरा असर पड़ा। उस समय मेरे एक और शिक्षक थे—एक बूढ़े पण्डितजी जो मुझे हिन्दी और संस्कृत पढ़ाने के लिए रखे गये थे। कई वर्षों की मेहनत के बाद भी पण्डितजी मुझे बहुत कम पढ़ा पाये थे—इतना थोड़ा कि मैं अपने नाम-मात्र के संस्कृत-ज्ञान की तुलना अपने लैटिन-ज्ञान के साथ ही कर सकता हूं, जोकि मैंने हॅरो में पढ़ी थी। क़ुसूर तो इसमें मेरा ही था। भाषाएं पढ़ने में मेरी गति अच्छी नहीं थी और व्याकरण में तो मेरी रुचि बिल्कुल ही नहीं थी।

एफ़० टी० ब्रुक्स की सोहबत से मुझे किताबें पढ़ने का चाव लगा, और मैंने कई अंग्रेज़ी किताबें पढ़ डालीं—अलबत्ता बिना किसी उद्देश्य के। बच्चों और लड़कों-सम्बन्धी अच्छा साहित्य मैंने देख लिया था। लुई केरोल[1] और किप्लिंग[2] की पुस्तकें मुझे बहुत पसन्द थीं। डॉन क्विक्जोट्[3] नामक पुस्तक में गुस्ताव दोरे के चित्र मुझे बहुत लुभावने मालूम हुए और फ़िज्ञॉफ़ नान्सन[4] की 'फारदेस्ट नॉर्थ'

---

[1]अतिशय कल्पनोत्तेजक बाल-साहित्य-लेखक। [2]हिन्दुस्तान में पैदा हुआ, भारतीय जीवन के विषय में अनेक काल्पनिक कथाएं लिखनेवाला एक साम्राज्य-भक्त अंग्रेज लेखक। इंग्लैण्ड और साम्राज्य-विषयक इसकी अन्धभक्ति तो पाठक को खटकती है, लेकिन लेखनशैली पर वह मुग्ध हो जाता है। —अनु०

[3]यह एक स्पेनिश उपन्यास है, जिसमें थोड़ी शक्ति पर हवाई किले बांधनेवाले पात्र का अनुपम चित्र खींचा गया है। [4]पेरी के उत्तरी ध्रुव तक पहुंचने के पहले उत्तर में बड़ी दूर-दूर तक जानेवाला नार्विजियन यात्री। इस पुस्तक में इसने अपनी यात्रा का वर्णन किया है। वह नार्वे में अध्यापक था। इसने पीड़ितों के लिए बहुत काम किया और जब रूस में भयानक अकाल पड़ा था तब इसने बड़ी सेवा की थी। इसे शान्ति-स्थापना के लिए नोबल प्राइज़ मिला है। थोड़े ही दिन पहले इसकी मृत्यु हुई है।

ने तो मेरे लिए अद्भुतता और साहस की एक नई दुनिया का दरवाज़ा खोल दिया। स्कॉट,[१] डिकेन्स[२] और थैकरे[३] के कई उपन्यास मुझे पढ़े याद हैं। एच० जी० वेल्स[४] की साहस-कथाएं, मार्क ट्वेन[५] की विनोद-कथाएं और शार्लाक-होम्स[६] की जासूसी कहानियां भी पढ़ी हैं। 'प्रिज़नर्स ऑफ़ ज़ेन्दा'[७] ने मेरे दिमाग़ में घर ही कर लिया था। और जेरोम के० जेरोम की 'थ्री मेन इन ए बोट'[८] से बढ़कर हास्य-रस की पुस्तकें मैंने नहीं पढ़ीं। दूसरी किताबें भी मुझे याद हैं। वे हैं डू मॉरियर[९] की 'ट्रिलबी' और 'पीटर इबटसन'। काव्य-साहित्य के प्रति भी मेरी रुचि बढ़ी थी, जोकि कई परिवर्तनों के हो चुकने के बाद अब भी मुझमें कुछ हद तक क़ायम है।

ब्रुक्स ने विज्ञान के रहस्यों से भी मेरा परिचय कराया। हमने एक विज्ञान की प्रयोगशाला खड़ी कर ली थी और मैं घण्टों प्रारम्भिक वस्तु-विज्ञान और रसायन-शास्त्र के प्रयोग किया करता था, जो बड़े दिलचस्प मालूम होते थे।

पुस्तकें पढ़ने के अलावा ब्रुक्ससाहब ने एक और बात का असर मुझपर डाला, जो कुछ समय तक बड़े ज़ोर के साथ रहा। वह थी थियोसॉफ़ी। हर हफ़्ते उनके कमरे में थियोसॉफ़िस्टों की सभा हुआ करती। मैं भी उसमें जाया करता और धीरे-धीरे थियोसॉफ़ी की भाषा और विचार-शैली मुझे हृदयंगम होने लगी। वहां आध्यात्मिक विषयों पर तथा 'अवतार', 'काम-शरीर' और दूसरे 'अलौकिक शरीरों' और दिव्य पुरुषों के आसपास दिखाई देनेवाले 'तेजोवलय' तथा 'कर्म-तत्त्व', इन विषयों पर चर्चा होती और मैडम ब्लेवेट्स्की तथा दूसरे

---

[१][२][३]प्रसिद्ध अंग्रेज उपन्यासकार। [४]प्रसिद्ध आधुनिक विज्ञान-कथा-लेखक और सुधारक। [५]अमरीकी हास्य-रस-लेखक। [६]कॉनन डायल नामक अंग्रेज लेखक का प्रसिद्ध जासूसी पात्र। [७]एण्टनी होप का प्रसिद्ध उपन्यास। [८]काल्पनिक यात्रा-वर्णन-विषयक पुस्तक, जिसे पढ़कर हँसते-हँसते लोट-पोट हो जाते हैं। इस अंग्रेज लेखक का सारा साहित्य इसी प्रकार का है। [९]पिछली सदी के एक अंग्रेज लेखक (जिसके पिता फ्रांसीसी और माता अंग्रेज थीं)। इसकी पुस्तकें बालकों की कल्पना को उत्तेजित करती हैं। 'पीटर इबटसन' में अपने बच्चे का सुन्दर वर्णन है और बड़ी आकर्षक भाषा में उपन्यास के पात्रों के मुख से जीवन का मर्म समझाया गया है। —अनु०

थियोसॉफ़िस्टों से लेकर हिन्दू धर्म-ग्रन्थों, बुद्ध-धर्म के 'धम्मपद', पायथागोरस,[1] तयाना के अपोलोनियस[2] और कई दार्शनिकों और ऋषियों के ग्रन्थों का ज़िक्र आया करता था। वह सबकुछ मेरी समझ में तो नहीं आता था, परन्तु वह मुझे बहुत रहस्यपूर्ण और लुभावना मालूम होता था, और मैं मानने लगा था कि सारे विश्व के रहस्यों की कुंजी यही है। यहींसे ज़िन्दगी में सबसे पहले मैं अपनी तरफ़ से धर्म और परलोक के बारे में गम्भीरता से सोचने लगा था। हिन्दूधर्म, ख़ासकर, मेरी नज़र में ऊंचा उठ गया था; उसके क्रिया-काण्ड और व्रत-उत्सव नहीं—बल्कि उसके महान् ग्रन्थ उपनिषद् और भगवद्गीता। मैं उन्हें समझ तो नहीं पाता था, परन्तु वे मुझे बहुत विलक्षण ज़रूर मालूम होते थे। मुझे 'काम-शरीरों' के सपने आते और मैं बड़ी दूर तक आकाश में उड़ता जाता। बिना किसी विमान के योंही ऊंचे आकाश में उड़ते जाने के सपने मुझे जीवन में अक्सर आया करते हैं। कभी-कभी तो वे बहुत सच्चे और साफ़ मालूम होते हैं और नीचे का सारा विशाल विश्व-पटल एक चित्रपट-सा दिखाई पड़ता है। मैं नहीं जानता कि फ़ॉयड[3] तथा दूसरे आधुनिक स्वप्न-शास्त्री इन सपनों के क्या अर्थ लगाते होंगे।

उन दिनों मिसेज़ बेसेण्ट इलाहाबाद आई हुई थीं, और उन्होंने थियोसॉफ़ी-सम्बन्धी कई विषयों पर भाषण दिये थे। उनके सुन्दर भाषणों से मेरा दिल हिल उठता था और मैं चकाचौंध होकर घर आता और अपने-आपको भूल जाता था, जैसे कि किसी सपने में हूं। मैं उस समय तेरह साल का था, तो भी मैंने थियोसॉफ़िकल सोसायटी का मेम्बर बनना तय कर लिया। जब मैं पिताजी से इजाज़त लेने गया, तो उन्होंने उसे हँसकर उड़ा दिया। वह इस मामले को इधर या उधर कोई महत्त्व देना नहीं चाहते थे। उनकी इस उदासीनता पर मुझे

---

[1] ईसापूर्व छठी सदी में यह यूनानी तत्त्ववेत्ता हुआ था। इसे सांख्यवादी कह सकते हैं। यह पुनर्जन्म और कर्म के सिद्धान्त को मानता था, इसकी दृष्टि में पशुओं के आत्मा थी और इसलिए यह तथा इसके अनुयायी मांसाहार से नफ़रत करते थे। [2] एक यूनानी तत्त्ववेत्ता जो ईसा के पहले हो गया है। कहते हैं यह हिन्दुस्तान आया था। यह वेदान्ती था। —अनु०

[3] इस युग का प्रसिद्ध जर्मन मानसशास्त्रवेत्ता। —अनु०

दुःख हुआ। यों तो वह मेरी निगाह में बहुत बातों में बड़े थे। फिर भी मुझे लगा कि उनमें आध्यात्मिकता की कमी है। यों सच पूछिये तो वह बहुत पुराने थियोसॉफ़िस्ट थे। वह तबसे थियोसॉफ़िकल सोसायटी में शरीक हुए जब मैडम ब्लेवेट्स्की हिन्दुस्तान में थीं। धार्मिक विश्वास से नहीं, बल्कि कुतूहल के कारण ही शायद वह मेम्बर बने थे। मगर शीघ्र ही वह उसमें से हट गये। हां, उनके कुछ मित्र, जो उनके साथ सोसायटी में शरीक हुए थे, क़ायम रहे और सोसायटी के उच्च आध्यात्मिक पदों पर ऊंचे चढ़ते गये।

इस तरह मैं तेरह वर्ष की उम्र में थिसॉफ़िकल सोसायटी का मेम्बर बना। और खुद मिसेज़ बेसेण्ट ने मुझे प्रारम्भिक दीक्षा दी, जिसमें कुछ उपदेश दिया, और कुछ गूढ़ चिह्नों से परिचित कराया, जो कि शायद फ्री मेसनरी ढंग के थे। उस समय मैं हर्ष से पुलकित हो उठा था। मैं थियोसॉफ़िकल कन्वेन्शन में बनारस गया था और कर्नल अलकॉट को देखा था, जिनकी दाढ़ी बड़ी भव्य थी।

तीस बरस पहले अपने बचपन में कोई कैसा लगता होगा, और क्या अनुभव करता होगा, इसका ख़याल करना बहुत मुश्किल है। मगर मुझे यह अच्छी तरह खयाल पड़ता है कि अपने थियोसॉफ़ी के इन दिनों में मेरा चेहरा गम्भीर, नीरस और उदास दिखाई पड़ता था, जो कि कभी-कभी पवित्रता का सूचक होता है, और जैसा कि थियोसॉफ़िस्ट स्त्री-पुरुषों का अक्सर दिखाई पड़ता है। मैं अपने मन में समझता था कि मैं औरों से ऊंची सतह पर हूं, और अवश्य ही मेरा रंग-ढंग ऐसा था कि जिससे मुझे अपने हम-उम्र लड़के या लड़की अपनी संगत के लायक़ न समझते होंगे।

ब्रुक्ससाहब के मुझसे अलहदा होते ही थियोसॉफ़ी से भी मेरा सम्पर्क छूट गया और बहुत थोड़े ही अरसे में थियोसॉफ़ी मेरी ज़िन्दगी से बिल्कुल हट गई। इसकी कुछ वजह तो यह थी कि मैं इंग्लैण्ड पढ़ने चला गया था। मगर इसमें कोई शक नहीं कि ब्रुक्ससाहब की संगति का मुझपर गहरा असर हुआ है और मैं उनका और थियोसॉफ़ी का बहुत ऋणी हूं। लेकिन मुझे कहते दुःख होता है कि थियोसॉफ़िस्ट तबसे मेरी निगाह में कुछ नीचे उतर गये हैं। वे ख़तरे की बनिस्बत आराम ज़्यादा पसन्द करते हैं। इसलिए ऊंचे एवं बढ़े-चढ़े होने के बजाय मामूली आदमी-से दिखाई देते हैं। शहीदों के रास्ते जाने की बनिस्बत फूलों

पर चलना पसन्द करते हैं। लेकिन हां, मिसेज़ बेसेण्ट के लिए मेरे दिल में बहुत आदर रहा है।

जिस दूसरी मार्के की घटना ने मेरे जीवन पर उस समय असर डाला, वह थी रूस-जापान की लड़ाई। जापानियों की विजय से मेरा दिल उत्साह से उछलने लगता और रोज़ मैं अखबारों में ताज़ी खबरें पढ़ने को उतावला रहता। मैंने जापान-सम्बन्धी कई किताबें मंगाईं और उनमें से थोड़ी-बहुत पढ़ीं भी। जापान के इतिहास में तो मानो मैं अपनेको गंवा बैठा था। पुराने जापान के सरदारों की कहानियां चाव से पढ़ता और लाफ़्केडियो हर्न[1] का गद्य मुझे रुचिकर लगता था।

मेरा दिल राष्ट्रीय भावों से भरा रहता था। मैं यूरोप के पंजे से एशिया और हिन्दुस्तान को आज़ाद करने के भावों में डूबा रहता। मैं बहादुरी के बड़े-बड़े मनसूबे बांधा करता था, कि कैसे हाथ में तलवार लेकर मैं हिन्दुस्तान को आज़ाद करने के लिए लड़ूंगा।

मैं चौदह साल का था। हमारे घर में रद्दोबदल हो रहे थे। मेरे बड़े चचेरे भाई अपने-अपने काम-धन्धों में लग गये थे और अलहदा रहने लगे थे। मेरे मन में नये-नये विचार और गोलमोल कल्पनाएं मंड़राया करती थीं और स्त्री जाति में मेरी कुछ दिलचस्पी बढ़ने लगी थी, लेकिन अब भी मैं लड़कियों की बनिस्बत लड़कों के साथ मिलना ज़्यादा पसन्द करता था, और लड़कियों के साथ मिलना-जुलना अपनी शान के खिलाफ़ समझता था। लेकिन कभी-कभी कश्मीरी दावतों में—जहां सुन्दर लड़कियों का अभाव नहीं रहता था—या दूसरी जगह उनपर कहीं निगाह पड़ गई या बदन छू गया तो मेरे रोंगटे खड़े हो जाते थे।

मई १९०५ में, जब मैं पन्द्रह साल का था, हम इंग्लैण्ड रवाना हुए। पिताजी, मां, मेरी छोटी बहन और मैं, चारों साथ गये थे।

---

[1] जापानी लेखक, जिसने जापान-जीवन के अनुपम चित्र खींचे हैं। —अनु०

: ४ :

हॅरो और केम्ब्रिज

मई के अखीर में हम लोग लन्दन पहुंचे। डोवर से ट्रेन में जाते हुए, रास्ते में, सुशीमा में जापानी जल-सेना की भारी विजय का समाचार मिला। मेरी ख़ुशी का ठिकाना न रहा। दूसरे ही दिन डर्बी की घुड़दौड़ थी। हम लोग उसे देखने गये। मुझे याद है कि लन्दन में आने के कुछ दिनों बाद ही डाक्टर अन्सारी से मेरी भेंट हुई। उन दिनों वह एक चुस्त और होशियार नौजवान थे। उन्होंने वहां के विद्यालयों में भारी सफलता प्राप्त की थी। उन दिनों वह लन्दन के अस्पताल में हाउस-सर्जन थे।

हॅरो में दाखिल होने की दृष्टि से मेरी उम्र कुछ बड़ी थी, क्योंकि मैं उन दिनों पन्द्रह बरस का था। इसलिए यह मेरी ख़ुशक़िस्मती ही थी कि मुझे वहां जगह मिल गई। मेरे परिवार के लोग पहले तो यूरोप के दूसरे देशों की यात्रा को चले गये और फिर वहां से कुछ महीनों बाद हिन्दुस्तान लौट गये।

इससे पहले मैं अजनबी आदमियों में बिल्कुल अकेला कभी नहीं रहा था। इसलिए मुझे बड़ा ही सूना-सूना-सा मालूम पड़ता और घर की याद सताती थी। लेकिन यह हालत ज्यादा दिनों तक नहीं रही। कुछ हद तक मैं स्कूल की ज़िन्दगी में हिल-मिल गया और काम तथा खेलकूद में लगा रहने लगा, लेकिन मेरा पूरा मेल कभी नहीं बैठा। हमेशा मेरे दिल में यह खयाल बना रहता कि मैं इन लोगों में से नहीं हूं और दूसरे लोग भी मेरी बाबत यही ख़याल करते होंगे। कुछ हद तक मैं सबसे अलग अकेला ही रहा। लेकिन कुल मिलाकर मैं खेलों में पूरा-पूरा हिस्सा लेता रहा। खेलों में मैं चमका-चमकाया तो कभी नहीं, लेकिन मेरा विश्वास है कि, लोग यह मानते थे, कि मैं खेल से पीछे हटनेवाला भी न था।

शुरू में तो मुझे नीचे के दर्जे में भर्ती किया गया, क्योंकि मुझे लैटिन कम आती थी, लेकिन फ़ौरन ही मुझे तरक्क़ी मिल गई। सम्भवतः कई बातों में, और ख़ासकर आम बातों की जानकारी में, मैं अपनी उम्र के लोगों से आगे था।

इसमें शक नहीं कि मेरी दिलचस्पी के विषय बहुतेरे थे और मैं अपने ज़्यादातर सहपाठियों से ज़्यादा किताबें और अख़बार पढ़ता था। मुझे याद है कि मैंने पिताजी को लिखा था कि अंग्रेज लड़के बड़े मट्ठर होते हैं; क्योंकि वे खेलों के सिवा और किसी विषय पर बात ही नहीं कर सकते। लेकिन मुझे इसमें अपवाद भी मिले थे, खास तौर पर ऊपर के दर्जों में।

इंग्लैण्ड के आम चुनाव में मुझे बहुत दिलचस्पी थी। जहांतक मुझे याद है, यह चुनाव १९०५ के अख़ीर मे हुआ और उसमें लिबरलों की बड़ी भारी जीत हुई थी। १९०६ के शुरू में हमारे दर्जे के मास्टर ने हमसे सरकार की बाबत कई सवाल पूछे, और मुझे यह देखकर बड़ा अचरज हुआ कि उस दर्जे में मैं ही एक ऐसा लड़का था, जो उस विषय पर बहुत-सी बातें बता सका—यहांतक कि कैम्पबैल-बैनरमैन के मंत्रि-मण्डल के सदस्यों की क़रीब-क़रीब पूरी फ़ेहरिस्त मैंने बता दी।

राजनीति के अलावा जिस दूसरे विषय में मुझे बहुत दिलचस्पी थी वह था हवाई जहाज़ों की शुरुआत। वह ज़माना राइट ब्रदर्स और सेन्तोस दुमो का था (इनके बाद ही फ़ौरन फ़ारमन लैथम और ब्लीरियो आये)। जोश में आकर मैंने हॅरो से पिताजी को लिखा था कि मैं हर हफ्ते के अख़ीर में हवाई जहाज़ों द्वारा उड़कर आपसे हिन्दुस्तान में मिल सकूंगा।

इन दिनों हॅरो में चार या पांच हिन्दुस्तानी लड़के थे। दूसरी जगह रहने-वालों से मिलने का तो मुझे बहुत कम ही मौका मिलता था, लेकिन हमारे अपने ही घर में—हेडमास्टर के यहां—महाराजा बड़ौदा के एक पुत्र हमारे साथ थे। वह मुझसे बहुत आगे थे और क्रिकेट के अच्छे खिलाड़ी होने की वजह से लोकप्रिय थे। मेरे जाने के बाद फ़ौरन ही वह वहां से चले गये। बाद में महाराजा कपूर-थला के बड़े लड़के परमजीतसिंह आये, जो आजकल टीकासाहब हैं। वहां उनका मेल बिल्कुल नहीं मिला। वह दुखी रहते थे और दूसरे लड़कों से मिलते-जुलते नहीं थे। लड़के अक्सर उनका तथा उनके तौर-तरीकों का मज़ाक उड़ाते थे। इससे वह बहुत चिढ़ते थे, और कभी-कभी उनको धमकी देते कि जब कभी तुम कपूरथला आओगे, तब तुम्हें देख लूंगा। यह कहना बेकार है कि इस घुड़की का कोई अच्छा असर नहीं होता था। इससे पहले वह कुछ समय तक फ्रांस में रह चुके थे और फ्रांसीसी भाषा में धारा-प्रवाह बोल सकते थे। लेकिन ताज्जुब की बात तो यह थी कि अंग्रेज़ी स्कूलों में विदेशी भाषाओं के सिखाने के तरीक़े

कुछ ऐसे थे कि फ्रांसीसी भाषा के दर्जे में उनका यह ज्ञान उनके कुछ काम नहीं आता था।

एक दिन एक अजीब घटना हुई। आधी रात को हाउस-मास्टरसाहब एकाएक हमारे कमरों में घुस-घुसकर तलाशी लेने लगे। बाद में हमें मालूम हुआ कि परमजीतसिंह की सोने की मूठ की खूबसूरत स्टिक खो गई है। तलाशी में वह नहीं मिली। इसके दो या तीन दिन बाद लार्ड्स-मैदान में ईटन और हॅरो का मैच हुआ और उसके बाद फौरन ही वह स्टिक उनके मकान में रखी मिली। जाहिर है, कि किसी साहब ने मैच में उससे काम लिया और उसके बाद उसे लौटा दिया।

हमारे छात्रावास और दूसरे छात्रावासों में थोड़े-से यहूदी भी थे। यों वे मज़े में काफ़ी मिल-जुलकर रहते थे, लेकिन तह में उनके खिलाफ़ यह ख़याल ज़रूर काम करता था कि ये लोग 'बदमाश यहूदी' हैं; और कुछ दिन बाद ही, लग-भग अनजान में, मैं भी यही सोचने लगा कि इनसे नफ़रत करना ठीक ही है। लेकिन दरअसल मेरे दिल में यहूदियों के खिलाफ़ कभी कोई भाव न था, और अपने जीवन में आगे जाकर तो यहूदियों में मुझे कई अच्छे दोस्त मिले।

धीरे-धीरे मैं हॅरो का आदी हो गया और मुझे वहां अच्छा लगने लगा। लेकिन न जाने कैसे मै यह महसूस करने लगा कि अब यहां मेरा काम नहीं चल सकता। विश्वविद्यालय मुझे अपनी तरफ़ खींच रहा था। १९०६ और १९०७ भर हिन्दुस्तान से जो ख़बरें आती थीं, उनसे मैं बहुत बेचैन रहता था। अंग्रेज़ी अख़बारों में बहुत ही कम ख़बरें मिलती थीं, लेकिन जितनी मिलती थीं उनसे ही यह मालूम हो जाता था कि देश में, बंगाल, पंजाब और महाराष्ट्र में, बड़ी-बड़ी बातें हो रही हैं। लाला लाजपतराय और सरदार अजीतसिंह को देश-निकाला दिया गया था। बंगाल में हाहाकार-सा मचा हुआ मालूम पड़ता था। पूना से तिलक का नाम बिजली की तरह चमकता था और स्वदेशी तथा बहिष्कार की आवाज गूंज रही थी। इन बातों का मुझपर भारी असर पड़ा। लेकिन हॅरो में एक भी शख्स ऐसा न था जिससे मैं इस विषय की बातें कर सकता। छुट्टियों में मैं अपने कुछ चचेरे भाइयों तथा दूसरे हिन्दुस्तानी दोस्तों से मिला और मुझे अपने जी को हल्का करने का मौका मिला।

स्कूल में अच्छा काम करने के लिए मुझे जी० एम० ट्रैवेलियन की गैरीबाल्डी-

सम्बन्धी एक पुस्तक इनाम में मिली थी। इस पुस्तक में मेरा मन ऐसा लगा कि मैंने फ़ौरन ही इस माला की बाक़ी दो किताबें भी ख़रीद लीं और उनमें गैरीबाल्डी की पूरी कहानी बड़े ध्यान के साथ पढ़ी। हिन्दुस्तान में भी इसी तरह की घटनाओं की कल्पना मेरे मन में उठने लगी। मैं आज़ादी की बहादुराना लड़ाई के सपने देखने लगा और मेरे मन में इटली और हिन्दुस्तान अजीब तरह से मिल-जुल गये। इन ख़यालों के लिए हॅरो कुछ छोटी और तंग जगह मालूम होने लगी, और मैं विश्वविद्यालय के ज्यादा बड़े क्षेत्र में जाने की इच्छा करने लगा। इसीलिए मैंने पिताजी को इस बात के लिए राज़ी कर लिया और मैं हॅरो में सिर्फ़ दो बरस रहकर वहां से चला गया। यह दो बरस का समय वहां के निश्चित साधारण समय से बहुत कम था।

यद्यपि मैं हॅरो से खुद अपनी मरज़ी से जाना चाहता था, फिर भी मुझे यह अच्छी तरह याद है कि जब विदा होने का समय आया, तब मुझे बड़ा दुःख हुआ, और मेरी आंखों में आंसू आ गये। मुझे वह जगह अच्छी लगने लगी थी। वहां से सदा के लिए अलग होने से मेरे जीवन का एक अध्याय समाप्त हो गया। परन्तु फिर भी मुझे कभी-कभी यह ख़याल आ जाता है कि हॅरो छोड़ने पर मेरे मन में असली दुःख कितना था? क्या कुछ हदतक यह बात न थी कि मैं इसलिए दुःखी था कि हॅरो की परम्परा और उसके गीत की ध्वनि के अनुसार मुझे दुःखी होना चाहिए था? मैं भी इन परम्पराओं के प्रभाव से अपनेको बचा नहीं सकता था, क्योंकि वहां के वातावरण में घुल-मिल जाने के ख़याल से मैंने उस प्रथा का विरोध कभी नहीं किया था।

१९०७ के अक्तूबर के शुरू में मैं केम्ब्रिज के ट्रिनिटी कालेज में पहुंच गया। उस वक्त मेरी उम्र सत्रह या अठारह बरस के लगभग थी। मुझे इस बात से बेहद खुशी हुई कि अब मैं अण्डर-ग्रेजुएट हूं, स्कूल के मुक़ाबले यहां मुझे, जो चाहूं सो करने की, काफ़ी आज़ादी मिलेगी। मैं लड़कपन के बन्धन से मुक्त हो गया था और यह महसूस करने लगा था कि आख़िर मैं भी अब बड़ा होने का दावा कर सकता हूं। मैं ऐंठ के साथ केम्ब्रिज के विशाल भवनों और उसकी तंग गलियों में चक्कर काटा करता और यदि कोई जान-पहचानवाला मिल जाता तो बहुत खुश होता।

केम्ब्रिज में मैं तीन साल रहा। ये तीनों साल शान्तिपूर्वक बीते, इनमें किसी

प्रकार के विघ्न नहीं पड़े। तीनों साल धीरे-धीरे, धीमी-धीमी बहनेवाली कैम नदी की तरह बीते। ये साल बड़े आनन्द के थे। इनमें बहुत-से मित्र मिले, कुछ काम किया, कुछ खेले और मानसिक क्षितिज धीरे-धीरे बढ़ता रहा। मैंने प्राकृतिक विज्ञान का कोर्स लिया था। मेरे विषय थे रसायन-शास्त्र, भूगर्भ-शास्त्र और वनस्पति-शास्त्र। परन्तु मेरी दिलचस्पी इन्हीं विषयों तक सीमित न थी। केम्ब्रिज में या छुट्टियों में लन्दन में अथवा दूसरी जगहों में मुझे जो लोग मिले, उनमें से बहुत-से विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थों के बारे में, साहित्य और इतिहास के बारे में, राजनीति और अर्थशास्त्र के बारे में बातचीत करते थे। पहले-पहल तो ये बढ़ी-चढ़ी बातें मुझे बड़ी मुश्किल मालूम हुईं, परन्तु जब मैंने कुछ किताबें पढ़ीं, तब सब बातें समझने लगा, जिससे मैं कम-से-कम अन्त तक बात करते हुए भी इन साधारण विषयों में से किसीके बारे में अपना घोर अज्ञान जाहिर नहीं होने देता था। हम लोग नीत्शे[1] और बर्नार्ड शॉ[2] की भूमिकाओं तथा लॉज डिकिन्सन[3] की नई-से-नई पुस्तकों के बारे में बहस किया करते थे। उन दिनों केम्ब्रिज मे नीत्शे की धूम थी। हम लोग अपनेको बड़ा अक्लमन्द समझते थे और स्त्री-पुरुष-सम्बन्ध तथा सदाचार आदि विषयों पर बड़े अधिकारी-रूप से, शान के साथ, बातें करते थे और बातचीत के सिलसिले में ब्लॉक, हैवलॉक एलिस, एबिंग और वीनिंगर के नाम लेते जाते थे। हम लोग यह महसूस करते थे कि इन विषयों के सिद्धान्तों के बारे में हम जितना जानते हैं, विशेषज्ञों को छोड़कर और किसीको उससे ज्यादा जानने की ज़रूरत नहीं है।

वास्तव में, हम बातें ज़रूर बढ़-बढ़कर करते थे, लेकिन स्त्री-पुरुष-सम्बन्ध के बारे में हममें से ज्यादातर डरपोक थे और कम-से-कम मैं तो ज़रूर डरपोक था। मेरा इस विषय का ज्ञान, केम्ब्रिज छोड़ने के बाद भी, बहुत बरसों तक केवल सिद्धान्त तक ही सीमित रहा। ऐसा क्यों हुआ, यह कहना कुछ कठिन है। हममें से अधिकांश का स्त्रियों की ओर जोर का आकर्षण था, और मुझे इस बात में सन्देह है कि हममें से कोई उनके सहवास में किसी प्रकार का पाप समझता

---

[1] आधुनिक जर्मन तत्त्ववेत्ता—प्रचलित नीति और धर्म-मान्यताओं का विरोधी। [2]प्रसिद्ध अंग्रेज नाट्यकार। [3]केम्ब्रिज विश्वविद्यालय के एक प्रसिद्ध अध्यापक। —अनु०

था। यह निश्चित है कि मैं उसमें कोई पाप नहीं समझता था, मेरे मन में कोई धार्मिक रुकावट नहीं थी। हम लोग आपस में कहा करते थे—स्त्री-पुरुषों के सम्बन्धों का न सदाचार से सम्बन्ध है न दुराचार से, वह तो इन आचारों से परे है। यह सब होने पर भी एक प्रकार की झिझक तथा इस सम्बन्ध में आम तौर पर जिन तरीक़ों से काम लिया जाता था, उनके प्रति मेरी अरुचि ने मुझे इससे बचाये रखा। उन दिनों मैं निश्चित रूप से एक संकोची लड़का था, शायद यह इसलिए हो कि मैं बचपन में अकेला रहा था।

उन दिनों जीवन के प्रति मेरा सामान्य दृष्टिकोण एक अस्पष्ट प्रकार के भोगवाद का था, जो कुछ अंश तक युवावस्था में स्वाभाविक था और कुछ अंश तक ऑस्कर वाइल्ड[१] और वाल्टर पेटर[२] के प्रभाव के कारण था। आनन्द के अनुभव और आराम की जिन्दगी बिताने की इच्छा को भोगवाद जैसा बड़ा नाम देना है तो आसान और तबीयत को ख़ुश करनेवाली बात, लेकिन मेरे मामले में इसके अलावा कुछ और बात भी थी; क्योंकि मेरा खासतौर पर आराम की ज़िन्दगी की तरफ़ रुझान न था। मेरी प्रकृति धार्मिक नहीं थी और धर्म के दमनकारी बन्धनों को मै पसन्द भी नहीं करता था, इसलिए मेरे लिए यह स्वाभाविक था कि मैं किसी दूसरे जीवन-मार्ग की खोज करता। उन दिनों मै सतह पर ही रहना पसन्द करता था, किसी मामले की गहराई तक नहीं जाता था, इसलिए जीवन का सौन्दर्यमय पहलू मुझे अपील करता था। मैं चाहता था कि मैं सुचारु रीति से जीवन-यापन करूं। गंवारू ढंग से उसका उपभोग मैं नहीं करना चाहता था, लेकिन मेरा रुझान जीवन का सर्वोत्तम उपभोग करने और उसका पूरा तथा विविध आनन्द लेने की ओर था। मैं जीवन का उपभोग करता था और इस बात से इन्कार करता था कि मै उसमें पाप की कोई बात क्यों समझू ? साथ ही ख़तरे और साहस के काम भी मुझे अपनी ओर आकर्षित करते थे। पिताजी की तरह मैं भी हर वक्त कुछ हद तक जुआरी था। पहले रुपये का जुआरी, और फिर बड़ी-बड़ी बाज़ियों का—जीवन के बड़े-बड़े आदर्शों का। १९०७ तथा १९०८ में हिन्दुस्तान की राजनीति में उथल-पुथल मची हुई थी और मैं उसमें वीरता के साथ भाग लेना चाहता था। ऐसी दशा में मैं आराम की ज़िन्दगी तो

---

[१] [२] नीति-मुक्त कला के हामी आधुनिक अंग्रेज लेखक। —अनु०

बसर कर ही नहीं सकता था। ये सब बातें मिलकर, और कभी-कभी परस्पर-विरोधी इच्छाएं, मेरे मन में अजीब खिचड़ी पकातीं, भंवर-सी पैदा कर देतीं। उन दिनों ये सब बातें अस्पष्ट तथा गोल-मोल थीं। परन्तु इससे उन दिनों मैं परेशान न था, क्योंकि इनका फैसला करने का समय तो अभी बहुत दूर था। तबतक जीवन—शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार का—आनन्दमय था। हमेशा नित-नये क्षितिज दिखाई पड़ते थे। इतने काम करने थे, इतनी चीज़ें देखनी थीं, इतने नये क्षेत्रों की खोज करनी थी! जाड़े की लम्बी रातों में हम लोग अंगीठी के सहारे बैठ जाते और धीरे-धीरे इतमीनान के साथ आपस में बातें तथा विचार-विनिमय करते; उस समय तक, जबतक अंगीठी की आग बुझकर हमे जाड़े से कंपाकर बिछौने पर न भेज देती थी। कभी-कभी वाद-विवाद में हमारी आवाज़ मामूली न रहकर तेज़ हो जाती और हम लोग बहस की गरमा-गरमी से जोश में आ जाते थे। लेकिन यह सब कहने-भर को था। उन दिनों हम लोग गम्भीरता के स्वांग भरकर जीवन की समस्याओं के साथ खेलते थे; क्योंकि उस वक्त तक वे हमारे लिए वास्तविक समस्याएं न हो पाई थीं और हम लोग संसार के झमेलों के चक्कर में नहीं फंस पाये थे। वे दिन महायुद्ध से पहले के, बीसवी शताब्दी के शुरू के, दिन थे। कुछ ही दिनों में हमारा वह संसार मिटने को था, और उसकी जगह दुनिया के युवकों के लिए मृत्यु और विनाश एवं पीड़ा तथा हृदय-वेदना से भरा हुआ दूसरा संसार आनेवाला था। लेकिन हम भविष्य का परदा तोड़कर आनेवाले ज़माने को नहीं देख सकते थे। हमें तो ऐसा लगता था कि हम किसी अचूक प्रगतिशील परिस्थिति से घिरे हुए हैं और जिनके पास इस परिस्थिति के लिए साधन थे उनके लिए तो वह सुखदायिनी थी।

मैंने भोगवाद तथा वैसी ही दूसरी और उन दूसरी अनेक भावनाओं की चर्चा की है, जिन्होंने उन दिनों मुझपर अपना असर डाला। लेकिन यह सोचना ग़लत होगा कि मैंने उन दिनों इन विषयों पर भली-भांति साफ़-साफ़ विचार कर लिया था, या मैंने उनकी बाबत स्पष्टतया निश्चित विचार करने की कोशिश करने की ज़रूरत भी समझी थी। वे तो कुछ अस्पष्ट लहरें-भर थीं, जो मेरे मन में उठा करती थीं और जिन्होंने इसी दौरान में अपना थोड़ा या बहुत प्रभाव मेरे ऊपर अंकित कर दिया। इन बातों के ध्यान के बारे में मै उन दिनों ऐसा परेशान नहीं होता था। उन दिनों तो मेरी ज़िन्दगी काम और विनोद से भरी हुई थी।

सिर्फ़ एक चीज़ ऐसी जरूरी थी, जिससे मैं कभी-कभी विचलित हो जाता था। वह थी हिन्दुस्तान की राजनैतिक कशमकश। केम्ब्रिज में जिन किताबों ने मेरे ऊपर राजनैतिक प्रभाव डाला, उनमें मैरीडिथ टाउनसेण्ड की 'एशिया और यूरोप' मुख्य है।

१९०७ से कई साल तक हिन्दुस्तान बेचैनी और कष्टों से मानो उबलता रहा। १८५७ के ग़दर के बाद पहली मर्तबा हिन्दुस्तान फिर लड़ने पर आमादा हुआ था। वह विदेशी शासन के सामने चुपचाप सिर झुकाने को तैयार न था। तिलक की हलचलों और उनके कारावास की तथा अरविन्द घोष की ख़बरों से, और बंगाल की जनता जिस ढंग से स्वदेशी और बहिष्कार की प्रतिज्ञाएं ले रही थी उनसे, इंग्लैण्ड में रहनेवाले तमाम हिन्दुस्तानियों में खलबली मच जाती थी। हम सब लोग बिना किसी अपवाद के तिलक-दल या गरम दल के थे। हिन्दुस्तान में यह नया दल उन दिनों इन्हीं नामों से पुकारा जाता था।

केम्ब्रिज में जो हिन्दुस्तानी रहते थे उनकी एक 'मजलिस' थी। इसमें हम लोग अक्सर राजनैतिक मामलों पर बहस करते थे, लेकिन ये बहसें कुछ हद तक बेमानी थीं। पार्लमेण्ट की अथवा यूनिवर्सिटी-यूनियन की बहस की शैली तथा अदाओं की नक़ल करने की जितनी कोशिश की जाती थी उतनी विषय को समझने की नहीं। मैं अक्सर मजलिस में जाया करता था, लेकिन तीन साल में मैं वहां शायद ही बोला होऊं। मैं अपनी झिझक और हिचकिचाहट दूर नहीं कर सका। कॉलेज में "मैग्पी और स्टाम्प" नाम की जो वाद-विवाद-सभा थी, उसमें भी मुझे इसी कठिनाई का सामना करना पड़ा। इस सभा में यह नियम था कि अगर कोई मेम्बर पूरी मियाद तक न बोले तो उसे जुर्माना देना पड़ेगा, और मुझे अक्सर जुर्माना देना पड़ता था।

मुझे यह याद है कि एडविन मॉण्टेगू, जो बाद में भारत-मन्त्री हो गये, अक्सर इस सभा में आया करते थे। वह ट्रिनिटी कॉलेज के पुराने विद्यार्थी थे और उन दिनों केम्ब्रिज की ओर से पार्लमेण्ट के मेम्बर थे। पहले-पहल श्रद्धा की अर्वाचीन परिभाषा मैंने उन्हींसे सुनी। जिस बात के बारे में तुम्हारी बुद्धि यह कहे कि वह सच नहीं हो सकती, उसमें विश्वास करना ही सच्ची श्रद्धा है, क्योंकि तुम्हारी तर्क-शक्ति ने भी उसे पसन्द कर लिया तो फिर अन्धश्रद्धा का सवाल ही नहीं रहता। विश्वविद्यालय में विज्ञानों के अध्ययन का मुझपर बहुत प्रभाव

पड़ा और विज्ञान उन दिनों जिस तरह अपने सिद्धान्तों और निश्चयों को ध्रुवसत्य समझता था वैसा ही मैं समझने लगा था; क्योंकि उन्नीसवीं और बीसवीं सदी के शुरू का विज्ञान अपनी और संसार की बाबत बड़ा निश्चयात्मक था। आजकल का विज्ञान वैसा नहीं है।

मजलिस में और निजी बातचीत में हिन्दुस्तान की राजनीति पर चर्चा करते हुए हिन्दुस्तानी विद्यार्थी बड़ी गरम तथा उग्र भाषा काम में लाते थे, यहांतक कि बंगाल में जो हिंसाकारी कार्य शुरू होने लगे थे उनकी भी तारीफ़ करते थे। लेकिन बाद में मैंने देखा कि यही लोग कुछ तो इंडियन सिविल सर्विस के मेम्बर हुए, कुछ हाईकोर्ट के जज हुए, कुछ बड़े धीर-गम्भीर बैरिस्टर आदि बन गये। इन आराम-घर के आग-बबूलों में से बिरलों ने ही पीछे जाकर हिन्दुस्तान के राजनैतिक आन्दोलनों में कारगर हिस्सा लिया होगा।

हिन्दुस्तान के उन दिनों के कुछ नामी राजनीतिज्ञों ने केम्ब्रिज में हम लोगों को भेंट देने की कृपा की थी। हम उनकी इज़्ज़त तो करते थे; लेकिन हम उनसे इस तरह पेश आते थे मानो हम उनसे बड़े हैं। हम लोग महसूस करते थे कि हमारी संस्कृति उनसे कहीं बढ़ी-चढ़ी थी और दृष्टि व्यापक थी। जो लोग हमारे यहां आये, उनमें विपिनचन्द्र पाल, लाला लाजपतराय और गोपालकृष्ण गोखले भी थे। विपिनचन्द्र पाल से हम अपनी एक बैठक में मिले। वहां हम सिर्फ़ एक दर्जन के करीब थे। लेकिन उन्होंने तो ऐसी गर्जना की कि मानो वह दस हज़ार की सभा में भाषण दे रहे हों। उनकी आवाज़ इतनी बुलन्द थी कि मैं उनकी बात को बहुत ही कम समझ सका। लालाजी ने हमसे अधिक विवेकपूर्ण ढंग से बातचीत की और उनकी बातों का मुझपर बहुत असर पड़ा। मैंने पिताजी को लिखा था कि विपिनचन्द्र पाल के मुक़ाबले मुझे लालाजी का भाषण बहुत अच्छा लगा। इससे वह बड़े खुश हुए; क्योंकि उन दिनों उन्हें बंगाल के आग-बबूला राजनीतिज्ञ अच्छे नहीं लगते थे। गोखले ने केम्ब्रिज में एक सार्वजनिक सभा में भाषण दिया। उस भाषण की मुझे सिर्फ़ यही ख़ास बात याद है कि भाषण के बाद अब्दुलमजीद ख्वाजा ने एक सवाल पूछा था। हॉल में खड़े होकर उन्होंने जो सवाल पूछना शुरू किया तो पूछते ही चले गये, यहांतक कि हममें से बहुतों को यही याद नहीं रहा कि सवाल शुरू किस तरह हुआ था और वह किस सम्बन्ध में था।

हिन्दुस्तानियों में हरदयाल का बड़ा नाम था। लेकिन वह मेरे केम्ब्रिज में पहुंचने से कुछ पहले आक्सफ़ोर्ड में थे। अपने हॅरो के दिनों में मै उनसे लन्दन में एक या दो बार मिला था।

केम्ब्रिज में मेरे समकालीनों में से कई ऐसे निकले, जिन्होंने आगे जाकर हिन्दुस्तान की कांग्रेस की राजनीति मे प्रमुख भाग लिया। जे० एम० सेनगुप्त मेरे केम्ब्रिज पहुंचने के कुछ दिन बाद ही वहां से चले गये। सैफ़ुद्दीन किचलू, सैयद महमूद और तसद्दुक़ अहमद शेरवानी कम-बढ़ मेरे समकालीन थे। एस० एम० सुलेमान भी, जो इलाहाबाद-हाईकोर्ट के चीफ़ जस्टिस थे, मेरे समय में केम्ब्रिज में थे। मेरे दूसरे समकालीनों में से कोई मिनिस्टर बना और कोई इंडियन सिविल सर्विस का सदस्य।

लन्दन में हम श्यामजी कृष्ण वर्मा और उनके इंडिया-हाउस की बाबत भी सुना करते थे, लेकिन मुझे न तो वह कभी मिले और न मैं कभी उस हाउस में गया ही। कभी-कभी हमें उनका 'इंडियन सोशलॉजिस्ट' नाम का अखबार देखने को मिल जाता था। बहुत दिनों बाद, सन् १९२६ में श्यामजी मुझे जिनेवा में मिले थे। उनकी जेबें 'इंडियन सोशलॉजिस्ट' की पुरानी कापियों से भरी पड़ी थीं और वह प्रायः हरेक हिन्दुस्तानी को, जो उनके पास जाता था, ब्रिटिश-सरकार का भेजा हुआ भेदिया समझते थे।

लन्दन में इंडिया-ऑफ़िस ने विद्यार्थियों के लिए एक केन्द्र खोला था। इसकी बाबत तमाम हिन्दुस्तानी यही समझते थ कि यह हिन्दुस्तानी विद्यार्थियों के भेद जानने का एक जाल है और इसमें बहुत-कुछ सचाई भी थी। फिर भी यह बहुत-से हिन्दुस्तानियों को, चाहे मन से हो या बेमन से, बरदाश्त करना पड़ता था; क्योंकि उसकी सिफ़ारिश के बिना किसी विश्वविद्यालय में दाखिल होना ग़ैरमुमकिन हो गया था।

हिन्दुस्तान की राजनैतिक स्थिति ने पिताजी को अधिक सक्रिय राजनीति की ओर खींच लिया था और मुझे इस बात से खुशी हुई थी, हालांकि मैं उनकी राजनीति से सहमत नहीं था। यह स्वाभाविक ही था कि वह माडरेटों में शामिल हुए, क्योंकि उनमें से बहुतों को वह जानते थे और उनमें बहुत-से वकालत में उनके साथी थे। उन्होंने अपने सूबे की एक कान्फ्रेंस का सभापतित्व भी किया था, और बंगाल तथा महाराष्ट्र के गरम दलवालों की तीव्र आलोचना की थी।

संयुक्त प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष भी बन गये थे। १९०७ में जिस समय सूरत में कांग्रेस में गोलमाल होकर वह भंग हुई और अन्त में सोलहों आना माडरेटों की हो गई, उस समय वह वहां उपस्थित थे।

सूरत के कुछ ही दिनों बाद एच० डबल्यू० नेविन्सन कुछ समय तक इलाहाबाद में पिताजी के अतिथि बनकर रहे। उन्होंने हिन्दुस्तान पर जो किताब लिखी उसमें पिताजी की बाबत लिखा कि "वह मेहमानों की खातिर-तवाज़ो को छोड़कर और सब बातों में माडरेट हैं।" उनका यह अन्दाज़ क़तई ग़लत था; क्योंकि पिताजी अपनी नीति को छोड़कर और किसी बात में कभी माडरेट नहीं रहे और उनकी प्रकृति ने धीरे-धीरे उनको उस बची-खुची नरमी से भी अलग भगा दिया। प्रचण्ड भावों, प्रबल विचारों, घोर अभिमान और महती इच्छा-शक्ति से सम्पन्न वह माडरेटों की जाति से बहुत ही दूर थे। फिर भी १९०७ और १९०८ में और कुछ साल बाद तक वह बेशक माडरेटों में भी माडरेट थे और गरमदल के सख़्त खिलाफ़ थे, हालांकि मेरा ख़याल है कि वह तिलक की तारीफ़ करते थे।

ऐसा क्यों था? क़ानून और विधि-विधान ही उनके बुनियादी पाये थे; अतः उनके लिए यह स्वाभाविक ही था कि वह राजनीति को वकील और विधानवादी की दृष्टि से देखते। उनकी स्पष्ट विचारशीलता ने उन्हें यह दिखाया कि कड़े और गरम शब्दों से तबतक कुछ होता जाता नहीं, जबतक कि इन शब्दों के मुताबिक़ काम न हो और उन्हें किसी कारगर काम की कोई सम्भावना नज़दीक दिखाई नहीं देती थी। उनको यह मालूम नहीं होता था कि स्वदेशी और बहिष्कार के आन्दोलन हमें बहुत दूर तक ले जा सकेंगे। इसके अलावा उन आन्दोलनों के पीछे वह धार्मिक राष्ट्रीयता थी जो उनकी प्रकृति के प्रतिकूल थी। वह प्राचीन भारत के पुनरुद्धार की आशा नहीं लगाते थे। ऐसी बातों को न तो वह कुछ समझते ही थे, न इनसे उन्हें कोई हमदर्दी ही थी। इसके अलावा बहुत-से पुराने सामाजिक रीति-रिवाजों को, जात-पांत वग़ैरा को, क़तई नापसन्द करते थे और उन्हें उन्नति-विरोधी समझते थे। उनकी दृष्टि पश्चिम की ओर थी और पाश्चात्य ढंग की उन्नति की ओर उनका बहुत अधिक आकर्षण था। वह समझते थे कि ऐसी उन्नति हमारे देश में इंग्लैण्ड के संसर्ग से ही आ सकती है। १९०७ में हिन्दुस्तान की राष्ट्रीयता का जो पुनरुत्थान हुआ वह

सामाजिक दृष्टि से पीछे घसीटनेवाला था। हिन्दुस्तान की नई राष्ट्रीयता, पूर्व के दूसरे देशों की तरह अवश्य ही धार्मिकता को लिये हुए थी। इस दृष्टि से माडरेटों का सामाजिक दृष्टिकोण अधिक उन्नतिशील था। परन्तु वे तो चोटी के सिर्फ़ मुट्ठीभर मनुष्य थे, जिनका साधारण जनता से कोई सम्बन्ध न था। वे समस्याओं पर अर्थशास्त्र की दृष्टि से अधिक विचार नहीं करते थे, महज उस ऊपरी मध्यम वर्ग के लोगों के दृष्टिकोण से विचार करते थे, जिसके वे प्रतिनिधि थे और जो अपने विकास के लिए जगह चाहता था। वे जाति के बन्धनों को ढीला करने और उन्नति को रोकनेवाले पुराने सामाजिक रिवाजों को दूर करने के लिए छोटे-मोटे सामाजिक सुधारों की पैरवी करते थे।

माडरेटों के साथ अपना भाग्य नत्थी कर पिताजी ने आक्रामक ढंग इख्तियार किया। बंगाल और पूना के कुछ नेताओं को छोड़कर अधिकांश गरम दलवाले नौजवान थे, और पिताजी को इस बात से बहुत चिढ़ थी कि ये कल के छोकरे अपने मन-माफ़िक़ काम करने की हिम्मत करते हैं। विरोध से वह अधीर हो जाते थे, विरोध को सहन नहीं कर सकते थे। जिन लोगों को वह बेवक़ूफ़ समझते थे उनको तो फूटी आंखों भी नहीं देख सकते थे, और इसलिए जब कभी मौक़ा मिलता वह उनपर टूट पड़ते थे। मेरा ख़याल है कि केम्ब्रिज छोड़ने के बाद मैंने उनका एक लेख पढ़ा था, जो मुझे बहुत बुरा मालूम हुआ था और मैंने उन्हें एक धृष्टतापूर्ण पत्र लिखा, जिसमें मैंने यह भी झलकाया कि इसमें शक नहीं कि आपकी राजनैतिक कार्रवाइयों से ब्रिटिश सरकार बहुत खुश हुई होगी। यह एक ऐसी बात थी, जिसे सुनकर वह आपे से बाहर हो सकते थे, और वह सचमुच बहुत नाराज़ हुए भी। उन्होंने क़रीब-क़रीब यहांतक सोच लिया था कि मुझे फ़ौरन इंग्लैण्ड से वापस बुला लें।

जब मैं केम्ब्रिज में था तभी यह सवाल उठ खड़ा हुआ था कि मुझे कौन-सा 'कैरियर' चुनना चाहिए ? कुछ समय के लिए इंग्लैण्ड सिविल सर्विस की बात भी सोची गई। उन दिनों उसमें एक ख़ास आकर्षण था। परन्तु चूंकि न तो पिताजी ही उसके लिए बहुत उत्सुक थे न मैं ही, अतः वह विचार छोड़ दिया गया। शायद इसका मुख्य कारण यह था कि उसके लिए अभी मेरी उम्र कम थी, और अगर मैं उस इम्तिहान में बैठना भी चाहता तो मुझे अपनी डिग्री लेने के बाद भी तीन-चार साल और वहां ठहरना पड़ता। मैंने केम्ब्रिज में जब अपनी

डिग्री ली तब मैं बीस वर्ष का था और उन दिनों इंडियन सिविल सर्विस के लिए उम्र की मियाद बाईस वर्ष से लेकर चौबीस वर्ष तक थी। इम्तिहान में कामयाब होने पर इंग्लैण्ड में एक साल और बिताना पड़ता है। मेरे परिवार के लोग मेरे इंग्लैण्ड में इतने दिनों तक रहने के कारण ऊब गये थे और चाहते थे कि मैं जल्दी से घर लौट आऊं। पिताजी पर एक बात का और भी असर पड़ा और वह यह थी कि अगर मैं आई० सी० एस० हो जाता तो मुझे घर से दूर-दूर जगहों में रहना पड़ता। पिताजी और मां दोनों ही यह चाहते थे कि इतने दिनों तक अलग रहने के बाद मै उनके पास ही रहूं। बस, पासा पुश्तैनी पेशे के यानी वकालत के पक्ष में पड़ा और मैं इनर टैम्पिल में भरती हो गया।

यह अजीब बात है कि राजनीति में गरम दल की ओर झुकाव बढ़ते जाने पर भी आई० सी० एस० में शामिल होने को और इस तरह हिन्दुस्तान में ब्रिटिश-शासन की मशीन का एक पुरजा बनने के खयाल को मैंने ऐसा बुरा नहीं समझा। आगे के सालों में इस तरह का खयाल मुझे बहुत त्याज्य मालूम होता।

१९१० में अपनी डिग्री लेने के बाद मै केम्ब्रिज से चला आया। ट्राइपस के इम्तिहान में मुझे मामूली सफलता मिली—दूसरे दर्जे में सम्मान के साथ पास हुआ। अगले दो साल मैं लन्दन के इधर-उधर घूमता रहा। मेरी क़ानून की पढ़ाई में बहुत समय नहीं लगता था और बैरिस्टरी के एक के बाद दूसरे इम्तिहान में मै पास होता रहा। हां, उसमें मुझे न तो सम्मान मिला, न अपमान। बाकी वक़्त मैंने यों ही बिताया। कुछ आम किताबें पढ़ीं, फैबियन[1] और समाजवादी[2] विचारों की ओर एक अस्पष्ट आकर्षण हुआ और उन दिनों के राजनैतिक आन्दोलन में भी दिलचस्पी ली। आयरलैण्ड और स्त्रियों के मताधिकार के आन्दोलनों

---

[1] [2] **१८८४ में स्थापित समाजवादी सिद्धान्त रखनेवालों की संस्था और उसके सदस्य। ये क्रान्ति के द्वारा सुधार नहीं चाहते। पर आशा रखते हैं कि लेखों और प्रचार के द्वारा औद्योगिक स्थिति में सुधार हो जायगा। समाजवादी इनसे आगे गये। उन्होंने अपना ध्येय बनाया—जमीन और सम्पत्ति का मालिक समाज है, समाज की ही सत्ता उसपर होनी चाहिए—इस सिद्धान्त के आधार पर क्रान्ति करना। इस कारण फ़ैबियन महज़ 'म्यनिसिपल समाजवादी' कहलाने लगे। —अनु०**

में मेरी ख़ास दिलचस्पी थी। मुझे यह भी याद है कि १९१० की गरमी में जब मैं आयरलैण्ड गया तो सिनफ़िन-आन्दोलन की शुरुआत ने मुझे अपनी तरफ खींचा था।

इन्हीं दिनों मुझे हैरो के पुराने दोस्तों के साथ रहने का मौक़ा मिला। और उनके साथ मेरी आदतें कुछ खर्चीली हो गई थीं। पिताजी मुझे खर्च के लिए काफी रुपया भेजते थे। लेकिन मैं उससे भी ज्यादा खर्च कर डालता था, इसलिए उन्हें मेरे बारे में बड़ी चिन्ता हो चली थी। उन्हें अन्देशा हो गया था कि कहीं मैं बुरी संगत में तो नहीं पड़ गया हूं। परन्तु असल में ऐसी कोई बात मैं नहीं कर रहा था। मैं तो सिर्फ़, उन खुशहाल परन्तु कमअक़्ल अंग्रेज़ों की देखादेखी-भर कर रहा था जो बड़े ठाट-बाट में रहा करते थे। यह कहना बेकार है कि इस उद्देश्यहीन आराम-तलबी की ज़िन्दगी से मेरी किसी तरह की कोई तरक़्क़ी नहीं हुई। मेरे पहले के हौसले ठंडे पड़ने लगे और ख़ाली एक चीज़ थी जो बढ़ रही थी—मेरा घमण्ड।

छुट्टियों में मैंने कभी-कभी यूरोप के भिन्न-भिन्न देशों की भी सैर की। १९०९ की गरमी में जब काउण्ट ज़ैपलिन अपने नये हवाई जहाज़ में कौन्स्टैन्स झील पर फ्रीडरिश शैफिन से उड़कर बर्लिन आये, तब मैं और पिताजी दोनों वहीं थे। मेरा खयाल है कि वह उसकी सबसे पहली लम्बी उड़ान थी। इसलिए उस अवसर पर बड़ी खुशियां मनाई गई और खुद क़ैसर ने उसका स्वागत किया। बर्लिन के टेम्पिलोफ़ फ़ील्ड में जो भीड़ इकट्ठी हुई थी वह दस लाख से लेकर बीस लाख तक कूती गई थी। ज़ैपलिन ने ठीक समय पर आकर बड़े ढंग से ऊपर-ऊपर हमारी परिक्रमा की। ऐडलॉं होटल ने उस दिन अपने सब निवासियों को काउण्ट ज़ैपलिन का एक-एक सुन्दर चित्र भेंट किया था। वह चित्र अबतक मेरे पास है।

कोई दो महीने बाद हमने पैरिस में वह हवाई जहाज़ देखा जो उस शहर पर पहले-पहल उड़ा और जिसने एफ़िल टावर के चक्कर पहले-पहल लगाये। मेरा खयाल है कि उड़ाके का नाम कोंत द लावेर था। अठारह बरस बाद, जब लिंडबर्ग अटलांटिक के उस पार से दमकते हुए तीर की तरह उड़कर पेरिस आया था, तब भी मैं वहां था।

१९१० में केम्ब्रिज से अपनी डिग्री लेने के बाद फ़ौरन ही जब मैं सैर-सपाटे

के लिए नार्वे गया था, तब मैं बाल-बाल बच गया। हम लोग पहाड़ी प्रदेश में पैदल घूम रहे थे। बुरी तरह थके हुए, एक छोटे-से होटल में अपने मुकाम पर पहुंचे, और गरमी के कारण नहाने की इच्छा प्रकट की। वहां ऐसी बात पहले किसीने न सुनी थी। होटल में नहाने के लिए कोई इन्तजाम न था। लेकिन हमको यह बता दिया गया कि हम लोग पास की एक नदी में नहा सकते हैं। अतः मेज़ के या मुँह पोंछने के छोटे-छोटे तौलियों से, जो होटलवालों ने हमें उदारतापूर्वक दिये थे सुसज्जित होकर हममें से दो, एक मैं और एक नौजवान अंग्रेज़, पड़ोस के हिम-सरोवर से निकलती और दहाड़ती हुई तूफ़ानी धारा में जा पहुंचे। मैं पानी में घुस गया। वह गहरा तो न था, लेकिन ठंडा इतना था कि हाथ-पांव जमे जाते थे और उसकी ज़मीन बड़ी रपटीली थी। मैं रपटकर गिर गया। बरफ़ की तरह ठंडे पानी से मेरे हाथ-पैर निर्जीव हो गये। मेरा शरीर और सारे अवयव सुन्न पड़ गये, और पैर जम न सके। तूफ़ानी धारा मुझे तेज़ी से बहाये ले जा रही थी, परन्तु मेरे अंग्रेज़ साथी ने किसी तरह बाहर निकलकर मेरे साथ भागना शुरू किया और अन्त में मेरा पैर पकड़ने में कामयाब होकर उसने मुझे बाहर खींच लिया। इसके बाद हमें मालूम हुआ कि हम कितने बड़े खतरे में थे; क्योंकि हमसे दो-तीन-सौ गज़ की दूरी पर यह पहाड़ी धारा एक विशाल चट्टान के नीचे गिरती थी और वह जल-प्रपात उस जगह की एक दर्शनीय चीज़ थी।

१९१२ की गर्मी में मैंने बैरिस्टरी पास कर ली और उसी शरद ऋतु में मैं, कोई सात साल से ज्यादा इंग्लैण्ड में रहने के बाद, आखिर को हिन्दुस्तान लौट आया। इस बीच छुट्टी के दिनों में दो बार मैं घर गया था। परन्तु अब मैं हमेशा के लिए लौटा और मुझे लगा कि जब मैं बम्बई में उतरा तो अपने पास कुछ न होते हुए भी अपने बड़प्पन का अभिमान लेकर उतरा था।

: ५ :

लौटने पर

देश का राजनैतिक वातावरण

१९१२ के अख़ीर में राजनैतिक दृष्टि से हिन्दुस्तान बहुत फीका मालूम होता था। तिलक जेल में थे, गरमदलवाले कुचल दिये गए थे। किसी प्रभावशाली नेता के न होने से वे चुपचाप पड़े हुए थे। बंग-भंग दूर होने पर बंगाल में शान्ति हो गई थी और सरकार को कौंसिलों की मिण्टो-मॉर्ले योजना के अनुसार माडरेटों को अपनी ओर करने में कामयाबी मिल गई थी। प्रवासी भारतवासियों की समस्या में, ख़ासतौर पर दक्षिण अफ्रीका में रहनेवाले भारतीयों की दशा के बारे में, कुछ दिलचस्पी ज़रूर ली जाती थी। कांग्रेस माडरेटों के हाथ में थी। साल में एक बार उसका जलसा होता था और वह कुछ ढीले-ढाले प्रस्ताव पास कर देती थी। उसकी तरफ़ लोगों का ध्यान बहुत ही कम जाता था।

१९१२ की बड़े दिनों की छुट्टियों में मैं डेलीगेट की हैसियत से बांकीपुर की कांग्रेस में शामिल हुआ। बहुत हदतक वह अंग्रेज़ी जाननेवाले उच्च श्रेणी के लोगों का उत्सव था, जहां सुबह पहनने के कोट और सुन्दर इस्त्री किये हुए पतलून बहुत दिखाई देते थे। वस्तुतः वह एक सामाजिक उत्सव था, जिसमें किसी प्रकार की राजनैतिक गरमागरमी न थी। गोखले, जो हाल ही में अफ्रीका से लौटकर आये थे, उसमें उपस्थित थे। उस अधिवेशन के प्रमुख व्यक्ति वही थे। उनकी तेजस्विता, उनकी सच्चाई और उनकी शक्ति से वहां आये उन थोड़े-से व्यक्तियों में वही एक ऐसे मालूम होते थे जो राजनीति और सार्वजनिक मामलों पर संजीदगी से विचार करते थे और उनके सम्बन्ध में गहराई से सोचते थे। मुझपर उनका अच्छा प्रभाव पड़ा।

जब गोखले बांकीपुर से लौट रहे थे तब एक ख़ास घटना हो गई। वह उन दिनों पब्लिक सर्विस कमीशन के सदस्य थे। उस हैसियत से उन्हें अपने

लिए एक फ़र्स्ट क्लास का डब्बा रिज़र्व कराने का हक़ था। उनकी तबीयत ठीक न थी और लोगों की भीड़ से तथा बेमेल साथियों से उनके आराम में खलल पड़ता था। इसलिए वह चाहते थे कि उन्हें एकान्त में चुपचाप पड़ा रहने दिया जाय और कांग्रेस के अधिवेशन के बाद वह चाहते थे कि सफ़र में उन्हें शान्ति मिले। उन्हें उनका डब्बा मिल गया, लेकिन बाक़ी गाड़ी कलकत्ता लौटनेवाले प्रतिनिधियों से ठसाठस भरी हुई थी। कुछ समय के बाद, भूपेन्द्रनाथ वसु, जो बाद में जाकर इंडिया कौंसिल के मेम्बर हुए, गोखले के पास गये और यों ही उनसे पूछने लगे कि क्या मैं आपके डब्बे में सफ़र कर सकता हूं? यह सुनकर पहले तो गोखले कुछ चौंके, क्योंकि वसु महाशय बड़े बातूनी थे, लेकिन फिर स्वभाव-वश वह राज़ी हो गये। चन्द मिनट बाद श्री वसु फिर गोखले के पास आये और उनसे कहने लगे कि अगर मेरे एक और दोस्त आपके साथ इसी डब्बे में चले चलें, तो आपको तकलीफ़ तो न होगी। गोखले ने फिर चुपचाप 'हां' कर दिया। ट्रेन छूटने से कुछ समय पहले वसुसाहब ने फिर उसी ढंग से कहा कि मुझे और मेरे साथी को ऊपर की बर्थों पर सोने में बहुत तकलीफ़ होगी, इसलिए अगर आपको तकलीफ़ न हो तो आप ऊपर की बर्थ पर सो जायं। मेरा ख़याल है कि अन्त में यही हुआ। बेचारे गोखले को ऊपरी बर्थ पर चढ़कर जैसे-तैसे रात बितानी पड़ी!

मैं हाईकोर्ट में वकालत करने लगा। कुछ हदतक मुझे अपने काम में दिलचस्पी आने लगी। यूरोप से लौटने के बाद शुरू-शुरू के महीने बड़े आनन्द के थे। मुझे घर आने और वहां आकर पुरानी मेल-मुलाक़ातें क़ायम कर लेने से ख़ुशी हुई। परन्तु धीरे-धीरे, अपनी तरह के अधिकांश लोगों के साथ जिस तरह की ज़िन्दगी बितानी पड़ती थी, उसकी सब ताज़गी ग़ायब होने लगी और मैं यह महसूस करने लगा कि मैं बेकार और उद्देश्यहीन जीवन की नीरस ख़ानापूरी में ही फंस रहा हूं। मैं समझता हूं कि मेरी दोग़ली, कम-से-कम खिचड़ी, शिक्षा इस बात के लिए ज़िम्मेदार थी कि मेरे मन में अपनी परिस्थितियों से असन्तोष था। इंग्लैण्ड की अपनी सात बरस की ज़िन्दगी में मेरी जो आदतें और जो भावनाएं बन गई थीं वे जिन चीज़ों को मैं यहां देखता था उनसे मेल नहीं खाती थीं। तक़दीर से मेरे घर का वायुमण्डल बहुत अनुकूल था और उससे कुछ शान्ति भी मिलती थी। परन्तु उतना काफ़ी न था। उसके बाद तो वही बार-लाइब्रेरी, वही क्लब और दोनों वे ही साथी, जो उन्हीं पुराने विषयों पर, आमतौर पर क़ानूनी

पेशे-सम्बन्धी बातों पर ही बार-बार बातें करते थे। निस्सन्देह यह वायुमण्डल ऐसा न था जिससे बुद्धि को कुछ गति या स्फूर्ति मिले, और मेरे मन में जीवन के बिल्कुल नीरसपन का भाव घर करने लगा। कहने योग्य विनोद या प्रमोद की बातें भी न थीं।

ई० एम० फ़ॉर्स्टर ने हाल ही में लॉज़ डिकिंसन की जो जीवनी लिखी है, उसमें उन्होंने लिखा है कि डिकिंसन ने एक बार हिन्दुस्तान के बारे में कहा था कि "ये दोनों जातियां (यूरोपियन और हिन्दुस्तानी) एक दूसरे से मिल क्यों नहीं सकतीं? महज़ इसलिए कि हिन्दुस्तानियों से अंग्रेज़ ऊब जाते हैं, यही सीधा-सादा कठोर सत्य है।" यह सम्भव है कि बहुत-से अंग्रेज़ यही महसूस करते हों और इसमें कोई आश्चर्य की बात भी नहीं है। दूसरी पुस्तक में फ़ॉर्स्टर ने कहा है कि हिन्दुस्तान में हरेक अंग्रेज़ यही महसूस करता है, और उसीके मुताबिक़ बर्ताव करता है कि वह विजित देश पर क़ब्ज़ा बनाये रखनेवाली सेना का एक सदस्य है, और ऐसी हालत में दोनों जातियों में परस्पर सहज और संकोचहीन सम्बन्ध स्थापित होना असम्भव है। हिन्दुस्तानी और अंग्रेज़ दोनों ही एक-दूसरे के सामने बनते हैं और स्वभावतः दोनों एक-दूसरे के सामने असुविधा अनुभव करते हैं। दोनों एक-दूसरे से ऊबे रहते हैं और जब दोनों ही एक-दूसरे से अलग होते हैं तो उन्हें ख़ुशी होती है और वे आज़ादी के साथ सांस लेते तथा फिर से स्वाभाविक रूप से चलने-फिरने लगते हैं।

आमतौर पर अंग्रेज़ एक ही क़िस्म के हिन्दुस्तानियों से मिलते हैं—उन लोगों से जिनका हाकिमों की दुनिया से ताल्लुक़ रहता है। वास्तव में भले और बढ़िया लोगों तक उनकी पहुंच ही नहीं होती और अगर ऐसा कोई शख़्स उन्हें मिल भी जाय, तो वे उसे जी खोलकर बात करने को तैयार नहीं कर पाते। हिन्दुस्तान में ब्रिटिश शासन ने, सामाजिक मामलों में भी, हाकिमों की श्रेणी को ही महत्त्व देकर आगे बढ़ाया है। इसमें हिन्दुस्तानी और अंग्रेज़ दोनों ही तरह के हाकिम आ जाते हैं। इस वर्ग के लोग ख़ास तौर पर मट्ठर और तंग ख़याल के होते हैं। एक सुयोग्य अंग्रेज़ नौजवान भी हिन्दुस्तान में आने पर शीघ्र ही एक प्रकार की मानसिक और सांस्कृतिक तन्द्रा में ग्रस्त हो जाता है तथा समस्त सजीव विचारों और आन्दोलनों से अलग हो जाता है। दफ़्तर में दिन-भर मिसलों में—जो हमेशा चक्कर लगाती रहती हैं और कभी खतम नहीं होतीं—

सर खपाकर ये हाकिम थोड़ा-सा व्यायाम करते हैं। फिर वहां से अपने समाज के लोगों से मिलने-जुलने को क्लब में चले जाते हैं, वहां व्हिस्की पीकर 'पंच' तथा इंग्लैण्ड से आये हुए सचित्र साप्ताहिक पत्र पढ़ते हैं—किताब तो वे शायद ही पढ़ते हों। पढ़ते भी होंगे तो अपनी किसी पुरानी मनचाही किताब को ही। इसपर भी अपने इस धीमे मानसिक ह्रास के लिए वे हिन्दुस्तान पर दोष मढ़ते हैं, यहां की आब-हवा को कोसते हैं और आमतौर पर आन्दोलन करनेवालों को बददुआ देते हैं कि वे उनकी दिक़्क़तें बढ़ाते हैं; लेकिन यह महसूस नहीं कर पाते कि उनके मानसिक और सांस्कृतिक क्षय का कारण वह मज़बूत नौकरशाही तथा स्वेच्छाचारी शासन-प्रणाली है जो हिन्दुस्तान में प्रचलित है और वे ख़ुद जिसके एक छोटे-से पुर्जे हैं।

जब छुट्टियों और फ़र्लों के बाद भी अंग्रेज़ हाकिमों की यह हालत है तब जो हिन्दुस्तानी अफ़सर उनके साथ या उनके मातहत काम करते हैं वे उनसे बेहतर कैसे हो सकते हैं, क्योंकि वे अंग्रेज़ी नमूनों की नक़ल करने की कोशिश करते हैं। साम्राज्य की राजधानी नई दिल्ली में ऊंचे हिन्दुस्तानी और अंग्रेज हाकिमों के पास बैठकर, तरक़्क़ियों, छुट्टी के क़ायदों, तबादलों और नौकरों की रिश्वतख़ोरी तथा बेईमानियों वग़ैरा के कभी ख़त्म न होनेवाले क़िस्सों को सुनने से ज़्यादा जी घबड़ानेवाली बात शायद ही कोई हो।

शायद कुछ हदतक कलकत्ता, बम्बई-जैसे शहरों को छोड़कर बाक़ी सब जगहों में इस हाकिमाना वातावरण ने हिन्दुस्तान की मध्यम श्रेणी के लगभग तमाम लोगों की ज़िन्दगी, ख़ासतौर पर अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे लोगों के जीवन पर, चढ़ाई करके उसे अपने रंग में रंग दिया। पेशेवर लोग—वकील, डॉक्टर तथा दूसरे लोग—भी उसके शिकार हो गये, और अर्ध-सरकारी विश्वविद्यालयों के शिक्षाभवन भी उससे न बच सके। ये सब लोग अपनी एक अलग दुनिया में रहते हैं जिसका सर्व-साधारण से तथा मध्यम श्रेणी के नीचे के लोगों से कोई सम्बन्ध नहीं है। उन दिनों राजनीति इसी ऊपर की तह के लोगों तक सीमित थी। बंगाल में १९०६ से राष्ट्रीय आन्दोलन ने ज़रा इस वस्तुस्थिति को झकझोरकर बंगाल के मध्यम श्रेणी के निचले लोगों में, और कुछ हद तक जनता में भी, नई जान डाल दी। आगे चलकर गांधीजी के नेतृत्व में यह सिलसिला और तेज़ी से बढ़ने को था। परन्तु राष्ट्रीय संग्राम जीवनप्रद होने पर भी वह एक संकीर्ण सिद्धान्त

होता है, और वह अपने में इतनी अधिक शक्ति तथा इतना अधिक ध्यान लगवा लेता है कि दूसरे कामों के लिए कुछ नहीं बचता।

इसलिए इंग्लैण्ड से लौटने के बाद उन शुरू के सालों में मैं जीवन से असन्तोष अनुभव करने लगा। अपने वकालत के पेशे में मुझे पूरा उत्साह नहीं था। राजनीति के मानी मेरे मन में यह थे कि विदेशी शासन के ख़िलाफ़ उग्र राष्ट्रीय आन्दोलन हो। लेकिन उस समय की राजनीति में इसके लिए कोई गुंजाइश नहीं थी। मैं कांग्रेस में शरीक हो गया और उसकी बैठकों में जाता रहता, फिजी में हिन्दुस्तानी मज़दूरों के लिए शर्तबन्दी कुली-प्रथा के ख़िलाफ़ या दक्षिण अफ्रीका में प्रवासी भारतीयों के साथ दुर्व्यवहार किये जाने के ख़िलाफ़ यानी ऐसे ख़ास मौक़ों पर जब कभी कोई आन्दोलन उठ खड़ा होता, तो मैं अपनी पूरी ताकत से उसमें जुटकर ख़ब मेहनत करता। लेकिन ये काम तो सिर्फ़ कुछ समय के लिए ही होते थे।

शिकार जैसे दूसरे कामों में मैंने अपना जी बहलाना चाहा, लेकिन उसकी तरफ़ मेरा ख़ास लगाव या झुकाव न था। बाहर जाना और जंगल में घूमना तो मुझे अच्छा लगता था, लेकिन इस बात की ओर मैं कम ध्यान देता कि कोई जानवर मारूं। सच बात तो यह है कि मैं जानवरों को मारने के लिए कभी मशहूर नहीं हुआ, हालांकि एक दिन कश्मीर में थोड़े-बहुत इत्तिफ़ाक़ से ही एक रीछ के मारने में मुझे कामयाबी मिल गई थी। शिकार के लिए मेरे मन में जो थोड़ा-बहुत उत्साह था, वह भी एक छोटे-से बारहसिंगे के साथ जो घटना हुई उससे ठंडा पड़ गया था। यह छोटा-सा निर्दोष अहिंसक पशु चोट से मरकर मेरे पैरों पर गिर पड़ा और अपनी आंसूभरी बड़ी-बड़ी आंखों से मेरी तरफ़ देखने लगा। तबसे उन आंखों की मुझे अक्सर याद आ जाती है।

उन शुरू के सालों में श्री गोखले की 'भारत सेवक समिति' की ओर भी मेरा आकर्षण हुआ था। मैंने उसमें शामिल होने की बात तो कभी नहीं सोची। कुछ तो इसलिए कि उनकी राजनीति मेरे लिए बहुत ही नरम थी, और कुछ इसलिए कि उन दिनों अपना पेशा छोड़ने का मेरा कोई इरादा न था। परन्तु समिति के मेम्बरों के लिए मेरे दिल में बड़ी इज़्ज़त थी, क्योंकि उन्होंने निर्वाह-मात्र पर अपनेको स्वदेश की सेवा में लगा दिया था। मैंने दिल में कहा कि कम-से-कम यह एक समिति ऐसी है, जिसके लोग एकाग्र-चित्त होकर लगातार काम करते हैं, फिर चाहे वह काम सोलहों आने ठीक दिशा में भले ही न हो।

विश्व-व्यापी महायुद्ध शुरू हुआ और उसमें हमारा ध्यान लग गया, हालांकि वह हमसे बहुत दूर हो रहा था। शुरू में उसका हमारे जीवन पर ऐसा ज़्यादा प्रभाव नहीं पड़ा और हिन्दुस्तान ने तो उसकी बीभत्सता के पूरे स्वरूप का अनुभव भी नहीं किया। राजनीति के बरसाती नाले बहते और लोप हो जाते थे। 'ब्रिटिश डिफ़ेन्स ऑव रिएल्म ऐक्ट' की तरह जो 'भारत-रक्षा-क़ानून' बना था, देश को वह ज़ोर से जकड़े हुए था। लड़ाई के दूसरे साल से ही षड्यंत्रों और गोलियों से उड़ाये जाने की ख़बरें आने लगीं। उधर पंजाब में रंगरूटों की ज़बरन् भरती की खबरें सुनाई देती थीं।

यद्यपि लोग ज़ोर-ज़ोर से राजभक्ति का राग अलापते थे, तो भी अंग्रेज़ों के साथ उनकी बहुत ही कम हमदर्दी थी। जर्मनी की जीत की ख़बरें सुनकर क्या माडरेट और क्या गरमदलवाले दोनों को ही ख़ुशी होती थी। यह नहीं कि किसी-को जर्मनी से कोई प्रेम था, बल्कि यह इच्छा थी कि हमारे इन प्रभुओं का ग़रूर उतर जाय। कमज़ोर और असहाय मनुष्यों के मन में अपने से ज़बरदस्त के दूसरे से पीटे जाने की ख़बर सुनकर जैसी ख़ुशी होती है, वैसा ही यह भाव था। मैं समझता हूं कि हममें से अधिकांश इस लड़ाई के बारे में मिले-जुले भाव रखते थे। जितने राष्ट्र लड़ रहे थे, उनमें मेरी हमदर्दी सबसे ज़्यादा फ्रान्सीसियों के साथ थी। मित्र-राष्ट्रों की ओर से, बेहयाई के साथ जो लगातार प्रचार किया गया, उसका कुछ असर ज़रूर पड़ा, यद्यपि हम लोग उसकी सब बातें सही न मानने की काफ़ी कोशिश करते थे।

धीरे-धीरे राजनैतिक जीवन फिर बढ़ने लगा। लोकमान्य तिलक जेल से बाहर आ गये, और उन्होंने तथा मिसेज़ बेसेण्ट ने होमरूल लीगें क़ायम कीं। मैं दोनों लीगों में शामिल हुआ, लेकिन काम मैंने ख़ास तौर पर मिसेज़ बेसेण्ट की लीग के लिए ही किया। हिन्दुस्तान के राजनैतिक मंच पर मिसेज़ बेसेण्ट दिनोंदिन अधिक भाग लेने लगीं। कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशनों में कुछ अधिक जोश भर गया और मुस्लिम लीग कांग्रेस के साथ-साथ चलने लगी। वायु-मण्डल में बिजली-सी दौड़ गई, और हम-जैसे अधिकांश नवयुवकों के दिल फड़कने लगे। निकट भविष्य में हम बड़ी-बड़ी बातें होने की उम्मीदें करने लगे। मिसेज़ बेसेण्ट की नज़रबन्दी से पढ़े-लिखे लोगों में बहुत उत्तेजना बढ़ी और उसने देश-भर में होम-रूल आन्दोलन में जान डाल दी। होमरूल लीगों में न सिर्फ़ वे पुराने गरमदलवाले

ही शामिल हुए जो १९०७ से कांग्रेस से अलग हो गये थे, बल्कि मध्यम श्रेणी के लोगों में से नये कार्यकर्त्ता भी आये। लेकिन आम जनता को इन लोगों ने छुआ तक नहीं। परन्तु कई माडरेट लीडर आगे भी बढ़े। उनमें से कुछ तो बाद को पीछे हट गये, कुछ जहां पहुंच चुके थे, वहीं-के-वहीं डटे रहे। मुझे याद है कि 'यूरोपियन डिफेंस फ़ोर्स' के ढंग पर सरकार हिन्दुस्तान में मध्यमवर्ग के लोगों में से जिस नये 'इंडियन डिफेंस फ़ोर्स' का संगठन कर रही थी, उसके बारे में बड़ी चर्चा होती थी। कई मामलों में इस हिन्दुस्तानी डिफेंस फ़ोर्स के साथ वह व्यवहार नहीं किया जाता था, जो यूरोपियन डिफेंस फ़ोर्स के साथ किया जाता था, और हममें से बहुतों को यह महसूस हुआ कि जबतक यह सब अपमानजनक भेद-भाव न मिटा दिया जाय, तबतक हमें इस फ़ोर्स से सहयोग न करना चाहिए। लेकिन बहुत बहस के बाद, आखिर हम लोगों ने संयुक्त प्रान्त में सहयोग करना ही तय किया; क्योंकि यह सोचा गया कि इन हालतों में भी हमारे नौजवानों के लिए यह अच्छा है कि वे फ़ौजी शिक्षा ग्रहण करें। मैंने इस फ़ोर्स में दाखिल होने के लिए अपनी अर्ज़ी भेज दी, और उस तजवीज़ को बढ़ाने के लिए हम लोगों ने इलाहाबाद में एक कमेटी भी बना ली। इसी समय मिसेज़ बेसेण्ट की नज़रबन्दी हुई, और उस क्षणिक जोश में मैंने कमेटी के मेम्बरों को, जिसमें पिताजी, डाक्टर तेजबहादुर सप्रू, श्री सी० वाई० चिन्तामणि तथा दूसरे माडरेट लीडर शामिल थे, इस बात के लिए राज़ी कर लिया कि वे अपनी मीटिंग रद्द कर दें,और सरकार की नज़रबन्दीवाली हरकत के विरोध-स्वरूप डिफेंस फ़ोर्स के सिलसिले के दूसरे सब काम भी बन्द कर दें। तुरन्त ही इस मतलब का एक आम नोटिस निकाल दिया गया। मेरा खयाल है कि लड़ाई के दिनों में ऐसा आक्रामक कार्य करने के लिए इनमें से कुछ लोग पीछे बहुत पछताये।

मिसेज़ बेसेण्ट की नज़रबन्दी का नतीजा यह हुआ कि पिताजी तथा दूसरे माडरेट लीडर होमरूल लीग में शामिल हो गये। कुछ महीने बाद ज्यादातर माडरेट नेताओं ने लीग से इस्तीफ़ा दे दिया। पिताजी उसके मेम्बर बने रहे और उसकी इलाहाबाद-शाखा के सभापति भी बन गये।

धीरे-धीरे पिताजी कट्टर माडरेटों की स्थिति से अलग हटते जा रहे थे। उनकी प्रकृति तो, जो सत्ता हमारी उपेक्षा करती थी और हमारे साथ घृणा का बर्ताव करती थी, उससे ज्यादा दबने और उसीसे अपील करने के खिलाफ़ बग़ावत करती थी और पुराने नरम दल के नेता उन्हें आकर्षित नहीं करते थे। उनकी

भाषा और उनके ढंग उन्हें बहुत खटकते थे। मिसेज़ बेसेण्ट की नज़रबन्दी की घटना का उनके ऊपर काफ़ी असर पड़ा, लेकिन आगे क़दम रखने से पहले वह अब भी हिचकिचाते थे। अक्सर वह उन दिनों यह कहा करते थे कि माडरेटों के तरीक़ों से कुछ नहीं हो सकता लेकिन साथ ही जबतक हिन्दू-मुस्लिम सवाल का हल नहीं मिलता, तबतक दूसरा कोई भी कारगर काम नही किया जा सकता। वह वादा करते थे कि अगर इसका हल मिल जाय, तो मैं आपमें से तेज़-से-तेज़ के साथ क़दम मिलाकर चलने को तैयार हूं। हमारे ही घर में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की मीटिंग में वह संयुक्त कांग्रेस-लीग-योजना बनी जिसे १९१६ ईसवी में कांग्रेस ने लखनऊ में मंजूर किया। इस बात से पिताजी बड़े ख़ुश हुए, क्योंकि इससे सम्मिलित प्रयास का रास्ता खुल गया। उस समय वह माडरेट-दल के अपने पुराने साथियों से बिगाड़ करके भी हमारे साथ चलने को तैयार थे। भारत-मंत्री की हैसियत से एडविन मांटेग्यू ने हिन्दुस्तान में जो दौरा किया, तबतक, और दौरे के दरमियान, माडरेट और पिताजी साथ-साथ रहे। लेकिन मांटेग्यू-चेम्सफ़ोर्ड रिपोर्ट[1] के प्रकाशन के बाद तुरन्त ही मतभेद शुरू हो गया। १९१८ में लखनऊ में एक विशेष प्रान्तीय कान्फ्रेंस हुई। पिताजी इसके सभापति थे। इसीमें वह सदा के लिए माडरेटों से अलग हो गये। माडरेटों को डर था कि यह कान्फ्रेंस माण्टेग्यू-चेम्सफ़ोर्ड प्रस्तावों के खिलाफ़ कड़ा रुख़ अख्तियार करेगी। इसलिए उन्होंने उसका बायकाट कर दिया। इसके बाद इन प्रस्तावों पर विचार करने के लिए कांग्रेस का जो विशेष अधिवेशन हुआ उसका भी उन्होंने बायकाट किया। तबसे अबतक वे कांग्रेस के बाहर ही हैं।

माडरेटों ने जो ढंग अख्तियार किया वह यह था कि वे कांग्रेस के अधिवेशनों तथा दूसरे आम जल्सों से चुपचाप अलग होकर दूर रहें, और बहुमत के खिलाफ़ होने पर वहां जाकर अपना दृष्टिकोण भी न रखें और न उसके लिए लड़ें। यह ढंग बहुत ही भद्दा और अनुचित मालूम हुआ। मेरा ख़याल है कि देश में अधिकांश लोगों का यही आम ख़याल था और मुझे विश्वास है कि हिन्दुस्तान की राजनीति में माडरेटों का प्रभाव जो प्रायः सोलहों आने जाता रहा, वह एक हद तक

---

[1] **सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली से प्रकाशित 'कांग्रेस का इतिहास', में प्रकरण ४ देखिये। —अनु०**

उनके इस डरपोकपन के कारण भी हुआ। मेरा ख़याल है कि अकेले श्री शास्त्री ही एक ऐसे माडरेट नेता थे, जो कांग्रेस के उन कुछ जल्सों में भी शामिल हुए, जिनका माडरेट दल ने बायकाट कर दिया था, और उन्होंने अपने अकेले का दृष्टि-कोण वहां रक्खा ।

लड़ाई के शुरू के सालों में मेरे अपने राजनैतिक और सार्वजनिक कार्य साधारण ही थे और मैं आम सभाओं में व्याख्यान देने से बचा रहा। अभी तक मुझे जनता में व्याख्यान देने में डर व झिझक मालूम होती थी। कुछ हद तक इसकी वजह यह भी थी कि मैं यह महसूस करता था कि सार्वजनिक व्याख्यान अंग्रेज़ी में तो होने नहीं चाहिए और हिन्दुस्तानी में देर तक बोलने की अपनी योग्यता में मुझे सन्देह था। मुझे वह छोटी-सी घटना याद है, जो उस समय हुई जब मुझे इस बात के लिए मजबूर कर दिया गया कि मैं पहले-पहल इलाहाबाद में सार्वजनिक भाषण दूं। सम्भवतः यह १९१५ में हुआ। तारीख़ के बारे में मैं ठीक-ठीक नहीं कह सकता। इसके अलावा पहले क्या हुआ और फिर क्या, तरतीब भी मुझे साफ़-साफ़ याद नहीं है। प्रेस का मुंह बन्द करनेवाले एक क़ानून के विरोध में सभा होनेवाली थी और उसमें मुझे यह मौक़ा मिला था। मैं बहुत थोड़ा बोला, सो भी अंग्रेज़ी में। ज्योंही मीटिंग ख़तम हुई, मुझे इस बात से बड़ी सकुच हुई कि डॉक्टर तेजबहादुर सप्रू ने मंच पर पब्लिक के सामने मुझे छाती से लगाकर प्यार से चूमा। मैंने जो कुछ या जिस तरह कहा, उसपर वह खुश हुए हों सो बात नहीं। बल्कि उनकी इस बेहद ख़ुशी का सबब सिर्फ़ यह था कि मैंने आम सभा में व्याख्यान दिया, और इस तरह सार्वजनिक कार्य के लिए एक नया रंगरूट मिल गया। उन दिनों सार्वजनिक काम दरअसल केवल व्याख्यान देना ही था।

मुझे याद है कि उन दिनों हमें, इलाहाबाद के बहुत-से नौजवानों को, यह भी आशा थी कि, मुमकिन है, डॉक्टर सप्रू राजनीति में कुछ आगे क़दम रखें। शहर में माडरेट दल के जितने लोग थे, उन सबमें उन्हींसे इस बात की सबसे ज़्यादा सम्भावना थी; क्योंकि वह भावुक थे और कभी-कभी मौके पर उत्साह की लहर में बह जाते थे। उनके मुक़ाबले पिताजी बहुत ठंडे मालूम पड़ते थे, हालांकि उनकी इस बाहरी चादर के नीचे काफ़ी आग थी। लेकिन पिताजी की दृढ़ इच्छा-शक्ति के कारण हमें उनसे बहुत कम उम्मीद रह गई थी, और कुछ वक़्त के लिए हमें सचमुच डॉक्टर सप्रू से ही ज़्यादा उम्मीदें थी। इसमें तो कोई शक नहीं कि

अपनी लम्बी सार्वजनिक सेवाओं के कारण पण्डित मदनमोहन मालवीय हमें अपनी तरफ़ खींचते थे और हम लोग उनसे देर-देर तक बातें करके उनपर यह ज़ोर डालते थे कि वह ज़ोर के साथ देश का नेतृत्व करें।

उस ज़माने में, घर में राजनैतिक सवाल चर्चा और बहस के लिए शान्तिमय विषय नहीं था। उनकी चर्चा अक्सर होती थी, लेकिन चर्चा होते ही तनातनी होने लगती थी। गरम दल की तरफ़ जो मेरा झुकाव था, उसे पिताजी बड़े ग़ौर से देख रहे थे; ख़ासतौर पर बातूनी राजनीति के बारे में मेरी नुक्ताचीनियों को और कार्य के लिए की जानेवाली मेरी आग्रहपूर्ण मांग को। मुझे भी यह बात साफ़-साफ़ नहीं दिखाई देती थी कि क्या काम होना चाहिए, और पिताजी कभी-कभी ख़याल करते थे कि मैं सीधे उस हिंसात्मक कार्य की तरफ़ जा रहा हूं, जिसको बंगाल के नौजवानों ने अख़्तियार किया था। इससे वह बहुत ही चिन्तित रहते थे, जबकि दरअसल मेरा आकर्षण उस तरफ़ था नहीं। हां, यह ख़याल मुझे हर वक़्त घेरे रहता था कि हमें मौजूदा हालत को चुपचाप बरदाश्त नहीं करना चाहिए और कुछ-न-कुछ करना ज़रूर चाहिए। राष्ट्रीय दृष्टि से किसी काम को सफल करना बहुत आसान नहीं दिखाई देता था; लेकिन मैं यह महसूस करता था कि स्वाभिमान और स्वदेशाभिमान दोनों ही यह चाहते हैं कि विदेशी हुकूमत के ख़िलाफ़ अधिक लड़ाकू और आक्रामक रवैया अख़्तियार किया जाय। पिताजी खुद माडरेटों की विचार-पद्धति से असन्तुष्ट थे और उनके मन के भीतर द्वन्द्व-युद्ध मच रहा था। वह इतने हठी थे कि जबतक इस बात का पूरा-पूरा विश्वास न हो जाय कि ऐसा करने के अलावा और कोई चारा नहीं, तबतक वह एक स्थिति को छोड़कर दूसरी को कभी नहीं अपनाते। आगे रखे जानेवाले हरेक क़दम के मानी यह थे कि उनके मन में कठिन और कठोर द्वन्द्व हो, लेकिन अपने मन से इस तरह लड़ने के बाद जब वह कोई क़दम आगे रख देते थे तब फिर पीछे पैर नहीं हटाते थे। उन्होंने आगे जो क़दम बढ़ाया, वह किसी उत्साह के झोंके में नहीं, बल्कि बौद्धिक विश्वास के फलस्वरूप; और एक बार आगे क़दम रख देने के बाद, उनका सारा अभिमान उन्हें पीछे मुड़कर देखने से भी रोकता था।

उनकी राजनीति में बाह्य परिवर्तन मिसेज़ बेसेण्ट की नज़रबन्दी के वक़्त से आया और तबसे वह क़दम-ब-क़दम आगे ही बढ़ते गये और अपने माडरेट दोस्तों को पीछे छोड़ते गये। अन्त में १९१९ में पंजाब में जो दुःखान्त काण्ड हुआ, उसने

उन्हें हमेशा के लिए अपने पुराने जीवन और अपने पेशे से अलग काट फेंका, और उन्होंने गांधीजी के चलाये नये आन्दोलन के साथ अपने भाग्य की बागडोर बांध दी।

लेकिन यह बात तो आगे जाकर होने को थी और १९१५ से १९१७ तक तो वह यह तय ही नहीं कर पाये कि क्या करना चाहिए। एक तो उनके अपने मन में तरह-तरह की शंकाएं उठ रही थीं, दूसरे वह मेरी वजह से चिन्तित थे। इसलिए वह उन दिनों के सार्वजनिक प्रश्नों पर शान्तिपूर्वक बातचीत नहीं कर सकते थे। अक्सर यह होता था कि बातचीत में वह नाराज़ हो जाते और हमें बात जहां-की-तहां ख़त्म कर देनी पड़ती।

मैं गांधीजी से पहले-पहल १९१६ में बड़े दिन की छुट्टियों में लखनऊ-कांग्रेस में मिला। दक्षिण अफ्रीका में उनकी बहादुराना लड़ाई के लिए हम सब लोग उनकी तारीफ़ करते थे, लेकिन हम नौजवानों में बहुतों को वह बहुत अलग तथा राजनीति से दूर व्यक्ति मालूम होते थे। उन दिनों उन्होंने कांग्रेस या राष्ट्रीय राजनीति में भाग लेने से इन्कार कर दिया था, और अपनेको प्रवासी भारतीयों के मसले की सीमा तक बांध रखा था। इसके बाद ही चम्पारन में निलहे गोरों के कारण होनेवाले किसानों के दुःख दूर करने में उन्होंने जैसा साहस दिखाया और उस मामले में उनकी जो जीत हुई, उससे हम लोग उत्साह से भर गये। हम लोगों ने देखा कि वह हिन्दुस्तान में भी अपने इस तरीक़े से काम लेने को तैयार हैं और उनसे सफलता की भी आशा होती थी।

लखनऊ-कांग्रेस के बाद उन दिनों इलाहाबाद में सरोजिनी नायडू ने जो कई बढ़िया भाषण दिये, उनसे भी, मुझे याद है, मेरा दिल हिल उठता था। वे भाषण शुरू से आख़िर तक राष्ट्रीयता और देश-भक्ति से सराबोर होते थे और उन दिनों मैं विशुद्ध राष्ट्रीयता-वादी था। मेरे कालेज के दिनों के गोलमोल साम्यवादी भाव पीछे जा छिपे थे। १९१६ में रोजर केसमेन्ट[1] ने अपने मुक़दमे में जो

---

[1]रोजर केसमेंट एक समय ब्रिटिश सरकार के उपनिवेशों में उच्च पद पर था। दक्षिण अमरीका के पुटुमायो में एंग्लो-पेरूवियन रबर कम्पनी ने वहां के निवासियों पर जो ज़ुल्म किये थे, उनकी जांच करने के लिए १९१० में इसकी नियुक्ति की गई थी और उसकी रिपोर्ट से बड़ी सनसनी फैली थी। इसके बाद यह ब्रिटिश साम्राज्य का कट्टर शत्रु बन गया। महायुद्ध में भाग न लेने के लिए,

उन्होंने यह भी कहा कि इस किताब के लिखने में मैं तुम्हें विचारों की भी मदद दूंगा और उस किताब का संशोधन भी कर दूंगा। लेकिन मेरे वकीली जीवन में उनकी यह दिलचस्पी बेकार थी, क्योंकि मेरेलिए इससे ज्यादा अखरनेवाली और कोई चीज़ नहीं हो सकती थी कि मैं क़ानूनी किताब लिखने में अपना समय और शक्ति बरबाद करूं।

बुढ़ापे में सर रासबिहारी बहुत ही चिड़चिड़े हो गये थे। फ़ौरन ही उन्हें ग़ुस्सा आ जाता था, जिससे उनके जूनियरों पर उनका बड़ा आतंक-सा रहता था। लेकिन मुझे वह फिर भी अच्छे लगते थे। उनकी कमियां और कमज़ोरियां भी बिल्कुल अनाकर्षक नहीं मालूम होती थीं। एक मर्तबा मैं और पिताजी शिमला में उनके मेहमान थे। मेरा ख़याल है कि यह १९१८ की बात है—ठीक उस समय की जब माण्टेग्यू-चेम्सफ़ोर्ड-रिपोर्ट छपकर आई थी। उन्होंने एक दिन शाम को कुछ मित्रों को खाने के लिए बुलाया और उनमें खापर्डेसाहब भी थे। खाना खाने के बाद सर रासबिहारी और खापर्डे आपस में ज़ोर-ज़ोर से बातें तथा एक-दूसरे पर हमला करने लगे, क्योंकि वे राजनीति में भिन्न-भिन्न दलों के थे। सर रासबिहारी घुटे हुए माडरेट थे और खापर्डे उन दिनों प्रमुख तिलक-शिष्य माने जाते थे, यद्यपि पीछे जाकर वह अत्यन्त नरम और माडरेटों तक के लिए भी अत्यधिक माडरेट हो गये। खापर्डे ने गोखले की आलोचना शुरू की। कुछ साल पहले ही गोखले का देहान्त हो चुका था। खापर्डे कहने लगे कि गोखले ब्रिटिश सरकार के एजेण्ट थे और उन्होंने लन्दन में मेरे ऊपर भेदिये का काम किया। सर रासबिहारी इसे कैसे बरदाश्त कर सकते थे ? वह बिगड़कर बोले कि गोखले एक पुरुषोत्तम थे और मेरे ख़ास मित्र थे। मैं किसीको उनके ख़िलाफ़ एक भी शब्द नहीं कहने दूंगा। तब खापर्डे श्रीनिवास शास्त्री की बुराई करने लगे। सर रासबिहारी को यह भी अच्छा तो नहीं लगा लेकिन उन्होंने कोई नाराज़गी नहीं दिखलाई। ज़ाहिर है कि वह शास्त्री के उतने प्रशंसक नहीं थे, जितने गोखले के। यहांतक कि उन्होंने यह कहा कि जबतक गोखले जीवित थे मैं रुपये-पैसे से भारत सेवक समिति की मदद करता था, लेकिन उनकी मृत्यु के बाद मैंने रुपया देना बन्द कर दिया है। इसके बाद खापर्डे उनके मुक़ाबले तिलक की तारीफ़ करने लगे। बोले, "तिलक निस्सन्देह महा-पुरुष, एक आश्चर्यजनक पुरुष, महात्मा हैं।" "महात्मा!" रासबिहारी बोले—"मुझे महात्माओं से चिढ़ है। मैं उनसे कोई वास्ता नहीं रखना चाहता।"

: ६ :

हिमालय की एक घटना

मेरी शादी १९१६ में, दिल्ली में, वसन्त-पंचमी को हुई थी। उस साल गरमी में हमने कुछ महीने कश्मीर में बिताये। मैंने अपने परिवार को तो श्रीनगर की घाटी में छोड़ दिया, और अपने एक चचेरे भाई के साथ कई हफ़्ते तक पहाड़ों में घूमता रहा, तथा लद्दाख़ रोड तक बढ़ता चला गया।

संसार के उच्च प्रदेश में, उन संकरी और निर्जन घाटियों में, जो तिब्बत के मैदान की तरफ़ ले जाती हैं, घूमने का यह मेरा पहला अनुभव था। ज़ोजी-ला घाटी की चोटी से हमने देखा तो हमारी एक तरफ़ नीचे की ओर पहाड़ों की घनी हरियाली थी, और दूसरी तरफ़ ख़ाली कड़ी चट्टान। हम उस घाटी की संकरी तह के ऊपर चढ़ते चले गये, जिसके दोनों ओर पहाड़ हैं। एक तरफ़ बर्फ़ से ढकी हुई चोटियां चमक रही थीं, और उनमें से छोटे-छोटे ग्लेशियर—हिमसरोवर—हमसे मिलने के लिए, नीचे को रेंग रहे थे। हवा ठंडी और कटीली थी, लेकिन दिन में धूप अच्छी पड़ती थी और हवा इतनी साफ़ थी कि अक्सर हमें चीज़ों की दूरी के बारे में भ्रम हो जाता था। वे दरअसल जितनी दूर होती थीं, हम उन्हें उससे बहुत कम दूर समझते थे। धीरे-धीरे सूनापन बढ़ता गया, पेड़ों और वनस्पतियों तक ने हमारा साथ छोड़ दिया—सिर्फ़ नंगी चट्टान और बरफ़ और पाला और कभी-कभी कुछ सुन्दर फूल रह गये। फिर भी प्रकृति के इन जंगली और सुनसान निवासों में मुझे अजीब सन्तोष मिला। मेरे उत्साह और उमंग का ठिकाना न था।

इस यात्रा में मुझे एक बड़ा दिल को कंपा देनेवाला अनुभव हुआ। ज़ोजी-ला घाटी से आगे सफ़र करते हुए एक जगह, जो मेरे ख़याल में मातायन कहलाती थी, हमसे कहा गया कि अमरनाथ की गुफा यहां से सिर्फ़ आठ मील दूर है। यह ठीक था कि बीच में बुरी तरह हिम से ढका हुआ एक बड़ा पहाड़ पड़ता था, जिसे पार करना था। लेकिन उससे क्या? आठ मील होते ही क्या हैं? जोश ख़ूब था और तजुरबे नदारद! हमने अपने डेरे-तम्बू, जो ग्यारह हज़ार पांच सौ

फुट की ऊंचाई पर थे, छोड़ दिये और एक छोटे-से दल के साथ पहाड़ पर चढ़ने लगे। रास्ता दिखाने के लिए हमारे साथ यहां का एक गडरिया था।

हम लोगों ने रस्सियों के सहारे कई बरफ़ीली नदियों को पार किया। हमारी मुश्किलें बढ़ती गईं तथा सांस लेने में भी कठिनाई मालूम होने लगी। हमारे कुछ सामान उठानेवालों के मुंह से खून निकलने लगा, हालांकि उनपर बहुत बोझ नहीं था। इधर बरफ़ पड़ने लगी और बर्फ़ीली नदियां भयानक रूप से रपटीली हो गईं। हम लोग बुरी तरह थक गये और एक-एक क़दम आगे बढ़ने के लिए बहुत कोशिश करनी पड़ती थी। लेकिन फिर भी हम यह मूर्खता करते ही गये। हमने अपना ख़ीमा सुबह चार बजे छोड़ा था और बारह घंटे तक लगातार चढ़ते रहने के बाद एक सुविशाल हिम-सरोवर देखने का पुरस्कार मिला। यह दृश्य बहुत ही सुन्दर था। उसके चारों ओर बरफ़ से ढकी हुई पर्वत-चोटियां थीं, मानो देवताओं का मुकुट अथवा अर्द्धचंद्र हो। परन्तु ताज़ा बरफ़ और कुहरे ने शीघ्र ही इस दृश्य को हमारी आंखों से ओझल कर दिया। पता नहीं कि हम कितनी ऊंचाई पर थे, लेकिन मेरा ख़याल है कि हम लोग कोई पन्द्रह-सोलह हज़ार फुट की ऊंचाई पर ज़रूर होंगे; क्योंकि हम अमरनाथ की गुफा से बहुत ऊंचे थे। अब हमें इस हिम-सरोवर को, जो सम्भवतः आध मील लम्बा होगा, पार करके दूसरी तरफ़ नीचे गुफा को जाना था। हम लोगों ने सोचा कि चढ़ाई ख़त्म होने से हमारी मुश्किलें भी ख़त्म हो गई होंगी, इसलिए बहुत थके होने पर भी हम लोगों ने हँसते हुए यात्रा की यह मंजिल भी तय करनी शुरू की। इसमें बड़ा धोखा था, क्योंकि वहां दरारें बहुत-सी थीं और ताज़ा गिरनेवाली बरफ़ ख़तरनाक दरारों को ढक देती थी। इस नई बरफ़ ने ही मेरा क़रीब-क़रीब ख़ात्मा कर दिया होता, क्योंकि मैंने ज्योंही उसके ऊपर पैर रखा, वह नीचे को खिसक गई और मैं धम्म-से मुंह बाये हुए एक विशाल दरार में जा गिरा। यह दरार बहुत बड़ी थी और कोई भी चीज़ उसमें बिल्कुल नीचे पहुंचकर हज़ारों वर्ष बाद तक भूगर्भशास्त्रियों की खोज के लिए इत्मीनान के साथ सुरक्षित रह सकती थी। लेकिन मेरे हाथ से रस्सी नहीं छूटी और मैं दरार की बाज़ू को पकड़े रहा और ऊपर खींच लिया गया। इस घटना से हम लोगों के होश तो ढीले हो गये थे, फिर भी हम लोग आगे चलते ही गये। लेकिन दरारों की तादाद और उनकी चौड़ाई आगे जाकर और भी बढ़ गई। इनमें से कुछको पार करने के कोई साधन भी हमारे पास

न थे, इसलिए अन्त में हम लोग थके-मांदे हताश हो लौट आये और इस प्रकार अमरनाथ की गुफा अनदेखी ही रह गई।

कश्मीर के पहाड़ों तथा ऊंची-ऊंची घाटियों ने मुझे ऐसा मुग्ध कर लिया कि मैंने एक बार फिर वहां जाने का संकल्प किया। मैंने कई योजनाएं सोचीं, और कई यात्राओं के मनसूबे बांधे और उनमें से एक के तो ख़याल ही से मेरी ख़ुशी का ठिकाना न रहा। वह थी तिब्बत की अलौकिक झील मानसरोवर और उसके पास का हिमाच्छादित कैलास। यह अठारह बरस पहले की बात है और मैं आज भी कैलास तथा मानसरोवर से उतना ही दूर हूं जितना पहले था। मैं फिर कश्मीर न जा सका, हालांकि वहां जाने की मेरी बहुत इच्छा रही। लेकिन मैं राजनीति और सार्वजनिक कामों के जंजाल में अधिकाधिक उलझता गया। पहाड़ों पर चढ़ने या समुद्रों को पार करने के बदले मेरी सैलानी तबीयत को जेलों में जाकर ही सन्तोष करना पड़ा। लेकिन अब भी मैं वहां जाने के मनसूबे गढ़ा करता हूं; क्योंकि वह तो एक ऐसे आनन्द की बात है जिसे कोई जेल में भी नहीं रोक सकता। और इसके अलावा जेलों में ये स्कीमें सोचने के सिवा और कोई करे भी क्या ? अतः मैं उस दिन का स्वप्न देख रहा हूं जब मैं हिमालय पर चढ़-कर उसे पार करूंगा और उस झील तथा कैलास के दर्शन करके अपना मनोरथ पूरा करूंगा। परन्तु इस बीच में जीवन की घड़ियां दौड़ती जा रही हैं, जवानी अधेड़पन में बदल रही है और कभी-कभी मैं यह सोचता हूं कि मैं इतना बूढ़ा हो जाऊंगा कि कैलास और मानसरोवर जा ही न सकूंगा। परन्तु यद्यपि यात्रा का अन्त न भी दिखाई दे, तब भी यात्रा करने में हमेशा आनन्द ही आता है।

मेरे अन्तर्पट पर इन गिरि-शृंगों की पड़ती छाया,
सांध्य गुलाबों से रंजित है जिनकी भीषण दुर्गमता ;
फिर भी मेरे प्राण मुग्ध पलकों पर बैठे अकुलाते,
शांत शुभ्र हिम के ये प्यासे, है कैसी पागल ममता।[1]

---

[1] वाल्तर दि ला मेयर के एक पत्र का भावानुवाद। —अनु०

: ७ :

गांधीजी मैदान में

सत्याग्रह और अमृतसर

यूरोपियन महायुद्ध के अन्त में हिन्दुस्तान में एक दबा हुआ जोश फैला हुआ था। कल-कारख़ाने जगह-जगह फैल गये थे और पूंजीवादी वर्ग धन और सत्ता में बढ़ गया था। चोटी पर के मुट्ठी-भर लोग मालामाल हो गये थे और उनके जी इस बात के लिए ललचा रहे थे कि बचत की इस दौलत को और भी बढ़ाने के लिए सत्ता और मौक़े मिलें। मगर आम लोग इतने ख़ुशक़िस्मत न थे और वे उस बोझे को कम करने की टोह में थे जिसके तले वे कुचले जा रहे थे। मध्यम वर्ग के लोगों में यह आशा फैल रही थी कि अब शासन-सुधार होंगे ही, जिनसे स्वराज के कुछ अधिकार मिलेंगे और उसके द्वारा उन्हें अपनी बढ़ती के नये रास्ते मिलेंगे। राजनैतिक आन्दोलन, जोकि शान्तिमय और बिल्कुल वैध था, कामयाब होता हुआ दिखाई देता था और लोग विश्वास के साथ आत्म-निर्णय, स्वशासन और स्वराज की बातें करते थे। इस अशान्ति के कुछ चिह्न जनता में भी, और खासकर किसानों में, दिखाई पड़ते थे, पंजाब के देहाती इलाक़ों में ज़बरदस्ती रंगरूट भर्ती करने की दुःखदायी बातें लोग अभी तक बुरी तरह याद करते थे और कोमागाटा-मारू[1] वाले तथा दूसरे लोगों पर षड्यन्त्र के

---

[1]कोमागाटा-मारूवाली घटना थोड़े में इस प्रकार है—कनाडा में एक ऐसा क़ानून पास हुआ कि सिवा उन लोगों के जो ठेठ कनाडा तक एक ही जहाज में सीधे यात्रा करें, दूसरे किसीको कनाडा में न उतरने दिया जाय। कनाडा से हिन्दुस्तान तक सीधा एक भी जहाज नहीं आता था। कनाडा में कई सिक्ख जा बसे थे। अतएव उनके लिए इस क़ानून का यह अर्थ हुआ कि वहां बस जानेवाले कोई भी सिक्ख, जो यहां थोड़े दिनों के लिए आये हों, वापस कनाडा नहीं जा सकते,

मुकदमे चलाकर जो दमन किया गया था उसने उनकी चारों ओर फैली हुई नाराज़गी को और भी बढ़ा दिया। जगह-जगह लड़ाई के मैदानों से जो सिपाही लौटे थे अब पहले जैसे 'जो हुकुम' नहीं रह गये थे। उनकी जानकारी और अनुभव बढ़ गया था और उनमें भी बहुत अशान्ति थी।

मुसलमानों में भी, तुर्किस्तान और खिलाफत के मसले पर जैसा रुख अख्तियार किया गया, उसपर ग़ुस्सा बढ़ रहा था और आन्दोलन तेज़ हो रहा था। तुर्किस्तान के साथ सन्धिपत्र पर अभी हस्ताक्षर नहीं हो चुके थे, मगर ऐसा मालूम होता था कि कुछ बुरा होनेवाला है, सो जहां एक ओर वे आन्दोलन कर रहे थे वहां दूसरी ओर इन्तज़ार भी कर रहे थे। देश-भर में प्रतीक्षा और आशा की हवा ज़ोरों पर थी, लेकिन उस आशा में चिन्ता और भय समाये हुए थे। इसके बाद रौलट-बिलों का दौर हुआ, जिसमें क़ानूनी कार्रवाई के बिना भी गिरफ़्तार करने और सज़ा देने की धाराएं रक्खी गई थीं। सारे हिन्दुस्तान में चारों ओर उठे हुए क्रोध की लहर ने उनका स्वागत किया था, यहांतक कि माडरेटों ने भी अपनी पूरी ताक़त से उनका विरोध किया था। और सच तो यह है कि हिन्दुस्तान के सब विचार और दल के लोगों ने एक स्वर से उनका विरोध किया था। फिर भी सरकारी अफ़सरों ने उनको क़ानून[1] बनवा ही डाला। और ख़ास

न कनाडा-स्थित कोई सिक्ख हिन्दुस्तान से अपने कुटुम्बियों को ही ले जा सकते थे। इस चुनौती का जवाब देने के लिए १९१५ में बाबा गुरुदत्तसिंह ने 'कोमागाटा मारू' नामक एक ठेठ कनाडा जानेवाला जहाज किराये का किया और छः सौ सिक्खों को उसमें वहां ले गये। इन्हें वहां उतरने नहीं दिया गया। वापस लौटते हुए उन्हें कलकत्ता में बजबज स्टेशन पर उतरकर सीधा पंजाब जाने का हुक्म मिला। इस हुक्म को भंग किया गया और इससे बलवा पैदा हुआ; गोलियां चलाई गईं, कितने ही मारे गये, कइयों पर राजद्रोह और षड्यन्त्र के मुकदमे चले। बाबा गुरुदत्तसिंह वहां से भाग निकले और छिप रहे। १९२१ तक वह इधर-उधर घूमते रहे, फिर गांधीजी से भेंट हुई और उनकी सलाह के अनुसार अपनेको गिरफ्तार करा दिया। १९२२ में वह लाहौर-जेल से छूटे। —अनु०

[1]एक बिल वापस लिया गया और दूसरा बिल पास होकर कानून बना। —अनु०

रिआयत सच पूछो तो यह की गई कि उनकी मियाद महज़ तीन वर्ष की रख दी गई !

पन्द्रह बरस पहले इन बिलों पर और इनकी बदौलत जो हलचल मची उसपर ज़रा निगाह दौड़ाना यहाँ उपयोगी होगा । रौलट-क़ानून बन तो गया, मगर जहांतक मैं जानता हूं, अपनी तीन वर्ष की ज़िन्दगी में वह कभी काम में नहीं लाया गया; हालांकि वे तीन साल शान्ति के नहीं, ऐसे उपद्रव के साल थे जो १८५७ के ग़दर के बाद हिन्दुस्तान ने पहले-पहल देखे थे । इस तरह ब्रिटिश सरकार ने लोकमत के घोर विरोधी होते हुए एक ऐसा क़ानून बनाया, जिसका उसने कुछ उपयोग भी नहीं किया और बदले में एक तूफ़ान पैदा कर दिया । इससे बहुत-कुछ यह ख़याल किया जा सकता है कि इस कानून को बनाने का उद्देश्य सिर्फ़ खलबली मचाना था ।

एक और मज़ेदार बात सुनिये । आज पन्द्रह साल के बाद ऐसे कितने ही क़ानून बन गये हैं जो रोज़-ब-रोज़ बरते भी जाते हैं और जो रौलट-बिल से भी ज़्यादा सख़्त हैं । इन नये क़ानूनों और आर्डिनेंसों के मुक़ाबले, जिनके मातहत हम आज ब्रिटिश हुकूमत की नियामत का आनन्द लूट रहे हैं, रौलट-बिल तो आज़ादी का परवाना समझा जा सकता है । हां, एक फ़र्क़ जरूर है । १९१९ से हमें मॉण्टेग्यू-चैम्सफ़ोर्ड योजना नामक स्वराज की एक क़िस्त मिल चुकी है और अब, सुनते हैं, एक बड़ी क़िस्त और मिलनेवाली है । हम तरक़्क़ी जो कर रहे हैं !

१९१९ के शुरू में गांधीजी एक सख़्त बीमारी से उठे थे । रोग-शय्या से उठते ही उन्होंने वाइसराय से प्रार्थना की थी कि वह इस बिल को क़ानून न बनने दें । इस अपील की उन्होंने, दूसरी अपीलों की तरह, कोई परवाह न की और उस हालत में, गांधीजी को अपनी तबीयत के ख़िलाफ़ इस आन्दोलन का अगुआ बनना पड़ा, जो उनके जीवन में पहला भारत-व्यापी आन्दोलन था । उन्होंने सत्याग्रह-सभा शुरू की, जिसके मेम्बरों से यह प्रतिज्ञा कराई गई थी कि उनपर लागू किये जाने पर वे रौलट-क़ानून को न मानेंगे । दूसरे शब्दों में उन्हें खुल्लमखुल्ला और जान-बूझकर जेल जाने की तैयारी करनी थी ।

जब मैंने अख़बारों में यह ख़बर पढ़ी तो मुझे बड़ा सन्तोष हुआ । आख़िर इस उलझन से एक रास्ता मिला तो । वार करने के लिए एक हथियार तो मिला जो सीधा, खुला और बहुत करके राम-बाण था । मेरे उत्साह का पार न रहा

और मैं फ़ौरन ही सत्याग्रह-सभा में सम्मिलित होना चाहता था। लेकिन मैंने उसके नतीजे पर—क़ानून तोड़ना, जेल जाना वग़ैरा पर—शायद ही ग़ौर किया हो और अगर मैंने ग़ौर किया भी होता तो मुझे उनकी परवा न होती। मगर एकाएक मेरे सारे उत्साह पर पाला पड़ गया और मैंने समझ लिया कि मेरा रास्ता आसान नहीं है, क्योंकि पिताजी इस नये विचार के घोर विरोधी थे। वह नये-नये प्रस्तावों के बहाव में बह जानेवाले न थे। कोई नया क़दम आगे बढ़ाने के पहले वह उसके नतीजे को बहुत अच्छी तरह सोच लिया करते थे और जितना ही ज़्यादा उन्होंने सत्याग्रह के प्रश्न और उसके प्रोग्राम के बारे में सोचा उतना ही कम वह उन्हें जंचा। थोड़े-से लोगों के जेल जाने से क्या फ़ायदा होगा ? उससे सरकार पर क्या असर होगा और क्या दबाव पड़ेगा ? इन आम बातों के अलावा असल बात तो थी—हमारा ज़ाती सवाल। उन्हें यह बात बहुत बेहूदा दिखाई देती थी कि मैं जेल जाऊं। जेल जाने का सिलसिला अभी शुरू नहीं हुआ था; पर यह ख़याल ही उनको बहुत नागवार मालूम होता था। पिताजी अपने बच्चों से बहुत ही मुहब्बत रखते थे। यद्यपि वह प्रेम का दिखावा नहीं करते थे, तो भी उनके अन्दर प्रेम बहुत छिपा रहता था।

बहुत दिनों तक मानसिक संघर्ष चलता रहा और चूंकि हम दोनों जानते थे कि बड़ी-बड़ी बाज़ियां लगाने का सवाल है, जिसमें हमारे सारे जीवन में बड़ी उथल-पुथल होने की सम्भावना है, दोनों ने इस बात की कोशिश की कि जहांतक हो सके एक दूसरे की भावनाओं और बातों का ख़याल रखें। मैं चाहता था कि जहांतक हो सके कोशिश करूं कि उनको तकलीफ़ न उठानी पड़े। मगर मुझे अपने दिल में यक़ीन हो गया था कि मुझे जाना तो सत्याग्रह के ही रास्ते है। हम दोनों के लिए वह मुसीबत का समय था और कई रातें मैंने अकेले बड़ी चिन्ता और बेचैनी में काटीं। मैं सोचता रहता कि इसमें से कोई रास्ता निकले। बाद को मुझे मालूम हुआ कि पिताजी रात को सचमुच फ़र्श पर सोकर खुद यह अनुभव कर लेना चाहते थे कि जेल में मेरी क्या गति होगी, क्योंकि उनके ख़याल में मुझे आगे-पीछे जेल ज़रूर जाना पड़ेगा।

पिताजी ने गांधीजी को बुलाया और वह इलाहाबाद आये। दोनों की बड़ी देर तक बातें होती रहीं। उस समय मैं मौजूद न था। इसका नतीजा यह हुआ कि गांधीजी ने मुझे सलाह दी कि जल्दी न करो और ऐसा काम न करो जो

पिताजी को असह्य हो। मुझे इससे दुःख ही हुआ; मगर उसी समय देश में ऐसी घटनाएं घट गईं जिनसे सारी हालत ही बदल गई, और सत्याग्रह-सभा ने अपनी कार्रवाई बन्द कर दी।

सत्याग्रह-दिवस—सारे हिन्दुस्तान में हड़तालें और तमाम काम-काज बन्द—दिल्ली, अमृतसर और अहमदाबाद में पुलिस और फ़ौज का गोली चलाना और बहुत-से आदमियों का मारा जाना—अमृतसर और अहमदाबाद में भीड़ के द्वारा हिंसा-काण्ड हो जाना—जलियांवाला-बाग़ का हत्या-काण्ड—पंजाब में फ़ौजी क़ानून के भीषण, अपमानजनक और जी दहलानेवाले कारनामे। पंजाब मानो दूसरे प्रान्तों से अलग काट दिया गया हो, उसपर मानो एक दुहरा परदा पड़ गया था जिससे बाहरी दुनिया की आंखें उसतक नहीं पहुंच पाती थीं। वहां से मुश्किल से कोई खबर मिलती थी, और कोई वहां न जा सकता था, न वहां से आ ही सकता था।

कोई इक्का-दुक्का, जो किसी तरह उस नरक-कुंड से बाहर आ पहुंचता था, इतना भयभीत हो जाता था कि साफ़-साफ़ हाल नहीं बता सकता था। हम लोग जो बाहर थे, असहाय और असमर्थ थे, छोटी-बड़ी ख़बर का इन्तज़ार करते रहते थे और हमारे दिल में कटुता भरती जा रही थी। हममें से कुछ लोग फ़ौजी क़ानून की परवा न करके खुल्लमखुल्ला पंजाब के उन हिस्सों में जाना चाहते थे, लेकिन हमें ऐसा नहीं करने दिया गया और इस बीच कांग्रेस की तरफ़ से दुखियों और पीड़ितों को सहायता पहुंचाने तथा जांच करने के लिए एक बड़ा संगठन बनाया गया।

ज्योंही ख़ास-ख़ास जगहों से फ़ौजी कानून वापस लिया गया और बाहरवालों को जाने की छुट्टी मिली, मुख्य-मुख्य कांग्रेसी और दूसरे लोग पंजाब में जा पहुंचे और सहायता तथा जांच[१] के काम में अपनी सेवाएं अर्पित कीं। पीड़ितों की सहायता

---

[१]सरकार-नियुक्त हण्टर-कमेटी से असहयोग क्यों किया गया, इसका हाल 'कांग्रेस के इतिहास' में पढ़िये। इसके बाद कांग्रेस ने खुद अपनी जांच-कमेटी बैठाई। कमेटी के सदस्य थे—गांधीजी, पंडित मोतीलालजी, देशबन्धु दास, अब्बास तैयबजी, फजलुल हक़ और श्री सन्तानम्। पं० मोतीलालजी अमृतसर महासभा के सभापति चुने गये। तब श्री जयकर ने कमेटी में उनका स्थान लिया। कमेटी की रिपोर्ट का सारा मसविदा गांधीजी ने बनाया था। —अनु०

का काम मुख्यतः पण्डित मदनमोहन मालवीय और स्वामी श्रद्धानन्दजी की देखभाल में होता था और जांच का काम मुख्यतः पिताजी और देशबन्धु दास की देख-रेख में। गांधीजी उसमें बहुत दिलचस्पी ले रहे थे और दूसरे लोग अक्सर उनसे सलाह-मशविरा लिया करते थे। देशबन्धु दास ने अमृतसर का हिस्सा ख़ासतौर पर अपनी तरफ़ लिया और वहां मैं उनके साथ उनकी सहायता के लिए तैनात किया गया था। मुझे उनके साथ और उनके नीचे काम करने का वह पहला मौक़ा था। वह अनुभव मेरे लिए बड़ा क़ीमती था और इससे उनके प्रति मेरा आदर बढ़ा। जलियांवाला बाग़ से और उस भयंकर गली से, जिसमें लोगों को पेट के बल रेंगाया गया था, सम्बन्ध रखनेवाले बयान, जो बाद को कांग्रेस-जांच-रिपोर्ट में छपे थे, हमारे सामने लिये गए थे। हमने कई बार ख़ुद जाकर उस बाग़ को देखा था और उसकी हर चीज़ की जांच बड़े ग़ौर से की थी।

यह कहा गया था, मैं समझता हूं मि० एडवर्ड थामसन के द्वारा, कि जनरल डायर का यह ख़याल था कि बाग़ से निकलने के दूसरे दरवाज़े भी थे और यही कारण है जो उसने इतनी देर तक गोलियां जारी रक्खीं। यदि डायर का यही ख़याल था और दरअसल उसमें दरवाज़ा रहा होता, तो भी इससे उसकी ज़िम्मेदारी कम नहीं हो जाती। मगर यह ताज्जुब की बात मालूम होती है कि उसे ऐसा ख़याल रहा। कोई शख़्स इतनी ऊंची जगह पर खड़ा होकर, जहां कि वह खड़ा था, उस सारी जगह को अच्छी तरह देख सकता था कि वह किस तरह चारों ओर से बड़े ऊंचे-ऊंचे मकानों से घिरी हुई और बन्द है। सिर्फ़ एक तरफ़ कोई सौ फुट के क़रीब कोई मकान न था, महज़ पांच फुट ऊंची दीवार थी। गोलियां तड़ा-तड़ चल रही थीं और लोग चट-पट मर रहे थे। जब उन्हें कोई रास्ता नहीं सूझ पड़ा तो हज़ारों आदमी उस दीवार की ओर झपटे और उसपर चढ़ने की कोशिश करने लगे। तब गोलियां उस दीवार की ओर निशाना लगाकर चलाई गईं ताकि कोई उसपर से चढ़कर भाग न सके—जैसा कि हमारे बयानों तथा दीवार पर लगे गोलियों के निशानों से मालूम होता है। और जब यह सब ख़तम हो चुका, तो क्या देखा गया कि मुर्दों और घायलों के ढेर दीवारों के दोनों ओर पड़े हुए थे।

उस साल (१९१९) के अख़ीर में मैं अमृतसर से दिल्ली को रात की गाड़ी

से रवाना हुआ था। जिस डब्बे में मैं चढ़ा उसकी तमाम जगहें भरी हुई थीं, सिर्फ़ ऊपर एक 'बर्थ' ख़ाली थी। सब मुसाफिर सो रहे थे। मैंने वह खाली बर्थ ले ली। दूसरे दिन सुबह मुझे मालूम हुआ कि वे तमाम मुसाफ़िर फ़ौजी अफ़सर थे। वे आपस में ज़ोर-ज़ोर से बातें कर रहे थे, जो मेरे कानों तक आ ही पहुंचती थीं। उनमें से एक बड़ी तेज़ी के साथ, मगर विजय के घमण्ड में, बोल रहा था और फ़ौरन ही मैं समझ गया कि यह वही जलियांवाला-बाग़ के 'बहादुर' मि० डायर हैं। वह अपने अमृतसर के अनुभव सुना रहा था। उसने बताया कि कैसे सारा शहर उसकी दया के भरोसे हो रहा था। उसने सोचा, एक बार इस सारे बाग़ी शहर को खाक में मिला दू। मगर कहा, फिर मुझे रहम आ गया और मैं रुक गया। हण्टर-कमेटी में अपना बयान देकर वह लाहौर से वापस आ रहा था। उसकी बातचीत और उसकी संगदिली को देखकर मेरे दिल को बड़ा धक्का लगा—वह दिल्ली स्टेशन पर उतरा तो गहरी गुलाबी धारियोंवाला पायजामा और ड्रेसिंग गाउन पहने हुए था।

पंजाब-जांच के ज़माने में मुझे गांधीजी को बहुत-कुछ समझने का मौक़ा मिला। बहुत बार उनके प्रस्ताव कमेटी को अजीब मालूम होते थे और कमेटी उन्हें पसन्द नहीं करती थी। मगर क़रीब-क़रीब हमेशा अपनी दलीलों से कमेटी को वह समझा लिया करते थे और कमेटी उन्हें मंजूर कर लिया करती थी। और बाद की घटनाओं से मालूम हुआ कि उनकी सलाह में दूरंदेशी थी। तबसे उनकी राजनैतिक अन्तर्दृष्टि मे मेरी श्रद्धा बढ़ती गई।

पंजाब की दुर्घटनाओं और उनकी जांच के कार्य का मेरे पिताजी पर ज़बरदस्त असर हुआ। उनकी तमाम क़ानूनी और वैधानिक बुनियाद उसके द्वारा हिल गई थी और उनका मन उस परिवर्तन के लिए धीरे-धीरे तैयार हो रहा था, जो एक साल बाद आनेवाला था। अपनी पुरानी माडरेट स्थिति से वह पहले ही बहुत-कुछ आगे बढ़ चुके थे। उन दिनों इलाहाबाद से नरम दल का अखबार 'लीडर' निकल रहा था। उससे उनको सन्तोष नहीं था। और उन्होंने १९१९ में 'इण्डिपेण्डेण्ट' नाम का दैनिक पत्र इलाहाबाद से निकाला। यों तो इस अखबार को बड़ी सफलता मिली, लेकिन शुरू से ही उसमें एक बात की बड़ी कमी रही। उसका प्रबन्ध अच्छा नहीं था। उससे सम्बन्ध रखनेवाले सभी—क्या डायरेक्टर, क्या सम्पादक और क्या प्रबन्ध-विभाग के लोगों—पर इस कमी की ज़िम्मेदारी

आती है। मैं खुद भी एक डाइरेक्टर था, मगर इस काम का मुझे कुछ भी अनुभव न था। और उसके कामों की चिन्ता से मैं रात-दिन परेशान रहता था। मुझे और पिताजी दोनों को जांच के सिलसिले में पंजाब जाना और ठहरना पड़ा था। हमारी लम्बी ग़ैरहाज़िरी में पत्र की हालत बहुत गिर गई और उसकी आर्थिक हालत भी बहुत बिगड़ गई। उस हालत से वह कभी उभर न सका। हालांकि १९२०-२१ में उसकी हालत बीच-बीच में कुछ बेहतर हो जाती थी, लेकिन ज्योंही हम जेल गये कि उसकी हालत फिर बदतर होने लगी। आख़िर १९२३ के शुरू में उसकी ज़िन्दगी खतम हो गई। अख़बार के मालिक बनने के इस अनुभव ने मुझे इतना भयभीत कर दिया कि उसके बाद मैंने किसी अखबार का डाइरेक्टर बनने की ज़िम्मेदारी नहीं ली। हां, जेल में तथा बाहर और-और कामों में लगे रहने के कारण ही मैं ऐसा न कर सकता था।

१९१९ के बड़े दिनों में पिताजी अमृतसर-कांग्रेस के सभापति हुए। उन्होंने माडरेट नेताओं के नाम एक दिल हिला देनेवाली अपील की कि वे अमृतसर के अधिवेशन में शामिल हों। चूकि फ़ौजी क़ानून की वजह से एक नई हालत पैदा हो गई थी, उन्होंने लिखा—'पंजाब का आहत हृदय आपको बुला रहा है। क्या आप उसकी पुकार न सुनेंगे?' मगर उन्होंने उसका वैसा जवाब नहीं दिया जैसा कि वह चाहते थे। वे लोग शामिल नहीं हुए। उनकी आंखें उन नये सुधारों की ओर लगी हुई थीं, जो माण्टेगू-चैम्सफ़ोर्ड सिफ़ारिशों के फल-स्वरूप आनेवाले थे। उनके इन्कार कर देने से पिताजी के दिल को बड़ा दु:ख पहुंचा और इससे उनके और माडरेटों के दिल की खाई और चौड़ी हो गई।

अमृतसर-कांग्रेस पहली गांधी-कांग्रेस हुई। लोकमान्य तिलक भी आये थे और उन्होंने उसकी कार्रवाई में प्रमुख भाग लिया था। मगर इसमें कुछ शक नहीं कि प्रतिनिधियों में अधिकांश और इससे भी ज़्यादा बाहर की भीड़ में अधिकतर लोग अगुवा बनने के लिए गांधीजी की ओर देख रहे थे। हिन्दुस्तान के राजनैतिक क्षितिज में 'महात्मा गांधी की जय' की आवाज़ बुलन्द हो रही थी। अली-बन्धु हाल ही नज़रबन्दी से छूटे थे और सीधे अमृतसर-कांग्रेस में आये थे। राष्ट्रीय आन्दोलन एक नया रूप धारण कर रहा था और उसकी नई नीति निर्माण हो रही थी।

शीघ्र ही मौलाना मुहम्मद अली खिलाफ़त-डेपूटेशन में यूरोप चले गये।

इधर हिन्दुस्तान में खिलाफत-कमेटी दिन-पर-दिन गांधीजी के असर में आने लगी और उसके अहिंसात्मक असहयोग के विचारों से सम्बन्ध जोड़ने की फ़िराक़ में थी। दिल्ली में जनवरी १९२० में खिलाफ़त के नेताओं, मौलवियों और उलमाओं की एक शुरू-शुरू की मीटिंग मुझे याद है। खिलाफ़त-डेपूटेशन वाइसराय से मिलने जानेवाला था और गांधीजी भी साथ जानेवाले थे। उनके दिल्ली पहुंचने के पहले, जो प्रार्थना-पत्र वाइसराय को दिया जानेवाला था, उसका मसविदा उन्हें रिवाज के मुताबिक़ भेजा जा चुका था। जब गांधीजी पहुंचे और उन्होंने उसका मज़मून पढ़ा, तो उसे नापसन्द किया और यह भी कहा कि अगर इसमें बहुत-कुछ परिवर्तन नहीं किया गया, तो मैं डेपूटेशन में शरीक न हो सकूंगा। उनका ऐतराज़ यह था कि इस मज़मून में गोल-मोल बातें कही गई हैं। इसमें शब्द तो बहुत हैं, मगर यह साफ़ तौर पर नही कहा गया कि मुसलमानों की कम-से-कम मांगें क्या हैं। उन्होंने कहा कि 'इससे न तो बादशाह के साथ इन्साफ़ होता है और न ब्रिटिश सरकार के साथ; न लोगों के साथ, न अपने साथ। उन्हें बढ़ी-चढ़ी मांगे पेश न करनी चाहिए, जिनपर वे अड़ना न चाहते हों। मगर छोटी-से-छोटी मांग बिल्कुल साफ़ शब्दों मे हो, जिसमें किसी प्रकार शक-शुबहा न हो और फिर मरने तक उसपर डटे रहो। अगर आप लोग सचमुच कुछ किया चाहते हो तो यही सच्चा और सही राजमार्ग है।'

यह दलील हिन्दुस्तान के राजनैतिक और दूसरे हलकों में एक नई चीज़ थी। हम लोग बढ़ी-चढ़ी और गोल-मोल बातें और लच्छेदार भाषा के आदी थे और दिमाग़ में हमेशा सौदा करने की तजवीज़ें चला करती थीं। आखिर गांधीजी की बात क़ायम रही और उन्होंने वाइसराय के प्राइवेट सेक्रेटरी को पत्र लिखा, जिसमें बताया कि पिछले मज़मून में क्या कमियां है और वह किस तरह गोल-मोल है और कुछ नया मज़मून भी अपनी तरफ़ से भेजा, जो उसमें जोड़ा जाने-वाला था। इसमें उन्होंने कम-से-कम मांग पेश की थी। वाइसराय का जवाब दिलचस्प था। उन्होंने नये मज़मून का जोड़ा जाना मंजूर नहीं किया और कहा कि मेरी राय में पहला मज़मून ही बिल्कुल ठीक है। गांधीजी ने सोचा कि इस चिट्ठी-पत्री से उनकी और खिलाफ़त-कमेटी की स्थिति साफ़ हो जाती है और वह डेपूटेशन के साथ चले गये।

यह ज़ाहिर था कि सरकार खिलाफ़त-कमेटी की मांगें मंजूर नहीं करेगी

और लड़ाई छिड़े बिना न रहेगी। अब मौलवियों और उलमाओं में देर-देर तक बातें होती रहतीं। अहिंसात्मक असहयोग पर, और खासकर अहिंसा पर, चर्चा होती रहती। गांधीजी ने उनसे कह दिया कि मैं अगुआ बनने के लिए तैयार हूं, मगर शर्त यह है कि आप लोग अहिंसा को उसके पूरे मानी में अपना लें। इसके बारे में कोई कमज़ोरी, लाग-लपट और छिपावट मन में न होनी चाहिए। मौलवियों के लिए इस चीज़ को मान लेना आसान न था। लेकिन वे राज़ी हो गये। हां, उन्होंने यह अलबत्ता साफ़ कर दिया कि वे इसे धर्म के तौर पर नहीं बल्कि तात्कालिक नीति के तौर पर मानेंगे; क्योंकि हमारे मज़हब में नेक काम के लिए तलवार उठाना मना नहीं है।

१९२० में राजनैतिक और ख़िलाफ़त-आन्दोलन दोनों एक ही दिशा में और एक साथ चले और कांग्रेस के द्वारा गांधीजी के अहिंसात्मक असहयोग के मंजूर कर लिये जाने पर आख़िर दोनों एक साथ मिल गये। पहले ख़िलाफ़त-कमेटी ने उस कार्य-क्रम को अपनाया और १ अगस्त लड़ाई जारी करने का दिन मुक़र्रर हुआ।

उस साल के शुरू में मुसलमानों की मीटिंग (मैं समझता हूं कि मुस्लिम-लीग की कौंसिल होगी) इलाहाबाद में सैयद रज़ाअली के मकान में इस कार्य-क्रम पर विचार करने के लिए हुई। मौलाना मुहम्मदअली तो यूरोप थे, मगर मौलाना शौकतअली उसमें मौजूद थे। मुझे उस सभा की याद है, क्योंकि मैं उससे बहुत निराश हुआ था। हां, शौकतअली अलबत्ता उत्साह में थे, बाकी सब लोग दुःखी और परेशान थे। उनमें यह हिम्मत न थी कि वे उसको नामंजूर कर दें, किन्तु फिर भी उनका इरादा किसी ख़तरे में पड़ने का न था। मैंने दिल में कहा—क्या यही लोग एक क्रांतिकारी आन्दोलन के अगुआ होंगे और ब्रिटिश साम्राज्य को चुनौती देंगे? गांधीजी ने एक भाषण दिया, जिसे सुनकर, ऐसा मालूम होता था कि, वे पहले से भी ज़्यादा घबरा गये। उन्होंने एक डिक्टेटर के ढंग से बहुत अच्छा भाषण दिया। उसमें नम्रता थी, मगर साथ ही हीरे की तरह स्पष्टता और कठोरता भी। उसकी भाषा सुहावनी और मीठी थी, जिसमें कठोर निश्चय और हार्दिक सचाई भरी हुई थी, उनकी आंखों में मृदुलता और शान्ति थी, मगर उनमें से ज़बरदस्त कार्य-शक्ति और दृढ़ निश्चय की लौ निकल रही थी। उन्होंने कहा कि यह मुक़ाबला बड़ा ज़बरदस्त होगा और सामना भी बड़े ज़बरदस्त से है।

अगर आप लड़ना ही चाहते हैं तो आपको अपना सब-कुछ बर्बाद करने के लिए तैयार हो जाना चाहिए और कड़ाई के साथ अहिंसा और अनुशासन का पालन करना चाहिए। जब लड़ाई का एलान कर दिया जाता है तो फौजी क़ानून का दौर हो जाता है। हमारे अहिंसात्मक युद्ध में भी हमें अपनी तरफ़ से डिक्टेटर बनाने होंगे और फ़ौजी क़ानून जारी करने होंगे, यदि हम चाहते हों कि हमारी विजय हो। आपको यह हक है कि आप मुझे ठोकर मारकर निकाल दें, मेरा सिर उतार लें, और जब कभी और जैसी चाहें सज़ा दे दें। लेकिन जबतक आप मुझे अपना अगुआ मानते हैं, तबतक आपको मेरी शर्तों का पाबन्द ज़रूर रहना होगा, आपको डिक्टेटर की राय पर चलना होगा और फ़ौजी क़ानून के अनुशासन में चलना होगा। लेकिन डिक्टेटर बना रहना बिल्कुल आपके सद्भाव, आपकी मंजूरी और आपके सहयोग पर अवलम्बित रहेगा। ज्योंही आप मुझसे उकता जायं, त्योंही आप मुझे उठाकर फेंक दें, पैरों तले रौद दें और मैं चूं तक न करूंगा।

इस आशय की कुछ बातें उन्होंने कहीं और यह फ़ौजी मिसाल और उनकी हार्दिक सचाई देखकर वहां बहुत-से श्रोताओं के बदन में सरसराहट होने लगी। मगर शौकतअली वहां मौजूद थे, जो अधकचरे लोगों में जोश भरा करते थे। और जब राय लेने का समय आया तो उनमें से बहुतों ने चुपचाप, मगर झेंपते हुए, उस प्रस्ताव के, यानी लड़ाई शुरू करने के पक्ष में हाथ ऊंचे कर दिये।

जब हम सभा से लौट रहे थे, तो मैंने गांधीजी से पूछा कि क्या इसी तरीक़े से आप एक महान् युद्ध शुरू करेंगे? मैंने तो वहां जोश और उत्साह की, गरमागरम भाषा की, आंखों से आग की चिनगारी निकलने की आशा रखी थी, लेकिन उसके बजाय मुझे यहां पालतू, डरपोक और अधेड़ लोगों का जमघट दिखाई पड़ा। और फिर भी इन लोगों ने—जनमत का इतना प्रभाव था—लड़ाई के हक़ में राय दे दी। निश्चय ही मुस्लिम-लीग के इन मेम्बरों में से बहुत कम ने आगे लड़ाई में योग दिया था। बहुतों को तो सरकारी कामों में पनाह मिल गई थी। मुस्लिम-लीग उस समय या बाद भी मुसलमानों के किसी भी बड़े वर्ग की प्रतिनिधि नहीं रह गई थी। हां, १९२० की खिलाफ़त-कमेटी अलबत्ता एक ज़ोरदार और उससे कहीं ज्यादा प्रातिनिधिक संस्था थी, और इसी कमेटी ने जोश और उत्साह के साथ लड़ाई के लिए कमर कसी थी।

१ अगस्त का दिन गांधीजी ने असहयोग की शुरुआत का रक्खा था—हालांकि अभी कांग्रेस ने न तो इसको मंजूर किया था, और न इसपर विचार ही किया था। उसी दिन लोकमान्य तिलक का बम्बई में देहान्त हो गया। उसी दिन सुबह गांधीजी सिन्ध के दौरे से बम्बई पहुंचे थे।[1] मैं उनके साथ था, और हम सब उस जबरदस्त जुलूस में शरीक हुए थे, जिसमें सारी बम्बई अपने उस महान और मान्य नेता को अपनी श्रद्धांजलि देने के लिए दौड़ पड़ी थी।

---

[1] इसमें कुछ स्मृति-दोष मालूम होता है। गांधीजी तिलक महाराज के अवसान के पहले से अवसान तक काफी दिन बम्बई में ही थे। —अनु०

: ८ :

मेरा निर्वासन

मेरी राजनीति वही थी, जो मेरे वर्ग अर्थात् मध्यमवर्ग की राजनीति थी। उस समय, (और बहुत हद तक अब भी) मध्यमवर्ग के लोगों की राजनीति ज़बानी थी। क्या नरम और क्या गरम, दोनों विचार के लोग मध्यमवर्ग का प्रतिनिधित्व करते थे और अपने-अपने ढंग से उसकी भलाई चाहते थे। माडरेट लोग खास करके मध्यमवर्ग की ऊपरी श्रेणी के मुट्ठी-भर लोगों में से थे जो कि आमतौर पर ब्रिटिश शासन की बदौलत फूले-फले थे, और एकाएक ऐसे परिवर्तन नहीं चाहते थे जिनसे उनकी मौजूदा स्थिति और स्वार्थों को धक्का लगे। ब्रिटिश सरकार से और बड़े जमींदारों से उनके घने सम्बन्ध थे। गरम विचार के लोग भी मध्यमवर्ग के ही थे; परन्तु निचली सतह के। कल-कारखानों के मज़दूर, जिनकी संख्या महायुद्ध के कारण बेहद बढ़ गई थी, कुछ-कुछ जगहों में ही, स्थानीय रीति से संगठित हो पाये थे, और उनका प्रभाव नहीं के बराबर था। किसान अपढ़, ग़रीबी और मुसीबत के मारे थे। भाग्य के भरोसे दिन काटते और सरकार, ज़मींदार, साहूकार, छोटे-बड़े हुक्काम, वकील, पंडे-पुरोहित, जो भी होते सब उनपर सवारी गांठते और उनको चूसते थे।

किसी अखबार का कोई पाठक शायद ही उन दिनों खयाल करता होगा कि हिन्दुस्तान में करोड़ों किसान और लाखों मज़दूर हैं या उनका कोई महत्त्व है। अंग्रेज़ों के अखबार बड़े अफ़सरों के कारनामों से भरे रहते। उनमें शहरों और पहाड़ों पर रहनेवाले अंग्रेज़ों के सामाजिक जीवन की यानी उनकी पार्टियों की, उनके नाच-गानों और नाटकों की, लम्बी-लम्बी खबरें छपा करतीं। उनमें हिन्दुस्तानियों के दृष्टिबिन्दु से हिन्दुस्तान की राजनीति की चर्चा प्रायः बिल्कुल नहीं की जाती थी, यहां तक कि कांग्रेस के अधिवेशन के समाचार भी किसी ऐसे-वैसे पन्ने के एक कोने में और सो भी कुछ सतरों में, दे दिया करते थे। कोई खबर तभी किसी काम की समझी जाती, जब हिन्दुस्तानी, चाहे वह बड़ा हो या मामूली,

कांग्रेस को या उसके दावों को वुरा-भला कह बैठता या नुक़्ताचीनी कर बैठता। कभी-कभी किसी हड़ताल का थोड़ा ज़िक्र आ जाता, और देहात को तो महत्त्व तभी दिया जाता जब वहां कोई दंगा-फ़साद हो जाता।

हिन्दुस्तानी अख़बार भी अंग्रेज़ी अख़बारों की नकल करने की कोशिश करते। लेकिन वे राष्ट्रीय आन्दोलन को उनसे कहीं ज़्यादा महत्त्व देते थे। यों तो वे हिन्दुस्तानियों को छोटी-बड़ी नौकरियां दिलवाने, उनकी तरक़्क़ी और तबादले में, और किसी जानेवाले अफ़सर की बिदाई में दी जानेवाली पार्टी में, जिसमें लोगों में बड़ा उत्साह होता था, दिलचस्पी लेते थे। जब कभी नया बन्दोबस्त होता, तो क़रीब-क़रीब हमेशा ही लगान वगैरा बढ़ जाता था, जिससे पुकार मच जाती; क्योंकि उसका असर ज़मींदारों की जेब पर भी पड़ता। बेचारे किसान जो ज़मीन जोतते थे, उनकी तो कोई बात ही नहीं पूछता था। ये अखबार ज़मींदारों और कल-कारखानों के होते थे। यह हालत थी उन अख़बारों की जो 'राष्ट्रीय' कहे जाते थे।

यही क्यों, ख़ुद कांग्रेस की भी शुरू के दिनों में बराबर यही मांग थी कि जहां-जहां अभी बन्दोबस्त नहीं हो पाया है वहां स्थायी बन्दोबस्त कर दिया जाय कि जिससे ज़मींदारों के अधिकारों की रक्षा हो सके, और उसमें किसानों का कहीं ज़िक्र तक न रहता था।

पिछले बीस बरसों में राष्ट्रीय आन्दोलन की बढ़ती के कारण हालत बहुत बदल गई है, और अब अंग्रेज़ों के अख़बारों को भी हिन्दुस्तान के राजनैतिक प्रश्नों के लिए जगह देनी पड़ती है; क्योंकि ऐसा न करें तो हिन्दुस्तानी पाठकों के टूट जाने का अन्देशा रहता है। परन्तु यह बात वे अपने ख़ास ढंग से ही करते हैं। हिन्दुस्तानी अखबारों की दृष्टि कुछ विशाल हो गई है। वे किसानों और मज़दूरों की भी बातें किया करते हैं; क्योंकि एक तो आजकल यह फ़ैशन हो गया है और दूसरे उनके पाठकों में कल-कारख़ानों और गांव-सम्बन्धी बातों के जानने की तरफ़ दिलचस्पी बढ़ रही है। परन्तु दरअसल तो अब भी वे पहले की तरह हिन्दुस्तानी पूंजीपतियों और ज़मींदार-वर्ग के हितों का ही ध्यान रखते हैं, जोकि उनके मालिक होते हैं। कितने ही हिन्दुस्तानी राजा-महाराजा भी अख़-बारों में अपना रुपया लगाने लगे हैं और वे हर तरह कोशिश करते हैं कि उन्हें अपने रुपयों का मुआवज़ा मिले। फिर भी इनमें से बहुत-से अख़बार 'कांग्रेसी'

कहलाते हैं, हालांकि वे जिनके नियंत्रण में हैं उनमें से बहुतेरे कांग्रेस के मेम्बर भी न होंगे। कांग्रेस शब्द लोगों को बहुत प्यारा हो गया है और कितने ही लोग और संस्थाएं उसे अपने फ़ायदे के लिए इस्तेमाल करती हैं। जो अखबार ज़रा आगे बढ़े विचारों का प्रतिपादन करते हैं उन्हें या तो बड़े-बड़े जुर्मानों का, यहांतक कि प्रेस-ऐक्ट के ज़रिये दबा दिये जाने या सेंसर किये जाने का भी, डर बना रहता है।

१९२० में मुझे इस बात का बिलकुल पता न था कि कारखानों में या खेतों में काम करनेवाले मज़दूरों की हालत क्या है, और मेरा राजनैतिक दृष्टिकोण बिल्कुल मध्यमवर्ग के जैसा था। फिर भी मैं इतना ज़रूर जानता था कि उनमें ग़रीबी बहुत है और उनके दुःख भयंकर हैं और मैं सोचता था कि राजनैतिक दृष्टि से हिन्दुस्तान आज़ाद हो जाय, तो उसका पहला लक्ष्य यह होगा कि इस ग़रीबी के मसले को हल करे। मगर मुझे सबसे पहली सीढ़ी तो राजनैतिक आज़ादी ही दिखाई दी, जिसमें मध्यम वर्ग की प्रधानता हुए बिना नहीं रह सकती। गांधीजी के चम्पारन (बिहार) और खेड़ा (गुजरात) के किसान-आन्दोलन के बाद किसानों के प्रश्न पर मैं ज्यादा ध्यान देने लगा। फिर भी मेरा ध्यान तो १९२० में राजनैतिक बातों में और असहयोग के आगमन में लग रहा था, जिसकी चर्चा से राजनैतिक वायुमण्डल भरा हुआ था।

उन्ही दिनों एक नई बात में मेरी दिलचस्पी पैदा हो गई, जो आगे चलकर जीवन में महत्त्वपूर्ण बन गई। मैं स्वयं प्रायः कोई इच्छा न रखते हुए, किसानों के सम्पर्क में आ गया, और सो भी एक विचित्र रीति से।

मेरी माँ और कमला (मेरी पत्नी) दोनों की तन्दुरुस्ती ख़राब थी और मई १९२० के शुरू में मैं उनको मसूरी ले गया। पिताजी उस वक़्त एक बड़े राज्य के मामले में व्यस्त थे, जिसमें दूसरी ओर के वकील देशबन्धु दास थे। हम सेवाय होटल में ठहरे थे। उन दिनों अफ़ग़ान और ब्रिटिश राज-प्रतिनिधियों के दरमियान मसूरी में सुलह की बातें हो रही थीं (यह १९१९ में हुए छोटे अफ़ग़ान युद्ध के बाद की बात है, जब कि अमानुल्ला तख़्त पर बैठा था) और अफ़ग़ान-प्रतिनिधि भी सेवाय होटल में ठहरे हुए थे। लेकिन वे एक तरफ़ ही रहते थे, खाना भी अकेले खाते थे और किसीसे मिलते-जुलते न थे। मुझे उनमें कोई ख़ास दिलचस्पी नहीं थी और इस महीने-भर में मैंने उस प्रतिनिधि-मंडल के एक भी आदमी को नहीं देखा और अगर देखा भी हो तो मैं किसीको पहचानता न था।

लेकिन क्या देखता हूं कि एक दिन एकाएक शाम को पुलिस-सुपरिण्टेण्डेण्ट वहां आया और मुझे स्थानीय सरकार का खत दिखाया, जिसमें मुझसे यह वादा चाहा गया था कि मैं अफ़ग़ान-प्रतिनिधि-मण्डल से कोई सरोकार न रक्खूं। मुझे यह एक बड़ी अजीब बात मालूम हुई, क्योंकि इस महीने-भर में मैंने उन्हें कभी देखा तक नहीं और न मुझे उसका मौक़ा मिल सकता था। सुपरिण्टेण्डेण्ट इस बात को जानता था, क्योंकि वह प्रतिनिधि-मण्डल की हलचलों पर ग़ौर से निगाह रखता था और वहां दरअसल खुफ़िया लोगों का एक ख़ासा जमघट लगा रहता था। मगर ऐसा वादा करना मेरे मिज़ाज के खिलाफ़ था और मैंने उनको ऐसा कह भी दिया। उन्होंने मुझे डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट से, जो कि देहरादून का सुपरिण्टेण्डेण्ट था, मिलने के लिए कहा और उससे मैं मिला। चूंकि मैं बराबर कहता रहा कि मैं ऐसा वादा नहीं कर सकता, मुझे मसूरी से चले जाने का हुक्म मिला, जिसमें कहा गया कि मैं २४ घंटे के अन्दर देहरादून ज़िले के बाहर चला जाऊं। इसके मानी यही थे कि मैं कुछ घंटों में ही मसूरी छोड़ दूं। मुझे यह अच्छा तो नहीं लगा कि अपनी बीमार मां और पत्नी दोनों को वहां छोड़कर जाऊं; लेकिन उस वक़्त मुझे उस हुक्म को तोड़ना मुनासिब नहीं मालूम हुआ। उस समय सविनय भंग तो था नहीं, इसलिए मैं मसूरी से चल दिया।

मेरे पिताजी की सर हारकोर्ट बटलर से, जो कि उस समय युक्तप्रान्त के गवर्नर थे, अच्छी तरह मुलाक़ात थी। उन्होंने मित्र-भाव से सर हारकोर्ट को पत्र लिखा कि मुझे यक़ीन है कि ऐसा वाहियात हुक्म आपने न दिया होगा; यह शिमला के किसी मनचले हाकिम की कार्रवाई मालूम होती है। सर हारकोर्ट ने जवाब दिया कि हुक्म में कोई ऐसी खराब बात नहीं है जिसके मानने से जवाहरलाल की शान में कोई फ़र्क़ आ जाता। इसके जवाब में पिताजी ने उनसे अपना मतभेद प्रकट किया और लिखा कि जवाहरलाल का जान-बूझकर हुक्म तोड़ने का तो कोई इरादा नहीं है; पर अगर उसकी मां या पत्नी की तन्दुरुस्ती के लिए ज़रूरी हुआ, तो वह ज़रूर मसूरी जायगा, चाहे आपका हुक्म रहे या न रहे। और ऐसा ही हुआ भी; मेरी मां की हालत ज़्यादा ख़राब हो गई और पिताजी व मैं दोनों तुरन्त मसूरी के लिए रवाना हो गये। उसके ठीक पहले हमें उस हुक्म के रद कर दिये जाने का एक तार मिला।

दूसरे दिन सुबह मसूरी पहुंचने पर सबसे पहले जो शख़्स मैंने होटल के आंगन

में देखा वह अफ़ग़ान था जो मेरी छोटी बच्ची को गोद में लिये हुए था। मुझे मालूम हुआ कि वह अफ़ग़ानिस्तान का एक मिनिस्टर और प्रतिनिधि-मण्डल का एक सदस्य था। बाद को पता चला कि मसूरी से मेरे निकाले जाने का हुक्म मिलते ही उन अफ़ग़ानों ने अखबारों में उसके समाचार पढ़े और उनकी दिलचस्पी यहांतक बढ़ी कि प्रतिनिधि-मण्डल के प्रधान हर रोज फूलों और फलों की एक डलिया मेरी मां को भेजा करते।

बाद को पिताजी और मैं प्रतिनिधि-मण्डल के एक-दो सदस्यों से मिले भी थे और उन्होंने हमें अफ़ग़ानिस्तान आने का प्रेमपूर्वक निमन्त्रण दिया था। मगर अफ़सोस है कि हम उससे कुछ फ़ायदा न उठा पाये, और पता नहीं वहां की नई हुकूमत में वह निमन्त्रण अब क़ायम रहा है या नहीं।

मसूरी से निकाल दिये जाने के फलस्वरूप मुझे दो हफ़्ते इलाहाबाद रहना पड़ा और इसी अर्से में मैं किसान-आन्दोलन में जा फंसा और ज्यों-ज्यों दिन बीतते गये त्यों-त्यों मैं उसमें अधिकाधिक फंसता गया, जिसने मेरे विचारों और दृष्टिकोण पर काफ़ी असर डाला। कभी-कभी मेरे मन में यह विचार उठा है कि अगर मैं न तो मसूरी से निकाला जाता और न इलाहाबाद में ठहरा होता, या उन्हीं दिनों कोई दूसरा काम होता तो क्या हुआ होता ? बहुत मुमकिन है कि मैं किसानों की ओर तो किसी-न-किसी तरह आगे-पीछे खींचा गया होता; परन्तु मेरा उनके पास जाने का तरीक़ा, और इसलिए उसका असर भी, कुछ और होता।

जून १९२० के शुरू में, जहांतक मुझे याद है, कोई दो सौ किसान प्रतापगढ़ के देहात से पचास मील पैदल चलकर इलाहाबाद आये——इस इरादे से कि वे अपने दुःखों और मुसीबतों की तरफ़ वहां के खास-खास राजनैतिक पुरुषों का ध्यान आकर्षित करें। बाबा रामचन्द्र नामक उनके एक अगुआ थे, जो न तो वहां के रहनेवाले ही थे और न खुद किसान ही। मैंने सुना कि किसानों का यह जत्था जमुना के घाट पर डेरा डाले हुए है। मैं कुछ मित्रों के साथ उनसे मिलने गया। उन्होंने बताया कि किस तरह ताल्लुकेदार ज़ोर-ज़ुल्म से वसूली करते हैं, कैसा उनका अमानुषी व्यवहार है, और कैसी उनकी असह्य हालत हो गई है। उन्होंने हमसे प्रार्थना की कि हम उनके साथ चलकर उनकी हालत की जांच करें। उनको डर था कि ताल्लुकेदार उनके इलाहाबाद आने पर ज़रूर बहुत बिगड़ेंगे और उसका बदला लिये बिना न रहेंगे; इसलिए वे चाहते थे कि उनकी हिफ़ाज़त के लिए हम

उनके साथ रहें। वे हमारे इन्कार को मानने के लिए किसी तरह तैयार न थे और सचमुच हमसे बुरी तरह चिपट गये। आख़िरकार मैंने उनसे वादा किया कि मैं एक-दो रोज़ बाद ज़रूर आऊंगा।

मैं कुछ साथियों को लेकर वहां पहुंचा। कोई तीन दिन वहां हम लोग गांव में रहे। वे रेलवे लाइन और पक्की सड़क से बहुत दूर थे। उस दौरे में मैंने कई नई बाते देखीं। हमने देखा, सारे देहाती इलाक़े में उत्साह की लहर फैल रही है और उनमें अजीब जोश उमड़ा पड़ता है। ज़रा ज़बानी कहला दिया और बड़ी-बड़ी सभाओं के लिए लोग इकट्ठे हो गये। एक गांव से दूसरे गांव और दूसरे से तीसरे गांव, इस तरह सब गांवों में सन्देशा पहुंच जाता और देखते-देखते सारे गांव ख़ाली हो जाते और खेतों में दूर-दूर तक सभा-स्थान पर आते हुए मर्द, औरत और बच्चे दिखाई देते। और इससे भी ज़्यादा तेज़ी से 'सीताराम' 'सीता......रा...आ... आ..... म' की धुन आकाश में गूंज उठती और चारों तरफ दूर-दूर तक फैल जाती और दूसरे गांव से उसीकी प्रतिध्वनि सुनाई पड़ती और बस, लोग पानी की धारा की तरह दौड़ते चले आते। मर्द-औरत फटे-चिटे चिथड़े पहने थे; मगर उनके चेहरे पर जोश और उत्साह था और आंखें चमकती हुई दिखाई देती थीं, मानो कोई विचित्र बात होने को थी, जिसके द्वारा जादू की तरह आनन-फ़ानन में उनकी तमाम मुसीबतों का ख़ात्मा हो जायगा।

उन्होंने हमपर बहुत प्रेम बरसाया और वे हमें आशा तथा प्रेमभरी आंखों से देखते थे—मानो हम कोई शुभ सन्देश सुनाने आये हों, या उनके रहनुमा हों, जो उन्हें उनके लक्ष्यतक पहुंचा देंगे। उनकी मुसीबतों को और उनकी अपार कृतज्ञता को देखकर मैं दुःख और शर्म के मारे गड़ गया। दुःख तो हिन्दुस्तान की ज़बरदस्त ग़रीबी और ज़िल्लत पर, और शर्म मेरी अपनी आराम की ज़िन्दगी पर, और शहरों की न-कुछ राजनीति पर, जिसमें भारत के इन अधनंगे करोड़ों पुत्र-पुत्रियों के लिए कोई स्थान न था। नंगे-भूखे, दलित-पीड़ित भारतवर्ष का एक नया चित्र मेरी आंखों के सामने खड़ा होता हुआ दिखाई दिया। और हम लोगों के, जो दूर शहर से उन्हें देखने कभी-कभी आ जाते हैं, प्रति उनकी श्रद्धा को देखकर मैं परेशानी में पड़ गया और उसने मुझमें यह नई ज़िम्मेदारी का भाव पैदा कर दिया, जिसकी कल्पना से मेरा दिल दहल उठा।

मैंने उनके दुःख की सैकड़ों कहानियां सुनीं। कैसे लगान का बोझ दिन-दिन बढ़ता जा रहा है, जिसके तले वे कुचले जा रहे हैं, किस तरह ख़िलाफ़-क़ानून लागें लगाई जाती है और ज़ोरो-ज़ुल्म से वसूली की जाती है, ज़मीन और कच्चे झोंपड़ों से किस तरह उनको बेदख़ल किया जाता है, कैसे उनपर मार पड़ती है, कैसे चारों तरफ ज़मींदारों के एजेण्ट, साहूकारों और पुलिस के गिद्धों से घिरे रहते हैं, किस तरह वे कड़ी धूप में मशक़्क़त करते हैं और अन्त में यह देखते हैं कि उनकी सारी पैदावार उनकी नहीं है—दूसरे ही उठा ले जाते हैं और उसका बदला उन्हें मिलता है ठोकरों, गालियों और भूखे पेट से। जो लोग वहां आये थे उनमें से बहुतों के ज़मीन नहीं थी और जिन्हें ज़मींदारों ने बेदख़ल कर दिया था, उन्हें सहारे के लिए न अपनी ज़मीन थी न अपना झोंपड़ा। यों ज़मीन उपजाऊ थी मगर उसपर लगान आदि का बोझ बहुत भारी था। खेत छोटे-छोटे थे और एक-एक खेत पाने के लिए कितने ही लोग मरते थे। उनकी इस तड़प से फ़ायदा उठाकर ज़मींदारों ने, जो क़ानून के मुताबिक एक हद से ज़्यादा लगान नहीं बढ़ा सकते थे, क़ानून को ताक पर रखकर भारी-भारी नज़राना वग़ैरा बढ़ा दिया था। बेचारे किसान कोई चारा न देख रुपया उधार लाते और नज़राना वग़ैरा देते, और फिर जब क़र्ज़ और लगान तक न दे पाते तो बेदख़ल कर दिये जाते; उनका सब-कुछ छिन जाता था।

यह तरीक़ा पुराना चला आ रहा है और किसानों की दिन-ब-दिन बढ़नेवाली दरिद्रता का सिलसिला भी एक लम्बे अरसे से चला आ रहा है। तब फिर क्या बात हुई जिससे मामला इस हद तक बढ़ गया और देहात के लोग इस तरह उमड़ पड़े? निश्चय ही इसका कारण उनकी आर्थिक दशा थी। परन्तु यह हालत तो सारे अवध में एक-सी थी। और यह किसानों का १९२०-२१ का बवण्डर तो सिर्फ़ प्रतापगढ़, रायबरेली और फ़ैज़ाबाद ज़िले में ही फैला हुआ था। इसका आंशिक कारण तो बाबा रामचन्द्र कहलानेवाले विलक्षण व्यक्ति का अगुआ हो जाना था।

रामचन्द्र महाराष्ट्रीय था और कुली-प्रथा के अन्दर मज़दूर बनकर फ़िजी चला गया था। वहां से लौटने पर धीरे-धीरे वह अवध के ज़िलों की तरफ आ गया। तुलसीदास की रामायण गाता हुआ और किसानों के कष्टों और दुःखों को सुनाता हुआ वह इधर-उधर घूमने लगा। वह थोड़ा पढ़ा-लिखा था और

कुछ हद तक उसने किसानों से अपना ज़ाती फ़ायदा भी कर लिया। मगर हां, उसने भारी संगठन-शक्ति का परिचय दिया। उसने किसानों को आपस में समय-समय पर सभा करना और अपनी तकलीफों पर चर्चा करना सिखलाया और हर तरह उनमें एके का भाव पैदा किया। कभी-कभी बड़ी भारी-भारी सभाएं होतीं और उससे उन्हें एक बल का अनुभव होता। यों 'सीताराम' एक पुरानी और प्रचलित धुन है, मगर उसने उसे क़रीब-क़रीब एक युद्ध-घोष का रूप दे दिया और ज़रूरत के वक़्त लोगों को बुलाने का तथा जुदा-जुदा गांवों को आपस में बांधने का चिह्न बना दिया। फ़ैजाबाद, प्रतापगढ़ और रायबरेली राम और सीता की पुरानी कथाओं से भरे पड़े हैं। इन जिलों का समावेश पुराने अयोध्या-राज्य में होता था। तुलसीदासजी की रामायण वहां लोगों के घर-घर गाई जाती है। कितने ही लोगों को इसके हज़ारों दोहे-चौपाई ज़ुबानी याद थे। इस रामायण का गान और प्रासंगिक दोहे-चौपाइयों की मिसाल देना बाबा रामचन्द्र का एक ख़ास तर्ज था। कुछ हद तक किसानों का संगठन करके उसने उनके सामने बहुतेरे गोल-मोल और ऊटपटांग वायदे भी किये, जिनसे उन्हें बड़ी-बड़ी आशाएं बंधीं। उसके पास किसी किस्म का कोई कार्यक्रम नहीं था, और जब उनका जोश आख़िरी सीमा तक पहुंच गया, तो उसने उसकी ज़िम्मेदारी को दूसरों पर डालने की कोशिश की। यही कारण है जो वह कितने ही किसानों को इलाहाबाद लाया कि वहां के लोग उस आन्दोलन में दिलचस्पी लें।

एक साल तक और बाबा रामचन्द्र ने आन्दोलन में प्रधान रूप से भाग लिया और दो-तीन बार जेल गया। मगर बाद में जाकर वह बड़ा ग़ैर-ज़िम्मेदार और अविश्वसनीय साबित हुआ।

किसान-आन्दोलन के लिए अवध ख़ास तौर पर अच्छा क्षेत्र था। वह ताल्लुक़ेदारों की, जो कि अपनेको 'अवधके राजा' कहते हैं, भूमि थी और अब भी है। ज़मींदारी-प्रथा का सबसे बिगड़ा हुआ रूप वहां मिलता है। ज़मींदारों के लगाये करों के बोझ असह्य हो रहे थे और बे-ज़मीन मज़दूरों की तादाद बढ़ रही थी। वहां यों सिर्फ़ एक ही किस्म के किसान थे और इसीसे वे सब मिलकर एक-साथ कोई कार्रवाई कर सके।

हिन्दुस्तान को मोटे तौर पर दो भागों में बांट सकते हैं। एक ज़मींदारी

इलाक़ा, जिसमें बड़े-बड़े ज़मींदार हैं, और दूसरा वह जहां किसान ज़मीन के मालिक हैं। मगर कहीं-कहीं दोनों की खिचड़ी हो जाती है। बंगाल, बिहार और संयुक्तप्रान्त ज़मीदारी इलाक़ा है। किसानी इलाक़े के लोगों की हालत इससे अच्छी है, हालांकि वहां भी उनकी हालत कई बार दयाजनक हो जाती है। पंजाब और गुजरात के (जहां ज़मीदार किसान हैं) किसानों की हालत ज़मींदारी इलाक़े से कही अच्छी है। ज़मीदारी इलाक़े के ज्यादातर हिस्सों में कई क़िस्म के काश्तकार थे, दख़ीलकार, ग़ैर-दख़ीलकार और शिकमी वग़ैरा। इन जुदा-जुदा काश्तकारों के स्वार्थ अक्सर आपस में टकराते और इस कारण मिलकर एक साथ कोई जोरदार काम नहीं किया जा सकता था। लेकिन अवध में १९२० में न तो दख़ीलकार काश्तकार थे और न दायमी काश्तकार ही थे। वहां सिर्फ आरज़ी काश्तकार थे, जो बे-दख़ल होते रहते थे और जिनकी ज़मीनें ज्यादा नज़-राना या लगान देने पर दूसरों को दे दी जाया करती थी। इस तरह चूंकि वहां ख़ास तौर पर एक ही तरह के काश्तकार थे, एक साथ काम करने के लिए संगठन करना और भी आसान था।

अवध मे आरज़ी पट्टे की भी कोई गारण्टी देने का रिवाज नहीं था। ज़मीं-दार शायद ही कहीं लगान की रसीद देते थे और कोई भी ज़मींदार कह सकता था कि लगान अदा नही किया गया और काश्तकार को बे-दख़ल कर सकता था। उस बेचारे के लिए यह साबित करना ग़ैरमुमकिन हो जाता था कि लगान अदा कर दिया गया है। लगान के अलावा बहुतेरी बेजा लागें भी लगी हुई थीं। मुझे मालूम हुआ कि उस ताल्लुके में तरह-तरह की पचास ऐसी लागें लगी हुई हैं। मुमकिन है यह बात बढ़ाकर कही गई हो। मगर ताल्लुकेदार जिस तरह ख़ास-ख़ास मौक़ों पर——जैसे अपने कुटुम्ब मे किसीकी शादी हो तो, लड़के विलायत पढ़ने गये हों तो, गवर्नर या दूसरे बड़े अफ़सर को पार्टी दी गई हो तो, मोटर या हाथी ख़रीदा गया हो तो——उनके खर्चे का रुपया वसूल करते थे, यह कितनी दुष्टता थी। यहांतक कि इन लोगों के मोटराना (मोटर-टैक्स), हथियाना (हाथी के ख़रीदने का ख़र्च) वग़ैरा नाम पड़ गये थे।

ऐसी हालत में कोई ताज्जुब नहीं जो अवध में इतना बड़ा किसान-आन्दोलन उठ खड़ा हुआ; बल्कि मुझे उस वक़्त ताज्जुब तो इस बात पर हुआ कि बिना शहरवालों की मदद के या राजनैतिक पुरुषों अथवा ऐसे ही दूसरे लोगों की प्रेरणा के

कैसे बिल्कुल अपने-आप वह इतना बढ़ गया ? यह किसान-आन्दोलन कांग्रेस से बिल्कुल अलहदा था। देश में जो असहयोग-आन्दोलन आरम्भ हो रहा था, उसका इससे कोई ताल्लुक़ न था। बल्कि यह कहना ज़्यादा सही होगा कि इन दोनों विशाल और ज़ोरदार आन्दोलनों का मूल कारण एक-सा था। हां, १९१९ में गांधीजी ने जो बड़ी-बड़ी हड़तालें कराई थीं, उनमें किसानों ने भी हिस्सा लिया था, और उसके बाद से उनका नाम देहातियों में जादू का काम करता था।

मुझे सबसे बड़ा आश्चर्य इस बात पर हुआ कि हम शहरवालों को इतने बड़े किसान-आन्दोलन का पता तक नहीं था। किसी अखबार में उसपर एक सतर भी नहीं आती थी। उन्हें देहात की बातों में कोई दिलचस्पी नहीं थी। मैंने इस बात को और भी ज़्यादा महसूस किया कि हम अपने लोगों से किस तरह दूर पड़े हुए हैं, और उनसे अलग अपनी छोटी-सी दुनिया में किस तरह रहते और काम करते हैं !

: ६ :

किसानों में भ्रमण

तीन दिन तक मैं गावों में घूमता रहा और एक बार इलाहाबाद आकर फिर वापस गया। हम गांव-गांव घूमे---किसानों के साथ खाते, उन्हींके साथ उनके कच्चे झोंपड़ों में रहते, घंटों उनसे बातचीत करते और कभी-कभी छोटी-बड़ी सभाओं में व्याख्यान भी देते। शुरू मे हम एक छोटी मोटर मे गये थे। किसानों में इतना उत्साह था कि सैकड़ो ने रात-रात भर काम करके खेतों के रास्ते कच्ची सड़क तैयार की, जिससे मोटर ठेठ दूर-दूर के गांवों में जा सके। अक्सर मोटर अड़ जाती और बीसों आदमी खुशी-खुशी दौड़कर उसे उठाते। आखिर को हमें मोटर छोड़ देनी पड़ी और ज़्यादातर सफ़र पैदल ही करना पड़ा। जहां कही हम गये, हमारे साथ पुलिस और खुफ़िया के लोग और लखनऊ के डिप्टी कलेक्टर रहते थे। मै समझता हूं, खेतों में हमारे साथ दूर-दूर तक पैदल चलते हुए उनपर एक प्रकार की मुसीबत ही आ गई होगी। वे सब थक गये थे। हमसे और किसानों से बिलकुल उकता उठे थे। डिप्टी कलेक्टर थे लखनऊ के एक नाजुक-मिज़ाज नौजवान, पम्प-शू पहने हुए। कभी-कभी वह हमसे कहते कि ज़रा धीरे चलें। मै समझता हूं, आखिर हमारे साथ चलना उन्हें कठिन हो गया और वह रास्ते में ही कहीं रह गये।

जून का महीना था, जिसमें सबसे ज़्यादा गरमी पड़ा करती है। बारिश के पहले की तपिश थी। सूरज की तेज़ी बदन को झुलसाये देती थी और आंखों को अन्धा बना देती थी। मुझे धूप में चलने की बिल्कुल आदत न थी और इंग्लैण्ड से लौटने के बाद हर साल गर्मियों में मै पहाड़ पर चला जाया करता था। किन्तु इस बार मै दिन-भर खुली धूप में घूमता था और सिरपर धूप से बचने को हैट भी न था। सिर्फ़ एक छोटा तौलिया सिर पर लपेट लिया था। दूसरी बातों में मैं इतना मशग़ूल था कि धूप का कुछ ख़याल भी नहीं रहा; और इलाहाबाद लौटने पर जब मैंने देखा तो पता चला कि मेरे चेहरे का रंग कितना पक्का हो गया था! और मुझे याद पड़ा कि सफ़र में क्या-क्या बीती। लेकिन इस बात पर

मैं अपने-आपसे खुश भी हुआ; क्योंकि मुझे मालूम हो गया कि बड़े-बड़े मज़बूत आदमियों के बराबर मैं धूप को बर्दाश्त कर सका, और मैं जो उससे डरता था उसकी ज़रूरत नहीं थी। मैंने देख लिया है कि मैं कड़ी-से-कड़ी गरमी और कड़े-से-कड़े जाड़े को बर्दाश्त कर सकता हूँ। इससे मुझे अपने काम में तथा जेल-जीवन बिताने में बड़ी मदद मिली। इसकी वजह थी कि मेरा शरीर आम तौर पर मज़बूत और काम करने के लायक़ था और मैं हमेशा कसरत किया करता था। इसका सबक़ मैंने पिताजी से सीखा था, जो थोड़े-बहुत कसरती थे और क़रीब-क़रीब अपने आख़िरी दिनों तक उन्होंने रोज़ाना कसरत जारी रखी थी। उनके सिर पर चांदी-से सफ़ेद बाल हो गये थे, चेहरे पर झुर्रियां पड़ गई थीं और वह विचार करते-करते बूढ़े और थके-से दिखायी देते थे। मगर उनका बाक़ी शरीर मृत्यु के एक-दो साल पहले तक उनसे बीस बरस कम उम्र के आदमी का-सा जान पड़ता था।

जून १९२० में प्रतापगढ़ जाने के पहले भी मैं गाँवों से अक्सर गुज़रता था। वहां ठहरता था और किसानों से बातचीत भी करता था। बड़े-बड़े मेलों के अवसर पर गंगा-किनारे हज़ारों देहातियों को मैंने देखा था और उनमें होमरूल का प्रचार किया था। लेकिन उस समय मैं यह अच्छी तरह न जानता था कि दरअसल वे क्या हैं, और हिन्दुस्तान के लिए उनका क्या महत्त्व है। हममें से ज़्यादातर लोगों की तरह मैं भी उनके बारे में कोई विचार नहीं करता था। यह बात मुझे प्रतापगढ़ की इस यात्रा में मालूम हुई, और तबसे हिन्दुस्तान का जो चित्र मैंने अपने दिमाग़ में बना रखा है उसमें हमेशा के लिए इस नंगी-भूखी जनता का स्थान बन गया है। सम्भवत: उस हवा में एक क़िस्म की बिजली थी। शायद मेरा दिमाग़ उसका असर अपने पर पड़ने देने के लिए तैयार था। और उस समय जो चित्र मैंने देखे और जो छाप मुझपर पड़ी वह मेरे दिल पर हमेशा के लिए अमिट हो गई।

इन किसानों की बदौलत मेरी झेंप निकल गई और मैं सभाओं में बोलना सीख गया। तबतक मैं शायद ही किसी सभा में बोला होऊं। अक्सर हमेशा हिन्दुस्तानी में बोलने की नौबत आती थी और उसके ख़याल से मैं दहशत खाया करता था। लेकिन मैं किसान-सभाओं में बोलने को कैसे टाल सकता था? और इन सीधे-सादे ग़रीब लोगों के सामने बोलने में झेंपने की भी क्या बात थी? मैं वक्तृत्व-कला तो जानता न था। इसलिए उनके साथ एकदिल होकर बोलता और मेरे दिल और दिमाग़ में जो कुछ होता था वह सब उनसे कह देता था।

लोग चाहे थोड़े हों चाहे हज़ारों की तादाद में हों, मैं हमेशा बातचीत के या ज़ाती ढंग से ही उनके सामने बोलता; और मैंने देखा कि चाहे कुछ कमी भी उसमें रह जाती हो, लेकिन मेरा काम चल जाता था। मेरे व्याख्यान में प्रवाह काफ़ी रहता था। मैं जो-कुछ कहता था शायद उसका बहुत-कुछ हिस्सा उनमें से बहुतेरे समझ नहीं पाते थे। मेरी भाषा और मेरे विचार इतने सरल न थे कि वे समझ सकते। बहुत लोग तो मेरा भाषण सुन ही नहीं पाते थे; क्योंकि भीड़ भारी होती थी और मेरी आवाज़ दूर तक नहीं पहुंच पाती थी। लेकिन जब वे किसी एक शख्स पर भरोसा और श्रद्धा कर लेते हैं, तब इन सब बातों की ज़्यादा परवाह उन्हें नहीं रहती।

मैं अपनी मां और पत्नी से मिलने मसूरी गया तो, मगर मेरे दिमाग़ में किसानों की ही बातें भरी थीं और मैं फिर उनमें जाने के लिए उत्सुक था। ज्योंही मैं मसूरी से वापस लौटा तो फिर गांवों में घूमने चला गया; और मैंने देखा कि किसान-आन्दोलन बढ़ता जा रहा था। उन पीड़ित किसानों के अन्दर एक नया आत्म-विश्वास पैदा हो रहा था। वे छाती तानकर और सिर ऊँचा करके चलने लगे थे। ज़मींदारों के कारिन्दों और पुलिस का डर उनके दिल में कम हो चला था। और यदि किसी का खेत बेदखल होता था तो कोई दूसरा किसान उसे लेने के लिए आगे नहीं बढ़ता था। ज़मींदारों के नौकर जो उन्हें मारा-पीटा करते थे और क़ानून के खिलाफ उनसे बेगार और लाग लिया करते थे वह कम हो गया था; और जब कभी कोई ज़्यादती होती तो फ़ौरन उसकी रिपोर्ट होती और तहक़ीक़ात कराने की कोशिश की जाती। इससे ज़मींदारों के कारिन्दों और पुलिस की ज्यादतियों की कुछ रोक हुई। ताल्लुक़ेदार घबराये और अपनी रक्षा का उपाय करते रहे और प्रान्तीय सरकार ने अवध-काश्तकारी-क़ानून में सुधार करने का वादा किया।

ताल्लुक़ेदार और ज़मींदार ज़मीन के मालिक कहलाते हैं। वे अपनेको 'लोगों के स्वाभाविक नेता' कहने में अपना फ़ख्र समझते हैं। वे यों तो ब्रिटिश सरकार के लाड़ले और बिगड़ैल बेटे हैं; लेकिन सरकार ने उनके लिए शिक्षा और लालन-पालन की जो विशेष व्यवस्था की थी, या करने की भूल की थी, उसके द्वारा उसने उनके सारे वर्ग को बुद्धि और दिमाग़ से बिल्कुल बोदा और निकम्मा बना दिया। वे अपने काश्तकारों के लिए कुछ भी नहीं करते थे, जैसा कि दूसरे देशों के ज़मींदार अक्सर थोड़ा-बहुत किया करते हैं, और ज़मीन और

लोगों को महज चूसकर अपना पेट भरनेवाले रह गये थे। उनके पास सबसे बड़ा काम यह रह गया था कि वे स्थानीय अफ़सरों की खुशामद करते रहें—जिनकी मेहरबानी के बिना उनकी हस्ती ज्यादा दिन टिक नहीं सकती थी। और वे हमेशा अपने खास स्वार्थों और हकों की रक्षा की लगातार मांग करते रहते थे।

'जमीदार' शब्द से जरा धोखा हो जाता है और किसी-किसीको यह खयाल हो सकता है कि तमाम ज़मीदार बड़ी-बड़ी ज़मीनों के मालिक हैं। जिन सूबों में रैयतवारी तरीका है, वहां ज़मीदार के मानी हैं खुद खेती करनेवाला ज़मीन-मालिक। उन प्रान्तों में भी जहां ज़मीदारी-प्रथा है, ज़मींदारों में, कम ज़मीन के मालिक, मध्यम दरजे के हजारों ज़मीन-मालिक, और वे हज़ारों लोग भी जो हद दरजे की ग़रीबी मे दिन काटते है और जो किसी तरह काश्तकारों से अच्छी हालत में नही है, आ जाते है। संयुक्तप्रान्त में, जहांतक मुझे याद है, पन्द्रह लाख के क़रीब वे लोग है जिनकी गिनती ज़मीदार-वर्ग में की जाती है। ग़ालिबन इनमे से ९० फ़ीसदी से ऊपर की हालत ग़रीब-से-ग़रीब काश्तकार की हालत से मिलती-जुलती है और दूसरे ९ फ़ीसदी की हालत कुछ अच्छी है। बड़े समझे जानेवाले ज़मीन-मालिक सारे सूबे में पांच हज़ार से ज्यादा नही है और उसके कोई १।१० वास्तव में बड़े ज़मीदार और ताल्लुकेदार कहलाने लायक़ है। बाज़-बाज़ बड़े काश्तकार की हालत तो छोटे ग़रीब जमीदारों से कहीं अच्छी है। ग़रीब ज़मीन-मालिक और मध्यम दरजे के ज़मींदार शिक्षा में पिछड़े हुए हैं। मगर हैं आमतौर पर बहुत अच्छे लोग, स्त्री व पुरुष दोनों। और यदि उनकी शिक्षा-दीक्षा का प्रबन्ध अच्छा हो, तो वे बढ़िया नागरिक बन सकते हैं। उन्होंने राष्ट्रीय आन्दोलनों में ख़ासा हिस्सा लिया है। मगर ताल्लुक़ेदारों और बड़े ज़मींदारों ने नहीं—हां, कुछ अच्छे अपवादों को छोड़कर, और तो और उनमें कुलीन वर्ग की खूबियां भी नहीं पाई जातीं। एक वर्ग की हैसियत से शरीर और बुद्धि दोनों मे वे गिर गये हैं। अबतक तो उनका खात्मा ही हो जाना चाहिए था। अब वे तभीतक जीवित रह सकेंगे कि जबतक ब्रिटिश सरकार ऊपर से उनको सहारा लगाती रहेगी।

पूरे १९२१ भर मैं देहाती इलाक़ों में आता-जाता रहा। लेकिन मेरा कार्य-क्षेत्र बढ़ता गया—यहांतक कि वह सारे युक्त-प्रान्त में फैल गया। असहयोग सरगर्मी से शुरू हो गया था और उसका सन्देश दूर-दूर के गांवों में पहुंच चुका था। हर ज़िले में कांग्रेस-कार्यकर्त्ताओं का एक झुण्ड इस नये सन्देश को लेकर

देहात में जाता, और उनके साथ वह किसानों की शिकायतें दूर करने की बात भी मोटे तौर पर जोड़ देता था। स्वराज एक ऐसा व्यापक शब्द था जिसमें सबकुछ आ जाता था, फिर भी ये दोनों आन्दोलन---असहयोग और किसान--- बिल्कुल अलहदा-अलहदा थे; हालांकि हमारे प्रांत में ये दोनों बहुत-कुछ एक दूसरे में मिल-जुल जाते थे और एक-दूसरे पर असर डालते थे। कांग्रेस के इस प्रचार का फल यह हुआ कि मुकदमेबाज़ी एकबारगी कम हो गई और गांवों में पंचायतें कायम होकर उनमें मुकदमे फैसल होने लगे। कांग्रेस का असर शान्ति के हक़ में खासतौर पर ज़्यादा पड़ा, क्योंकि जहां भी कोई कांग्रेसी कार्यकर्त्ता जाता, वहां वह इस नये अहिंसा के सिद्धान्त पर ख़ासतौर पर ज़ोर देता। हो सकता है कि लोगों ने न तो इसकी पूरी कद्र की हो, न इसे पूरा समझा ही हो; लेकिन इसने किसानों को मार-काट पर उतर पड़ने से रोका ज़रूर है।

यह कोई कम बात न थी। किसान जब उभड़ते है तो मार-पीट कर बैठते है और उनका उभाड़ किसानों और मालिकों की एक लड़ाई ही बन जाती है। और उन दिनो अवध के हिस्से के किसानों के जोश का पारा बहुत ऊंचा चढ़ा हुआ था और वे सब-कुछ कर डालने पर आमादा थे। एक चिनगारी पड़ने की देर थी कि आग धधक उठती। फिर भी उन्होंने ग़ज़ब की शान्ति रक्खी। मुझे सिर्फ़ एक ही मिसाल याद आती है कि जिसमे एक ताल्लुक़ेदार पीटा गया। ताल्लुकेदार अपने घर में बैठा था---उसके यार-दोस्त आसपास बैठे थे। एक किसान उसके पास गया और उसके गाल पर एक थप्पड़ जमा दिया। किसान का कहना था कि वह अपनी पत्नी के साथ अच्छा व्यवहार नहीं करता था और बदचलन था।

एक और किस्म का हिंसा-कार्य आगे जाकर हुआ, जिससे सरकार के साथ टक्करें हुई। मगर ये टक्करे तो आगे-पीछे होकर ही रहती, क्योंकि सरकार संगठित किसानों की बढ़ती हुई ताक़त को बर्दाश्त नहीं कर सकती थी। ढेर-के-ढेर किसान बिना टिकट रेल में सफर करने लगे---ख़ास तौर पर तब, जबकि उन्हें अपनी बड़ी-बड़ी सभाओं में समय-समय पर जाना पड़ता था। कभी-कभी तो उनकी तादाद साठ से सत्तर हज़ार तक हो जाती। उन्हें हटाना मुश्किल था। और वे खुल्लम-खुल्ला रेलवे की हुकूमत का मुक़ाबला करने लगे, जैसाकि पहले कभी देखा सुना नहीं गया था। वे रेलवे कर्मचारियों से कहते, 'साहब, अब पुराना ज़माना चला गया।' किसके भड़काने से वे बिना टिकट झुण्ड-के-

झुण्ड सफ़र करते थे, मैं नहीं जानता। हां, हमने उन्हें ऐसी कोई बात नहीं कही थी। हमने तो अचानक सुना कि वे ऐसा कर रहे हैं। बाद को जाकर रेलवेवालों ने कड़ाई की, तब यह सिलसिला बन्द हो गया।

१९२० की सर्दी के दिनों में (जब मैं कलकत्ते में कांग्रेस के विशेष अधिवेशन में गया हुआ था) कुछ मामूली-सी बात पर कुछ किसान-नेता गिरफ़्तार कर लिये गए। ख़ास प्रतापगढ़ में उनपर मुकदमा चलाया जानेवाला था। लेकिन मुक़दमे के दिन किसानों की एक बड़ी भीड़ से अदालत का अहाता भर गया और वहाँ से जेल के रास्ते-भर एक लाइन बन गई, जहांकि नेता लोग रखे गये थे। मजिस्ट्रेट घबरा गया और उसने मुकदमा दूसरे दिन के लिए मुल्तवी कर दिया। लेकिन भीड़ बढ़ती गई और उसने जेल को क़रीब-क़रीब घेर लिया। किसान लोग मुट्ठी-भर चने खाकर कुछ दिन बड़े मज़े से रह सकते हैं। आख़िर को किसान-नेता छोड़ दिये गए। शायद जेल मे उनका मुक़दमा कर दिया गया था। मै यह तो भूल गया कि यह घटना कैसे हुई, लेकिन किसानों ने उसे अपनी एक बड़ी विजय समझा और वे यह सोचने लगे कि महज अपनी भीड़ के बल पर ही हम अपना चाहा करा लिया करेंगे, मगर सरकार के लिए यह स्थिति असह्य थी और एक ऐसा मौक़ा जल्दी पेश आया; लेकिन उसका अन्त दूसरी तरह हुआ।

१९२१ की जनवरी के आरम्भ की बात है। मै नागपुर-कांग्रेस से लौटा ही था कि मुझे रायबरेली से तार मिला कि जल्दी आओ, क्योंकि वहां उपद्रव की आशंका थी। दूसरे दिन मैं गया। मुझे मालूम हुआ कि कुछ दिन पहले कुछ प्रमुख किसान पकड़े गये थे और वहीकी जेल में रखे गये थे। किसानों को प्रतापगढ़ की सफलता और उस समय जो नीति उन्होंने अख़्तियार की थी वह याद थी ही। चुनाचे किसानों की एक बड़ी भीड़ रायबरेली जा पहुंची। मगर इस बार सरकार उन्हें ऐसा नहीं करने देना चाहती थी और इसलिए उसने अतिरिक्त पुलिस और फ़ौज का इन्तज़ाम कर रखा था कि उन्हें आगे न बढ़ने दिया जाय। क़स्बे के ठीक बाहर एक छोटी नदी के उस पार किसानों का मुख्य भाग रोक दिया गया। लेकिन फिर भी दूसरी तरफ़ से लोग लगातार चले आ रहे थे। स्टेशन पर आते ही मुझे इस स्थिति की ख़बर मिली और मैं फ़ौरन नदी की तरफ़ गया, जहां फ़ौज किसानों का सामना करने के लिए रखी गई थी। रास्ते में मुझे ज़िला-मजिस्ट्रेट का जल्दी में लिखा एक पुर्ज़ा मिला कि मैं वापस लौट जाऊं। उसीकी पीठ पर

मैंने जवाब लिखा और पूछा कि क़ानून की किस दफ़ा की रू से मुझे लौट जाने के लिए कहा गया है ? और जबतक इसका जवाब नहीं मिलेगा, तबतक मैं अपना काम जारी रखना चाहता हूं। जैसे ही मैं नदी तक पहुंचा, दूसरे किनारे से गोलियों की आवाज़ सुनाई दी। मुझे पुल पर ही फ़ौजवालों ने रोक दिया। मैं वहां इन्तजार कर ही रहा था कि एकाएक कितने ही डरे और घबराये हुए किसानों ने मुझे आ घेरा, जोकि नदी के इस किनारे खेतों में छिप रहे थे। तब मैंने उसी जगह कोई दो हज़ार किसानों की सभा करके उनके डर को दूर और उत्तेजना को कम करने की कोशिश की। कुछ ही कदम आगे एक छोटे नाले के उस पार उनके भाइयों पर गोलियां बरसना और चारों ओर फ़ौज-ही फ़ौज दिखाई देना——यह उनके लिए एक असाधारण स्थिति थी। मगर फिर भी सभा बहुत सफलता के साथ हुई, जिससे किसानों का डर कुछ कम हो गया। तब ज़िला-मजिस्ट्रेट उस स्थान से लौटे जहां गोलियां चलाई जा रही थीं और उनके अनुरोध पर मैं उनके साथ उनके घर गया। वहां उन्होंने किसी-न-किसी बहाने दो घंटे तक मुझे रोक रखा——ज़ाहिर है कि उनका इरादा मुझे कुछ वक़्त किसानों से और शहर के अपने मित्रों से दूर रखने का था।

बाद को हमें पता चला कि गोली-काण्ड से बहुतेरे आदमी मारे गये। किसानों ने तितर-बितर होने या पीछे हटने से इनकार कर दिया था, मगर यों वे बिल्कुल शान्त बने रहे थे। मुझे बिल्कुल यक़ीन है कि अगर मैं, या हममें से कोई, जिन पर वे भरोसा रखते थे, वहां होते और उन्होंने उनसे कहा होता तो वे ज़रूर वहां से हट गए होते। जिन लोगों का वे विश्वास नहीं करते थे, उनका हुक्म मानने से उन्होंने इनकार कर दिया। किसीने तो दरअसल मजिस्ट्रेट को सुझाया भी था, कि मेरे आने तक ठहर जायें; किन्तु उन्होंने नहीं सुना। जहां वह ख़ुद नाकामयाब हो चुके थे, वहां भला वह किसी आन्दोलनकारी को क्योंकर सफल होने दे सकते थे ? विदेशी सरकारों का, जिनका दारोमदार अपने रोब पर होता है, यह तरीक़ा नहीं हुआ करता।

रायबरेली के जिले में उन्हीं दिनों दो बार किसानों पर गोलियां चलीं और उसके बाद तो हरेक प्रमुख किसान-कार्यकर्त्ता या पंचायत के मेम्बर के लिए मानों डर का राज्य ही फैल गया ! सरकार ने उस आन्दोलन को कुचल डालने का पक्का इरादा कर लिया था। उन दिनों कांग्रेस की प्रेरणा से किसानों के अंदर

चरखा चलाने की प्रवृत्ति हो रही थी, इसलिए चरखा मानों राजद्रोह का प्रतीक हो गया था, और जिसके घर चरखा पाया जाता उसीकी आफ़त आ जाती। चरखे अक्सर जला भी दिये जाते थे। इस तरह सरकार ने सैकड़ों लोगों को गिरफ़्तार करके तथा दूसरे तरीक़ों से रायबरेली और प्रतापगढ़ ज़िले के देहाती इलाक़ों के किसान और कांग्रेस दोनों आन्दोलनों को कुचलने की कोशिश की। ज़्यादातर मुख्य-मुख्य कार्यकर्त्ता दोनों आन्दोलनों में एक ही थे ।

कुछ दिन बाद, १९२१ मे फ़ैज़ाबाद जिले में दूर-दूर तक दमन हुआ। वहां एक अनोखे ढंग से झगड़ा खड़ा हुआ। कुछ देहात के किसानों ने जाकर एक ताल्लुक़ेदार का माल-असबाब लूट लिया। बाद को पता लगा कि उन लोगों को एक-दूसरे ज़मींदार के नौकर ने भड़का दिया था, जिसका ताल्लुक़ेदार से कुछ झगड़ा था। उन ग़रीबों से सचमुच यह कहा गया था कि महात्मा गांधी चाहते हैं कि वे लूट लें; और उन्होंने 'महात्मा गांधी की जय !' का नारा लगाते हुए इस आदेश का पालन किया।

जब मैंने यह सुना तो मै बहुत बिगड़ा और दुर्घटना के एक या दो ही दिन के अन्दर उस स्थान पर जा पहुंचा, जो अकबरपुर (फ़ैज़ाबाद ज़िला) के पास ही था। मैंने उसी दिन एक सभा बुलाई और कुछ ही घंटों में पांच-छः हज़ार लोग कई गांवों से, कोई दस-दस मील की दूरी से, वहां इकट्ठे हो गये। मैंने उन्हें आड़े हाथों लिया और बताया कि किस तरह उन्होंने अपने-आपको तथा हमारे काम को धक्का पहुंचाया, और शर्मिन्दगी दिलाई और कहा कि जिन-जिनने लूट-पाट की है वे सबके सामने अपना गुनाह क़बूल करें। (उन दिनों मैं गांधीजी के सत्याग्रह की भावना से, जैसा-कुछ मै उसे समझता था, भरा हुआ था।) मैंने उन लोगों से, जो लूट-मार में शरीक थे, हाथ ऊंचा उठाने के लिए कहा, और कहते ताज्जुब होता है कि बीसों पुलिस-अफ़सरों के सामने कई दर्जन हाथ ऊपर उठ गये। इसके मानी थे यक़ीनन उनपर आफ़त आना।

जब उनमें से बहुतेरे लोगों से मैंने एकान्त में बातचीत की और उन्होंने सीधे-सादे ढंग से सुनाया कि किस तरह उन्हें गुमराह किया गया था, तो मुझे उनकी हालत पर बड़ा दुःख हुआ और इस बात पर अफ़सोस होने लगा कि मैंने नाहक ही इन सीधे-भोले लोगों को लम्बी-लम्बी सजाएं दिये जाने की हालत में ला दिया। लेकिन जिन लोगों को सज़ा भुगतनी पड़ी वे दो या तीन दर्जन से कम ही थे । सरकार के लिए इतना अच्छा मौक़ा भला कहीं खोने-जैसा था ? उस ज़िले के किसान-आन्दोलन

को कुचलने के लिए इस अवसर का पूरा-पूरा फायदा उठाया गया। एक हज़ार से ऊपर गिरफ्तारियां हुईं और ज़िला-जेल ठसाठस भर गया। कोई एक साल तक मुक़दमे चलते रहे। कितने ही लोग तो मुकदमे के दौरान में जेल में ही मर गये। दूसरे कितनों ही को लम्बी-लम्बी सज़ाएं दी गईं। और पिछले दिनों जब मैं जेल गया, तो वहां उनमें से कुछ से मुलाक़ात हुई थी। क्या लड़के और क्या जवान, सब अपनी जवानी जेल में काट रहे थे।

भारतीय किसान में टिके रहने की शक्ति बहुत कम है। ज़्यादा दिनों तक मुकाबला करने की उसमें ताक़त नहीं रहती। अकालों और महामारियों में लाखों मर जाते हैं। ऐसी दशा में यह आश्चर्य की बात है कि साल-भर तक उन्होंने सरकार व जमीदार दोनों के सम्मिलित दबाव का मुक़ाबला करने की ताकत दिखाई। लेकिन वे कुछ-कुछ थकने लग गये थे और सरकार उनके आन्दोलन पर दृढ़तापूर्वक हमले करती रहती थी, जिससे अन्त में उनकी हिम्मत उस समय के लिए तो टूट गई। फिर भी उनका आन्दोलन धीमी रफ़्तार से चलता रहा—हां, पहले-जैसे बड़े-बड़े प्रदर्शन नहीं होते थे, लेकिन अधिकांश गांवों में पुराने कार्यकर्त्ता बच रहे थे जिनपर डर का कोई असर न हुआ था। और जो थोड़ा-बहुत काम करते रहे। यहां यह याद रखना चाहिए कि यह सब हुआ था कांग्रेस के १९२१ के जेल जाने का कार्य-क्रम बनने के पहले। किन्तु इसमें भी किसानों ने, पिछले साल के दमन के बावजूद बहुत-कुछ हाथ बंटाया था।

सरकार किसान-आन्दोलन से डर गई थी और उसने किसान-सम्बन्धी क़ानून को पास करने की जल्दी की। इसके द्वारा किसानों की हालत सुधरने की आशा हुई थी। किन्तु जब देखा कि आन्दोलन क़ाबू में आ चुका है तो उसको नरम बना दिया गया। इसके द्वारा जो मुख्य परिवर्तन किया गया, वह था अवध के किसानों को ज़मीन पर आजन्म अधिकार दे देना। यह दिखाई तो दिया था उनके लिए लुभावना, लेकिन अन्त में साबित यह हुआ कि उनकी हालत में उससे कुछ भी सुधार नहीं हुआ।

अवध में किसानों की हलचलें जब-तब होती रहती थीं, लेकिन छोटे पैमाने पर। मगर, १९२१ में जो मन्दी सारे संसार में आई, उससे चीज़ों के भाव गिर गये और इसलिए फिर एक संकट-काल आ खड़ा हुआ।

: १० :

असहयोग

अवध के किसानों की उथल-पुथल का पीछे कुछ ब्यौरे के साथ मैंने वर्णन किया है, क्योंकि उसने भारत की समस्या पर से परदा उठाकर उसका मूल स्वरूप मेरे सामने खड़ा कर दिया, जिसपर कि राष्ट्रीय विचारवालों ने शायद ही कुछ ध्यान दिया हो। हिन्दुस्तान के भिन्न-भिन्न भागों में किसानों की हलचलें बार-बार होती रहती हैं, जो कि गहरी अशान्ति के लक्षण हैं। अवध के कुछ हिस्सों में जो किसान-आन्दोलन १९२०-२१ में हुआ वह उसी तरह का था—हालांकि वह अपने ढंग का निराला था, जिससे कई रहस्य सामने आये। उसकी शुरुआत का सम्बन्ध किसी तरह न तो राजनीति से था, न राजनैतिक पुरुषों से; बल्कि शुरू से अख़ीर तक बाहरी और राजनैतिक लोगों का उसपर कम-से-कम असर था। सारे हिन्दुस्तान की दृष्टि से वह एक स्थानीय मामला था, और इसलिए उसकी तरफ़ बहुत कम ध्यान दिया गया था। यहांतक कि संयुक्तप्रान्त के अख़बारों ने भी उसकी तरफ़ बहुत-कुछ लापरवाही ही दिखाई। उनके सम्पादकों और अधिकांश शहराती पाठकों के लिए नंगे किसानों की जमात के उन कामों में कोई असली राजनैतिक या दूसरे प्रकार का महत्त्व न था।

पंजाब और ख़िलाफ़त-सम्बन्धी अन्यायों की रोज चर्चा होती थी और असहयोग, जिसके बल पर उन अन्यायों को दूर करने की कोशिश की जानेवाली थी, लोगों की ज़बान पर एक ही विषय था। सब लोगों का ध्यान उसीमें लगा हुआ था। अलबत्ता शुरू में राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के बड़े प्रश्न, यानी स्वराज्य, पर ज़्यादा ज़ोर नहीं दिया जाता था। गांधीजी गोल-मोल और लम्बी-चौड़ी बातों को पसन्द नहीं करते हैं—वह हमेशा किसी ख़ास और निश्चित बात पर सारी ताक़त लगाना ज़्यादा पसन्द करते हैं। फिर भी स्वराज्य की बातें वायुमण्डल में और लोगों के दिमाग़ों में बहुत-कुछ घूमती रहती थीं, और जगह-जगह जो सभा-सम्मेलन होते थे, उनमें बार-बार उनका ज़िक्र आया करता था।

पंजाब और खिलाफ़त के, और खासकर असहयोग के प्रश्न पर अपना निर्णय देने के लिए १९२० के सितम्बर में कलकत्ता में कांग्रेस का विशेष अधिवेशन हुआ। लाला लाजपतराय उसके सभापति थे, जो लम्बे अरसे तक देश से बाहर रहने के बाद हाल ही अमेरिका से लौटे थे। उन्हें असहयोग की यह नई योजना नापसन्द थी और उन्होंने उसका विरोध किया था। हिन्दुस्तान की राजनीति में वह आम तौर पर गरम दल के माने जाते थे, लेकिन उनकी साधारण जीवन-दृष्टि निश्चितरूप से वैध और माडरेट थी। इस सदी के शुरू के दिनों परिस्थिति ने—न कि हार्दिक विश्वास या इच्छा ने—उन्हें लोकमान्य तिलक तथा दूसरे गरम दलवालों का साथी बना दिया था। लेकिन उनका दृष्टिकोण निश्चय ही सामाजिक तथा आर्थिक था, जो कि उनके अरसे तक विदेशों में रहने से और भी मज़बूत हो गया था, और उसके कारण उनकी दृष्टि अधिकांश हिन्दुस्तानी नेताओं की बनिस्बत ज्यादा व्यापक थी।

विल्फ्रेड स्कावेन ब्लण्ट ने अपनी 'डायरियों' में गोखले और लालाजी के साथ हुई मुलाक़ातों (१९०९ के लगभग) का हाल लिखा है। दोनों के बारे में उसने बहुत सख़्त लिखा है, क्योंकि उसकी राय में वे बहुत फूंक-फूंककर चलते थे और वास्तविकता का सामना करते हुए डरते थे। लेकिन फिर भी लालाजी दूसरे बहुत-से हिन्दुस्तानी नेताओं से कहीं ज्यादा उनका मुक़ाबला करते थे। ब्लण्ट पर जो छाप पड़ी उससे तो हम यही समझ सकते हैं कि उस समय हमारी राजनीति व हमारे नेताओं की गति कितनी धीमी थी और उनका क्या असर एक समर्थ और अनुभवी विदेशी सज्जन पर पड़ा। लेकिन पिछले बीस बरसों में उस गति में बड़ा फ़र्क़ पड़ गया है।

इस विरोध में लाला लाजपत राय अकेले न थे। उनके साथ बड़े-बड़े और प्रभावशाली लोग भी थे। कांग्रेस के क़रीब-क़रीब सभी पुराने महारथियों ने गांधीजी के असहयोग-प्रस्ताव का विरोध किया था। देशबन्धुदास उस विरोध के अगुआ थे, इसलिए नहीं कि वह उसके मूल भाव को नापसंद करते थे—वह तो उस हद तक बल्कि उससे भी आगे जाने को तैयार थे—बल्कि खासकर इसलिए कि नई कौंसिलों के बहिष्कार पर उन्हें ऐतराज़ था।

पुरानी पीढ़ी के बड़े-बड़े नेताओं में एक मेरे पिताजी ही ऐसे थे, जिन्होंने उस समय गांधीजी का साथ दिया। उनके लिए ऐसा करना हँसी-खेल न था। उन

कि अन्त में वह सोलहों आना उसमें कूद पड़े । उन कई घटनाओं से, जिनका अंत पंजाब-काण्ड में हुआ, और उसके बाद जो कुछ हुआ, उससे उनके दिल में जो ग़ुस्सा भरता जा रहा था उसको, जो अन्याय या अत्याचार वहां हुए थे उनकी याद को, और जो राष्ट्रीय अपमान हुआ उसकी कटुता को बाहर निकलने का कोई मार्ग चाहिए था । लेकिन वह महज़ उत्साह की लहर में बह जानेवाले न थे । उन्होंने आखिरी फ़ैसला तभी किया और गांधीजी के आन्दोलन में तभी कूदे जब उनके दिमाग़ ने, और एक मॅजे हुए वकील के दिमाग़ ने, सारा आगा-पीछा अच्छी तरह सोच लिया ।

गांधीजी के व्यक्तित्व की तरफ़ वह खिंचे थे, और इसमें कोई शक नहीं कि इस बात ने भी उनके निर्णय पर असर डाला था । जिस शख़्स को वह नापसन्द करते थे उससे उनका साथ कोई भी शक्ति नहीं करा सकती थी, क्योंकि उनकी रुचि और अरुचि दोनों बड़ी तेज़ होती थी । लेकिन यह मिलाप था अनोखा—एक तो साधु, संयमी, धर्मात्मा, जीवन के आनन्द-विलास और शारीरिक सुखों को लात मारनेवाला, और दूसरा कुछ भोग-प्रिय, जिसने जीवन के कितने ही आनन्दों का स्वागत और उपभोग किया और इस बात की बहुत कम परवा की कि परलोक में क्या होगा ! मनोविश्लेषण-शास्त्र की भाषा मे कहें तो यह एक अन्तर्मुख का एक बहिर्मुख के साथ मिलाप था । फिर भी उन दोनों में एक प्रेम-बन्धन और एक हित-सम्बन्ध था जिसने दोनों को एक-दूसरे की तरफ़ खींचा और बांध रखा—यहांतक कि जब आगे चलकर दोनों की राजनीति में अन्तर पड़ गया तब भी दोनों में गाढ़ी मित्रता रही ।

वाल्टर पेटर ने अपनी एक किताब में बतलाया है कि कैसे एक साधु और एक भोगी, एक धार्मिक प्रकृति का और दूसरा उसके विरुद्ध स्वभाव का परस्पर विरोधी स्थानों से शुरू करके, भिन्न-भिन्न रास्तों से सफ़र करते हुए, और ऐसी जीवन-दृष्टि रखते हुए, जो अपने उत्साह और सरगर्मियों में औरों से उच्च और उदार रहती है, अक्सर एक-दूसरे को ज़्यादा अच्छी तरह समझते और पहचानते हैं—बनिस्बत इसके कि उनमें से हरेक दुनिया के किसी साधारण मनुष्य को समझे और पहचाने—और कभी-कभी तो वे दरअसल एक-दूसरे के हृदय को स्पर्श भी करते हैं ।

कलकत्ता के विशेष अधिवेशन ने कांग्रेस की राजनीति में गांधी-युग शुरू किया, जो तबसे अबतक क़ायम है—हां, बीच में थोड़ा-सा समय (१९२२

से १९२९ तक) ज़रूर ऐसा गया जिसमें गांधीजी ने अपने आपको पीछे रख लिया था और स्वराज्य-पार्टी को, जिसके नेता देशबन्धुदास और मेरे पिताजी थे, अपना काम करने दिया था। तबसे कांग्रेस की सारी दृष्टि ही बदल गई; विलायती कपड़े चले गये और देखते-देखते सिर्फ खादी-ही-खादी दिखाई देने लगी; कांग्रेस में नये क़िस्म के प्रतिनिधि दिखाई देने लगे, जो ख़ास करके मध्यम-वर्ग की निचली श्रेणी के थे। हिन्दुस्तानी, और कभी-कभी तो उस प्रान्त की भाषा, जहां अधिवेशन होता था, अधिकाधिक बोली जाने लगी, क्योंकि कितने ही प्रतिनिधि अंग्रेज़ी नहीं जानते थे। राष्ट्रीय कामों में विदेशी भाषा का व्यवहार करने के खिलाफ़ भी लोगों के भाव तेज़ी से बढ़ रहे थे, और कांग्रेस की सभाओं में साफ़ तौर पर एक नई ज़िन्दगी, नया जोश, और सचाई दिखाई देती थी।

अधिवेशन ख़त्म होने के बाद गांधीजी 'अमृतबाज़ार पत्रिका' के महान् सम्पादक श्री मोतीलाल घोष से मिलने गये, जोकि मृत्यु-शय्या पर पड़े हुए थे। मैं उनके साथ गया था। मोतीबाबू ने गांधीजी के आन्दोलन को आशीर्वाद दिया और कहा—"मैं तो अब दूसरी दुनिया में जा रहा हूं। वह दुनिया कहीं भी हो, मुझे एक बात का बहुत संतोष है कि वहां ब्रिटिश साम्राज्य न होगा—अब मैं इस साम्राज्य की पहुंच से परे हो जाऊंगा!"

कलकत्ता से लौटते समय मैं गांधीजी के साथ रवीन्द्रनाथ ठाकुर और उनके प्यारे बड़े भाई 'बड़ो दादा' से मिलने शान्तिनिकेतन गया। वहां हम कुछ दिन रहे। मुझे याद है कि चार्ली एण्डरूज़ ने कुछ किताबें मुझे दी थीं, जो मुझे दिलचस्प मालूम हुई थीं और जिनका मुझपर बहुत असर भी पड़ा था। उनका विषय था, अफ्रीका में ब्रिटिश साम्राज्य से हुई आर्थिक हानि। इनमें से मॉरेल की लिखी एक किताब—ब्लैकमेन्स बर्डन—की मेरे दिल पर बहुत गहरी छाप पड़ी थी।

इन्हीं दिनों या इसके कुछ दिन बाद, एण्डरूज़ साहब ने एक पुस्तिका लिखी, जिसमें हिन्दुस्तान के लिए स्वाधीनता की पैरवी की गई थी। मैं समझता हूं कि उसका नाम 'इण्डिपेण्डेंस दि इमीजिएट नीड' था। यह एक बहुत ऊँचे दरजे का निबन्ध था, जो कि सिली के हिन्दुस्तान-विषयक कुछ लेखों और पुस्तकों के आधार पर लिखा गया था। और मुझे ऐसा लगा कि उसमें स्वाधीनता की पैरवी इतनी अच्छी तरह की गई थी कि उसका कोई जवाब नहीं हो सकता—यही नहीं, बल्कि मुझे वह मेरे हार्दिक भावों का चित्र खींचता हुआ मालूम हुआ।

उसकी भाषा बड़ी सीधी-सादी और सचाई लिये हुए थी। उसमें मानो हमारे दिल को हिला देनेवाली गहरी प्रेरणाएं और अधखिली अभिलाषाएं साफ़ तौर पर मूर्त बनती दिखाई दीं। न तो वह आर्थिक आधार पर लिखी गई थी और न उसमें साम्यवाद ही था; उसमें शुद्ध राष्ट्रीयता, हिन्दुस्तान की ज़िल्लत के प्रति मन में सहानुभूति और इससे छुटकारा पाने की और बरसों के हमारे इस अधःपतन का खात्मा कर देने की ज़बरदस्त ख़्वाहिश थी। यह कितनी विचित्र बात है कि एक विदेशी, और सो भी वह जो हमपर हुकूमत करनेवाली जाति का है, हमारे अन्तस्तल की पुकार को इस तरह प्रतिध्वनित करे! असहयोग तो, जैसा कि सिली ने बहुत पहले कह दिया है—"यह भावना है कि हमारे लिए विदेशियों को अपनी हुकमत हमपर जमाये रखने में सहायता पहुंचाना शर्मनाक है।" और एण्डरूज़ ने लिखा है—"आत्मोद्धार का एक ही मार्ग है कि अपने अन्दर से कोई जबरदस्त हलचल—क्रान्ति—पैदा हो। ऐसी क्रान्ति के लिए जिस बारूद की ज़रूरत है वह ख़ुद हिन्दुस्तान की आत्मा में से ही पैदा होनी चाहिए। वह बाहर से किसीके देने, मांगने, मिलने, ऐलान करने और रिआयतें देने से नहीं आ सकती। वह अपने अन्दर से ही आनी चाहिए।......इसलिए जब मैंने देखा कि ऐसी ही आन्तरिक शक्ति, वह बारूद, दरअसल भक् से धड़ाका कर चुकी है—जब महात्मा गांधी ने भारत के हृदय में मन्त्र फूंका—'आज़ाद हो जाओ, गुलाम मत बने रहो' और हिन्दुस्तान की हृत्तन्त्री उसी स्वर में झनझना उठी—तो मेरे मन और आत्मा उस असह्य बोझ से छुटकारा पाने की खुशी से नाच उठे। एक आकस्मिक हलचल के साथ उसकी बेड़ियां ढीली हुई और आज़ादी का रास्ता खुल गया।'

अगले तीन मास में देश-भर में असहयोग की लहर बढ़ती चली गई। नई कौंसिलों का बहिष्कार करने की जो अपील की गई थी उसमें आश्चर्यजनक सफलता मिली। यह बात नहीं कि सभी लोग वहां जाने से रुक गये, या रुक सकते थे, और इस तरह तमाम सीटें खाली रखी जा सकती थीं। बल्कि मुट्ठी-भर वोटर भी चुनाव कर सकते थे और अविरोध चुनाव भी हो सकता था। लेकिन हां, यह सच है कि अधिकांश वोटर (मतदाता) वोट देने नहीं गये, और वे सब उम्मीदवार, जिन्हें देश की पुकार का खयाल था, कौंसिलों के लिए खड़े नहीं हुए। चुनाव के दिन सर वेलेण्टाइन शिरोल दैवयोग से इलाहाबाद में थे और चुनाव के स्थानों को स्वयं देखने गये थे। वह बायकाट की सफलता देखकर दंग रह गये।

एक देहाती चुनाव-केन्द्र पर, जो इलाहाबाद शहर से पन्द्रह मील दूर था, उन्होंने देखा कि एक भी वोटर वोट देने नहीं गया था। हिन्दुस्तान पर लिखी अपनी एक पुस्तक में उन्होंने अपने इस अनुभव का वर्णन किया है।

यद्यपि देशबन्धु दास तथा दूसरे लोगों ने कलकत्ता-अधिवेशन में बहिष्कार की उपयोगिता पर सन्देह प्रकट किया था, तो भी अखीर को उन्होंने कांग्रेस के फ़ैसले को माना। चुनाव हो जाने के बाद मतभेद भी दूर हो गया और नागपुर-कांग्रेस (१९२०) में फिर बहुत-से पुराने कांग्रेसी नेता असहयोग के मंच पर आकर मिल गये। उस आन्दोलन की कामयाबी ने बहुतेरे डांवाडोल और सन्देह रखने-वालों को क़ायल कर दिया था।

फिर भी, कलकत्ता के बाद कुछ पुराने नेता कांग्रेस से पीछे हट गये, जिनमें एक मशहूर और लोकप्रिय नेता थे श्री जिन्ना। सरोजिनी नायडू ने उन्हें 'हिन्दू-मुस्लिम एकता का राजदूत' कहा था और पिछले दिनों में उन्हींकी बदौलत मुस्लिम लीग का कांग्रेस के नजदीक आना बहुत-कुछ मुमकिन हुआ था; मगर कांग्रेस ने बाद में जो रूप धारण किया—असहयोग को तथा अपने नये विधान को अपनाया, जिससे वह ज्यादातर जनता का संगठन बन गई, वह उन्हें क़तई नापसन्द था। उनके मतभेद का कारण यों तो राजनैतिक बताया गया था, परन्तु वह मुख्यतः राजनैतिक न था। उस समय की कांग्रेस में ऐसे बहुत-से लोग थे जो राजनैतिक विचारों में जिन्नासाहब से पीछे ही थे। पर बात यह है कि कांग्रेस के इस नये रंग-रूप से उनके स्वभाव का मेल नहीं खाता था। उस खादीधारी भब्भड़ में, जो हिन्दुस्तानी में व्याख्यान देने की मांग करता था, वह अपने को बिल्कुल बेमेल पाते थे। बाहर लोगों में जो जोश था वह उन्हें पागलों की उछल-कूद-सा मालूम होता था। उनमें और भारतीय जनता में उतना ही फ़र्क़ था जितना कि सेवाइल रो, बॉण्ड स्ट्रीट में और झोंपड़ोंवाले हिन्दुस्तानी गांवों में है। एक बार उन्होंने खानगी में सुझाया था कि सिर्फ़ मैट्रिक-पास ही कांग्रेस में लिये जायं। मैं नहीं कह सकता कि उन्होंने दरअसल संजीदगी के साथ ही यह बात सुझाई थी। परन्तु यह सच है कि वह उनके साधारण दृष्टिकोण के मुआफ़िक़ ही थी। इस तरह वह कांग्रेस से दूर चले गये और हिन्दुस्तान की राजनीति में अकेले-से पड़ गये। दुःख की बात है कि आगे जाकर एकता का यह पुराना दूत उन प्रतिगामी लोगों में मिल गया, जो मुसलमानों में बहुत ही सम्प्रदायवादी थे।

माडरेटों या यों कहें कि लिबरलों का तो कांग्रेस से कोई ताल्लुक़ ही न रहा था। वे उससे सिर्फ़ दूर ही नहीं हट गये, बल्कि सरकार में घुल-मिल गये। नई योजना के अन्दर वे मिनिस्टर और बड़े-बड़े अफ़सर बने और असहयोग तथा कांग्रेस का मुक़ाबला करने में सरकार की मदद की। वे जो-कुछ चाहते थे, क़रीब-क़रीब सब उन्हें मिल गया था—यानी कुछ सुधार दे दिये गए थे, और इसलिए अब उन्हें किसी आन्दोलन की जरूरत न थी। सो, एक ओर देश जहां जोश-खरोश से उबल रहा था, और अधिकाधिक क्रान्तिकारी बनता जा रहा था, तहां वे खुले-आम क्रान्ति-विरोधी, खुद सरकार के एक अंग बन गये। वे लोगों से कटकर बिल्कुल अलग जा पड़े और तबसे हर मसले को हाकिमों के दृष्टि-बिन्दु से देखने की उनको आदत पड़ गई, जो अबतक क़ायम है। सच्चे अर्थ में उनकी अब कोई पार्टी नहीं रह गई है—सिर्फ़ चन्द लोग रह गये हैं सो भी कुछ बड़े-बड़े शहरों में।

फिर भी यह न समझिये कि लिबरल लोग निश्चित थे। ख़ुद अपने ही लोगों से कटकर अलहदा पड़ जाना, जहां दुश्मनी नहीं दिखाई या सुनाई देती हो, वहां भी दुश्मनी समझना कोई आनन्ददायी अनुभव नहीं कहा जा सकता। जब सारी जनता उभड़ उठती है तो वह अपने से अलहदा रहनेवालों के प्रति मेहर-बान नहीं रह सकती। हालांकि गांधीजी की बार-बार की चेतावनियों ने असहयोग को विरोधियों के लिए उससे कहीं अधिक मृदुल और सौम्य बना दिया था, जितना कि दूसरी हालत में वह हो सकता था। फिर भी महज़ उस वायुमण्डल ने ही आन्दोलन के विरोधियों का दम घोट दिया था, जिस प्रकार वह उसके सम-र्थकों को बल और स्फूर्ति देता था और उनमें जीवन तथा कार्य-शक्ति का संचार करता था। जनता के उभाड़ और सच्चे क्रान्तिकारी आन्दोलनों के हमेशा ऐसे दोहरे असर होते हैं; वे उन लोगों को जो जनता में से होते हैं या जो उनकी तरफ हो जाते हैं, उत्साहित करते हैं और उनको आगे लाते हैं, और साथ ही उन लोगों के विचारों को दबाते हैं और पीछे हटा देते हैं जो उनसे मतभेद रखते हैं।

यही कारण है जो कुछ लोगों की यह शिकायत थी कि असहयोग में तो सहन-शीलता का अभाव है और उससे अन्धे की तरह एक-सी राय देने और एक-से काम करने की प्रवृत्ति पैदा होती है। इस शिकायत में सचाई तो थी, लेकिन वह थी इस बात में कि असहयोग जनता का एक आन्दोलन था और उसका अगुआ था ऐसा ज़बदस्त शख्स, जिसे हिन्दुस्तान के करोड़ों लोग भक्ति-भाव से देखते

थे। मगर इससे भी गहरी सच्चाई तो थी जनता पर हुए उसके असर में। ऐसा अनुभव होता था मानो किसी क़ैद से या बोझ से वह छुटकारा पा गई हो और आज़ादी का एक नया भाव आ गया हो ! जिस भय से वह अबतक दबी और कुचली जा रही थी वह पीछे हट गया था और उसकी कमर सीधी और सिर ऊंचा हो गया था। यहांतक कि दूर-दूर के बाज़ारों में भी राह-चलते लोग कांग्रेस और स्वराज की (क्योंकि नागपुर-कांग्रेस ने स्वराज को अपना ध्येय बना लिया था), पंजाब की घटनाओं की तथा ख़िलाफ़त की बातें करते थे। लेकिन 'ख़िलाफ़त' शब्द के अजीब मानी देहात के लोग समझते थे। लोग समझते थे कि यह 'ख़िलाफ़' से बना है और इसलिए वे इसके मानी करते थे 'सरकार के ख़िलाफ़' ! हां, वे अपने ख़ास-ख़ास आर्थिक कष्टों पर भी बातचीत करते थे। बेशुमार सभाएं और सम्मेलन हुए और उनसे उनमें बहुत-कुछ राजनैतिक शिक्षा फैली।

हममें बहुत लोग जो कांग्रेस-कार्यक्रम को पूरा करने में लगे हुए थे, १९२१ में मानो एक क़िस्म के नशे में मतवाले हो रहे थे। हमारे जोश, आशावाद और उछलते हुए उत्साह का ठिकाना न था। हमें वैसा आनन्द और सुख का स्वाद आता था जैसा किसी शुभ काम के लिए धर्म-युद्ध करनेवाले को होता है। हमारे मन में न शंकाओं के लिए जगह थी, न हिचक के लिए। हमें अपना रास्ता अपने सामने बिल्कुल साफ दिखाई देता था, और हम आगे बढ़ते चले जाते थे, दूसरों के उत्साह से उत्साहित होते तथा औरों को आगे धक्का देते थे। हमने जी-जान लगाकर काम करने में कोई बात उठा न रक्खी। इतनी बड़ी मेहनत हमने कभी न की थी; क्योंकि हम जानते थे कि सरकार से मुकाबला शीघ्र ही होनेवाला है, और सरकार हमें उठाकर अलग कर दे, इससे पहले हम ज़्यादा-से-ज़्यादा काम कर डालना चाहते थे।

इन सब बातों से बढ़कर हमारे अन्दर आज़ादी का और आज़ादी के गर्व का भाव आ गया था। यह पुराना भाव कि हम दबे हुए हैं और हमें कामयाबी नहीं हो सकती, बिल्कुल चला गया था। अब न तो डर से काना-फूसी होती थी और न गोल-मोल कानूनी भाषा इस्तेमाल की जाती थी, कि जिससे अधिकारियों के साथ झगड़ा मोल लेने से अपनेको बचाया जा सके। हम वही करते थे जो हम मानते थे और महसूस करते थे, और उसे खुल्लमखुल्ला डंके की चोट कहते थे। हमें उसके नतीजे की क्या परवा थी ? जेल ? उसकी हम राह ही देख रहे

थ। उससे तो हमारे उद्देश्य-सिद्धि में मदद ही पहुंचनेवाली थी। बेशुमार भेदिया और ख़ुफ़िया पुलिस के लोग हमें घेरे रहते थे, और हम जहां जाते वहां साथ रहते थे। उनकी हालत दयाजनक हो गई थी; क्योंकि हमारे पास उनके पता लगाने के लिए कोई छिपी बात ही न थी। हमारी सारी बाज़ी खुली थी।

हमको इस बात का ही सिर्फ़ सन्तोष न था कि हम एक सफल राजनैतिक काम कर रहे हैं, जिससे हमारी आंखों के सामने भारत की तसवीर बदलती जा रही है, और जैसा कि हमारा विश्वास था, हिन्दुस्तान की आज़ादी बहुत नज़दीक आ रही है; बल्कि हमारे अन्दर एक नैतिक उच्चता का भाव भी पैदा हो गया था कि हमारे साध्य और साधन दोनों, हमारे विरोधियों के मुकाबले में अच्छे और ऊँचे है। हमें अपने नेता पर और उसके बताये अप्रतिम उपाय पर गर्व था और कभी-कभी हम अपनेको सत्पुरुष मानने का दावा करने लगते थे। लड़ाई के बीच और स्वयं उसमें लिप्त होते हुए और उसे बढ़ावा देते हुए, एक आन्तरिक शान्ति का अनुभव होता था।

ज्यों-ज्यों हमारा नैतिक तेज, हमारा सत्य, बढ़ता गया, त्यों-त्यों सरकार का तेज घटता गया। उसकी समझ में नहीं आता था कि यह हो क्या रहा है। ऐसा जान पड़ता था कि हिन्दुस्तान में उसकी परिचित पुरानी दुनिया एकाएक ढही जा रही है। दूर-दूर तक एक नया आक्रामक भाव, आत्मावलम्बन और निर्भयता के भाव फैल रहे है और भारत में ब्रिटिश हुकूमत का बहुत बड़ा सहारा—रोब—स्पष्टतया दूर होता जा रहा है। थोड़ा-थोड़ा दमन करने से आन्दोलन उलटा बढ़ता जाता था और सरकार बहुत देर तक बड़े-बड़े नेताओं पर हाथ डालने से हिचकती ही रही। वह नहीं जानती थी कि इसका नतीजा आखिर क्या होगा। हिन्दुस्तानी फौज पर भरोसा रखा जा सकता है या नहीं? पुलिस हमारे हुक्मों पर अमल करेगी या नहीं? दिसम्बर १९२१ में लार्ड रीडिंग ने तो कह ही दिया था कि हम "हैरान और परेशान हो रहे हैं।"

१९२१ की गर्मियों में युक्तप्रान्त की सरकार की ओर से जिला-अफ़सरों के नाम एक मजेदार गुप्त गश्ती चिट्ठी भेजी गई थी। वह बाद को एक अखबार में भी छप गई थी। उसमें दुःख के साथ कहा गया था कि इस आन्दोलन में हमला करने की शक्ति हमेशा दुश्मन, यानी कांग्रेस, के हाथों में रहती है। इसके बाद हमला करने की शक्ति किस प्रकार सरकार के हाथों में आ जाय, इसके लिए उसमें

तरह-तरह के उपाय बताये गए थे, जिनमें एक था निकम्मी 'अमन सभाओं' को क़ायम करना। यह माना जाता था कि असहयोग से लड़ने का यह तरीक़ा लिबरल मिनिस्टरों का सुझाया हुआ था।

कितने ही ब्रिटिश अफ़सरों के होश-हवास गुम होने लगे थे। दिमाग़ी परेशानी कम न थी। दिन-दिन विरोध और हुकूमत का मुक़ाबला करने की भावना प्रबल होती जा रही थी, जिससे हाकिमों के हृदयाकाश पर चिन्ता के घने बादल मंडरा रहे थे। फिर भी, चूंकि कांग्रेस के साधन शान्तिमय थे, उन्हें उसका मुक़ाबला करने, उसपर हावी होने या ज़ोर के साथ धर-दबाने का कोई मौक़ा नहीं मिलता था। औसत दरजे के अंग्रेज़ इस बात को नहीं मानते थे कि हम कांग्रेसी सच्चे दिल से अहिंसा चाहते हैं। वे समझते थे कि यह सब धोखा-धड़ी है—किसी गहरी साज़िश को छिपाने का बहाना-मात्र है, जो किसी-न-किसी दिन एक हिंसात्मक उत्पात के रूप में फूट पड़नेवाली है। अंग्रेज़ों को बचपन से ही यह सिखाया जाता है कि पूरब एक रहस्यमय देश है, और वहां के बाज़ारों और तंग गलियों में दिन-रात छिपी साज़िशें होती रहती हैं। इसलिए वे इन रहस्यमय समझे जानेवाले देशों के मामलों को सीधा नहीं देख सकते। वे एक पूरब के पुरुष को, जो सीधा-सादा और रहस्य से खाली है, समझने की कभी कोशिश ही नहीं करते। वे उससे एक दूरी पर ही रहते हैं, उसके बारे में जो-कुछ ख़याल बनाते हैं, वे भेदिया और खुफ़िया पुलिस के द्वारा मिली भली-बुरी ख़बरों के आधार पर बनाते हैं, और फिर उसके सम्बन्ध में अपनी कल्पना की उड़ान को खुला छोड़ देते हैं। अप्रैल १९१९ के शुरू में पंजाब में ऐसा ही हुआ था। अधिकारियों में और आमतौर पर अंग्रेज़ लोगों में एकाएक दहशत फैल गई। उन्हें हर जगह ख़तरा-ही-ख़तरा, एक बग़ावत, एक दूसरा ग़दर जिसमें भयानक मारकाट होगी, दिखाई देने लगा और हर सूरत में आंखें मूंदकर आत्म-रक्षा की सहज वृत्ति ने उनसे वे-वे भयंकर कांड करा डाले, जिनके अमृतसर का जलियांवाला-बाग और रेंगनेवाली गली, ये प्रतीक और दूसरे नाम हो गये।

१९२१ का साल बड़ी तनातनी का साल था, और उसमें बहुत-सी ऐसी बातें हुईं जिनसे हाकिमों को चिढ़ने, बिगड़ने और घबराने या डर जाने की गुंजाइश थी। दरअसल जो कुछ हो रहा था वह तो बुरा था ही, परन्तु जो-कुछ ख़याल कर लिया गया वह उससे भी बुरा था। मुझे एक घटना याद है, जिससे इस कल्पना

की घुड़दौड़ का नमूना मिल जाएगा। मेरी बहन स्वरूप की शादी इलाहाबाद में १० मई १९२१ को होनेवाली थी। देशी तिथि के हिसाब से पंचांग में शुभ दिन देखकर यह तारीख़ मुक़र्रर की गई थी। गांधीजी तथा दूसरे कांग्रेसियों को, जिनमें अली-बन्धु भी थे, निमन्त्रण दिया गया था, और उनकी सुविधा का ख़याल करके उसी समय के आस-पास कार्य-समिति की भी बैठक इलाहाबाद में रख ली गई थी। स्थानिक कांग्रेसी चाहते थे कि बाहर से आये हुए नामी-नामी नेताओं की मौजूदगी से फ़ायदा उठाया जाय और इसलिए उन्होंने बड़े पैमाने पर एक जिला-कान्फ्रेंस का आयोजन किया। उन्हें उम्मीद थी कि आस-पास के देहात के किसान लोग बहुत बड़ी तादाद में आ जायंगे।

इन राजनैतिक सभाओं की बदौलत इलाहाबाद में ख़ूब चहल-पहल और जोश छाया हुआ था। इससे कुछ लोगों के दिलों में अजीब घबड़ाहट छा गई। एक रोज़ एक बैरिस्टर दोस्त से मैंने सुना कि इस आयोजन से कितने ही अंग्रेज़ों के होश ठिकाने न रहे और उन्हें डर हो गया कि शहर में एकाएक कोई बवंडर खड़ा हो जानेवाला है। हिन्दुस्तानी नौकरों पर से उनका विश्वास हट गया और वे अपनी जेबों में पिस्तौल रखने लगे। ख़ानगी में यहांतक कहा गया कि इलाहाबाद का क़िला इस बात के लिए तैयार रखा गया था कि ज़रूरत पड़ने पर तमाम अंग्रेज़ों को पनाह के लिए वहां भेज दिया जाय। मुझे यह सुनकर बड़ा ताज्जुब हुआ और इस बात को समझ न सका कि कोई क्यों इलाहाबाद जैसे सोये हुए और शान्तिमय शहर में ऐसे किसी बवंडर का अन्देशा रक्खे, ख़ासकर उस समय जब कि ख़ुद अहिंसा का दूत ही वहां आ रहा हो। अरे! यहांतक कहा गया कि १० मई, (और इत्तिफ़ाक से यही तारीख मेरी बहन की शादी की नियत हुई थी) १८५७ को मेरठ में जो ग़दर शुरू हुआ था उसीका सालाना जलसा करने की ये तैयारियां हो रही हैं।

१९२१ में ख़िलाफ़त-आन्दोलन को बहुत प्रधानता दी गई थी, इससे कितने ही मौलवी और मुसलमानों के मज़हबी नेताओं ने इस राजनैतिक लड़ाई में बड़ा हाथ बंटाया था। उन्होंने इस हलचल पर एक निश्चित मज़हबी रंग चढ़ा दिया था और मुसलमान लोग आमतौर पर उससे बहुत प्रभावित हुए थे। बहुत-से पश्चिमी रंग में रंगे हुए मुसलमान भी, जिनका कोई ख़ास झुकाव मज़हब की तरफ़ नहीं था, दाढ़ी रखने तथा शरीयत के दूसरे फ़रमानों की पाबन्दी करने लगे थे।

बढ़ते हुए पश्चिमी असर के और नये ख़याலात के सबब से मौलवियों का जो असर और रोब घटता जा रहा था, वह फिर बढ़ने और मुसलमानों पर अपनी धाक जमाने लगा। अली-भाइयों ने भी, जो ख़ुद भी मज़हबी तबीयत के आदमी थे, और इसी तरह गांधीजी ने भी, जो मौलवी और मौलानाओं की बहुत ही इज़्ज़त किया करते थे, इस सिलसिले को और ताक़त दी।

इसमें कोई शक नहीं कि गांधीजी बराबर आन्दोलन के धार्मिक और आध्यात्मिक पहलू पर ज़ोर दिया करते थे। उनका धर्म रूढ़ियों से जकड़ा हुआ न था, परन्तु उसकी यह मंशा ज़रूर थी कि जीवन को देखने की दृष्टि धार्मिक हो और इसलिए सारे आन्दोलन पर उसका बहुत प्रभाव पड़ा था तथा जहांतक जनता से ताल्लुक़ है, वह उसे एक पुनरुद्धार का आन्दोलन मालूम होता था। कांग्रेस के बहुसंख्यक कार्यकर्त्ता स्वभावतः अपने नेता का अनुकरण करने लगे और कितने ही तो उनकी शब्दावली भी दुहराने लगे। फिर भी कार्य-समिति में गांधीजी के मुख्य-मुख्य साथी थे—मेरे पिताजी, देशबन्धु दास, लाला लाजपत राय और दूसरे लोग—जो साधारण अर्थ में धार्मिक पुरुष न थे और राजनैतिक मसलों को राजनैतिक कक्षा में ही रखकर विचार करते थे। अपने व्याख्यानों और वक्तव्यों में वे धर्म को नहीं लाया करते थे। मगर वे जो कुछ कहते थे उससे उनके प्रत्यक्ष उदाहरण का अधिक प्रभाव पड़ता था—क्योंकि उन्होंने वह सब बहुत-कुछ छोड़ दिया, जिसको दुनिया मूल्यवान समझती है, और पहले से अधिक सादी रहन-सहन ग्रहण कर ली। त्याग स्वयं ही धर्म का एक चिह्न समझा जाता है और इसने भी पुनरुद्धार के वायु-मण्डल को फैलाने में मदद की।

राजनीति में, क्या हिन्दू और क्या मुसलमान, दोनों तरफ़ धार्मिकता की इस बढ़ती से कभी-कभी मुझे परेशानी होती थी। मुझे वह बिल्कुल पसन्द न थी। मौलवी, मौलाना और स्वामी तथा ऐसे ही दूसरे लोग जो-कुछ अपने भाषणों में कहते उसका अधिकांश मुझे बहुत बुराई पैदा करनेवाला मालूम होता था। उनका सारा इतिहास, सारा समाज-शास्त्र और अर्थशास्त्र मुझे गलत दिखाई देता था और हर चीज़ को जो मज़हबी झुकाव दिया जाता था, उससे स्पष्ट विचार करना रुक जाता था। कुछ-कुछ तो गांधीजी के भी शब्द-प्रयोग मेरे कानों को खटकते थे—जैसे 'रामराज्य', जिसे वह फिर लाना चाहते हैं। लेकिन उस समय मुझमें दख़ल देने की शक्ति न थी, और मैं इसी ख़याल से

तसल्ली कर लिया करता था कि गांधीजी ने उनका प्रयोग इसलिए किया है कि इन शब्दों को सब लोग जानते हैं और जनता इन्हें समझ लेती है। उनमें जनता के हृदयतक पहुंच जाने की विलक्षण स्वभाव-सिद्ध कला है।

लेकिन मैं इन बातों की झंझट में ज्यादा नहीं पड़ता था। मेरे पास काम इतना ज़्यादा था और हमारे आन्दोलन की प्रगति इस तेज़ी से हो रही थी कि ऐसी छोटी-छोटी बातों की परवा करने की ज़रूरत न थी, क्योंकि उस समय मैं उन्हें वैसा ही नगण्य समझता था। किसी बड़े आन्दोलन में हर क़िस्म के लोग रहते हैं, और जबतक हमारी असली दिशा सही है, कुछ भंवरों और चक्करों से कुछ बिगड़ नहीं सकता। और खुद गांधीजी को लें, तो वह ऐसे शख्स थे जिन्हें समझना बहुत मुश्किल था। कभी-कभी तो उनकी भाषा औसत दरजे के आधुनिक आदमी की समझ में प्रायः नहीं आती थी। लेकिन हम यह मानते थे कि हम उन्हें इतना ज़रूर अच्छी तरह समझ गये हैं कि वह एक महान् और अद्वितीय पुरुष और तेजस्वी नेता हैं और इसलिए हमारी उनपर श्रद्धा थी, और हमने उन्हें अपनी ओर से सब-कुछ करने का अधिकार दे दिया था। अक्सर हम आपस में उनकी ख़ब्तों और विचित्रताओं की चर्चा किया करते थे और कुछ-कुछ दिल्लगी में कहा करते थे कि जब स्वराज्य आ जायगा, तब इन ख़ब्तों को इस तरह आगे न चलने देंगे।

इतना होने पर भी हममें से बहुत-से लोग राजनैतिक तथा दूसरे मामलों में उनके इतने प्रभाव में थे कि धर्म-क्षेत्र में भी बिलकुल आज़ाद बने रहना असम्भव था। जहां सीधे हमले से कामयाबी की उम्मीद न थी, वहां जरा चक्कर खाकर जाने से बहुत हदतक प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सका। धर्म के बाहरी आचार कभी मेरे दिल में जगह न कर पाये, और सबसे बड़ी बात तो यह कि मुझे इन धार्मिक कहलानेवाले लोगों के द्वारा जनता का चूसा जाना बहुत नापसन्द था; मगर फिर भी मैंने धर्म के प्रति नरमी अख्तियार कर ली थी। अपने ठेठ बचपन से लेकर किसी भी समय की बनिस्बत १९२१ में मेरा मानसिक झुकाव धर्म की तरफ़ ज्यादा हुआ था। लेकिन तब भी मैं उसके बहुत नज़दीक नहीं पहुंचा था।

मैं जिस बात का आदर करता था वह था हमारे आन्दोलन तथा सत्याग्रह का नैतिक और सदाचार-सम्बन्धी पहलू। मैंने अहिंसा के सिद्धान्त को सोलहों आने नहीं मान लिया था, या हमेशा के लिए नहीं अपना लिया था; लेकिन हां,

वह मुझे अपनी तरफ अधिकाधिक खींचता चला जाता था और यह विश्वास मेरे दिल में पक्का बैठता जाता था कि हिन्दुस्तान की जैसी परिस्थिति बन गई है, हमारी जैसी परम्परा और जैसे संस्कार हैं उन्हें देखते हुए यही हमारे लिए सही नीति है। राजनीति को आध्यात्मिकता के—संकीर्ण धार्मिक मानी में नहीं—सांचे में ढालना मुझे एक उम्दा ख़याल मालूम हुआ। निस्सन्देह एक उच्च ध्येय को पाने के लिए साधन भी वैसे ही उच्च होने चाहिए—यह एक अच्छा नीति-सिद्धान्त ही नहीं, बल्कि निर्भ्रान्त व्यावहारिक राजनीति भी थी; क्योंकि जो साधन अच्छे नहीं होते, वे अक्सर हमारे उद्देश्य को ही विफल बना देते हैं और नई समस्याएं और नई दिक्कतें पैदा कर देते हैं। और ऐसी दशा में, एक व्यक्ति या एक क़ौम के लिए, ऐसे साधनों के सामने सिर झुकाना—दलदल में से गुज़रना—कितना बुरा, कितना स्वाभिमान को गिरानेवाला मालूम होता था ! उससे अपने को कलुषित किये बिना कोई कैसे बच सकता था ? अगर हम सिर झुकाते हैं, या पेट के बल रेंगते है, तो कैसे हम अपने गौरव को कायम रखते हुए तेज़ी के साथ आगे बढ़ सकते है ?

उस समय मेरे विचार ऐसे थे। और असहयोग-आन्दोलन ने मुझे वह चीज़ दी, जो मैं चाहता था—क़ौमी आज़ादी का ध्येय और (जैसा मैंने समझा) निचले दरजे के लोगों के शोषण का अन्त कर देना, और ऐसे साधन जो मेरे नैतिक भावों के अनुकूल थे और जिन्होंने मुझे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का भान कराया। यह व्यक्तिगत सन्तोष मुझे इतना ज़्यादा मिला कि नाकामयाबी के अंदेशे की भी मै ज़्यादा परवा न करता था, क्योंकि ऐसी असफलता तो थोड़े समय के लिए ही हो सकती थी। भगवद्गीता के आध्यात्मिक भाग को मैंने न तो समझा था और न उसकी तरफ़ मेरा खिचाव ही हुआ था; लेकिन हां, उन श्लोकों को पढ़ना पसन्द करता था, जो शाम को गांधीजी के आश्रम में प्रार्थना के समय पढ़े जाते थे, और जिनमें यह बतलाया गया है कि मनुष्य को कैसा होना चाहिए : शान्त, स्थिर, गम्भीर, अचल, निष्काम भाव से कर्म करनेवाला और फल के विषय में अनासक्त। मैं खुद बहुत शान्त स्वभाव का या अनासक्त नहीं हूं, इसीलिए शायद यह आदर्श मुझे अच्छा लगा होगा।

: ११ :

पहली जेल-यात्रा

१९२१ का साल हमारे लिए एक असाधारण वर्ष था। राष्ट्रीयता और राजनीति और धर्म, भावुकता और धर्मान्धिता का एक अजीब मिश्रण हो गया था। इस सबकी तह में किसानों की अशान्ति और बड़े शहरों का बढ़ता हुआ मज़दूर-वर्गीय आन्दोलन था। राष्ट्रीयता और अस्पष्ट किन्तु देशव्यापी ज़बरदस्त आदर्शवाद ने इन सब भिन्न-भिन्न और कभी-कभी परस्पर-विरोधी असन्तोषों को मिला देने का प्रयत्न किया, और इसमें बड़ी हदतक कामयाबी भी मिली। परन्तु इस राष्ट्रीयता को कई शक्तियों से बल मिला था। उसकी तह में थी हिन्दू राष्ट्रीयता, मुस्लिम राष्ट्रीयता, जिसका ध्यान कुछ-कुछ हिन्दुस्तान की सीमा के बाहर भी खिंचा हुआ था, और हिन्दुस्तानी राष्ट्रीयता, जो युग की भावना के अधिक अनुकूल थी। उस समय ये सब एक-दूसरे में मिल-जुलकर साथ-साथ चलने लगी थीं। हर जगह 'हिन्दू-मुसलमान की जय' थी। यह देखने लायक़ बात थी कि किस तरह गांधीजी ने सब वर्गों और सब गिरोह के लोगों पर जादू-सा डाल दिया था, और उन सबको एक दिशा में चलनेवाला एक पंचरंगी दल बना लिया था। वास्तव में वह 'लोगों की धुंधली अभिलाषाओं के एक मूर्त्त रूप' (जो वाक्य एक दूसरे ही नेता के विषय में कहा गया है) बन गये थे।

इससे भी ज़्यादा निराली बात यह थी कि सब अभिलाषाएं और उमंगें उन विदेशी हाकिमों के प्रति घृणा-भाव से कहीं मुक्त थीं, जिनके ख़िलाफ़ वे इस्तेमाल हो रही थीं। राष्ट्रीयता मूल में ही एक विरोधरूपी भाव है, और यह दूसरे राष्ट्रीय समुदायों के, ख़ासकर किसी शासित देश के विरोधी शासकों के ख़िलाफ़ घृणा और क्रोध के भावों पर जीता और पनपता है। १९२१ में हिन्दुस्तान में ब्रिटिश लोगों के ख़िलाफ़ घृणा और क्रोध जरूर था, मगर इसी हालतवाले दूसरे मुल्क़ों के मुक़ाबले यह बहुत ही कम था। इसमें शक नहीं कि यह बात गांधीजी के अहिंसा के सिद्धांत पर जोर देते रहने के कारण ही हुई थी। इसका यह

भी कारण था कि सारे देश में आन्दोलन चालू होने के साथ ही यह भावना आ गई थी कि हमारे बन्धन टूट रहे हैं, हमारा बल बढ़ रहा है और निकट-भविष्य में कामयाब हो जाने का व्यापक विश्वास पैदा हो गया था। जब हमारा काम अच्छी तरह चल रहा हो और जब हम जल्दी ही सफल हो जानेवाले हों तो नाराज़ होने और नफ़रत करने से फ़ायदा ही क्या है ? हमें लगा कि उदार बनने में हमारा कुछ बिगाड़ नहीं।

मगर हमारे अपने ही कुछ देशवासियों के प्रति, जो हमारे खिलाफ़ हो गये थे और राष्ट्रीय आन्दोलन का विरोध करते थे, हम अपने दिलों में इतने उदार नहीं थे; हालांकि जो-जो काम हम करते थे और ख़ूब आगा-पीछा सोचकर करते थे। उनके प्रति घृणा या क्रोध का तो कोई सवाल ही न था, क्योंकि उनकी कोई वक़त नहीं थी, और हम उनकी उपेक्षा कर सकते थे। मगर हमारे दिल की गहराई में उनकी कमज़ोरी, अवसरवादिता तथा उनके द्वारा राष्ट्रीय सम्मान और स्वाभिमान के गिरा दिये जाने के कारण घृणा भरी हुई थी।

इस तरह हम चलते रहे—अस्पष्टता से, किन्तु उत्कटता के साथ, और हम अपने कार्य में सुध-बुध भूले हुए थे। मगर लक्ष्य के बारे में स्पष्ट विचार का बिल्कुल अभाव था। अब तो इस बात पर ताज्जुब ही होता है कि हमने सैद्धान्तिक पहलुओं को, अपने आन्दोलन के बुनियादी उसूलों को और जिस निश्चित चीज़ को हमें प्राप्त करना है उसे, किस बुरी तरह से भुला दिया था। बेशक, हम स्वराज के बारे में बहुत बढ़-बढ़कर बातें करते थे, मगर शायद हर व्यक्ति जैसा चाहता वैसा ही उसका मतलब निकाला करता था। ज़्यादातर नवयुवकों के लिए तो इसका मतलब था राजनैतिक आज़ादी या ऐसी ही कोई चीज़ और लोकतन्त्री ढंग की शासन-प्रणाली; और यही बातें हम अपने सार्वजनिक भाषणों में कहा करते थे। बहुत लोगों ने यह भी सोचा था कि इससे लाज़िमी तौर पर मज़दूरों और किसानों के बोझे, जिनके तले वे कुचले जा रहे हैं, हलके हो जायंगे। मगर यह ज़ाहिर था कि हमारे ज़्यादातर नेताओं के दिमाग़ में स्वराज का मतलब आज़ादी से बहुत छोटी चीज़ थी। गांधीजी इस विषय पर एक अजीब तौर पर अस्पष्ट रहते थे और इस बारे में साफ़ विचार कर लेनेवालों को वह बढ़ावा नहीं देते थे। मगर हां, हमेशा अस्पष्टता से ही किन्तु निश्चित रूप से, पददलित लोगों को लक्ष्य करके वह बोला करते थे, और इससे हम कइयों

को बड़ी तसल्ली होती थी, हालांकि उसी के साथ वह ऊंची श्रेणीवालों को भी कई प्रकार के आश्वासन दे डालते थे। गांधीजी का ज़ोर किसी सवाल को बुद्धि से समझने पर कभी नहीं होता था, बल्कि चरित्रबल और पवित्रता पर रहता था; और उन्हें हिन्दुस्तान के लोगों को दृढ़ता और चरित्रबल देने में आश्चर्यजनक सफलता मिली भी। फिर भी ऐसे बहुत-से लोग थे, जिनमें न अधिक दृढ़ता बढ़ी, न चरित्रबल बढ़ा, मगर जो समझ बैठे थे कि ढीला-ढाला शरीर और कुम्हलाया हुआ चेहरा ही पवित्रता की प्रतिमूर्ति है।

जनता की यह असाधारण चुस्ती और मज़बूती ही हममें विश्वास भर देती थी। हिम्मत हारे, पिछड़े और दबे हुए लोग अचानक अपनी कमर सीधी और सिर ऊंचा करके चलने लगे और एक देशव्यापी, सुनियन्त्रित और सम्मिलित उपाय में जुट पड़े। हमने समझा कि इस उपाय से ही जनता को अदम्य शक्ति मिल जायगी। मगर उपाय के साथ उसके मूल में रहने वाले विचार की आवश्यकता का खयाल हमने छोड़ दिया। हमने भुला दिया कि एक निश्चित विचार-प्रणाली और उद्देश्य के बिना जनता की शक्ति और उत्साह बहुत-कुछ धुंधुआकर रह जायगी। किसी हदतक हमारे आन्दोलन में धर्म-जाग्रति के बल ने हमें आगे बढ़ाया। और यह भावना थी कि राजनैतिक या आर्थिक आन्दोलनों के लिए या अन्यायों को दूर करने के लिए अहिंसा का प्रयोग करना एक नया ही सन्देश है, जो हमारा राष्ट्र संसार को देगा। सभी जातियां और सभी राष्ट्रों में जो यह विचित्र मिथ्या विश्वास फैल जाता है कि हमारी ही जाति एक विशेष प्रकार से संसार में सबसे ऊंची है, उसीमें हम फंस गये थे। अहिंसा, युद्ध या सब प्रकार की हिंसात्मक लड़ाइयों में, शस्त्रास्त्रों के बजाय एक नैतिक शस्त्र का काम दे सकती है। यह एक कोरा नैतिक उपाय ही नहीं, बल्कि रामबाण भी है। मेरे खयाल से, शायद ही कोई गांधीजी के मशीन और वर्तमान सभ्यता-विषयक पुराने विचारों से सहमत था। हम समझते थे कि खुद वह भी अपने विचारों को कल्पना-सृष्टि या मनोराज्य, और वर्तमान परिस्थितियों में ज़्यादातर अव्यवहार्य, समझते होंगे। निश्चय ही, हममें से ज़्यादातर लोग तो आधुनिक सभ्यता की नियामतों को त्यागने को तैयार न थे, हालांकि हमें चाहे यह महसूस हो कि हिन्दुस्तान की परिस्थिति के मुताबिक़ उनमें कुछ परिवर्तन कर देना ठीक होगा। खुद में तो बड़ी मशीनरी और तेज़ सफ़र को हमेशा पसन्द करता रहा हूं। फिर

भी इसमें सन्देह नहीं हो सकता कि गांधीजी के आदर्श का बहुत लोगों पर असर पड़ा और वह मशीनों और उनके सब परिणामों को तोलने-जोखने लगे । इस तरह, कुछ लोग तो भविष्यकाल की तरफ़ देखने लगे और दूसरे कुछ भूतकाल की तरफ़ निगाह डालने लगे । और कुतूहल की बात यह है कि दोनों ही तरह के लोगों ने सोचा कि हम जिस सम्मिलित उपाय में लगे हुए हैं वह मिलकर करने योग्य है, और इसी भावना की बदौलत ख़ुशी-ख़ुशी बलिदान करना और आत्म-त्याग के लिए तैयार होना आसान हो गया ।

मैं आन्दोलन में दिलो-जान से जुट पड़ा और दूसरे बहुत-से लोगों ने भी ऐसा किया । मैंने अपने दूसरे कामकाज और सम्बन्ध, पुराने मित्र, पुस्तकें और अख़बार तक, सिवा उस हदतक कि जितना उनका चालू काम से ताल्लुक़ था, सब छोड़ दिये । उस समय तक मेरा प्रचलित किताबों का कुछ-कुछ पढ़ना जारी था और संसार मे क्या-क्या घटनाएं घटती जाती है इसको जानने की कोशिश करता था । मगर अब तो इसके लिए वक़्त ही नहीं था । हालांकि पारिवारिक मोह ज़बरदस्त था, मगर मैं अपने परिवार, अपनी पत्नी, अपनी बेटी, सबको क़रीब-क़रीब भूल ही गया था । बहुत अरसे के बाद मुझे मालूम हुआ कि उन दिनों मैं उनकी कितनी कठिनाइयों और कितने कष्टों का कारण बन गया था, और मेरी पत्नी ने मेरे प्रति कितने विलक्षण धीरज और सहनशीलता का परिचय दिया था । दफ़्तर और कमिटी की मीटिंगें और लोगों की भीड़ ही मानो मेरा घर बन गया था । "गांवों में जाओ" यही सबकी आवाज़ थी, और हम कोसों खेतों में चलकर जाते, दूर-दूर के गांवों में पहुचते थे, और किसानों की सभाओं में भाषण देते थे । मैं रोम-रोम में जनता की सामूहिक भावना का और जनता को प्रभावित करने की शक्ति का अनुभव करता था । मैं कुछ-कुछ भीड़ की मनोभावना, व शहर की जनता और किसानों के फर्क को समझने लगा, और मुझे धूल और तकलीफ़ों और बड़े-बड़े मजमों के धक्कम-धक्कों में मज़ा आने लगा, हालांकि उनमें अनुशासन के न होने से मैं अक्सर चिढ़ जाता था । उसके बाद तो कभी-कभी मुझे विरोधी और क्रुद्ध जन-समूहों के सामने भी जाना पड़ा है, जिनकी उग्रता इतनी बढ़ी हुई होती थी कि एक चिनगारी भी उन्हें भड़का सकती थी, पर शुरू के तजुरबे से और उससे उत्पन्न आत्म-विश्वास से मुझे बड़ी मदद मिली। मैं हमेशा विश्वास के साथ सीधा भीड़ में घुस जाता। अभी तक तो उसने मेरे प्रति

सद्व्यवहार और गुण-ग्राहकता का ही परिचय दिया ह, चाहे हममें मतभेद भले ही रहा हो। मगर भीड़ की गति के सम्बन्ध में कुछ कह नहीं सकते, सम्भव है भविष्य में मुझे कुछ और ही अनुभव मिलें।

मैं भीड़ को अपना समझता था और भीड़ मुझे अपना लेती थी, मगर उनमें मैं अपने-आपको भुला नही देता था। मैं अपनेको उससे हमेशा अलग ही समझता रहा। मैं अपनी अलग मानसिक स्थिति से उन्हें समीक्षक दृष्टि से देखता था, और मुझे ताज्जुब होता था कि मैं अपने आस-पास जमा होनेवाले इन हज़ारों आदमियों से हर बात में, अपनी आदतों में, इच्छाओं में, मानसिक और आध्यात्मिक दृष्टिकोण में बहुत भिन्न होते हुए भी, इन लोगों की सदिच्छा और विश्वास कैसे हासिल कर सका? क्या इसका सबब यह तो नहीं था कि इन लोगों ने मुझे मेरे मूल स्वरूप से कुछ जुदा समझ लिया? जब वे मुझे ज्यादा पहचानने लगेंगे तब भी क्या वे मुझे चाहेंगे? क्या मैं लम्बी-चौड़ी बातें बना-बनाकर उनकी सदिच्छा प्राप्त कर रहा हूं? मैंने उनके सामने सच्ची और खरी बातें कहने की कोशिश की, कभी-कभी मैंने उनसे सख़्ती से बातचीत की और उनके कई प्रिय विश्वासों और रीतियों की नुक्ताचीनी की, फिर भी वे मेरी इन सब बातों को बरदाश्त कर लेते थे। मगर मेरा यह विचार न हटा कि उनका मुझपर प्रेम, मैं जैसा कुछ हूं उसके लिए नहीं, बल्कि मेरी बाबत उन्होंने जो-कुछ सुन्दर कल्पना कर ली थी उसके कारण था। यह झूठी कल्पना कितने समय तक टिकी रह सकेगी? और वह टिकी रहने भी क्यों दी जाय? जब उनकी यह कल्पना झूठी निकलेगी और उन्हें असलियत मालूम होगी, तब क्या होगा?

मुझमें तो कई तरह का अभिमान है, मगर भीड़ के इन भोले-भाले लोगों में तो ऐसे किसी अभिमान का कोई सवाल ही नहीं हो सकता। उनमें कोई दिखावा न था, और न कोई आडम्बर ही था, जैसा कि मध्यम वर्ग के कई लोगों में, जो अपनेको उनसे अच्छा समझते हैं, होता है। हां, वे जड़ बेशक थे और व्यक्तिगत रूप से ऐसे न थे कि उनमें कोई दिलचस्पी ले; मगर समुदाय-रूप में उनको देखकर तो असीम करुणा और दुःख का भाव पैदा होता था।

मगर हमारी कान्फ़्रेंसों में, जहां हमारे चुने हुए कार्यकर्त्ता, (जिनमें मैं भी शामिल था) मंच पर व्याख्यानबाज़ी करते थे, कुछ दूसरा दृश्य था। वहां काफ़ी दिखावा होता था, और हमारे धुंआंधार भाषणों में आडम्बर की कोई कमी न

थी। हममें से सभी थोड़े-बहुत इस मामले में क़सूरवार रहे होंगे, मगर ख़िलाफ़त के कई छोटे नेता तो इसमें सबसे ज़्यादा बढ़े हुए थे। बहुत लोगों की भीड़ के सामने मंच पर खड़े होकर स्वाभाविक बरताव रखना आसान नहीं है; और इस तरह लोगों में प्रसिद्धि का हममें से बहुत थोड़े लोगों को तजुरबा था। इसलिए हम लोग, अपने ख़याल के मुताबिक नेताओं को जैसा होना चाहिए उसी तरह, अपने-आपको विचारपूर्ण, गम्भीर और स्थिर दिखाने की कोशिश करते थे। जब हम चलते, या बात करते या हँसते, तो हमें यह ख़याल रहता था कि हज़ारों आंखें हमें घूर रही हैं और यह ध्यान में रखते हुए हम सब-कुछ करते थे। हमारे भाषण अक्सर बड़े ओजस्वी होते थे, मगर अक्सर वे निरुद्देश्य भी होते थे। दूसरे लोग हमको जैसा देखते हैं उसी तरह अपने-आपको देखना मुश्किल ही है। इसलिए जब मैं स्वयं अपनी टीका-टिप्पणी न कर सका, तो मैंने दूसरों के आचार-व्यवहार पर ग़ौर करना शुरू किया, और इस काम में मुझे खूब मज़ा आया। और फिर यह विचार भी आता था कि शायद मैं भी दूसरों को इतना ही वाहियात दिखाई देता होऊंगा।

१९२१ भर कांग्रेस-कार्यकर्त्ताओं की व्यक्तिगत गिरफ़्तारियां और सज़ाएं होती रहीं, मगर सामूहिक गिरफ़्तारियां नहीं हुई। अली-बन्धुओं को हिन्दुस्तानी फ़ौज में असन्तोष पैदा करने के लिए लम्बी-लम्बी सज़ाएं दी गई थी। जिन शब्दों के लिए उन्हें सजा मिली थी, उसको सैकड़ों मंचों से हज़ारों आदमियों ने दोहराया। अपने कुछ भाषणों के कारण राजद्रोह का मुक़दमा चलाये जाने की धमकी मुझे गरमियों में दी गई थी। मगर उस वक़्त ऐसी कोई कार्रवाई नहीं की गई। साल के अख़ीर में मामला बहुत अधिक बढ गया। युवराज हिन्दुस्तान आनेवाले थे, और उनकी आमद के मुतल्लिक़ की जानेवाली तमाम कार्रवाइयों का बहिष्कार करने की घोषणा कांग्रेस ने कर दी थी। नवम्बर के अख़ीर तक बंगाल में कांग्रेस के स्वयंसेवक ग़ैरक़ानूनी करार दे दिये गए, और फिर युक्तप्रान्त के लिए भी ऐसी ही घोषणा निकल गई। देशबन्धु दास ने बंगाल को एक बड़ा जोशीला सन्देश दिया—"मैं अनुभव करता हूं कि मेरे हाथों में हथकड़ियां पड़ी हुई हैं और मेरा सारा शरीर लोहे की वज़नी जंजीरों से जकड़ा हुआ है। यह है ग़ुलामी की वेदना और यन्त्रणा। सारा हिन्दुस्तान एक बड़ा जेलखाना हो गया है! कांग्रेस का काम हर हालत में जारी रहना चाहिए—इसको परवा

नहीं कि मैं पकड़ लिया जाऊं या न पकड़ा जाऊं; इसकी परवा नहीं कि मैं मर जाऊं या जिन्दा रहूं ।" यू० पी० में भी हमने सरकार की चुनौती स्वीकार कर ली । हमने न सिर्फ़ यही ऐलान किया कि हमारा स्वयंसेवक-संगठन क़ायम रहेगा, बल्कि दैनिक पत्रों में अपने स्वयंसेवकों की नामावलियां भी छपवा दीं । पहली फ़ेहरिस्त मे सबसे ऊपर मेरे पिताजी का नाम था । वह स्वयंसेवक तो नही थे; मगर सिर्फ सरकारी आज्ञा का उल्लंघन करने के लिए ही वह शामिल हो गये थे और उन्होंने अपना नाम दे दिया था । दिसम्बर के शुरू में ही, हमारे प्रान्त में युवराज के आने के कुछ ही दिन पहले, सामूहिक गिरफ़्तारियां शुरू हुई ।

हमने जान लिया कि आखिर अब पांसा पड़ चुका है और कांग्रेस और सरकार का अनिवार्य संघर्ष अब होने ही वाला है । अभीतक जेल एक अपरिचित जगह थी और वहां जाना एक नई बात थी । एक दिन मै इलाहाबाद के कांग्रेस-दफ़्तर में ज़रा देर तक बक़ाया काम निपटा रहा था । इतने ही में एक क्लर्क ज़रा उत्तेजित होता हुआ आया और उसने कहा कि पुलिस तलाशी का वारण्ट लेकर आई है और दफ्तर की इमारत को घेर रही है । निःसन्देह मै भी थोड़ा उत्तेजित तो हो गया, क्योंकि मेरे लिए भी इस तरह की यह पहली ही बात थी, मगर दृढ़, शान्त और निश्चिन्त प्रतीत होने तथा पुलिम के आने और जाने से प्रभावित न होने की ख्वाहिश ज़ोरदार थी । इसलिए मैंने एक क्लर्क से कहा कि जब पुलिस-अफ़सर दफ़्तर के कमरों में तलाशी ले तो तुम उसके साथ-साथ रहो, और बाकी कर्मचारियों से अपना-अपना काम सदा की तरह करने और पुलिस की तरफ़ ध्यान न देने के लिए कहा । कुछ देर के बाद एक मित्र व साथी कार्यकर्त्ता, जो दफ़्तर के बाहर ही गिरफ़्तार कर लिये गए थे, एक पुलिसमैन के साथ, मेरे पास मुझसे विदा लेने आये । मुझे इन नई घटनाओं को मामूली घटनाएं समझना चाहिए, यह अभिमान मुझमें इतना भर गया था कि मैं अपने साथी कार्यकर्त्ता के साथ बिल्कुल रुखाई से पेश आया । उनसे और पुलिसमैन से मैंने कहा कि मै जबतक अपनी चिट्ठी पूरी न कर लूं, तबतक ज़रा ठहरे रहें । जल्दी ही शहर में और भी लोगों के गिरफ़्तार होने की ख़बर आई । आख़िरकार मैंने यह तय किया कि मै घर जाऊं और देखूं कि वहां क्या हो रहा है । वहां भी पुलिस के दर्शन हुए । वह हमारे उस लम्बे-चौड़े घर के एक हिस्से की तलाशी ले रही थी और मालूम हुआ कि पिताजी और मुझे दोनों को गिरफ्तार करने आई है ।

युवराज के आगमन के बहिष्कार-सम्बन्धी कार्यक्रम के लिए हमारा और कोई कार्य इतना उपयुक्त न होता। युवराज जहां-जहां गये, वहां-वहां उन्हें हड़तालें और सूनी सड़कें ही मिली। जब वह इलाहाबाद आये, तो वह एक सुनसान शहर मालूम पड़ा। कुछ दिनों बाद कलकत्ता ने भी कुछ समय के लिए अचानक अपना सारा कारोबार बन्द कर दिया। युवराज के लिए यह सब एक मुसीबत थी। मगर उनका कोई क़ुसूर न था, और न उनके ख़िलाफ़ कोई दुर्भावना थी। हां, हिन्दुस्तान की सरकार ने अलबत्ता अपनी गिरती हुई प्रतिष्ठा को बनाये रखने के लिए उनके व्यक्तित्व का बेजा फ़ायदा उठाने की कोशिश की थी।

इसके बाद तो ख़ासकर युक्तप्रान्त और बंगाल मे गिरफ़्तारियों और सज़ाओं की धूम मच गई। इन प्रान्तो में सभी खास-खास कांग्रेसी नेता और काम करनेवाले पकड़ लिये गए, और मामूली स्वयंसेवक तो हज़ारों की तादाद में जेल गये। शुरू-शुरू में ज़्यादातर शहर के ही लोग थे, और जेल जाने के लिए स्वयं-सेवकों की तादाद मानो ख़त्म ही न होती थी। युक्तप्रान्तीय कांग्रेस कमेटी के लोग (सब-के-सब ५५ व्यक्ति), जब वे कमेटी की एक मीटिंग कर रहे थे, एक साथ गिरफ़्तार कर लिये गए। कई ऐसे लोगों को भी, जिन्होंने अभी तक कांग्रेस या राजनैतिक हलचल मे कोई हिस्सा नही लिया था, जोश चढ़ आया और वे गिरफ़्तार होने की ज़िद करने लगे। ऐसी भी मिसालें हुई कि कुछ सरकारी क्लर्क, जो शाम को दफ़्तर से लौट रहे थे, इसी जोश में बह गये, और घर के बजाय जेल में जा पहुंचे। नवयुवक और बच्चे पुलिस की लारियों के भीतर घुस जाते थे और बाहर निकलने से इन्कार कर देते थे। हम जेल के अन्दर से हर शाम को अपने परिचित नारे और आवाज़ें सुनते थे, जिनसे हमें पता लगता था कि पुलिस की लारियों-पर-लारियां चली आ रही हैं। जेलें भर गई थीं, और जेल-अफ़सर इस असाधारण बात से परेशान हो गये थे। कभी-कभी ऐसा भी होता था कि लारी के साथ जो वारण्ट आता था उसमें सिर्फ लाये जानेवालों की तादाद ही लिखी रहती थी, नाम नही लिखे होते थे या न लिखे जा सकते थे। और वास्तव में लिखी तादाद से भी ज़्यादा व्यक्ति लारी में से निकलते थे, तब जेल-अधिकारी यह नहीं समझ पाते थे कि इस अजीब परिस्थिति में क्या करना चाहिए। जेल-मैन्युअल में इसकी बाबत कोई हिदायत नहीं थी।

धीरे-धीरे सरकार ने हर किसीको गिरफ़्तार कर लेने की नीति छोड़ दी; सिर्फ़ खास-ख़ास कार्यकर्त्ता चुनकर पकड़े जाने लगे। धीरे-धीरे लोगों के उत्साह की पहली बाढ़ भी उतर गई, और सभी विश्वस्त कार्यकर्त्ताओं के जेल चले जाने से अनिश्चय और असहायता की भावना फैल गई। परन्तु यह सब क्षणिक ही था। वातावरण में तो बिजली भरी हुई थी और चारों ओर गड़गड़ाहट हो रही थी। ऐसा जान पड़ता था कि अन्दर-ही-अन्दर क्रान्ति की तैयारी हो रही है। दिसम्बर १९२१ और जनवरी १९२२ में, यह अनुमान किया जाता है कि, कोई ३० हज़ार आदमियों को असहयोग के सम्बन्ध में सज़ाएं मिलीं। हालांकि ज़्यादातर प्रमुख व्यक्ति और काम करनेवाले जेल चले गये, मगर इस सारी लड़ाई के नेता महात्मा गांधी फिर भी बाहर थे, जो रोज़ाना लोगों को अपने सन्देश देते और हिदायतें जारी करते रहते थे, जिनसे लोगों को स्फूर्ति मिलती थी और कई अवांछनीय बातें होने से बच जाती थीं। सरकार ने उनपर अभी तक हाथ नहीं डाला था, क्योंकि उसे डर था कि शायद इसका नतीजा ख़राब हो और कहीं हिन्दुस्तानी फ़ौज और पुलिस बिगड़ न उठे।

अचानक १९२२ की जनवरी के शुरू में ही सारा दृश्य बदल गया, और जेल में ही हमने बड़े आश्चर्य और भय के साथ सुना कि गांधीजी ने सविनय-भंग की लड़ाई रोक दी और सत्याग्रह स्थगित कर दिया है। हमने पढ़ा कि यह इसलिए किया गया कि चौरीचौरा नामक गांव के पास लोगों की एक भीड़ ने बदले में पुलिस-स्टेशन में आग लगा दी थी और उसमें क़रीब आधे दर्जन पुलिसवालों को जला डाला था।

जब हमें मालूम हुआ कि ऐसे वक़्त में, जबकि हम अपनी स्थिति मज़बूत करते जा रहे थे और सभी मोर्चों पर आगे बढ़ रहे थे, हमारी लड़ाई बन्द कर दी गई है, तो हम बहुत बिगड़े। मगर हम जेलवालों की मायूसी और नाराज़गी से हो ही क्या सकता था? सत्याग्रह बन्द हो गया, और उसके साथ ही असहयोग भी जाता रहा। कई महीनों की दिक़्क़त और परेशानी के बाद सरकार को आराम की सांस मिली, और पहली बार उसे अपनी तरफ़ से हमला शुरू करने का मौक़ा मिला। कुछ हफ़्तों बाद उसने गांधीजी को गिरफ़्तार कर लिया और उन्हें लम्बी क़ैद की सज़ा दे दी।

: १२ :

अहिंसा और तलवार का न्याय

चौरीचौरा-कांड के बाद हमारे आन्दोलन के एकाएक स्थगित कर दिये जाने से, मेरा खयाल है, कांग्रेस के सभी प्रमुख नेताओं में (अवश्य ही गांधीजी को छोड़कर) बहुत ही नाराज़गी फैली थी। मेरे पिताजी, जो उस वक़्त जेल में थे, उसपर बहुत ही बिगड़े थे। स्वभावतया नौजवान कांग्रेसियों को तो यह बात और भी ज़्यादा बुरी लगी थी। हमारी बढ़ती हुई उम्मीदें धूल में मिल गई। इसलिए उसके ख़िलाफ़ इतनी नाराज़गी का फैलना स्वाभाविक ही था। आन्दोलन के स्थगित किये जाने से जो तकलीफ़ हुई उससे भी ज़्यादा तकलीफ़ स्थगित करने के जो कारण बताये गए उनसे तथा उन कारणों से पैदा होनेवाले नतीजों से हुई। हो सकता है कि चौरीचौरा एक खेदजनक घटना हो, वह थी भी खेदजनक और अहिंसात्मक आन्दोलन के भाव के बिल्कुल ख़िलाफ़। लेकिन क्या हमारी आज़ादी की राष्ट्रीय लड़ाई कम-से-कम कुछ वक़्त के लिए महज़ इसलिए बन्द हो जाया करेगी कि कहीं बहुत दूर के किसी कोने में पड़े गांव में किसानों की उत्तेजित भीड़ ने कोई हिंसात्मक काम कर डाला? अगर इस तरह अचानक ख़ून-ख़राबी का यही ज़रूरी नतीजा होना है, तो इस बात में कोई शक नहीं कि अहिंसात्मक लड़ाई के शास्त्र और उसके मूल सिद्धान्त में कुछ कमी है; क्योंकि हम लोगों को इसी तरह की किसी-न-किसी अनचाही घटना के न होने की गारण्टी करना ग़ैरमुमकिन मालूम होता था। क्या हमारे लिए यह लाज़िमी है कि आज़ादी की लड़ाई में आगे क़दम रखने से पहले हम हिन्दुस्तान के तीस करोड़ से भी ज़्यादा लोगों को अहिंसात्मक लड़ाई का उसूल और उसका अमल सिखा दें; और यही क्यों, हममें ऐसे कितने हैं जो यह कह सकते हैं कि पुलिस से बहुत ज़्यादा उत्तेजना मिलने पर भी हम लोग पूरी तरह शान्त रह सकेंगे? लेकिन अगर हम इसमें कामयाब भी हो जायें, तो जो बहुत-से भड़कानेवाले एजेण्ट और चुग़लख़ोर हमारे आन्दोलन में आ घुसते हैं, और या तो ख़ुद ही

कोई मारकाट कर डालते हैं या दूसरों से करा देते हैं उनका क्या होगा ? अगर अहिंसात्मक लड़ाई के लिए यही शर्त रही कि वह तभी चल सकती है जब कहीं कोई ज़रा भी ख़ून-ख़राबी न करे, तब तो अहिंसात्मक लड़ाई हमेशा असफल ही रहेगी।

हम लोगों ने अहिंसा के तरीक़े को इसलिए मन्ज़ूर किया था, और कांग्रेस ने भी इसलिए उसे अपनाया था कि हमें यह विश्वास था कि वह तरीक़ा कारगर है। गांधीजी ने उसे मुल्क के सामने महज़ इसीलिए नहीं रखा था कि वह सही तरीक़ा है, बल्कि इसलिए भी कि हमारे मतलब के लिए वह सबसे ज़्यादा कारगर था। यद्यपि उसका नाम नकार में है, तो भी वह है बहुत ही बल और प्रभाव रखनेवाला तरीक़ा, और ऐसा तरीक़ा जो ज़ालिम की ख़्वाहिश के सामने चुपचाप सिर झुकाने के बिल्कुल खिलाफ़ था। वह तरीका कायरों का तरीक़ा नहीं था, जिसमें लड़ाई से मुह छिपाया जाय, बल्कि बुराई और क़ौमी ग़ुलामी की मुख़ालिफ़त करने के लिए बहादुरों का तरीक़ा था। लेकिन अगर किन्ही भी थोड़े से शख़्सों के—मुमकिन है वे दोस्ती का लबादा ओढ़े हुए हमारे दुश्मन हों—हाथ में यह ताक़त हो कि ऊटपटांग बेतहाशा कामों से हमारे आन्दोलन को रोक या ख़त्म कर सकते हैं, तो बहादुराना-से-बहादुराना और मज़बूत-से-मज़बूत तरीक़े से भी आख़िर क्या फ़ायदा ?

धारा-प्रवाह बोलने की और लोगों को समझने की ताक़त गांधीजी में बहुत काफ़ी मौजूद है। अहिंसा का और शान्तिमय असहयोग का रास्ता इख़्तियार कराने के लिए उन्होंने अपनी इस ताक़त से पूरा-पूरा काम लिया था। उनकी भाषा सीधी-सादी थी, उसमें बनावट बिल्कुल न थी। उनकी आवाज़ और मुख-मुद्रा शान्त और साफ थी। उसमें विकार का नामोनिशान भी न था, लेकिन बर्फ़ की उस ऊपरी चादर के नीचे एक ठोस जोश और उमंग और जलती हुई ज्वाला की गरमी थी। उनके मुख़ से शब्द उड़-उड़कर ठेठ हमारे दिलो-दिमाग़ के भीतरी-से-भीतरी कोने में घर कर गये, और उन्होंने वहां एक अजीब खलबली पैदा कर दी। उन्होंने जो रास्ता बताया था वह कड़ा और मुश्किल था, लेकिन था बहादुरी का, और ऐसा मालूम पड़ता था कि वह आजादी के लक्ष्य पर हमें ज़रूर पहुंचा देगा। १९२० में 'तलवार का न्याय' नाम के एक मशहूर लेख में उन्होंने लिखा था—

"मैं यह विश्वास ज़रूर रखता हूं कि अगर सिर्फ़ बुज़दिली और हिंसा में ही चुनाव करना हो तो मैं हिंसा को चुनने की सलाह दूंगा। मैं यह पसन्द

करूंगा कि हिन्दुस्तान अपनी इज़्ज़त बचाने के लिए हथियारों की मदद ले, बनिस्बत इसके कि वह कायरों की तरह ख़ुद अपनी बेइज़्ज़ती का असहाय शिकार हो जाय या बना रहे। लेकिन मेरा विश्वास है कि अहिंसा हिंसा से कहीं ऊंची है, सज़ा की बनिस्बत माफ़ी देना कहीं ज़्यादा बहादुरी का काम है। 'क्षमा वीरस्य भूषणम्'—क्षमा से वीर की शोभा बढ़ती है। लेकिन सज़ा न देना उसी हालत में क्षमा होती है जब सज़ा देने की ताक़त हो। किसी असहाय जीव का यह कहना कि मैंने अपने से बलवान को क्षमा किया, कोई मानी नहीं रखता। जब एक चूहा बिल्ली को अपने शरीर के टुकड़े-टुकड़े करने देता है तब वह बिल्ली को क्षमा नहीं करता। . . . .लेकिन मैं यह नहीं समझता कि हिन्दुस्तान कायर है। न मैं यही समझता हूं कि मैं बिल्कुल असहाय हूं . . . .।

"कोई मुझे समझने में ग़लती न करे। ताक़त शारीरिक बल से नहीं आती, वह तो अदम्य इच्छा-शक्ति से ही आती है।

"कोई यह न समझे कि मैं हवाई और खयाली आदमी हूँ। मैं तो व्यावहारिक आदर्शवादी होने का दावा करता हूं। अहिंसा-धर्म महज़ ऋषियों और महात्माओं के लिए ही नहीं है, वह तो आम लोगों के लिए भी है। जैसे पशुओं के लिए हिंसा प्रकृति का नियम है वैसे ही अहिंसा हम मनुष्यों की प्रकृति का क़ानून है। पशुओं की आत्मा सोती पड़ी ही रहती है और वह शारीरिक बल के अलावा और किसी क़ानून को जानती ही नहीं। मनुष्य के गौरव के लिए आवश्यक है कि वह अधिक ऊंचे क़ानून की शक्ति, आत्मा की शक्ति, के सामने सिर झुकाये।

"इसीलिए मैंने हिन्दुस्तान के सामने आत्म-बलिदान का प्राचीन नियम उपस्थित करने का साहस किया है, क्योंकि सत्याग्रह और उसकी शाखाएं, सहयोग और सविनय प्रतिरोध, कष्ट-सहन के नियम के दूसरे नामों के अलावा और कुछ नहीं हैं। जिन ऋषियों ने हिंसा में से अहिंसा का नियम ढूढ़ निकाला, वे न्यूटन से ज़्यादा प्रतिभाशाली थे। वे ख़ुद वेलिंगटन से ज़्यादा योद्धा थे। वे हथियार चलाना जानते थे, लेकिन अपने अनुभव से उन्होंने उन्हें बेकार पाया और भयभीत दुनिया को यह सिखाया कि उसका छुटकारा हिंसा के जरिये नहीं होगा, बल्कि अहिंसा के जरिये होगा।

"अपनी सक्रिय दशा में अहिंसा के मानी हैं जान-बूझकर कष्ट सहन करना। उसके मानी यह नहीं हैं कि आप बुरा करनेवाले की इच्छा के सामने चुपचाप

अपना सिर झुका दें, बल्कि उसके मानी यह हैं कि हम ज़ालिम की इच्छा के ख़िलाफ़ अपनी पूरी आत्मा को भिड़ा दें। अपनी हस्ती के इस क़ानून के मुताबिक़ काम करते हुए, महज़ एक शख़्स के लिए भी यह मुमकिन है कि वह अपनी इज़्ज़त, अपने धर्म और अपनी आत्मा को बचाने के लिए, किसी अन्यायी साम्राज्य की ताकत को ललकार दे और उसके साम्राज्य के पुनरुद्धार या पतन की नींव डाल दे।

"और मैं हिन्दुस्तान को अहिंसा का रास्ता इख़्तियार करने के लिए इसलिए नहीं कहता कि वह कमज़ोर है। मैं चाहता हूं कि वह अपनी ताक़त और अपने बल-भरोसे को जानते हुए अहिंसा पर अमल करे. . . . मैं चाहता हूं कि हिन्दुस्तान यह पहचान ले कि उसके एक आत्मा है, जिसका नाश नहीं हो सकता और जो सारी शारीरिक कमज़ोरियों पर विजय पा सकती है और सारी दुनिया के शारीरिक बलों का मुकाबला कर सकती है। . . .

"इस असहयोग को मैं 'सिनफ़िन'-आन्दोलन से अलग समझता हूं; क्योंकि इसका जिस तरह से ख़याल किया गया है उस तरह का वह हिंसा के साथ-साथ कभी हो ही नहीं सकता। लेकिन मैं तो हिंसा के सम्प्रदाय को भी न्यौता देता हूं कि वे इस शान्तिमय असहयोग की परीक्षा तो करें। वह अपनी अन्दरूनी कमज़ोरी की वजह से असफल न होगा। हां, अगर ज़्यादा तादाद में लोग उसे इख़्तियार न करें, तो वह असफल हो सकता है। वही वक़्त असली ख़तरे का वक़्त होगा; क्योंकि उस वक़्त वे उच्चात्मा जो अधिक काल तक राष्ट्रीय अपमान सहन नहीं कर सकते, अपना गुस्सा नहीं रोक सकेंगे। वे हिंसा का रास्ता इख़्तियार करगे। जहांतक मैं जानता हूं, वे ग़ुलामी से अपना या देश का छुटकारा किये बिना ही बरबाद हो जायंगे। अगर हिन्दुस्तान तलवार के पक्ष को ग्रहण कर ले तो मुमकिन है कि वह थोड़ी देर को विजय पा ले। परन्तु उस वक़्त हिन्दुस्तान के लिए मेरे हृदय में गर्व न होगा। मैं तो हिन्दुस्तान से इसलिए बंधा हुआ हूं कि मेरे पास जो-कुछ है वह सब मैंने उसीसे पाया है। मुझे पक्का और पूरा विश्वास है कि दुनिया के लिए हिन्दुस्तान का एक मिशन है।"

इन दलीलों का हमारे ऊपर बहुत असर पड़ा; लेकिन हम लोगों की राय में और कुल मिलाकर कांग्रेस की राय में अहिंसा का तरीक़ा न तो धर्म का अकाट्य सिद्धान्त था, और न हो ही सकता था। हमारे लिए तो वह ज़्यादा-से-ज़्यादा एक ऐसी नीति या एक ऐसा सहल तरीक़ा ही हो सकता था जिससे हम ख़ास

नतीजों की उम्मीद करते थे, और उन्हीं नतीजों से आखिर में हम उसकी बाबत फ़ैसला करते। अपने-अपने लिए लोग उसे भले ही धर्म बना लें या निर्विवाद सिद्धान्त मान लें, परन्तु कोई भी राजनैतिक संस्था, जबतक वह राजनैतिक है, ऐसा नहीं कर सकती।

चौरीचौरा और उसके नतीजे ने हम लोगों को, एक साधन के रूप में, अहिंसा के इन पहलुओं की जांच करने को मजबूर कर दिया और हम लोगों ने महसूस किया कि अगर आन्दोलन स्थगित करने के लिए गांधीजी ने जो कारण बताये हैं वे सही हैं तो हमारे विरोधियों के पास हमेशा वह ताक़त रहेगी, जिससे वे ऐसी हालतें पैदा कर दें जिनसे लाज़िमी तौर पर हमें अपनी लड़ाई छोड़ देनी पड़े ! तो, यह क़ुसूर ख़ुद अहिंसा के तरीक़े का था या उसकी उस व्याख्या का जो गांधीजी ने की ? लेकिन आखिर वही तो उस तरीक़े के जन्मदाता थे ? उनसे ज़्यादा इस बात का बेहतर जज और कौन हो सकता था कि वह तरीक़ा क्या है और क्या नहीं है ? और बिना उनके हमारे आन्दोलन का क्या ठिकाना होगा ?

लेकिन बहुत बरसों के बाद, १९३० की सत्याग्रह की लड़ाई शुरू होने से ठीक पहले, हमें यह देखकर बड़ा सन्तोष हुआ कि गांधीजी ने इस बात को साफ़ कर दिया। उन्होंने कहा कि कहीं इक्के-दुक्के हिंसा-काण्ड हो जायं, तो उनकी वजह से हमें अपनी लड़ाई छोड़ने की जरूरत नहीं है। अगर ऐसी घटनाओं की वजह से, जो कहीं-न-कहीं हुए बिना नहीं रह सकती, अहिसा का तरीक़ा काम नहीं कर सकता, तो ज़ाहिर था कि वह हर मौक़े के लिए सबसे अच्छा तरीक़ा नहीं है। और गांधीजी इस बात को मानने के लिए तैयार नहीं थे। उनकी राय में तो जब वह तरीक़ा सही है तो वह सब मौकों के लिए मौज़ू होना चाहिए, और कम-से-कम संकुचित दायरे में ही सही, विरोधी वातावरण में भी उसे अपना काम करते रहना चाहिए। इस व्याख्या ने अहिंसात्मक लड़ाई का क्षेत्र बढ़ा दिया। लेकिन यह व्याख्या गांधीजी के विचारों के विकास की गवाही देती है या क्या, यह मैं नहीं जानता।

असल बात तो यह है कि फ़रवरी १९२२ में सत्याग्रह का स्थगित किया जाना महज़ चौरीचौरा की वजह से नहीं हुआ; हालांकि ज्यादातर लोग यही समझते थे। वह तो असल में एक आखिरी निमित्त हो गया था। ऐसा मालूम होता है कि गांधीजी ने बहुत अरसे से जनता के नज़दीक रहकर एक नई चेतना पैदा

कर ली है, जो उनको यह बता देती है कि जनता क्या महसूस कर रही है और वह क्या कर सकती है तथा क्या नहीं कर सकती; और वह अक्सर अपनी अन्तःप्रेरणा या सहज बुद्धि से प्रेरित होकर काम करते हैं, जैसा कि महान लोकप्रिय नेता अक्सर किया करते हैं। वह इस सहज-प्रेरणा को सुनते हैं और तुरन्त उसीके अनुकूल रूप अपने कार्य को दे देते है और उसके बाद अपने चकित और नाराज़ साथियों के लिए अपने फैसलों को कारण का जामा पहनाने की कोशिश करते हैं। यह जामा अक्सर बिल्कुल नाकाफ़ी होता है, जैसा कि चौरीचौरा के बाद मालूम होता था। उस वक्त हमारा आन्दोलन, बावजूद उसके ऊपरी दिखाई देनेवाले और लम्बे-चौड़े जोश के, अन्दर से तितर-बितर हो रहा था। तमाम संगठन और अनुशासन का लोप हो रहा था। क़रीब-क़रीब हमारे सब अच्छे आदमी जेल में थे, और उस वक़्त तक आम लोगों को खुद अपने बल पर लड़ाई चलाते रहने की बहुत ही कम, नहीं के बराबर, शिक्षा मिली थी। जो भी अजनबी आदमी चाहता, कांग्रेस कमेटी का चार्ज ले सकता था, और दर-असल बहुत-से अवांछित लोग, जिनमें लोगों को उकसाने तथा भड़कानेवाले सरकारी एजेंट तक, शामिल थे, घुस आये थे, और कुछ स्थानीय कांग्रेस और खिलाफ़त-कमिटियों को चलाने तक लगे थे। ऐसे लोगों को रोकने का उस वक़्त कोई चारा न था।

इसमें कोई शक नहीं कि कुछ हदतक इस तरह की बात इस क़िस्म की लड़ाई में लाज़िमी है। नेताओं के लिए यह लाज़िमी है कि वे सबसे पहले खुद जेल जाकर लोगों को रास्ता दिखा दें और दूसरों पर यह भरोसा करें कि वे लड़ाई चलाते रहेंगे। ऐसी दशा में जो कुछ किया जा सकता है वह सिर्फ़ इतना ही कि जनता को कुछ मामूली सीधे-सादे काम करना और उससे भी ज़्यादा कुछ क़िस्म के कामों से बचते रहना सिखा दिया जाय। १९३० में इस तरह की तालीम देने में हमने पहले ही कुछ साल लगा दिये थे। इसीसे उस वक़्त और १९३२ में सविनय-भंग आन्दोलन बहुत ही ताक़त के साथ और संगठित रूप में चला था। १९२१ और १९२२ में इस बात की कमी थी। उन दिनों लोगों के उत्साह के पीछे और कुछ न था। इसमें कोई शक नहीं कि अगर आन्दोलन जारी रहता तो कई जगह भयंकर हत्याकांड हो जाते। इन हत्याकाण्डों को सरकार बदतर हत्याकाण्डों द्वारा कुचलती। डर का राज क़ायम हो जाता, जिससे लोग बुरी तरह पस्त-हिम्मत हो जाते।

गांधीजी के दिमाग़ में जिन असरों और वजहों ने काम किया वे सम्भवतः यही थे। उनकी मूल बातों को, तथा अहिंसा-शास्त्र के मुताबिक़ काम करना वांछनीय था, इस बात को मान लेने के बाद कहना होगा कि उनका फ़ैसला सही ही था। उनको ये सब खराबियां रोककर नये सिरे से रचना करनी थी। एक दूसरी और बिल्कुल जुदा दृष्टि से देखने पर उनका फ़ैसला ग़लत भी माना जा सकता है, लेकिन उस दृष्टिकोण का अहिसात्मक तरीके से कोई ताल्लुक़ न था। आप एक साथ दाये और बाये दोनों रास्तों पर नहीं चल सकते। इसमें कोई शक नहीं कि अपने उस आन्दोलन को उस अवस्था में और इस ख़ास इक्की-दुक्की वजह से सरकारी हत्याकाण्डों द्वारा कुचल डालने का निमन्त्रण देने से भी राष्ट्रीय आन्दोलन ख़त्म नही हो सकता था; क्योंकि ऐसे आन्दोलनों का यह तरीक़ा है कि वे अपनी चिता की भस्म में से ही फिर उठ खड़े होते है। अक्सर थोड़ी अलपकालिक हार से भी समस्याओं को भलीभांति समझने और लोगों को पक्का तथा मज़बूत करने मे मदद मिलती है। असली बात पीछे हटना या दिखावटी हार होना नहीं है, बल्कि सिद्धान्त और आदर्श है। अगर जनता इन उसूलों का तेज कम न होने दे तो नये सिरे से ताक़त हासिल करने मे देर नहीं लगती। लेकिन १९२१ और १९२२ में हमारे सिद्धान्त और हमारा लक्ष्य क्या था? एक धुंधला स्वराज, जिसकी कोई स्पष्ट व्याख्या न थी, और अहिसात्मक लड़ाई की एक ख़ास पद्धति। अगर लोग किसी बड़े पैमाने पर इक्के-दुक्के हिंसा-काण्ड कर डालते तो अपने-आप पिछली बात यानी अहिंसा का तरीका ख़त्म हो जाता, और जहांतक पहली बात, यानी स्वराज से ताल्लुक़ है, उसमें ऐसी कोई बात न थी जिसके लिए लोग अड़ते। आमतौर पर लोग इतने मज़बूत न थे कि वे ज़्यादा अरसे तक लड़ाई जारी रखते और विदेशी शासन के खिलाफ़ क़रीब-क़रीब सर्वव्यापी असन्तोष और कांग्रेस के साथ सब लोगों की हमदर्दी के बावजूद लोगों में काफ़ी बल या संगठन न था। वे टिक नहीं सकते थे। जो हज़ारों लोग जेल में गये वे भी क्षणिक जोश में आकर और यह उम्मीद करते हुए कि तमाम क़िस्सा कुछ ही दिनों में तय हो जायगा।

इसलिए यह हो सकता है कि १९२२ में सत्याग्रह को स्थगित करने का जो फ़ैसला किया गया वह ठीक ही था, हालांकि उसके स्थगित करने का तरीक़ा और भी बेहतर हो सकता था। यों आन्दोलन स्थगित करने से लोगों का विश्वास ढीला हो गया और एक प्रकार की पस्त-हिम्मती आ गई।

मगर मुमकिन है कि इस बड़े आन्दोलन को इस तरह एकाएक बोतल में बन्द करने से उन दुःखान्त काण्डों के होने में मदद मिली जो देश में बाद को जाकर हुए। राजनैतिक संग्राम में छुट-पुट और बेकार हिंसा-काण्डों की ओर बहाव तो रुक गया, लेकिन इस तरह दबाई गई हिंसावृत्ति अपने निकलने का रास्ता तो ढूंढ़ती ही; और शायद बाद के बरसों में इसी बात ने हिन्दू-मस्लिम झगड़ों को बढ़ाया। असहयोग और सविनय भंग आन्दोलनों को आम लोगों से जो भारी समर्थन मिला था उससे तरह-तरह के साम्प्रदायिक नेता, जो ज्यादातर राजनीति में प्रतिक्रियावादी थे, लोगों की निगाह से गिरकर दबे पड़े थे, लेकिन अब वे उभरने लगे। बहुत-से दूसरे लोगों ने भी—जैसे खुफ़िया के एजेंटों तथा उन लोगों ने जो हिन्दू-मुसलमानों मे फ़साद कराके हाकिमों को खुश करना चाहते थे—हिन्दू-मुस्लिम बैर बढ़ाने मे मदद की। मोपलाओं के उत्पात से तथा जिस निहायत बेरहमी से उसे कुचला गया उससे उन लोगों को एक अच्छा हथियार मिला जो साम्प्रदायिक झगड़े पैदा कराना चाहते थे। रेलवे के बन्द डिब्बों में मोपला क़ैदियों का भुरता कर देना एक बहुत ही बीभत्स दृश्य था। यह मुमकिन हो सकता है कि अगर सत्याग्रह बन्द न किया गया होता और उसे सरकार ने ही कुचला होता तो उस हालत में क़ौमी ज़हर इतना न बढ़ता और बाद को जो साम्प्रदायिक दंगे हुए उनके लिए बहुत ही कम ताक़त बाक़ी रहती।

सत्याग्रह बन्द करने के पहले एक घटना हुई, जिसके नतीजे बिल्कुल दूसरे हो सकते थे। सत्याग्रह की पहली लहर से सरकार भौंचक रह गई और डर गई। इसी वक़्त वाइसराय लार्ड रीडिंग ने एक आम स्पीच मे यह कहा कि मैं हैरान व परेशान हूं। उन दिनों युवराज हिन्दुस्तान में थे और उनकी मौजूदगी से सरकार की ज़िम्मेदारी बहुत बढ़ गई थी। दिसम्बर १९२१ के शुरू में जो धड़ाधड़ गिरफ़्तारियां हुई थीं उनके बाद ही फौरन उसी महीने में सरकार ने एक कोशिश की कि कांग्रेस से किसी किस्म का समझौता कर लिया जाय। यह बात खासतौर पर कलकत्ते में युवराज के आगमन को दृष्टि में रखकर की गई थी। बंगाल-सरकार के प्रतिनिधियों में और देशबन्धु दास में, जो उन दिनों जेल में थे, कुछ आपसी बातचीत हुई। मालूम पड़ता है कि इस तरह की तजवीज़ की गई कि सरकार और कांग्रेस के प्रतिनिधियों में एक छोटी-सी गोलमेज़ कान्फ्रेंस की जाय। यह तजवीज़ इसलिए गिर गई कि गांधीजी ने इस बात पर ज़ोर दिया

कि मौलाना मुहम्मदअली का भी, जो उस वक्त कराची की जेल में थे, इस कान्फ्रेंस में मौजूद रहना ज़रूरी है और सरकार इस बात के लिए राज़ी न थी।

इस मामले में गांधीजी का यह रुख दासबाबू को पसन्द नहीं आया और कुछ वक़्त बाद जब वह जेल से छूटकर आये तब उन्होंने सार्वजनिक रूप में गांधीजी की आलोचना की और कहा कि उन्होंने सख्त ग़लती की है। हम लोग उन दिनों जेल में थे, इसलिए हममें से ज़्यादातर वे सब बातें नही जान सकते थे जो इस मामले में हुईं, और तमाम बातों को जाने बिना कोई फ़ैसला करना मुश्किल था। लेकिन यह मालूम होता है कि उस हालत में कान्फ्रेंस से कोई फ़ायदा नहीं हो सकता था। असल मे सरकार महज़ यह कोशिश कर रही थी कि किसी तरह कलकत्ते में युवराज के आगमन का समय बिना किसी संघर्ष के बीत जाय। इससे हमारे सामने जो बुनियादी मसले थे वे ज्यों-के-त्यों बने रहते। नौ बरस बाद जब राष्ट्र और कांग्रेस पहले से कहीं ज़्यादा ताक़तवर थे, तब गोलमेज़ कांफ्रेंस हुई और उससे भी कोई नतीजा नहीं निकला। लेकिन इसके अलावा भी मुझे ऐसा मालम होता है कि गांधीजी ने मुहम्मदअली की मौजूदगी पर ज़ोर देकर बिल्कुल ठीक ही किया। कांग्रेस के लीडर की हैसियत से ही नहीं, बल्कि ख़िलाफ़त की हलचल के लीडर की हैसियत से भी—और उन दिनों कांग्रेस के प्रोग्राम में ख़िलाफ़त का प्रश्न महत्त्वपूर्ण था—उनकी मौजूदगी लाज़िमी थी। जिस नीति या कार्रवाई में अपने साथी को छोड़ना पड़े वह कभी सही नहीं हो सकती। सरकार की एक इसी बात से कि वह उन्हें जेल से छोड़ने को तैयार न थी, इस बात का पता चल जाता है कि कान्फ्रेस से किसी क़िस्म के नतीजे की उम्मीद करना बेकार था।

मुझे और पिताजी को अलग-अलग जुर्मों में अलग-अलग अदालतों ने ६-६ महीने की सज़ाएं दी थीं। मुक़दमे महज़ तमाशे थे और अपने रिवाज के मुताबिक़ हम लोगों ने उनमें कोई हिस्सा नहीं लिया था। इसमें कोई शक नहीं कि हमारे सब व्याख्यानों में और दूसरी हलचलों में सज़ा दिलाने के लिए काफ़ी मसाला ढूंढ़ निकालना बहुत आसान था। लेकिन सज़ा दिलाने के लिए जो मसाला दर-असल पसन्द किया गया वह मज़ेदार था। पिताजी पर एक ग़ैरक़ानूनी जमात का मेम्बर—कांग्रेस-स्वयंसेवक—होने के जुर्म में मुक़दमा चलाया गया था और इस जुर्म को साबित करने के लिए एक फ़ार्म पेश किया गया जिसमें हिन्दी में उनके दस्तखत दिखाये गये थे। बेशक दस्तख़त उन्हीके थे, लेकिन असल में

हुआ यह कि इससे पहले उन्होंने प्रायः कभी हिन्दी में दस्तखत नहीं किये थे। इसलिए बहुत ही कम लोग उनके हिन्दी के दस्तखत पहचान सकते थे। अदालत में एक फटे-हाल महाशय पेश किये गये, जिन्होंने हलफ़िया बयान दिया कि वे दस्तखत मोतीलालजी के ही हैं। यह महाशय बिल्कुल अपढ़ थे और जब उन्होंने दस्तखतों को देखा तब वह फ़ार्म को उलटा पकड़े हुए थे। पिताजी अदालत मे मेरी लड़की को बराबर अपनी गोद में लिये रहे। इससे उनके मुकदमे में उसे पहली मर्तबा अदालत का तजुर्बा हुआ। उस वक्त उसकी उम्र चार बरस की थी।

मेरा जुर्म यह था कि मैंने हड़ताल कराने के लिए नोटिसें बांटी थीं। उन दिनों यह कोई जुर्म न था—यद्यपि मेरा ख़याल है कि इस वक़्त ऐसा करना जुर्म है, क्योंकि हम बड़ी तेज़ी के साथ डोमीनियन स्टेटस (औपनिवेशिक स्वराज्य) की तरफ बढ़ते जा रहे हैं—फिर भी मुझे सज़ा दे दी गई! तीन महीने बाद जब मैं पिताजी तथा दूसरे लोगों के साथ जेल में था तब मुझे इत्तिला मिली कि मुक़दमों पर पुनर्विचार करनेवाले कोई अफ़सर इस नतीजे पर पहुंचे हैं कि मुझे जो सज़ा दी गई वह ग़लत है और इसलिए मुझे छोड़ा जायगा। मुझे इस बात से बड़ा अचरज हुआ, क्योंकि मेरे मुक़दमे पर पुनर्विचार कराने के लिए मेरी तरफ़ से किसी ने कोई कार्रवाई नहीं की थी। ऐसा मालूम पड़ता है कि सत्याग्रह स्थगित हो जाने पर जजों में मुकदमों पर पुनर्विचार करने का एकाएक जोश उमड़ आया हो। मुझे पिताजी को जेल मे छोड़कर बाहर जाने में बहुत दुःख हुआ।

मैंने तय कर लिया कि अब फौरन ही अहमदाबाद जाकर गांधीजी से मिलूगा। लेकिन मेरे वहां पहुंचने से पहले वह गिरफ्तार हो चुके थे। इसलिए उनसे मैं साबरमती-जेल में ही जाकर मिल सका। उनके मुक़दमे के वक्त मैं अदालत में मौजूद था। वह एक हमेशा याद रखने लायक प्रसंग था और हममें से जो लोग उस वक़्त वहां मौजूद थे वे शायद उसे कभी भूल नहीं सकते। जज एक अंग्रेज़ था। उसने अपने व्यवहार में काफ़ी शराफ़त और सद्भावना दिखाई। अदालत में गांधीजी ने जो बयान दिया वह दिलों पर बहुत ही असर डालनेवाला था। हम लोग वहां से जब लौटे तब हमारे दिल हिलोरें ले रहे थे और उनके ज्वलंत वाक्यों और उनके चमत्कारी भावों और विचारों की गहरी छाप हमारे मन पर पड़ी हुई थी।

मैं इलाहाबाद लौट आया। मुझे एक ऐसे वक़्त पर जेल से बाहर रहना बहुत ही सुनसान और दुःखप्रद मालूम हुआ जब मेरे इतने दोस्त और साथी जेल

के सीखचों के अन्दर बन्द थे। बाहर आकर मैंने देखा कि कांग्रेस का संगठन ठीक-ठीक काम नहीं कर रहा है और मैंने उसे ठीक करने की कोशिश की। ख़ासतौर पर मैंने विलायती कपड़े के बहिष्कार में दिलचस्पी ली। सत्याग्रह के वापस ले लिये जाने पर भी हमारे कार्यक्रम का वह हिस्सा अब भी चालू था। इलाहाबाद के कपड़े के क़रीब-क़रीब तमाम व्यापारियों ने यह वादा किया था कि वे न तो विलायती कपड़ा हिन्दुस्तान में ही किसी से खरीदेंगे, न विलायत से ही मंगावेंगे। इस मतलब के लिए उन्होंने एक मण्डल भी क़ायम कर लिया था। मण्डल के क़ायदों में यह लिखा हुआ था कि जो अपना वादा तोड़ेगा उसे जुर्माने की सज़ा दी जायगी। मैंने देखा कि कपड़े के कई बड़े-बड़े व्यापारियों ने अपना वादा तोड़ दिया है और वे विदेशों से विलायती कपड़ा मंगा रहे हैं। यह उन लोगों के साथ बहुत बड़ी बेइंसाफ़ी थी जो अपने वादे पर डटे हुए थे। हम लोगों ने कहा-सुनी की, लेकिन कुछ नतीजा न निकला और कपड़े के दूकानदारों का मण्डल किसी कारगर काम के लिए बिल्कुल बेकार साबित हुआ। इसलिए हम लोगों ने तय किया कि वादा तोड़ने वाले दूकानदारों की दूकानों पर धरना दिया जाय। हमारे काम के लिए धरना का इशारा-भर काफ़ी था। बस, जुर्माने दे दिये गए और नये सिरे से फिर वादे कर लिये गए। जुर्मानों से जो रुपया आया वह दूकानदारों के मण्डल के पास गया।

दो-तीन दिन बाद अपने कई साथियों के साथ मुझे गिरफ़्तार कर लिया गया। ये साथी वे लोग थे जिन्होंने दूकानदारों के साथ बातचीत करने में हिस्सा लिया था। हमारे ऊपर ज़बरदस्ती रुपया ऐंठने और लोंगों को डराने का जुर्म लगाया गया। मेरे ऊपर राजद्रोह सहित कुछ और भी जुर्म लगाये गये। मैंने अपनी कोई सफ़ाई नहीं दी, अदालत में सिर्फ़ एक लम्बा बयान दिया। मुझे कम-से-कम तीन जुर्मों में सज़ा दी गई, जिनमें ज़बरदस्ती रुपया ऐंठने, लोगों को दबाने के जुर्म भी शामिल थे। लेकिन राजद्रोहवाला मामला नहीं चलाया गया; क्योंकि सम्भवतः यह सोचा गया कि मुझे जितनी सज़ा मिलनी चाहिए थी वह पहले ही मिल चुकी है। जहांतक मुझे याद है, मुझे तीन सज़ाएं दी गईं, जिनमें दो अठारह-अठारह महीने की थीं और एक-साथ चलने को थीं। मेरा खयाल है कि कुल मिलाकर मुझे एक साल नौ महीने की सज़ा दी गई थी। यह मेरी दूसरी सज़ा थी। मैं छः हफ़्ते के क़रीब जेल से बाहर रहकर फिर वहीं चला गया।

: १३ :

लखनऊ-जेल

१९२१ में हिन्दुस्तान में राजनैतिक अपराधों के लिए जेल जाना कोई नई बात नहीं थी। ख़ासकर बंग-भंग-आन्दोलन के वक़्त से बराबर ऐसे लोगों का तांता लगा रहा जो जेल जाते थे और उनको अक्सर बड़ी लम्बी-लम्बी सज़ाएं होती थीं। बग़ैर मुक़दमे चलाये नज़रबन्दियां भी होती थीं। लोकमान्य तिलक को, जो अपने समय के हिन्दुस्तान के सबसे बड़े नेता थे, उनकी ढलती हुई उम्र में छः साल क़ैद की सज़ा दी गई थी। पिछले महायुद्ध के कारण तो नज़र-बन्दियों और जेल भेजने का यह सिलसिला और भी बढ़ गया और षड्यन्त्रों के मामले बहुत होने लगे, जिनमें आमतौर पर मौत की या आजीवन क़ैद की सज़ाएं दी जाती थीं। अली-बन्धु और मौ. अबुलकलाम आज़ाद भी लड़ाई के ज़माने में नज़रबन्द हुए थे। लड़ाई के बाद ही फ़ौरन पंजाब में फ़ौजी क़ानून जारी हुआ, जिसमें लोग बड़ी तादाद मे जेल गये और बहुत लोगों को षड्यन्त्र के या मुख्तसर मुक़दमों में सज़ाएं दी गई। इस तरह हिन्दुस्तान में राजनैतिक सज़ा होना एक काफ़ी आम बात हो गई थी, मगर अभी तक ख़ुद जान-बूझकर कोई जेल न जाता था। लोग अपना काम करते थे और उस सिलसिले में उन्हें राज-नैतिक सज़ा अपने-आप मिल जाती थी; या शायद इसलिए मिल जाती थी कि ख़ुफिया पुलिस उनको नापसन्द करती थी; लेकिन, ऐसा होने पर, अदालत में पैरवी करके उससे बचने की पूरी कोशिश की जाती थी। हां, दक्षिण अफ्रीका में अलबत्ता सत्याग्रह की लड़ाई में गांधीजी और उनके हज़ारों अनुयायियों ने एक नई ही मिसाल पेश की थी।

मगर फिर भी १९२१ में जेलख़ाना क़रीब-क़रीब एक अज्ञात जगह थी, और बहुत कम लोग जानते थे कि नये सज़ायाफ़्ता आदमियों को अपने अन्दर निगल जानेवाले डरावने फाटक के भीतर क्या होता है? अन्दाज़ से हम कुछ-कुछ ऐसा समझते थे कि जेल के अन्दर बड़े-बड़े ख़तरनाक जीव होंगे, जिनके

लिए कुछ भी कर गुज़रना बायें हाथ का खेल होगा। हमारे ख़याल से जेल एकान्त, वेइज़्ज़ती और कष्टों की जगह थी, और सबसे बड़ी बात यह थी कि उसके साथ अनजान जगह होने का ख़ौफ़ लगा हुआ था। १९२० से जेल जाने का बार-बार ज़िक्र सुनते रहने और उसमें अपने कई साथियों के चले जाने से, हम इस ख़याल के आदी हो गये, और उसके बारे में आशंका और अरुचि की जो भावना अक्सर अपने-आप पैदा हो जाती थी, उसकी तेज़ी कम हो गई। परन्तु दिमाग़ी तैयारी पहले से चाहे कितनी भी रही हो, जब हम लोहे के फाटक में पहले-पहल दाख़िल हुए तो क्षोभ और उद्वेग पैदा हुए बिना नहीं रह सका। उस ज़माने से, जिसे आज तेरह साल हो गये, आज तक मेरे अन्दाज़ से हिन्दुस्तान से कम-से-कम ३ लाख स्त्री-पुरुष उन फाटकों में राजनैतिक अपराधों के लिए दाख़िल हो चुके हैं, हालांकि बहुत करके इलज़ाम फ़ौजदारी आईन की किसी दूसरी ही दफा की रू से लगाया गया है। इनमें से हज़ारों तो कई बार अन्दर गये और बाहर आये हैं। उन्हें यह अच्छी तरह मालूम हो ही जाता है कि अन्दर वे किन बातों की उम्मीद रखें; और जहां तक कोई आदमी विचित्र रूप से असाधारण, नीरस, उदासी के साथ कष्ट-सहन और एक ढर्रे की भयंकर ज़िन्दगी के लायक़ अपने-आपको बना सकता है, वहांतक उन्होंने वहां की अजीब ज़िन्दगी के मुआफ़िक़ अपने को बनाने की कोशिश की है। हम उसके आदी हो जाते हैं, क्योंकि इंसान क़रीब-क़रीब हर बात का आदी हो जाता है, और फिर भी अब नई बार हम उस फाटक के अन्दर दाख़िल होते हैं तो फिर वही पुराने क्षोभ और उद्वेग की भावना आ जाती है और दिल उछलने लगता है और आंखें बरबस बाहर की हरियाली और चौड़े मैदानों, चलते-फिरते लोगों और गाड़ियों और जान-पहचान-वालों के चेहरों की तरफ़, जिन्हें अब बहुत अर्से तक देखने का मौका नहीं मिलेगा, आख़िरी नज़र डालने लगती हैं।

जेल की मेरी पहली मियाद के दिन, जो तीन महीने के बाद ही अचानक ख़त्म हो गए, मेरे और जेल-कर्मचारियों दोनों ही के लिए क्षोभ और बेचैनी के दिन थे। जेल के अफ़सर इन नई तरह के अपराधियों की आमद से घबरा-से गये थे। इन नये आनेवालों की महज़ तादाद ही, जो दिन-ब-दिन बढ़ती ही जाती थी, ग़ैर-मामूली थी, और उन्हें एक ऐसी बाढ़ मालूम होती थी, जो कहीं पुरानी क़ायम हदों को बहा न ले जाय। इससे भी ज्यादा चिन्ता की बात यह थी कि नये

आनेवाले लोग बिल्कुल निराले ढंग के थे। यों आदमी तो सभी वर्ग के थे, मगर मध्यम वर्ग के बहुत ज़्यादा थे। लेकिन इन सब वर्गों में एक बात सामान्य थी। वे मामूली सज़ायाफ़्ता लोगों से बिल्कुल दूसरी तरह के थे और उनके साथ पुराने तरीक़े से बर्ताव नहीं किया जा सकता था। अधिकारियों ने यह बात मानी तो, मगर मौजूदा क़ायदों की जगह दूसरे क़ायदे न थे; और न पहले की कोई मिसालें थी, न कोई पहले का तजुर्बा। मामूली कांग्रेसी क़ैदी न तो बहुत दब्बू था और न नरम। और जेल के अन्दर होते हुए भी अपनी तादाद ज़्यादा होने से उसमें यह ख़याल भी आ गया था कि हममें कुछ ताक़त है। बाहर के आन्दोलन से और जेलख़ानों के अन्दर के मामलों में जनता की नई दिलचस्पी पैदा हो जाने के कारण, वह और भी मज़बूत हो गया था। इस प्रकार कुछ-कुछ तेज़ रुख़ होते हुए भी हमारी सामान्य नीति जेल-अधिकारियों से सहयोग करने की थी। अगर हम लोग उनकी मदद न करते तो अफ़सरों की तकलीफ़ें बहुत ज़्यादा बढ़ गई होतीं। जेलर अक्सर हमारे पास आया करता था और कुछ बैरकों में, जिनमें हमारे स्वयंसेवक थे, चलकर उन्हें शान्त करने या किसी बात के लिए राज़ी करने को कहता था।

हम अपनी ख़ुशी से जेल आये थे, और कई स्वयंसेवक तो प्रायः बिना बुलाये ख़ुद ज़बरदस्ती भीतर घुस आये थे। इस तरह यह सवाल तो था ही नहीं कि कोई भाग जाने की कोशिश करता। अगर कोई बाहर जाना चाहता तो वह अपनी हरकत के लिए अफ़सोस ज़ाहिर करने पर या आयन्दा ऐसे काम में न पड़ने का इकरार लिखने पर आसानी से बाहर जा सकता था। भागने की कोशिश करने से तो किसी हदतक बदनामी होती थी, और ऐसा काम सत्याग्रह-जैसे राजनैतिक कार्य से अलग हो जाने के बराबर था। हमारे लखनऊ-जेल के सुपरिण्टेण्डेण्ट ने यह बात अच्छी तरह समझ ली थी, और वह जेलर से (जो कि ख़ानसाहब था) कहा करता था कि अगर आप कुछ कांग्रेस-स्वयंसेवकों को भाग जाने देने में कामयाब हो सकें तो मैं आपको ख़ानबहादुर बनाने के लिए सरकार से सिफ़ारिश कर दूंगा।

हमारे साथ के ज़्यादातर क़ैदी जेल के भीतरी चक्कर की बड़ी-बड़ी बैरकों में रक्खे जाते थे। हममें से अठारह को, जिन्हें मेरे अनुमान से अच्छे बर्ताव के लिए चुना गया था, एक पुराने वीविंग-शेड में रक्खा गया था, जिसके साथ एक बड़ी ख़ुली जगह थी। मेरे पिताजी, मेरे दो चचेरे भाई और मेरे लिए एक

अलग सायबान था, जो क़रीब-क़रीब २०×१६ फुट था। हमें एक बैरक से दूसरी बैरक में आने-जाने की काफ़ी आज़ादी थी। बाहर के रिश्तेदारों से काफ़ी मुलाक़ातें करने की इजाज़त थी। अखबार आते थे, और नई गिरफ्तारियों और हमारी लड़ाई की बढ़ती की ताजा घटनाओं की रोज़ाना खबरों से जोश का वातावरण रहता था। आपसी बातचीत और बहस में बहुत वक़्त जाता था, और मैं पढ़ना या दूसरा ठोस काम कुछ नही कर पाता था। मैं सुबह का वक़्त अपने सायबान को अच्छी तरह साफ़ करने और धोने में, पिताजी के और अपने कपड़े धोने मे और चर्खा कातने में गुज़ारा करता था। वे जाड़े के दिन थे, जो कि उत्तर हिन्दुस्तान का सबसे अच्छा मौसम है। शुरू के कुछ हफ़्तों में हमें अपने स्वयं-सेवकों के लिए, या उनमें जो अपढ़ थे उनके लिए, हिन्दी, उर्दू और दूसरे प्रारम्भिक विषय पढ़ाने के लिए क्लास खोलने की इजाज़त मिल गयी थी। तीसरे पहर हम वाली-बाल खेला करते थे।[1]

धीरे-धीरे बन्धन बढ़ने लगे। हमें अपने अहाते से बाहर जाने और जेल के उस हिस्से में, जहां हमारे ज़्यादातर स्वयंसेवक रक्खे गये थे, पहुंचने से रोक दिया गया। तब पढ़ाई के क्लास अपने-आप बन्द हो गए। क़रीब-क़रीब उसी वक़्त मैं जेल से छोड़ दिया गया।

मै शुरू मार्च में बाहर निकला, और छः या सात हफ्ते बाद, अप्रैल में फिर लौट आया। तब क्या देखता हूं कि हालत बदल गई है। पिताजी को बदलकर नैनीताल-जेल में भेज दिया गया था, और उनके जाने के बाद फ़ौरन ही नये क़ायदे लागू कर दिये गए थे। बड़े वीविंग-शेड के, जहां पहले मैं रक्खा गया था, सारे

---

[1]अखबारों में एक बे-सिरपैर की खबर निकली थी, और हालांकि उसका खण्डन किया जा चुका है, फिर भी वह समय-समय पर प्रकाशित होती रहती है। वह यह कि उस वक़्त के यू० पी० के गवर्नर सर हारकोर्ट बटलर ने जेल में मेरे पिताजी के पास शेम्पेन शराब भेजी। सच तो यह है कि सर हारकोर्ट ने पिताजी के लिए जेल में कुछ नहीं भेजा, और न किसी दूसरे ने ही शेम्पेन या दूसरी कोई नशीली चीज भेजी। वास्तव में कांग्रेस के असहयोग को अपना लेने के बाद, १९२० से, उन्होंने शराब वग़ैरा पीना सब छोड़ दिया था, और उस वक़्त वह कोई ऐसी चीज नहीं पीते थे।

क़ैदी भीतरी जेल में बदल दिये गए और वहां बैरकों में रख दिये गए थे। हरेक बैरक क़रीब-क़रीब जेल के अन्दर दूसरी जेल ही थी। दूसरी बैरकवालों से मिलने-जुलने या बातचीत करने की इजाज़त न थी। मुलाक़ात और ख़त अब कम किये जाकर महीने-भर में एक-एक कर दिये गए। खाना बहुत मामूली कर दिया गया, हालांकि हमें बाहर से खाने की चीज़ें मंगाने की इजाज़त थी।

जिस बैरक में मैं रखा गया था उसमें क़रीब पचास आदमी रहते होंगे। हम सबको एकसाथ ठूंस दिया गया, हमारे बिस्तरे एक-दूसरे से तीन-चार फुट के फ़ासले पर थे। ख़ुशक़िस्मती से उस बैरक का क़रीब-क़रीब हरेक आदमी मेरा जाना हुआ था, और कई मेरे दोस्त भी थे। मगर दिन-रात एकान्त का बिल्कुल न मिलना नागवार होता गया। हमेशा उसी झुंड को देखना, वही छोटे-छोटे झगड़े-टंटे चलते रहना, और इन सबसे बचकर शान्ति का कोई कोना भी बिल्कुल न मिलना ! हम सबके सामने नहाते, सबके सामने कपड़े धोते, कसरत के लिए बैरकों के चारों तरफ़ चक्कर लगाकर दौड़ते, और बहस और बातचीत इस हद तक करते कि दिमाग़ थक जाता और सोच-समझकर बात भी करने की ताकत न रह जाती थी। यह कौटुम्बिक जीवन का एक नीरस—सौगुना नीरस—दृश्य था, जिसमें उसका आनन्द, उसकी शोभा और सुख-सुविधा का अंश बहुत कम था; और फिर ऐसे लोगों का साथ जो भिन्न-भिन्न तरह के स्वभाव और रुचियों के थे। हम सबके मन में इस बात का बड़ा उद्वेग रहता था, और मैं तो अक्सर अकेला रहने के लिए तरसता रहता था। कुछ सालों के बाद तो जेल में मुझे ख़ूब एकान्त और अकेलापन मिल गया—ऐसा कि महीनों तक लगातार मुझे किसी जेल-अधिकारी के सिवा और किसी की सूरत भी दिखाई न देती। तब फिर मेरे मन में उद्वेग रहने लगा—मगर इस बार अच्छे साथियों की ज़रूरत महसूस करता था। अब मैं कभी-कभी १९२२ में लखनऊ ज़िला-जेल में इकट्ठा रहने के दिनों की रश्क के साथ याद करता था। फिर भी मैं ख़ूब अच्छी तरह जानता था कि दोनों हालतों में से मुझे अकेलापन ही ज़्यादा पसन्द आया है, बशर्ते कि मुझे पढ़ने और लिखने की सुविधा हो।

फिर भी मुझे कहना होगा कि उस वक़्त के-साथी निहायत अच्छे और ख़ुश-मिज़ाज थे, और हम सबकी अच्छी बनी। मगर मेरा ख़याल है कि हम सभी कभी-कभी एक-दूसरे से तंग आ जाते थे और अलहदा होकर कुछ एकान्त में

दृश्य देखते-देखते पथरा गई थीं। वे तरह-तरह के प्रकाश, छाया और रंगों को देखने के लिए भूखी हो रही थीं, और जब बरसाती बादल अठखेलियां करते हुए, तरह-तरह की शक्लें बनाते हुए, भिन्न-भिन्न प्रकार के रंग धारण करते हुए हवा में थिरकने लगे तो मैं पागलों की तरह आश्चर्य और आह्लाद से उन्हें निहारा करता। कभी-कभी बादलों का तांता टूट जाता और इस प्रकार जो छिद्र हो जाता उसके भीतर से वर्षा-ऋतु का एक अद्भुत दृश्य दिखाई देता था। उस छिद्र मे से अत्यन्त गहरा नीला आसमान नज़र आता था जो अनन्त का ही एक हिस्सा मालूम होता था।

हमारे ऊपर सख्तियां धीरे-धीरे बढ़ने लगी, और ज़्यादा-ज़्यादा सख़्त क़ायदे लागू किये जाने लगे। सरकार ने हमारे आन्दोलन की नाप-जोख कर ली थी, और वह हमें यह महसूस करा देना चाहती थी कि हमारे मुक़ाबला करने की हिम्मत करने के सबब से वह हम पर किस क़दर नाराज़ है। नये क़ायदों के चालू करने या उनके अमल में लाने के तरीक़ों से जेल-अधिकारियों और राजनैतिक क़ैदियों के बीच झगड़े होने लगे। कई महीनों तक क़रीब-क़रीब हम सबने—हम लोगों की संख्या उसी जेल में कई सौ थी—विरोध के तौर पर मुलाक़ातें करना छोड़ दिया था। ज़ाहिर है कि यह खयाल किया गया कि हममें से कुछ झगड़ा करानेवाले हैं, इसलिए सात आदमियों को जेल के एक दूर के हिस्से में बदल दिया गया, जो खास बैरकों से बिल्कुल अलहदा था। इस तरह जिन लोगों को अलग किया गया उनमें मैं, पुरुषोत्तमदास टण्डन, महादेव देसाई, जार्ज जोसफ़, बालकृष्ण शर्मा और देवदास गांधी थे।

हमें एक छोटे अहाते में भेजा गया, और वहां रहने में कुछ तकलीफें भी थीं। मगर कुल मिलाकर मुझे तो इस तब्दीली से ख़ुशी ही हुई। यहां भीड़-भाड़ नहीं थी; हम ज़्यादा शान्ति और ज़्यादा एकान्त में रह सकते थे। पढ़ने या दूसरे काम के लिए वक़्त ज्यादा मिलता था। हम जेल के दूसरे हिस्सों के अपने साथी-क़ैदियों से अलहदा कर दिये गए और बाहरी दुनिया से भी अलहदा कर दिये गये; क्योंकि अब सब राजनैतिक क़ैदियों के लिए अख़बार भी बन्द कर दिये गए थे।

हमारे पास अख़बार नहीं आते थे, मगर बाहर से कोई-कोई खबर अन्दर टपक आती थी, जैसे कि जेलों में अक्सर टपका करती है। हमारी माहवारी मुला-

कातों और ख़तों से भी हमें बाज़-बाज़ ऐसी-वैसी ख़बरें मिल जाती थीं। हमको पता लगा कि हमारा आन्दोलन बाहर कमज़ोर हो रहा है। वह चमत्कारिक युग गुज़र गया था और कामयाबी धुंधले भविष्य में दूर जाती हुई मालूम हुई। बाहर कांग्रेस में दो दल हो गये थे—परिवर्तनवादी और अपरिवर्तनवादी। पहला दल, जिसके नेता देशबन्धु दास और मेरे पिताजी थे, चाहता था कि कांग्रेस अगले केन्द्रीय और प्रान्तीय कौंसिलों के चुनावों में हिस्सा ले और हो सके तो इन कौंसिलों पर क़ब्ज़ा कर ले; दूसरा दल, जिसके नेता राजगोपालाचार्य थे, असहयोग के पुराने कार्यक्रम में कोई भी परिवर्तन किये जाने के विरुद्ध था। उस समय गांधीजी तो जेल में ही थे। आन्दोलन के जिन सुन्दर आदर्शों ने हमें, ज्वार की लहरों की चोटी पर बैठे हुए की तरह, आगे बढ़ाया था, छोटे-छोटे झगड़ों और सत्ता प्राप्त करने की साज़िशों के द्वारा दूर उछाले जाने लगे। हमने यह महसूस किया कि उत्साह और जोश के वक़्त में बड़े-बड़े और हिम्मत के काम कर जाना जोश गुज़र जाने के बाद रोज़ाना का काम चलाने की बनिस्बत कितना आसान है। बाहर की ख़बरों से हमारा जोश ठण्डा होने लगा, और इनके साथ-साथ जेल से दिल पर जो अलग-अलग तरह के असर पैदा होते हैं उनके कारण हमारा वहां रहना और भी दूभर हो गया। मगर फिर भी हमारे अन्दर यह एक सन्तोष की भावना रही कि हमने अपने स्वाभिमान और गौरव को सुरक्षित रक्खा है, और हमने सत्य का ही मार्ग ग्रहण किया है, चाहे उसका नतीजा कुछ भी हो। आगे क्या होगा, यह तो साफ़ दिखाई नहीं देता था; मगर आगे कुछ भी हो, हमें ऐसा मालूम होता था कि हम कइयों की क़िस्मतों में तो ज़िन्दगी का ज़्यादा हिस्सा जेलों में गुज़ारना ही बदा है। इसी तरह की बातें हम आपस में किया करते थे, और मुझे ख़ास तौर पर याद है कि मेरी जार्ज जोसफ़ से एक बार बात-चीत हुई थी जिसमें हम इसी नतीजे पर पहुंचे थे। उन दिनों के बाद जोसफ़ हमसे दूर-ही-दूर होते चले गये हैं, और यहांतक कि हमारे कामों के एक ज़बरदस्त आलोचक भी बन गये हैं। क्या पता लखनऊ-ज़िला-जेल के सिविल वार्ड में शरद् ऋतु की एक शाम को हुई उस बातचीत की याद उनको कभी आती है या नहीं?

हम रोज़ाना कुछ काम और कसरत करने में जुट पड़ते। कसरत के लिए हम उस छोटे-से अहाते के चारों तरफ़ दौड़कर चक्कर लगाया करते थे, या दो बैलों की तरह से दो-दो आदमी मिलकर अपने सहन के कुएं से एक बड़ा चमड़े

का डोल खींचा करते थे। इस तरह हम अपने अहाते के एक छोटे-से साग-सब्जी के खेत में पानी देते थे। हममें से ज़्यादातर लोग रोज़ाना थोड़ा-थोड़ा सूत भी कातते थे। मगर उन जाड़े के दिनों और लम्बी रातों में पढ़ना ही मेरा ख़ास काम था। क़रीब-क़रीब हमेशा जब-जब सुपरिण्टेण्डेण्ट आता तो वह मुझे पढ़ता हुआ ही देखता था। यह पढ़ते रहने की आदत शायद उसे खटकी और उसने इसपर एक बार कुछ कहा भी। उसने यह भी कहा कि मैंने तो अपना साधारण पढ़ना बारह साल की उम्र में ही ख़त्म कर दिया था! बेशक, पढ़ना छोड़ देने से उस बहादुर अंग्रेज़ कर्नल को यह फ़ायदा ही हुआ कि उसे बेचैनी पैदा करनेवाले विचार आये ही नहीं, और शायद इसीसे बाद में उसे युक्तप्रान्त की जेलों के इन्स-पेक्टर-जनरल की जगह पर तरक़्क़ी पा जाने में मदद मिली।

जाड़े की लम्बी रातों और हिन्दुस्तान के साफ़ आसमान ने हमारा ध्यान तारों की तरफ़ खींचा, और कुछ नक़्शों की मदद से हमने कई तारे पहचान लिये। हर रात हम उनके उगने का इन्तज़ार करते थे और मानो अपने पुराने परिचितों के दर्शन करते हों, इस आनन्द से उनका स्वागत करते थे।

इस तरह हम अपना वक़्त गुज़ारते थे। दिन गुज़रते-गुज़रते हफ़्ते हो जाते और हफ़्ते महीने हो जाते। हम अपनी रोज़मर्रा की रहन-सहन के आदी हो गये। मगर बाहर की दुनिया में असली बोझ तो हमारे महिला-वर्ग पर—हमारी माताओं, पत्नियों और बहनों पर पड़ा। वे इन्तज़ार करते-करते थक गईं, और जब उनके प्रियजन जेल के सीखचों में बन्द थे उन्हें अपने को आज़ाद रखना बहुत खटकता था।

दिसम्बर १९२१ में हमारी पहली गिरफ़्तारी के बाद ही इलाहाबाद के हमारे मकान, आनन्द-भवन, में पुलिसवालों ने अक्सर आना-जाना शुरू किया। वे उन जुर्मानों को वसूल करने आते थे, जो पिताजी पर और मुझपर किये गए थे। कांग्रेस की नीति यह थी कि जुर्माना न दिया जाय। इसलिए पुलिस रोज़-रोज़ आती और कुछ-न-कुछ फ़र्नीचर क़ुर्क़ करके उठा ले जाती। मेरी चार साल की छोटी लड़की इन्दिरा इस बार-बार की लगातार लूट से बहुत नाराज़ होती थी। उसने पुलिस का विरोध किया और अपनी सख़्त नाराज़गी ज़ाहिर की। मुझे आशंका है कि पुलिस-दल के बारे में उसके ये बचपन के भाव उसके भावी विचारों पर असर डाले बिना न रहेंगे।

जेल में पूरी कोशिश की जाती थी कि हमें मामूली ग़ैर-राजनीतिक क़ैदियों से अलग रक्खा जाय। मामूली तौर पर राजनैतिक क़ैदियों के लिए अलग जेलें मुक़र्रर कर दी जाती थीं। मगर पूरी तरह अलहदा किया जाना तो नामुमकिन था, और हम उन क़ैदियों से अक्सर मिल लेते थे, और उनसे तथा ख़ुद तजुर्बे से हमने जान लिया कि उन दिनों वास्तव में जेल की ज़िन्दगी कैसी होती थी। उसे मार-पीट और ज़ोर की रिश्वतख़ोरी और भ्रष्टता की एक कहानी ही समझना चाहिए। खाना अजीब तौर पर ख़राब था; मैंने कई मर्तबा उसे खाने की कोशिश की मगर बिल्कुल न खाये जाने लायक़ पाया। कर्मचारी आमतौर पर बिल्कुल अयोग्य थे और उन्हें बहुत कम तनख़्वाहें मिलती थीं। मगर उनके लिए क़ैदियों या क़ैदियों के रिश्तेदारों से हर मुमकिन मौक़े पर रुपया ऐंठकर अपनी आमदनी बढ़ाने का रास्ता पूरी तरह खुला था। जेलर और उसके असिस्टेण्टों और वार्डरों के कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व, जेल-मैन्युअल में लिखे मुताबिक़ इतने ज़्यादा और इतने क़िस्म के थे कि किसी भी आदमी के लिए उनका ईमानदारी या योग्यता के साथ पालन करना नामुमकिन था। युक्तप्रान्त में (और सम्भवत: दूसरे प्रान्तों में भी) जेल-शासन की सामान्य नीति का क़ैदी को सुधारने या उसे अच्छी आदतें या उपयोगी धन्धे सिखाने से कोई सम्बन्ध न था। जेल की मशक़्क़त का मक़सद सज़ायाफ़्ता आदमी को तंग करना था[1] और यह कि उसको इतना

---

[1]युक्तप्रान्त के जेल-मैन्युअल की धारा ९८७ में, जो अब नये संस्करण से हटा दी गई है, लिखा था—

"जेल में मशक़्क़त करना सिर्फ़ काम देने के लिए ही नहीं बल्कि ख़ासकर सज़ा देने के लिए समझा जाना चाहिए। इसका भी ज़्यादा ख़याल न किया जाय कि उससे ख़ूब पैसा पैदा किया जा सकता है। सबसे ज़्यादा ज़रूरी बात यह है कि जेल का काम तक़लीफ़-देह और मेहनत का होना चाहिए और उससे बदमाशों को खौफ़ पैदा होना चाहिए।"

इसके मुक़ाबले रूस के एस० एफ़० एस० आर० की ताज़ीरात फ़ौजदारी की नीचे लिखी धारा देखने योग्य है—

धारा ९—"सामाजिक सुरक्षा के उपायों का यह उद्देश्य नहीं है कि शारीरिक यातनाएं दी जायं, न यह है कि मनुष्य के गौरव को गिराया जाय और न यह

भयभीत कर दिया जाय और दबाकर पूरी तरह आज्ञानुवर्ती कर लिया जाय, जिससे जब वह जेल से छूटे तो दिल में उसका डर और ख़ौफ़ लेकर जाये और आइन्दा जुर्म करने और फिर जेल लौटने से बाज़ आये।

पिछले कुछ बरसों में कुछ सुधार ज़रूर हुए हैं। खाना थोड़ा सुधरा है, और कपड़े वग़ैरा भी सुधरे हैं। यह भी ज़्यादातर राजनैतिक क़ैदियों के छूटने के बाद उनके बाहर आन्दोलन करने के कारण हुआ है। असहयोग के कारण वार्डरों की तनख़्वाहों में भी काफ़ी तरक़्क़ी हुई है, ताकि वे 'सरकार' के वफ़ादार बने रहें। लड़कों और छोटी उम्र के क़ैदियों को पढ़ना-लिखना सिखाने के लिए भी अब थोड़ी-सी कोशिश की जाती है। मगर अच्छे होते हुए भी, इन सुधारों से असली सवाल कुछ भी हल नहीं होता है और अब भी ज़्यादातर वही पुरानी भावना चली आ रही है।

ज़्यादातर राजनैतिक क़ैदियों को मामूली क़ैदियों के साथ किये जानेवाले इस नियमित व्यवहार को ही सहना पड़ा। उन्हें कोई विशेष अधिकार या व्यवहार नहीं मिला, मगर दूसरों से ज़्यादा तेज़-तर्रार और समझदार होने के कारण उनसे आसानी से कोई बेजा फ़ायदा नहीं उठा सकता था, न उनसे रुपया ऐंठा जा सकता था। इस सबब से आप ही कर्मचारी उन्हें पसन्द नहीं करते थे, और जब मौक़ा आता तो उनमें से किसी को भी जेल के क़ायदे टूटने पर सख़्त सज़ा दी जाती। ऐसे ही क़ायदे तोड़ने के लिए एक छोटे लड़के को, जिसकी उम्र १५ या १६ साल की थी और जो अपने को 'आज़ाद' कहता था, बेंत की सज़ा दी गई। वह नंगा किया गया और बेंत की टिकटी से बाँध दिया गया, और जैसे-जैसे बेंत उसपर पड़ते थे और उसकी चमड़ी उधेड़ डालते थे, वह 'महात्मा गांधी की जय' चिल्लाता था। हर बेंत के साथ वह लड़का तबतक यही नारा लगाता रहा, जबतक बेहोश न हो गया। बाद में वही लड़का उत्तर-भारत के आतंककारी कार्यों के दल का एक नेता बना।

कि बदला लिया जाय या दण्ड दिया जाय।"

धारा २६—"सजाएं देना चूंकि सुरक्षा का ही एक उपाय है, वह तकलीफ़ें देने के उसूल से बिल्कुल बरी होना चाहिए, और उससे अपराधी को अनावश्यक अथवा व्यर्थ तकलीफ़ें न पहुंचानी चाहिएं।"

: १४ :

फिर बाहर

आदमी को जेल में कई बातों का अभाव मालूम होता है, मगर सबसे अधिक अभाव तो शायद स्त्रियों के मधुर वचनों का और बच्चों की हँसी का ही अनुभव होता है। जो आवाज़ें वहां आमतौर से सुनाई देती है वे कोई बहुत प्रिय नहीं होतीं। वे अधिकतर कठोर और डरावनी होती हैं। भाषा जंगली होती है और उसमे गाली-गलौज भरी रहती है। मुझे याद है कि मुझे एक बार एक नई चीज़ का अभाव मालूम हुआ। मैं लखनऊ-जेल में था और अचानक मुझे महसूस हुआ कि सात या आठ महीने से मैंने कुत्ते का भोंकना नही सुना है।

जनवरी १९२३ के आख़री दिन लखनऊ-जेल के हम सब राजनैतिक क़ैदी छोड़ दिये गए। उस समय लखनऊ मे एक सौ और दो सौ के बीच 'स्पेशल क्लास' के क़ैदी होंगे। दिसम्बर १९२१ या १९२२ के शुरू में जिन लोगों को एक साल या कम की सज़ा मिली थी, वे सब तो अपनी सज़ा पूरी करके चले गये थे; सिर्फ़ वे जिनकी लम्बी सज़ाएं थीं, या जो दोबारा आ गये थे, रह गये थे। इस अचानक रिहाई से हम सबको बड़ा ताज्जुब हुआ, क्योंकि आम रिहाई की पहले से कोई ख़बर न थी। प्रान्तीय कौंसिल ने राजनैतिक क़ैदियों की आम रिहाई कर देने के पक्ष में एक प्रस्ताव पास किया था, मगर सरकार का शासन-विभाग ऐसी मांगों की सुनवाई बहुत कम करता है। लेकिन घटनावश सरकार की दृष्टि में यह समय उपयुक्त था। कांग्रेस सरकार के विरुद्ध कुछ नहीं कर रही थी, और कांग्रेसवाले आपसी झगड़ों में ही फंसे हुए थे। जेल में भी प्रसिद्ध कांग्रेसी व्यक्ति ज्यादा नहीं थे, इसलिए यह रिहाई कर दी गई।

जेल के फाटक से बाहर निकलने में हमेशा एक सन्तोष का भाव और आनन्दोल्लास रहता है। ताज़ी हवा और खुले मैदान, सड़कों पर के चलते हुए दृश्य, और पुराने मित्रों से मिलना-जुलना, ये सब दिमाग़ में एक ख़ुमारी लाते हैं और कुछ-कुछ दीवाना-सा बना देते हैं। बाहर की दुनिया को देखने से पहले-पहल

जो असर होता है उसमें कुछ पागलों का-सा एक आनन्द छाया रहता है। हमारा दिल उछलने लगा, मगर यह भाव थोड़ी देर के लिए ही रहा, क्योंकि कांग्रेस-राजनीति की दशा काफ़ी निराशाजनक थी। ऊंचे आदर्शों की जगह षड्यन्त्र होने लगे थे, और कई गुट उन सामान्य तरीक़ों से कांग्रेस-तन्त्र पर क़ब्ज़ा करने की कोशिश करने लगे थे जिनसे कुछ कोमल भावना रखनेवाले लोगों की निगाह में राजनीति एक घृणित शब्द बन गया है।

मेरे मन का झुकाव तो कौंसिल-प्रवेश के बिलकुल ख़िलाफ़ था, क्योंकि इसका ज़रूरी नतीजा यह मालूम होता था कि समझौता करने की चालें करनी पड़ेंगी और अपना लक्ष्य हमेशा नीचा करना पड़ेगा। मगर सच पूछो तो देश के सामने कोई दूसरा राजनैतिक प्रोग्राम भी नहीं था। अपरिवर्तनवादी 'रचनात्मक कार्यक्रम' पर ज़ोर देते थे, जो कि दरअसल सामाजिक सुधार का कार्यक्रम था और जिसका मुख्य गुण यह था कि उससे हमारे कार्यकर्त्ताओं का जनता से सम्पर्क पैदा हो जाय। मगर इससे उन लोगो को तसल्ली नहीं हो सकती थी, जो राजनैतिक कार्य में विश्वास करते थे; और यह कुछ अनिवार्य ही था कि सीधे संघर्ष की लहर के बाद, जो कामयाब न हुई हो, कौंसिल-सम्बन्धी कार्यक्रम आगे आये। यह कार्यक्रम भी देशबन्धु दास और मेरे पिताजी ने, जोकि इस नये आन्दोलन के नेता थे, सहयोग और रचना के लिए नहीं, बल्कि बाधा डालने और मुक़ाबला करने की दृष्टि से सोचा था।

देशबन्धु दास कौंसिलों में भी राष्ट्रीय संग्राम को जारी रखने के उद्देश्य से वहां जाने के पक्ष में हमेशा रहे थे। मेरे पिताजी का भी लगभग यही दृष्टिकोण था। १९२० में जो उन्होंने कौंसिल का बहिष्कार मंजूर किया था, वह कुछ अंशों में अपने दृष्टिकोण को गांधीजी के दृष्टिकोण के अधीन कर देने के रूप में था। वह लड़ाई में पूरी तरह शामिल हो जाना चाहते थे, और उस समय ऐसा करने का एक ही रास्ता था कि गांधीजी के नुस्खे को सोलहों आने आज़माया जाय। कई नौजवानों के दिमाग़ में यह भरा हुआ था कि जिस तरह सिनफिन ने पार्लमेण्ट की सीटों पर क़ब्ज़ा कर लिया और फिर वे कामन्स-सभा में दाखिल नहीं हुए, उसी तरह यहां भी किया जाय। मुझे याद है कि मैंने १९२० की गर्मियों में गांधीजी पर बहिष्कार के इस तरीक़े को इख़्तियार करने के लिए ज़ोर दिया था, मगर ऐसे मामलों में वह झुकनेवाले नहीं थे। मुहम्मदअली उन दिनों ख़िलाफ़त-सम्बन्धी

एक डेपुटेशन के साथ यूरोप में थे। लौटने पर उन्होंने बहिष्कार के इस तरीक़े पर अफ़सोस ज़ाहिर किया था। उन्हें सिनफ़िन-मार्ग ज़्यादा पसन्द था। मगर दूसरे व्यक्ति इस मामले में क्या विचार रखते हैं, इस बात की कोई वक़त न थी; क्योंकि आखिरकार गांधीजी का दृष्टिकोण ही क़ायम रहने को था। वही आन्दोलन के जन्मदाता थे, इसलिए यह खयाल किया गया कि व्यूह-रचना के बारे में उन्हींको पूर्ण स्वतन्त्रता रहनी चाहिए। सिनफ़िन-तरीक़े के बारे में उनके खास ऐतराज़ (हिंसा से उसका सम्बन्ध होने के अलावा) यह थे कि जनता यह सीधी बात ज्यादा आसानी से समझ सकती है कि वोट देने के स्थलों का और वोट देने का बहिष्कार कर दिया जाय, मगर सिनफिन-तरीके को मुश्किल से समझेगी। चुनाव करवा लेने और फिर कौंसिलों में न जाने से जनता के दिमाग़ में उलझन पैदा हो जायगी। इसके सिवा, अगर एक बार हमारे लोग चुन लिये गए तो वे कौंसिलों की तरफ़ ही खिचेंगे और उन्हें उसके बाहर रखना मुश्किल होगा। हमारे आन्दोलनों में इतना अनुशासन और शक्ति नहीं है कि देर तक उन्हें बाहर रक्खा जा सके, और धीरे-धीरे अपनी स्थितियों से गिरकर लोग कौंसिलों के ज़रिये सरकारी आश्रय का प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से फ़ायदा उठाने लगेंगे।

इन दलीलों में सचाई काफ़ी थी और सचमुच १९२४–२६ में जब स्वराज–पार्टी कौंसिल मे गई तब बहुत-कुछ ऐसा ही हुआ भी। फिर भी कभी-कभी विचार आ ही जाता है कि अगर कांग्रेस १९२० में कौंसिलों पर क़ब्ज़ा करना चाहती तो क्या हुआ होता? इसमे शक नहीं हो सकता कि चूंकि उस समय खिलाफ़त कमेटी भी साथ थी, वह प्रान्तीय तथा केन्द्रीय दोनों ही कौंसिलों की क़रीब-क़रीब हर सीट को जीत सकती थी। आज (अगस्त, १९३४ मे) यह फिर चर्चा है कि कांग्रेस असेम्बली के लिए उम्मीदवार खड़े करे और एक पार्लमेण्टरी बोर्ड भी बन गया है। मगर १९२० के बाद से हमारे सामाजिक और राजनैतिक जीवन में कई बड़ी-बड़ी दरारें पड़ चुकी है, अतः अगले चुनाव मे कांग्रेस को कितनी भी कामयाबी क्यों न मिले वह इतनी नहीं हो सकती जितनी १९२० में हो सकती थी।

जेल से छूटने पर कुछ दूसरे लोगों के साथ मैंने भी कोशिश की कि परिवर्तन-वादी और अपरिवर्तनवादी दलों में कुछ समझौता हो जाय। किन्तु हमें कुछ भी सफलता न मिली और मै इन झगड़ों से ऊब उठा। तबसे मै तो संयुक्त प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी के मन्त्री की हैसियत से कांग्रेस को संगठित करने के काम मे लग

गया। पिछले साल के धक्कों से बहुत छिन्न-भिन्नता आ गई थी। और उसे दूर करने के लिए काम बहुत था। मैंने बहुत मेहनत की, मगर उसका कोई नतीजा न निकला। असल में मेरे दिमाग़ के लिए कोई काम न था। मगर जल्दी ही मेरे सामने एक नई तरह का काम आ खड़ा हुआ। मेरी रिहाई के कुछ हफ़्तों के अन्दर ही मैं इलाहाबाद-म्युनिसिपैलिटी के प्रधान-पद पर बैठा दिया गया। यह चुनाव इतना अचानक हुआ कि घटना के पैंतालीस मिनट पहले तक इस बाबत किसी ने भी मेरे नाम का ज़िक्र नहीं किया था, बल्कि मेरा ख़याल तक नहीं किया था। मगर अन्तिम घड़ी में कांग्रेस-पक्ष ने यह अनुभव किया कि मैं ही उनके दल में एक ऐसा आदमी हूं जिसका कामयाब होना निश्चित था।

उस साल ऐसा हुआ कि देश-भर मे बड़े-बड़े कांग्रेसवाले ही म्युनिसिपैलिटियों के प्रेसिडेण्ट बन गये। देशबन्धु दास कलकत्ता के पहले मेयर बने, विट्ठलभाई पटेल बम्बई कार्पोरेशन के प्रेसिडेण्ट बने, सरदार वल्लभभाई अहमदाबाद के बने। युक्तप्रान्त में ज्यादातर बड़ी म्युनिसिपैलिटियों में कांग्रेसी ही चेयरमैन थे।

अब तो मुझे म्युनिसिपैलिटी के विविध कामों में दिलचस्पी पैदा होने लगी और मै उसमे ज़्यादा-से-ज़्यादा वक़्त देने लगा। उसके कई सवालों ने तो मुझे लुभा ही लिया। मैंने इस विषय का ख़ूब अध्ययन किया और म्युनिसिपैलिटी का सुधार करने के मैंने बहुत बड़े-बड़े मनसूबे बांधे। बाद में मुझे मालुम हुआ कि आजकल हिन्दुस्तानी म्युनिसिपैलिटियों की रचना जिस तरह की गई है उसके रहते हुए उनमें बड़े सुधारों या उन्नति के लिए बहुत कम गुजाइश है। फिर भी काम करने के लिए और म्युनिसिपल तन्त्र को साफ़-सूफ़ करने और सुगम बनाने की गुंजाइश तो थी ही, और मैंने इस बात के लिए काफ़ी मेहनत की। उन्हीं दिनों मेरे पास कांग्रेस का काम भी बढ़ रहा था और प्रान्तीय सेक्रेटरी के अलावा मैं अखिल भारतीय सेक्रेटरी भी बना दिया गया था। इन विविध कामों की वजह से अक्सर मुझे रोज़ाना पन्द्रह-पन्द्रह घंटे तक काम करना पड़ता था, और दिन ख़त्म होने पर मैं अपनेको बिल्कुल थका हुआ पाता था।

जेल से घर लौटने पर मेरी आंखों के सामने जो पहला ख़त आया वह इलाहाबाद हाईकोर्ट के तत्कालीन चीफ़ जस्टिस सर ग्रिमवुड मियर्स का था। यह ख़त मेरे छूटने से पहले लिखा गया था, मगर ज़ाहिरा यह जानते हुए लिखा गया था कि रिहाई होनेवाली है। उसकी सौजन्यपूर्ण भाषा और उनसे अक्सर

मिलते रहने के उनके निमन्त्रण से मुझे थोड़ा ताज्जुब हुआ। मैं उन्हें नहीं जानता था। वह इलाहाबाद में अभी १९१९ में आये ही थे, जबकि मैं वकालत के पेशे से दूर होता जाता था। मेरा खयाल है कि उनके सामने मैंने सिर्फ़ एक ही मुक़दमे में बहस की थी, और हाईकोर्ट में मेरा वह आखिरी मुक़दमा ही था। किसी-न-किसी कारण से, मुझे ज्यादा जाने-बूझे बिना ही मेरी तरफ़ उनका कुछ अधिक झुकाव होने लगा। उनकी यह आशा थी, उन्होंने मुझे बाद में बताया, कि मैं खूब आगे बढ़ूंगा, और इसलिए मुझे अंग्रेजों का दृष्टिकोण समझाने में वह मुझपर अपनी नेक सलाह का असर डालना चाहते थे। वह बड़ी बारीकी से काम कर रहे थे। उनकी राय थी, और अब भी कई अंग्रेज़ ऐसा ही समझते हैं, कि हिन्दुस्तान के साधारण 'गरम' राजनीतिक ब्रिटिश-विरोधी इसलिए हो गये हैं कि सामाजिक क्षेत्र में अंग्रेजों ने उनके साथ बुरा वर्ताव किया है। इसीसे रोष, तीव्र दुःख और 'गरम-पन' पैदा हो गया है। यह कहा जाता है, और इसे कई ज़िम्मेदार लोगों ने भी दोहराया है, कि मेरे पिताजी को एक अंग्रेज़ी क्लब में नहीं चुना गया, इसीसे वह ब्रिटिश-विरोधी और 'गरम' विचार के हो गये। यह बात बिल्कुल निराधार है, और एक बिल्कुल दूसरी तरह की घटना का विकृत रूप है।[1] मगर कई अंग्रेज़ों को ऐसी मिसालें, चाहे वे सही हों या गलत, राष्ट्रीय आन्दोलन की उत्पत्ति का सीधा और काफ़ी कारण मालूम होती है। वस्तुतः मेरे पिताजी को और मुझे इस मामले में कोई खास शिकायत थी ही नही। व्यक्तिगत रूप से अंग्रेज़ हमेशा हमसे शिष्टता से पेश आते थे, और उनसे हमारी अच्छी बनती है, हालांकि सभी हिन्दुस्तानियों की तरह बेशक हमे अपनी जाति की ग़ुलामी का भान रहा और वह हमें बहुत ज्यादा खटकती रही। मै मानता हूं कि आज भी मेरी अंग्रेज़ों से बहुत अच्छी पटती है, बशर्ते कि वह कोई अधिकारी न हो और मुझपर मेहरबानी न जताता हो। और इतने में भी हमारे सम्बन्धों में विनोद-प्रियता की कमी नहीं होती। शायद नरम दलवालों तथा अन्य लोगों की बनिस्बत, जो हिन्दुस्तान में अंग्रेजों से राजनैतिक सहयोग करते हैं, मेरा अंग्रेज़ों से ज्यादा मेल खाता है।

---

[1] इस घटना का ज्यादा हाल जानने के लिए अध्याय ३८ का फ़ुटनोट देखिए। —अनु०

सर ग्रिमवुड का इरादा था कि दोस्ताना मेल-जोल, सरल और शिष्टतापूर्ण बर्ताव के द्वारा कटुता के इस मूल कारण को निकाल डालें। मेरी उनसे कई बार मुलाक़ात हुई। किसी-न-किसी म्युनिसिपल टैक्स पर ऐतराज़ करने के बहाने वह मुझसे मिलने के लिए आया करते थे और दूसरी बातों पर बहस किया करते थे। एक मर्तबा उन्होंने हिन्दुस्तान के लिबरलों पर ख़ूब हमला किया। वह उन्हें डरपोक, ढीले, अवसरवादी, चरित्र-बल व साहस से रहित कहने लगे, और उनकी भाषा में कठोरता और घृणा आ गई। उन्होंने कहा—"क्या आप समझते हैं कि हमारे दिल में उनके लिए कोई इज़्ज़त है?" मुझे ताज्जुब होता था कि वह मुझसे इस तरह की बातें क्यों कर रहे हैं; शायद उनका ख़याल था कि ऐसी बातों से मैं ख़ुश होऊंगा। इसके बाद बातचीत फेरकर वह नई कौंसिलों, उनके मन्त्रियों और उनको देश-सेवा करने का कितना बड़ा मौक़ा मिला है, इन बातों की चर्चा करने लगे। देश के सामने सबसे ज़रूरी सवाल शिक्षा का है। क्या किसी शिक्षा-मन्त्री को, जिसे अपनी इच्छा के अनुसार काम करने की आज़ादी हो, लाखों आदमियों की क़िस्मत सुधारने का मौक़ा नहीं है? क्या यह ज़िन्दगी का सबसे बड़ा मौक़ा नहीं है? उन्होंने कहा, फ़र्ज़ कीजिए कि आप-जैसा कोई आदमी जिसमें समझदारी, चरित्र-बल, आदर्श और आदर्शों को व्यवहार में लाने की शक्ति हो, प्रान्त की शिक्षा का ज़िम्मेदार हो, तो क्या वह अद्भुत काम करके नहीं दिखा सकता? और उन्होंने कहा कि मैं हाल में ही गवर्नर से मिला हूं, और विश्वास रखिए कि आपको अपनी नीति चलाने की पूरी आज़ादी रहेगी। फिर शायद यह अनुभव करके कि वह ज़रूरत से ज़्यादा आगे बढ़ गये हैं, उन्होंने कहा कि सरकारी तौर पर किसीकी तरफ़ से कोई वादा तो वह नहीं कर सकते, मगर जो तजवीज़ उन्होंने रक्खी है वह उनकी ख़ुद की ही है।

सर ग्रिमवुड ने बड़ी सफाई और टेढ़े-मेढ़े तरीक़े से जो प्रस्ताव रखा उसकी तरफ़ मेरा ध्यान तो गया, मगर सरकार का मन्त्री बनकर उसका साथ देने का विचार मैं कर ही नहीं सकता था। वास्तव में इस ख़याल से ही मैं नफ़रत करता था। मगर, उस समय और उसके बाद भी, कुछ ठोस, निश्चित और रचनात्मक काम करने का मौक़ा पाने की अक्सर कामना की है। विनाश, आन्दोलन, और असहयोग तो मानव-प्राणी की दैनिक प्रवृत्तियां हो नहीं सकतीं;

फिर भी हमारी क़िस्मत में यही लिखा है कि संघर्ष और विनाश के रेगिस्तान में से गुज़रने के बाद ही उस देश में पहुंच सकते है जहां हम रचना कर सकते हैं, और सम्भव है कि हममें से ज़्यादातर लोग अपनी शक्तियां और जीवन उन रेगिस्तानों को परिश्रम व प्रयत्न से पार करने में ही बिता देंगे, और रचना का काम हमारी सन्तानों या उनकी सन्तानों के हाथ होगा।

उन दिनों, कम-से-कम युक्तप्रान्त में तो, मन्त्रि-पद बहुत सस्ते हो गये थे। दो नरम-दली मन्त्री, जो असहयोग के ज़माने मे काम कर रहे थे, हट गये थे। जब कांग्रेस के आन्दोलन ने मौजूदा तन्त्र को तोड़ना चाहा, तब सरकार ने कांग्रेस से लड़ने के लिए नरम-दली मन्त्रियों से फ़ायदा उठाने की कोशिश की। सरकारी लोग उन दिनों उनको मान देते थे और उनके प्रति आदर प्रर्दाशत करते थे, क्योंकि उस मुश्किल वक़्त मे उन्हें सरकार का हिमायती बनाये रखने के लिए यह जरूरी था। शायद वे समझते थे कि यह मान और प्रतिष्ठा उन्हें बतौर हक़ के दी जा रही है, मगर वे नही जानते थे कि यह तो काग्रेस के सामूहिक आक्रमण के परिणाम-स्वरूप सरकार की एक चाल-मात्र थी। जब आक्रमण हटा लिया गया, तो सरकार की निगाह मे नरमदली मन्त्रियों की क़ीमत बहुत गिर गई और साथ ही वह मान और प्रतिष्ठा भी जाती रही। मन्त्रियों को यह अखरा, मगर उनका कुछ बस न चला और जल्दी ही उन्हे इस्तीफ़ा दे देना पड़ा। तब नये मन्त्रियों के लिए तलाश होने लगी, और इसमें जल्दी कामयाबी नहीं हुई। कौंसिलों में जो मुट्ठीभर नरम-दली लोग थे, वे अपने साथियों की, जो बग़ैर किसी लिहाज़ के निकाल बाहर किये गए थे, हमदर्दी के सबब से दूर ही रहे। दूसरे लोगों में, जो ज़्यादा-तर ज़मीदार थे, शायद ही कुछ ऐसे हों जो मामूली तौर पर भी शिक्षित कहे जा सकें। कांग्रेस द्वारा कौंसिलों का बहिष्कार होने से उनमें एक अजीब पचरंगी गिरोह दाख़िल हो गया था।

यह एक प्रसिद्ध बात है कि इसी समय, या कुछ समय बाद, एक शख़्स को मन्त्री बनने के लिए कहा गया। उसने जवाब दिया कि मै बहुत होशियार आदमी होने का फ़ख़्र तो नहीं करता, मगर मैं अपनेको मामूली समझदार और शायद औसत दर्जे के लोगों से कुछ ज्यादा ही समझदार समझता हूं, और मै समझता हूं कि मेरी ऐसी प्रसिद्धि भी है; क्या सरकार चाहती है कि मैं मन्त्री-पद मंजूर कर लूं और दुनिया में अपने-आपको सख़्त बेवक़ूफ़ ज़ाहिर करूं ?

यह विरोध कुछ उचित भी था। नरम-दली मन्त्री कुछ संकुचित विचार के थे, राजनीति या सामाजिक मामलों में उनकी दृष्टि दूर तक नहीं जाती थी। मगर यह तो उनके निकम्मे लिबरल सिद्धान्तों का क़सूर था। परन्तु उनमें काम की योग्यता अच्छी थी, और अपने दफ़्तर का रोज़मर्रा का काम वे ईमानदारी से करते थे। उनके बाद जो मन्त्री बने उनमें से कुछ ज़मींदार-वर्ग में से आये, और उनकी शिक्षा, प्रचलित मानी में भी, बहुत ही सीमित थी। मैं समझता हूं कि उन्हें ठीक तौर पर सिर्फ़ साक्षर कह सकते थे, इससे ज़्यादा नहीं। कभी-कभी ऐसा मालूम होता था कि गवर्नर ने इन भले आदमियों को हिन्दुस्तानियों को बिल्कुल अयोग्य साबित करने के लिए ही चुना और ऊंची जगह पर नियुक्त कर दिया था। उनके बारे में यह कहना बिल्कुल उचित होगा कि—

दिया भाग्य ने इसी हेतु तुझको यह ऊंचा उद्भव है,
जिससे दुनिया कहे भाग्य को कुछ भी नहीं असम्भव है।[1]

चाहे शिक्षित हों या नहीं, मगर इन मन्त्रियों की तरफ़ ज़मींदारों के वोट तो थे ही, और वे बड़े अफ़सरों को बढ़िया गार्डन-पार्टियां भी दे सकते थे। भूख से तड़पते हुए किसानों से जो रुपया उनके पास आता था, उसका इससे अच्छा उपयोग और क्या हो सकता था!

---

[1] रिचर्ड गार्नेट के एक पद्य का भावानुवाद।

: १५ :

सन्देह और संघर्ष

मैं बहुत-से कामों में लग गया, और इस तरह मैंने उन मामलों से बचने की कोशिश की जो मुझे परेशानी में डाले हुए थे। लेकिन उनसे बचना संभव न था। जो प्रश्न बार-बार मेरे मन में उठते थे, और जिनका कोई सन्तोषजनक उत्तर मुझे नहीं मिलता था, उनसे मैं कहां भाग सकता था? इन दिनों जो काम मैं करता था वह सिर्फ़ इसलिए कि मैं अपने अन्तर्द्वन्द्व से बचना चाहता था। बात यह है कि वह १९२०-२१ की तरह मेरी आत्मा का सोलहों आने प्रतिबिम्ब नहीं था। उस वक़्त जो आवरण मुझपर पड़ा हुआ था अब उससे मैं निकल आया था, और अपने चारों तरफ़ हिन्दुस्तान में और हिन्दुस्तान से बाहर जो कुछ हो रहा था उसपर निगाह डाल रहा था। मैंने बहुत-से ऐसे परिवर्तन देखे जिनकी तरफ़ अभी तक मेरा ख़याल ही नहीं गया था। मैंने नये-नये विचार देखे और नये-नये संघर्ष; और मुझे प्रकाश की जगह उलटे बढ़ती हुई अस्पष्टता दिखाई दी। गांधीजी के नेतृत्व में मेरा विश्वास बना रहा, लेकिन उनके प्रोग्राम के कुछ हिस्सों की मैं बारीकी से छीन-बीन करने लगा। पर वह तो थे जेल में। हम लोग जब चाहते तब उनसे मिल नहीं सकते थे, और न उनकी सलाह ही ले सकते थे। उन दिनों जो दो पार्टियां——कौंसिल पार्टी और अपरिवर्तनवादी——काम कर रही थीं उनमें से कोई भी मुझे आकर्षित नहीं कर रही थी। कौंसिल-पार्टी ज़ाहिरा तौर पर सुधारवाद और विधानवाद की तरफ़ झुक रही थी, और मुझे लगा कि यह मार्ग तो हमें एक अन्धी गली में ले जाकर डाल देगा। अपरिवर्तनवादी महात्माजी के कट्टर अनुयायी माने जाते थे, लेकिन महान् पुरुषों के दूसरे सब अनुयायियों की तरह वे भी उनके उपदेशों के सार को न ग्रहण कर उनके अक्षरों के अनुसार चलते थे। उनमें सजीवता और संचालन-शक्ति नहीं थी, और व्यवहार में उनमें से ज़्यादातर लोग लड़ाकू नहीं थे और सीधे-सादे समाज-सुधारक थे। लेकिन उनमें एक गुण था। आम जनता से उन्होंने अपना सम्बन्ध

बनाये रखा था, जबकि कौंसिलों में जानेवाले स्वराजी सोलहों आने पार्लमेण्टों की पैंतरेबाज़ियों में ही लगे रहे।

मेरे जेल से छूटते ही देशबन्धु दास ने मुझे स्वराजियों के मत का बनाने की कोशिश की। यद्यपि मुझे दिखाई नहीं देता था कि मुझे क्या करना चाहिए, और उन्होंने अपनी सारी वकालत ख़र्च कर दी, तो भी मेरा दिल उनके अनुकूल न हुआ। यह बात विचित्र किन्तु ध्यान देने योग्य थी। इससे मेरे पिताजी के स्वभाव का पता भी लगता था, कि उन्होंने मुझपर कभी इस बात के लिए ज़ोर या असर डालने की कोशिश नहीं की कि मैं स्वराजी हो जाऊं, यद्यपि वह खुद स्वराज-पार्टी के लिए उन दिनों बहुत उत्सुक थे। साफ़ ज़ाहिर है कि अगर मैं उनके आन्दोलन में उनके साथ हो जाता तो उन्हें बड़ी खुशी होती; लेकिन मेरी भावनाओं के लिए उनके दिल में इतना ज़्यादा ख़याल था कि जहांतक इस मामले से ताल्लुक़ था उन्होंने सब कुछ मेरी मर्ज़ी पर ही छोड़ दिया; मुझसे कभी कुछ नहीं कहा।

इन्हीं दिनों मेरे पिताजी और देशबन्धु दास में बहुत गहरी मित्रता पैदा हो गई। यह मित्रता राजनैतिक मित्रता से कहीं ज्यादा गहरी थी। इस मित्रता में मैंने जो प्रेम की गहराई और अपनापन देखा, उसपर कम अचरज न हुआ, क्योंकि बड़ी उम्र में तो गहरी मित्रता शायद ही कभी पैदा होती हो। पिताजी के मेल-मुलाक़ातियों की तादाद बहुत बड़ी थी। उनके साथ हँस-बोलकर घुल-मिल जाने का उनमें विशेष गुण था। लेकिन वह मित्रता बहुत सोच-विचार कर ही करते थे, और ज़िन्दगी के पिछले बरसों में तो वह ऐसी बातों में आस्थाहीन हो गये थे। लेकिन उनके और देशबन्धु के बीच में तो कोई बाधा न ठहर सकी, और दोनों एक-दूसरे को हृदय से चाहने लगे। मेरे पिताजी देशबन्धु से नौ बरस बड़े थे, फिर भी शारीरिक दृष्टि से वही ज़्यादा ताक़तवर और तन्दुरुस्त थे। हालांकि दोनों की क़ानूनी शिक्षा और वकालत की कामयाबी का पिछला इतिहास एक-सा ही था, फिर भी दोनों में कई बातों में बड़ा अन्तर था। देशबन्धु दास वकील होने पर भी कवि थे। उनका दृष्टिकोण भावुकतामय—कवियों का-सा—था। मेरा ख़याल है कि उन्होंने बंगाली में बहुत अच्छी कविताएं भी लिखी हैं। वह बड़े अच्छे वक्ता थे तथा उनकी प्रकृति धार्मिक थी। मेरे पिताजी उनसे अधिक व्यावहारिक और रूखे-से थे, उनमें संगठन करने की बहुत बड़ी शक्ति

थी, और धर्मनिष्ठा का उनमें नामो-निशान न था। वह हमेशा लड़ाके रहे थे—हर वक़्त चोट खाने और करने को तैयार। जिन लोगों को वह बेवक़ूफ़ समझते थे, उनको क़तई बरदाश्त नहीं कर सकते थे, अपनी ख़ुशी से तो नहीं ही करते थे। और वह अपना विरोध भी बरदाश्त नहीं कर सकते थे। कोई उनका विरोध करता, तो उन्हें वह ऐसी चुनौती मालूम पड़ती कि जिसका पूरी तरह मुक़ाबला करना ही चाहिए। मालूम होता था कि मेरे पिताजी और देशबन्धु यद्यपि कई बातों में एक-दूसरे से भिन्न थे, फिर भी एक-दूसरे के साथ अच्छा मेल खा गये। पार्टी के नेतृत्व के लिए इन दोनों का मेल बहुत ही उम्दा और कारगर साबित हुआ। इनमें हरेक, कुछ हद तक, दूसरे की कमी को पूरा करता था। यहाँतक कि दोनों ने एक-दूसरे को यह अधिकार दे दिया था कि किसी भी क़िस्म का बयान या ऐलान निकालते वक़्त एक-दूसरे के नाम का इस्तेमाल कर सकता है। इसके लिए पहले से पूछने या सलाह लेने की कोई ज़रूरत नहीं।

स्वराज-पार्टी को मज़बूती के साथ क़ायम करने में और देश में उसकी ताक़त और धाक जमाने में इस व्यक्तिगत मित्रता का बहुत-कुछ हाथ था। शुरू से ही इस पार्टी में फूट फैलानेवाली प्रवृत्तियां थीं, क्योंकि कौंसिलों के ज़रिये अपनी ज़ाती तरक़्क़ी की गुजाइश होने की वजह से बहुत-से अवसरवादी और ओहदों के भूखे लोग उसमे आ घुसे थे। उनमें कुछ असली माडरेट भी थे, जिनका झुकाव सरकार के साथ सहयोग करने की तरफ़ ज़्यादा था। चुनाव के बाद ज्योंही ये प्रवृत्तियां सामने आने लगीं, त्योंही पार्टी के नेताओं ने उनकी निन्दा की। मेरे पिताजी ने ऐलान किया कि मैं पार्टी के शरीर से सड़े हुए अंग को काटने में न हिचकूगा, और उन्होंने अपने इसी ऐलान के अनुसार काम भी किया।

१९२३ से आगे अपने पारिवारिक जीवन में मुझे बहुत सुख व सन्तोष मिलने लगा, हालांकि मैं पारिवारिक जीवन के लिए बिल्कुल वक़्त न दे सकता था। अपने पारिवारिक सम्बन्धों में मैं बड़ा भाग्यशाली रहा हूं। ज़बरदस्त कशमकश और मुसीबतों के वक़्त में मुझे अपने परिवार में शान्ति और सान्त्वना मिली है। मैंने महसूस किया कि इस दिशा में मै स्वयं कितना अपात्र निकला। यह सोचकर मुझे कुछ शर्म भी मालूम हुई। मैंने महसूस किया कि १९२० से लेकर मेरी पत्नी ने जो उत्तम व्यवहार किया उसका मैं कितना ऋणी हूं! स्वाभिमानी और मृदुल स्वभाव की होते हुए भी उसने न सिर्फ़ मेरी सनकों ही को बरदाश्त

किया, बल्कि जब-जब मुझे शान्ति और सन्तोष की सबसे ज़्यादा ज़रूरत थी तब-तब वह उसने मुझे दी ।

१९२० से हमारे रहन-सहन के ढंग में कुछ फ़र्क़ पड़ गया था। वह बहुत सादा हो गया था, और नौकरों की संख्या भी बहुत कम कर दी गई थी। फिर भी उससे किसी आवश्यक आराम में कोई कमी नही हुई थी । किसी हदतक तो आवश्यक चीज़ों को अलग करने के लिए, और कुछ हदतक चालू ख़र्च के लिए रुपया इकट्ठा करने के वास्ते, बहुत-सी चीज़ें, घोड़े-गाड़ियां और घर-गृहस्थी की वे सब चीज़ें, जो हमारे रहन-सहन के नये ढंग के लिए उपयुक्त नहीं थीं, बेच दी गई थीं। हमारे फ़र्नीचर का कुछ हिस्सा तो पुलिस ने ही लेकर बेच दिया था। इस फ़र्नीचर की और मालियों की कमी से घर की सफ़ाई और खूबसूरती कम हो गई, और बाग़ जंगल-सा हो गया। कोई तीन साल तक घर व बाग़ की तरफ़ नहीं-के बराबर ध्यान दिया गया था। बहुत हाथ खोलकर खर्च करने के आदी होने की वजह से पिताजी कई बातों की किफ़ायतशारी पसन्द नहीं करते थे। इसलिए उन्होंने तय किया कि वह, घर बैठे-बैठे, लोगों को क़ानूनी सलाह देकर कुछ पैसे पैदा किया करें।

जो वक़्त सार्वजनिक कामों से बचा रहता, उसमें वह यह काम करते थे। उनके पास वक़्त बहुत कम बचता था, फिर भी वह इस हालत में भी काफ़ी कमा लेते थे ।

ख़र्च के लिए पिताजी पर अवलम्बित रहने की वजह से मैं बहुत ही दुःख और ग्लानि अनुभव करता था। जबसे मैंने वकालत छोड़ी थी, तबसे असल में मेरी कोई निजी आमदनी नहीं रही—सिर्फ़ उस नहीं-के बराबर आमदनी को छोड़कर जो शेअरों के मुनाफ़े (डिवीडेण्ड) के रूप में मिलती थी। मेरा और मेरी पत्नी का ख़र्च ज्यादा न था। सच बात तो यह है कि मुझे यह देखकर काफ़ी अचरज हुआ कि हम लोग इतने कम ख़र्च में अपना काम चला लेते हैं। इसका पता मुझे १९२१ में लगा, और उससे मुझे बड़ा सन्तोष हुआ। खादी के कपड़ों और रेल के तीसरे दर्जे के सफ़र में ज्यादा खर्च नहीं पड़ता। उन दिनों पिताजी के साथ रहने की वजह से मैं पूरी तरह यह अनुभव नहीं कर सका कि इनके अलावा भी घर-गृहस्थी के ऐसे बहुत बेशुमार ख़र्च हैं जिनका जोड़ बहुत ज्यादा बैठता है । कुछ भी हो, रुपया न रहने के डर ने मुझे कभी नहीं सताया। मेरा ख़याल है कि ज़रूरत

पड़ने पर मैं काफ़ी कमा सकता हूं, और हम लोग अपना काम बहुत कम ख़र्च में चला सकते हैं।

पिताजी के ऊपर हमारा कोई बहुत बड़ा बोझ नहीं था। इतना ही नहीं, अगर उनको इस बात का इशारा भी मिल जाता कि हम अपनेको उनपर एक बोझ समझते हैं तो उन्हें बड़ा दुःख होता। फिर भी मैं जिस हालत में था उसको पसन्द नहीं करता था, और तीन साल तक मैं इस मामले पर सोचता रहा, लेकिन मुझे उसका कोई हल नहीं मिला। मुझे ऐसा काम ढूंढ़ लेने में कोई मुश्किल न थी, जिससे मैं कमाई कर लेता, लेकिन ऐसा काम कर लेने के मानी थे कि पब्लिक का जो काम मैं कर रहा था उसे या तो बन्द कर दूं या कम कर दूं। इस वक़्त तक मैं जितना समय दे सकता था वह सब मैंने कांग्रेस और म्युनिसिपैलिटी के काम में लगाया। मुझे यह बात पसन्द नहीं आई कि मैं रुपया कमाने के लिए उस काम को छोड़ दूं। बड़े-बड़े औद्योगिक फ़र्मों ने मुझे रुपये की दृष्टि से बड़े-बड़े लाभदायक काम सुझाये, मगर उनको मैंने नामंज़ूर कर दिया। शायद वे इतना ज़्यादा रुपया महज़ मेरी योग्यता के ख़याल से उतना नहीं देना चाहते थे, जितना कि मेरे नाम का फ़ायदा उठाने की दृष्टि से। मुझे बड़े-बड़े उद्योग-धन्धेवालों के साथ इस तरह का सम्बन्ध करने की बात अच्छी नहीं लगी। मेरे लिए यह बात बिल्कुल असम्भव थी कि मैं फिर से वकालत का पेशा इख़्तियार करता, क्योंकि वकालत के लिए मेरी अरुचि बढ़ गई थी, और वह बढ़ती ही चली गई।

१९२४ की कांग्रेस में एक बात उठी थी कि प्रधान-मन्त्रियों को वेतन दिया जाना चाहिए। मैं उस समय भी कांग्रेस का प्रधान-मन्त्री था, और मैंने इस विचार का स्वागत किया था। मुझे यह बात बिल्कुल ग़लत मालूम होती थी कि किसीसे एक तरफ़ तो यह उम्मीद की जाय कि वह अपना पूरा वक़्त देकर काम करे और दूसरी तरफ़ उसे कम-से-कम पेट भरने-भर को भी कुछ न दिया जाय। नहीं तो हमें ऐसे ही आदमियों के भरोसे सार्वजनिक काम छोड़ना पड़ेगा, जिनके पास ख़र्च का निजी इन्तज़ाम हो। लेकिन इस तरह के फ़ुरसतवाले लोग राजनैतिक दृष्टि से हमेशा वांछनीय नहीं होते, और न आप उनको उनके काम के लिए ज़िम्मेदार ही ठहरा सकते हैं। कांग्रेस ज़्यादा नहीं दे सकती थी, क्योंकि हमारी वेतन की दर बहुत कम थी। लेकिन हिन्दुस्तान में सार्वजनिक

फ़ण्डों से वेतन लेने के ख़िलाफ़ एक अजीब और बिल्कुल अनुचित धारणा फैली हुई है, हालांकि सरकारी नौकरी की बाबत यह बात नहीं है। पिताजी ने इस बात पर बहुत ऐतराज़ किया कि मैं कांग्रेस से वेतन लूं। मेरे सहकारी मन्त्री को भी रुपयों की सख़्त ज़रूरत थी, लेकिन वह भी कांग्रेस से वेतन लेना शान के खिलाफ़ समझते थे। इसलिए मुझे भी उसके बिना ही रहना पड़ा, हालांकि मैं उसमें कोई बेइज़्ज़ती की बात नहीं समझता था और वेतन लेने को तैयार था।

सिर्फ़ एक मर्त्तबा मैंने इस मामले में पिताजी से बातें छेड़ीं, और उनसे कहा कि रुपये के लिए परावलम्बी रहना मुझे कितना नापसन्द है। मैंने यह बात जहां तक हो सकता था, बड़े संकोच से और घुमा-फिराकर कही, जिससे उन्हें बुरा न लगे। उन्होंने मुझसे कहा कि "तुम्हारे लिए अपना सारा या अधिकतर समय पब्लिक के काम के बजाय थोड़ा-सा रुपया कमाने में लगाना बड़ी बेवक़ूफ़ी होगी, जबकि मै (पिताजी) थोड़े दिनों की मेहनत से आसानी से उतना रुपया कमा सकता हूं जितना तुम्हारे और तुम्हारी पत्नी के लिए सालभर काफ़ी होगा।" दलील ज़ोरदार थी, लेकिन उससे मुझे सन्तोष नहीं हुआ। फिर भी मै उसके मुताबिक़ ही काम करता रहा।

इन कौटुम्बिक मामलों में और रुपये-पैसे की परेशानियों में १९२३ से लेकर १९२५ तक के साल बीत गये। इस बीच राजनैतिक हालत बदल रही थी, और क़रीब-क़रीब अपनी मर्ज़ी के ख़िलाफ़ मुझे भिन्न-भिन्न समूहों में अपनेको शामिल करना पड़ा, और कांग्रेस में भी मुझे ज़िम्मेदारी का पद लेना पड़ा। १९२३ में एक अजीब हालत थी। देशबन्धु दास पिछले साल गया-कांग्रेस के सभापति थे। उस हैसियत से वह १९२३ के लिए अखिल भारतीय कांग्रेस-कमेटी के अध्यक्ष थे। लेकिन इस कमेटी में बहुमत उनके व स्वराजी नीति के ख़िलाफ़ था, यद्यपि वह बहुमत बहुत थोड़ा-सा था और दोनों दल क़रीब-क़रीब बराबर थे। १९२३ की गर्मियों में बम्बई में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की बैठक में मामला यहां तक बढ़ गया कि देशबन्धु दास ने कमेटी की अध्यक्षता से इस्तीफ़ा दे दिया और एक छोटा-सा मध्यवर्ती दल आगे आया और उसीने नई कार्य-समिति बनाई। अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी में इस मध्यवर्ती दल के कोई समर्थक न थे, और यह दो मुख्य पार्टियों में से किसी-न-किसी की कृपा पर ही जीवित रह सकता था। किसी

भी एक दल से मिलकर वह दूसरे को थोड़े-से बहुमत से हरा सकता था । डॉक्टर अन्सारी इसके नये अध्यक्ष बने और मैं एक मन्त्री ।

फ़ौरन ही हमें दोनों तरफ़ से मुसीबतों का सामना करना पड़ा। गुजरात ने, जो उन दिनों अपरिवर्तनवादियों का एक मज़बूत क़िला था, केन्द्रीय कार्यालय की कुछ आज्ञाओं को मानने से इन्कार कर दिया । गर्मियों के अख़ीर में उसी साल नागपुर में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की बैठक की गई। नागपुर में इन दिनों झंडा-सत्याग्रह चल रहा था। यहीं हमारी कार्य-समिति का, जो अभागे मध्यवर्ती दल की प्रतिनिधि थी, थोड़े वक़्त तक बदनाम ज़िन्दगी बिताने के बाद ख़ात्मा हो गया। इस समिति को इसलिए हटाना पड़ा कि असल में ख़ासतौर पर वह किसी की भी प्रतिनिधि नहीं थी; और वह उन्हीं लोगों पर हकूमत चलाना चाहती थी, जिनके हाथ में कांग्रेस-संगठन की असली ताक़त थी। कार्य-समिति के इस्तीफ़ा देने का कारण यह हुआ कि उसने केन्द्रीय कार्यालय का हुक्म न मानने के लिए गुजरात-कमेटी पर निन्दा का जो प्रस्ताव रखा था वह गिर गया। मुझे याद है कि अपना इस्तीफ़ा देते हुए मुझे कितनी ख़ुशी हुई और मैंने कितने सन्तोष की सांस ली ! पार्टी की पैतरेबाज़ियों के इस थोड़े-से अनुभव से ही मै बिल्कुल उकता गया, और मुझे यह देखकर बड़ा धक्का लगा कि कुछ प्रसिद्ध कांग्रेसी भी इस तरह साज़िश कर सकते हैं।

इस मीटिंग में देशबन्धु दास ने मुझपर यह इलज़ाम लगाया कि तुम भावना-हीन हो। मै समझता हूं कि उनका खयाल सही था। तुलना के लिए जिस पैमाने से काम लिया जाय उसी पर सब कुछ निर्भर रहता है। अपने बहुत-से मित्रों और साथियों के मुक़ाबिले मैं भावनाहीन हूं । फिर भी मुझे अपनी बाबत हर वक़्त यह डर रहता है कि कहीं मै भावुकता या आवेश की लहर में डूब या बह न जाऊं। बरसों मैंने इस बात की कोशिश की है कि मैं भावनाहीन हो जाऊं। लेकिन मुझे डर है कि इस मामले में मुझे जो सफलता मिली वह सिर्फ़ ऊपरी ही है।

: १६ :

नाभा का नाटक

स्वराजियों और अपरिवर्तनवादियों की कशमकश चलती रही और स्वराजियों की ताक़त धीरे-धीरे बढ़ती गई। १९२३ के सितम्बर में दिल्ली में कांग्रेस का जो ख़ास अधिवेशन हुआ, उसमें स्वराजियों का ज़ोर और बढ़ गया। इस कांग्रेस के बाद ही मेरे साथ एक ऐसी घटना हुई जो बड़ी अजीब थी और जिसकी मुझे कोई उम्मीद नहीं थी।

सिक्ख, और उनमें से ख़ासकर अकाली, पंजाब में बार-बार सरकार के संघर्ष में आ रहे थे। उनमें एक सुधार-आन्दोलन उठ खड़ा हुआ था, और यह काम हाथ में लिया गया था कि बदचलन महन्तों को निकालकर उपासना के स्थानों पर और उनकी सम्पत्ति पर क़ब्ज़ा करके गुरुद्वारों को इस खराबी से छुड़ाया जाय। सरकार ने इसमें दखल दिया और संघर्ष हो गया। गुरुद्वारा-आन्दोलन कुछ-कुछ असहयोग से उत्पन्न हुई जागृति के सबब से पैदा हुआ था, और अकालियों के तरीके अहिंसात्मक सत्याग्रह के ढंग पर बनाये गए थे। यों संघर्ष कई जगहों पर हुए, मगर सबसे बड़ी लड़ाई गुरु-का-बाग़ की थी, जहां बीसियों सिक्खों ने, जिनमें कई पहले फ़ौज में काम किये हुए सिपाही भी थे, ज़रा भी हाथ उठाये बिना या अपने कर्त्तव्य से पीठ फेरे बिना पुलिस की बर्बरतापूर्ण मार का सामना किया। इस दृढ़ता और साहस के अद्‌भुत दृश्य से सारा हिन्दुस्तान चकित हो उठा। सरकार ने गुरुद्वारा-कमेटी को ग़ैरक़ानूनी क़रार दे दिया। यह लड़ाई कुछ बरस तक जारी रही, और अन्त में सिक्ख सफल हुए। स्वभावतः कांग्रेस की इसमें हमदर्दी थी, और उसने कुछ वक़्ततक अमृतसर में अकाली-आन्दोलन से निकट-सम्पर्क बनाये रखने के लिए बतौर मध्यस्थ के एक अधिकारी नियुक्त किया था।

जिस घटना का मैं ज़िक्र करनेवाला हूं उसका इस आम सिक्ख-आन्दोलन से कोई सम्बन्ध नहीं था। मगर इसमें शक नहीं कि वह घटना इस सिक्ख-हलचल के सबब से ही हुई। पंजाब की दो सिक्ख रियासतों—पटियाला और नाभा के

नरेशों में बड़ा गहरा ज़ाती झगड़ा था जिसका नतीजा यह हुआ कि भारत-सरकार ने महाराजा नाभा को गद्दी से उतार दिया। नाभा रियासत की हुकूमत करने को एक अंग्रेज़ एडमिनिस्ट्रेटर (राज्य-व्यवस्थापक) नियुक्त कर दिया गया। सिक्खों ने महाराजा नाभा को गद्दी से उतारे जाने का विरोध किया और उसके विरुद्ध नाभा में और बाहर दोनों जगह आन्दोलन उठाया। इस आन्दोलन के बीच में, नये एडमिनिस्ट्रेटर द्वारा जैतो नामक स्थान पर, अखण्ड पाठ रोक दिया गया। इसका विरोध करने के लिए और रोके हुए पाठ को जारी रखने के स्पष्ट उद्देश्य से, सिक्खों ने जैतो को जत्थे भेजने शुरू किये। पुलिस इन जत्थों को रोकती, मारती, गिरफ़्तार करती और आमतौर पर जंगल में एक बीहड़ जगह में ले जाकर छोड़ देती थी। मैं समय-समय पर इस मार-पीट का हाल पढ़ा करता था। जब मुझे दिल्ली में विशेष कांग्रेस के बाद ही मालूम हुआ कि दूसरा जत्था जा रहा है, और मुझे वहां चलने और वहां क्या होता है यह देखने का निमन्त्रण मिला तो मैंने ख़ुशी से उसको मंज़ूर कर लिया। इसमें मेरा सिर्फ़ एक ही दिन खर्च होता था, क्योंकि जैतो दिल्ली के पास ही है। कांग्रेस के मेरे दो साथी भी— आचार्य गिडवानी और मद्रास के के० सन्तानम्— मेरे साथ गये। जत्थे ने ज़्यादातर फ़ासला पैदल चलकर तय किया। यह सोचा गया था कि मैं नज़दीक के रेलवे स्टेशन तक रेल से जाऊं और फिर जैतो के पास नाभा की सरहद में जिस वक़्त वहां जत्था पहुंचनेवाला हो, सड़क के रास्ते से पहुंच जाऊं। हम एक बैलगाड़ी से आये और ठीक वक़्त पर पहुंचे, और जत्थे के पीछे-पीछे उससे अलग रहते हुए चले। जैतो पहुंचने पर जत्थे को पुलिस ने रोक दिया, और उसी वक़्त मुझे भी एक हुक्म मिला, जिसपर अंग्रेज़ एडमिनिस्ट्रेटर के दस्तख़त थे कि मैं नाभा के इलाके में दाखिल न होऊं, और अगर मैं दाख़िल हो गया होऊं तो फ़ौरन वापस चला जाऊं। गिडवानी और सन्तानम् को भी ऐसे ही हुक़्म दिये गए, मगर उनमें उनके नाम नहीं लिखे हुए थे, क्योंकि नाभा के अधिकारियों को उनके नाम नहीं मालूम थे। मेरे साथियों ने और मैंने पुलिस-अफ़सर से कहा कि हम जत्थे में शामिल नहीं हैं, सिर्फ़ दर्शक की तरह हैं, और नाभा के किसी भी क़ानून को तोड़ने का हमारा इरादा नहीं है। इसके सिवा जब हम नाभा के इलाके में ही थे तो उसमें दाखिल न होने का सवाल ही नहीं हो सकता था, और स्पष्टतः हम एकदम अदृश्य होकर तो कहीं चले नहीं जा सकते थे। जैतो से

दूसरी गाड़ी शायद कई घंटे बाद जाती थी। इसलिए, हमने उससे कहा कि अभी तो हम यहीं रहना चाहते हैं। बस, हम फ़ौरन ही गिरफ्तार कर लिये गए और हवालात में ले जाकर बन्द कर दिये गए। हमको इस तरह हटाने के बाद, उस जत्थे का वही हाल हुआ जो और जत्थों का होता था।

सारे दिन हम हवालात में बन्द रखे गये और शाम को हमें क़ायदे से स्टेशन ले जाया गया। सन्तानम् को और मुझको एक ही हथकड़ी डाली गयी—उनकी बाईं कलाई मेरी दाहिनी कलाई से फांस दी गई थी, और हथकड़ी की ज़ंजीर हमें ले चलनेवाले पुलिसवाले ने पकड़ ली। गिडवानी के भी हथकड़ी डाली गई और वह हमारे पीछे-पीछे चले। जैतो के बाज़ारों से इस प्रकार जाते हुए मुझे बार-बार कुत्तों के ज़ंजीर पकड़कर ले जाने की याद आती थी। आरम्भ में तो हम झल्ला उठे, मगर फिर हमने सोचा कि यह घटना बड़ी मज़ेदार है, और हम इसका मज़ा लेने लगे। उसके बाद की हमारी रात अच्छी नहीं गुज़री। रात को हमारा कुछ वक़्त तो धीमी चालवाली रेल के तीसरे दरजे के डिब्बे में बीता जो ठसाठस भरा हुआ था—आधी रात को रास्ते में शायद गाड़ी भी बदलनी पड़ी थी। और रात का बाकी हिस्सा नाभा की एक हवालात में गुज़रा। इस सारे समय और अगले दिन तीसरे पहर तक, जब कि हम अन्त में नाभा-जेल में रख दिये गए, वह हथकड़ी और भारी ज़ंजीर हमारे साथ ही रही। हम दोनों में से कोई भी एक-दूसरे के सहयोग के बिना हिल-डुल नहीं सकते थे। एक दूसरे आदमी के साथ सारी रात और दूसरे दिन काफ़ी देर तक हथकड़ी से जुड़ा रहना एक ऐसा अनुभव है जिसका अब फिर मज़ा लेना मैं पसन्द न करूंगा।

नाभा-जेल में हम तीनों एक बहुत ही रद्दी और गन्दी कोठरी में रखे गये। वह छोटी-सी और सीलवाली कोठरी थी, जिसकी छत इतनी नीची थी कि उस तक हमारा हाथ क़रीब-क़रीब पहुंच जाता था। हम ज़मीन पर ही सोये और मैं बीच-बीच में एकाएक जाग उठता था, और तब मालूम होता कि मेरे मुंह पर से कोई चूहा या चूहिया निकल गई है।

दो-तीन दिन बाद पेशी के लिए हमें अदालत ले गये, और बहुत ही ऊटपटांग तरीक़े से वहां रोज़-रोज़ कार्रवाई चलने लगी। मजिस्ट्रेट या जज बिल्कुल अपढ़ मालूम पड़ता था। निःसन्देह अंग्रेज़ी तो वह जानता ही न था, मगर मुझे शक है कि वह अपनी अदालत की ज़बान उर्दू भी शायद ही जानता हो।

हम उसे एक हफ्ते से ज़्यादा देखते रहे, और इस अरसे में उसने एक भी लाइन नहीं लिखी। अगर उसे कुछ लिखना होता था तो वह सरिश्तेदार से लिखवाता था हमने कई छोटी-मोटी अर्ज़ियां पेश कीं। वह उस वक़्त उनपर कोई हुक्म नहीं लिखता था। वह उन्हें रख लेता था और दूसरे दिन उन्हें निकालता था। उनपर किसी और के ही लिखे हुए नोट रहते थे। हमने बाक़ायदा अपनी सफ़ाई नहीं दी। असहयोग-आन्दोलन में हमें अपनी पैरवी न करने की इतनी आदत हो गई थी कि जहां पैरवी करने की छूट थी वहां भी हमें सफ़ाई देने का खयाल तक प्रायः बुरा लगता था। मैंने एक लम्बा बयान पेश किया, जिसमें मैंने सारे हाल लिखे, और नाभा रियासत के तरीक़े कैसे हैं, और विशेषतया एक अंग्रेज़ के शासन में, इसपर अपनी राय भी ज़ाहिर की।

हमारा मुक़दमा दिन-ब-दिन बढ़ता ही गया, हालांकि वह एक काफ़ी सीधा-सा मामला था। अब अचानक एक नई बात और हुई। एक दिन शाम को, उस रोज़ की अदालत उठ जाने के बाद भी, हमें उसी इमारत में बिठा रक्खा। और बहुत देर में, क़रीब ७ बजे, हमें एक दूसरे कमरे में ले गये, जहां एक शख्स मेज़ के सामने बैठा था। वहाँ और भी कई लोग थे। एक आदमी—यह वही पुलिस-अफ़सर था जिसने हमें जैतो में गिरफ़्तार किया था—खड़ा हुआ और एक बयान देने लगा। मैंने पूछा कि यह कौन-सी जगह है और यहां क्या हो रहा है? तो मुझे इत्तिला दी गई कि यह अदालत है और हमपर षड्यन्त्र करने का मुक़दमा चलाया जा रहा है। यह कार्रवाई उससे बिल्कुल भिन्न थी जिसको अभीतक हम देखते थे, और जो नाभा में न दाख़िल होने के हुक्म की उदूली के सिलसिले में चल रही थी। ज़ाहिरा यह सोचा गया कि इस हुक्म-उदूली की ज़्यादा-से-ज़्यादा सज़ा तो सिर्फ़ ६ माह ही है, इसलिए यह हमारे लिए काफ़ी न होगी, लिहाज़ा और कुछ ज़्यादा संगीन इल्ज़ाम लगाना ज़रूरी है। साफ़ है कि सिर्फ़ तीन आदमी षड्यन्त्र के लिए काफ़ी नहीं थे, इसलिए एक चौथे शख्स को, जिसका हमसे कोई ताल्लुक न था, गिरफ़्तार किया गया और उसपर भी हमारे साथ ही मुक़दमा चलाया गया। इस अभागे आदमी को, जो एक सिक्ख था, हम नहीं जानते थे। हां, हमने उसे जैतो जाते वक़्त सिर्फ़ खेत में देखा-भर था!

मेरे बैरिस्टरपन को यह देखकर बड़ा धक्का लगा कि किस अचानक ढंग से एक षड्यन्त्र का मुक़दमा चलाया जा रहा है! मामला तो बिल्कुल झूठा

था ही, मगर शिष्टता के खातिर भी तो कुछ ज़ाब्ते की पाबन्दी होनी चाहिए। मैंने जज से कहा कि हमें इसकी पहले से कुछ भी इत्तिला नहीं दी गई और हम अपनी सफ़ाई का इन्तज़ाम भी करना चाहेंगे। मगर इसकी उसने कुछ भी चिन्ता न की। यह नाभा का निराला तरीक़ा था। अगर हमें सफ़ाई के लिए कोई वकील करना हो तो वह नाभा का ही होना चाहिए। जब मैंने कहा कि मैं बाहर का कोई वकील करना चाहूँगा, तो मुझे जवाब मिला कि नाभा के क़ायदों में इसकी इजाज़त नहीं है। इससे नाभा के ज़ाब्ते की विचित्रताओं का हमें और भी ज्ञान हुआ। हमें एक तरह की नफ़रत हो गई, और हमने जज से कह दिया कि जो उसके जी में आवे करे, हम लोग इस कार्रवाई में कोई हिस्सा न लेंगे। किन्तु मैं इस निर्णय पर पूरी तरह कायम न रह सका। अपने बारे में अत्यन्त आश्चर्यजनक झूठी बातें सुनकर चुप रहना मुश्किल था, और इसलिए कभी-कभी हम गवाहों के बारे में मुख़्तसर तौर पर मौक़े-मौक़े से अपनी राय ज़ाहिर करते जाते थे। हमने अदालत को असली वाक़यात के बारे में एक तहरीरी बयान दिया। यह दूसरा जज, जो षड्यन्त्र का मुक़दमा चला रहा था, पहले से ज़्यादा शिक्षित और समझदार था।

ये दोनों मुक़दमे चलते रहे और हम दोनों अदालतों में जाने का रोज़ इन्तज़ार किया करते थे, क्योंकि इससे जेल की गंदी कोठरी से तबतक के लिए छुटकारा तो हो ही जाता था। इसी दरमियान एडमिनिस्ट्रेटर की तरफ़ से जेल का सुपरिण्टेण्डेण्ट हमारे पास आया और उसने हमसे कहा कि अगर हम अफ़सोस जाहिर कर दें और नाभा से चले जाने का वचन दे दें, तो हमपर से मुक़दमा उठा लिया जा सकता है। हमने कहा कि हम किस बात का अफ़सोस जाहिर करें ? हमने कोई ऐसी बात नहीं की है, उल्टे रियासत को हमसे माफ़ी मांगनी चाहिए। हम किसी क़िस्म का वचन देने को भी तैयार नहीं हैं।

गिरफ़्तारी के क़रीब दो हफ़्ते बाद आखिर मुक़दमे खतम हुए। यह सारा वक़्त इस्तग़ासे में ही लगा, क्योंकि हम तो अपनी पैरवी कर ही नहीं रहे थे। ज़्यादा वक़्त तो देर-देर तक इन्तज़ार करने में लगा, क्योंकि जहां-कहीं ज़रा-सी भी कठिनाई पैदा होती थी वहीं कार्रवाई मुल्तवी कर दी जाती थी या उसकी बाबत किसी अन्दरूनी अफ़सर से, जो शायद अंग्रेज़ एडमिनिस्ट्रेटर ही था, पूछने की ज़रूरत होती थी। आखिरी दिन, जबकि इस्तग़ासे की तरफ़ से मामला

ख़त्म किया गया, हमने भी अपने तहरीरी बयान दे दिये। पहले जज ने कार्रवाई ख़त्म कर दी, और यह जानकर हमें बड़ा ताज्जुब हुआ कि वह थोड़ी ही देर में फिर वापस आ गया और उसके साथ उर्दू में लिखा हुआ एक बड़ा भारी फ़ैसला था। यह ज़ाहिर है कि यह भारी फ़ैसला इतने थोड़े अरसे में नहीं लिखा जा सकता था। यह फ़ैसला हमारे बयान देने से पहले ही तैयार हो गया था। फ़ैसला पढ़कर सुनाया नहीं गया। हमें सिर्फ़ इतना कह दिया गया कि हमें नाभा इलाक़े में से चले जाने के हुक्म की उदूली करने के जुर्म में छः माह की सज़ा, जो इस जुर्म की ज्यादा-से-ज्यादा सज़ा थी, दी गई है।

उसी रोज़ षड्यन्त्र के मुक़दमे में भी हमें, ठीक-ठीक मैं भूल गया हूं, या तो अठारह माह की या दो साल की सज़ा मिली। यह सज़ा पहली छः माह की सज़ा के अलावा हुई। इस तरह हमें कुल दो या ढ़ाई साल की सज़ा दे दी गई।

हमारे मुक़दमे के दौरान में बहुत बातें ध्यान देने लायक़ हुईं, जिनसे हमें देशी रियासतों की शासन-रीति या देशी रियासतों में अंग्रेज़ों की शासन-रीति का कुछ हाल मालूम हुआ। सारी कार्रवाई एक स्वांग-जैसी थी। इसीसे शायद किसी अख़बारवाले या बाहरवाले को अदालत में आने नहीं दिया गया। पुलिस जो चाहती थी करती थी और अक्सर जज या मैजिस्ट्रेट की भी परवा नहीं करती थी, और उसकी आज्ञाओं का उल्लंघन भी करती थी। बेचारा मैजिस्ट्रेट तो यह सब बरदाश्त कर लेता था, मगर हम इसे बरदाश्त क्यों करते? कई मौक़ों पर मुझे खड़ा होना पड़ा और ज़ोर देना पड़ा कि पुलिस को मैजिस्ट्रेट के कहने के मुताबिक़ अमल करना चाहिए और उसका हुक्म मानना चाहिए। कभी-कभी पुलिस भद्दी तरह से काग़ज़ों को छीन लेती थी, और चूंकि मैजिस्ट्रेट अपनी ही अदालत में उसपर कोई कार्रवाई करने या व्यवस्था क़ायम रखने में असमर्थ था, इसलिए हमें थोड़ा-थोड़ा उसका काम करना पड़ता था। बेचारा मैजिस्ट्रेट बड़े पसोपेश में था। वह पुलिस से भी डरता था, और हमसे भी कुछ-कुछ डरा हुआ दिखाई देता था; क्योंकि अखबारों में हमारी गिरफ़्तारी की खूब चर्चा हो रही थी। जब हम-जैसे थोड़े-बहुत प्रसिद्ध राजनैतिक लोगों के साथ यह अन्धेर हो सकता था तो जो लोग कम प्रसिद्ध हैं उनका क्या हाल होता होगा?

मेरे पिताजी को देशी रियासतों का हाल कुछ-कुछ मालूम था, इसलिए वह नाभा में मेरी यकायक गिरफ़्तारी से बहुत परेशान हुए। उन्हें सिर्फ़ गिरफ़्तारी

का वाक़या मालूम हुआ; मगर इसके अलावा और कोई ख़बर बाहर न जा पाई। अपनी परेशानी में उन्होंने मेरे समाचार जानने के लिए वाइसराय को भी तार दे डाला। नाभा में मुझसे मिलने के बारे में उनके रास्ते में बहुत मुश्किलें खड़ी कर दी गईं। मगर आख़िर उन्हें जेल में मुझसे मुलाक़ात करने की इजाज़त मिल गयी। परन्तु वह मेरी कोई मदद नहीं कर सकते थे, क्योंकि मैं अपनी सफ़ाई भी पेश नहीं कर रहा था। मैंने उनसे कहा कि वह इलाहाबाद वापस चले जायं और कोई चिन्ता न करें। वह लौट गये, लेकिन कपिलदेव मालवीय को, जो हमारे एक युवक साथी-वकील हैं, नाभा में मुक़दमे की कार्रवाई पर ध्यान रखने को छोड़ गये। नाभा की अदालतों को थोड़े दिन देखकर कपिलदेव की क़ानून और ज़ाब्ते-सम्बन्धी जानकारी में काफ़ी वृद्धि हुई होगी। पुलिस ने खुली अदालत में उनके कुछ काग़ज़ात ज़बरदस्ती छीन लेने की भी कोशिश की थी।

ज़्यादातर देशी रियासतें पिछड़ी हुई हैं और उनकी हालत जागीरदारी-पद्धति की याद दिलाती है, यह सब जानते हैं। वहां अकेला राजा सब कुछ कर सकता है। उनमें न तो योग्यता ही होती है और न लोक-हित का भाव। वहां बड़ी-बड़ी अजीब बातें हुआ करती हैं, जो कभी प्रकाश में नहीं आतीं। मगर उनकी अयोग्यता से ही किसी-न-किसी तरह यह बुराई कम हो जाती है, और उनकी बदक़िस्मत प्रजा का बोझ कुछ हलका हो जाता है। क्योंकि इसी कारण वहां की कार्यकारिणी सत्ता में भी कमज़ोरी रहती है, जिससे ज़ुल्म और बेइन्साफ़ी करने में भी अयोग्यता से काम लिया जाता है। इससे ज़ुल्म ज्यादा बरदाश्त करने लायक नहीं हो जाता, बल्कि हां इससे वह कम गहरा और व्यापक हो जाता है। मगर देशी रियासत में जब अंग्रेजी सरकार खुद हुकूमत अपने हाथ में ले लेती है, तब उसका एक विचित्र नतीजा यह होता है कि यह हालत नहीं रहती। जागीरदारी-पद्धति क़ायम रक्खी जाती है, एकतंत्र भी ज्यों-का-त्यों रहता है, पुराने सब क़ानून और ज़ाब्ते ही जायज़ माने जाते हैं, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, संगठन और मत-प्रकाशन (और इनमें सबकुछ शामिल है) आदि पर सारे बन्धन क़ायम रहते हैं, मगर एक तब्दीली ऐसी हो जाती है, जिससे सारी हालत बदल जाती है। कार्यकारिणी सत्ता ज्यादा मज़बूत हो जाती है, और क़ायदे और उनकी पाबन्दी बढ़ जाती है। इससे जागीरदारी-प्रथा में और एकतंत्र शासन में रहने-वाले सब बन्धन सख़्त हो जाते हैं। धीरे-धीरे अंग्रेज़ी हुक़ूमत पुराने रिवाज़ों और

तरीक़ों में बेशक कुछ परिवर्तन करती है, क्योंकि इनसे अच्छी तरह हुकूमत और व्यापारिक प्रवेश करने में रुकावटें आती हैं। मगर शुरू-शुरू में तो वह लोगों पर अपना प्रभुत्व मज़बूत करने के लिए उन पुराने रिवाजों और तरीक़ों से पूरा फ़ायदा उठाती है। इधर लोगों को अब जागीरदारी तंत्र और एकतन्त्र-सत्ता ही नहीं, बल्कि एक मज़बूत कार्यकारिणी-द्वारा उनकी सख़्त पाबन्दी भी बरदाश्त करनी पड़ती है।

मैंने नाभा में कुछ ऐसा ही हाल देखा। रियासत का इन्तज़ाम एक अंग्रेज़ एडमिनिस्ट्रेटर के हाथ में था, जो इंडियन सिविल सर्विस का मेम्बर था, और उसे एकतन्त्र शासक के पूरे इख़्तियार थे। वह सिर्फ़ भारत-सरकार के मातहत था और फिर भी हर मर्त्तबा हमें, अपने अत्यन्त सामान्य अधिकारों के छीन लिये जाने की पुष्टि में, नाभा के क़ायदे-क़ानूनों का हवाला दिया जाता था। हमें जागीरदारी तन्त्र और आधुनिक नौकरशाही तन्त्र की खिचड़ी का मुक़ाबला करना पड़ा, जिसमें बुराइयां दोनों की शामिल थी, लेकिन अच्छाई एक भी न थी।

इस तरह हमारा मुकदमा खत्म हुआ और हमें सजा हो गई। फ़ैसलों में क्या लिखा था यह हमें मालूम नहीं, मगर इस असल बात से कि हमें लम्बी सज़ा मिली है, हमारी झुंझलाहट कुछ कम हुई। हमने फ़ैसलों की नक़लें मांगी, मगर हमें जवाब मिला कि इसके लिए बाक़ायदा अर्जी दो।

उसी शाम को जेल में सुपरिण्टेण्डेण्ट ने हमें बुलाया, और उसने हमें ज़ाब्ता फ़ौजदारी की रू से एडमिनिस्ट्रेटर का एक आदेश दिखाया जिसमें हमारी सज़ाएं स्थगित कर दी गई थीं। उसमें कोई शर्त नहीं रक्खी गई थी और इसका क़ानूनी नतीजा यह था कि जहांतक हमारा ताल्लुक़ था, हमारी सज़ाएं ख़त्म हो गईं। फिर सुपरिण्टेण्डेण्ट ने एक दूसरा हुक्म, जिसका नाम एक्जीक्यूटिव आर्डर था, दिखाया। यह भी एडमिनिस्ट्रेटर का जारी किया हुआ था। उसमें यह आदेश था कि हम नाभा छोड़कर चले जायं, और खास इजाज़त लिये बिना रियासत में न लौटें। मैंने दोनों हुक्मों की नक़लें मांगीं, मगर वे हमें नहीं दी गईं। तब हमें रेलवे स्टेशन भेज दिया गया, और हम वहां रिहा कर दिये गए। नाभा में हम किसीको भी नहीं जानते थे, और रात को शहर के दरवाज़े भी बन्द हो गये थे। हमें पता लगा कि अभी अम्बाला को एक गाड़ी जानेवाली है और हम उसीमें बैठ गये। अम्बाला से मैं दिल्ली और वहां से इलाहाबाद चला गया।

इलाहाबाद से मैंने एडमिनिस्ट्रेटर को पत्र लिखा कि मुझे दोनों हुक्मों की नक़लें भेज दीजिए, जिससे मुझे मालूम हो सके कि सचमुच वह किस तरह के हुक्म हैं, और साथ ही दोनों फ़ैसलों की नक़लें भी। उसने किसी चीज़ की भी नक़ल देने से इन्कार कर दिया। मैंने बताया कि शायद मुझे अपील करनी पड़े। मगर वह इन्कार ही करता रहा। कई बार कोशिश करने पर भी मुझे इन फ़ैसलों को, जिनके द्वारा मुझे और मेरे दो साथियों को दो या ढाई साल की सज़ा मिली, पढ़ने का मौक़ा नहीं मिला। मुझे पता होना चाहिए कि ये सज़ाएं अब भी मेरे नाम पर लिखी हुई होंगी, और जब कभी नाभा के अधिकारी या ब्रिटिश सरकार चाहें, उसी वक़्त मुझपर लागू की जा सकेंगी।

हम तीन तो इस तरह 'मौक़ूफ़ी' की हालत में छोड़ दिये गए, मगर मैं इस बात का पता नहीं लगा सका कि षड्यन्त्र के चौथे आदमी, उस सिक्ख, का क्या हुआ जो दूसरे मुक़दमे के लिए हमारे साथ जोड़ दिया गया था। बहुत मुमकिन है कि वह छोड़ा न गया हो। उसकी मदद में किसी शक्तिशाली मित्र या पब्लिक की आवाज़ न थी, और कई दूसरे आदमियों की तरह रियासती जेल में जाकर वह अन्धेरे में पड़ा होगा। मगर हम उसे नहीं भूले। हमसे जो कुछ बना वह हम करते रहे, किन्तु उससे कुछ हुआ नहीं। मेरा ख़याल है कि गुरुद्वारा-कमेटी ने भी इस मामले में दिलचस्पी ली थी। हमें पता लगा कि वह पुराने 'कोमागाटा मारू' दल का एक आदमी था, और लम्बे अरसे तक जेल में रहकर हाल में ही छूटकर आया था। पुलिसवाले ऐसे आदमियों को बाहर रहने देने का सिद्धान्त नहीं मानते, और इसलिए उन्होंने बनावटी इलज़ाम में हमारे साथ उसे भी फांस लिया।

हम तीनों—गिडवानी, सन्तानम् और मैं—नाभा-जेल की कोठरी से एक दुःखदायी साथी अपने साथ ले आये। वह था विषमज्वर का कीटाणु; क्योंकि हम तीनों पर ही विषमज्वर का हमला हुआ। मेरी बीमारी ज़ोर की थी और शायद ख़तरनाक भी थी, मगर उसकी मियाद दोनों से कम थी, और मैं सिर्फ़ तीन या चार हफ़्ते ही बिस्तर पर रहा। मगर बाक़ी दोनों तो लम्बे अरसे तक बहुत बुरी हालत में बीमार पड़े रहे।

इस नाभा की घटना के बाद एक और भी बात हुई। शायद छः या ज्यादा महीने बाद गिडवानी अमृतसर में सिख-गुरुद्वारा-कमेटी से सम्पर्क रखने के लिए

कांग्रेस-प्रतिनिधि का काम करते थे। कमेटी ने जैतो को पांच सौ आदिमियों का एक खास जत्था भेजा, और गिडवानी ने दर्शक की तरह से नाभा की हदतक उसके साथ-साथ जाने का निश्चय किया। नाभा की हद में दाखिल होने का उनका कोई इरादा न था। सरहद के पास जत्थे पर पुलिस ने गोली चलाई और मेरे ख्याल से बहुत आदमी घायल हुए और मरे। गिडवानी घायलों की मदद करने गये तो पुलिसवाले उनपर टूट पड़े और उनको पकड़कर ले गये। उनके खिलाफ़ अदालत में कोई कार्रवाई नहीं की गई। उन्हें क़रीब-क़रीब एक साल तक जेल में योंही पटक रक्खा, और बाद में बहुत ख़राब तन्दुरुस्ती की हालत में वह छोड़े गये।

गिडवानी की गिरफ़्तारी और उनका जेल में रक्खा जाना मुझे कार्यकारिणी सत्ता का एक भयंकर दुरुपयोग मालूम हुआ। मैंने एडमिनिस्ट्रेटर को (जोकि वही अंग्रेज़ आई० सी० एस० था) ख़त लिखा और उससे पूछा कि गिडवानी के साथ ऐसा क्यों किया गया? उसने जवाब में लिखा कि उन्हें इसलिए गिरफ़्तार किया गया था कि उन्होंने नाभा के इलाक़े में बिला इजाज़त न आने की आज्ञा का उल्लंघन किया था। मैंने चुनौती दी कि क़ानून के मुताबिक़ भी यह ठीक न था, और साथ ही लिखा कि घायलों की मदद देते हुए उनको गिरफ़्तार करना मुनासिब न था। उस आर्डर की नक़ल मुझे भेजने या प्रकाशित करने के लिए भी मैंने एडमिनिस्ट्रेटर को लिखा। मगर उसने ऐसा करने से इन्कार कर दिया। मेरा इरादा हुआ कि मैं खुद भी नाभा जाऊं और एडमिनिस्ट्रेटर को अपने साथ भी वही बर्ताव करने दूं जैसाकि गिडवानी के साथ हुआ। अपने साथी के साथ वफ़ादारी का तो यही तक़ाज़ा था। मगर मेरे कई दोस्तों ने ऐसा करने की राय न दी और मेरा इरादा बदलवा दिया। सच तो यह है कि मैंने अपने दोस्तों की सलाह का बहाना ले लिया, और उसमें अपनी कमजोरी को छिपा लिया। क्योंकि, आखिरकार यह मेरी अपनी कमज़ोरी और नाभा-जेल में दुबारा जाने की अनिच्छा ही थी जिसने मुझे वहां जाने से रोका। मैं अपने साथी को इस तरह छोड़ देने पर कुछ-कुछ शर्मिन्दा हमेशा रहा हूं। इस तरह, जैसाकि हम सब अक्सर करते हैं, बहादुरी के स्थान पर अक़्लमन्दी को प्रधानता मिली।

: १७ :

कोकनाडा और मुहम्मद अली

दिसम्बर १९२३ में कांग्रेस का सालाना अधिवेशन कोकनाडा (दक्षिण) में हुआ। मौलाना मुहम्मद अली उसके अध्यक्ष थे, और जैसीकि उनकी आदत थी, सभापति की हैसियत से उन्होंने अपनी लम्बी-चौड़ी स्पीच पढ़ी। लेकिन वह थी दिलचस्प। उसमें उन्होंने यह दिखाया कि मुसलमानों में किस तरह राजनैतिक व साम्प्रदायिक भावना बढ़ती गई। उन्होंने बताया कि १९०८ में आगाखां के नेतृत्व में जो डेपुटेशन वाइसराय से मिला था और जिसकी कोशिश से ही सरकार ने पहली बार पृथक् निर्वाचन के पक्ष में घोषणा की थी, वह एक कैसी जबर्दस्त चाल थी, जिसके मूल में खास सरकार का ही हाथ था।

मुहम्मद अली ने मुझे, मेरी इच्छा के बहुत खिलाफ़ अपने सभापति-काल में अखिल भारतीय कांग्रेस-कमेटी का सेक्रेटरी बनने के लिए राज़ी किया। कांग्रेस की भावी नीति के सम्बन्ध में मुझे साफ़-साफ़ पता न था, ऐसी हालत में मैं नहीं चाहता था कि कोई व्यवस्था-सम्बन्धी ज़िम्मेदारी अपने ऊपर लूं।

लेकिन मैं मुहम्मद अली को इन्कार नहीं कर सकता था; क्योंकि हम दोनों ने महसूस किया कि कोई दूसरा सेक्रेटरी शायद नये अध्यक्ष के साथ उतनी अच्छी तरह से काम न कर सके जितना कि मैं। रुचि और अरुचि दोनों में वे सख्त आदमी थे। और सौभाग्य से मैं उन लोगों में से था जो उनकी 'रुचि' में आते थे। हम दोनों प्रेम और परस्पर की गुणग्राहकता के धागे से बंधे हुए थे। वह प्रबल धार्मिक—और मेरी समझ से बुद्धि-विरुद्ध धार्मिक—थे और मैं वैसा नहीं था। मगर मैं उनकी सरगर्मी, अतिशय कार्य-शक्ति और प्रखर बुद्धि से आकर्षित था। वह बड़े चपल वाक्पटु थे। लेकिन कभी-कभी उनका भयंकर व्यंग दिल को चोट पहुंचा देता था और इससे उनके बहुतेरे दोस्त कम हो गये थे। कोई बढ़िया टिप्पणी मन में आई तो उसे मन में रख लेना उनके लिए असम्भव था—फिर उसका नतीजा चाहे कुछ हो।

उनके सभापति-काल में हम दोनों की गाड़ी ठीक-ठीक चली—हालांकि कई छोटी-छोटी बातों में हमारा मतभेद रहता था। अखिल भारतीय कांग्रेस-कमेटी के दफ़्तर में मैंने एक नया रिवाज़ चलाया था—किसीके भी नाम के आगे-पीछे कोई प्रत्यय या पदवी वग़ैरा न लिखी जाय। महात्मा, मौलाना, शेख़, सैयद, मुन्शी, मौलवी और आजकल के श्रीयुत और श्री और मिस्टर तथा एस्क्वायर वग़ैरा जो बहुत-से ऐसे मानवाचक शब्द हैं और इनका प्रयोग इतनी बहुतायत से और अक्सर अनावश्यक होता है कि मैं इस बारे में एक अच्छा उदाहरण पेश करना चाहता था। लेकिन मैं ऐसा कर नहीं पाया। मुहम्मद अली ने बहुत बिगड़कर मुझे एक तार भेजा, जिसमें प्रधान की हैसियत से मुझे आज्ञा दी थी कि मैं पुराने तरीके से ही काम लूं, और ख़ासतौर पर गांधीजी को हमेशा महात्मा लिखा करूं।

एक और विषय था जिसमें अक्सर हमारी बहस हुआ करती, और वह था ईश्वर। मुहम्मदअली एक अजीब तरीक़े से अल्लाह का ज़िक्र कांग्रेस के प्रस्तावों में भी ले आया करते थे, या तो शुक्रिया अदा करने की शक्ल में या किसी क़िस्म की दुआ की शक्ल में। मैं इसका विरोध किया करता था। वह ज़ोर से बिगड़ते और कहते, तुम बड़े नास्तिक हो। मगर फिर भी आश्चर्य है कि वह थोड़ी देर बाद मुझसे कहते कि एक मज़हबी आदमी के ज़रूरी गुण तुममें हैं, हालांकि तुम्हारा ज़ाहिरा बर्ताव और दावा इसके ख़िलाफ़ है। और मैंने कई बार मन में सोचा है कि उनका कहना कितना सच था। शायद यह इस बात पर निर्भर करता है कि कोई मज़हब या मज़हबी के क्या मानी करता है।

मैं उनके साथ हमेशा मज़हब के मामले में बहस करना टालता था। क्योंकि मैं जानता था, इसका नतीजा यही होता कि हम दोनों एक-दूसरे पर चिढ़ उठते, और मुमकिन था कि उनका जी दुख जाता। किसी भी मत के कट्टर माननेवाले से इस क़िस्म की चर्चा करना हमेशा मुश्किल होता है। बहुत-से मुसलमानों के लिए तो यह शायद और भी मुश्किल हो; क्योंकि उनके यहां विचारों की आज़ादी मज़हबी तौर पर नहीं दी गई है। विचारों की दृष्टि से देखा जाय तो उनका सीधा मगर तंग रास्ता है और उसका अनुयायी ज़रा भी दायें-बायें नहीं जा सकता। हिन्दुओं की हालत इससे कुछ भिन्न है, सो भी हमेशा नहीं। व्यवहार में चाहे वे कट्टर हों, उनके यहां बहुत पुराने, बुरे और पीछे घसीटनेवाले रस्म-रिवाज़

माने जाते हैं, फिर भी वे धर्म के विषय में अत्यन्त क्रान्तिकारी और मौलिक विचारों की चर्चा करने के लिए भी हमेशा तैयार रहते हैं। मेरा खयाल है कि आधुनिक आर्यसमाजियों की दृष्टि आमतौर पर इतनी विशाल नहीं होती। मुसलमानों की तरह वे भी अपने सीधे और तंग रास्ते पर ही चलते हैं। विद्या-बुद्धि में बढ़े-चढ़े हिन्दुओं के यहां ऐसी कुछ दार्शनिक परम्परा चली आ रही है, जो धार्मिक प्रश्नों में भिन्न-भिन्न विचार-दृष्टियों को स्थान देती है, हालांकि व्यवहार पर उसका कोई असर नहीं पड़ता। मैं समझता हूं कि इसका आंशिक कारण यह है कि हिन्दू-जाति में तरह-तरह के और अक्सर परस्पर-विरोधी प्रमाण और रिवाज पाये जाते हैं। इस सम्बन्ध में यहांतक कहा जाता है कि हिन्दू-धर्म को साधारण अर्थ में मज़हब नहीं कह सकते। और फिर भी कितनी ग़ज़ब की दृढ़ता उसमें है! अपने-आपको ज़िन्दा रखने की कितनी ज़बरदस्त ताकत! भले ही कोई अपनेको नास्तिक कहता हो, जैसा कि चार्वाक था, फिर भी कोई यह नहीं कह सकता कि वह हिन्दू नहीं रहा। हिन्दू-धर्म अपनी सन्तानों को उनके न चाहते हुए भी पकड़ रखता है। मैं एक ब्राह्मण पैदा हुआ और मालूम होता है कि ब्राह्मण ही रहूंगा,। फिर मैं धर्म और सामाजिक रस्म-रिवाज के बारे में कुछ भी कहता और करता रहूं। हिन्दुस्तानी दुनिया के लिए मैं पण्डित ही हूं, चाहे मैं इस उपाधि को नापसन्द ही करूं। मुझे याद है कि एक बार मैं एक तुर्की विद्वान से स्वीज़रलैण्ड में मिला था। उन्हें मैंने पहले से ही एक परिचय-पत्र भेज दिया था, जिसमें मेरे लिए लिखा था—'पण्डित जवाहरलाल नेहरू।' लेकिन मिलने पर वह हैरान हुए और कुछ निराश भी। क्योंकि उन्होंने मुझसे कहा, कि 'पण्डित' शब्द से मैंने समझा था कि आप कोई बड़े विद्वान् धार्मिक वयोवृद्ध शास्त्री होंगे।

हां, तो, मुहम्मद अली और मैं मजहब पर बहस नहीं करते थे। लेकिन उनमें मौन रहने का गुण न था। और कुछ साल बाद (मैं समझता हूं, १९२५ में या १९२६ के शुरू में) वह अपनेको ज्यादा न रोक सके। एक रोज़ जब मैं उनके घर, दिल्ली में, उनसे मिला तो वह भभक उठे और बोले कि मैं तुमसे मज़हब पर जरूर बहस करना चाहता हूं। मैंने उन्हें समझाने की कोशिश की। कहा—आपके और मेरे दृष्टिकोण एक-दूसरे से बहुत जुदा हैं और हम एक-दूसरे पर कोई ज्यादा असर न डाल सकेंगे। लेकिन वह कब सुनते? उन्होंने कहा—"नहीं, हम दो-दो बातें कर ही लें। मैं समझता हूं, तुम मुझे कठमुल्ला मानते हो। मगर

में तुम्हें बताना चाहता हूं कि मैं ऐसा नहीं हूं।" उन्होंने कहा कि मैंने मजहब पर बहुत-सी किताबें पढ़ी हैं और गहराई से सोचा है। उन्होंने अपनी आलमारियां बताईं जो अलग-अलग धर्मों पर लिखी किताबों से और खासकर इस्लाम और ईसाई धर्म-सम्बन्धी किताबों से भरी हुई थीं और जिनमें कुछ आधुनिक किताबें—जैसे एच० जी० वेल्स की 'गॉड, दि इनविज़िबुल किंग'—भी थीं। महायुद्ध के दिनों में जब वह लम्बे अरसे तक नज़रबन्द रहे थे, उन्होंने क़ुरान के कई पारायण किये और कितने ही भाष्यों को पढ़ा। उन्होंने कहा कि इस सारे अध्ययन के फलस्वरूप मैंने देखा कि क़ुरान में जो कुछ लिखा गया है उसका ९७ फ़ीसदी युक्तिसंगत है, और क़ुरान को छोड़कर भी उसकी पुष्टि की जा सकती है। ३ फ़ीसदी यों प्रत्यक्षतः तो युक्तिसंगत नहीं दिखाई देता है, मगर यह ज़्यादा मुमकिन है कि जो क़ुरान ९७ फीसदी बातों पर साफ़ तौर से सही है वह बाक़ी ३ फ़ीसदी में भी सही होगा। बजाय इसके कि मेरी दुर्बल तर्क-शक्ति सही हो और क़ुरान ग़लत, वह इस नतीजे पर पहुंचे कि क़ुरान के सही होने का पक्ष भारी है और इसलिए उन्होंने कुरान को १०० फ़ीसदी सही मान लिया।

इस दलील का तर्क स्पष्ट न था, लेकिन मैं बहस करना नहीं चाहता था। किन्तु इसके बाद जो-कुछ हुआ उसे देखकर तो मैं दंग रह गया। मुहम्मद अली ने कहा कि कोई भी क़ुरान को अपने दिमाग़ का दरवाज़ा खोलकर और एक जिज्ञासु की भावना से पढ़ेगा तो ज़रूर ही वह उसकी सचाई का क़ायल हो जायगा। उन्होंने यह भी कहा कि बापू (गांधीजी) ने उसे बड़े ग़ौर से पढ़ा है और वह जरूर इस्लाम की सचाई के क़ायल हो गये होंगे। लेकिन उनके दिल में जो घमंड है, वह उन्हें इसको ज़ाहिर करने से मना करता है।

मुहम्मद अली अपने इस साल के सभापति-काल के बाद से धीरे-धीरे कांग्रेस से दूर हटने लगे। या, जैसा कि वह कहते, कांग्रेस उनसे दूर हटने लगी। मगर यह हुआ बहुत धीरे-धीरे। कई साल आगे तक यों वह कांग्रेस में अखिल भारतीय कांग्रेस-कमेटी में आते रहे और उनमें ज़ोर-ज़ोर से हिस्सा लेते रहे, लेकिन खाई चौड़ी होती गई और अनबन बढ़ती ही गई। शायद किसी खास व्यक्ति या व्यक्तियों पर इसका दोष नहीं लगाया जा सकता। मगर देश की वास्तविक परिस्थिति जैसी बन गई थी उसमें ऐसा हुए बिना रह नहीं सकता था। लेकिन यह हुआ बहुत ही बुरा। और इससे हम बहुतों के जी को बड़ा दुःख हुआ। क्योंकि जाति-

गत मामले में कैसा ही भेद रहा हो, राजनैतिक मामले में हमारा उनका कम मतभेद था। भारतीय स्वाधीनता का विचार उन्हें भी बहुत भाता था। और चूंकि उनकी और हमारी राजनैतिक दृष्टि एक थी, इसलिए हमेशा इस बात की सम्भावना रहती थी कि जातिगत, या यों कहें कि साम्प्रदायिक प्रश्न पर उनके साथ कोई ऐसी तजवीज़ हो सकती थी जो कि दोनों के लिए सन्तोषजनक हो। राजनैतिक दृष्टि से उन प्रतिगामी लोगों से, जो अपने को जातिगत स्वार्थों के रक्षक बताते हैं, उनकी कोई बात मेल नहीं खाती थी।

हिन्दुस्तान के लिए यह दुर्भाग्य की बात हुई कि १९२८ की गर्मियों में वह यहां से यूरोप चले गये। उस वक्त इस जातिगत समस्या को सुलझाने के लिए बड़े ज़ोर की कोशिश की गई थी और वह क़रीब-क़रीब कामयाबी की हद तक जा पहुंची थी। अगर मुहम्मदअली यहां होते तो अनुमान होता है कि मामला और ही शक्ल इख़्तियार करता। लेकिन जबतक वह वापस लौटे तबतक यहां सब टूट-टाट चुका था और स्वाभाविक तौर पर वे विरोधी पक्ष में मिल गये।

दो साल बाद, १९३० में, जब सत्याग्रह-आन्दोलन ज़ोर पर था और हमारे भाई-बहन धड़ाधड़ जेल जा रहे थे, मुहम्मदअली ने कांग्रेस के निर्णय की परवा न कर गोलमेज़-परिषद में जाना पसन्द किया। इससे मेरे जी को बड़ा दुःख हुआ। मैं मानता हूं कि वह भी अपने दिल में दुःखी ही हुए होंगे। और लन्दन में उन्होंने जो कुछ किया उससे इसका काफ़ी प्रमाण मिलता है। उन्होंने महसूस किया कि उनकी असली जगह हिन्दुस्तान में और लड़ाई के मैदान में है, न कि लन्दन के कान्फ्रेंस-भवन में। और अगर वह हिन्दुस्तान वापस आये होते तो मुझे यक़ीन है कि वह सत्याग्रह में शरीक हो गये होते। उनका स्वास्थ्य बहुत ही बिगड़ गया था और बरसों से बीमारी उनपर हावी हो रही थी। लन्दन में जाकर उन्होंने बड़ी चिन्ता के साथ कुछ-न-कुछ काम की चीज़ें पाने की जो कोशिश की, और ख़ासकर ऐसे समय जबकि उन्हें आराम और इलाज की ज़रूरत थी, उससे उनके आख़िरी दिन और नज़दीक आ गये। नैनी-जेल में मुझे उनके मरने की ख़बर से बड़ा धक्का लगा।

दिसम्बर १९२९ में लाहौर-कांग्रेस के वक़्त आख़िरी दफ़ा मैं उनसे मिला था। मेरे सभापति-पद से दिये गये भाषण के कुछ हिस्से से वह नाराज़ थे और उन्होंने बड़े ज़ोर से उसकी आलोचना भी की। उन्होंने देखा कि कांग्रेस सरपट दौड़ी

जा रही है और राजनैतिक दृष्टि से बहुत तेज़ होती जा रही है। वह ख़ुद भी कम तेज़ न थे, और इसलिए ख़ुद पीछे रह जाना और दूसरे का मैदान में आगे बढ़ जाना उन्हें पसन्द न था। उन्होंने मुझे गम्भीर चेतावनी दी—"जवाहर! मैं तुम्हें चेताये देता हूं कि तुम्हारे आज के ये संगी-साथी सब तुमको अकेला छोड़ देंगे। जब कोई मुसीबत का और आनबान का मौक़ा आयगा उसी वक़्त ये तुम्हारा साथ छोड़ देंगे। याद रखना, ख़ुद तुम्हारे कांग्रेसी ही तुम्हें फांसी के तख़्ते पर भेज देंगे।" कैसी मनहूस भविष्यवाणी थी!

कोकनाडा-कांग्रेस (१९२३) में मेरे लिए एक ख़ास दिलचस्पी की बात थी; क्योंकि वहीं हिंदुस्तानी सेवा-दल की नींव रक्खी गई। स्वयंसेवक-दल इससे पहले नहीं थे सो बात नहीं। वे इन्तज़ाम भी करते थे और जेल भी जाते थे। मगर उनमें अनुशासन और आन्तरिक एकता का भाव बहुत कम था। डॉक्टर नारायण सुब्बाराव हार्डीकर को यह बात सूझी कि राष्ट्रीय कार्यों के लिए क्यों न एक अच्छा अनुशासनबद्ध स्वयंसेवक-दल बना लिया जाय जो कांग्रेस के पथ-प्रदर्शन में राष्ट्रीय काम करे? उन्होंने इसमें सहयोग देने के लिए मुझसे आग्रह किया और मैंने बड़ी खुशी से उसे मंजूर किया; क्योंकि यह विचार मुझे पसंद आया था। इसकी शुरूआत कोकनाडा में हुई। बाद को हमें यह जानकर आश्चर्य हुआ कि बड़े-बड़े कांग्रेसियों की तरफ से भी सेवा-दल के सवाल पर कैसा विरोध-भाव प्रकट हुआ था। कुछ लोगों ने कहा कि कांग्रेस के लिए ऐसा करना ख़तरनाक होगा। यह तो कांग्रेस में फ़ौजी तत्त्व को लाने जैसा है। और यह फ़ौजी तत्त्व, उन्हें भय था, कि कहीं कांग्रेस की मुल्की सत्ता को ही न धर दबाये! दूसरे कुछ लोगों का यह ख़याल दिखाई दिया कि स्वयंसेवकों के पद के लिए तो सिर्फ़ इतना ही अनुशासन काफ़ी है कि वे ऊपर से मिले आदेशों का पालन करते रहें। कुछके ख़याल में उन्हें क़दम मिलाकर चलने की भी ऐसी ज़रूरत नहीं। कुछ लोगों के दिल में भीतर-भीतर यह ख़याल था कि तालीम और क़वायदयाफ़्ता स्वयंसेवकों का रखना एक तरह से कांग्रेस के अहिंसा-सिद्धान्त से मेल नहीं खाता। लेकिन हार्डीकर इस काम में भिड़ ही गये और बरसों की मेहनत के बाद उन्होंने प्रत्यक्ष दिखला दिया कि ये तालीमयाफ़्ता स्वयंसेबक कितने ज्यादा कार्यकुशल और अहिंसात्मक भी हो सकते हैं।

कोकनाडा से लौटने के बाद ही, जनवरी १९२४ में मुझे इलाहाबाद में एक

नये ढंग का तजरबा हुआ। मैं अपनी याददाश्त से यह लिख रहा हूं और मुमकिन है कि तारीखों के सम्बन्ध में कुछ भूल और गड़बड़ हो। मैं समझता हूं, वह कुम्भ या अर्द्धकुम्भ के मेले का साल था। लाखों यात्री संगम, यानी त्रिवेणी, नहाने आते हैं। गंगा का पाट यों कोई एक मील चौड़ा है, मगर जाड़े में धारा सिकुड़ जाती है, और दोनों तरफ़ बालू का बड़ा मैदान छोड़ देती है, जो कि यात्रियों के ठहरने के लिए बड़ा उपयोगी हो जाता है। अपने इस पाट में गंगा अक्सर अपना बहाव बदलती रहती है। १९२४ में गंगा की धारा इस तरह हो गई थी कि यात्रियों के लिए नहाना अवश्य ही खतरनाक था। कुछ पाबन्दियां और अहतियात लगाकर और एक वक्त में नहानेवालों की तादाद मुक़र्रर करके यह ख़तरा कम किया जा सकता था।

मुझे इस मामले में किसी क़िस्म की दिलचस्पी न थी; क्योंकि ऐसे पर्वों के अवसर पर गंगा नहाकर पुण्य कमाने की मुझे तो चाह नहीं थी। लेकिन मैंने अख़-बारों में पढ़ा कि इस मामले में पं० मदनमोहन मालवीय और प्रान्तीय सरकार के बीच एक चर्चा छिड़ गई है, क्योंकि प्रान्तीय सरकार ने एक ऐसा फ़रमान निकाल दिया था कि कोई संगम पर न नहाने पाये। मालवीयजी ने इसपर ऐतराज़ किया; क्योंकि धार्मिक दृष्टि से तो संगम पर नहाने का ही महत्त्व था। इधर सरकार का अहतियात रखना भी ठीक ही था कि जिससे जान का ख़तरा न रहे। लेकिन सदा की तरह उसने निहायत ही बेवक़ूफ़ी और चिढ़ा देनेवाले ढंग से इस सम्बन्ध में कार्रवाई की थी।

कुम्भ के दिन सुबह ही मैं मेला देखने गया। मेरा कोई इरादा नहाने का न था। गंगा-किनारे पहुंचने पर मैंने सुना कि मालवीयजी ने जिला-मजिस्ट्रेट को एक सौम्य चेतावनी दे दी है, जिसमें त्रिवेणी में नहाने की इजाज़त मांगी गई है। मालवीयजी गरम हो रहे थे और वातावरण में क्षोभ फैला हुआ था। जिला-मजिस्ट्रेट ने इजाज़त नहीं दी तब मालवीयजी ने सत्याग्रह करने का निश्चय किया, और कोई दो सौ लोगों को साथ लेकर वह संगम की तरफ बढ़े। इन घटनाओं से मेरी दिलचस्पी थी, और मैं उसी वक्त जोश में आकर सत्याग्रही-दल में शामिल हो गया। मैदान के उस पार लकड़ियों का एक जबरदस्त घेरा बनादिया गया था कि लोग संगम तक पहुंचने से बचें। जब हम इस ऊंचे घेरे तक पहुंचे तो पुलिस ने हमें रोका और एक सीढ़ी, जो हम साथ लिये हुए थे, छीन ली। हम तो थे

घोड़ों के बीच अद्भुत रीति से निकलकर उन्होंने भी गोता लगा लिया। यों तो किसी भी शख़्स के लिए इस तरह गोता लगाना आश्चर्य की बात होती, लेकिन मालवीयजी जैसे बूढ़े और दुर्बल-शरीर व्यक्ति के लिए तो ऐसा करना बहुत ही चकित कर देनेवाला था। ख़ैर; हम सबने उनका अनुकरण किया। हम सब पानी में कूद पड़े। पुलिस और घुड़सेना ने हमें पीछे हटाने की थोड़ी-बहुत कोशिश की, मगर बाद को रुक गई। थोड़ी देर बाद वह वहांसे हटा ली गयी।

हमने सोचा था कि सरकार हमारे ख़िलाफ़ कोई कार्रवाई करेगी। मगर ऐसा कुछ नहीं हुआ। शायद सरकार मालवीयजी के ख़िलाफ़ कुछ करना नहीं चाहती थी, और इसलिए बड़े के पीछे हम छुटभैये भी अपने-आप बच गये।

: १८ :

पिताजी और गांधीजी

१९२४ के शुरू में यकायक ख़बर आई कि गांधीजी जेल में बहुत ज़्यादा बीमार हो गये हैं, जिसकी वजह से वह अस्पताल पहुंचा दिये गए हैं और वहां उनका ऑपरेशन हुआ है। इस ख़बर को सुनकर चिन्ता के मारे हिन्दुस्तान सन्न हो गया। हम लोग डर से परेशान थे और दम साधकर ख़बरों का इन्तज़ार करते थे। अख़ीर में संकट गुज़र गया और देश के तमाम हिस्सों से लोगों की टोलियां उन्हें देखने के लिए पूना पहुंचने लगीं। इस वक़्त तक वह अस्पताल में ही थे। क़ैदी होने की वजह से उनके ऊपर गारद रहती थी, लेकिन कुछ दोस्तों को उनसे मिलने की इजाज़त थी। मैं और पिताजी उनसे अस्पताल में ही मिले।

अस्पताल से वह वापस जेल नहीं ले जाये गए। जब उनकी कमज़ोरी दूर हो रही थी तभी सरकार ने उनकी बाकी सज़ा रद्द करके उन्हें छोड़ दिया। उस वक्त जो छः साल की सज़ा उन्हें मिली थी उसमें से क़रीब-क़रीब दो साल की सज़ा वह काट चुके थे। अपनी तन्दुरुस्ती ठीक करने के लिए वह बम्बई के नज़दीक समुद्र के किनारे जुहू चले गये।

हमारा परिवार भी जुहू जा पहुंचा और वहीं समुद्र के किनारे एक छोटे-से बंगले में रहने लगा। हम लोगों ने कुछ हफ़्ते वहीं गुज़ारे। अरसे के बाद अपने मन के मुताबिक़ छुट्टी मिली थी; क्योंकि मैं वहां मज़े से तैर सकता था, दौड़ सकता था और समुद्र-तट की बालू पर घुड़दौड़ कर सकता था। लेकिन हमारे वहां रहने का असली मतलब छुट्टियां मनाना नहीं था, बल्कि गांधीजी के साथ देश की समस्याओं पर चर्चा करना था। पिताजी चाहते थे कि गांधीजी को यह बता दें कि स्वराजी क्या चाहते हैं और इस तरह वह गांधीजी की सक्रिय सहानुभूति नहीं, तो कम-से-कम उनका निष्क्रिय सहयोग ज़रूर हासिल कर लें। मैं भी इस बात से चिन्तित था कि जो मसले मुझे परेशान कर रहे हैं उनपर कुछ रोशनी पड़ जाय। मैं यह जानना चाहता था कि उनका आगे का कार्यक्रम क्या होगा?

जहांतक स्वराजियों से ताल्लुक़ है वहांतक उनको जुहू की बातचीत से गांधीजी को अपनी तरफ़ कर लेने में या किसी हदतक भी उनपर असर डालने में कोई कामयाबी नहीं मिली। यद्यपि बातचीत बड़े दोस्ताना ढंग से और बहुत ही शराफ़त के साथ होती थी, लेकिन यह बात तो रही हो कि आपस में कोई समझौता नहीं हो सका। यह तय रहा कि उनकी राय एक-दूसरे से नहीं मिलती और इसी मतलब के बयान अख़बारों में छपा दिये गए।

मैं भी जुहू से कुछ हद तक निराश होकर लौटा; क्योंकि गांधीजी से मेरी एक भी शंका का समाधान नहीं हुआ। अपने मामूली तरीके के मुताबिक़ उन्होंने भविष्य की बात सोचने या बहुत लम्बे अरसे के लिए कोई कार्यक्रम बनाने से साफ़ इन्कार कर दिया। उनका कहना था कि हमें धीरज के साथ लोगों की सेवा का काम करते रहना चाहिए, कांग्रेस के रचनात्मक और समाज-सुधार के कार्यक्रम को पूरा करना चाहिए और लड़ाकू काम के वक़्त का रास्ता देखना चाहिए। लेकिन हमारी असली मुश्किल तो यह थी कि ऐसा वक़्त आने पर कहीं चौरीचौरा-जैसा काण्ड तो नहीं हो जायगा, जो सारा तख़्ता ही उलट दे और हमारी लड़ाई को रोक दे। इस वक़्त गांधीजी ने हमारे इस शक का कोई जवाब नहीं दिया। न हमारे ध्येय के बारे में ही उनके विचार स्पष्ट थे। हममें से बहुत-से अपने मन में यह बात साफ़-साफ़ जान लेना चाहते थे कि आख़िर हम जा कहां रहे हैं। फिर चाहे कांग्रेस इस मामले पर कोई बाज़ाब्ता ऐलान करे या न करे। हम जानना चाहते थे कि क्या हम लोग आज़ादी के लिए और कुछ हद तक समाज-रचना में हेर-फेर के लिए अड़ेंगे, या हमारे नेता इससे बहुत कम किसी बात पर राज़ीनामा कर लेंगे। कुछ ही महीने पहले संयुक्त-प्रान्त की प्रान्तीय कान्फ्रेंस में मैंने प्रधान की हैसियत से अपने भाषण में आज़ादी पर ज़ोर दिया था। वह कान्फ्रेंस १९२६ के वसन्त में मेरे नाभा से लौटने के कुछ दिन बाद हुई थी। उन दिनों मैं उस बीमारी से ठीक हो ही रहा था, जो नाभा ने मुझे भेंट की थी। इसलिए मैं कान्फ्रेंस में शामिल नहीं हो सका, लेकिन मेरा वह भाषण जो मैंने चारपाई पर बुख़ार में पड़े-पड़े लिखा था, वहां पहुंच गया था।

जब कि हम कुछ लोग कांग्रेस में आज़ादी के मसले को साफ़ करा लेना चाहते थे, तब हमारे लिबरल दोस्त हम लोगों से इतनी दूर बह गये थे—या शायद हमीं लोगों ने उन्हें दूर बहा दिया था—कि वे सरेआम साम्राज्य की ताक़त और उसकी

शान-शौक़त पर नाज़ करते थे, फिर चाहे वह साम्राज्य हमारे देश-भाइयों के साथ पायदान का-सा बर्ताव करे और उसके उपनिवेश या तो हमारे भाइयों को अपना गुलाम बनाकर रक्खें या उनको अपने देश में घुसने ही न दें। श्री शास्त्री राजदूत बन गये थे और सर तेजबहादुर सप्रू ने १९२३ में लन्दन में होनेवाली इम्पीरियल कान्फ्रेंस में बड़े गर्व के साथ कहा था कि "मैं अभिमान के साथ कह सकता हूं कि वह मेरा ही देश है जो साम्राज्य को साम्राज्य बनाये हुए है।"

एक बहुत बड़ा समुद्र हमें इन लिबरल लीडरों से अलग किये हुए था। हम लोग अलग-अलग दुनिया में रहते थे, अलग-अलग भाषाओं में बात करते थे और हमारे सपनों में, अगर लिबरल कभी सपने देखते हों तो, कोई चीज़ ऐसी न थी जो एक-सी हो। तब क्या यह ज़रूरी न था कि हम अपने मक़सद की बाबत साफ़ और सही फ़ैसला कर लें?

लेकिन उस वक़्त ऐसे खयालात थोड़े ही लोगों को आते थे। ज़्यादातर आदमी बहुत साफ़ और ठीक-ठीक सोचना पसन्द नहीं करते थे—ख़ासतौर पर किसी राष्ट्रीय हलचल में जोकि स्वभावतः ही कुछ हद तक अस्पष्ट और धार्मिक रंग की होती है। १९२४ के शुरू के महीनों में जनता का ख़याल ज़्यादातर उन स्वराजियों की तरफ़ था जो प्रान्त की कौंसिलों और असेम्बली में गये थे। भीतर से विरोध करने और कौसिलों को तोड़ने की लम्बी-चौड़ी बातें करने के बाद यह दल क्या करेगा? हां, कुछ मज़ेदार बातें तो हुई। असेम्बली ने उस साल बजट ठुकरा दिया, हिन्दुस्तान की आज़ादी की शर्तें तय करने के लिए गोलमेज़ में बहस की मांग करनेवाला प्रस्ताव पास हो गया। देशबन्धु के नेतृत्व में बंगाल-कौंसिल ने भी बहादुरी के साथ सरकारी ख़र्चों की मांगों को ठुकरा दिया। लेकिन असेम्बली और सूबे की कौसिलों में, दोनों में ही, वाइसराय और गवर्नर ने बजट पर सही कर दी, जिससे वे क़ानून बन गये। कुछ व्याख्यान हुए, कौंसिलों में कुछ खलबली मची, स्वराजियों में थोड़ी देर के लिए अपनी विजय पर ख़ुशी छा गई, अखबारों में अच्छे-अच्छे शीर्षक आये, लेकिन इनके अलावा और कुछ नहीं हुआ। इससे ज़्यादा वे कर ही क्या सकते थे? ज़्यादा-से-ज़्यादा वे फिर यही काम करते, लेकिन उनका नयापन चला गया था। जोश खत्म हो गया था और लोग बजटों और क़ानूनों को वाइसराय या गवर्नरों द्वारा सही होते देखने के आदी हो गये थे। इसके बाद का क़दम अवश्य ही कौंसिलों में जो स्वराजी मेम्बर थे

उनकी पहुंच के बाहर था। वह तो कौंसिल-भवन से बाहर का था।

इस साल १९२४ के बीच में किसी महीने में अहमदाबाद में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की बैठक हुई। इस बैठक में, आशा से बाहर, स्वराजियों और गांधीजी में बहुत गहरी तनातनी हो गई और अचानक कुछ विलक्षण स्थिति पैदा हो गई। शुरुआत गांधीजी की तरफ़ से हुई। उन्होंने कांग्रेस के विधान में एक ख़ास परिवर्तन करना चाहा। वह वोट देने के हक़ को और मेम्बरी से ताल्लुक़ रखनेवाले नियमों को बदल देना चाहते थे। इस वक़्त तक तो कोई कांग्रेस-विधान की पहली धारा को, जिसमें यह लिखा हुआ था कि 'कांग्रेस का उद्देश्य शान्तिमय उपायों से स्वराज लेना है', मंज़ूर करता और चार आने देता वही मेम्बर हो जाता था। अब गांधीजी चाहते थे कि सिर्फ़ वही लोग मेम्बर हो सकें जो चार आने के बजाय निश्चित परिमाण में अपने हाथ का कता हुआ सूत दें। इससे वोट देने का हक़ बहुत कम हो जाता था और इसमें कोई शक नहीं कि अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी को कोई अधिकार न था कि वह इस हक़ को इस हदतक कम करती। लेकिन जब विधान के अक्षर गांधीजी की मरज़ी के ख़िलाफ़ पड़ते है तब वह उनकी शायद ही कभी परवा करते हैं। मैं इसे विधान के साथ इतनी ज़बरदस्त ज़्यादती समझता था कि उसे देखकर मुझे बड़ा धक्का लगा और मैंने कार्य-समिति से कहा कि मन्त्री-पद से मेरा इस्तीफ़ा ले लीजिए। लेकिन इसी बीच में कुछ नई बातें और हो गई जिनकी वजह से मैंने इस पर ज़ोर नहीं दिया। अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की बैठक में देशबन्धु दास और पिताजी ने ज़ोर-शोर से इस प्रस्ताव का विरोध किया और अख़ीर में वे उसके ख़िलाफ़ अपनी पूरी नाराज़गी ज़ाहिर करने की ग़रज़ से वोट लिये जाने से कुछ पहले अपने अनुयायियों की काफ़ी तादाद के साथ उठकर चले गये। उसके बाद भी कमेटी में कुछ लोग ऐसे रह गये जो उस तजवीज़ के ख़िलाफ़ थे। प्रस्ताव बहुमत से पास हो गया, लेकिन बाद में वह वापस ले लिया गया; क्योंकि मेरे पिताजी और देशबन्धु के अटल विरोध से और स्वराजियों के उठकर चले जाने से गांधीजी पर बड़ा भारी असर पड़ा, उनकी भावना को गहरी ठेस लगी और एक मेम्बर की किसी बात से वह इतने विचलित हो गये कि अपनेको सम्हाल न सके। यह ज़ाहिर था कि उनको बहुत गहरी तकलीफ़ हुई थी। उन्होंने बड़े हृदयस्पर्शी शब्दों में कमेटी के सामने अपने विचार प्रकट किये, जिन्हें सुनकर बहुत-से मेम्बर रोने लगे। यह

एक असाधारण और दिल हिला देनेवाला दृश्य था।[1]

मैं यह कभी नहीं समझ सका कि गांधीजी हाथ-कते सूत पर ही वोट का हक़ देनेवाली उस अनोखी बात के बारे में इतना आग्रह क्यों करते थे ? क्योंकि वह यह तो जरूर ही जानते होंगे कि उसका भारी विरोध किया जायगा। शायद वह यह चाहते थे कि कांग्रेस में सिर्फ़ ऐसे शख़्स रहें जो उनके खादी वग़ैरा के रचनात्मक कार्यक्रम में श्रद्धा रखते हों; और दूसरों के लिए वह या तो यह चाहते थे कि वे

---

[1]इस वर्णन में कई स्मृति-दोष हैं। एक तो जवाहरलालजी ने ख़ुद ही सुधार लिया है, जो इस टिप्पणी में इस प्रकार है--

"यह सब हाल जेल में याददाश्त के भरोसे लिखना पड़ा था। अब मुझे मालूम हुआ है कि मेरी याददाश्त ग़लत निकली और अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी में जिन बातों पर बहस हुई उनमें से एक खास बात को मैं भूल गया और इस तरह वहां जो कुछ हुआ उसकी बाबत मैंने ग़लत ख़याल पैदा कर दिया। जिस बात से गांधीजी विचलित हुए थे वह तो एक नौजवान बंगाली (आतंकवादी) गोपीनाथ साहा से सम्बन्ध रखनेवाला प्रस्ताव था, जो मीटिंग में पेश हुआ और आख़िर में गिर गया। जहांतक मुझे याद है, उस प्रस्ताव में उसके हिंसात्मक काम (श्री डे के ख़ून) की तो निन्दा की गई थी लेकिन उसके उद्देश्य के साथ सहानुभूति प्रकट की गई थी। प्रस्ताव से भी अधिक दुःख गांधीजी को उन व्याख्यानों से हुआ जो उस प्रस्ताव के सिलसिले में दिये गए। उनसे गांधीजी को यह ख़याल हो गया कि कांग्रेस में भी बहुत-से लोग अहिंसा के विषय में गम्भीर नहीं हैं और इसी ख़याल से वह दुःखी हुए। इसके बाद फौरन ही 'यंग इण्डिया' में इस मीटिंग की बाबत लिखते हुए उन्होंने कहा--'चारों प्रस्तावों पर मेरे साथ बहुमत जरूर था, लेकिन वह इतना कम था कि मुझे तो उस बहुमत को भी अल्पमत मानना चाहिए। असल में दोनों दल क़रीब-क़रीब बराबर थे। गोपीनाथ साहावाले प्रस्ताव से मामला गम्भीर हो गया। उसपर जो व्याख्यान हुए, उनका जो नतीजा हुआ और उसके बाद मैंने जो बातें देखीं, उन सबसे मेरी आंखें खुल गईं।. . .गोपीनाथ साहा वाले प्रस्ताव के बाद गम्भीरता विदा हो गई। ऐसे मौक़े पर मुझे अपना आख़िरी प्रस्ताव पेश करना पड़ा। ज्यों-ज्यों कार्रवाई होती गई त्यों-त्यों मैं और भी गम्भीर होता गया। मेरे जी में ऐसा आया कि इस दुःखमय दृश्य से भाग जाऊं।

लोग भी उस कार्यक्रम को मान लें, नहीं तो कांग्रेस से निकाल दिये जायं। लेकिन; हालांकि बहुमत उनके साथ था फिर भी उन्होंने अपना इरादा ढीला कर दिया और दूसरे दल से समझौता कर लिया। मुझे यह देखकर हैरत हुई कि अगले तीन-चार महीनों में इस मामले में उन्होंने कई बार अपनी राय बदली। ऐसा मालूम पड़ता था कि खुद उनकी समझ में कुछ नहीं आता था कि वह कहां है और किधर जाना चाहते हैं? उनके बारे में मैं ऐसा ख़याल कभी न करता था कि उनकी भी कभी ऐसी हालत हो सकती है। इसलिए मुझे अचम्भा हुआ। मेरी राय में वह मामला खुद कोई ऐसा बहुत ज़रूरी नहीं था। वोट देने का इख़्तियार हासिल करने के लिए कुछ श्रम कराने का ख़याल बहुत अच्छा था, लेकिन ज़बरदस्ती लादने से उसका मतलब खत्म हो जाता था।

जो प्रस्ताव मेरे सुपुर्द था कि पेश करते हुए मुझे डर लगता था।... मै नहीं जानता था कि मैंने यह बात साफ़ कर दी थी या नहीं कि किसी वक्ता के प्रति मेरे दिल में मैल या दुश्मनी नहीं थी। लेकिन मेरे दिल में जिस बात का रंज था वह कांग्रेस के ध्येय या अहिंसा की नीति के प्रति लोगों की उपेक्षा और उनकी वह अनजाने ग़ैरजिम्मेवारी थी।...ऐसे प्रस्ताव का समर्थन करने को कांग्रेस में सत्तर मेम्बर तैयार थे, यह एक ऐसी बात थी जिसे देखकर मैं दंग रह गया।' गांधीजी के भाष्य के साथ यह घटना अत्यन्त उल्लेखनीय है। इससे पता चलता है कि गांधीजी अहिंसा को कितना अधिक महत्त्व देते हैं और इस बात का भी पता चलता है कि अहिंसा को अनजान में व अप्रत्यक्ष रूप से चुनौती देने की कोशिश का उनपर कैसा असर होता है। उसके बाद उन्होंने जो बहुत-सी बातें कीं वे भी ग़ालिबन तह में इसी तरह के विचारों की वजह से कीं। उनके तमाम कामों और उनकी तमाम कार्यनीति की जड़ असल में अहिंसा ही थी और अहिंसा ही है।"

जवाहरलालजी के इतना सुधार कर देने पर भी, अभी इस प्रसंग के वर्णन में भूलें रह गई हैं जिन्हें यहां सुधार कर देना ठीक होगा—

(१) स्वराजी गांधीजी के मताधिकार में सूचित परिवर्तन से बिगड़कर सभा छोड़कर नहीं चले गये थे, और न गांधीजी ने मताधिकार-सम्बन्धी वह प्रस्ताव ही वापस लिया था। इस प्रस्ताव में एक भाग सज़ा-सम्बन्धी—कोई मेम्बर अमुक परिमाण में सूत न काते तो वह सदस्य न रह सकेगा—था। यह भाग

मैं इस नतीजे पर पहुंचा कि गांधीजी को इन मुश्किलों का सामना इसलिए करना पड़ा कि वह अपरिचित वातावरण में रह रहे थे। सत्याग्रह की सीधी लड़ाई के खास मैदान में उनका मुक़ाबला कोई नहीं कर सकता था। उस मैदान में उनकी सहज बुद्धि उन्हें अचूक सही कदम रखने के लिए प्रेरित किया करती थी। जनता में सामाजिक सुधार कराने के लिए चुपचाप ख़ुद काम करने और दूसरों से काम कराने में भी वह बहुत होशियार थे। या तो दिल खोलकर लड़ाई, या सच्ची शान्ति को वह समझ सकते थे। इन दोनों के बीच की हालत उनके काम की नहीं थी।

कौंसिलों के भीतर विरोध करने और लड़ाई लड़ने के स्वराजी प्रोग्राम से वह बिल्कुल उदासीन थे। उनकी राय थी कि अगर कोई साहब कौंसिलों में जाना चाहते हैं तो वे वहां सरकार की मुख़ालफ़त करने न जायं, बल्कि बेहतर

उन सबको बहुत अखरता था। इसके प्रति विरोध दरसाने के लिए वे उठकर चले गये थे। उनके चले जाने के बाद इस भाग पर राय ली गई—पक्ष में ६७ और विपक्ष में ३७ मत आये। इसपर गांधीजी ने दूसरा प्रस्ताव पेश किया—इस आशय का कि यदि स्वराजी न चले गये होते तो उनकी रायें ख़िलाफ़ ही पड़तीं, और प्रस्ताव का यह भाग उड़ ही जाता, इसलिए यह भाग प्रस्ताव में से निकाल दिया जाय। इस तरह परिवर्तन-सम्बन्धी मूल प्रस्ताव तो क़ायम रहा, गांधीजी ने उसे वापस नहीं लिया, सिर्फ़ सजावाला अंश वापस लिया गया था।

(२) गोपीनाथ साहा-विषयक मूल प्रस्ताव गांधीजी ने पेश किया था, जिसमें गोपीनाथ द्वारा किये गये ख़ून की निन्दा की गई थी। इस पर देशबन्धु ने एक संशोधन सूचित किया था। उसमें भी निन्दा तो थी ही, परन्तु साथ ही स्तुति भी थी कि फांसी पर चढ़कर गोपीनाथ ने अपनी देशभक्ति का परिचय दिया। इससे वह निन्दा मिट जाती थी। गांधीजी ने इस संशोधन का विरोध किया। कहा—यह संशोधन अहिंसा-सिद्धान्त को मटियामेट कर देता है। गांधीजी के मूल प्रस्ताव पर ७८ और देशबन्धु के सुधार पर ७० मत मिले थे। १४८ मतदाताओं में ७० सदस्य अहिंसा के नाममात्र के हामी थे, इस ख़याल से गांधीजी को जबरदस्त आघात पहुंचा था। —हिंदी-संपादक

क़ानून बनवाने वग़ैरा के लिए सरकार से सहयोग करने के लिए जायं। अगर वे ऐसा नहीं करना चाहते तो बाहर ही रहें। स्वराजियों ने इनमें से एक भी सूरत अख़्तियार नहीं की, और इसलिए उनके साथ व्यवहार करने में उन्हें मुश्किल पड़ती थी।

लेकिन आख़िर में गांधीजी ने स्वराजियों से अपनी पटरी बैठा ली। कता हुआ सूत भी, चार आने के साथ-साथ, वोट का हक़ हासिल करने का एक साधन मान लिया गया। उन्होंने कौंसिलों में स्वराजियों के काम को लगभग अपना आशीर्वाद दे दिया। लेकिन वह ख़ुद उससे बिल्कुल अलग रहे। यह कहा जाता था कि वह राजनीति से अलग हो गये हैं, और ब्रिटिश सरकार और उसके अफ़सर यह समझते थे कि उनकी लोकप्रियता कम हो रही है और उनमें कुछ दम नहीं रहा। यह कहा जाता था कि दास और नेहरू ने गांधीजी को रंगभूमि से पीछे हटा दिया है, और ख़ुद नायक बन बैठे हैं। पिछले पन्द्रह बरसों में इस तरह की बातें समय के अनुसार उचित हेर-फेर के साथ बार-बार दुहराई गई हैं और उन्होंने हर मर्तबा यह दिखा दिया है कि हमारे शासक हिन्दुस्तानी लोगों के विचारों के बारे में कितनी कम जानकारी रखते हैं। जबसे गांधीजी हिन्दुस्तान के राजनैतिक मैदान में आये तब से उनकी लोकप्रियता में कभी कमी नहीं आई—कम-से-कम जहांतक साधारण लोगों का सम्बन्ध है, उनकी लोकप्रियता बराबर बढ़ती चली गई है, और यह सिलसिला अभी तक ज्यों-का-त्यों जारी है। लोग गांधीजी की इच्छाएं पूरी भले ही न कर सकें, क्योंकि आदमी में कमजोरियां होती हैं, लेकिन उनके दिलों में गांधीजी के लिए आदर बराबर बना हुआ है। जब देश की अवस्था अनुकूल होती है तब वे जन-आन्दोलनों के रूप में उठ खड़े होते हैं, नहीं तो चुपचाप मुंह छिपाये पड़े रहते हैं। कोई नेता शून्य में जादू की लकड़ी फेरकर जन-आन्दोलन नहीं खड़ा कर सकता। हां, एक विशेष अवस्था पैदा होने पर उनसे लाभ उठा सकता है, उन अवस्थाओं से लाभ उठाने की तैयारी कर सकता है, लेकिन स्वयं उन अवस्थाओं को पैदा नहीं कर सकता।

लेकिन यह बात सच है कि पढ़े-लिखे लोगों में गांधीजी की लोकप्रियता घटती-बढ़ती रहती है। जब आगे बढ़ने का जोश आता है तब वे उनके पीछे-पीछे चलते हैं, और जब उसकी लाज़िमी प्रतिक्रिया होती है तब वे गांधीजी की नुक्ताचीनी करने लगते हैं। लेकिन इस हालत में भी उनकी बहुत बड़ी तादाद गांधीजी

के सामने सिर झुकाती है। कुछ हद तक तो यह बात इसलिए है कि गांधीजी के प्रोग्राम के सिवा दूसरा और कोई कारगर प्रोग्राम ही नहीं है। लिबरलों या उन्हींसे मिलते-जुलते दूसरे उन-जैसे प्रतिसहयोगी वग़ैरा को कोई पूछता नहीं; और जो लोग आतंककारी हिंसा में विश्वास रखते हैं उनका आजकल की दुनिया में कोई स्थान नहीं रहा। उन्हें लोग बेकार तथा पुराने और पिछड़े हुए समझते हैं। इधर समाजवादी कार्यक्रम को लोग अभी बहुत कम जानते हैं, और कांग्रेस में ऊंची श्रेणियों के लोग जो हैं, वे उससे भड़कते हैं।

१९२४ के बीच में थोड़े वक्त के लिए जो राजनैतिक अनबन हो गई थी, उसके बाद मेरे पिताजी और गांधीजी में पुरानी दोस्ती फिर क़ायम हो गई और वह और भी ज़्यादा बढ़ गई। एक-दूसरे से उनकी राय चाहे कितनी ही ख़िलाफ़ होती, लेकिन दोनों के दिल में एक-दूसरे के लिए सद्भाव और आदर था। दोनों में आख़िर ऐसी क्या बात है, जिसकी दोनों इज्ज़त करते थे? 'विचार-प्रवाह' (Thought Currents) नाम की एक पुस्तिका में गांधीजी के लेखों का संग्रह छापा गया था। इस पुस्तिका की भूमिका पिताजी ने लिखी थी। उस भूमिका में हमें उनके मन की झलक मिल जाती है। उन्होंने लिखा है—

"मैंने महात्माओं और महान् पुरुषों की बाबत बहुत सुना है, लेकिन उनसे मिलने का आनन्द मुझे कभी नहीं मिला। और मैं यह स्वीकार करता हूं कि मुझे उनकी असली हस्ती के बारे में भी कुछ शक है। मैं तो मर्दों में और मर्दानगी में विश्वास करता हूं। इस पुस्तिका में जो विचार इकट्ठा किये गए हैं, वे एक ऐसे ही मर्द के दिमाग से निकले हैं और उनमें मर्दानगी है। वे मानव-प्रकृति के दो बड़े गुणों के नमूने हैं—यानी श्रद्धा और पुरुषार्थ के . . . . .

"जिस आदमी में न श्रद्धा है न पुरुषार्थ, वह पूछता है, 'इन सबका नतीजा क्या होगा?' यह जवाब कि जीत होगी या मौत, उसे अपील नहीं करता। इस बीच में वह विनीत और छोटा-सा व्यक्ति, अजेय शक्ति और अचल श्रद्धा के साथ सीधा खड़ा हुआ अपने देश के लोगों को मातृभूमि के लिए अपनी क़ुर्बानी करने और कष्ट सहने का अपना सन्देश देता चला जा रहा है। लाखों लोगों के हृदयों में इस सन्देश की प्रतिध्वनि उठती है। . . . . ."

और उन्होंने स्विनबर्न की ये पंक्तियां देकर अपनी भूमिका ख़त्म की—

नहीं हमारे पास रहे क्या पुरुषसिंह वे नामी,
जो कि परिस्थितियों के होवें शासक एवं स्वामी ! [1]

ज़ाहिर है कि वह इस बात पर ज़ोर देना चाहते थे कि वह गांधीजी की तारीफ़ इसलिए नहीं करते कि वह कोई साधु या महात्मा हैं, बल्कि इसलिए कि वह मर्द है। वह खुद मज़बूत तथा कभी न झुकनेवाले थे, इसलिए गांधीजी की आत्म-शक्ति की तारीफ़ करते थे। क्योंकि यह साफ़ मालूम होता था कि इस दुबले-पतले शरीरवाले छोटे-से आदमी में इस्पात की-सी मज़बूती है, कुछ चट्टान-जैसी दृढ़ता है जो शारीरिक ताकतों के सामने नहीं झुकती, फिर चाहे ये ताकतें कितनी ही बड़ी क्यों न हों। यद्यपि उनकी शक्ल-सूरत, उनका नंगा शरीर, उनकी छोटी धोती ऐसी न थी कि किसी पर बहुत धाक जमे, लेकिन उनमें कुछ पुरुषसिंहता और ऐसी बादशाहियत ज़रूर है जो दूसरों को खुशी-खुशी उनका हुक्म बजा लाने को मजबूर कर देती है। यद्यपि उन्होंने जान-बूझकर नम्रता और निरभि-मानता ग्रहण की थी, फिर भी शक्ति व अधिकार उनमें लबालब भरे हुए थे; और वह इस बात को जानते भी थे, और कभी-कभी तो वह बादशाह की तरह हुक्म देते थे जिसे पूरा करना ही पड़ता। उनकी शान्त लेकिन गहरी आंखें आदमी को जकड़ लेती और उसके दिल के भीतर तक की बातें खोज लेतीं। उनकी साफ़-सुथरी आवाज़ मीठी गूंज के साथ दिल के अन्दर घुसकर हमारे भावों को जगाकर अपनी तरफ़ खींच लेती। उनकी बात सुननेवाला चाहे एक शख्स हो या हज़ार हों, उनका चुम्बक का-सा आकर्षण उन्हें अपनी तरफ़ खींचे बिना नहीं रहता और हरेक सुननेवाला मन्त्र-मुग्ध हो जाता था। इस भाव का दिमाग़ से बहुत कम ताल्लुक़ होता था। गांधीजी दिमाग़ को अपील करने की बिल्कुल उपेक्षा करते हों सो बात नहीं। फिर भी इतना निश्चित है कि दिमाग़ व तर्क को दूसरा नम्बर मिलता था। मन्त्र-मुग्ध करने का यह जादू न तो वाग्मिता के बल से होता था और न मधुर वाक्यावली के मोहक प्रभाव से। उनकी भाषा हमेशा सरल और अर्थवती होती थी, अनावश्यक शब्दों का व्यवहार शायद ही कभी होता हो। एकमात्र उनकी पारदर्शक सच्चाई और उनका व्यक्तित्व ही दूसरों को जकड़ लेता है। उनसे मिलने पर यह ख़याल जम जाता है कि उनके भीतर प्रचण्ड

---

[1] अंग्रेजी कविता का भावानुवाद। —अनु०

आत्मशक्ति का भंडार भरा हुआ है। शायद यह भी हो कि उनके चारों तरफ़ ऐसी परम्परा बन गई है जो उचित वातावरण पैदा करने में मदद देती है। हो सकता है कि कोई अजनबी आदमी, जिसे उन परम्पराओं का पता न हो और गांधीजी के आसपास की हालतों से जिसका मेल न खाता हो, उनके जादू के असर में न आये या इस हद तक न आये; लेकिन फिर भी गांधीजी के बारे में सबसे ज़्यादा कमाल की बात यही थी और यही है कि वे अपने विरोधियों को या तो सोलहों आने जीत लेते हैं या कम-से-कम उनको निशस्त्र जरूर कर देते हैं।

यद्यपि गांधीजी प्राकृतिक सौन्दर्य की बहुत तारीफ करते हैं, लेकिन मनुष्य की बनाई चीज़ों में वह कला या ख़ूबसूरती नहीं देख सकते। उनके लिए ताजमहल ज़बरदस्ती ली हुई बेगार की प्रतिमूर्ति के सिवा और कुछ नहीं। उनमें सूघने की शक्ति की भी बहुत कमी है। फिर भी उन्होंने अपने तरीके से जीवन-यापन की कला खोज निकाली है और अपनी ज़िन्दगी को कलामय बना लिया है। उनका हरेक इशारा सार्थक और ख़ूबी लिये हुए होता है, और ख़ूबी यह है कि बनावट का नामोनिशान नहीं। उनमें न कहीं नुकीलापन है, न कटीलापन। उनमें उस अशिष्टता या हलकेपन का निशान तक नही जिसमें, दुर्भाग्य से, हमारे मध्यम वर्ग के लोग डूबे रहते है। भीतरी शान्ति पाकर वह दूसरों को भी शान्ति देते हैं। और ज़िन्दगी के कंटीले रास्ते पर मज़बूत और निडर क़दम रखते हुए चले जाते हैं।

मगर मेरे पिताजी गांधीजी से कितने भिन्न थे! उनमें भी व्यक्तित्व का बल था और बादशाहियत की मात्रा थी। स्विनबर्न की वे पंक्तियां उनके लिए भी लागू होती है। जिस किसी समाज में वह जा बैठते उसके केन्द्र वही बन जाते। जैसा कि एक अंग्रेज़ जज ने पीछे कहा था, वह जहां-कहीं भी जाकर बैठते वहीं मुखिया बन जाते। वह न तो नम्र ही थे न मुलायम ही, और गांधीजी से उलटे वह उन लोगों की ख़बर लिये बिना नहीं रहते थे जिनकी राय उनके ख़िलाफ होती थी। उन्हें इस बात का भान रहता था कि उनका मिज़ाज शाही है। उनके प्रति या तो आकर्षण होता था या तिरस्कार। कोई शख़्स उनसे उदासीन या तटस्थ नहीं रह सकता था। हरेक को या तो उन्हें पसन्द करना पड़ता था या नापसंद। चौड़ा ललाट, चुस्त होठ और सुनिश्चित ठोड़ी। इटली के अजायबघरों में रोमन सम्राटों की जो अर्द्ध-मूर्त्तियां हैं उनसे उनकी शक्ल बहुत काफ़ी मिलती थी। इटली में बहुत-से मित्रों ने जो उनकी तस्वीर देखी तो उन्होंने भी इस साम्य का

जिक्र किया था। ख़ास तौर पर उनकी ज़िन्दगी के पिछले सालों में जबकि उनका सिर सफ़ेद बालों से भर गया था, उनमें एक ख़ास क़िस्म की शालीनता और भव्यता आ गई थी जो इस दुनिया में आजकल बहुत कम दिखाई देती है। मेरे सिर पर तो बाल नहीं रहे पर उनके सिर के बाल अख़ीर तक बने रहे। मैं समझता हूं कि शायद मैं उनके साथ पक्षपात कर रहा हूं, लेकिन इस संकीर्णता और कमज़ोरी से भरी हुई दुनिया में उनकी शरीफ़ाना हस्ती की रह-रहकर याद आती है। मैं अपने चारों तरफ़ उनकी-सी अजीब ताक़त और उनकी-सी शान-शौकत को खोजता हूं, लेकिन बेकार।

मुझे याद है कि १९२४ में मैंने गांधीजी को पिताजी का एक फोटो भेजा था। इन दिनों गांधीजी की और स्वराजियों की रस्साकशी हो रही थी। इस फोटो में पिताजी के मूंछें नहीं थीं और उस वक्त तक गांधीजी ने उन्हें हमेशा सुन्दर मूंछों-सहित देखा था। इस फ़ोटो को देखकर गांधीजी चौंक गये और बहुत देर तक उसे निहारते रहे, क्योंकि मूंछें न रहने से मुंह व ठोड़ी की कठोरता और भी प्रकट हो गई थी, और कुछ सूखी-सी हँसी हँसते हुए उन्होंने कहा कि अब मैंने यह जान लिया कि मुझे किसका मुक़ाबला करना है। उनकी आंखों ने और निरन्तर हँसी ने चेहरे पर जो रेखाए बना दीं थीं, उन्होंने चेहरे की कठोरता को कम कर दिया था, फिर भी कभी-कभी आंखें चमक उठती थीं।

असेम्बली का काम पिताजी के स्वभाव के उसी तरह अनुकूल था जिस तरह बतख़ का पानी में तैरना। वह काम उनकी कानूनी और विधान-सम्बन्धी तालीम के लिए मौज़ूं था। सत्याग्रह तथा उसकी शाखाओं के खेल के नियम तो वह नहीं जानते थे, लेकिन इस खेल के नियम-उपनियमों से पूरी तरह वाक़िफ़ थे। उन्होंने अपनी पार्टी में कठोर अनुशासन रक्खा और दूसरे दलों और व्यक्तियों को भी इस बात के लिए राज़ी कर लिया कि वे स्वराज-पार्टी की मदद करें। लेकिन जल्दी ही उन्हें अपने ही लोगों से मुसीबत का सामना करना पड़ा। स्वराज-पार्टी को अपने शुरू के दिनों में कांग्रेस में ही अपरिवर्तनवादियों से लड़ना पड़ता था, और इसलिए कांग्रेस के भीतर पार्टी की ताक़त बढ़ाने के लिए बहुत से ऐसे-वैसे लोग भर्ती कर लिये गए थे। इसके बाद चुनाव हुआ, जिसके लिए रुपये की ज़रूरत थी। रुपये पैसेवालों से ही आ सकते थे, इसलिए इन पैसेवालों को ख़ुश रखना पड़ता था। उनमें से कुछ को स्वराजी उम्मेदवार होने के लिए

भी कहा गया था। एक अमेरिकन साम्यवादी ने कहा है कि राजनीति वह नाज़ुक कला है जिसके ज़रिये ग़रीबों से वोट और अमीरों से चुनाव के लिए रुपये यह कहकर लिये जाते हैं कि हम तुम्हारी एक-दूसरे से रक्षा करेंगे!

इन सब बातों से पार्टी शुरू से ही कमज़ोर हो गयी थी। कौंसिल और असेम्बली के काम में इस बात की रोज़ ही ज़रूरत पड़ती थी कि दूसरों से, और ज़्यादा माडरेट दलों के साथ समझौते किये जायं, और इसके फलस्वरूप कोई भी जिहादी भावना या सिद्धान्त कायम नहीं रह सकते थे। धीरे-धीरे पार्टी का अनुशासन और रवैया बिगड़ने लगा और उसके कमज़ोर तथा अवसरवादी मेम्बर मुश्किलें पैदा करने लगे। स्वराज-पार्टी खुल्लम-खुल्ला यह ऐलान करके कौंसिलों में गई थी कि "हम भीतर जाकर मुख़ालिफ़त करेंगे।" लेकिन इस खेल को तो दूसरे भी खेल सकते थे और सरकार ने स्वराजी मेम्बरों में फूट व विरोध पैदा करके इस खेल में अपना हाथ डालने की ठान ली। पार्टी के कमज़ोर भाइयों के रास्ते में तरह-तरह के तरीक़ों के ख़ास रिआयतों और ऊंचे ओहदों के लालच दिये जाने लगे। उन्हें सिर्फ़ इन चीज़ों में से जिसे वे चाहें चुन लेना था। उनकी लियाक़त, उनकी विवेकशीलता तथा उनकी राजनीति-चतुरता आदि गुणों की तारीफ़ होने लगी। उनके चारों तरफ़ एक आनन्दमय तथा सुखप्रद वातावरण पैदा कर दिया गया, जो खेतों व बाज़ार की धूल और शोरग़ुल से बिल्कुल जुदा था।

स्वाराजियों का स्वर धीमा पड़ गया। कोई किसी सूबे में से तो कोई असेम्बली में से विरोधी पक्ष की तरफ़ खिसकने लगे। पिताजी बहुत चिल्लाये और गरजे। उन्होंने कहा, मैं सड़े हुए अंग को काट फेंकूंगा। लेकिन जब सड़ा हुआ अंग खुद ही शरीर छोड़कर चले जाने को उत्सुक हो तब इस धमकी का कोई बड़ा असर नहीं हो सकता था। कुछ स्वराजी मिनिस्टर हो गये और कुछ बाद को सूबों में कार्यकारिणी के मेम्बर। उनमें से कुछ ने अपना अलग दल बना लिया और अपना नाम 'प्रति-सहयोगी' रख लिया। इस नाम को शुरू में लोकमान्य तिलक ने बिल्कुल दूसरे मानी में इस्तेमाल किया था। इन दिनों तो इसके मानी यही थे कि मौक़ा मिलते ही जो ओहदा मिले उसे हड़प लो और उससे जितना फ़ायदा उठा सकते हो उठाओ। इन लोगों के धोखा दे जाने पर भी स्वराज-पार्टी का काम चलता रहा। लेकिन घटना-चक्र ने जो शकल इख़्तियार की उससे पिताजी व

देशबन्धु दास को कुछ हद तक नफ़रत हो गई। कौंसिलों और असेम्बली के अन्दर उन्हें अपना काम व्यर्थ-सा मालूम होने लगा, जिसकी वजह से वे उससे ऊबने लगे। मानो उनकी इस ऊब को बढ़ाने के लिए उत्तरी हिन्दुस्तान में हिन्दू-मुस्लिम तनातनी बढ़ने लगी, जिसकी वजह से कभी-कभी दंगे भी हो जाते थे।

कुछ कांग्रेसी, जो हमारे साथ १९२१ और २२ में जेल गये थे, अब सूबे की सरकारों में मिनिस्टर हो गये थे या दूसरे ऊंचे ओहदों पर पहुंच गये थे। १९२१ में हमें इस बात का फ़ख्र था कि हमें एक ऐसी सरकार ने ग़ैरक़ानूनी क़रार दिया है और वही हमें जेल भेज रही है, जिसके कुछ सदस्य लिबरल (पुराने कांग्रेसी) भी थे। भविष्य में हमें यह तसल्ली और होने को थी कि कम-से-कम कुछ सूबों में हमारे अपने पुराने साथी ही हमें ग़ैर-क़ानूनी क़रार देकर जेल में भेजेंगे। ये नये मिनिस्टर और कार्यकारिणी के मेम्बर इस काम के लिए लिबरलों से कहीं ज़्यादा कुशल थे। वे हमें जानते थे, हमारी कमज़ोरियों को जानते थे, और यह भी जानते थे कि उनसे कैसे फ़ायदा उठाया जाय? वे हमारे तरीक़ों से भली-भांति वाक़िफ़ थे तथा जन-समूहों और उनके मनोभावों का भी उन्हें कुछ अनुभव ज़रूर था। दूसरी तरफ़ जाने से पहले उन्होंने नात्सियों की तरह क्रान्तिकारी हलचल के साथ नाता जोड़ा था। और कांग्रेस के अपने पुराने साथियों का दमन करने में वे इन तरीक़ों से अनभिज्ञ पुराने हाकिमों या लिबरल मिनिस्टरों से कहीं ज़्यादा क्षमतापूर्वक अपने इस ज्ञान का उपयोग कर सकते थे।

दिसम्बर १९२४ में कांग्रेस का जलसा बेलगांव में हुआ और गांधीजी उसके सभापति थे। उनके लिए कांग्रेस का सभापति होना तो एक अटपटी-सी बात थी; क्योंकि वह तो बहुत अरसे से उसके स्थायी सभापति से भी बढ़कर थे। उनका प्रधान की हैसियत से दिया गया भाषण मुझे पसन्द नहीं आया। उसमें ज़रा भी स्फूर्ति नहीं मिली। जलसा ख़त्म होते ही गांधीजी के कहने पर, मैं फिर अगले साल के लिए अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी का कार्यकारी मन्त्री चुन लिया गया। अपनी इच्छाओं के विरुद्ध धीरे-धीरे मैं कांग्रेस का लगभग स्थायी मन्त्री बनता जा रहा था।

१९२५ की गर्मियों में पिताजी बीमार थे। उनका दमा बहुत ज़्यादा तक-लीफ़ दे रहा था। वह परिवार के साथ हिमालय में डलहौज़ी चले गये। बाद को कुछ अरसे के लिए मैं भी उन्हींके पास जा पहुंचा। हम लोगों ने हिमालय के

भीतर डलहौज़ी से चम्बा तक का सफ़र किया। जब हम लोग चम्बा पहुंचे तब जून का कोई दिन था, और हम लोग पहाड़ी रास्तों पर सफ़र करके कुछ थक गये थे। इसी समय एक तार आया; उससे मालूम हुआ कि देशबन्धु का देहान्त हो गया। बहुत देर तक पिताजी शोक के भार से झुके बैठे रहे। उनके मुंह से एक शब्द तक नहीं निकला। यह आघात उनके लिए बहुत ही निर्दयतापूर्ण था। मैंने उन्हें इतना दुखी होते हुए कभी नहीं देखा था। वह व्यक्ति, जो उनके लिए दूसरे सब लोगों से ज्यादा घनिष्ठ और प्यारा साथी हो गया था, यकायक उन्हें छोड़कर चला गया और सारा बोझ उनके कन्धों पर छोड़ गया। वह बोझा वैसे ही बढ़ रहा था। वह तथा देशबन्धु दोनों ही उससे तथा लोगों की कमज़ोरियों से ऊब रहे थे। फ़रीदपुर-कान्फ्रेंस में देशबन्धु ने जो आखिरी भाषण दिया वह कुछ थके हुए-से व्यक्ति का भाषण था।

हम दूसरे ही दिन सुबह चम्बा से चल दिये और पहाड़ों पर चलते-चलते डलहौज़ी पहुंचे, वहां से कार-द्वारा रेलवे स्टेशन पर, फिर इलाहाबाद और वहां से कलकत्ता।

: १९ :

साम्प्रदायिकता का दौरदौरा

नाभा-जेल से लौटने पर १९२३ के जाड़े में मैं बीमार पड़ गया। मियादी बुखार से यह कुश्ती मेरे लिए एक नया तजरबा था। मुझे शारीरिक कमज़ोरी से या बुखार से चारपाई पर पड़ा रहने या बीमार पड़ने की आदत न थी। मुझे अपनी तन्दुरुस्ती पर कुछ नाज़ था और हिन्दुस्तान में आम तौर पर जो बीमार बने रहने का रिवाज़-सा पड़ा हुआ था उसके मैं ख़िलाफ़ था। अपनी जवानी और अच्छे शरीर की वजह से मैंने बीमारी पर क़ाबू पा लिया, लेकिन संकट के टल जाने पर मुझे कमज़ोरी की हालत में चारपाई पर पड़े रहना पड़ा और अपनी तन्दुरुस्ती भी धीरे-धीरे हासिल करनी पड़ी। इन दिनों मैं अपने आसपास की चीजों और अपने रोजमर्रा के कामों से अजीब तरह का विराग-सा अनुभव करता था और उन्हें तटस्थता से देखता रहता था। मुझे ऐसा मालूम पड़ता था कि जंगल में मैं पेड़ों की आड़ में से बाहर निकल आया हूं और अब तमाम जंगल को अच्छी तरह देख सकता हूं। मेरा दिमाग़ जितना साफ़ और ताक़तवर इन दिनों था उतना पहले कभी न था। मैं समझता हूं कि यह तजरबा या इस तरह का कोई दूसरा तजरबा उन सब लोगों को हुआ होगा जिन्हें सख़्त बीमारी में से होकर गुज़रना पड़ा है। लेकिन मेरे लिए तो वह एक तरह का आध्यात्मिक अनुभव-सा हुआ। मैं आध्यात्मिक शब्द का इस्तेमाल उसके संकीर्ण धर्म के मानी में नहीं करता। इस तजरबे का मुझपर बहुत काफ़ी असर पड़ा। मैंने महसूस किया कि मैं अपनी राजनीति के भावुकता-मय वायुमण्डल से ऊपर उठ गया हूं, और जिन ध्येयों तथा शक्तियों ने मुझे कार्य के लिए प्रेरित किया उन्हें ज्यादा तटस्थता के साथ देख सकता हूं। इस स्पष्टता के फलस्वरूप मेरे दिल में तरह-तरह के तर्क-वितर्क उठने लगे, जिनका कोई ठीक जवाब नहीं मिलता था। लेकिन मैं जीवन और राजनीति को धार्मिक दृष्टि से देखने के दिन-पर-दिन अधिक विरुद्ध होता गया। मैं अपने उस तजरबे की बाबत ज्यादा नहीं लिख सकता। वह एक ऐसा खयाल था जिसे मैं

आसानी से ज़ाहिर नहीं कर सकता। यह बात ग्यारह वर्ष पहले हुई थी और अब तो उसकी मेरे मन पर बहुत हलकी छाप रह गई है। लेकिन इतनी बात मुझे अच्छी तरह याद है कि मेरे ऊपर और मेरे विचार करने के तरीक़े पर उसका टिकाऊ असर पड़ा और अगले दो या तीन साल मैंने अपना काम कुछ हद तक तटस्थता से किया।

हाँ, बेशक कुछ हद तक तो यह बात उन घटनाओं की वजह से हुई जो मेरी ताक़त के बिल्कुल बाहर थीं और जिनमें मैं फिट नहीं होता था। कुछ राजनैतिक परिवर्तनों का ज़िक्र मैं पहले ही कर चुका हूं। उससे भी ज़्यादा महत्त्वपूर्ण बात थी हिन्दू-मुसलमानों के सम्बन्धों का दिन-पर-दिन ख़राब होना, जो ख़ासतौर पर उत्तरी हिन्दुस्तान में अपना असर दिखा रहा था। बड़े-बड़े शहरों मे कई दंगे हुए, जिनमें हद दरजे की पशुता और क्रूरता दिखाई दी। शक और गुस्से की आबोहवा ने नये-नये झगड़े पैदा कर दिये, जिनके नाम भी हममें से ज़्यादातर लोगों ने पहले कभी नहीं सुने थे। इससे पहले झगड़ा पैदा करनेवाली वजह थी गो-वध और वह भी ख़ासकर बक़रीद के दिन। हिन्दू और मुसलमानों के त्यौहारों के एक साथ आ जाने पर भी तनातनी हो जाती थी। मसलन, जब मुहर्रम उन्हीं दिनों आ पड़ता जब रामलीला होती थी तो झगड़े का अन्देशा हो जाता था। मुहर्रम पिछली दुःखद घटनाओं की याद दिलाता था जिससे दुःख और आँसू पैदा होते थे। रामलीला ख़ुशी का त्यौहार था जिसमें पाप के ऊपर पुण्य की विजय का उत्सव मनाया जाता था। दोनों एक-दूसरे से चस्पां नहीं हो सकते थे, लेकिन सौभाग्य से ये त्यौहार तीन साल में सिर्फ़ एक दफ़ा साथ-साथ पड़ते थे। रामलीला तो हिन्दू-तिथि के अनुसार नियत आश्विन सुदी दशमी को मनाई जाती है जबकि मुहर्रम मुस्लिम तारीख के मुताबिक़ कभी इस महीने में और कभी उस महीने में मनाये जाते हैं।

लेकिन अब तो झगड़े का एक सबब ऐसा पैदा हो गया जो हमेशा मौजूद रहता था और हमेशा खड़ा हो सकता था। यह था मसजिदों के सामने बाजा बजाने का सवाल। नमाज़ के वक़्त बाजा बजाने या ज़रा भी आवाज़ आने पर मुसलमान ऐतराज़ करने लगे—कहते, इससे नमाज़ में खलल पड़ता है। हर शहर में बहुत-सी मसजिदें हैं और उनमें हर रोज़ पांच मर्तबा नमाज़ पढ़ी जाती है और शहरों में जलूसों की, जिनमें शादी वग़ैरा के जलूस भी शामिल हैं, तथा दूसरे

शोरोग़ुल की कमी नहीं। इसलिए झगड़ा होने का अन्देशा हर वक़्त मौजूद रहता था। ख़ासतौर पर जब मसजिद में शाम को होनेवाली नमाज़ के वक़्त जलूस निकलते और बाजों का शोरग़ुल होता तब ऐतराज़ किया जाता था। इत्तिफ़ाक से यही वक़्त है जबकि हिन्दुओं के मन्दिर मे शाम की पूजा यानी आरती होती है और शंख बजाये जाते हैं तथा मन्दिरों के घंटे बजते हैं। इसी आरती-नमाज़ के झगड़े ने बहुत बड़ा रूप धारण कर लिया।

यह बात अचम्भे की-सी मालूम होती है कि जो सवाल एक-दूसरे के भावों का आपस में थोड़ा-सा ख़याल करके और उसके मुताबिक थोड़ा-सा इधर-उधर कर देने से तय हो सकता है, उसकी वजह से इतनी कटुता पैदा हो और दंगे हों; लेकिन मज़हबी जोश, तर्क, विचार या आपसी ख़याल से कोई ताल्लुक़ नहीं रखता, और जब दोनों को क़ाबू करनेवाली एक तीसरी पार्टी एक को दूसरे के खिलाफ़ भिड़ा सकती है तब उस जोश को भड़काना बहुत आसान होता है।

उत्तरी हिन्दुस्तान के थोड़े-से शहरों में होनेवाले इन दंगों को ज़रूरत से ज़्यादा महत्त्व दे दिया जाता है; क्योंकि हिन्दुस्तान के ज्यादातर शहरों और सूबों में और तमाम गांवों में हिन्दू-मुसलमान शान्ति के साथ रहते रहे थे; उनके ऊपर इन दंगों का कोई कहने लायक़ असर नहीं पड़ा। लेकिन अखबारों ने स्वभावतः ही मामूली-से-मामूली और टुच्चे-से-टुच्चे झगड़े को भी बहुत ज्यादा शोहरत दी। हां, यह बिल्कुल सच है कि शहरों के आम लोगों में भी यह साम्प्रदायिक तनातनी और कटुता बढ़ती गई। चोटी के साम्प्रदायिक लीडरों ने उसे और भी बढ़ाया और वह साम्प्रदायिक, राजनैतिक मांगों की कड़ाई के रूप में ज़ाहिर हुई। हिन्दू-मुस्लिम झगड़ों से मुसलमानों के दक़ियानूसी लीडर, जो राजनीति में प्रतिगामी दल के हैं और जो असहयोग के इतने बरसों में कोनों में पीछे पड़े हुए थे, बाहर निकले और इस प्रतिक्रिया में सरकार ने उनकी मदद की। उनकी तरफ़ से रोज़-रोज़, नई-नई, पहले से ज्यादा उग्र साम्प्रदायिक मांगें पेश होतीं, जो हिन्दुस्तान की आज़ादी और कौमी एकता की जड़ काटती थीं। हिन्दुओं की तरफ़ भी जो लोग राजनीति में प्रगति-विरोधी थे, वे ही हिन्दुओं के साम्प्रदायिक नेता थे और हिन्दुओं के हक़ों की रखवाली करने के बहाने वे नियमित रूप से सर-कार के हाथों की कठपुतली बन गये। उन्होंने जिन बातों पर ज़ोर दिया उन्हें हासिल करने में उन्हें कोई कामयाबी नहीं मिली। जिन तरीक़ों से वे काम ले

रहे थे उनसे वे लाख कोशिश करने पर भी कामयाब नहीं हो सकते थे। हां, उन्होंने देश में जातिगत विद्वेष फैलाने में ज़रूर कामयाबी हासिल की।

कांग्रेस बड़े असमंजस में पड़ गई। वह तो राष्ट्रीय भावनाओं की प्रतिनिधि-स्वरूप थी। उन्हीका उसे ख़याल रहता था, इसलिए इस साम्प्रदायिक मनमुटाव का उसपर असर पड़ना लाज़िमी था। कई कांग्रेसी राष्ट्रीयता की चादर ओढ़े हुए सम्प्रदायवादी साबित हुए। लेकिन कांग्रेस के नेता मज़बूत बने रहे और कुल मिलाकर उन्होंने किसीकी तरफ़दारी करने से इन्कार कर दिया—हिन्दू-मुसलमानों के मामलों में ही नहीं, बल्कि और फ़िरक़ों के मामलों में भी; क्योंकि अब तो सिख-वग़ैरा अल्पसंख्यक जातियां भी ज़ोर-ज़ोर से अपनी मांगें पेश कर रही थीं। लाज़िमी तौर पर इस बात का नतीजा यह हुआ कि दोनों तरफ़ से अतिवादी लोग कांग्रेस की बुराई करने लगे।

बहुत दिन पहले असहयोग के शुरू होते ही या उससे भी पहले गांधीजी ने हिन्दू-मुस्लिम समस्या को हल करने की तदबीर बताई थी। उनका कहना था कि यह समस्या तो तभी हल हो सकती है जब बड़ी जाति उदारता और सद्भावना से काम ले। इसलिए वह मुसलमानों की हरेक मांग को पूरा करने को राज़ी थे। वह उनसे सौदा नहीं करना चाहते बल्कि उन्हें अपनी तरफ़ पूरी तरह मिला लेना चाहते हैं। चीज़ों की क़ीमतों को ठीक-ठीक कूतकर उन्होंने दूरदर्शिता के साथ जो असली काम की बात थी वह ग्रहण कर ली। लेकिन दूसरे लोग, जो समझते थे कि हम हरेक चीज़ का बाज़ार-भाव जानते हैं, लेकिन असल में किसी भी चीज़ की सही क़ीमत से वाक़िफ़ न थे, वे बाज़ार के सौदा करने के तरीक़े से चिपके रहे। उन्हें वह ख़र्च तो साफ़-साफ़ दिखाई दिया, जो असली चीज़ को ख़रीदने में देना पड़ रहा था, और उससे उन्हें दर्द भी होता था; लेकिन जिस चीज़ को वे शायद ख़रीद लेते उसकी असली क़ीमत की वे कुछ भी क़द्र नहीं कर सकते थे।

दूसरों की आलोचना करना और उनपर दोष मढ़ देना आसान है और अपनी तदबीरों की नाकामयाबी के लिए कोई-न-कोई बहाना ढूंढ़ने के लिए तो दूसरों के सिर क़ुसूर थोपने के लालच को रोकना अक्सर दुश्वार ही हो जाता है। हम कहते हैं क़ुसूर हमारे ख़याल का या काम में किसी क़िस्म की ग़लती का थोड़े ही था, वह तो दूसरे लोगों ने जान-बूझकर जो रोड़े अटकाये उनका था। हमने सर-कार को और साम्प्रदायिक नेताओं को दोष दिया। साम्प्रदायिक नेताओं ने हमारा

क़ुसूर बताया। इसमें कोई शक नहीं कि हम लोगों के रास्ते में सरकार तथा उसके साथियों ने अड़चनें डालीं, और जान-बूझकर लगातार रोड़े अटकाये। इसमें भी कोई शक नहीं कि ब्रिटिश सरकार ने क्या पहले से और क्या अब अपनी कार्य-नीति का आधार हम लोगों में फूट पैदा करने पर ही रक्खा है। फूट डालकर राज्य करो, यह हमेशा साम्राज्यों का तरीका रहा है; और इस नीति में जितनी मात्रा में सफलता मिलती है, उतनी मात्रा मे शोषितों के ऊपर शासकों की उच्चता साबित होती है। हमें इस बात की कोई शिकायत नहीं होनी चाहिए। कम-से-कम हमें उसपर कोई अचम्भा नहीं होना चाहिए। उसकी उपेक्षा करना या पहले से ही उसका इन्तज़ाम न कर लेना, ख़ुद हमारे विचारों की ही ग़लती है।

लेकिन हम उसका भी क्या इन्तज़ाम करें ? यह तो तय है कि दुकानदारों की तरह सौदा करने और आमतौर पर उन्हींकी चाल से काम लेने से कुछ फ़ायदा नहीं हो सकता; क्योंकि हम कितना भी क्यों न दें, हमारी बोली कितनी भी ज़्यादा क्यों न हो, एक ऐसा तीसरा दल हमेशा मौजूद है जो हमसे ज़्यादा बोली बोल सकता है और इससे भी ज़्यादा यह कि वह जो कुछ कहता है उसे पूरा कर सकता है। अगर हम लोगों में कोई एक राष्ट्रीय या सामाजिक दृष्टिकोण नहीं है तो हम अपने समान बैरी पर सब मिलकर एक साथ चढ़ाई नहीं कर सकते। अगर हम मौजूदा राजनैतिक और आर्थिक ढांचे के भीतर ही सोचते हैं कि उसीमें सिर्फ़ इधर-उधर कुछ हेर-फेर कर लेंगे, उसका सुधार या 'भारतीयकरण' कर लेंगे, तो फिर संयुक्त प्रहार के लिए वास्तविक उत्तेजना नहीं मिलती। क्योंकि उस हालत में हमारा मक़सद जो कुछ पल्ले पड़े उसके बटवारे का रह जाता है, जिसमें तीसरी और हमपर क़ाबू रखनेवाली पार्टी का लाज़िमी तौर पर बोलबाला रहता है और वही, जिसे इनाम देना पसन्द करती है उसको, जो इनाम चाहती है देती है। हां, लेकिन एक बिल्कुल दूसरे ढंग के राजनैतिक ढांचे की बात सोचने पर और इससे भी ज़्यादा बिल्कुल दूसरे सामाजिक ढांचे की बात सोचकर ही हम संयुक्त उपाय की मज़बूत नींव डाल सकते हैं। हमारी आज़ादी की मांग की तह में जो ख़याल काम कर रहा था वह यह था कि हम लोगों को यह महसूस करा दें कि हम मौजूदा व्यवस्था का वह हिन्दुस्तानी संस्करण नहीं चाहते, जिसमें परदे के पीछे ब्रिटेन का ही नियन्त्रण रहे; और यही 'डोमिनियन स्टेटस' (औप-निवेशिक स्वराज्य) के तो मानी हैं। लेकिन हम लोग तो बिल्कुल ही दूसरी

क़िस्म के राजनैतिक ढांचे के लिए लड़ रहे हैं। इसमें कोई शक नहीं कि राजनैतिक स्वाधीनता के मानी केवल राजनैतिक आज़ादी के ही थे। उसमें सर्वसाधारण के लिए कोई आर्थिक या सामाजिक परिवर्तन शामिल नहीं था। लेकिन उसके ये मानी ज़रूर थे कि आर्थिक नीति और मुद्रा-नीति, जो बैंक आफ़इंग्लैण्ड के द्वारा ठहराई जाती है वह बन्द हो जायगी; और उसके बन्द हो जाने पर हमारे लिए सामाजिक ढांचे को बदलना बहुत आसान हो जायगा। उन दिनों मैं ऐसा सोचता था। अब मैं इसमें इतना और बढ़ा देना चाहता हूं कि मेरे ख़याल में राजनैतिक आज़ादी भी हमें अकेली नही मिलेगी; जब वह हमें हासिल होगी तब वह अपने साथ बहुत-कुछ सामाजिक आज़ादी को भी लेती आयेगी।

लेकिन हमारे क़रीब-क़रीब सभी नेता मौजूदा राजनैतिक और, बिला शक, सामाजिक ढांचे के फ़ौलादी चौखटे के तंग दायरों में ही सोचते रहे। साम्प्रदायिक या स्वराज-सम्बन्धी हरेक समस्या पर विचार करते समय उनकी दृष्टि मौजूदा राजनैतिक व सामाजिक ढांचे पर रहती थी। इसीसे वे ब्रिटिश सरकार से मात खाते रहे। क्योंकि उस ढांचे पर तो उस सरकार का पूरा-पूरा क़ाबू था। लेकिन वे इसके अलावा और कुछ कर भी नही सकते थे। क्योंकि सीधी लड़ाई का प्रयोग करने के बावजूद अभी उनका तमाम दृष्टिकोण क्रान्तिकारी न होकर मुख्यतः सुधारवादी था; और वह समय बहुत पहले चला गया जब हिन्दुस्तान में कोई भी राजनैतिक या आर्थिक या जातिगत समस्या सुधारवादी तरीक़ों से सन्तोषजनक रूप से हल हो सकती थी। परिस्थितियों की मांग थी कि क्रान्तिकारी दृष्टिकोण से योजना निर्माण करके क्रान्तिकारी उपाय किया जाय। लेकिन नेताओं में ऐसा कोई न था जो इन मांगों को पूरा करता।

इसमें कोई शक नही कि हमारी आज़ादी की लड़ाई में स्पष्ट आदर्शो और ध्येयों की कमी ने साम्प्रदायिक ज़हर फैलाने में मदद दी। जनता को स्वराज्य की लड़ाई का अपने प्रतिदिन के कष्टों से कोई सम्बन्ध दिखाई नही दिया। वे जब-तब अपनी सहज-बुद्धि से प्रेरित होकर खूब लड़े। लेकिन वह हथियार इतना कमज़ोर था कि उसे आसानी से कुण्ठित किया जा सकता था और दूसरी तरफ़ दूसरे कामों के लिए भी उसका इस्तेमाल किया जा सकता था! उसके पीछे कोई तर्क और विवेक न था, और प्रतिक्रिया के समय जातीय नेताओं को इस काम में कोई मुश्किल नहीं पड़ती थी कि वे इन्हीं भावनाओं को धर्म के नाम पर उभाड़

कर उसका इस्तेमाल करें। फिर भी यह बात बड़े अचम्भे की है कि हिन्दू और मुसलमान दोनों में बुर्जुआ (मध्यम) श्रेणी के लोगों को धर्म के नाम पर उन प्रोग्रामों और मांगों के लिए भी जनता की सहानुभूति काफ़ी हद तक मिल गई, जिनका जनता से ही नहीं; निचली मध्यम श्रेणी के लोगों से भी कोई सम्बन्ध न था। हरेक जाति जो भी अपनी जातीय मांग पेश करती है उसकी जांच करने पर अखीर में यही मालूम होता है कि वह मांग नौकरियों की मांग है और ये नौकरियां तो मध्यम श्रेणी के मुट्ठी-भर ऊपर के लोगों को ही मिल सकती हैं। बेशक, यह मांग भी की जाती है कि कौंसिलों में, राजनीतिक शक्ति के चिह्न-स्वरूप विशेष और अतिरिक्त जगहें दी जायं; मगर इस मांग का भी यही मतलब है कि इससे खासकर दूसरों को कृपापात्र बनाने की सत्ता मिलेगी। इन छोटी राजनीतिक मांगों से ज़्यादा-से-ज़्यादा मध्यम श्रेणी की ऊपरी तह के थोड़े से लोगों को कुछ-कुछ फ़ायदा पहुंचता था, लेकिन उनसे अक्सर राष्ट्रीय उन्नति और एकता के रास्ते में नई अड़चनें पैदा होती थीं। फिर भी बड़ी चालाकी के साथ इन मांगों को अपने धर्म-सम्प्रदाय के आम लोगों की मांग के रूप में दिखाया जाता था। असल में उनका नंगापन छिपाने के लिए उनपर मज़हबी जोश की चादर लपेट दी जाती थी।

इस तरह जो लोग राजनीति में प्रतिगामी थे वे ही साम्प्रदायिक या जातीय नेताओं का रूप धरकर राजनैतिक मैदान में आये और उन्होंने जो बहुत-सी कार्रवाइयां कीं वे असल में जातिगत पक्षपात से प्रेरित होकर उतनी नहीं की जितनी राजनैतिक उन्नति को रोकने के लिए कीं। राजनैतिक मामलों में उनसे हमें हमेशा मुख़ालफ़त की ही उम्मीद थी; लेकिन फिर भी उस बुरी हालत का यह ख़ासतौर पर दर्दनाक पहलू था कि लोग स्वराज के विरोध में इस हद तक जा सकते हैं। मुस्लिम जातीय नेताओं ने तो सबसे ज़्यादा विचित्र और आश्चर्यजनक बातें कहीं और कीं। ऐसा मालूम होता था कि हिन्दुस्तान की राष्ट्रीयता की, उसकी आज़ादी की, उन्हें ज़रा भी परवा नहीं है। हिन्दुओं के जातीय नेता यद्यपि ज़ाहिरा तौर पर राष्ट्रीयता के नाम पर बोलते थे, लेकिन असल में उनका उससे कोई ताल्लुक़ नहीं था। चूंकि वे कोई वास्तविक कार्य नहीं कर सकते थे, इसलिए उन्होंने सरकार की ख़ुशामद करके उसे राज़ी करने की कोशिश की, लेकिन वह भी बेकार गई। हिन्दू-मुसलमान दोनों के नेता साम्यवाद या ऐसी ही 'सत्यानासी' हलचलों की बुराई करते थे। स्थापित स्वार्थों में खलल डालनेवाले हर प्रस्ताव

के सम्बन्ध में इनकी एक राय देखते बनती थी। मुसलमानों के जातीय नेताओं ने ऐसी बहुत-सी बातें कही और बहुत-सी हरकतें कीं जिनसे राजनैतिक और आर्थिक स्वाधीनता को नुक़सान पहुंचता था। लेकिन व्यक्तिगत और सामूहिक दोनों रूप मे उसका व्यवहार पब्लिक और सरकार के सामने कुछ थोड़ा-बहुत गौरव लिये हुए होता था। लेकिन हिन्दू साम्प्रदायिक नेताओं की बाबत यह बात नहीं कही जा सकती।

कांग्रेस में बहुत-से मुसलमान थे। उनकी तादाद बहुत बड़ी थी, जिनमें बहुत-से योग्य व्यक्ति भी थे। इतना ही नहीं, हिन्दुस्तान के सबसे ज़्यादा मशहूर और सबसे ज्यादा लोकप्रिय मुसलमान नेता कांग्रेस में शामिल थे। उनमें से बहुत-से कांग्रेसी मुसलमानों ने नेशनलिस्ट मुस्लिम पार्टी नाम का एक दल बनाया और उन्होंने जातीय मुसलमान नेताओं का मुकाबला किया। शुरू में तो उन्हें इस काम में कामयाबी भी मिली, और ऐसा मालूम पड़ता था कि पढ़े-लिखे मुसलमानों का बहुत बड़ा हिस्सा उनके साथ था; लेकिन ये सब-के-सब मध्यम वर्ग की ऊपरी श्रेणी के लोगों में से थे और उनमें कोई समर्थ नेता न था। वे अपने-अपने काम-धन्धों में लग गये और सर्वसाधारण से उनका सम्बन्ध टूट गया। बल्कि सच तो यह है कि वे लोग अपनी क़ौम के सर्वसाधारण के पास कभी गये ही नहीं। उनका तरीक़ा अच्छे-अच्छे कमरों में बैठकर मीटिगें करके आपस में राज़ीनामा कर लेने और पैक्ट करने का था और इस खेल में उनके प्रतिपक्षी यानी जातीय नेता उनसे कही ज़्यादा होशियार थे। इन जातीय नेताओं ने नेशनलिस्ट मुसलमानों को धीरे-धीरे एक स्थिति से हटाकर दूसरी स्थिति पर लगाया और इसी तरह एक-के-बाद एक स्थिति से वे उन्हें हटाते गये और जिन सिद्धान्तों के लिए वे शुरू में अड़े थे, उनको वे इनसे एक-एक करके छुड़वाते गये। नेशनलिस्ट मुसलमान हमेशा, कभी पीछे ज़्यादा न हटना पड़े इस डर से ख़ुद-ब-ख़ुद कुछ पीछे हटते गये और 'कम बुराई' को चुनने की रीति को इख़्तियार करके अपनी हालत मज़बूत करने की कोशिश करते रहे। लेकिन इस नीति का नतीजा हमेशा यही हुआ कि उन्हें हमेशा पीछे हटना पड़ा और हमेशा 'कम बुराई' के बाद उससे ज़्यादा बुरी दूसरी 'कम बुराई' मंजूर करनी पड़ी। फलस्वरूप ऐसा वक़्त आ गया कि उनके पास कोई ऐसी चीज़ नहीं रह गई जिसे वे अपनी कह सकते। उनके आधारभूत सिद्धान्तों में भी एक के सिवा और कोई बाक़ी नहीं रहा। यह एक सिद्धान्त हमेशा

से उनकी जमात का लंगर रहा है और वह है सम्मिलित चुनाव। लेकिन 'कम बुराई' को चुनने की नीति ने फिर उनके सामने यही घातक चुनाव पेश कर दिया और वे उस अग्नि-परीक्षा से तो बच आये, लेकिन अपना लंगर वहीं छोड़ आये। इसलिए आज उनकी यह हालत है कि जिन उसूलों या अमल की बुनियाद पर उन्होंने अपनी जमात बनाई थी उन सबको वे खो बैठे। इन्हीं उसूलों और अमल को उन्होंने पहले बड़े फ़ख्र के साथ अपने जहाज़ के मस्तूल पर लगाया था, लेकिन अब उनमें से उनके पास उनके नाम के सिवा और कुछ नहीं रहा।

ज़ाती हैसियत से तो ये लोग, बिला शक, अब भी कांग्रेस के खास नेताओं में से हैं, लेकिन जमात की हैसियत से नेशनलिस्ट मुसलमानों के गिरने और मिटने की कहानी बहुत ही दयनीय है। इसमें बहुत बरस लगे और उस कहानी का आखिरी अध्याय पिछले साल १९३४ मे ही लिखा गया है। १९२३ में और उसके बाद उनकी जमात बहुत मजबूत थी और वे साम्प्रदायिक लोगों के मुकाबले लड़ाकू ढंग भी इख्तियार किया करते थे; और सच बात तो यह है कि कई मौकों पर गांधीजी तो साम्प्रदायवादी मुसलमानों की कुछ मांगों को सख्त नापसन्द करते हुए भी पूरा करने को तैयार होजाते थे, लेकिन उनके साथी नेशनलिस्ट मुसलमान नेता गांधीजी को ऐसा करने से रोकते थे और उन मांगों की मुखालफ़त बड़ी सख्ती के साथ करते थे।

१९२० से लेकर १९२९ तक के बीच के सालों में आपस में बातचीत और बहस-मुबाहिसा करके हिन्दू-मुस्लिम मसलों को हल करने की कई कोशिशें की गईं। ये कोशिशें एकता-सम्मेलनों के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन सम्मेलनों में सबसे ज्यादा प्रसिद्ध वह था जो १९२४ में मौलाना मुहम्म्मद अली ने कांग्रेस के प्रधान की हैसियत से बुलाया और जो गांधीजी के इक्कीस दिन के अनशन के अवसर पर दिल्ली में हुआ। इन सम्मेलनों में बहुत-से भले और सच्चे आदमी शरीक हुए थे और उन्होंने समझौता करने की बहुत सख्त कोशिश की; कुछ अच्छे व भले प्रस्ताव भी पास किये गए; लेकिन असली मसला हल हुए बिना ही रह गया। ये सम्मेलन उस मसले को हल कर ही नहीं सकते थे। क्योंकि समझौता बहुमत से नहीं हो सकता था, वह तो एकस्वर से ही तय हो सकता है और किसी-न-किसी दल के ऐसे कट्टर लोग हमेशा मौजूद रहते थे, जो समझते थे कि समझौता तभी हो सकता है जब सब लोग सोलहों आने हमारी बात मान लें। सचमुच कभी-कभी

तो यह शक होने लगता था कि कुछ नामी-नामी साम्प्रदायिक नेता वाक़ई निपटारा चाहते भी हैं या नहीं ? उनमें से बहुत-से राजनैतिक मामलों में प्रगति-विरोधी थे और उनमें तथा उन लोगों में जो राजनीति में काया-पलट चाहते थे, कोई भी बात सामान्य न थी।

लेकिन असली मुश्किलें तो ज़्यादा गहरी थीं और वे महज़ कुछ लोगों की ख़रात्री की वजह से ही नहीं थीं। अब तो सिक्ख भी अपनी जाति की मागें ज़ोर के साथ पेश करने लगे थे, जिसकी वजह से पंजाब मे भी एक ग़ैरमामूली और विकट तिकोना खिचाव पैदा हो गया था। सचमुच पंजाब ही तमाम मामले की जड़ बन गया और वहां हरेक जाति में दूसरे के डर की वजह से जोश और दुर्भाव का वायु-मण्डल बन गया। कुछ सूबों में किसान और ज़मीदारों के व बंगाल मे हिन्दू-ज़मींदार और मुसलमान किसानों के क़िस्से साम्प्रदायिक रूप मे सामने आये। पंजाब और सिन्ध में साहूकार और रुपयेवाले लोग आमतौर पर हिन्दू है और क़र्ज़ से दबे हुए लोग मुसलमान खेतिहर। वहां क़र्ज़ से दबे हुए लोगों में उनकी जान के गाहक बोहरों के ख़िलाफ़ जो भाव होते हैं, उन तमाम भावों ने साम्प्रदायिक लहर को बढ़ाया। आमतौर पर मुसलमान ग़रीब थे और मुसलमानों के साम्प्र-दायिक लीडरों ने ग़रीबों मे अमीरों के ख़िलाफ़ जो बुरे भाव होते है उनका इस्तेमाल अपने साम्प्रदायिक हेतुओं के लिए किया। यद्यपि आश्चर्य की बात तो यह है कि इन हेतुओं से ग़रीबों की भलाई का क़तई कोई ताल्लुक़ न था, लेकिन इनकी वजह से साम्प्रदायिक मुसलमान लीडर कुछ हद तक ज़रूर सर्वसाधारण के प्रतिनिधि थे और इसकी वजह से उन्हें ताक़त भी मिली। आर्थिक दृष्टि से हिन्दुओं के साम्प्रदायिक नेता अमीर साहूकारों और पेशेवर लोगो के प्रतिनिधि थे—इसलिए हिन्दू जन-साधारण में उनकी पीठ पर कोई न था, यद्यपि कुछ मौक़ों पर जन-साधारण की सहानुभूति उन्हे मिल जाती थी।

इसलिए यह मसला कुछ हद तक आर्थिक दलबन्दियों में हिलता-मिलता जा रहा है, हालांकि रंज की बात तो यह है कि लोगों ने अभी इस बात को महसूस नहीं किया। हो सकता है कि यह बात बढ़कर स्पष्ट रूप से आर्थिक वर्गों के झगड़ों की शक्ल इख्तियार कर ले, लेकिन अगर वह वक़्त आया तो आजकल के साम्प्रदायिक लीडर—जो अपने-अपने दलों में अमीरों के प्रतिनिधि हैं—दौड़कर अपने भेद-भाव को मिटा देंगे जिससे वे मिलकर अपने वर्ग के वैरी का मुक़ाबला

कर सकें। यों तो जुदा हालतों में भी इन जातिगत झगड़ों को निपटाकर राजनैतिक एकता कर लेना उतना मुश्किल न होना चाहिए, बशर्ते—लेकिन बहुत बड़ी शर्त है—कि तीसरी पार्टी मौजूद न हो।

दिल्ली का 'एकता-सम्मेलन' मुश्किल से खत्म हुआ ही था कि इलाहाबाद में हिन्दू-मुसलमानों में दंगा हो गया। यों और दंगों को देखते हुए यह दंगा कोई बड़ा दंगा न था, क्योंकि उससे हताहतों की संख्या बहुत न थी, लेकिन अपने ही शहर में इस तरह के दंगे के होने से मुझे रंज ज़रूर होता था। मैं दूसरे लोगों के साथ इलाहाबाद दौड़ पड़ा। लेकिन यहां पहुंचते-पहुंचते मालूम हुआ कि दंगा खतम हो गया। हां, उसके फल-स्वरूप जो आपसी वैर-भाव बढ़ा और मुक़दमेबाज़ी चली वह बहुत दिनों तक बनी रही। मैं यह भूल गया हूं कि यह झगड़ा क्यों हुआ। उस साल या शायद उसके बाद इलाहाबाद में रामलीला के उत्सव के सिलसिले में भी कुछ टंटा हो गया था। रामलीला के उत्सव में बड़े भारी-भारी जुलूस भी निकला करते थे—लेकिन चूंकि मसजिदों के सामने बाजा बजने में कुछ बन्धन लगा दिये गए, उसके विरोध-स्वरूप, लोगों ने रामलीला मनाना ही छोड़ दिया। क़रीब-क़रीब आठ वर्ष से इलाहाबाद में रामलीला नहीं हुई। यह त्यौहार इलाहाबाद ज़िले के लाखों लोगों के लिए साल भर में सबसे बड़ा त्यौहार था। लेकिन अब वहां उसकी दुःखद याद-भर है। बचपन में जब मैं रामलीला देखने जाया करता था तबकी याद मुझे अच्छी तरह बनी हुई है। उसको देखकर हम लोगों को कितनी खुशी, कितना जोश होता था और ज़िले-भर से तथा दूसरे क़सबों से लोगों की भारी भीड़ उसे देखने को आती थी। त्यौहार हिन्दुओं का था, लेकिन वह खुले आम मनाया जाता था, इसलिए मुसलमान भी उसे देखने को भीड़ में शामिल हो जाते थे और चारों तरफ सब लोग खूब खुशियां मनाते और मौज करते थे। व्यापार चमक उठता था। इसके बहुत दिनों बाद बड़ा हो जाने पर जब मैं रामलीला देखने गया तो मुझे कोई जोश न आया और जुलूस और स्वांगों से मेरा जी ऊब गया। कला और आमोद-प्रमोद के बारे में मेरी रुचि का माप-दण्ड ऊंचा हो गया था। लेकिन उस वक़्त भी मैंने यह देखा कि आदमियों की भारी भीड़ उसको देख-देखकर बहुत खुश होती थी और उसे पसन्द करती थी। उनके लिए तो वह मनोरंजन का समय था, और अब आठ या नौ बरसों से इलाहाबाद के बच्चों को—बच्चों को ही क्यों, बड़े लोगों को भी—उस उत्सव को देखने का कोई मौक़ा नहीं

मिलता। उनकी ज़िन्दगी में रोज़मर्रा के नीरस काम से ख़ुशी के जोश का जो एक उज्ज्वल दिन हर साल उन्हें मिल जाया करता था वह भी न रहा, और यह सब बिल्कुल नाचीज़ बेकार के झगड़े-टण्टों की वजह से। बेशक धर्म और धार्मिक भावना को ऐसी बहुत-सी बातों के लिए जवाबदेह होना पड़ेगा। ओफ़, वे कितने आनन्दनाशक साबित हुए हैं !

: २० :

म्युनिसिपैलिटी का काम

दो साल तक मैं इलाहाबाद-म्युनिसिपैलिटी के चेयरमैन की हैसियत से काम करता रहा। लेकिन दिन-पर-दिन इस काम से मेरी तबीयत उचटती जाती थी। मेरी चेयरमैनी की मियाद क़ायदे से दो-तीन साल की थी, लेकिन दूसरा साल अच्छी तरह शुरू ही हुआ था कि मैंने उस जिम्मेदारी से अपना पिण्ड छुड़ाने की कोशिश शुरू कर दी। मैं उस काम को पसन्द करता था और उसमें मैंने अपना काफी वक़्त और ध्यान भी लगाया था। और कुछ हदतक उसमें मुझे कामयाबी भी मिली व अपने साथियों का सद्भाव भी मैंने प्राप्त किया था। सूबे की सरकार ने भी मेरे म्युनिसिपैलिटी-सम्बन्धी कुछ कामों को इतना पसन्द किया कि उसने मेरे राजनैतिक कामों की वजह से अपनी नाराज़गी को भुलाकर उनकी तारीफ़ की। लेकिन फिर भी मैं यह पाता था कि मैं चारों तरफ से जकड़ा हुआ हूं और वस्तुत: कोई उल्लेखनीय कार्य करने से मुझे रोका जाता है तथा मेरे रास्ते में अड़चनें डाली जाती हैं।

इसके मानी यह नहीं है कि कोई साहब जान-बूझकर मेरे काम में अड़ंगे लगाते थे; बल्कि सच बात तो यह है कि लोगों ने राज़ी-ख़ुशी से मुझे जितना सहयोग दिया वह आश्चर्यजनक था। लेकिन एक तरफ़ सरकारी मशीन थी और दूसरी तरफ़ म्युनिसिपैलिटी के मेम्बरों और पब्लिक की उदासीनता थी। सरकार ने म्युनिसिपैलिटी के शासन का फ़ौलादी चौखटे में जैसा ढांचा बनाया वह आमूल परिवर्तन या नवीन सुधारों को रोकनेवाला था। राजस्व-सम्बन्धी नीति ऐसी थी कि म्युनिसिपैलिटी को हमेशा सरकार के भरोसे रहना पड़ता था। मौजूदा म्युनिसिपल क़ानूनों के मुताबिक़ सामाजिक विकास की और टैक्स लगाने सम्बन्धी कायापलट करनेवाली योजनाओं की इजाज़त न थी। जो योजनाएं क़ानून के मुताबिक़ की जा सकती थीं उनपर अमल करने के लिए भी सरकार की स्वीकृति लेनी पड़ती थी, और उस स्वीकृति को वही लोग मांग सकते थे तथा वही उसकी राह देख

सकते थे जो बड़े आशावादी हों और जिनके सामन बहुत बड़ी ज़िन्दगी पड़ी हो। मुझे यह देखकर हैरत हुई कि जब कोई सामाजिक पुनःसंगठन का या राष्ट्र-निर्माण का मामला आ पड़ता है तब सरकारी मशीन कितनी धीरे-धीरे, मार-मारकर और ढील-ढाल के साथ चलती है; लेकिन जब किसी राजनैतिक मुख़ालिफ़ को दबाना हो तब ज़रा भी ढील और ग़लती नहीं रहती। यह अन्तर उल्लेखनीय था।

स्थानीय स्वराज्य से सम्बन्ध रखनेवाले प्रान्तीय सरकार के महकमे मिनिस्टर के मातहत होते थे, लेकिन आमतौर पर ये मिनिस्टर देवता म्युनिसिपैलिटी के मामलों में ही नहीं बल्कि दूसरे पब्लिक के मामलों में भी बिल्कुल कोरे होते थें। सच बात तो यह है कि उनको कोई पूछता ही न था। ख़ुद उनके महकमे के अफ़सर ही उनका कुछ ख़याल नहीं करते थे। उसे तो इंडियन सिविल सर्विस के स्थायी हाकिम चलाते थे और इन हाकिमों पर हिन्दुस्तान के ऊंचे हाकिमों की इस प्रचलित धारणा का बहुत असर था कि सरकार का काम तो ख़ास तौर पर पुलिस का यानी अमन-चैन रखने का काम है। अधिकारीपन या मां-बापपन के थोड़े से ख़याल ने भी इस धारणा पर कुछ हदतक असर डाला था। लेकिन बड़े पैमाने पर सामाजिक सेवा के कार्यों की ज़रूरत को कोई भी महसूस नही करता था।

म्युनिसिपैलिटियां हमेशा ही सरकार के क़र्ज़ से दबी रहती है और इसलिए पुलिस की निगाह के अलावा सरकार जिस दूसरी निगाह से म्युनिसिपैलिटी को देखती है वह है क़र्ज़ देनेवाले साहूकार की निगाह। आया क़र्ज़ की किस्तें वायदे पर अदा हो रही हैं ? आया म्युनिसिपैलिटी क़र्ज़ अदा करने की ताक़त भी रखती है ? उसके पास काफ़ी रोकड़-बाक़ी है या नहीं ? ये सब सवाल ज़रूरी और माक़ूल हैं, लेकिन अक्सर यह बात भुला दी जाती है कि म्युनिसिपैलिटी को कुछ ख़ास काम भी करने हैं—जैसे शिक्षा, सफ़ाई वग़ैरा; और वह महज़ एक ऐसा संगठन नहीं है जिसका काम रुपये क़र्ज़ लेकर उन्हें निश्चित मियाद पर अदा करते रहना हो। हिन्दुस्तान की म्युनिसिपैलिटियां शहर की भलाई के लिए जो काम करती हैं वे वैसे ही बहुत कम हैं; लेकिन वे थोड़े-से-थोड़े काम भी रुपये की तंगी होते ही फ़ौरन कम कर दिये जाते हैं और आमतौर पर सबसे पहले यह बला शिक्षा के ऊपर पड़ती है। म्युनिसिपैलिटी के मदरसों में हाकिम लोगों की कोई ज़ाती दिलचस्पी नहीं; उनके बाल-बच्चे तो उन बिल्कुल अप-टू-डेट और ख़र्चीले प्राइवेट स्कूलों में पढ़ते हैं जिन्हें अक्सर सरकार से ग्राण्ट मिलती है।

ज्यादातर हिन्दुस्तानी शहरों को दो हिस्सों में बांटा जा सकता है। एक तो घना बसा हुआ ख़ास शहर, दूसरा लम्बा-चौड़ा फैला हुआ बंगले-बंगलियों का रक़बा। इनमें से हरेक बँगले में काफ़ी बड़ा अहाता या बाग़ भी होता है। इस रक़बे को अंग्रेज आमतौर पर 'सिविल लाइन' कहकर पुकारते हैं। अंग्रेज़ अफ़सर और व्यापारी तथा ऊपरी मध्यम श्रेणी के पेशेवर और हाकिमों के दरजे के हिन्दुस्तानी इन्हीं सिविल लाइनों में रहते हैं। म्युनिसिपैलिटी की आमदनी ज़्यादातर शहर-ख़ास से होती है न कि सिविल लाइन से। लेकिन म्युनिसिपैलिटियां ख़र्च जितना शहर-ख़ास पर करती है उससे कहीं ज्यादा सिविल लाइनों पर करती हैं; क्योंकि सिविल लाइनों के बड़े रकबे में ज़्यादा सड़कों की ज़रूरत होती है। इन सड़कों की सफ़ाई और उनपर छिड़काव कराना होता है। उनपर रोशनी का इन्तज़ाम करना होता है तथा उनकी मरम्मत भी करानी पड़ती है। इसी तरह उनमें नालियों का, पानी पहुंचाने का और सफ़ाई का इन्तज़ाम भी ज्यादा जगह में करना होता है। मगर शहर-खास की हमेशा बुरी तरह से लापरवाही की जाती है और बिला शक शहर की ग़रीबों की गलियों की तो अक्सर कोई परवा ही नहीं की जाती। शहर-ख़ास में अच्छी सड़कें तो बहुत ही कम होती हैं। उसकी तंग गलियों में रोशनी का इन्तज़ाम ज्यादातर बहुत नाकाफ़ी होता है। उसमें नालियों और सफ़ाई का भी माक़ूल इन्तज़ाम नहीं होता। शहर-ख़ास के लोग बेचारे धीरज के साथ इन सब बातों को बरदाश्त कर लेते हैं। कभी कोई शिकायत नहीं करते, और जब वे शिकायत करते हैं तब भी कोई नतीजा नहीं निकलता; क्योंकि क़रीब-क़रीब सभी बड़े-छोटे शोर मचानेवाले लोग तो सिविल लाइनों में ही रहते हैं।

टैक्स के बोझ को कुछ दिन तक गरीबों और अमीरों पर बराबर-बराबर डालने के लिए और सुधारों के कुछ काम करने के लिए मैं ज़मीन की क़ीमत के आधार पर टैक्स लगाना चाहता था। लेकिन ज्योंही मैंने यह तजवीज़ पेश की त्योंही एक सरकारी अफ़सर ने उसकी मुख़ालफत की। मैं समझता हूं कि वह अफ़सर ज़िला-मजिस्ट्रेट था, जिसने यह कहा कि ऐसा करना ज़मीन के क़ब्ज़े के बारे में जो बहुत-सी शर्तें व क़ानून हैं उनके ख़िलाफ पड़ेगा। ज़ाहिर है कि ऐसा टैक्स सिविल लाइन के बंगलों में रहनेवालों को ज़्यादा देना पड़ता। लेकिन सरकार उस चुंगी को बहुत पसन्द करती है जिससे व्यापार कुचला जाता है।

तमाम चीज़ों की—जिनमें खाने की चीज़ें भी शामिल हैं—क़ीमतें बढ़ जाती हैं और इसका बहुत ज्यादा बोझ ग़रीबों पर आकर पड़ता है। और समाज-विरुद्ध तथा हानिकारक यह टैक्स हिन्दुस्तान की ज़्यादातर म्युनिसिपैलिटियों की आमदनी की खास बुनियाद है—यद्यपि मैं समझता हूं, वह धीरे-धीरे बड़े-बड़े शहरों से उठता जाता है।

म्युनिसिपैलिटी के चेयरमैन की हैसियत से मुझे इस तरह एक हृदयहीन सत्तावादी सरकारी मशीन से काम लेना पड़ता था, जो बड़ी मशक़्क़त के साथ पुरानी लीक पर चर्र-मर्र करती चलती थी और अड़ियल टट्टू की तरह ज़्यादा तेज़ी से या दूसरी तरफ़ चलने से इन्कार करती थी। दूसरी तरफ़ मेरे साथी मेम्बर लोग थे। उनमें से ज्यादातर लीक-लीक ही चलना पसन्द करते थे। उनमें से कुछ तो आदर्शवादी थे। इन लोगों ने अपने काम में उत्साह दिखाया। लेकिन कुल मिलाकर मेम्बरों में न तो दूरदृष्टि ही थी, न परिवर्तन या सुधार करने की धुन। पुराने तरीक़े काफ़ी अच्छे हैं, फिर क्या ज़रूरत है कि ऐसे प्रयोगों से काम लिया जाय जो, मुमकिन है, पूरे न पड़ें ? आदर्शवादी और जोशीले मेम्बर भी धीरे-धीरे उन रोज़मर्रा की जड़ बातों के नशीले असर के शिकार हो गये। लेकिन हां, एक बात ऐसी ज़रूर थी जिसपर हमेशा यह भरोसा किया जा सकता था कि वह मेम्बरों में नया जोश पैदा कर देगी; और वह थी अपने नाते-रिश्तेदारों को नौकरियों तथा ठेके-वग़ैरा देने के मामले। लेकिन इसमें दिलचस्पी रखने से हमेशा ही काम में अच्छाई नहीं बढ़ती थी।

हर साल सरकारी प्रस्ताव, हाकिम लोग और कुछ अख़बार म्युनिसिपैलिटियों और ज़िला-बोर्डों की नुक़्ताचीनी करते हैं और उनकी बहुत-सी कमियों की तरफ़ इशारा करते हैं, और इससे यह नतीजा निकाला जाता है कि लोक-तन्त्री संस्थाएं हिन्दुस्तान के लिए मौज़ू नहीं हैं। उनकी कमियां तो ज़ाहिर हैं, लेकिन उस ढांचे की तरफ़ क़तई ध्यान नहीं दिया जाता, जिसके अन्दर उन्हें अपना काम करना पड़ता है। यह ढांचा न तो लोक-तन्त्री है, न एक-तन्त्री। वह तो इन दोनों की दोग़ली सन्तान है और उसमें दोनों की ही खराबियां मौजूद हैं। यह बात तो मंज़ूर की जा सकती है कि केन्द्रीय सरकार को स्थानिक संस्थाओं पर देखभाल तथा नियन्त्रण करने के कुछ इख़्तियार ज़रूर होने चाहिए, लेकिन स्थानीय लोक-संस्थाओं के लिए यह तभी लागू हो सकता है जब केन्द्रीय सरकार खुद लोक-तन्त्री

और पब्लिक की जरूरतों का खयाल रखनेवाली हो। जहां ऐसा न होगा वहां या तो केन्द्रीय सरकार और स्थानीय शासन-संस्था में रस्साकशी होगी या स्थानीय संस्था चुपचाप केन्द्रीय सरकार के हुक्म बजाया करेगी। इस तरह केन्द्रीय सरकार ही असल में स्थानिक संस्थाओं से जो चाहेगी सो करायेगी। लेकिन तारीफ़ यह है कि वह जो कुछ करेगी उसके लिए ज़िम्मेदार नहीं होगी! इख्तियार तो उसीको होंगे लेकिन जवाबदेही उसकी न होगी! ज़ाहिर है कि यह हालत सन्तोषजनक नहीं कही जा सकती; क्योंकि उससे पब्लिक के नियन्त्रण की वास्तविकता जाती रहती है। म्युनिसिपल बोर्डों के मेम्बर केन्द्रीय सरकार को खुश रखने की जितनी कोशिश करते हैं उतनी पब्लिक के अपने चुननेवालों को खुश रखने की नहीं; और जहांतक पब्लिक का ताल्लुक़ है, वह अक्सर बोर्ड के कामों की तरफ़ से बिलकुल उदासीन रहती है। समाज की भलाई से असली ताल्लुक़ रखनेवाले मामले तो बोर्ड के सामने मुश्किल से ही कभी जाते हैं—खासतौर पर, इसलिए, कि वे बोर्ड के काम के दायरे से बाहर हैं, और बोर्ड का सबसे ज्यादा ज़ाहिरा काम है पब्लिक से टैक्स वसूल करना। और यह काम उसे ऐसा ज्यादा लोकप्रिय नहीं बना सकता।

स्थानिक संस्थाओं के लिए वोट देने का हक़ भी थोड़े ही लोगों तक सीमित है। वोट देने का इख्तियार और भी ज्यादा बढ़ाया जाना चाहिए, जो वोटर होने की योग्यता को घटाकर किया जा सकता है। बम्बई-कारपोरेशन जैसे बड़े-बड़े शहरों के कारपोरेशन तक के मेम्बरों का चुनाव भी बहुत सीमित वोटरों द्वारा होता है। कुछ समय पहले खुद कारपोरेशन में वोट देने का अधिक लोगों को अधिकार देने का प्रस्ताव गिर गया था। ज़ाहिर है कि ज्यादातर मेम्बर अपनी हालत से खुश थे और वे उसमें हेर-फेर करने या उसे खतरे में डालने की कोई ज़रूरत नहीं समझते थे।

वजह कुछ भी हो, मगर यह बात ज़रूर है कि हमारी स्थानीय संस्थाएं आमतौर पर कामयाबी और कार्यसाधकता के चमकते हुए नमूने नहीं हैं, यद्यपि वे जैसी हैं वैसी हालत में भी बहुत आगे बढ़े हुए लोकतन्त्री देशों की कुछ म्युनिसिपैलिटियों से टक्कर ले सकती हैं। आमतौर पर उनमें रिश्वत की बुराई नहीं है, महज़ सुव्यवस्था की कमी है। उनकी खास कमज़ोरी है पक्षपात, और उनके दृष्टिकोण सब ग़लत हैं। यह सब स्वाभाविक है; क्योंकि लोकतन्त्र तो तभी

कामयाब हो सकता है जब कि उसके पीछे जानकार लोकमत और ज़िम्मेदारी की भावना हो। उसकी जगह हमें हुकूमत का सर्वव्यापी वायुमण्डल मिलता है, और लोकतन्त्र के साथ जिन बातों की ज़रूरत है वे नहीं पाई जातीं। जन-साधारण को शिक्षा देने का कोई इन्तज़ाम नहीं है; न इस बात की कभी कोशिश की गई है कि जानकारी के आधार पर लोकमत तैयार किया जाय। लाज़िमी तौर पर ऐसी हालत में पब्लिक का ख़याल व्यक्तिगत या साम्प्रदायिक या दूसरे टुच्चे-टुच्चे मामलों की तरफ़ चला जाता है।

म्युनिसिपैलिटी के इन्तज़ाम मे सरकार की दिलचस्पी इस बात में रहती है कि राजनीति उससे बाहर रक्खी जाय। अगर राष्ट्रीय हलचल से सहानुभूति रखनेवाला कोई प्रस्ताव पास किया जाता है तो सरकार की त्यौरियां चढ़ जाती हैं। जिन पाठ्य-पुस्तकों में राष्ट्रीयता की बू हो उन्हें म्युनिसिपैलिटी के मदरसों में नहीं पढ़ाने दिया जाता। इतना ही नहीं, उनमें राष्ट्रीय नेताओं की तस्वीरें भी नहीं लगाने दी जातीं। म्युनिसिपैलिटियों से राष्ट्रीय झंडा उतारना पड़ता है, न उतारें तो म्युनिसिपैलिटी तोड़ दी जाती है। ऐसा मालूम होता है कि हाल ही में कई सूबों की सरकारों ने इस बात की कोशिश की है कि कारपोरेशन और म्युनिसिपैलिटियों में जितने कांग्रेसी नौकर हों उन सबको निकाल बाहर किया जाय। मामूली तौर पर इस मतलब को पूरा कराने के लिए इन संस्थाओं पर सरकारी दबाव काफ़ी होता है; क्योंकि उसके साथ-साथ यह धमकी भी दी जाती है कि उन्हें न निकाला गया तो सरकार म्युनिसिपैलिटियों को शिक्षा-वग़ैरा के लिए जो सहायता देती है उसे बन्द कर देगी। लेकिन कही-कही तो—ख़ासतौर पर कलकत्ता-कार्पोरेशन के लिए तो—क़ानून ही ऐसा बना दिया है जिससे उन सब लोगों को, जो असहयोग या सरकार के ख़िलाफ़ किसी और राजनैतिक हलचल में जेल गये हों, नौकरी न मिलने पावे। इस मामले में सरकार का मतलब महज़ राजनैतिक होता है। काम के लिए उस आदमी की लायक़ी या नालायक़ी का कोई सवाल नहीं।

इन थोड़ी सी मिसालों से यह ज़ाहिर हो जाता है कि हमारी म्युनिसिपैलिटियों और हमारे ज़िला-बोर्डों को कितनी आज़ादी मिली हुई है और उनमें लोकतन्त्रता की कितनी कमी है? यह तो तय ही है कि वे लोग सीधी सरकारी नौकरी नहीं चाहते। ऐसी हालत में अपने इन राजनैतिक मुख़ालिफ़ों को तमाम म्युनिसिपल

और ज़िला-बोर्डों की नौकरी से अलग रखने की जो कोशिश हो रही है उसपर कुछ ग़ौर करने की ज़रूरत है। यह कूता गया है कि पिछले चौदह वर्षों में क़रीब तीन लाख लोग जुदा-जुदा मौक़ों पर जेल हो आये हैं और यदि राजनैतिक दृष्टि से न देखें तो इसमें किसी को शक नहीं हो सकता कि इन तीन लाख लोगों में हिन्दुस्तान के सबसे ज़्यादा सज्जन और आदर्शवादी, सबसे ज्यादा सेवा-व्रती और स्वार्थहीन लोग शामिल हैं। इन लोगों में जोश है, आगे बढ़ने की ताक़त है और किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए सेवा का आदर्श है। इस तरह किसी भी पब्लिक महकमे या सार्वजनिक हित की संस्था के काम के लिए सबसे अच्छे व्यक्ति इन्हींमें से मिल सकते थे। फिर भी सरकार ने क़ानून बनाकर इस बात की पूरी-पूरी कोशिश की है कि वे लोग नौकर न होने पावें, जिससे न सिर्फ़ उन्हींको सज़ा मिले बल्कि उन लोगों को भी जो उनसे हमदर्दी रखते हैं। सरकार ख़ुद ऐसे लोगों को पसन्द करती है और आगे बढ़ाती है जो बिल्कुल ही जी-हुज़ूर हों, और उसके बाद यह शिकायत करती है कि हिन्दुस्तान की स्थानिक संस्थाएं ठीक तरह से काम नहीं करतीं; और यद्यपि यह कहा जाता है कि राजनीति स्थानिक संस्थाओं के काम की हद से बाहर है, फिर भी सरकार को इस बात में कोई ऐतराज़ नहीं कि वे सरकार की मदद के लिए राजनीति में हिस्सा लें। स्थानीय बोर्डों के स्कूलों के मास्टरों को यह डर दिखाकर कि उन्हें नौकरी से निकाल दिया जायगा, मजबूर किया गया कि वे गांवों में जाकर सरकार के पक्ष में प्रचार करें।

पिछले पन्द्रह बरसों में कांग्रेस-कार्यकर्त्ताओं को कई मुश्किलों का सामना करना पड़ा है। उन्हें बड़ी भारी-भारी ज़िम्मेदारियां झेलनी पड़ी हैं और आखिर उन्होंने ऐसी सरकार से टक्कर ली जो बड़ी ताकतवर और सुरक्षित है। और उसमें उन्हें कामयाबी भी मिली; प्रशिक्षण के इस कठोर क्रम ने उन्हें आत्म-निर्भरता, प्रबन्ध-पटुता और डटे रहने की ताक़त दी है। जिन गुणों को एक हुकूमत की भावना से भरी हुई सरकार के लम्बे और नामर्द करनेवाले संचालन ने छीन लिया था उन्हींको हमारी हलचलों ने हिन्दुस्तानियों में फिर से डाल दिया है। हां, निस्सन्देह, तमाम सार्वजनिक आन्दोलनों की तरह कांग्रेस की हलचलों में भी बहुत-से नामाक़ूल, बेवक़ूफ, निकम्मे और इससे भी बदतर लोग आये, और हैं। लेकिन इस बात मे भी मुझे कोई शक नहीं है कि औस-

तन कांग्रेस-कार्यकर्त्ता अपनी बराबर योग्यता रखनेवाले किसी दूसरे शख़्स के मुक़ाबले ज़्यादा होशियार और कार्यकुशल साबित होगा।

इस मामले का एक पहलू है, जिसको शायद सरकार और उसके सलाहकारों ने नहीं समझ पाया है। वह यह है कि असली क्रान्तिकारी तो इस बात का ख़ुशी से स्वागत करते हैं कि सरकार कांग्रेस-कार्यकर्त्ताओं को कोई नौकरी नहीं मिलने देती और उनके लिए काम तथा नौकरी के तमाम रास्ते रोक देती है। औसत कांग्रेसी इस बात के लिए बदनाम हैं कि वे क्रान्तिकारी नहीं होते और कुछ वक़्त अर्द्ध-क्रान्तिकारी काम करने के बाद वे अपनी उसी पुराने ढर्रे की ज़िन्दगी और हलचलों को शुरू कर देते है। वे फिर अपने धन्धे या पेशे या स्थानीय राजनैतिक मामलों में फंस जाते है। बड़े-बड़े मामले उनके दिमाग़ से ओझल होने लगते हैं और उनमें जो थोड़ा-बहुत क्रान्तिकारी जोश रहता है वह ठंडा पड़ जाता है। उनके पुट्ठों पर चरबी चढ़ने लगती है और उनकी आत्मा सुरक्षा चाहती है। मध्यम श्रेणी के कार्यकर्त्ताओं के इस लाज़िमी झुकाव की वजह से ही आगे बढ़े हुए तथा क्रान्तिकारी विचारों के कांग्रेसियों ने हमेशा से इस बात की कोशिश की है कि उनके साथी स्थानिक बोर्डों और कौंसिलों के विधानों के जंजाल में पूरे समय के कामों में न फंसने पावें जो उन्हें कांग्रेस का कारगर काम करने से रोकते हों।

मगर अब खुद सरकार ही कुछ हदतक मदद कर रही है; क्योंकि वह कांग्रेसियों के लिए कोई भी काम पाना मुश्किल बनाये दे रही है, जिससे यह मुमकिन है कि उनके क्रान्तिकारी उत्साह का कुछ हिस्सा ज़रूर क़ायम रहेगा या हो सकता है कि बढ़ भी जाय।

एक साल या उससे कुछ ज़्यादा दिनों तक म्युनिसिपैलिटी का काम करने के बाद मै यह महसूस करने लगा कि मै यहां अपनी शक्तियों का सबसे अच्छा उपयोग नहीं कर रहा हूं। मै ज़्यादा-से-ज़्यादा जो कुछ कर सकता था वह यह था कि काम जल्दी निबटे और वह पहले से ज़्यादा होशियारी के साथ किया जाय। मैं कोई कहने लायक़ तब्दीली तो करा नही सकता था, इसलिए मै चेयरमैनी से इस्तीफ़ा देना चाहता था। लेकिन बोर्ड के तमाम मेम्बरों ने मुझ पर ज़ोर दिया कि मैं चेयरमैन बना रहूं। मेरे इन साथियों ने मेरे साथ हमेशा शराफ़त व मेहरबानी का बर्ताव किया था। इस कारण मेरे लिए उनकी बात न मानना मुश्किल

हो गया। लेकिन अपनी चेयरमैनी के दूसरे साल के अखीर में मैंने इस्तीफ़ा दे ही दिया।

यह १९२५ की बात है। उस साल वसंत ऋतु में मेरी पत्नी बहुत बीमार पड़ गई। कई महीनों तक वह लखनऊ के अस्पताल में पड़ी रही। उसी साल कानपुर में कांग्रेस हुई थी। मुद्दत तक दुःखी दिल के साथ कभी इलाहाबाद, कभी कानपुर और कभी लखनऊ तथा वहां से वापस चक्कर लगाने पड़े थे। (मैं इन दिनों भी कांग्रेस का प्रधान-मन्त्री था।)

डाक्टरों ने सिफ़ारिश की कि कमला का इलाज स्वीज़रलैण्ड में कराया जाय। मुझे यह बात पसन्द आई; क्योंकि मैं खुद भी हिन्दुस्तान से बाहर चला जाना चाहता था। मेरा दिमाग़ साफ़ नहीं था। कोई साफ़ रास्ता नहीं दिखाई देता था। मैंने सोचा कि अगर मैं हिन्दुस्तान से दूर पहुंच जाऊं तो चीज़ों को और अच्छी दृष्टि से देख सकूगा और अपने दिमाग़ के अंधेरे कोनों में रोशनी पहुँचा सकूंगा।

मार्च १९२६ के शुरू में हम लोग जहाज़ में बम्बई से वेनिस के लिए रवाना हुए। मैं, मेरी पत्नी और लड़की। उसी जहाज़ में हमारे साथ मेरी बहन और बहनोई रणजीत पण्डित भी गये। उन लोगों ने अपनी यूरोप-यात्रा का इन्तज़ाम हम लोगों के यूरोप जाने का सवाल पैदा होने से बहुत पहले ही कर रक्खा था।

तक इन खेलों में ही मेरी दिलचस्पी रही और इन्हींमें मैं लगा। बरफ़ पर एक किस्म के फिसल-खड़ाऊं पहनकर तो मैं पहले भी चलता था, खिसकता था, लेकिन लकड़ी के आठ फीट लम्बे और चार इंच चौड़े फिसल-जोड़े को पैरों से बांधकर बरफ़ पर चलने का तजरबा मेरे लिए बिल्कुल नया था और मैं उसपर मुग्ध हो गया। बहुत दिनों तक तो मुझे इस खेल में काफ़ी तकलीफ़ मालूम हुई; लेकिन बार-बार गिरने पर भी मैं हिम्मत के साथ जुटा रहा और अखीर में मुझे खूब मज़ा आने लगा।

सब मिलाकर इन दिनों हमारी ज़िन्दगी में कोई खास घटना नहीं हुई। दिन बीतते गये और धीरे-धीरे मेरी पत्नी ताक़त व तन्दुरुस्ती हासिल करती गई। वहाँ हम लोगों को बहुत कम हिन्दुस्तानियों से मिलने का मौक़ा मिला। सच बात तो यह है कि उस पहाड़ी बस्ती में रहनेवाले थोड़े-से लोगों को छोड़कर और किसीसे हमें मिलने का मौक़ा ही नहीं मिला। लेकिन हम लोगों ने यूरोप में जो पौने दो साल बिताये उसमें हमें बहुत-से ऐसे पुराने क्रान्तिकारी और हिन्दुस्तान से निकाले हुए भाई मिले जिनके नामों से मैं वाक़िफ़ था।

उनमें से श्यामजी कृष्ण वर्मा जिनेवा में एक मकान की सबसे ऊंची मंज़िल पर अपनी बीमार पत्नी के साथ रहते थे। ये दोनों बूढ़े पति-पत्नी अकेले ही रहते थे। उनके साथ दिन-भर रहकर काम करनेवाले नौकर न थे, इसलिए उनके कमरे गन्दे पड़े रहते थे, जिनमें दम घुटता-सा था। हर चीज़ के ऊपर धूल की मोटी तह जमी हुई थी। श्यामजी के पास काफ़ी रुपया था, लेकिन वह रुपया खर्च करने में विश्वास नहीं रखते थे। वह ट्राम में बैठकर जाने के बदले कुछ पैसे बचा लेना ज़्यादा पसन्द करते थे। जो कोई उनसे मिलने जाता उसको वह शक की निगाह से देखते थे और जबतक इससे उल्टी बात साबित न हो जाय तबतक यही मान बैठते थे कि आनेवाले महाशय या तो ब्रिटिश सरकार के एजेण्ट हैं या उनके धन के गाहक हैं। उनकी जेबें उनके 'इण्डियन सोशियॉलॉजिस्ट' नाम के अखबार की पुरानी कापियों से भरी रहती थीं। वह उन्हें खींचकर निकालते और कुछ जोश के साथ उन लेखों को दिखाते जो उन्होंने कोई बारह बरस पहले लिखे थे। वह ज़्यादातर पुराने ज़माने की बातें किया करते थे। हैम्स्टीड में इण्डिया-हाउस में क्या हुआ, ब्रिटिश सरकार ने उनके भेद लेने के लिए कौन-कौन शख्स भेजे और उन्होंने किस तरह उन्हें पहचानकर उनको चकमा दिया, आदि।

उनके कमरों की दीवारें पुरानी किताबों से भरी अलमारियों से ढकी हुई थीं। उन किताबों को पढ़ता-पढ़ाता कोई नहीं था, इसलिए उनपर धूल जमी हुई थी और वे, जो कोई वहां जा पहुंचता उसकी तरफ़ दुःख-भरी निगाहों से देखती-सी मालूम होती थीं। किताबें और अखबार फ़र्श पर भी इधर-उधर पड़े रहते थे। ऐसा मालूम पड़ता था मानो वे कई दिनों और हफ़्तों से, मुमकिन है महीनों से, इसी तरह पड़े हुए हैं। उस तमाम जगह में शोक की छाप, मनहूसियत की हवा छाई हुई थी। ज़िन्दगी वहां ऐसी मालूम पड़ती थी जैसे कोई अनचाहा अजनबी घुस आया हो। अंधेरे और सुनसान बरामदों में चलते हुए ऐसा डर मालूम पड़ता था कि किसी कोने में कहीं मौत की छाया तो नहीं छिपी हुई है। जानेवाले उस मकान में से निकलकर ही चैन की लम्बी सांस लेते और बाहर की हवा पाकर खुश होते थे।

श्यामजी अपनी दौलत की बाबत कुछ इन्तज़ाम, पब्लिक के कामों के लिए कोई ट्रस्ट, कर देना चाहते थे। शायद वह विदेशों में शिक्षा पानेवाले हिन्दुस्तानियों के लिए कुछ इन्तज़ाम करना पसन्द करते थे। उन्होंने मुझसे कहा कि मैं भी उनके उस ट्रस्ट का एक ट्रस्टी हो जाऊं। लेकिन मैंने उस ज़िम्मेदारी को अपने ऊपर लेने की कोई ख्वाहिश ज़ाहिर नहीं की। मैं नहीं चाहता था कि मैं उनके रुपये-पैसे के मामलों के चक्कर में फंसू। इसके अलावा मैंने यह भी महसूस किया कि अगर मैंने कहीं ज़रूरत से ज्यादा दिलचस्पी ज़ाहिर की तो उन्हें फ़ौरन ही यह शक हो जायगा कि उनकी दौलत पर मेरा दांत है। यह तो किसीको नहीं मालूम था कि उनके पास कितनी दौलत है। अफ़वाह भी उड़ी थी कि जर्मनी में सिक्के की क़ीमत गिरने से उनको बहुत नुक़सान हुआ था।

कभी-कभी कोई नामी-गरामी हिन्दुस्तानी जिनेवा में होकर गुज़रते थे। उनमें जो लोग राष्ट्र-संघ में शामिल होने के लिए आते थे, वे तो हाकिमी क़िस्म के लोग होते थे और यह ज़ाहिर है कि श्यामजी ऐसे लोगों के पास तक नहीं फटक सकते थे। लेकिन मज़दूर-दफ़्तर में कभी-कभी नामी ग़ैर-सरकारी हिन्दुस्तानी आ जाते थे, जिनमें मशहूर कांग्रेसी भी होते थे। श्यामजी इन लोगों से मिलने की कोशिश करते। श्यामजी से मिलकर उन लोगों पर जो असर होता था वह बड़ा ही दिलचस्प होता था। पर श्यामजी से मिलते ही ये लोग घबरा उठते थे और न सिर्फ़ पब्लिक में ही उनसे मिलने से बचने की कोशिश करते थे, बल्कि खानगी में

भी उनसे मिलने के लिए किसी-न-किसी बहाने से माफ़ी मांग लेते थे। वे लोग समझते थे कि श्यामजी से ताल्लुक़ रखने या उनके साथ देखे जाने में ख़ैर नहीं है।

इसलिए श्यामजी और उनकी पत्नी को एकाकी ज़िन्दगी बितानी पड़ती थी। उनके न तो कोई बाल-बच्चे ही थे, न कोई रिश्तेदार या दोस्त ही; उनका कोई साथी भी नहीं था। शायद किसी भी मनुष्य-प्राणी से उनका सम्पर्क नहीं था। वह तो पुराने ज़माने की यादगार थे। सचमुच उनका ज़माना गुज़र चुका था। मौजूदा ज़माना उनके लिए मौज़ूं नहीं था। इसलिए दुनिया उनकी तरफ़ से मुंह फेरकर मज़े से चली जा रही थी। लेकिन फिर भी उनकी आंखों में पुराना तेज था, और यद्यपि उनमें और मुझमें एक-सी कोई चीज़ नहीं थी फिर भी उनके प्रति मैं अपनी हमदर्दी व इज़्ज़त को नहीं रोक सकता था।

हाल ही में अख़बारों में ख़बर छपी कि वह मर गये और उनके कुछ दिन बाद ही वह भली गुजराती महिला भी, जो दूसरे मुल्कों में देश-निकाले में भी ज़िन्दगी-भर उनके साथ रही थी, मर गई। अख़बारों की ख़बरों में यह भी कहा गया था कि उन्होंने (उनकी पत्नी ने) विदेशों में हिन्दुस्तान की औरतों की शिक्षा के लिए बहुत-सा रुपया छोड़ा है।

एक और मशहूर शख़्स, जिनका नाम मैंने अक्सर सुना था लेकिन जो मुझे पहले-पहल स्वीज़रलैण्ड में मिले, राजा महेन्द्रप्रताप थे। उनकी आशावादिता ज़बरदस्त थी। मेरा ख़याल है कि अब भी वह आशावादी हैं। वह बिल्कुल हवा में रहते हैं और असली हालत से क़तई कोई ताल्लुक़ रखने से इन्कार करते हैं। मैंने जब उन्हें पहले-पहल देखा तो थोड़ा-सा चौंक पड़ा। वह एक अजीब तरह की पोशाक पहने हुए थे, जो तिब्बत के ऊंचे मैदानों के लिए भले ही मौज़ूं हो या साइबेरिया के मैदानों में भी, लेकिन वह उन दिनों की गर्मियों में वहां बिल्कुल बेमौज़ू थी। वह पोशाक एक क़िस्म की आधी फ़ौजी पोशाक-सी थी। वह ऊंचे रूसी बूट पहने हुए थे और उनके कोट में बहुत-सी बड़ी-बड़ी जेबें थीं जो फ़ोटो तथा अख़बार इत्यादि से भरी हुई थीं। इन चीज़ों में जर्मनी के चान्सलर बैथमैन हॉलवेग का एक ख़त था। क़ैसर की एक तस्वीर थी, जिसपर उसके अपने दस्तख़त थे। तिब्बत के दलाई लामा का लिखा हुआ भी एक ख़ूबसूरत खर्रा था। इसके अलावा अनगिनत काग़ज़ात और तस्वीरें थीं। उन जेबों में कितनी चीज़ें भरी हुई थीं, यह देखकर हैरत होती थी। उन्होंने हमसे कहा कि एक दफ़ा चीन

में उनका एक डिस्पैच बक्स खो गया, जिसमें उनके बड़े कीमती काग़ज़ात भरे हुए थे, तबसे उन्होंने इसीमें ज्यादा हिफ़ाज़त समझी है कि वह हमेशा अपने काग़ज़ात अपनी जेबों में ही रक्खें। इसीसे उन्होंने इतनी ज्यादा जेबें बनवाई थीं।

महेन्द्रप्रतापजी के पास जापान, चीन, तिब्बत और अफ़ग़ानिस्तान की और उन यात्राओं में जो घटनाएं हुई उनकी कहानियों की भरमार थी। उनको अपनी ज़िन्दगी तरह-तरह की हालतों में बितानी पड़ी, जिनका हल बड़ा दिलचस्प था। उस वक्त उनको सबसे ज्यादा जोश 'आनन्द-समाज' (A Happiness Society) के लिए था, जो खुद उन्होंने क़ायम किया था और जिसका मूल-मन्त्र था—"आनन्द से रहो।" मालूम पड़ता था कि इस संस्था को लटाविया (या लिथुआनिया) में बहुत कामयाबी मिली।

उनके प्रचार का तरीक़ा यह था कि वह वक़्तन-फ़वक़्तन जिनेवा या दूसरी जगह होनेवाली कान्फ्रेंसों के मेम्बरों के पास पोस्टकार्ड पर छपे हुए अपने बहुत-से सन्देश भेज दिया करते थे। इन पोस्टकार्डों पर उनके दस्तखत रहते थे, लेकिन जो नाम रहता था वह विचित्र, लम्बा और विविध। महेन्द्रप्रताप को तो उन्होंने म० प्र० यही रहने दिया था, लेकिन उसके साथ और बहुत-से नाम जोड़ दिये गए थे, जो ज़ाहिरा तौर पर जिन देशों की उन्होंने सैर की थी उनमें से उनके मनचाहे देश के नाम के द्योतक थे। इस तरह वह इस बात पर जोर देते थे कि वह अपने को जाति, मज़हब और क़ौम के बन्धनों से ऊपर समझते हैं। इस विचित्र नाम के नीचे आखिरी विशेषण 'मनुष्य-जाति का सेवक' बिल्कुल मौज़ूं था। महेन्द्र-प्रतापजी की बातों को ज्यादा महत्त्व देना मुश्किल था। वह तो मध्यकालीन उपन्यासों के एक पात्र से—डॉन क्विक्ज़ोट-से,[1] मालूम होते थे, जो ग़लती से बीसवीं सदी में आ भटके थे। लेकिन वह थे सोलहों आने सच्चे और अपनी धुन के पक्के।

पेरिस में हमने बूढ़ी मैडम कामा को भी देखा। जब वह किसीके पास आकर उसके चेहरे की तरफ़ ग़ौर से देखतीं, और अंगुली उठाकर एकाएक उससे यह पूछतीं कि आप कौन हैं, तब वह कुछ-कुछ खूंख्वार और डरावनी-सी मालूम होती थीं। आपके जवाब से उनके ऊपर कोई असर नहीं पड़ता; शायद

---

[1]थोड़ी शक्ति पर हवाई क़िले बांधनेवाला एक पात्र जिसका अनुपम चित्र इसी नाम के प्रसिद्ध स्पेनिश उपन्यास में चित्रित किया गया है—अनु०

उनको इतना ऊंचा सुनाई देता था कि वह आपकी बात सुन ही नहीं पातीं। वह अपनी इच्छाओं के अनुसार धारणाएं बना लेती हैं, और फिर उन्हीं पर अड़ी रहती हैं, चाहे वाक़यात उन धारणाओं के ख़िलाफ़ ही हों।

इनके अलावा मौलवी उबेदुल्ला थे, जो मुझसे कुछ वक़्त के लिए इटली में मिले। वह मुझे चालाक जंचे, लेकिन उनकी लियाक़त पुराने ज़माने की राजनैतिक चालबाज़ियों में जो होशियारी होती थी, वैसी थी। वह नये विचारों के सम्पर्क में न थे। हिन्दुस्तान के 'संयुक्त राज्यों' या 'हिन्दुस्तान के संयुक्त प्रजातन्त्र' की उन्होंने एक स्कीम बनाई थी, जो हिन्दुस्तान की साम्प्रदायिक समस्या को हल करने की एक काफ़ी अच्छी कोशिश थी। उन्होंने इस्तम्बूल में जो उन दिनों तक कुस्तुन्तुनिया ही कहलाता था, अपनी कुछ पुरानी हलचलों की बाबत भी मुझसे कुछ कहा, लेकिन उनको मैंने इतना महत्त्व नहीं दिया, इसलिए मैं जल्दी ही उन सब बातों को भूल गया। कुछ महीने बाद वह लाला लाजपतराय से मिले और ऐसा मालूम पड़ता है कि उन्हें भी उन्होंने वही बातें कह सुनाईं। लालाजी पर उनका बहुत असर पड़ा, उससे वह बहुत ही चिन्तित हो गये थे। यहाँतक कि उस साल हिन्दुस्तान की कौंसिलों के चुनाव में उन बातों का बड़ा महत्त्वपूर्ण हिस्सा रहा। उनके बिल्कुल अनुचित और विचित्र नतीजे तथा मतलब निकाले गये। मौलवी उबेदुल्ला इसके बाद हेजाज चले गये और पिछले कई सालों से मुझे उनकी बाबत कोई खबर नहीं मिली।

उनके बिल्कुल दूसरी क़िस्म के मौलवी बरकतउल्ला साहब थे। उनसे मैं बर्लिन में मिला। वह बड़े मज़ेदार बूढ़े आदमी थे। बड़े उत्साही और बहुत ही भले। वह बेचारे कुछ सीधे-सादे थे और बहुत तीव्र-बुद्धि न थे। फिर भी वह नये खयालात को अपनाने और आजकल की दुनिया को समझने की कोशिश करते थे। जबकि हम लोग स्वीज़रलैण्ड में थे, १९२७ में सेन-फ़्रांसिस्को में उनकी मौत हुई। उनकी मौत की ख़बर सुनकर मुझे बहुत रंज हुआ।

बर्लिन में ऐसे बहुत-से लोग थे जिन्होंने लड़ाई के वक़्त हिन्दुस्तानियों का एक दल बना लिया था। वह दल तो बहुत पहले ही टुकड़े-टुकड़े हो गया। उन लोगों की आपस में नहीं बनी और वे एक-दूसरे से लड़ पड़े; क्योंकि हर शख्स दूसरे पर विश्वासघात करने का शक करता था। ऐसा मालूम होता है कि सब जगह देश-निकाले राजनैतिक कार्यकर्ताओं का यही हाल होता है। बर्लिन के

इन हिन्दुस्तानियों में से बहुत-से तो मध्यश्रेणी के लोगों के उन बैठे-बिठाये पेशों में लग गये। महायुद्ध के बाद जर्मनी में इस तरह के पेशे अक्सर नहीं मिल सकते थे। अब जो उनमें लग गये उनमें क्रान्तिकारीपन का कोई चिह्न नहीं रहा। यहांतक कि वे राजनीति से भी दूर रहने लगे।

लड़ाई के ज़माने के इस पुराने दल की कहानी मनोरंजक है। इनमें ज़्यादातर तो वे लोग थे जो १९१४ की गर्मियों में जर्मनी के जुदा-जुदा विश्वविद्यालयों में पढ़ रहे थे। ये लोग जर्मनी के विद्यार्थियों के साथ उन्हींकी-सी ज़िंदगी बिताते थे, उनके साथ बियर (शराब) पीते थे और उनकी (जर्मनी की) संस्कृति को सहानुभूति तथा सम्मान के साथ देखते थे। लड़ाई से उनको कुछ मतलब न था; लेकिन उस वक़्त जर्मनी के ऊपर राष्ट्रीय उन्माद का जो तूफ़ान आया उससे विचलित हुए बिना नहीं रह सके। उनकी भावना तो वास्तव में ब्रिटिश-विरोधी थी, न कि जर्मनों की पक्षपाती। अपने हिन्दुस्तान की राष्ट्रीयता ने उन्हें ब्रिटेन के दुश्मनों की ओर झुका दिया। लड़ाई शुरू होने के बाद फ़ौरन ही कुछ और थोड़े-से हिन्दुस्तानी, जो इनसे कहीं ज़्यादा क्रान्तिकारी थे, स्वीज़रलैण्ड से जर्मनी जा पहुंचे। इन लोगों ने अपनी एक कमेटी बना ली और हरदयाल को बुला भेजा। वह उन दिनों संयुक्त राज्य अमेरिका के पश्चिमी किनारे पर थे। हरदयाल कुछ महीने पीछे आये, लेकिन इस वक़्त तक यह कमेटी काफ़ी महत्त्वपूर्ण हो गई थी। कमेटी पर यह महत्त्व जर्मन-सरकार ने लाद दिया था। जर्मन-सरकार क़ुदरतन यह चाहती थी कि वह तमाम ब्रिटिश-विरोधी भावनाओं को अपने फ़ायदे के लिए इस्तेमाल करे। उधर हिन्दुस्तानी यह चाहते थे कि वे अपने क़ौमी मक़सदों को पूरा करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति का फ़ायदा उठावें। वे यह नहीं चाहते थे कि महज़ जर्मनी के ही फ़ायदे के लिए अपनेको इस्तेमाल होने दें। इस मामले में उनकी बहुत चल नहीं सकती थी, लेकिन वे यह महसूस करते थे कि उनके पास कोई चीज़ ज़रूर है जिसे लेने के लिए जर्मन-सरकार बहुत उत्सुक है। इस बात से उन्हें जर्मन-सरकार से सौदा करने को एक हथियार मिल गया। उन्होंने इस बात पर बहुत ज़ोर दिया कि जर्मन-सरकार हिन्दुस्तान की आज़ादी की प्रतिज्ञा करे और इत्मीनान दिलाये कि वह उसपर क़ायम रहेगी। ऐसा मालूम होता था कि जर्मनी के वैदेशिक दफ़्तर ने इन लोगों से बाक़ायदा सुलहनामा किया, जिसमें उन्होंने यह वादा किया कि अगर जर्मनों की जीत हुई तो जर्मन-सरकार

हिन्दुस्तान की आज़ादी को मंज़ूर कर लेगी। इसी प्रतिज्ञा और इसी शर्त तथा कई छोटी शर्तों की बुनियाद पर इस हिन्दुस्तानी दल ने यह वादा किया कि हम लड़ाई में जर्मनी की मदद करेंगे। जर्मनी की सरकार हर तरह से इस कमेटी की इज़्ज़त करती थी, और उसके प्रतिनिधियों के साथ क़रीब-क़रीब विदेशी राजदूतों की बराबरी का बर्ताव किया जाता था।

ख़ासतौर पर नातजरबेकार नौजवानों के इस छोटे-से दल को यकायक जो इतना महत्त्व मिल गया, उससे उनमें से कई के सिर फिर गये। वे यह महसूस करने लगे कि हम कोई बहुत बड़ा ऐतिहासिक कार्य कर रहे हैं, बहुत ही बड़ी और युगान्तरकारी कार्रवाइयों में लगे हुए हैं। उनमें से बहुतों को बड़ी रोमांचक घटनाओं का सामना करना पड़ा और वे बाल-बाल बचे। लेकिन लड़ाई के पिछले हिस्से में उनकी महत्ता खुल्लम-खुल्ला कम होने लगी, और उनकी उपेक्षा शुरू हो गई। हरदयाल को, जो अमेरिका से आये थे, बहुत पहले ही सलाम कर लिया गया था। कमेटी से उनकी बिल्कुल नहीं बनी, और कमेटी तथा जर्मन-सरकार दोनों ही उनको विश्वास-पात्र नहीं मानते थे। उन्होंने उन्हें चुपचाप खिसका दिया। कई साल बाद जब १९२६ और १९२७ में मैं यूरोप में था, तब मुझे अचम्भा हुआ कि यूरोप में रहनेवाले ज्यादातर हिन्दुस्तानियों के दिलों में हरदयाल के ख़िलाफ़ कितनी कटुता और कितनी नाराज़गी है! उन दिनों वह स्वीडन में रहते थे। मैं उनसे नहीं मिल सका।

लड़ाई ख़त्म होते ही बर्लिनवाली हिन्दुस्तानी कमेटी का बुरी तरह ख़ात्मा हो गया। उन लोगों की तमाम उम्मीदों पर पानी फिर गया था, जिससे उनके लिए ज़िन्दगी बिल्कुल नीरस हो गई थी। उन्होंने बहुत बड़ा जुआ खेला था, और वे उसमें हार गये थे। लड़ाई के सालों में उन्हें जो महत्त्व मिला, और जैसे बड़े-बड़े वाक़यात हुए, उनके बाद तो हर हालत में ज़िन्दगी बोझा मालूम होती। लेकिन उन बेचारों को मुंह-मांगे इस तरह की बेफ़िक्री की ज़िन्दगी भी नहीं नसीब हो सकती थी। वे हिन्दुस्तान लौट नहीं सकते थे और लड़ाई के बाद के हारे हुए जर्मनी में रहने के लिए कोई आराम की जगह थी नहीं। उन बेचारों को बड़ी मुश्किलों का सामना करना पड़ा। उनमें से कुछेक को ब्रिटिश सरकार ने बाद में हिन्दुस्तान में आने की इजाज़त दे दी, लेकिन बहुतों को तो जर्मनी में ही रहना पड़ा। उनकी हालत बड़ी नाज़ुक थी। ज़ाहिर है कि वे किसी भी राज्य के नाग-

रिक न थे। उनके पास वाजिब पासपोर्ट तक नहीं थे। जर्मनी के बाहर तो सफ़र करना मुमकिन था ही नहीं, जर्मनी में रहने में भी बहुत-सी मुश्किलें थीं। वे वहां की पुलिस की मेहरबानी से ही रह सकते थे। उनकी ज़िन्दगी बहुत ही चिन्ता और मुसीबत से भरी थी। हर दिन उन्हें कोई-न-कोई फ़िक्र सवार रहती थी। हमेशा उन्हें इसी बात के लिए परेशान रहना पड़ता था, कि क्या खायें और कैसे जियें।

१९३३ के शुरू से नात्सियों के दौर-दौरे ने उनकी बदनसीबी को और भी बढ़ा दिया। अगर वे सोलहों आने नात्सियों के मत को मान लें तो दूसरी बात है। अनार्यों और खासतौर पर एशियाई विदेशियों का आजकल जर्मनी में स्वागत नहीं होता। उन लोगों को ज्यादा-से-ज्यादा उस वक़्त तक वहां ठहरने-भर दिया जाता है जब तक कि वे ठीक तरह से रहें। हिटलर ने कई बार यह ऐलान किया है कि वह हिन्दुस्तान में ब्रिटेन के साम्राज्यवादी शासन का तरफ़दार है। इसमें शक नहीं कि यह बात वह ब्रिटेन की सद्भावना प्राप्त करने को कहता है। इसलिए वह ऐसे किसी हिन्दुस्तानी को शह नहीं देना चाहता जिसने ब्रिटिश सरकार को नाराज़ कर दिया हो।

बर्लिन में हमें जो देश-निकाले हुए हिन्दुस्तानी मिले उनमें से एक चम्पक रमन पिल्ले थे। वह पुराने युद्धकालीन दल के एक मशहूर मेम्बर थे और कुछ धूम-धाम-पसन्द थे, और नौजवान हिन्दुस्तानियों ने उन्हें एक बुरा-सा खिताब दे रखा था। वह सिर्फ़ राष्ट्रीयता की भाषा में ही सोच सकते थे। किसी भी सवाल को उसके सामाजिक और आर्थिक पहलू से देखने से वह दूर भागते थे। जर्मनी के राष्ट्रवादी 'स्टील हेल्मेट्स' से उनकी खूब पटती थी। वह जर्मनी में उन थोड़े-से हिन्दुस्तानियों में से थे, जिनकी नात्सियों से खूब छनती थी। कुछ महीने हुए, जेल में मैंने खबर पढ़ी कि बर्लिन में उनका देहान्त हो गया।

हिन्दुस्तान के एक मशहूर घराने के वीरेन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय बिलकुल दूसरी क़िस्म के आदमी थे। आमतौर पर लोग उन्हें चट्टो के नाम से जानते थे। वह बहुत ही क़ाबिल और बड़े मज़े के आदमी थे। हमेशा मुसीबतों में रहते। उनके कपड़े बिलकुल फटे-पुराने थे, और अक्सर उन्हें अपने खाने का इन्तज़ाम करना बहुत ही मुश्किल हो जाता था। लेकिन उनके मज़ाक और उनकी खुशदिली ने उनका साथ कभी नहीं छोड़ा। जब मैं इंग्लैण्ड में पढ़ रहा था, तब वह मुझसे

कुछ साल आगे थे। जब मैं हैरो में दाख़िल हुआ, तब वह ऑक्सफ़ोर्ड में थे। तबसे वह कभी हिन्दुस्तान नहीं लौटे। कभी-कभी घर की याद उनको सताने लगती और वह हिन्दुस्तान लौटने के लिए व्याकुल हो उठते। उनके तमाम पारिवारिक बन्धन ख़तम हो चुके थे, और यह तय है कि अगर वह कभी हिन्दुस्तान आये तो फ़ौरन ही वह दुःखी होने लगेंगे, और यह पावेंगे कि यहाँ उनका मेल नहीं मिलता। लेकिन इतने बरसों के बीत जाने और लम्बे-लम्बे सफ़र करने के बावजूद घर का खिंचाव तो रहता ही है। देश से निकाला हुआ कोई भी शख़्स अपनी इस बीमारी से, जिसे मैज़िनी 'आत्मा का तपेदिक़' कहता था, नहीं बच सकता।

मैं यह ज़रूर कहूंगा कि मुझे दूसरे मुल्कों में जितने देश-निकाले हुए हिन्दुस्तानी मिले, उनमें ज्यादातर लोगों का मुझपर अच्छा असर नहीं पड़ा; यद्यपि मैं उनकी क़ुर्बानियों की तारीफ़ करता था और जिन वाक़ई और असली मौजूदा मुसीबतों में वे फंसे हुए थे और उन्होंने जो तक़लीफ़ें सही थीं और जो सहनी पड़ रही थीं, उनसे मेरी पूरी हमदर्दी थी। मैं उनमें से ज्यादा लोगों से नहीं मिला; क्योंकि उनकी तादाद बहुत काफ़ी है और वे दुनिया-भर मे फैले हुए है। उनमें से नाम भी तो हमने बहुत कम के सुने हैं। बाक़ी तो हिन्दुस्तान की दुनिया से बिल्कुल अलग हो गये है और अपने जिन हिन्दुस्तानी भाइयों की ख़िदमत करने की उन्होंने कोशिश की वे उन्हें भूल गये हैं। उनमें से जिन थोड़े-से लोगों से मै मिला उनमें वीरेन्द्र चट्टोपाध्याय और एम० एन० राय[1] के बुद्धि-वैभव का मुझपर अच्छा

---

[1] मानवेन्द्रनाथ राय बंगाली थे और पहले क्रान्तिकारी थे। यहां से भाग-कर वह रूस में बस गये। वहां इन्हें कोमिण्टर्न में अग्रगण्य स्थान मिला। कोमिण्टर्न—कम्यूनिस्ट इंटरनेशनल—साम्यवादियों की मुख्य संस्था थी। बाद को वह उससे हट गये। इसका कारण यह बताया जाता है कि यह मुख्य संस्था बाहर के देशों की संस्थाओं से स्थानिक परिस्थितियों का विचार किये बिना अपनी नीति का कठोरता से पालन चाहती थी। चीन में वह इसी संस्था की तरफ़ से गये थे। उसके बाद ये हिन्दुस्तान में आये और पकड़े गये; बाद में छूट गये। इन्होंने अपनी एक अलग रेडिकल पार्टी बना ली थी। इनकी मृत्यु २५ जनवरी, १९५४ में हो गई। —अनु०

असर पड़ा। राय से मैं कोई आध घंटे तक मास्को में मिला था। उन दिनों वह प्रमुख कम्युनिस्ट थे, लेकिन कम्युनिस्ट इंटरनेशनल के कट्टर कम्युनिज़्म से बाद को उनके कम्यूनिज़्म में फ़र्क़ हो गया था। मैं समझता हूं कि चट्टो बाक़ायदा कम्युनिस्ट न थे, सिर्फ़ उनका झुकाव कम्युनिज़्म की तरफ़ था। अब तो राय को हिन्दुस्तानी जेलों मे पड़े हुए तीन साल से भी ज़्यादा हो गये हैं।

इनके अलावा और भी बहुत-से हिन्दुस्तानी थे जो यूरोप के देशों में घूमते-फिरते थे। ये लोग क्रान्तिकारियों की ज़बान में बातचीत करते, बड़े-बड़े जीवट की और अजीब बातें सुझाते, कौतूहल-भरे विचित्र सवाल पूछते। ऐसा मालूम पड़ता था कि इन लोगों पर ब्रिटिश सीक्रेट सर्विस (ख़ुफ़िया महकमे) की छाप लगी हुई थी।

हां, हम बहुत-से यूरोपियनों और अमेरिकनों से भी मिले। जिनेवा से हम कई बार वीलनव में रोमां रोलां[1] से मिलने के लिए विला ओल्गा गये। उनके पास पहली मर्तबा जाते वक़्त हम गांधीजी से परिचय-पत्र लेते गये थे। एक नौजवान जर्मन कवि और नाटककार की याद भी मैं बहुत बहुमूल्य समझता हूं। इसका नाम था अर्न्स्ट टॉलर। अब नात्सियों के शासन में वह जर्मन नहीं रहा। यही बात न्यूयार्क के नागरिक स्वाधीनता संघ के रोजर बाल्डविन के लिए है। जिनेवा में नामी लेखक श्री धनगोपाल मुकर्जी[2] से भी हमारी दोस्ती हो गई थी। वह अमेरिका में बस गये हैं।

यूरोप जाने से पहले मैं हिन्दुस्तान मे फ्रैंक बुकमैन से मिला था। यह ऑक्सफ़ोर्ड-ग्रुप-मूवमेण्ट के हैं। इन्होंने अपनी हलचल के सम्बन्ध में कुछ साहित्य मुझे दिया। उसे पढ़कर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। यकायक धर्म-परिवर्तन करना या गुनाहों का इक़बाल करते फिरना और आमतौर पर धर्म का पुनरुद्धार करना मेरी निगाह में ऐसी बातें हैं जिनका बुद्धिवाद के साथ मेल नही खाता। मैं यह नहीं समझ सका

---

[1]सुप्रसिद्ध साम्राज्य-विरोधी फ्रेंच विद्वान्, जिनकी मृत्यु १९४४ में होगई।

[2]मई १९३६ में अमेरिका में इनकी बड़ी करुण परिस्थिति में मृत्यु हो गई। अपनी अनेक पुस्तकों में इन्होंने भारतीय सभ्यता के उज्ज्वल चित्र खींचे हैं। अंग्रेजी भाषा पर इनका आश्चर्यजनक अधिकार था।—अनु०

कि जो शख़्स ज़ाहिरा तौर पर साफ़-साफ़ बुद्धिमान मालूम होते थे वे ऐसे अजीब मनोभावों के शिकार कैसे हो जाते हैं और उनपर इन मनोविकारों का इस हद-तक असर कैसे पड़ जाता है ? मेरा कौतूहल बढ़ा। जिनेवा में फ्रैंक बुकमैन मुझे फिर मिले और उन्होंने मुझे न्यौता दिया कि रूमानिया में उनका जो अन्तर्राष्ट्रीय गृह-सम्मेलन होनेवाला है उसमें मैं शामिल होऊं। मुझे अफ़सोस है कि मैं वहां नहीं जा सका और नज़दीक से इस नई भावप्रवणता को नहीं देख सका। इस तरह मेरा कौतूहल अभी तक अतृप्त ही है और मैं इस ऑक्सफ़ोर्ड-ग्रुप-मूवमेण्ट की बढ़ती की जितनी ख़बरें पढ़ता हूं उतना ही आश्चर्य करता हूं।

: २२ :

आपसी मतभेद

हमारे स्वीज़रलैण्ड पहुंचने के बाद फ़ौरन ही इंग्लैण्ड में आम हड़ताल हो गई थी, जिससे मुझे बहुत उत्तेजना हुई। मेरी हमदर्दी पूरी तरह हड़तालियों के साथ थी। कुछ दिनों के बाद जब हड़ताल बुरी तरह ख़त्म हुई तब मुझे ऐसा मालूम पड़ा मानो ख़ुद मुझपर चोट पड़ी है। कुछ महीने बाद मुझे कुछ दिनों के लिए इंग्लैण्ड जाने का मौक़ा मिला। वहां कोयले की खानों के मज़दूरों की लड़ाई अभीतक चल रही थी और रात में लन्दन आधे अंधेरे में रहता था। एक खान में भी मैं कुछ समय के लिए गया। मेरा ख़याल है कि वह जगह डरबीशायर में होगी। मर्दों, औरतों और बच्चों के पीले और चिपके हुए चेहरे मैंने अपनी आंखों से देखे। इससे भी ज्यादा आंखें खोलनेवाली बात यह हुई कि मैंने हड़ताल करनेवाले मज़दूरों और उनकी औरतों पर स्थानीय या देहाती अदालतों में मुक़दमे चलते हुए देखे। इन अदालतों के मैजिस्ट्रेट ख़ुद उन कोयले की खानों के डाइरेक्टर या मैनेजर थे। उन्हींकी आदालतों में मज़दूरों का मुक़दमा हुआ और उन्हें ज़रा-ज़रा से जुर्मों के लिए कुछ ख़ासतौर पर बनाये गये क़ानूनों के मुताबिक़ सज़ा दे दी जाती थी। एक मुक़दमे से मुझे ख़ासतौर पर ग़ुस्सा आया। अदालत के कठघरे में तीन या चार औरतें ऐसी लाई गईं जिनकी गोद में बच्चे थे। उनका जुर्म था कि उन्होंने हड़ताल करनेवालों की जगह पर काम करने जानेवाले मज़दूर-द्रोहियों को धिक्कारा था। ये नौजवान माताएं और उनके नन्हें-नन्हें बच्चे दुःखी हैं और उन्हें भरपेट भोजन नहीं मिलता, यह बात साफ़-साफ़ दिखाई देती थी। लम्बी लड़ाई से वे बहुत ही कमज़ोर हो गई थीं। उनकी हालत बहुत बिगड़ गई थी। उनमें उन मज़दूर-द्रोहियों के प्रति कटुता आ गई थी जो उनके मुंह का कौर छीनते हुए मालूम होते थे।

वर्ग-न्याय अर्थात् अमीर श्रेणी के लोग ग़रीब दरजे के लोगों के साथ कैसा इन्साफ़ करते हैं, इसकी बाबत अक्सर हम लोग बहुत-सी बातें पढ़ा करते हैं;

और हिन्दुस्तान में तो इस तरह के इन्साफ़ों के क़िस्से रोज़मर्रा की बातें हैं। लेकिन, किसी भी वजह से हो, मैं यह उम्मीद नहीं करता था कि इंग्लैण्ड में 'इन्साफ़' का इतना बुरा नमूना मुझे देखने को मिलेगा। इस वजह से उससे मेरे मन में भारी धक्का लगा। एक और बात, जिसे देखकर मुझे कुछ अचरज हुआ, यह थी कि हड़ताल करनेवालों में डर की आबहवा फैली हुई थी। निश्चित रूप से पुलिस और हाकिमों ने उन्हें बुरी तरह डरा दिया था जिससे वे बेचारे सब बातों को, मैं समझता हूं कि उनके साथ जो बेइज्ज़ती का बर्ताव किया जाता था उसे भी, चुप-चाप सह लेते थे। यह सही है कि एक लम्बी लड़ाई के बाद वे बुरी तरह थक गये थे। उनकी हिम्मत उनका साथ छोडने को ही थी। दूसरे मज़दूर-संघों के उनके साथी-मज़दूरों ने उनका साथ छोड़ ही दिया था। लेकिन ग़रीब हिन्दुस्तानी मज़दूर के मुकाबले फिर भी ज़मीन-आसमान का फ़र्क़ था। ब्रिटिश खानों के मज़दूरों का संगठन तो अभी तक बहुत मज़बूत था। सचमुच मुल्क-भर के मज़दूरों की ही नहीं, दुनिया-भर के मज़दूर-सघों की हमदर्दी उनके साथ थी। उनके विषय में काफ़ी प्रचार हो रहा था। इसके अलावा भी उनके पास तरह-तरह के साधन थे। हिन्दुस्तानी मज़दूरों को इनमें से एक बात भी नसीब नहीं थी। लेकिन फिर भी दोनों देशों के मज़दूरों की भयभीत आंखों में एक अजीब साम्य दिखाई देता था।

उस साल हिन्दुस्तान में असेम्बली और प्रान्तीय कौंसिलों का हर तीसरे साल होनेवाला चुनाव था। मुझे उन चुनावों में कोई दिलचस्पी न थी, लेकिन वहां जो घमासान शब्द-यद्ध हुआ उसकी कुछ आवाज़ें स्वीज़रलैण्ड में भी पहुंच गई। स्वराज-पार्टी इन दिनों तक कौंसिलों में बाक़ायदा कांग्रेस-पार्टी हो गई थी। इसकी मुख़ालिफ़त करने के लिए, मुझे मालूम हुआ कि, पं० मदनमोहन मालवीय और लाला लाजपतराय ने एक नई पार्टी बनाई थी। इस पार्टी का नाम रक्खा गया था नेशनलिस्ट-पार्टी। मेरी समझ में यह नहीं आया और अभी तक मैं नहीं समझ सका कि नई पार्टी और पुरानी पार्टी में किन बुनियादी उसूलों का फ़र्क़ था। सच बात तो यह है कि आजकल कौंसिल की ज्यादातर पार्टियों में कोई कहने लायक़ फ़र्क़ नहीं है—उतना ही फ़र्क़ है, जितना ईसरी और ईसरिया के नामों में। कोई असली उसूल उन्हें एक-दूसरे से अलग नहीं करता था। स्वाराज-पार्टी ने पहले-पहल कौंसिलों में एक नया और लड़ाकू रुख़ इख़्तियार किया और दूसरों के मुक़ा-

बले वह ज़्यादा नरम नीति से काम लेने के पक्ष में थी। लेकिन यह तो मात्रा का फ़र्क़ था, तत्त्व का नहीं।

नई नेशनलिस्ट पार्टी अधिक माडरेट यानी नरम दृष्टिकोण की प्रतिनिधि थी। वह निश्चित रूप से स्वराज-पार्टी से ज़्यादा सरकार की ओर झुकी हुई थी। इसके अलावा वह सोलहों आने हिन्दू-पार्टी भी थी, जो हिन्दू-सभा के घनिष्ठ सहयोग के साथ काम करती थी। मालवीयजी का इस पार्टी का नेतृत्व करना तो आसानी से समझ में आ सकता था क्योंकि वह उनके सार्वजनिक रुख को अधिक-से-अधिक ज़ाहिर करती थी। पुराने सम्बन्धों की वजह से वह कांग्रेस में ज़रूर बने हुए थे, लेकिन उनकी विचार-दृष्टि लिबरलों या माडरेटों के दृष्टिकोण से ज़्यादा भिन्न न थी। कांग्रेस ने सहयोग और सीधी लड़ाई के जो नये ढंग इख़्तियार किये थे, वे उन्हें पसन्द न थे। कांग्रेस की नीति को तय करने में भी उनका कोई ख़ास हाथ न था। यद्यपि लोग उनकी बड़ी इज़्ज़त करते थे और कांग्रेस में हमेशा उनका स्वागत किया जाता था, लेकिन दरअसल मालवीयजी की कांग्रेस के प्रति आत्मीयता नहीं रही थी। वह उसकी कार्य-कारिणी—कार्य-समिति—के मेम्बर नहीं थे और वह कांग्रेस के आदेशों पर भी अमल नहीं करते थे, ख़ासकर उन आदेशों पर जो कौंसिलों के बारे में दिये जाते थे। वह हिन्दू-सभा के सबसे ज्यादा लोक-प्रिय नेता थे, और हिन्दू-मुसलमानों के मामलों में उनकी नीति कांग्रेस की नीति से जुदा थी। कांग्रेस के प्रति उनको वैसी भावुकतापूर्ण ममता थी, जैसी किसी एक संस्था से किसीका क़रीब-क़रीब शुरू से ही सम्बन्ध होने पर हो जाती है। कुछ हदतक इसलिए भी उन्हें कांग्रेस से प्रेम था क्योंकि आज़ादी की लड़ाई की दिशा में भी उनकी भावुकता उन्हें खीच ले जाती थी और वह यह देखते थे कि कांग्रेस ही एक ऐसी संस्था है जो उसके लिए कोई कारगर काम कर रही है। इन कारणों से उनका दिल अक्सर कांग्रेस के साथ रहता था, ख़ासतौर पर लड़ाई के वक़्त में; लेकिन उनका दिमाग़ दूसरे कैम्पों में था। लाज़िमी तौर पर इसका नतीजा यह हुआ कि ख़ुद उनके भीतर भी लगातार एक खींचातानी होती रहती थी। कभी-कभी वह एक-दूसरे के ख़िलाफ़ दिशाओं में, पूर्व-पश्चिम दोनों तरफ़ एक साथ चलने की कोशिश करते थे। नतीजा यह होता था कि लोगों की बुद्धि गड़बड़ी में पड़ जाती थी। लेकिन राष्ट्रीयता ऐसी गोलमालों की खिचड़ियों से ही भरी हुई है और मालवीयजी केवल नेशनलिस्ट हैं, सामाजिक और आर्थिक

परिवर्तनों से उनका कोई वास्ता नहीं। वह पुराने कट्टर पंथ के समर्थक थे और हैं। सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक दृष्टि से वह सनातन-धर्म को माननेवाले हैं। हिन्दुस्तानी राजे, ताल्लुक़ेदार तथा बड़े-बड़े ज़मींदार ठीक ही उन्हें अपना हितचिन्तक मित्र समझते हैं। वह सिर्फ़ एक ही परिवर्तन चाहते हैं, पर उसे ज़रूर अन्तस्तल से चाहते हैं और वह है हिन्दुस्तान से विदेशी शासन का क़तई हट जाना। उन्होंने अपनी जवानी मे जो कुछ पढ़ा और जो राजनैतिक तालीम पाई थी उसका अब भी उनके दिमाग़ पर बहुत असर है और वह लड़ाई के बाद की, बीसवीं सदी की, सजीव और क्रान्तिकारी दुनिया को अर्ध-स्थिर उन्नीसवीं सदी के चश्मे से, टी० एच० ग्रीन, जान स्टुअर्ट मिल और ग्लैडस्टन व मॉर्ले की निगाहों से तथा हिन्दू-संस्कृति और समाज-विज्ञान की तीन-चार वर्ष पुरानी भूमिका से, देखते हैं। एक यह विचित्र मेल है, जिसमें परस्पर-विरोधी बातें भरी हुई हैं। लेकिन परस्पर-विरोधी बातों को हल करने की अपनी ख़ुद की शक्ति में उनका विश्वास आश्चर्यजनक है। उठती जवानी से ही विविध क्षेत्रों में उनके द्वारा भारी सार्वजनिक सेवाएं होती आई है। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय जैसी विशाल संस्था क़ायम करने में उन्होंने कामयाबी हासिल की है। उनकी सचाई और उनकी लगन बिल्कुल पारदर्शक है। उनकी भाषण-शक्ति बहुत ही प्रभावशाली है। उनका स्वभाव मीठा है और उनका व्यक्तित्व मोहक है। इन सब बातों से हिन्दुस्तान के लोगों के, खासतौर पर हिन्दुओं के, वह बहुत प्यारे है; और यद्यपि बहुत-से लोग राजनीति में उनसे सहमत नहीं हैं, न उनके पीछे चलते ही है, लेकिन वे उनसे प्रेम तथा उनकी इज़्ज़त जरूर करते हैं। अपनी अवस्था और बहुत लम्बी सार्वजनिक सेवा की वजह से वह हिन्दुस्तान की राजनीति के वशिष्ठ हैं, लेकिन ऐसे, जो समय से पीछे मालूम देते है और जो आजकल की दुनिया से बिलकुल अलग-से है। उनकी आवाज की ओर लोगों का ध्यान अब भी जाता है, लेकिन वह जो भाषा बोलते हैं उसे अब बहुत-से लोग न तो समझते ही हैं, न उसकी परवाह ही करते हैं।

इन बातों से मालवीयजी के लिए यह स्वाभाविक ही था कि वह स्वराज-पार्टी में शामिल न होते। वह पार्टी राजनैतिक दृष्टि से उनके लिए बहुत ज़्यादा आगे बढ़ी हुई थी, और उसमें कांग्रेस की नीति पर डटे रहने का कड़ा अनुशासन ज़रूरी थी। वह चाहते थे कि कोई ऐसी पार्टी हो जो ज़्यादा उग्र

न हो और जिसमें राजनैतिक और साम्प्रदायिक दोनों मामलों में अपने मन के मुताबिक़ काम करने की ज्यादा छूट मिले। ये दोनों बातें उन्हें उस नई पार्टी में मिल गई, जिसके वह जन्मदाता और नेता थे।

लेकिन यह बात आसानी से समझ में नहीं आती कि लाला लाजपतराय क्यों नई पार्टी मे शामिल हुए, यद्यपि उनका झुकाव भी कुछ-कुछ दक्षिण पक्ष और ज़्यादा साम्प्रदायिक नीति की तरफ़ था। उस साल गर्मियों में मैं जिनेवा में लालाजी से मिला था और मुझसे उनकी जो बातें वहां हुई उनसे तो यह नहीं मालूम पड़ता था कि वह कांग्रेस पार्टी के ख़िलाफ़ लड़ाकू रुख इख़्तियार करेंगे। यह क्यों हुआ, इस बात का अभीतक मुझे कुछ पता नहीं। लेकिन चुनाव की लड़ाई के दौरान में उन्होंने कुछ स्पष्ट आक्षेप किये थे, जिनसे यह पता चल जाता है कि उनके मन में क्या-क्या चल रहा था। उन्होंने कांग्रेस के नेताओं पर यह इलज़ाम लगाया कि वे हिन्दुस्तान से बाहर के लोगों के साथ साज़िश कर रहे हैं। उन्होंने एक यह भी इलज़ाम लगाया कि काबुल में कांग्रेस की शाखा खोलकर इन्होंने कुछ साज़िश की है। मेरा ख़याल है कि उन्होंने अपने इन आक्षेपों की बाबत कोई खास बात कभी नही बताई। बार-बार प्रार्थना करने पर भी वह तफ़सील में कोई सबूत न दे सके।

मुझे याद है कि जब मैंने स्वीज़रलैण्ड में हिन्दुस्तानी अखबारों में लालाजी के इलज़ामों को पढ़ा तो मैं दंग रह गया। कांग्रेस के मन्त्री की हैसियत से मैं कांग्रेस की बाबत सब बाते जानता था। काबुल की कांग्रेस कमेटी का कांग्रेस से सम्बन्ध कराने मे मेरा अपना हाथ था। उसकी शुरुआत देशबन्धु दास ने की थी। यद्यपि मुझे उस वक़्त यह नही मालूम था, अब भी नहीं मालूम है, कि लालाजी के पास उन इलज़ामों की क्या तफ़सील थी, फिर भी मैं उनके स्वरूप को देखकर यह कह सकता हूं कि जहांतक कांग्रेस का ताल्लुक़ है इन इलज़ामों की कोई बुनियाद नहीं हो सकती। मैं नहीं जानता कि इस मामले में लालाजी कैसे गुमराह हो गये। मुमकिन है कि तरह-तरह की अफ़वाहों का उन्होंने ऐतबार कर लिया हो, और मेरा ख़याल है कि उन दिनों मौलवी उबेदुल्ला के साथ उनकी जो बातचीत हुई थी उसका उनके ऊपर ज़रूर असर पड़ा होगा। हालांकि उस बातचीत में मुझे कोई बात ऐसी गैरमामूली नहीं मालूम होती थी। लेकिन चुनाव के वक़्त तो ग़ैरमामूली हालत पैदा हो ही जाती है। उसमें एक ऐसी अजीब बात होती है

कि लोगों का मिज़ाज बिगड़ जाता है और वे सारासार का विचार भूल जाते हैं। इन चुनावों को मैं जितना ही ज़्यादा देखता हूं उतनी ही ज़्यादा मेरी हैरत बढ़ती है, और मेरे मन में उनके ख़िलाफ़ ऐसी अरुचि पैदा हो रही है, जो लोकतन्त्री भाव के क़तई ख़िलाफ़ है।

लेकिन शिकायतों की बात जाने दीजिए, देश के बढ़ते हुए साम्प्रदायिक वातावरण को देखकर, नेशनलिस्ट पार्टी का या ऐसी ही किसी और पार्टी का खड़ा होना लाज़िमी था। एक तरफ़ मुसलमानों के दिलों में हिन्दुओं की ज़्यादा तादाद का डर था; दूसरी तरफ़ हिन्दुओं के दिलों में इस बात पर बहुत नाराज़गी थी कि मुसलमान उनपर धौंस जमाते हैं। बहुत-से हिन्दू यह महसूस करते थे कि मुसलमानों का रुख़ बहुत-कुछ 'जो कुछ पास-पल्ले है उसे रख दो, नहीं तो ठीक कर दूंगा' जैसा है। दूसरी तरफ़ वे सरकार की तरफ़ मिलने की धमकी देकर ज़बरदस्ती ख़ास रिआयतें ले लेने की भी बहुत ज़्यादा कोशिश करते थे। इसी वजह से हिन्दू महासभा को कुछ महत्त्व मिल गया, क्योंकि वह हिन्दू राष्ट्रीयता की प्रतिनिधि थी। अब हिन्दुओं की हिन्दू साम्प्रदायिकता मुसलमानों की साम्प्रदायिकता के मुक़ाबले पर आ डटी थी। महासभा की लड़ाकू हरकतों का यह नतीजा हुआ कि मुसलमानों की यह साम्प्रदायिकता और ज़ोर पकड़ गई। इसी तरह घात-प्रतिघात होता रहा और इस प्रक्रिया में देश का साम्प्रदायिक पारा बहुत चढ़ गया। ख़ासतौर पर यह सवाल देश के अल्पसंख्यक दल और बहुसंख्यक दल के झगड़े का सवाल था। लेकिन अजीब बात तो यह थी कि देश के कुछ हिस्सों में बात बिल्कुल उलटी थी। पंजाब और सिन्ध में हिन्दू और सिक्ख दोनों की तादाद मिलकर भी मुसलमानों से कम थी। और इन सूबों के अल्पसंख्यक हिन्दू और सिक्खों को भी वैर-भाव रखनेवाली बहुसंख्या से कुचले जाने का उतना ही डर था जितना मुसलमानों को हिन्दुस्तान के दूसरे सूबों में। या अगर बिल्कुल ठीक-ठीक बात कही जाय तो यों कहिये कि दोनों दलों के मध्यम श्रेणीवाले, नौकरी की फ़िराक़ में लगे हुए लोगों को यह डर था कि कहीं ऐसा न हो जाय कि नौकरियां मिलने ही न पायें; और कुछ हदतक स्थापित स्वार्थ रखनेवाले ज़मींदारों और साहूकारों वग़ैरा को यह डर था कि कहीं ऐसे आमूल परिवर्तन न कर दिये जायं जिसमें हमारे स्वार्थों का सत्यानाश हो जाय।

साम्प्रदायिकता की इस बढ़ती से स्वराज पार्टी को बहुत नुक़सान पहुंचा।

उसके कुछ मुसलमान मेम्बर उसे छोड़कर चले गये और मुसलमानों की साम्प्रदायिक जमातों में जा मिले, और उसके कुछ हिन्दू मेम्बर खिसककर नेशनलिस्ट पार्टी में जा मिले। जहांतक हिन्दू लीडरों से ताल्लुक़ था, मालवीयजी और लाला लाजपतराय का मेल बहुत ताक़तवर मुक़ाबला था और साम्प्रदायिकता के तूफ़ान के केन्द्र पंजाब में उसका बहुत असर था। स्वराज पार्टी या कांग्रेस की तरफ़ चुनाव लड़ने का ख़ास बोझ मेरे पिताजी के ऊपर पड़ा। उस बोझ को उनसे बंटाने के लिए देशबन्धु दास भी अब नहीं रहे थे। उन्हें लड़ाई में मज़ा आता था। किसी हालत में वह लड़ाई से जी नहीं चुराते थे, और प्रतिपक्षी की ताक़त बढ़ती हुई देखकर उन्होंने चुनाव की लड़ाई में अपनी तमाम ताक़त लगा दी। उन्होंने गहरी चोटें खाई और दीं। दोनों पार्टियों में से किसीने भी किसीका कोई लिहाज़ नहीं किया। शिष्टता भी छोड़ दी। इस चुनाव के पीछे भी उसकी याद बड़ी कड़वी बनी रही।

नेशनलिस्ट पार्टी को बहुत काफ़ी मात्रा में कामयाबी मिली। लेकिन इस कामयाबी ने निश्चित रूप से असेम्बली की राजनैतिक आब कम कर दी। आकर्षण-केन्द्र और भी ज़्यादा नरम नीति की ओर चला गया। स्वराज पार्टी ख़ुद कांग्रेस का दक्षिण पक्ष था। अपनी ताक़त बढ़ाने के लिए उसने बहुत-से संदिग्ध लोगों को पार्टी में घुस आने दिया। इस वजह से उसकी श्रेष्ठता में कमी हो गई। नेशनलिस्ट पार्टी ने और भी नीचे जाकर उसी नीति से काम लिया। उपाधिधारी लोगों, बड़े ज़मीदारों, मिल-मालिकों तथा दूसरे लोगों का एक अजीब भानमती का पिटारा उसमें आ इकट्ठा हुआ। इन लोगों का भला राजनीति से क्या ताल्लुक़ ! उस साल १९२६ के अख़ीर में हिन्दुस्तान में एक भारी दुःखद घटना से अंधेरा-सा छा गया। इस घटना से सारा हिन्दुस्तान घृणा व रोष से कांप उठा। उससे पता चलता था कि जातीय वैमनस्य हमारे लोगों को कितना नीचे गिरा सकता था। स्वामी श्रद्धानन्द को, जबकि वह बीमारी में चारपाई पर पड़े हुए थे, एक धर्मान्ध मुसलमान ने क़त्ल कर दिया। जिस पुरुष ने गोरखों की संगीनों के सामने अपनी छाती खोल दी थी और उनकी गोलियों का सामना किया था उसकी ऐसी मौत ! करीब-करीब आठ बरस पहले इसी आर्यसमाजी नेता ने दिल्ली की विशाल जामा मसजिद की वेदी पर खड़े होकर हिन्दुओं और मुसलमानों की एक बहुत बड़ी सभा को एकता का और हिन्दुस्तान की आज़ादी का उपदेश दिया

था। उस विशाल भीड़ ने 'हिन्दू-मुसलमानों की जय' के शोर से उनका स्वागत किया था और मसजिद से बाहर गलियों में उन्होंने उस ध्वनि पर अपने खून की एक संयुक्त मुहर लगा दी थी। और अब अपने ही देश-भाई द्वारा मारे जाकर उनके प्राण-पखेरू उड़ गये ! हत्यारा यह समझता था कि वह एक ऐसा अच्छा काम कर रहा है जो उसे बहिश्त को ले जायगा !

विशुद्ध शारीरिक साहस का, किसी भी अच्छे काम में शारीरिक तकलीफ़ सहने और मौत तक की परवाह न करनेवाली हिम्मत का मैं हमेशा से प्रशंसक रहा हूं। मेरा ख़याल है कि हममें से ज़्यादातर लोग उस तरह की हिम्मत की तारीफ़ करते हैं। स्वामी श्रद्धानन्द में इस निडरता की मात्रा आश्चर्यजनक थी। लम्बा क़द, भव्य मूर्ति, संन्यासी के वेश में बहुत उमर हो जाने पर भी बिलकुल सीधी चमकती हुई आंखें और चेहरे पर कभी-कभी दूसरों की कमज़ोरियों पर आनेवाली चिड़चिड़ाहट या ग़ुस्से की छाया का गुज़रना, मैं इस सजीव तस्वीर को कैसे भूल सकता हूं ! अक्सर वह मेरी आंखों के सामने आ जाती है।

: २३ :

ब्रसेल्स में पीड़ितों की सभा

१९२६ के अखीर में मैं इत्तिफ़ाक़ से बर्लिन में था और वहीं मुझे यह मालूम हुआ कि जल्दी ही ब्रसेल्स शहर में पद-दलित क़ौमों की एक कान्फ्रेंस होनेवाली है। यह खयाल मुझे बहुत पसन्द आया और मैंने स्वदेश को लिखा कि राष्ट्रीय महासभा को ब्रसेल्स-कांग्रेस में हिस्सा लेना चाहिए। मेरी यह बात पसन्द की गई और मुझे ब्रसेल्स-कान्फ्रेंस के लिए भारत की राष्ट्रीय महासभा का प्रतिनिधि बना दिया गया।

ब्रसेल्स की यह कांग्रेस १९२७ की फरवरी के शुरू में हुई। मुझे पता नहीं कि यह खयाल पहले-पहल किसको सूझा ? उन दिनों बर्लिन एक ऐसा केन्द्र था जो देश-निकाले हुए राजनैतिक लोगों और दूसरे लोगों के उग्र विचार के लोगों को अपनी तरफ़ खींचता था। इस मामले में बर्लिन धीरे-धीरे पेरिस के बराबर पहुंच रहा था। वहां कम्यूनिस्ट दल भी काफ़ी मज़बूत था। पद-दलित क़ौमों में आपस में तथा इन क़ौमों में और मज़दूर उग्रदलों में एक-दूसरे के साथ मिलकर संयुक्त रूप से कुछ काम करने का खयाल उन दिनों लोगों में फैला हुआ था। लोग अधिकाधिक यह महसूस करते जाते थे कि साम्राज्यवाद नाम की चीज़ के ख़िलाफ़ आज़ादी की लड़ाई सबके लिए एक-सी है, इसलिए यह मुनासिब मालूम होता है कि इस लड़ाई की बाबत मिलकर ग़ौर किया जाय और जहां हो सके वहां मिलकर काम करने की कोशिश भी की जाय। इंग्लैण्ड, फ्रांस, इटली वग़ैरा जिन राष्ट्रों के पास उपनिवेश थे वे क़ुदरतन इस बात के ख़िलाफ़ थे कि ऐसी कोई कोशिश की जाय। लेकिन लड़ाई के बाद जर्मनी के पास तो उपनिवेश रहे नहीं थे, इसलिए जर्मन-सरकार दूसरी ताक़तों के उपनिवेशों और अधीन देशों में आन्दोलन की इस बढ़ती को एक हितैषी की तटस्थता से देखती थी। यह उन कारणों में से एक था जिसने बर्लिन को एक केन्द्र बना दिया था। उन लोगों में सबसे ज़्यादा मशहूर व क्रियाशील वे चीनी थे जो वहां की क्योमिनतांग-पार्टी के गरम दल के थे। यह पार्टी उन दिनों चीन में तूफ़ान की तरह जीतती जा रही थी और

उसकी अप्रतिहत गति के आगे पुराने ज़माने के जागीरदारी तत्त्व ज़मीन में लुढ़कते नज़र आ रहे थे। चीन के इस नये चमत्कार के सामने साम्राज्यवादी ताक़तों ने भी अपनी तानाशाही आदतों और धौंस-डपट को छोड़ दिया था। ऐसा मालूम पड़ता था कि अब चीन के एके और उसकी आज़ादी के मसले के हल हो जाने में ज़्यादा देर नहीं लगेगी। क्योमिनतांग ख़ुशी से फूलकर कुप्पा हो गई थी। लेकिन उसके सामने जो मुश्किलें आने को थी उन्हें भी वह जानती थी। इसलिए वह अन्तर्राष्ट्रीय प्रचार द्वारा अपनी ताक़त बढ़ाना चाहती थी। ग़ालिबन इस पार्टी के बायें दल के लोगों ने ही—जो दूसरे देशों के कम्युनिस्टों से मिलते-जुलते लोगों से मिलकर काम करते थे—इस तरह के प्रचार पर ज़ोर दिया था, जिससे वे दूसरे मुल्कों में चीन की राष्ट्रीय परिस्थिति को और घर पर पार्टी में अपनी स्थिति को मजबूत कर सकें। उस वक़्त पार्टी ऐसे दो या तीन परस्पर-प्रतिस्पर्धी और कट्टर शत्रु-दलों में नहीं बंट गई थी। उस वक़्त वह बाहर से देखनेवाले सब लोगों को, सयुक्त सामना करती हुई मालूम होती थी।

इसलिए क्योमिनतांग के यूरोपियन प्रतिनिधियों ने पद-दलित क़ौमों की कान्फ्रेंस करने के विचार का स्वागत किया, शायद उन्होंने ही कुछ और लोगों से मिलकर इस विचार को पहले-पहल जन्म दिया। कुछ कम्युनिस्ट और कम्युनिस्टों से मिलते-जुलते लोग भी शुरू से इस विचार के समर्थक थे; लेकिन कुल मिलाकर कम्युनिस्ट लोग कान्फ्रेंस के मामले में अलग, पीछे ही रहे। लैटिन अमरीका[1] से भी क्रियात्मक सहायता और मदद आई, क्योंकि उन दिनों वह संयुक्त-राज्य के आर्थिक साम्राज्यवाद के मारे कुड़मुड़ा रहा था। मैक्सिको की नीति उग्र थी। उसका सभापति भी उग्र दल का था। मैक्सिको इस बात के लिए उत्सुक था कि वह संयुक्तराज्य के ख़िलाफ़ लैटिन अमरीका के गुट का नेतृत्व करे। इसलिए मैक्सिको ने ब्रसेल्स कांग्रेस में बड़ी दिलचस्पी ली। वहां की सरकार एक सरकार की हैसियत से तो कांग्रेस में हिस्सा नहीं ले सकती थी, लेकिन उसने अपने एक प्रमुख राजनीतिज्ञ को भेजा कि वहां एक तटस्थ दर्शक की हैसियत से मौजूद रहे।

---

[1]लैटिन अमरीका अर्थात् मैक्सिको, ब्राजील, बोलिविया इत्यादि अमेरिकन प्रदेश—जहां लैटिन भाषा से निकली भाषाएं बोलनेवाले लोग यूरप से जाकर बसे हैं, जैसे—फ्रेंच, इटेलियन, स्पेनिश, पोर्चुगीज़ आदि। —अनु०

ब्रसेल्स में जावा, हिन्द-चीन, फिलस्तीन, सीरिया, मिस्र, उत्तरी अफ्रीका के अरब और अफ्रीका के हब्शी लोगों की क़ौमी संस्थाओं के प्रतिनिधि भी मौजूद थे। इनके अलावा बहुत से मज़दूरों के उग्रदलों ने भी अपने प्रतिनिधि भेजे थे। बहुत-से ऐसे लोग भी, जिन्होंने एक युग से मज़दूरों की लड़ाइयों में खास हिस्सा लिया था, वहां मौजूद थे। कम्युनिस्ट भी वहां थे। उन्होंने कांग्रेस की कार्रवाई में काफ़ी हिस्सा लिया, लेकिन वे वहां कम्युनिस्टों की हैसियत से न आकर कई मज़दूर संघों या वैसी ही संस्थाओं के प्रतिनिधि होकर आये थे।

जार्ज लेन्सबरी उस कांग्रेस के सभापति चुने गये और उन्होंने बहुत ही ज़ोरदार भाषण दिया। यह बात इस बात का सबूत थी कि कांग्रेस कोई ऐसी-वैसी सभा न थी, और न उसने अपना भाग्य ही कम्यूनिस्टों के साथ जोड़ दिया था। लेकिन इस बात में कोई शक नहीं कि वहां एकत्र लोग कम्यूनिस्टों के प्रति मित्र-भाव न रखते थे और यद्यपि उनमें और कम्युनिस्टों मे कई बातों में समझौता भले ही न हो सकता हो, फिर भी काम करने के लिए कई बातें ऐसी भी थीं जिनमें मिलकर काम किया जा सकता था।

वहां जो स्थायी संस्था, साम्राज्यवाद-विरोधी लीग, क़ायम की गई उसका भी सभापतित्व मि० लेन्सबरी ने स्वीकार कर लिया, लेकिन फ़ौरन ही उन्हें अपनी इस जल्दबाज़ी पर पछताना पड़ा। शायद ब्रिटिश मज़दूर-दल के उनके साथियों ने उनकी इस बात को पसन्द नही किया। उन दिनों यह मजदूर-दल 'सम्राट् का विरोधी दल' था और जल्दी ही बढ़कर 'सम्राट की सरकार' बनने को था। तब भला मंत्रि-मण्डल के भावी सदस्य खतरनाक और क्रान्तिकारी राजनीति में कैसे पैर फंसा सकते थे ? मि० लेन्सबरी ने पहले तो काम में बहुत व्यस्त रहने का बहाना करके लीग के सभापतित्व से इस्तीफ़ा दे दिया, बाद को उन्होंने उसकी मेम्बरी भी छोड़ दी। मुझे इस बात से बहुत अफसोस हुआ कि जिस व्यक्ति के व्याख्यान की दो-तीन महीने पहले मैंने इतनी तारीफ़ की थी, उसमें यकायक ऐसी तब्दीली हो गई!

कुछ भी हो, काफी प्रतिष्ठित व्यक्ति साम्राज्य-विरोधी लीग के संरक्षक हैं। उसमें एक तो मि० आइंस्टीन[1] हैं और दूसरी श्रीमती सन यात सेन[2], और मेरा

---

[1]सुप्रसिद्ध जर्मन वैज्ञानिक, जो यहूदी होने के कारण जर्मनी से निर्वासित कर दिये गए थे। इनका देहांत हो चुका है।

[2]स्वतन्त्र चीन के प्रथम प्रमुख सन यात सेन की विधवा पत्नी। —अनु०

ख़याल है कि रोमां रोलां भी। कई महीने बाद आइन्स्टीन ने इस्तीफ़ा दे दिया, क्योंकि फ़िलस्तीन में अरबों और यहूदियों के जो झगड़े हो रहे थे उनमें लीग ने अरबों का पक्ष लिया था और यह बात उन्हें नापसन्द थी।

ब्रसेल्स-कांग्रेस के बाद लीग की कमेटियों की कई मीटिंगें समय-समय पर भिन्न-भिन्न जगहों में हुई। इन सबसे मुझे अधीनस्थ और औपनिवेशिक प्रदेशों की कुछ समस्याओं को समझने में बड़ी मदद मिली। उनकी वजह से पश्चिमी संसार में मज़दूरों के जो भीतरी संघर्ष चल रहे हैं उनकी तहतक पहुंचने में भी मुझे आसानी हुई। उनकी बाबत मैंने बहुत-कुछ पढ़ा था, और कुछ तो मैं पहले से ही जानता था, लेकिन मेरे उस ज्ञान के पीछे कोई असलियत नहीं थी, क्योंकि उनसे मेरा कोई ज़ाती ताल्लुक़ नहीं पड़ा था। लेकिन अब मैं उनके सम्पर्क में आया और कभी-कभी मुझे उन मसलों का भी सामना करना पड़ा जो इन भीतरी संघर्षों में प्रकट होते हैं। दूसरी इंटरनेशनल और तीसरी इंटरनेशनल[१] नाम की मज़दूरों की जो दो दुनिया है उनमें मेरी हमदर्दी तीसरी से थी। लड़ाई से लेकर अबतक दूसरी इंटरनेशनल ने जो कुछ किया उससे मुझे अरुचि हो गई और हमको तो हिन्दुस्तान में इस इंटरनेशनल के सबसे ज़बरदस्त हिमायती ब्रिटिश मज़दूर दल के तरीकों का खुद तजरबा हो चुका था। इसलिए लाज़िमी तौर पर कम्युनिज़्म की बाबत मेरा ख़्याल अच्छा हो गया; क्योंकि उसमें कितने भी ऐब क्यों न हों, कम्युनिस्ट कम-से-कम साम्राज्यवादी और पाखण्डी तो न थे। कम्युनिज़्म से

---

[१]अखिल यूरोप के श्रमजीवियों के संघ के ये नाम हैं। पहला संघ, जिसे मार्क्स ने स्थापित किया था, नाममात्र का था। दूसरा संघ १८८९ में स्थापित हुआ। उसमें ज़ोरदार प्रस्ताव होते, लेकिन उनपर अमल शायद ही होता। उसने इस आशय के प्रस्ताव किये थे कि पूंजीपति राज्यतन्त्र में अथवा युद्ध में कभी भाग न लिया जाय। ये प्रस्ताव १९१४-१८ के महायुद्ध में योंही धरे रह गये। तब १९१९ में बोल्शेविक लोगों ने तीसरा अन्तर्राष्ट्रीय श्रमजीवी संघ स्थापित किया। यह संघ अंतर्राष्ट्रीय साम्यवादी आंदोलन पर केन्द्रीय नियंत्रण रखने और उसके मार्गदर्शन के लिए था। गत महायुद्ध के समय इसे भी ख़त्म कर दिया गया।

—अनु०

मेरा यह सम्बन्ध उसके सिद्धान्तों की वजह से नहीं था, क्योंकि मैं कम्युनिज़्म की कई सूक्ष्म बातों की बाबत ज़्यादा नहीं जानता था। उस वक़्त उससे मेरी जान-पहचान सिर्फ़ उसकी मोटी-मोटी बातों तक ही सीमित थी। ये बातें और वे भारी-भारी परिवर्तन जो रूस में हो रहे थे मुझे आकर्षित कर रहे थे। लेकिन अक्सर कम्युनिस्टों से मैं, उनके डिक्टेटराना ढंग तथा उनके नये लड़ाकू और कुछ हदतक अशिष्ट तरीक़े से और जो लोग उनसे सहमत न हों उन सबकी बुराई करने की उनकी आदतों की वजह से चिढ़ जाता था। उनके कहने के मुताबिक़ तो मेरा यह मनोभाव मेरी बुर्जुआओं की-सी अमीराना तालीम और लालन-पालन की वजह से था।

एक अजीब बात यह भी थी कि साम्राज्य-विरोधी लीग की कमेटियों की बैठकों में बहस के छोटे-छोटे मामलों में मैं मामूली तौर पर ऐंग्लो-अमेरिकन मेम्बरों की तरफ़ रहता था। किस तरीक़े से काम किया जाय, कम-से-कम इस मामले में तो हम लोगों के दृष्टिकोण एक-से ही थे। मैं और वे लोग ऐसे सब प्रस्तावों के ख़िलाफ़ थे जो लम्बे-चौड़े और अलंकारिक हों और जो घोषणा-पत्रों-जैसे मालूम पड़ते हों। हम लोग तो छोटी-सी और सीधी-सादी चीज़ चाहते थे। लेकिन यूरोपीय महाद्वीप के देशों की परम्परा इसके ख़िलाफ़ थी। अक्सर कम्युनिस्टों और ग़ैरकम्युनिस्टों में भी मतभेद हो जाया करता था। मामूली तौर पर हम लोग समझौते पर राज़ी हो जाते थे। इसके बाद हममें से कुछ लोग अपने-अपने घर लौट आये और उसके बाद होनेवाली कमेटियों की बैठकों में शामिल नहीं हो सके।

साम्राज्यवादी शक्तियों के वैदेशिक औपनिवेशिक दफ़्तर ब्रसेल्स-कांग्रेस से कुछ ख़ौफ़ खाते थे। ब्रिटिश वैदेशिक विभाग के नामी लेखक अंगुर ने अपनी एक किताब में इस कान्फ्रेंस का कुछ सनसनीदार और कहीं-कहीं हास्यास्पद हाल दिया है। ग़ालिबन ख़ुद कांग्रेस में ख़ुफ़ियाओं की भरमार थी। बहुत-से प्रतिनिधि भी कई ख़ुफ़िया-दलों के प्रतिनिधि थे। इसकी हमें एक मज़ेदार मिसाल मिली। मेरे एक अमेरिकन दोस्त उन दिनों पेरिस में रहते थे। उनसे एक दिन फ्रांस की ख़ुफ़िया पुलिस के एक साहब मिलने के लिए आये। वह महज़ कुछ मामलों की बाबत दोस्ताना तरीक़े से कुछ बातें पूछना चाहते थे। जब वह साहब अपनी बातें पूछ चुके तब उन अमेरिकन से बोले—आपने मुझे पहचाना या नहीं, मैं तो आपसे

पहले भी मिल चुका हूं। अमेरिकन ने उन्हें बड़े ग़ौर से देखा; लेकिन उन्हें यह मंजूर करना पड़ा कि मुझे याद नहीं आता कि मैंने आपको कब और कहाँ देखा। तब खुफ़िया पुलिस के उन साहब ने उन्हें बताया कि वह उनसे ब्रसेल्स-कांग्रेस में नीग्रो-प्रतिनिधि की हैसियत से मिला था, उस वक़्त उन्होंने अपना चेहरा और अपने हाथ वग़ैरा सब बिल्कुल काले कर लिये थे!

साम्राज्य-विरोधी संघ की एक बैठक कोलोन में हुई और मैं भी उसमें शामिल हुआ। जब कमेटी की बैठक खत्म हो गई तब हमसे यह कहा गया कि, चलो, नजदीक ही डुसेल्डॉर्फ़ में सेक्को-वेन्जेटी[1] के सिलसिले में जो जलसा हो रहा है उसमें चलें। जब हम उस सभा से वापस आ रहे थे तब हमसे कहा गया कि पुलिस को अपने-अपने पासपोर्ट दिखाइए। हममें से ज़्यादातर लोगों के पास अपना-अपना पासपोर्ट था, लेकिन मैं अपना पासपोर्ट कोलोन के होटल में छोड़ गया था। क्योंकि हम लोग डुसेल्डॉर्फ़ तो सिर्फ कुछ घंटों के लिए ही आये थे। इसपर मुझे पुलिस-थाने में ले जाया गया। मेरी खुशक़िस्मती से इस मुसीबत में मुझे दो साथी भी मिल गये। वे थे एक अंग्रेज़ और उनकी बीबी। ये दोनों भी अपने पासपोर्ट कोलोन में छोड़ आये थे। हमें वहां कोई एक घंटा ठहरना पड़ा होगा, इस बीच शायद फ़ोन से सब बातें दरयाफ़्त कर ली गईं। इसके बाद पुलिसवालों ने हमें जाने देने की मेहरबानी की।

पिछले बरसों में यह साम्राज्य-विरोधी लीग कम्युनिज़्म की तरफ़ ज़्यादा झुक गई। लेकिन जहांतक मुझे मालूम है, उसने किसी वक़्त अपनी अलग हस्ती को नहीं खोया। मैं तो उसके साथ अपना सम्पर्क दूर से पत्रों द्वारा ही रख सकता था। १९३१ में कांग्रेस और सरकार के बीच दिल्ली में जो समझौता हुआ और उसमें मैंने जो हिस्सा लिया उसकी वजह से यह लीग बहुत ज़्यादा नाराज़ हो गई और उसने मुझे बिल्कुल निकाल बाहर किया, या ठीक-ठीक यों कहिए कि उसने मुझे निकालने के लिए एक प्रस्ताव भी पास किया। मैं यह मंज़ूर करता हूं कि मैंने उसे नाराज़ होने का काफ़ी मसाला दिया था; लेकिन फिर भी

---

[1]दो इटालियन मजदूर-कार्यकर्त्ता जिन्हें अमेरिकन सरकार ने झूठे मुकदमे चलाकर फांसी की सजा दी थी। सारे मजदूर-संसार में इस घटना से भारी खलबली मची थी।—अनु०

वह मुझे स्थिति साफ़ करने का कुछ मौक़ा दे सकती थी।

१९२७ की गर्मियों में मेरे पिताजी यूरोप आये। मैं उनसे वेनिस में मिला। और उसके बाद कुछ महीनों तक हम लोग अक्सर साथ-साथ रहे। हम सब लोगों ने—मेरे पिताजी, पत्नी, छोटी बहन और मैंने—नवम्बर में थोड़े दिनों के लिए मास्को की यात्रा की। हम लोग मास्को में बहुत ही थोड़े दिनों के लिए, सिर्फ़ तीन-चार दिन के लिए ही गये थे; क्योंकि हमने यकायक वहां जाना तय किया था। लेकिन हमें इस बात की ख़ुशी है कि हम वहां गये; क्योंकि उसकी इतनी-सी झांकी भी काफ़ी थी। इतनी जल्दी में किया गया वह दौरा हमें नये रूस की बाबत न तो ज़्यादा कुछ बता ही सकता था न उसने बताया ही। लेकिन उसने हमें अपने अध्ययन के लिए एक बुनियाद दे दी। पिताजी के लिए ये सब सोवियट और समष्टिवादी विचार बिल्कुल नये थे। उनकी तमाम तालीम क़ानूनी और विधान-सम्बन्धी थी और वे उस ढांचे में से आसानी से नहीं निकल सकते थे। लेकिन मास्को में उन्होंने जो कुछ देखा उसका उनके ऊपर निश्चित रूप से असर पड़ा था।

जब पहले-पहल साइमन-कमीशन की बाबत ऐलान हुआ तब हम लोग मास्को में ही थे। हमने उसकी बाबत पहले-पहल मास्को के एक अख़बार में पढ़ा। इसके कुछ दिनों बाद पिताजी लन्दन में—प्रिवी कौंसिल में—हिन्दुस्तान के एक मामले की अपील में सर जान साइमन के साथ-साथ वकील थे। यह एक पुरानी ज़मींदारी का मुक़दमा था, जिसमें शुरू-शुरू में बहुत साल पहले मैंने भी पैरवी की थी। उस मुक़दमे में मुझे कुछ दिलचस्पी नहीं थी। लेकिन एक मर्तबा मैं सर जान साइमन के कहने पर पिताजी के साथ-साथ कुछ सलाह-मशविरे में शामिल होने के लिए साइमनसाहब के दफ़्तर में गया था।

१९२७ का साल भी ख़त्म हो रहा था, और यूरोप में हम बहुत ज़्यादा ठहर चुके थे। अगर पिताजी यूरोप न आते तो शायद हम पहले ही घर लौट गये होते। हमारा एक इरादा यह भी था कि घर लौटते वक़्त कुछ समय दक्षिण-पूर्वी यूरोप, टर्की और मिस्र में भी बितावें। लेकिन उस वक़्त उसके लिए समय नहीं रहा था और मैं इस बात के लिए उत्सुक था कि कांग्रेस का अगला जलसा, जो मदरास में बड़े दिन की छुट्टियों में, होने को था उसमें शामिल हो सकूं। इसलिए मैं, मेरी पत्नी, मेरी बहन व मेरी पुत्री दिसम्बर के शुरू में मारसेल्स से कोलम्बो के लिए रवाना हो गये। पिताजी तीन महीने और यूरोप में ही रहे।

: २४ :

हिन्दुस्तान आने पर फिर राजनीति में

यूरोप से मैं बहुत अच्छी शारीरिक और मानसिक अवस्था लेकर लौट रहा था। मेरी पत्नी अभी पूरी तरह चंगी तो नहीं हुई थी, लेकिन वह पहले से बहुत बेहतर थी। इसलिए मुझे उसकी तरफ़ से किसी क़िस्म की फ़िक्र नहीं रही थी। मैं ऐसा महसूस करता था कि मुझमें शक्ति और जीवन लबालब भर गया है; और इससे पहले भीतरी द्वन्द्व और मनसूबों के बिगड़ जाने का जो खयाल मुझे अक्सर परेशान करता रहता था, वह इस वक़्त नहीं रहा था। मेरा दृष्टि-बिंदु व्यापक हो गया था और केवल राष्ट्रीयता का लक्ष्य मुझे निश्चित रूप से तंग और नाकाफ़ी मालूम होता था। इसमें कोई शक नहीं कि राजनैतिक स्वतन्त्रता लाज़िमी थी, लेकिन वह तो सही दिशा में क़दम-भर है। जबतक सामाजिक आज़ादी न होगी और समाज का तथा राज का बनाव समाजवादी न होगा तबतक न तो देश ही अधिक उन्नति कर सकता है, न उसमें रहनेवाले लोग ही। मैं यह महसूस करने लगा कि मुझे दुनिया के मामले ज्यादा साफ़ दिखाई दे रहे हैं। आजकल की दुनिया को, जोकि हर वक़्त बदलती रहती है, मैंने अच्छी तरह समझ लिया है। चालू मामलों और राजनीति के बारे में ही नहीं, लेकिन सांस्कृतिक और वैज्ञानिक तथा और भी ऐसे विषयों पर जिनमें मेरी दिलचस्पी थी, मैंने खूब पढ़ा। यूरोप और अमेरिका में जो बड़े-बड़े राजनैतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक परिवर्तन हो रहे थे, उनके अध्ययन में मुझे बड़ा लुत्फ़ आता था। यद्यपि सोवियत रूस के कई पहलू अच्छे नहीं मालूम होते थे, फिर भी वह मुझे ज़ोरों से अपनी ओर खींचता था और ऐसा मालूम होता था कि वह दुनिया को आशा का सन्देश दे रहा है। १९२५ के आसपास यूरोप एक तरीके से एक जगह जमकर बैठने की कोशिश कर रहा था। महान् आर्थिक संकट तो उसके बाद ही आने को था। लेकिन मैं वहां से यह विश्वास लेकर लौटा कि जमकर बैठने की यह कोशिश तो ऊपरी है और निकट भविष्य में यूरोप में और दुनिया में भारी उथल-पुथल होनेवाली है, तथा

बड़े-बड़े विस्फोट होनेवाले हैं।

मुझे फ़ौरन ही यहां सबसे पहले करने योग्य काम यह दिखाई देता था कि हम देश को इन विश्वव्यापी घटनाओं के लिए शिक्षित व उद्यत करें। उसे उनके लिए जहां-तक हमसे हो सके वहांतक तैयार रखें। यह तैयारी ज़्यादातर विचारों की तैयारी थी, जिसमें सबसे पहली बात यह थी कि हमारी राजनैतिक आज़ादी के लक्ष्य के बारे में किसीको कुछ शक नहीं होना चाहिए। यह बात तो सबको साफ़-साफ़ समझ लेनी चाहिए कि हमारे लिए एकमात्र राजनैतिक ध्येय यही हो सकता है और औपनिवेशिक पद के बारे में जो अस्पष्ट और गोलमोल बातें की जाती हैं उससे आज़ादी बिल्कुल जुदा चीज़ है। इसके अलावा सामाजिक ध्येय भी था। मैंने महसूस किया कि कांग्रेस से यह उम्मीद करना कि अभी इस तरफ़ वह ज्यादा दूर जा सकेगी, बहुत ज़्यादा होगा। कांग्रेस तो महज़ एक राजनैतिक राष्ट्रीय संस्था है, जिसे दूसरे तरीक़ों पर सोचने का अभ्यास न था। लेकिन फिर भी, इस दिशा में भी शुरुआत की जा सकती है। कांग्रेस से बाहर मज़दूर-मण्डलों में और नौजवानों में ख़यालात कांग्रेस से ज्यादा दूर तक फैलाये जा सकते थे। इसके लिए मैं अपने को कांग्रेस के दफ़्तर के काम से अलग रखना चाहता था। इसके अलावा मेरे मन में कुछ-कुछ यह ख़याल भी था कि मैं कुछ महीने देश के भीतर के गांवों में रहकर उनकी हालत का अध्ययन करने में बिताऊं। लेकिन ऐसा होना न था और घटनाओं ने तय कर लिया कि वे मुझे कांग्रेस की राजनीति में घसीट लेंगी।

हम लोगों के मदरास पहुंचने के बाद फ़ौरन ही मैं कांग्रेस के भंवर में फंस गया। कार्य-समिति के सामने मैंने कई प्रस्ताव पेश किये। आज़ादी के बारे में, लड़ाई के ख़तरे के बारे में, साम्राज्य-विरोधी संघ के बारे में, और ऐसे ही कुछ और प्रस्ताव थे। क़रीब-क़रीब ये सब प्रस्ताव मंजूर हुए और वे कार्य-समिति के अधिकृत प्रस्ताव बना लिये गए। कांग्रेस के खुले अधिवेशन में भी वे प्रस्ताव मुझे ही पेश करने पड़े और मुझे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि वे सब-के-सब क़रीब-क़रीब एक स्वर से पास हो गये। आज़ादी के प्रस्ताव का तो मिसेज़ एनी बेसेण्ट तक ने समर्थन किया। इन चारों ओर के समर्थन से मुझे बड़ी खुशी हुई, लेकिन मेरे दिल में यह ख़याल बैचैनी पैदा करता था कि या तो लोगों ने उन प्रस्तावों को समझा ही नहीं है कि वे क्या हैं, या उन्होंने उनके मानी तोड़-मरोड़कर बिल्कुल दूसरे लगा लिये हैं। कांग्रेस के बाद फ़ौरन ही आज़ादी के प्रस्ताव के बारे में जो

बहस उठ खड़ी हुई उससे यह ज़ाहिर हो गया कि असल में यही बात थी।

मेरे ये प्रस्ताव कांग्रेस के हस्बमामूल प्रस्तावों से कुछ भिन्न थे। वे एक नया दृष्टिकोण ज़ाहिर करते थे। इसमें शक नहीं कि बहुत-से कांग्रेसी उन्हें पसन्द करते थे, कुछ लोग कुछ हद तक उन्हें नापसन्द करते थे, लेकिन इतना नहीं कि उनका विरोध करें। शायद ये पिछले लोग यह समझते थे कि ये प्रस्ताव निरे तात्त्विक हैं, उनके मंज़ूर होने, न होने से कोई ख़ास फ़र्क़ नहीं पड़ता, और उनसे पिण्ड छुड़ाने का सबसे अच्छा तरीक़ा यही है कि उनको मंज़ूर कर लिया जाय और ज्यादा महत्त्वपूर्ण काम की तरफ़ ध्यान दिया जाय। इस तरह उन दिनों आज़ादी का प्रस्ताव कांग्रेस में उठनेवाली एक सजीव और अदम्य प्रेरणा को व्यक्त नहीं करता था, जैसाकि उसने एक या दो साल बाद किया। उस वक़्त तो वह एक बहु-व्यापी और बढ़ते जानेवाले भाव को ही प्रकट करता था।

गांधीजी उन दिनों मदरास में ही थे। वह कांग्रेस के खुले अधिवेशन में आते थे, लेकिन उन्होंने कांग्रेस के नीति-निर्माण में कोई हिस्सा नहीं लिया। वह कार्य-समिति के मेम्बर थे, पर उसकी बैठकों तक में भी शामिल नहीं हुए थे। जबसे कांग्रेस में स्वराज-पार्टी का ज़ोर हुआ, तबसे कांग्रेस के प्रति उनका अपना राजनैतिक रुख यही रहता था। लेकिन हां, उनसे समय-समय पर सलाह ली जाती थी और कोई भी महत्त्वपूर्ण बात उनको बताये बिना नहीं की जाती थी। मुझे नहीं मालूम कि मैंने कांग्रेस में जो प्रस्ताव पेश किये उन्हें वह कहां तक पसन्द करते थे? मेरा खयाल तो ऐसा है कि वह उन्हें नापसन्द करते थे—उन प्रस्तावों में जो कुछ कहा गया था, उसकी वजह से उतना नहीं, जितना अपनी साधारण प्रवृत्ति और दृष्टिकोण की वजह से। लेकिन उन्होंने किसी भी अवसर पर उनकी नुक़्ताचीनी नहीं की। मेरे पिताजी तो उन दिनों यूरोप ही में थे।

आज़ादी के प्रस्ताव की अवास्तविकता तो कांग्रेस की उसी बैठक में उसी वक़्त ज़ाहिर हो गई थी जबकि साइमन-कमीशन की निन्दा और उसके बहिष्कार के लिए अपील-सम्बन्धी दूसरे प्रस्ताव पर विचार हुआ। इस प्रस्ताव के फलस्वरूप यह तजवीज़ की गई कि सब दलों की एक कान्फ्रेंस बुलाई जाय, जो हिन्दुस्तान के लिए एक शासन-विधान बनावे। यह ज़ाहिर था कि जिन माडरेट दलों का सहयोग लेने की कोशिश की गई थी, वे आज़ादी की भाषा में कभी विचार

कर ही नहीं सकते थे। वे तो ज्यादा-से-ज्यादा उपनिवेशों के-से पद के किसी स्वरूपतक जा सकते थे।

मुझे फिर कांग्रेस का सेक्रेटरी बनना पड़ा। इसके कुछ कारण तो व्यक्तिगत थे। उस साल के प्रेसिडेंट डॉक्टर अन्सारी मेरे पुराने और प्यारे दोस्त थे। उनकी इच्छा थी कि मैं ही सेक्रेटरी बनूं और मुझे भी यह ख़याल था कि जब मेरे इतने प्रस्ताव पास हुए हैं तो मेरा कर्त्तव्य है कि मैं यह देखूं कि उनके मुताबिक़ काम हो। यह सच है कि सर्वदल-सम्मेलन के सम्बन्ध में जो प्रस्ताव पास हुआ था उसने कुछ हदतक मेरे प्रस्तावों के असर को ख़त्म कर दिया था; फिर भी कुछ तो रही गया था। इसके अलावा मेरे मन्त्री-पद मंजूर कर लेने का असली कारण तो यह डर था कि कांग्रेस सब दलों की कान्फ्रेंस के जरिये या दूसरी वजह से कहीं माडरेट स्थिति की तरफ़, राज़ीनामे और समझौते की तरफ़, न झुक जाय। उन दिनों ऐसा मालूम होता था कि कांग्रेस दुविधा में पड़ी हुई है, कभी वह उग्रता की तरफ़ बढ़ती तो कभी नरमी की तरफ हटती थी। मैं चाहता था कि जहांतक मुझसे हो सके, वहांतक इस दुविधा में झूलती हुई कांग्रेस को नरमी की तरफ़ न झुकने दूं और उसे आज़ादी के ध्येय पर उठाये रहूं।

कांग्रेस के सालाना जलसों के मौक़ों पर बहुत-से दूसरे जलसे भी हमेशा हुआ करते हैं। मदरास में इस तरह का एक जलसा 'रिपब्लिकन कान्फ्रेंस' नाम का हुआ। इसका पहला (व आख़िरी) जलसा उसी साल वहीं हुआ। मुझसे कहा गया कि मैं उसका सभापति बन जाऊं। मुझे यह ख़याल पसन्द आया, क्योंकि मैं अपनेको रिपब्लिकन (प्रजातन्त्रवादी) समझता हूं। लेकिन मुझे झिझक इस बात की थी कि मुझे यह नहीं मालूम था कि इस कान्फ्रेंस को करानेवाले साहब कौन हैं और मैं योंही बरसाती मेढकों की तरह पैदा होनेवाली चीज़ों से अपना सम्बन्ध नहीं करना चाहता था। अख़ीर में जाकर मैं उसका सभापति बना तो, लेकिन बाद को मुझे इसके लिए पछताना पड़ा; क्योंकि ऐसे बहुत-से मामलों की तरह यह रिपब्लिकन कान्फ्रेंस भी मरी हुई पैदा होनेवाली साबित हुई। कई महीनों तक मैंने इस बात की कोशिश की कि उसने जो प्रस्ताव पास किये थे उनकी प्रतियां मुझे मिल जायं। लेकिन मेरी सब कोशिश बेकार गई। यह देखकर हैरत होती है कि हमारे कितने ही लोग नई-नई चीजें क़ायम करना पसन्द करते हैं, और फिर उनकी तरफ़ से उदासीन होकर उन्हें उनके भाग्य के भरोसे छोड़ देते हैं।

इस समालोचना में बहुत-कुछ सचाई है कि हम लोग किसी काम को उठाकर उसे पूरा करना, उसपर डटे रहना, नहीं जानते।

कांग्रेस के बाद हम लोग मदरास से रवाना नहीं हो पाये थे कि खबर मिली कि दिल्ली में हकीम अजमलखां की मृत्यु हो गई। कांग्रेस के भूतपूर्व सभापति की हैसियत से वह उसके बुज़ुर्ग राजनीतिज्ञों में से थे। लेकिन वह उसके अलावा कुछ और भी थे। कांग्रेस के नेताओं में उनकी अपनी खास जगह थी। यद्यपि जिस पुराने कट्टर तरीके से उनका लालन-पालन हुआ, उसमें नयेपन का तो कहीं पता तक न था; और मुग़लों के ज़माने की शाही दिल्ली की तहज़ीब में वह सराबोर थे। फिर भी उनकी शराफ़त को देखकर, उनकी आहिस्ता-आहिस्ता बातें सुनकर, और उनके मज़ाक़ों को सुनकर तबीयत खुश हो जाती थी। अपने शिष्टाचार में वह पुराने ज़माने के रईसों के नमूने थे। उनकी नज़र और तौर-तरीक़े शाही थे। उनका चेहरा भी मुग़ल सम्राटों की मूर्तियों से बहुत-कुछ मिलता-जुलता था। ऐसे शख्स मामूली तौर पर राजनीति की धक्का-मुक्की में शामिल नहीं होते, और जबसे आन्दोलनकारियों की नई नस्ल ने उन्हें परेशान करना शुरू किया तबसे हिन्दुस्तान में रहनेवाले अंग्रेज़ इस पुराने ढर्रे के लोगों की याद करके लम्बी सांस लेते हैं। अपनी शुरू की ज़िन्दगी में हकीम अजमलखां का भी राजनीति से कोई सम्बन्ध नहीं था। वह हकीमों के एक नामी परिवार के मुखिया थे, इसलिए वह अपने पेशे में बहुत मशगूल रहते थे। लेकिन लड़ाई के पिछले सालों के ज़माने की घटनाओं और उनके पुराने दोस्त और साथी डाक्टर अन्सारी का असर उन्हें कांग्रेस की तरफ़ ढकेल रहा था। उसके बाद की घटनाओं ने, पंजाब के मार्शल-लॉ और ख़िलाफ़त के सवाल ने तो उनके दिल पर गहरा असर डाला और वह राज़ी-खुशी से गांधीजी के असहयोग के नये तरीक़े के हामी हो गये। कांग्रेस में अपने साथ वह एक निराला गुण तथा कई क़ीमती खूबियां लाये। वह पुराने और नये ढर्रे के लोगों के बीच दोनों को मिलानेवाली कड़ी बन गये, और उन्होंने राष्ट्रीय आन्दोलन को पुराने ढर्रे के लोगों की मदद दिला दी। इस तरह उन्होंने नयों और पुरानों में एक तरह का मेल मिला दिया और आन्दोलन की आगे बढ़नेवाली टुकड़ी को ताक़त और मज़बूती पहुंचाई। हिन्दू और मुसलमानों को भी उन्होंने एक-दूसरे के बहुत नज़दीक ला दिया; क्योंकि दोनों ही उनकी इज्ज़त करते थे और दोनों पर ही उनकी मिसाल का असर पड़ा था। गांधीजी के लिए

तो वह एक ऐसे विश्वास-पात्र मित्र हो गये, जिनकी सलाह हिन्दू-मुसलमानों के मामले में उनके लिए 'ब्रह्मवाक्य' थी। मेरे पिताजी और हकीमजी क़ुदरतन एक-दूसरे के दोस्त हो गये।

पिछले साल हिन्दू-महासभा के कुछ नेताओं ने मुझपर यह आरोप लगाया था कि अपनी सदोष शिक्षा तथा फ़ारसी संस्कृति के असर के कारण मैं हिन्दुओं के भावनाओं से अनभिज्ञ हूं। मैं किस संस्कृति से सम्पन्न हूं या मेरे पास कोई संस्कृति है भी या नहीं, यह कहना मेरे लिए कुछ मुश्किल है। दुर्भाग्य से फ़ारसी ज़बान तो मैं जानता भी नहीं। लेकिन यह सही है कि मेरे पिताजी हिन्दुस्तानी-फ़ारसी संस्कृति के वातावरण में बड़े हुए थे। यह संस्कृति उत्तर भारत को दिल्ली के पुराने दरबार से विरासत में मिली थी और आज के इन बिगड़े हुए दिनों में भी दिल्ली और लखनऊ उसके ख़ास केन्द्र हैं। कश्मीरी ब्राह्मणों में समय के अनुकूल हो जाने की अद्भुत शक्ति है। हिन्दुस्तान के मैदान में आने पर जब उन्होंने उन दिनों यह देखा कि ऐसी संस्कृति का बोलबाला है, तो उन्होंने उसे इख़्तियार कर लिया और उनमें फ़ारसी और उर्दू के भारी पण्डित पैदा हुए। उसके बाद उन्होंने उतनी ही तेज़ी के साथ नई व्यवस्था के भी अनुसार अपनेको बदल लिया। जब अंग्रेज़ी भाषा का जानना और यूरोपियन संस्कृति को ग्रहण करना ज़रूरी हो गया तब उन्होंने उन्हें भी ग्रहण कर लिया। लेकिन अब भी हिन्दुस्तान में कश्मीरियों में फ़ारसी के कई नामी विद्वान् हैं। इनमें दो के नाम लिये जा सकते हैं, सर तेजबहादुर सप्रू और राजा नरेन्द्रनाथ।

इस तरह मेरे पिताजी और हकीमजी में ऐसी बहुत-सी बातें थीं जो एक-दूसरे से मिलती-जुलती थीं। इतना ही नहीं, उन्होंने पुराने ख़ानदानी रिश्ते भी ढूंढ़ निकाले। उन दोनों में गहरी दोस्ती हो गई। वे एक-दूसरे को 'भाई-साहब' कहकर पुकारते थे। राजनीति तो उनके बहुत-से प्रेम-बन्धनों में से सिर्फ़ एक और सबसे कम बन्धन था। अपनी घर-गृहस्थी की आदतों में हकीमजी बहुत ही पुराने विचारों के थे। वह या उनके परिवार के लोग पुरानी आदतों को नहीं छोड़ सकते थे। उनके परिवार में जैसा कड़ा परदा किया जाता था वैसा मैंने कहीं नहीं देखा था। फिर भी हकीमसाहब को इस बात का पूर्ण विश्वास था कि जबतक किसी मुल्क की औरतें अपनी आज़ादी हासिल न कर लें तबतक वह मुल्क हरगिज़ तरक्की नहीं कर सकता। मेरे सामने वह इस बात पर बहुत

ज़ोर देते थे और कहते थे कि टर्की की आज़ादी की लड़ाई में वहां की औरतों ने जो हिस्सा लिया है उसे मैं बहुत ही क़ाबिले-तारीफ़ समझता हूं। उनका कहना था कि ख़ासतौर पर टर्की की औरतों की बदौलत ही कमालपाशा को कामयाबी मिली।

हकीम अजमलखां की मौत से कांग्रेस को भारी धक्का लगा। उसके मानी थे कि कांग्रेस का एक सबसे ताक़तवर मददगार जाता रहा। तबसे लेकर अबतक हम सब लोगों को दिल्ली जाने पर वहां किसी चीज़ की कमी मालूम होती है; क्योंकि हमारी दिल्ली का हकीमसाहब से और बल्लीमारान में उनके मकान से बहुत गहरा सम्बन्ध था।

राजनैतिक दृष्टि से १९२८ का साल एक भरा-पूरा साल था। देशभर में तरह-तरह की हलचलों की भरमार थी। ऐसा मालूम पड़ता था कि एक नई प्रेरणा, एक नई ज़िन्दगी जो तरह-तरह के सभी समूहों में एक-सी मौजूद थी, लोगों को आगे की तरफ़ बढ़ा रही है। जिन दिनों मै देश से बाहर था शायद उन दिनों धीरे-धीरे यह तबदीली हो रही थी और लौटने पर मुझे वह बहुत बड़ी तबदीली मालूम हुई। १९२६ के शुरू में हिन्दुस्तान पहले जैसा सुप्त और निष्क्रिय बना हुआ था। शायद उस वक़्त तक उसकी १९२१-२२ की मेहनत की थकान दूर नहीं हुई थी। १९२८ में वह तरोताज़ा, क्रियाशील और नई शक्ति से पूर्ण हो गया है, इस बात का सबूत हर जगह मिलता था। कारख़ानों के मज़दूरों में भी और किसानों में भी, मध्यमवर्ग के नौजवानों में भी और आमतौर पर पढ़े-लिखे लोगों में भी।

मजदूर-संघों की हलचल बहुत ज्यादा बढ़ गई थी। सात-आठ साल पहले जो आल इण्डिया ट्रेड-यूनियन कांग्रेस क़ायम हुई थी वह एक मज़बूत और प्राति-निधिक जमात थी। न सिर्फ़ उसकी तादाद और उसके संगठन में ही काफ़ी तरक़्क़ी हुई थी, बल्कि उसके विचार भी ज्यादा लड़ाकू और ज्यादा गरम हो गये थे। अक्सर हड़तालें होती थीं और मज़दूरों में वर्ग-चेतना ज़ोर पकड़ रही थी। कपड़े की मिलों और रेलों में काम करनेवाले मज़दूर सबसे ज्यादा संगठित थे और इनमें से भी सबसे ज्यादा मज़बूत और सबसे ज्यादा संगठित संघ थे बम्बई की गिरनी-कामगार-यूनियन और जी० आई० पी० रेलवे-यूनियन। मज़दूरों के संगठन के बढ़ने के साथ-साथ लाज़िम तौर पर पश्चिम से घरेलू लड़ाई-झगड़ों के बीज भी आये।

हिन्दुस्तान के मज़दूर-संघों को क़ायम होते देर न हुई कि वे आपस में होड़ करने और दुश्मनी रखनेवाले दलों में बंट गये। कुछ लोग दूसरी इंटरनेशनल के हामी थे; कुछ तीसरी इंटरनेशनल के क़ायल। यानी एक दल का दृष्टिकोण नरमी की तरफ़ यानी सुधारवादी था, और दूसरा दल वह था जो खुल्लम-खुल्ला क्रान्तिकारी था और आमूल परिवर्तन चाहता था। इन दोनों के बीच में कई किस्म की रायें थीं, जिनमें मात्रा का भेद था, और जैसाकि आम जनता के संगटन में होता है इसमें मौक़ा-परस्त लोग भी आ घुसे थे।

किसान भी करवट बदल रहे थे। उनकी यह जाग्रति संयुक्तप्रान्त में और खासतौर पर अवध में दिखाई देती थी, जहां अपने ऊपर होनेवाले अन्यायों का विरोध करने के लिए किसानों की बड़ी-बड़ी सभाएं आये दिन होने लगी थीं। लोग यह महसूस करने लगे थे कि अवध के जोत-सम्बन्धी जिस क़ानून ने किसानों को हीन-हयाती हक़ दिये थे और जिससे बहुत ज्यादा उम्मीद की जाती थी, उससे किसानों की दुःखी ज़िन्दगी में कोई फ़र्क़ नहीं पड़ा था। गुजरात के किसानों न तो एक बड़ पैमाने पर संघर्ष शुरू कर दिया; क्योंकि गवर्नमेंट ने यह चाहा कि मालगुज़ारी बढ़ा दी जाय। गुजरात में किसान खुद अपनी ज़मीन के मालिक हैं जहां सरकार सीधे किसानों से ताल्लुक़ रखती है। यह संघर्ष सरदार वल्लभभाई पटेल के नेतृत्व में हुआ बारडोली का सत्याग्रह था। इस लड़ाई में किसानों की बहादुरी के साथ विजय हुई, जिसे देखकर तमाम हिन्दुस्तान वाह-वाह करने लगा। बारडोली के किसानों को बहुत काफ़ी कामयाबी मिली। लेकिन उनकी लड़ाई की असली कामयाबी तो इस बात में थी कि उसने हिन्दुस्तान-भर के किसानों पर बड़ा अच्छा असर डाला। हिन्दुस्तान के किसानों के लिए बारडोली आशा, शक्ति और विजय का प्रतीक हो गई।

१९२८ के हिन्दुस्तान की एक और बहुत खास बात थी नौजवानों के आन्दोलन की बढ़ती। हर जगह युवक-संघ क़ायम हो रहे थे और युवक-कान्फ्रेंसें की जा रही थीं। ये संघ और कांन्फ्रेंस तरह-तरह के थे। कोई अर्द्ध-धार्मिक थे तो कोई क्रान्तिकारी विचारों और उनके शास्त्रों पर विचार करनेवाले। लेकिन उनकी उत्पत्ति कुछ भी हो, और उनका नियन्त्रण किसीके हाथ में हो, युवकों की ऐसी सभाएं हमेशा अपने-आप आजकल की सजीव, सामाजिक और आर्थिक समस्याओं पर विचार करने लगती थीं और आमतौर पर उनका झुकाव यही था

कि एकदम काया-पलट कर दी जाय ।

महज़ राजनैतिक विचार से देखा जाय तो यह साल साइमन-कमीशन के बायकाट के लिए तथा बायकाट के रचनात्मक पहलू के नाम से पुकारे जानेवाले सर्वदल-सम्मेलन के लिए मशहूर है । इस बायकाट में नरम दलवालों ने कांग्रेस का साथ दिया और उसमें ग़ज़ब की कामयाबी हुई । जहां-जहां कमीशन गया, वहां-वहां विरोधी जन-समूहों ने 'साइमन गो बैक' (साइमन लौट जाओ) के नारे लगाकर उसका 'स्वागत' किया और इस तरह हिन्दुस्तान के तमाम लोगों की बहुत बड़ी तादाद न सिर्फ सर जॉन साइमन का नाम ही जान गई, बल्कि अंग्रेज़ी के 'गो बैक' दो शब्द भी उसे मालूम हो गये । बस, अंग्रेज़ी के इन्हीं दो शब्दों में उनका ज्ञान ख़तम हो जाता है । ऐसा मालूम पड़ता है कि इन शब्दों से कमीशन के मेम्बरों के कान भड़कते थे और अपनी उसी भड़क की वजह से वे चौंक पड़ते थे । कहते हैं कि एक मर्तबा जब वे नई दिल्ली के वेस्टर्न होटल में ठहरे हुए थे तब उन्हें रात के अंधेरे में 'साइमन गो बैक' का नारा सुनाई देने लगा । इस तरह रात में भी पीछा किये जाने पर मेम्बर लोग बहुत चिढ़े; जबकि असल बात यह थी कि वह आवाज़ उन गीदड़ों की थी जो शाही राजधानी के ऊजड़ प्रदेशों में रहते हैं ।

विधान के ख़ास-ख़ास उसूलों के तय करने में सर्व-दल-सम्मेलन को कुछ भी मुश्किल नहीं हुई । ये उसूल लोकतन्त्रीय पार्लमेण्टरी ढंग के थे और कोई भी उनकी रूप-रेखा बना सकता था । असली मुश्किल और एकमात्र कठिनाई तो साम्प्रदायिक या अल्पमतवाली क़ौमों के सवाल की वजह से पैदा हुई, और चूंकि कान्फ्रेंस में भिन्न-भिन्न जातियों के तमाम कट्टर-से-कट्टर प्रतिनिधि थे, उनमें किसी तरह का राज़ीनामा निहायत ही मुश्किल हो गया । असल में वह पुरानी और बेकार कान्फ्रेंसों की तरह थी । पिताजी ने, जो उस वक़्त यूरोप से लौटे थे, इस सम्मेलन में बड़ी दिलचस्पी ली । अन्तिम उपाय के रूप में एक छोटी-सी कमेटी नियुक्त कर दी गई । पिताजी इस कमेटी के सभापति बनाये गये । इस कमेटी का काम था विधान का मसविदा तैयार करना और साम्प्रदायिक प्रश्न पर पूरी रिपोर्ट देना । इस कमिटी को लोग 'नेहरू-कमेटी' कहने लगे और कमेटी की रिपोर्ट 'नेहरू-रिपोर्ट' के नाम से पुकारी जाने लगी । सर तेजबहादुर सप्रू भी इस कमेटी के मेम्बर थे, और वह उसकी रिपोर्ट के एक हिस्से के लिए ज़िम्मेदार भी थे ।

मैं इस कमेटी का मेम्बर नहीं था, लेकिन कांग्रेस के मंत्री की हैसियत से मुझे इसके लिए बहुत काम करना पड़ा। मैं बड़े असमंजस में था, क्योंकि मैं समझता था कि जब असली सवाल सत्ता को जीतने का हो तब तफ़सीलवार काग़ज़ी विधान तैयार करना बिल्कुल बेकार बात है। मेरी दूसरी मुश्किल यह थी कि इस खिचड़ी कमेटी ने हमारा ध्येय लाज़िमी तौर पर 'डोमीनियन स्टेटस' तक ही सीमित कर दिया था, और दरअसल तो वह ध्येय इससे भी कम था। मेरी नज़र में तो कमेटी की असली ख़ासियत इस बात में थी कि वह साम्प्रदायिक उलझन में से निकलने का कोई रास्ता ढूंढ़ निकाले। मुझे यह उम्मीद नहीं थी कि किसी पैक्ट या समझौते द्वारा यह सवाल हमेशा के लिए हल हो जायगा। यह सवाल हल तो तभी हो सकेगा जबकि लोगों का ध्यान इधर से हटकर सामाजिक और आर्थिक मसलों की तरफ़ लग जाय। लेकिन इस बात की सम्भावना थी कि अगर दोनों तरफ़ के लोगों की काफ़ी तादाद थोड़े वक़्त के लिए भी कोई पैक्ट करले तो हालत कुछ सुधर जाती और लोगों का ध्यान दूसरे मसलों की तरफ़ लग जाता। इसलिए मैंने कमेटी के काम में रोड़े अटकाने के बजाय उसकी जितनी मदद की जा सकती थी, उतनी की।

एक बार तो यह मालूम पड़ा था कि अब कामयाबी मिली। सिर्फ़ दो-तीन बातें तय करने को रह गई थीं और इसमें असली महत्त्वपूर्ण सवाल पंजाब का था, जहां हिन्दू, मुसलमान और सिक्खों का तिकोना तनाव था। कमेटी ने अपनी रिपोर्ट में पंजाब के सवाल पर बिल्कुल नये ढंग से ग़ौर किया और उसने इस मामले में जो सिफ़ारिशें की उनकी पुष्टि जन-संख्या के बंटवारे-सम्बन्धी कुछ नये अंकों से की। लेकिन यह सब बिल्कुल बेकार था। दोनों तरफ़ डर और शक का राज रहा और दोनों में जो थोड़ा-सा फ़र्क़ रह गया था उसे पूरा करने के लिए दो-एक क़दम आगे तक नहीं बढ़ा गया।

अपनी कमेटी की रिपोर्ट पर विचार करने के लिए सर्व-दल सम्मेलन लखनऊ में हुआ। इसमें हम लोग फिर एक दुविधा में पड़ गये; क्योंकि इधर तो हम यह चाहते थे कि हमारी वजह से साम्प्रदायिक सवाल के हल होने में किसी क़िस्म की अड़चन न पड़े, बशर्ते कि वह सवाल हल हो सकता हो, और उधर हम इस बात के लिए तैयार न थे कि आज़ादी के सवाल पर झुक जायं। हमने अर्ज़ किया कि सम्मेलन इस सवाल के बारे में अपने हरेक अंग को पूरी आज़ादी दे दे,

जिससे इस मामले में जिसका जो जी चाहे सो करे। कांग्रेस आज़ादी पर डटी रहे, और जो लोग उससे अपनी नीति के अनुसार काम लेना चाहते हैं वे 'डोमीनियन स्टेटस' पर। लेकिन पिताजी रिपोर्ट को पास कराने पर तुले हुए थे। वह ज़रा भी दबने को तैयार न थे। शायद उन परिस्थितियों में वह झुकना चाहते तो भी नहीं झुक सकते थे। सम्मेलन में आज़ादी चाहने वालों का एक बड़ा दल था। इस दल ने मुझसे कहा कि मैं दल की तरफ़ से सम्मेलन में एक बयान दूं जिसमें यह कहूं कि आज़ादी के ध्येय को कम करने के लिए जो कुछ भी किया जायगा उस सबसे हमारा कोई सरोकार न रहेगा। लेकिन हमने यह बात भी और साफ़ कर दी कि हम सम्मेलन के रास्ते में रोड़े न अटकावेंगे; क्योंकि हम साम्प्रदायिक समझौते के रास्ते में अड़चनें नहीं डालना चाहते थे।

ऐसे बड़े सवाल पर इस तरह का रुख़ इख़्तियार करना बहुत कारगर नहीं साबित हो सकता था। ज़्यादा-से-ज़्यादा यह रुख़ नकारात्मक था। हमने उसी दिन हिन्दुस्तान का आज़ादी-संघ (इण्डिपेण्डेंस फार इण्डिया लीग) क़ायम करके अपने इस रुख़ को क्रियात्मक स्वरूप भी दे दिया।

प्रस्तावित विधान में जो मौलिक अधिकार क़ायम किये गए थे, उनमें अवध के ताल्लुक़ेदारों के कहने पर एक धारा यह भी रख दी गई कि उनके ताल्लुक़ों में उनके स्थापित अधिकारों की गारण्टी रहेगी कि ये छीने नहीं जायंगे। सर्व-दल-सम्मेलन की इस बात से मुझे एक और बड़ा धक्का लगा। इसमें कोई शक ही नहीं कि तमाम विधान व्यक्तिगत सम्पत्ति के सिद्धान्त की बुनियाद पर बनाया गया था, लेकिन बड़ी-बड़ी अर्द्ध-सामन्ती-सी रियासतों में उनकी मिल्कियत के अधिकार विधान की अटल धारा बना देना मुझे बहुत ही बुरा मालूम हुआ। इससे यह बात साफ़ हो गई कि कांग्रेस के नेता और उनसे भी ज़्यादा ग़ैर-कांग्रेसी अपने ही साथियों में सामाजिक दृष्टि से, जो ज़्यादा आगे बढ़े हुए समूह थे, उनके मुक़ाबले में बड़े-बड़े ज़मींदारों का साथ पसन्द करते थे। यह साफ़ था कि हमारे नेताओं के और हमारे बीच में एक बहुत बड़ी खाई है। और ऐसी हालत में मुझे अपने लिए यह बात बहुत ही बेहूदा मालूम होती थी कि मैं प्रधान-मन्त्री का काम करता रहूं। मैंने इस बुनियाद पर अपना इस्तीफ़ा दे देना चाहा कि मैं हिन्दुस्तान की आज़ादी के लिए जो संघ क़ायम किया गया है उसके संचालकों में से एक हूं। लेकिन कार्य-समिति इस बात से सहमत न हुई। उसने मुझसे और सुभाषबाबू

से, उन्होंने मेरे साथ-साथ उसी बिना पर इस्तीफ़ा दे देना चाहा था, यह कहा कि हम लोग संघ का काम मज़े से कर सकते हैं, उसमें और कांग्रेस की नीति में कोई विरोध नहीं है। सच बात तो यह है कि कांग्रेस ने तो पहले ही आज़ादी के ध्येय का ऐलान कर दिया है। इसपर मैं फिर राज़ी हो गया। यह बात आश्चर्यजनक है कि उन दिनों मुझे अपना इस्तीफ़ा वापस करने के लिए कितनी जल्दी राज़ी कर लिया जाता था। यह बात कई मर्तबा हुई और क्योंकि कोई भी पार्टी वास्तव में एक-दूसरे से अलग हो जाने के ख़याल को पसन्द नहीं करती थी, इसलिए उससे बचने के लिए हमें जो बहाना मिलता उसीका हम आश्रय ले लेते।

गांधीजी ने इन तमाम पार्टियों की कान्फ्रेंसों और कमेटियों की मीटिंगों में कोई हिस्सा नहीं लिया था। यहां तक कि वह लखनऊ-कान्फ्रेंस के वक़्त वहां मौजूद भी नहीं थे।

इस बीच में साइमन-कमीशन हिन्दुस्तान में दौरा कर रहा था और काले झंडे लिये हुए 'गो बैक' के नारे लगानेवाली विरोधी भीड़ हर जगह उसका स्वागत कर रही थी। कभी-कभी भीड़ और पुलिस में मामूली झगड़ा भी हो जाता था। लाहौर में बात बहुत बढ़ गई और यकायक देश-भर में गुस्से की लहर दौड़ गई। लाहौर में साइमन-विरोधी जो प्रदर्शन हुआ वह लाला लाजपतराय के नेतृत्व में हुआ। जब वह सड़क के किनारे हज़ारों प्रदर्शनकारियों के आगे खड़े हुए थे तब एक नौजवान अंग्रेज़ पुलिस अफ़सर ने उनपर हमला किया और उनकी छाती पर डंडे बरसाये। लालाजी का तो कहना ही क्या, भीड़ की तरफ़ से किसी किस्म का झगड़ा खड़ा करने की कोई कोशिश नहीं हुई थी। फिर भी जब वह एक तरफ़ शान्ति से खड़े हुए थे तब पुलिस ने उनको और उनके कई साथियों को बहुत बुरी तरह मारा। गलियों में अथवा सड़कों पर होनेवाले आम प्रदर्शनों में हिस्सा लेनेवाले हर शख़्स को यह ख़तरा रहता है कि पुलिस से मुठभेड़ हो जायगी और यद्यपि हमारे प्रदर्शन क़रीब-क़रीब हमेशा ही पूरी तरह शान्त होते थे फिर भी लालाजी इस ख़तरे को ज़रूर जानते होंगे और उन्होंने जान-बूझकर वह ख़तरा उठाया होगा। लेकिन फिर भी जिस ढंग से उनपर हमला किया गया, उससे और उस हमले के वहशियाने ढंग से हिन्दुस्तान के करोड़ों लोगों को धक्का लगा। उन दिनों हम पुलिस द्वारा लाठियों की मार खाने के आदी न थे। उस वक़्त तक इस प्रकार बार-बार होनेवाली पाशविकता के आदी न होने के कारण हम

उसे बहुत बुरा मानते थे। हमारे सबसे बड़े नेता, पंजाब के सबसे बड़े और सबसे ज़्यादा लोकप्रिय व्यक्ति के साथ ऐसे बुरे व्यवहार का होना बिल्कुल हैवानियत मालूम पड़ी और उस व्यवहार को देखकर हिन्दुस्तान-भर में, ख़ासकर उत्तरी हिन्दुस्तान में, एक ज़बर्दस्त गुस्सा फैल गया। हम लोग कितने असहाय और कितने कमज़ोर हैं, कि हम अपने नेताओं के मान की भी रक्षा नहीं कर सकते !

लालाजी को शारीरिक चोट कम भीषण नहीं लगी, क्योंकि उनकी छाती पर लाठियां मारी गई थीं और वह बहुत दिनों से दिल की बीमारी से पीड़ित थे। अगर ये चोटें किसी तन्दुरुस्त नौजवान के लगी होतीं, तो इतनी घातक न साबित होतीं। लेकिन लालाजी न तो नौजवान थे, न तन्दुरुस्त ही। कुछ हफ़्ते बाद लालाजी की जो मौत हुई उसपर इन शारीरिक चोटों का क्या असर पड़ा, निश्चित रूप से यह बताना तो मुमकिन नहीं है, हालांकि उनके डाक्टरों की यह राय थी कि इन चोटों के कारण उनकी मृत्यु जल्दी हो गई। लेकिन मैं समझता हूं कि इस बात में कोई शक नहीं है कि शारीरिक चोटों से लालाजी को जो मानसिक आघात पहुंचा उसका उनके ऊपर बहुत ज़्यादा असर पड़ा। वह बहुत ही नाराज़ और सन्तप्त हो गये—इसलिए नहीं कि उनका ज़ाती अपमान हुआ था, बल्कि इसलिए कि उनपर किये गये हमले में राष्ट्रीय अपमान सम्मिलित था।

हिन्दुस्तान के मन में इसी राष्ट्रीय अपमान का खयाल काम कर रहा था और जब उसके कुछ दिनों बाद ही लालाजी की मृत्यु हुई तब लोगों ने लाज़िमी तौर पर उसका ताल्लुक़ उनपर किये गए हमले से जोड़ा, और इस ख़याल से लोगों के दिलों में जो गुस्सा और रोष आया वह ख़ुद-ब-ख़ुद एक प्रकार के अभिमान के रूप में बदल गया। इस बात को समझ लेना ज़रूरी है; क्योंकि इस बात को समझकर ही हम पीछे होनेवाली बातों को, भगतसिंह की कहानी और उत्तर भारत में उसको एकाएक जो आश्चर्यजनक लोकप्रियता मिली, उसको समझ सकेंगे। उन कामों की तह में जो मूल स्रोत होते हैं, उनको जो बातें प्रेरित करती हैं, उन्हें समझ लेने की कोशिश किये बिना किसी शख़्स या किसी काम की निन्दा करना बहुत ही आसान और वाहियात है। इससे पहले भगतसिंह को लोग नहीं जानते थे। उन्हें जो लोकप्रियता मिली वह कोई हिंसात्मक या आतंकवाद का काम करने की वजह से नहीं मिली। आतंकवादी तो हिन्दुस्तान में क़रीब-क़रीब तीस बरस से रह-रहकर अपना काम कर रहे हैं, और बंगाल में आतंकवाद

के शुरू के दिनों को छोड़कर और कभी किसी भी आतंकवादी को, भगतसिंह को जो लोकप्रियता हासिल हुई, उसका सौवां हिस्सा भी नहीं मिली। यह एक ऐसी ज़ाहिर बात है जिससे कोई इन्कार नहीं कर सकता। इसे तो मानना ही पड़ेगा। इसी तरह साफ़ और ज़ाहिर बात यह है कि यद्यपि आतंकवाद बीच-बीच में कभी-कभी जोर पकड़ जाता है फिर भी हिन्दुस्तान के नौजवानों के लिए अब उसमें कोई आकर्षण नहीं रहा। पन्द्रह बरस तक अहिंसा पर ज़ोर दिये जाने से हिन्दुस्तान का सारा वातावरण बदल गया है, जिसके फलस्वरूप अब जन-साधारण राजनैतिक लड़ाई के साधन के तौर पर आतंकवाद के ख़याल की तरफ़ पहले से कहीं ज्यादा उदासीन या विरोधी तक हो गये हैं। जिस दरजे के लोगों पर, यानी निचली सतह की मध्यम श्रेणी के लोगों पर और पढ़े-लिखों पर भी, हिंसा के साधन के ख़िलाफ़ कांग्रेस ने जो प्रचार किया है उसका भारी असर पड़ा है। उनकी वे क्रियाशील और उतावली शक्तियां जो क्रान्तिकारी काम करने की ही बातें सोचा करती हैं, अब यह पूरी तरह महसूस करने लगी हैं कि क्रान्ति आतंकवाद के ज़रिये से नहीं हो सकती और आतंकवाद तो एक ऐसा बेकार और जर्जरित तरीक़ा है जो असली क्रान्तिकारी लड़ाई के रास्ते में रोड़े अटकाता है। हिन्दुस्तान में और दूसरे देशों में भी अब तो आतंकवाद मुर्दा-सा हो रहा है; और वह सरकारी दमन की वजह से नहीं, बल्कि आधारभूत कारणों और संसारव्यापी घटनाओं की वजहों से। सरकारी दमन तो सिर्फ़ दबाना या सीमित कर देना भर जानता है, वह जड़ से उखाड़कर नहीं फेंक सकता। मामूली तौर पर आतंकवाद से किसी देश में होने-वाली क्रान्तिकारी प्रेरणा का बचपन ज़ाहिर होता है। वह अवस्था गुज़र जाती है और उसके साथ-साथ महत्त्वपूर्ण घटना के रूप में आतंकवाद भी गुज़र जाता है; स्थानिक कारणों या व्यक्तिगत दमन के कारण कभी-कभी कुछ आतंकवादी कार्य भले ही होते रहें। बिला शक हिन्दुस्तान की क्रान्ति का बचपन बीत चुका और इसमें कुछ शक नहीं कि उनके फलस्वरूप यहां कभी-कभी हो जानेवाली आतंकवादी घटनाएं भी धीरे-धीरे बन्द हो जायंगी। लेकिन इसके मानी यह नहीं हैं कि हिन्दुस्तान में सब लोगों ने हिंसात्मक साधनों में विश्वास करना छोड़ दिया है। यह ठीक है कि उनमें से ज्यादातर लोग अब वैयक्तिक हिंसा और आतंकवाद में विश्वास नहीं करते, लेकिन इसमें भी कोई शक नहीं कि बहुत से अब भी यह सोचते हैं कि एक समय ऐसा आ सकता है जब संगठित हिंसात्मक साधनों

से काम लेना आज़ादी हासिल करने के लिए ज़रूरी हो—ठीक वैसे ही, जैसे कि दूसरे देशों में ज़रूरी हो गया था। आज तो यह सवाल महज़ एक तात्त्विक विवाद का सवाल है। समय ही उसे कसौटी पर कस सकता है। जो हो, आतंकवादी साधनों से इसका कोई सरोकार नहीं।

इस तरह भगतसिंह ने अपने हिंसात्मक कार्य से लोकप्रियता प्राप्त नहीं की, बल्कि इससे प्राप्त की कि कम-से-कम उस समय लोगों को ऐसा मालूम हुआ कि उसने लालाजी की और लालाजी के रूप में राष्ट्र की इज़्ज़त रक्खी है। भगतसिंह एक प्रतीक बन गया। उसके काम को लोग भूल गये, केवल प्रतीक उनके मन में रह गया, जिसके फलस्वरूप पंजाब के हरेक गांव व कस्बे में और उससे कुछ कम बाक़ी के उत्तरी भारत में उसका नाम घर-घर में गूंजने लगा। उसके बारे में बेशुमार गीत बने और उसने जो लोकप्रियता पाई वह सचमुच अजीब थी।

साइमन-कमीशन के विरुद्ध प्रदर्शन में होनेवाली मार-पीट के कुछ दिनों बाद लाला लाजपतराय दिल्ली में होनेवाली अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की एक बैठक में शामिल हुए। उनके शरीर पर चोटों के निशान बने हुए थे और उससे होनेवाली तक़लीफ़ों को वह भुगत रहे थे। वह मीटिंग लखनऊ के सर्वदल सम्मेलन के बाद हुई थी और किसी-न-किसी रूप में उसमें आज़ादी के सवाल पर बहस उठ खड़ी हुई थी। मुझे यह तो याद नहीं रहा कि ठीक-ठीक बहस किस बात पर उठ खड़ी हुई थी, लेकिन मुझे यह याद है कि मैं वहां देर तक बोला और मैंने यह कहा कि अब समय आ गया है जब कांग्रेस को यह तय कर लेना चाहिए कि वह उस क्रान्तिकारी दृष्टिकोण को पसन्द करती है, जिसमें हमारे राजनैतिक और सामाजिक भवन में कायापलट करने की ज़रूरत है, या सुधारवादियों के ध्येय और साधनों का। इस भाषण में ऐसी कोई महत्त्व की बात नहीं थी। मैं उस भाषण की बात को भूल भी गया होता, लेकिन उसकी इसलिए याद बनी रही कि लालाजी ने कमेटी में मेरे उस भाषण का जवाब दिया और उसके कुछ हिस्सों की नुक्ताचीनी की। उन्होंने एक चेतावनी इस आशय की दी थी कि हम लोगों को ब्रिटिश मजदूर-दल से कोई उम्मीद न रखनी चाहिए। जहां तक मुझसे ताल्लुक़ है, इस चेतावनी की कोई ज़रूरत न थी; क्योंकि मैं ब्रिटिश मज़दूरों के जो अधिकारी नेता हैं, उनका प्रशंसक नहीं हूं। अगर मैं उन्हें हिन्दुस्तान की आज़ादी की लड़ाई का समर्थन करते या साम्राज्यवाद-विरोधी कोई ऐसा

कारगर काम करते देखता जो समाजवाद की तरफ़ ले जानेवाला होता तो मुझे आश्चर्य होता।

कांग्रेस कमेटी की बैठक में मैंने जो भाषण दिया था, लाहौर लौटकर लालाजी ने उसकी समालोचना शुरू कर दी। उन्होंने अपने साप्ताहिक अखबार 'पीपुल' में मेरी स्पीच से उठनेवाली बहुत-सी बातों के सम्बन्ध में एक लेखमाला लिखनी शुरू की। इस लेखमाला का सिर्फ़ एक ही लेख छपा था, दूसरा लेख दूसरे हफ़्ते के अंक में छपने से पहले ही उनकी मृत्यु हो गई। उनका वह पहला अधूरा लेख, जो शायद छापने के लिए लिखा गया उनका अन्तिम लेख था, मेरे लिए एक शोकपूर्ण स्मृति छोड़ गया है।

: २५ :

लाठी-प्रहारों का अनुभव

लाला लाजपतराय पर हमला होने और बाद में उनकी मृत्यु हो जाने से साइ-मन-कमीशन आगे जहां-जहां गया वहां-वहां उसके ख़िलाफ़ प्रदर्शनों का ज़ोर और भी बढ़ गया। वह लखनऊ में आनेवाला था और वहां भी कांग्रेस कमेटी ने उसके 'स्वागत' की भारी तैयारियां की थीं। कई दिन पहले से ही बड़े-बड़े जुलूस, सभाएं और प्रदर्शन किये गए, जो प्रचार के लिए और असली प्रदर्शन से पहले रिहर्सल के तौर पर थे। मैं भी लखनऊ गया और इसमें से कई कार्यों में मौजूद भी रहा। इन प्रारम्भिक प्रदर्शनों की, जो पूरी तरह से व्यवस्थित और शान्त थे, कामयाबी ने अधिकारियों को झुंझला दिया, और उन्होंने ख़ास-ख़ास जगहों में जुलूसों को रोकना और उनके निकाले जाने के ख़िलाफ़ हुक्म देना शुरू किया। इसी सिलसिले में मुझे नया अनुभव हुआ, और मेरे शरीर पर भी पुलिस के डण्डों और लाठियों की मार पड़ी।

आमद-रफ़्त में रुकावट पड़ने का सबब ज़ाहिर करके, जुलूस बन्द किये गए थे। हमने फ़ैसला किया कि इस मामले में शिकायत का कोई मौक़ा न दिया जाय; और जहांतक मुझे याद है, सोलह-सोलह आदमियों की छोटी-छोटी टुकड़ियां बनाकर उन्हें अलग-अलग रास्तों में सभा की जगह पर भेजने का इन्तज़ाम किया। क़ानून की बारीकी से देखा जाय तो बेशक यह हुक्म का तोड़ना ही था; क्योंकि झण्डा लेकर सोलह आदमियों का निकलना एक जुलूस ही था। सोलह आदमियों के एक झुण्ड के आगे-आगे मैं था, और एक बड़े फ़ासले के बाद ऐसा ही एक और दल आया, जिसके नेता मेरे साथी गोविन्दवल्लभ पन्त थे। वह सड़क सुनसान-सी थी। मेरा दल शायद दो सौ गज़ ही गया होगा, कि हमने अपने पीछे घोड़ों की टापों की आहट सुनी। जब हमने पीछे मुंह किया तो देखा कि घुड़सवारों का एक दल, जिसमें शायद दो या तीन दर्जन सिपाही थे, हमारे ऊपर तेज़ी से चढ़ा चला आ रहा है। वे फ़ौरन ही हमारे पास आ पहुंचे,

और घोड़ों की जुड़ी हुई क़तार ने सोलह आदमियों के हमारे छोटे-से झुण्ड को तितर-बितर कर दिया। फिर घुड़सवारों ने हमारे स्वयंसेवकों को बड़े डण्डों से मारना शुरू किया, इससे स्वयंसेवक सहसा सड़क की बाज़ू की तरफ़ हटे और कुछ तो छोटी दूकानों में भी घुस गये। सवारों ने उनका पीछा किया, और उन्हें पीट-पीटकर गिरा दिया। जब मैंने घोड़ों को ऊपर चढ़ते देखा, तब मेरी भी स्वाभाविक वृत्ति ने मुझे प्रेरित किया कि मैं बच जाऊं। वह हिम्मत तोड़नेवाला दृश्य था। मगर फिर, मेरा ख़याल है कि, किसी दूसरी स्वाभाविक वृत्ति ने मुझे अपनी जगह पर ही खड़ा रक्खा और मैं पहले हमले को बरदाश्त कर गया, जिसे मेरे पीछे के स्वयंसेवकों ने रोक लिया था। अचानक मैंने देखा कि मैं सड़क के बीच में अकेला हूं; मुझसे कुछ ही गज़ की दूरी पर सब तरफ़ पुलिसवाले थे, जो हमारे स्वयंसेवकों को पीट गिराते थे। अपने आप ही मैं, ज़रा आड़ में हो जाने की ख़ातिर, सड़क की बाज़ू की तरफ़ धीरे-धीरे चलने लगा। मगर मैं फिर रुक गया और मैंने अपने दिल में कुछ विचार किया, और यह फ़ैसला किया कि हट जाना मेरे लिए अच्छा न होगा। यह सब सिर्फ़ कुछ ही पलों में हो गया, मगर मुझे उस समय के विचार-संघर्ष और निर्णय का अच्छी तरह स्मरण है। यह निर्णय मेरी राय में मेरे उस स्वाभिमान का परिणाम था जो मुझे कायर की तरह काम करते नहीं देख सकता था। फिर भी कायरता और हिम्मत के बीच की रेखा बहुत बारीक थी और मैं कायरता की तरफ़ भी जा सकता था। मैंने ऐसा निर्णय किया ही था कि मैंने मुड़कर देखा कि एक घुड़सवार मेरे ऊपर घोड़ा छोड़ता चला आ रहा है और अपना लम्बा डण्डा घुमा रहा है। मैंने उससे कहा—'लगाओ', और अपना सिर ज़रा हटा लिया। यह भी सिर और मुंह को बचाने की एक स्वाभाविक प्रवृत्ति ही थी। उसने मेरी पीठ पर धमाधम दो वार किये। मुझे चक्कर आने लगा और मेरा सारा शरीर थरथराने लगा, मगर मुझे यह जानकर आश्चर्य और सन्तोष हुआ कि मैं फिर भी खड़ा ही रहा। फ़ौरन ही पुलिस-दल पीछे हटा लिया गया और उसे हमारे सामने सड़क रोकने को कहा गया। हमारे स्वयंसेवक फिर इकट्ठे हो गये, जिनमें से कई के ख़ून निकल रहा था और कई की खोपड़ियां फूट गई थीं। हमसे पन्त और उनका दल भी आ मिला। वह भी पीटा गया था। अब हम सब पुलिस के सामने बैठ गये। इस तरह लगभग एक घण्टे तक बैठे रहे और अंधेरा हो गया। एक तरफ़ तो कई बड़े-बड़े अफ़सर इकट्ठे हो गये, और

दूसरी तरफ़ जैसे-जैसे ख़बर फैली वैसे-वैसे लोगों की बड़ी भीड़ इकट्ठी होने लगी। आख़िरकार अधिकारी हमें अपने रास्ते से जाने देने पर राज़ी हो गये, और उसी रास्ते से, हम गये। हमारे आगे-आगे हमराह की तरह पुलिस के घुड़सवार भी चले, जिन्होंने हमपर हमला किया था और हमें मारा था।

इस छोटी-सी घटना का हाल मैंने कुछ विस्तार से लिखा है, क्योंकि इसका मुझपर ख़ास असर हुआ। मुझे जो शारीरिक कष्ट हुआ वह मेरी इस ख़ुशी के खयाल के आगे शायद याद ही नहीं रहा कि मैं भी लाठी के प्रहारों को बरदाश्त करने और उनके सामने टिके रहने के लायक़ मज़बूत हूं। और जिस बात से मुझे ताज्जुब हुआ वह यह कि इस सारी घटना में, और जबकि मैं पीटा जा रहा था तब भी, मेरा दिमाग़ ठीक-ठीक काम करता रहा, और मै अपने अन्दर की भावनाओं का ज्ञानपूर्वक विश्लेषण करता रहा। इस रिहर्सल ने मुझे दूसरे दिन सवेरे बड़ी मदद दी, जबकि हमारा और भी सख़्त इम्तिहान होनेवाला था। क्योंकि दूसरे दिन सवेरे ही साइमन-कमीशन आनेवाला था और उसी वक़्त हम विरोधी प्रदर्शन करनेवाले थे।

उस समय मेरे पिताजी इलाहाबाद में थे, और मुझे डर था कि जब वह दूसरे दिन सवेरे अख़बारों में मुझपर होनेवाले हमले का हाल पढ़ेंगे तो वह और परिवार के दूसरे लोग भी चिन्तित हो जायंगे। इसलिए मैंने रात को उन्हें टेलीफ़ोन कर दिया कि सब ख़ैरियत है और आप लोग किसी क़िस्म की फ़िक्र न करें। मगर उन्हें फ़िक्र तो हुई। और जब वह शांति से न रह सके तो, आधी रात के क़रीब उन्होंने लखनऊ आना तय किया। आख़िरी ट्रेन छूट चुकी थी, इसलिए वह मोटर से रवाना हुए। रास्ते में मोटर में कुछ गड़बड़ी हो गई थी, और वह १४६ मील का सफ़र पूरा करके सवेरे क़रीब ९ बजे बिलकुल थके-मांदे लखनऊ पहुंचे।

यह क़रीब-क़रीब वह वक़्त था जबकि हम जुलूस में स्टेशन जाने की तैयारी कर रहे थे। हमारे कुछ भी करने से लखनऊ जितना उभड़ न सकता था, उतना कल की घटनाओं से उभड़ गया, और सूरज उगने से भी पहले बड़ी तादाद में लोग स्टेशन पर पहुंच गये। शहर के मुख़्तलिफ़ हिस्सों से बेशुमार छोटे-छोटे जुलूस आये, और कांग्रेस-आफ़िस से बड़ा जुलूस चार-चार की क़तार में रवाना हुआ, जिसमें कई हज़ार आदमी थे। हम बड़े जुलूस में थे। ज्योंही हम स्टेशन के पास पहुंचे, हमें पुलिस ने रोक दिया। वहां स्टेशन के सामने क़रीब आध मील

लम्बा और इतना ही चौड़ा बड़ा भारी खुला मैदान था; (यहां अब नया स्टेशन बन गया है) और उस मैदान की एक बाज़ू पर हमें क़तार में खड़ा कर दिया गया। हमारा जुलूस वहीं खड़ा रहा, हमने आगे बढ़ने की बिल्कुल कोशिश नहीं की। उस जगह सब तरफ़ पैदल और घुड़सवार पुलिस और फ़ौज आकर भर गई थी। हमदर्दी रखनेवाले तमाशबीनों की भीड़ भी बढ़ गई थी, और कई जगह दो-दो तीन-तीन आदमी विशाल मैदान में जा खड़े हुए थे। अचानक दूर पर हमें एक दल आता हुआ दिखाई दिया। वह घुड़सवारों की दो या तीन लम्बी क़तारें थीं, जो सारे मैदान को घेरे हुए थीं और हमारी तरफ़ दौड़ रही थीं, और मैदान में जो कुछ लोग जा खड़े हुए उन्हें मारती-कुचलती चली आ रही थी। घोड़ों को छोड़ते हुए सवारों का हमला करना एक बड़ा अच्छा दृश्य था, बशर्ते कि रास्ते में खड़े हुए बेचारे बेख़बर तमाशबीनों के साथ, जो घोड़ों के पैरों-तले रौंदे गये थे, दर्दनाक वाक़या न हो जाता। हमला करनेवाली इन लाइनों के पीछे वे लोग ज़मीन पर पड़े हुए थे, जिनमें कुछ तो उठ भी नहीं सकते थे और कुछ दर्द से कराह रहे थे। उस मैदान का सारा नज़ारा लड़ाई के मैदान-का सा हो गया था। मगर उस दृश्य को देखने या कुछ सोच-विचार करने का हमें ज़्यादा वक़्त नहीं मिला; घुड़सवार फ़ौरन हमारे ऊपर आ गये और उनकी आगे की क़तार हमारे जुलूस के आगे खड़े हुए लोगों से एक ही छलांग में टकरा गई। हम वहीं डटे रहे; और चूंकि हम हटते हुए नहीं दिखाई दिये, इसलिए उन्हें उसी दम घोड़ों को रोक देना पड़ा। घोड़े पिछले पैरों पर खड़े रह गये, उनके अगले पैर हमारे सिरों पर लटकते हुए हिल रहे थे। और फिर हम पर पैदल और घुड़सवार पुलिस दोनों की लाठियां पड़ने लगीं। वह बहुत भयंकर मार थी, और पिछले दिन जो मेरे दिमाग़ की विचारशक्ति क़ायम रही थी, वह जाती रही। मुझे सिर्फ़ इतना ही औसान रहा कि मुझे अपनी जगह पर ही खड़ा रहना चाहिए, और गिरना या पीछे हटना नहीं चाहिए। मार से मुझे अंधेरी आ गई और कभी-कभी मन-ही-मन ग़ुस्सा और उलटकर मारने का ख़याल भी आया। मैंने सोचा कि अपने सामने के पुलिस अफ़सर को गिराकर घोड़े पर ख़ुद चढ जाऊं। यह कितना आसान है। मगर लम्बे अरसे की तालीम और अनुशासन ने काम दिया, और मैंने अपने सिर को मार से बचाने के सिवा हाथ तक नहीं उठाया। इसके अलावा मैं अच्छी तरह जानता था कि अगर हमारी तरफ़ से कुछ भी मुक़ाबला हुआ तो

एक भीषण दुर्घटना हो जायगी, जिसमें हमारे आदमी बड़ी तादाद में गोलियों से भून दिये जायंगे।

हमें वह समय भयंकर रूप से लम्बा मालूम पड़ा, मगर शायद वह सिर्फ़ कुछ ही मिनटों का खेल था। उसके बाद धीरे-धीरे एक-एक कदम हमारी लाइन, टूटे बग़ैर पीछे हटने लगी। इससे मैं कुछ-कुछ अलग और दोनों तरफ़ से ज़्यादा खुला हुआ रह गया। मुझपर और मार पड़ी और फिर मैं अचानक पीछे से उटा लिया गया और वहां से दूर ले जाया गया। इससे मुझे बड़ी झुंझलाहट हुई। मेरे कुछ नौजवान साथियों ने, यह क़यास करके कि मुझपर घातक हमला किया जा रहा है, मुझे इस तरह एकाएक बचा लेना तय कर लिया था।

हमारे जुलूस के लोग अपनी असली लाइन से क़रीब सौ फ़ीट पीछे फिर एक क़तार बनाकर खड़े हो गये। पुलिस भी पीछे हट गई और हमसे पचास फ़ीट के फ़ासले पर एक लाइन में खड़ी हो गई। इस तरह हम खड़े रहे, और साइमन-कमीशन, जो इस सारे झगड़े की जड़ था, हमसे बहुत दूर क़रीब आध मील की दूरी पर स्टेशन से चुपचाप निकल गया। इतना करने पर भी वह काले झंडों या प्रदर्शन करनेवालों से बचकर न निकल सका। इसके बाद ही हम पूरा जुलूस बनाकर कांग्रेस-दफ़्तर आये और वहां से बिखरकर चले गये। मैं अपने पिताजी के पास गया, जो बड़ी चिन्ता से मेरा इन्तज़ार कर रहे थे।

अब जब सामयिक उत्तेजना चली गई थी तो मुझे सारे शरीर में दर्द और भारी थकान मालूम होने लगी। शरीर का क़रीब-क़रीब हर हिस्सा दर्द करता था, और सब जगह अन्धी चोटों और मार के निशान हो गये थे। मगर ख़ैर थी कि मुझे किसी नाज़ुक जगह पर चोट नहीं आई थी। परन्तु हमारे कई साथी इतने ख़ुशकिस्मत न थे। उन्हें बुरी तरह चोट आई थी। गोविन्दवल्लभ पन्त पर, जो मेरे पास खड़े थे, ज़्यादा मार पड़ी, क्योंकि वह छः फीट से भी ज्यादा ऊंचे और पूरे थे। उस वक़्त जो चोटें उनके आई उनके सबब से बहुत अरसे तक उन्हें इतना दर्द और तकलीफ़ रही कि वह कमर भी सीधी नहीं कर सकते थे और न कुछ ज़्यादा काम-काज ही कर सकते थे। उसके बाद मुझे अपने शारीरिक हालत और बरदाश्त करने की ताक़त का कुछ ज्यादा घमण्ड हो गया। मगर मार पड़ने की याद से ज़्यादा तो मुझे कई मारनेवाले पुलिसवालों, ख़ासकर अफ़सरों के चेहरों की याद बनी हुई है। असली मार-पीट तो ज़्यादातर यूरोपियन सारजेण्टों

ने की, हिन्दुस्तानी सिपाही तो हलके-हलके ही काम चला रहे थे। उन सारजेण्टों के चेहरों में हिक़ारत और खून की प्यास क़रीब-क़रीब पागलपन की हद तक भरी हुई थी, और हमदर्दी या इन्सानियत का नामोनिशान भी न था। ठीक उसी वक़्त, शायद, हमारी तरफ़ के चेहरे भी देखने में उतने ही नफ़रतभरे होंगे, और हमारे ज़्यादातर अहिंसात्मक होने से, हमारे विरोधियों के लिए हमारे दिल और दिमाग़ में कोई प्रेम-भाव नहीं रह गया होगा, और न हमारे चेहरों पर सद्भाव झलका होगा। लेकिन फिर भी एक-दूसरे के खिलाफ़ हमें कोई शिकायत न थी; हमारा कोई ज़ाती झगड़ा न था, न कोई दुर्भाव था। उस वक़्त हम अजीब और ज़बरदस्त ताक़तों के प्रतिनिधि थे, जो हमें अपने अधीन बनाये हुए थीं और हमें इधर और उधर फेंकती जाती थीं और जिन्होंने हमारे दिलों और दिमाग़ों पर बड़ी खूबी से क़ब्ज़ा करके हमारी अभिलाषाओं और राग-द्वेषों को उभाड़ दिया था और हमें अपना अन्धा हथियार बना लिया था। हम अन्धे की तरह दौड़-धूप करते थे, और यह नहीं जानते थे कि यह किसलिए करते हैं या कहां चले जा रहे हैं? काम की उत्तेजना ने हमें टिकाये रक्खा था, मगर जब वह चली गई तो फ़ौरन यह सवाल पैदा हुआ कि आखिर यह सब किसलिए किया जा रहा है? किस लक्ष्य के लिए?

: २६ :

ट्रेड यूनियन कांग्रेस

उस साल देश की राजनीति में ज्यादातर साइमन-कमीशन के बायकाट और सर्वदल-सम्मेलन का ही बोलबाला रहा। लेकिन मेरी अपनी दिलचस्पी ज्यादातर दूसरी तरफ़ रही और मैंने काम भी ज्यादातर उन्हीं दिशाओं में किया। कांग्रेस के कार्यवाहक प्रधान-मन्त्री की हैसियत से मैं उसके संगठन की देखभाल करने और उसे मज़बूत बनाने में लगा रहा। खासतौर पर मेरी दिलचस्पी इस बात में थी कि लोगों का ध्यान सामाजिक और आर्थिक परिवर्तनों की तरफ़ खींचूं। पूर्ण स्वाधीनता के सिलसिले में मद्रास में हम जिस हदतक पहुंच गये थे उस स्थिति को भी मज़बूत रखना था। खासतौर पर इसलिए कि सर्व-दल सम्मेलन का तमाम झुकाव हम लोगों को पीछे खींचने की तरफ़ था। इस उद्देश्य को सामने रखकर मैंने देश में बहुत सफ़र किया और कई बड़ी-बड़ी आम सभाओं में व्याख्यान दिये। मेरा खयाल है कि १९२८ में मैं चार सूबों की राजनैतिक कान्फ्रेंसों का सभापति बना। ये सूबे थे दक्षिण में मलाबार और उत्तर में पंजाब, दिल्ली और संयुक्तप्रान्त। इसके अलावा बम्बई और बंगाल में मैं युवक-संघों और विद्यार्थियों की कान्फ्रेंसों का सभापति बना। समय-समय पर मैं संयुक्तप्रान्त के देहातों में भी गया और कभी-कभी कारखानों के मजदूरों की सभाओं में भी मैंने व्याख्यान दिये। मेरे व्याख्यानों में सार तो हमेशा ज्यादातर एक ही रहता था, यद्यपि उसका रूप स्थानीय अवस्थाओं के अनुसार बदल जाता था, और जिन बातों पर मैं ज़ोर देता था वे उसी तरह की होती थीं जिस क़िस्म के लोग सभाओं में आते थे। हर जगह मैंने राजनैतिक आज़ादी और सामाजिक स्वाधीनता पर ज़ोर दिया और यह कहा कि राजनैतिक आज़ादी सामाजिक स्वाधीनता की सीढ़ी है। यानी, आर्थिक स्वाधीनता प्राप्त करने के लिए यह ज़रूरी है कि पहले राजनैतिक आज़ादी हो। खासतौर से कांग्रेस के कार्यकर्त्ताओं और पढ़े-लिखे लोगों में मैं समाजवाद की विचारधारा फैलाना चाहता था क्योंकि ये लोग ही राष्ट्रीय आन्दोलन की

असली रीढ़ थे और ये ही ज़्यादातर निहायत संकुचित राष्ट्रीयता की बात सोचा करते थे। इनके व्याख्यानों पर प्राचीन काल के गौरव पर बहुत ज़ोर दिया जाता था और इस बात पर भी कि विदेशी सरकार ने हमें क्या-क्या भौतिक और आध्यात्मिक हानियां पहुंचाई हैं। हम लोगों को घोर कष्ट सहने पड़ रहे हैं, हमारे ऊपर दूसरों का राज्य रहना बड़ी बेइज़्ज़ती की बात है; इसलिए हमारी क़ौमी इज्ज़त का तक़ाज़ा है कि हम आज़ाद हों और हमारे लिए आवश्यक है कि हम लोग मातृ-भूमि की वेदी पर अपनी बलि चढ़ायें। ये बातें सुपरिचित थीं। हर हिन्दुस्तानी के दिल मे उनकी आवाज़ गूज उठती थी। मेरे मन में भी राष्ट्रीयता का यह भाव भड़क उठता था और मैं उससे गद्गद् हो जाता था—यद्यपि मैं हिन्दुस्तान के ही नहीं, कहीं के भी पुराने ज़माने का अन्ध प्रशंसक कभी नहीं रहा। लेकिन यद्यपि उसमें सच्चाई ज़रूर थी, फिर भी बार-बार इस्तेमाल में आने की वजह से वे बासी और लचर होती जाती थीं और उनको लगातार बार-बार दुहराते रहने का नतीजा यह होता था कि हम अपनी लड़ाई के सबसे ज्यादा ज़रूरी पहलुओं तथा दूसरे मसलों पर ग़ौर नहीं कर पाते थे। इन बातों से जोश ज़रूर आता था, लेकिन इनसे विचारों को प्रोत्साहन नहीं मिलता था।

हिन्दुस्तान में मैं समाजवाद के मैदान में सबसे पहले नहीं आया, बल्कि सच बात तो यह है कि मैं कुछ पिछड़ा हुआ रहा। जहां बहुत-से लोग सितारे की तरह चमकते आगे बढ़ गये, वहां मैं तो बहुत-कुछ मुश्किलों के साथ क़दम-क़दम आगे बढ़ा। विचारधारा की दृष्टि से मज़दूरों का ट्रेड यूनियन-आन्दोलन निश्चित रूप से समाजवादी था और ज्यादातर युवक-संघों की भी यही बात थी। जब मैं दिसम्बर १९२७ में यूरोप से लौटा तब एक क़िस्म का अस्पष्ट और गोल-मोल समाजवाद हिन्दुस्तान की आबोहवा का एक हिस्सा बन चुका था और व्यक्तिगत समाजवादी तो उससे भी पहले हिन्दुस्तान में बहुत से थे। ये लोग ज़्यादातर सपने देखनेवाले थे। लेकिन धीरे-धीरे उनपर मार्क्स[1] के सिद्धान्तों का असर बढ़ता जाता था

[1]जीव-दया और मानव-दया की दृष्टि से समाज-व्यवस्था को सुधारने की इच्छा रखनेवाले तो प्रत्येक युग में होते हैं। मार्क्स के पहले भी थे। वे यह कहते थे कि ग़रीबों पर दया करना अमीरों का कर्त्तव्य है, क्योंकि उन्हें ईश्वर ने धन-दौलत दी है। लेकिन मार्क्स ने बताया कि ग़रीबों की ग़रीबी में ही क्रान्ति

और उनमें से कुछ तो अपने को सौ फ़ीसदी मार्क्सवादी समझते थे। यूरोप और अमेरिका की तरह हिन्दुस्तान में भी, सोवियत यूनियन में जो कुछ हो रहा था उससे और ख़ासकर पंचवर्षीय योजना से, इस प्रवृत्ति को बहुत बल मिला।

एक समाजवादी कार्यकर्ता की हैसियत से मेरा महत्त्व सिर्फ़ इस बात में था कि मैं एक मशहूर कांग्रेसी था और कांग्रेस के बड़े ओहदों पर था। मेरे अलावा और भी बहुत-से कांग्रेसी थे, जो मेरी ही तरह सोचने लग गये थे। यह प्रवृत्ति सबसे ज्यादा युक्तप्रान्त की प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी में पाई जाती थी, जिसमें हमने १९२६ में ही एक नरम समाजवादी कार्यक्रम बनाने की कोशिश की थी। हमारे सूबे में ज़मींदारी और ताल्लुक़दारी प्रथा है, इसलिए सबसे पहले हमें जिस सवाल का सामना करना पड़ा वह था ज़मीन का सवाल। हम लोगों ने ऐलान किया कि मौजूदा ज़मींदारी-प्रथा रद होनी चाहिए और सरकार और काश्तकार के बीच में किसी दूसरे की कोई ज़रूरत नहीं है। हम लोगों को फूंक-फूंककर क़दम रखना पड़ा; क्योंकि हमें एक ऐसी आबोहवा में काम करना था जो उस वक़्त तक इस तरह के विचारों की आदी नहीं थी।

इसके बाद, १९२९ में युक्तप्रान्त की प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी एक क़दम और आगे बढ़ गई और उसने निश्चित रूप से समाजवाद के ढंग पर अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी से एक सिफारिश की, जिसके फलस्वरूप जब १९२९ की गर्मियों में बम्बई में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की बैठक हुई तब उसमें युक्त-प्रान्त के प्रस्ताव की भूमिका स्वीकार कर ली गई और इस तरह उस प्रस्ताव में समाजवाद का जो सिद्धान्त मौजूद था वह भी स्वीकार कर लिया गया। युक्त-प्रान्त के प्रस्ताव में जो विस्तृत कार्यक्रम दिया गया था उसपर विचार करने की बात अगली बैठक के लिए स्थगित कर दी गई। ऐसा मालूम पड़ता है कि

के बीज हैं; इनकी ग़रीबी पूंजीवाद और मुट्ठीभर लोगों के धन को अन्यायी सिद्ध करती है। उनकी ग़रीबी ईश्वर की दी हुई नहीं है बल्कि एक निश्चित सामा-जिक परिस्थिति का परिणाम है। इस परिस्थिति में क्रान्ति भी की जा सकती है, जबकि ग़रीब वर्ग बलवा कर दे। पुराने समाज-सुधारक आदर्शवादी समाज-सुधारक कहे जाते हैं तथा मार्क्स और उनके अनुयायी वैज्ञानिक समाजवादी कहलाते हैं। —अनुवादक

ज्यादातर लोग अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी और संयुक्तप्रान्तीय कांग्रेस कमेटी के इन प्रस्तावों को बिल्कुल भूल ही गये और वे यह समझ बैठे हैं कि पिछले एक-दो सालों से ही समाजवाद की चर्चा कांग्रेस में एकाएक उठ खड़ी हुई है। फिर भी इतना तो सही ही है कि अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने उस प्रस्ताव पर अच्छी तरह विचार किये बिना ही उसे पास कर दिया था और ज्यादातर मेम्बर शायद यह महसूस नहीं कर पाये कि वे क्या कर रहे हैं।

'इण्डिपेण्डेंस फ़ार इण्डिया लीग' (भारत स्वतन्त्रता संघ) की संयुक्तप्रान्त-वाली शाखा में सूबे के ख़ास-ख़ास कांग्रेसियों के अलावा और कोई न था और यह शाखा निश्चित रूप से समाजवाद को माननेवाली थी, इसलिए वह समाजवाद की तरफ़ और कांग्रेस कमेटी से, जिसमें सब तरह के लोग थे, कुछ आगे चली गई। बल्कि सच बात तो यह है कि 'स्वाधीनता-संघ' का एक ध्येय यह भी था कि सामाजिक स्वाधीनता होनी चाहिए। हम लोग हिन्दुस्तान-भर में संघ को मज़बूत बनाकर यह चाहते थे कि आज़ादी और समाजवाद का प्रचार करने में उस संगठन से काम लिया जाय। किन्तु दुर्भाग्य से कुछ हद तक संयुक्तप्रान्त को छोड़कर और कहीं संघ का काम ठीक तौर से नहीं चला और इससे मुझे बहुत निराशा हुई। इसका सबब यह नहीं था कि देश में हमारे मददगारों की कमी थी, बल्कि बात यह थी कि हमारे ज्यादातर कार्यकर्ता कांग्रेस में भी प्रमुख कार्य करनेवाले थे और चूंकि कांग्रस ने, कम-से-कम सिद्धान्ततः तो, आज़ादी को अपना ध्येय बना लिया था, इसलिए वे अपना काम कांग्रेस के संगठन के ज़रिये कर सकते थे। दूसरा सबब यह था कि जिन लोगों ने शुरू-शुरू में 'स्वतन्त्रता संघ' क़ायम किया उनमें से कुछ ने गम्भीरतापूर्वक यह नहीं सोचा कि संस्था के रूप में हमें इस संघ को मज़बूत बनाना है। वे तो यह समझते थे कि यह संस्था तो महज़ इसलिए है कि कांग्रेस-कार्य-समिति पर इसका दबाव पड़ता रहे और कार्य-समिति के चुनाव पर असर डालने के लिए भी इसका इस्तेमाल किया जाय। इसलिए 'स्वतन्त्रता संघ' मुरझा गया और ज्यों-ज्यों कांग्रेस ज्यादा लड़ाकू होती गई त्यों-त्यों उसने तमाम गति-शील तत्त्वों को अपनी ओर खींच लिया और संघ कमज़ोर होता गया। १९३० में जब सत्याग्रह की लड़ाई आई तब वह संघ कांग्रेस में मिलकर ग़ायब हो गया।

१९२८ के पिछले छः महीनों में और १९२९ भर मेरी गिरफ़्तारी की चर्चा

अक्सर होती रहती थी। मुझे पता नहीं कि इस सिलसिले में अखबारों में जो कुछ छपता था उसके पीछे, और जानकार दोस्तों से मुझे जो खानगी चेतावनियां मिला करती थीं उनके पीछे, असलियत क्या थी। लेकिन इन चेतावनियों ने मेरे दिल में एक किस्म की अनिश्चितता पैदा कर दी, और मैं यह महसूस करने लगा कि मैं किसी भी वक़्त ग़िरफ्तार किया जा सकता हूं। मुझे खासतौर पर कोई दूसरी चिन्ता न थी; क्योंकि मैं यह जानता था कि भविष्य में मेरे लिए चाहे कुछ हो, लेकिन मेरी ज़िन्दगी रोजमर्रा के कामों की निश्चित ज़िन्दगी नहीं हो सकती। इसलिए मैं सोचता था कि मैं अनिश्चितता का और एकाएक होनेवाले हेर-फेरों का तथा जेल जाने का जितनी जल्दी आदी हो जाऊं उतना ही अच्छा है। और मेरा खयाल है कि कुल मिलाकर मैं इस ख़याल का आदी होने में सफल हुआ। मेरे घरवालों ने भी इस खयाल के आदी होने में सफलता पाई, हालांकि जितनी सफलता मुझे मिली उन्हें उससे बहुत कम मिली। इसलिए जब-जब मैं गिरफ़्तार हुआ, तब-तब मुझे उसमें कोई ख़ास बात मालूम नहीं हुई। हां, अगर मैं एकाएक गिरफ़्तार होने के ख़याल का आदी न हो जाता तो ऐसा न होता। इस तरह गिरफ़्तारी की ख़बरों में नुक़सान-ही-नुक़सान न था, फ़ायदा भी था। उन्होंने मेरी रोज़मर्रा की ज़िन्दगी में कुछ उल्लास और एक लज़्ज़त पैदा कर दी। आज़ादी का हरेक दिन बेशक़ीमती मालूम होने लगा, मानों वह दिन एक मुनाफ़े में मिला हो। सच बात तो यह है कि १९२८ और १९२९ में मैं जी भरकर काम करता रहा और अख़ीर में मेरी गिरफ़्तारी १९३० के अप्रैल में जाकर हुई। उसके बाद जेल से बाहर जो थोड़े-से दिन मैंने कई बार बिताये उनमें अवास्तविकता की काफ़ी मात्रा थी। मुझे ऐसा मालूम पड़ता था कि मैं अपने ही घर में एक अजनबी हूं, जो थोड़े दिनों के लिए वहां आया हूं। इसके अलावा मेरे हर काम में अनिश्चितता रहने लगी, क्योंकि कोई यह नहीं कह सकता था कि मेरे लिए कल क्या होनेवाला है? यह आशंका तो हर वक़्त बनी ही रहती थी कि न जाने जेल में वापस जाने का बुलावा कब आ जाय।

ज्यों-ज्यों १९२८ का अख़ीर आता गया, त्यों-त्यों कलकत्ता-कांग्रेस नज़दीक आती गई। उसके सभापति मेरे पिताजी चुने गये थे। उनका दिल और दिमाग़ उस वक़्त सर्व-दल सम्मेलन तथा उसके लिए उन्होंने जो रिपोर्ट तैयार की थी उससे सराबोर था। वह चाहते थे कि उसे कांग्रेस से पास करा लिया जाय।

वह यह जानते थे कि मैं उनकी इस बात से सहमत न था; क्योंकि मैं आज़ादी के प्रश्न पर कोई समझौता करने को राज़ी न था। इस बात से वह नाराज़ भी थे। इसलिए इसपर हम लोगों ने बहुत बहस नहीं की। लेकिन हम दोनों के मन में मानसिक संघर्ष का भाव निश्चित रूप से काम कर रहा था और हम लोग यह जानते थे कि हम एक-दूसरे के ख़िलाफ़ जा रहे हैं। मतभेद तो हम लोगों में इससे भी पहले अक्सर हुआ करता था, ऐसा भारी मतभेद कि जिसके फलस्वरूप हम अलग-अलग पक्षों में रहते थे, लेकिन मेरा ख़याल है कि इससे पहले या इसके बाद भी और किसी भी मौक़े पर हम लोगों में इतनी तनातनी नहीं हुई जितनी कि इस वक़्त थी।

हम दोनों ही इस बात से कुछ हद तक दुःखी थे। कलकत्ते में तो मामला इस हद तक बढ़ गया था कि पिताजी ने यह बात साफ़-साफ़ कह दी कि अगर कांग्रेस में उनकी बात नहीं चली, यानी अगर कांग्रेस ने, सर्व-दल सम्मेलन की रिपोर्ट के पक्ष में जो प्रस्ताव पेश किया जायगा उसे बहुमत से मंजूर नहीं किया, तो वह कांग्रेस के सभापति बने रहने से इन्कार कर देंगे। यह बात बिल्कुल वाजिब थी और विधान की दृष्टि से उन्हें यह तरीक़ा इख़्तियार करने का पूरा हक़ था। फिर भी उनके बहुत-से उन विरोधियों के लिए, जो यह नहीं चाहते थे कि इस बात के लिए मामला इस हद तक बढ़ जाय, वह बहुत-ही परेशानी की बात थी। मेरा ख़याल है कि कांग्रेस में और दूसरी संस्थाओं में भी अक्सर यह प्रवृत्ति पाई जाती है कि लोग नुक्ताचीनी और बुराई तो करते हैं, लेकिन ख़ुद ज़िम्मेदारी लेने से जी चुराते हैं। हमें हमेशा यह उम्मीद बनी रहती है कि हमारी नुक़्ताचीनी की वजह से दूसरी पार्टी हमारे मुआफ़िक़ अपनी नीति बदल देगी और नाव को खेने की ज़िम्मेदारी हमारे सिर नही पड़ेगी। जहां ज़िम्मेदारी हम लोगों को सौंपी ही नहीं जाती और जहां कार्यकारिणी को न तो हम हटा ही सकते हैं न उनसे जवाब ही तलब कर सकते हैं, जैसा कि आजकल हिन्दुस्तान की सरकार के मामले में है, वहां बिला शक, सीधे हमले को छोड़कर, हमारे पास नुक़्ताचीनी करने के सिवा कोई मार्ग नहीं—और वह नुक़्ताचीनी ज़रूर खण्डनात्मक होगी—फिर भी अगर हम इस खण्डनात्मक आलोचना को कारगर बनाना चाहते हैं तो उसके पीछे हमारे मन में यह इरादा होना चाहिए, हमें इस बात के लिए तैयार रहना चाहिए, कि जब कभी हमें मौक़ा मिलेगा तब सब इन्तज़ाम और ज़िम्मेदारी हम अपने हाथ में ले लेंगे—फिर चाहे वे महकमे मुल्की हों या फ़ौजी, भीतरी हों या बाहरी।

महज़ थोड़े-से इख्तियार मांगना, जैसाकि लिबरल लोग फ़ौज के मामले में करते हैं, इस बात को स्वीकार करना है कि हम सरकार का काम नहीं चला सकते। इस स्वीकृति से हमारी नुक्ताचीनी का वज़न घट जाता है।

गांधीजी के आलोचकों में यह बात अक्सर पाई जाती है कि वे उसकी नुक्ता-चीनी करते हैं, बुराई करते हैं, लेकिन जब उनसे उनके फलस्वरूप यह कहा जाता है कि फिर लीजिए इस काम को आप ही चलाइए, तब उनके पैर उखड़ जाते हैं। कांग्रेस में ऐसे बहुत-से शख्स रहे हैं जो उनके बहुत-से कामों को नापसन्द करते हैं और इसलिए बड़े जोरों के साथ उनकी नुक्ताचीनी करते हैं, लेकिन वे इस बात के लिए तैयार नहीं हैं कि उन्हें कांग्रेस से निकाल दें। यह रुख समझ में तो आसानी से आ जाता है, लेकिन यह किसी भी पक्ष के साथ इन्साफ़ नहीं करता।

कलकत्ता-कांग्रेस में भी कुछ-कुछ इसी क़िस्म की मुश्किल पैदा हुई। दोनों दलों में समझौते की बातचीत चली और यह ज़ाहिर किया गया कि समझौते का एक रास्ता निकल आया है, लेकिन अख़ीर में वह गिर गया। ये सब बातें बड़े गोलमाल में डालनेवाली थीं और इनमें शोभा भी नहीं थी। कांग्रेस के ख़ास प्रस्ताव में, जैसाकि वह अख़ीर मे पास हुआ, सर्वदल सम्मेलन की रिपोर्ट को मंजूर कर लिया गया; लेकिन उसमें ब्रिटिश सरकार से यह भी कह दिया गया कि अगर उसने एक साल के अन्दर इस विधान को मंजूर नहीं किया तो कांग्रेस फिर अपने आज़ादी के ध्येय को ग्रहण कर लेगी। असल में इस प्रस्ताव ने सरकार को एक नम्र चुनौती देकर उसे साल-भर की मियाद दी थी। इसमें कोई शक नहीं कि यह प्रस्ताव हमें आज़ादी के ध्येय से नीचे घसीट लाया था, क्योंकि सर्व-दल सम्मेलन की रिपोर्ट ने तो पूरे डोमिनियन स्टेटस की मांग नहीं की थी। फिर भी यह प्रस्ताव इस अर्थ में बुद्धिमत्तापूर्ण था कि उसने एक ऐसे वक़्त में कांग्रेस में फूट नहीं होने दी जबकि कोई भी फूट के लिए तैयार न था और उसने १९३० में जो लड़ाई शुरू हुई उसके लिए, सब कांग्रेसियों को एक साथ ला रक्खा। यह बात तो बिल्कुल साफ़ थी कि ब्रिटिश सरकार साल-भर के अन्दर सब दलों द्वारा बनाये गये विधान को मंजूर नहीं करेगी। सरकार से लड़ाई होना लाज़िमी था, और उस वक़्त देश की जैसी हालत थी उसमें सरकार से किसी क़िस्म की लड़ाई उस वक़्त तक कारगर नहीं हो सकती थी, जबतक उसे गांधीजी का नेतृत्व न मिले।

मैंने कांग्रेस के खुले जलसे में इस प्रस्ताव का विरोध किया था। यद्यपि

यह मुख़ालफ़त मैंने कुछ-कुछ बेमन से की थी; तो भी इस बार भी मुझे प्रधान-मन्त्री चुना गया। कुछ भी हो, मैं मन्त्री-पद पर बना रहा और कांग्रेस के क्षेत्र में ऐसा मालूम पड़ता था कि मैं वही काम कर रहा हूं जो प्रसिद्ध 'विकार आफ़ ब्रे'[1] करता था। कांग्रेस की गद्दी पर कोई भी सभापति बैठे, मैं हमेशा उस संगठन को सम्हालने के लिए उसका मन्त्री बनाया जाता था।

झरिया, कोयले की खानों के क्षेत्र के बीचों-बीच है। कलकत्ता-कांग्रेस से कुछ दिन पहले यहीं हिन्दुस्तान भर की ट्रेड-यूनियन कांग्रेस हुई। उसके पहले दो दिन मैंने उसमें उपस्थित रहकर उसकी कार्रवाई में भाग लिया और उसके बाद मुझे कलकत्ते चला आना पड़ा। मेरे लिए ट्रेड यूनियन कांग्रेस मे शामिल होने का यह पहला ही मौक़ा था और मैं दरअसल एक नया आदमी था; यद्यपि किसानों में मैंने जो काम किया था और हाल ही में मजदूरों में जो काम मैंने किये थे उनकी वजह से में जनता में काफ़ी लोकप्रिय हो गया था। वहां जाकर मैंने देखा कि सुधारवादियों में और उनसे आगे बढ़े हुए तथा क्रान्तिकारी लोगों में पुरानी कशमकश जारी है। बहस की ख़ास बातें ये थीं कि किसी इन्टरनेशनल से तथा साम्राज्य-विरोधी संघ से और अखिल विश्व-शान्ति संघ से अपना सम्बन्ध जोड़ा जाय या न जोड़ा जाय और जिनेवा में अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर आफ़िस की जो कान्फ्रेंस होने जा रही है उसमें अपने प्रतिनिधि भेजना मुनासिब होगा या नहीं? इन सवालों से भी कहीं ज्यादा ज़रूरी यह बात थी कि कांग्रेस के दोनों हिस्सों के दृष्टि-

---

[1]अपनी ही दिल्लगी उड़ाकर आनन्दित होने की पंडितजी की क्षमता का यह नमूना है। 'विकार आफ़ ब्रे' सोलहवीं सदी का एक ऐतिहासिक पात्र है। ब्रे के 'विकार' का अपना पद कायम रहे, इस शर्त्त पर चाहे जैसे विचार बनाने और रखनेवाले इस मज़ेदार 'विकार' के सम्बन्ध में अंग्रेज़ी भाषा में एक प्रशस्ति लिखी गई है। आठवें हेनरी, छठे एडवर्ड, मेरी और एलिज़ाबेथ इन चारों के राजस्व-काल में यह 'विकार' रहा था। लेकिन तीन बार इसने अपने विचार बदले, दो बार यह रोमन कैथोलिक बना, दो बार प्रोटेस्टेण्ट हुआ। विकार को तो किसी भी दशा में अपना पद छोड़ना नहीं था; हलुआ खाने के लिए वह श्रावक बनने को सदा तैयार था। पंडितजी को मन्त्री-पद की ज़रूरत न थी, परन्तु अध्यक्ष, नीति और परिस्थिति के बदलते हुए भी वह उन्हें नहीं छोड़ता था।—अनु०

कोण में बहुत भारी फ़र्क था। एक हिस्सा तो मज़दूर-संघ के पुराने लोगों का था जो राजनीति में माडरेट था और जो सचमुच इस बात को शक की निगाह से देखता था कि उद्योग-धन्धों के मज़दूरों और मिल-मालिकों के झगड़ों में राजनीति को मिलाया जाय। उनका विश्वास था कि मजदूरों को अपनी शिकायतें दूर कराने से आगे नहीं जाना चाहिए और उसके लिए भी उन्हें फूंक-फूंककर क़दम रखना चाहिए। इन लोगों का उद्देश्य यह था कि धीरे-धीरे मज़दूरों की हालत को सुधारा जाय। इस दल के नेता थे एन० एम० जोशी, जोकि जिनेवा में अक्सर हिन्दुस्तान के मजदूरों के प्रतिनिधि बनाकर भेजे जा चुके थे। दूसरा दल इनसे कहीं ज्यादा लड़ाकू था। राजनैतिक लड़ाई में उसका विश्वास था और वह खुल्लमखुल्ला अपने क्रान्तिकारी दृष्टिकोण का ऐलान करता था। कुछ कम्युनिस्टों का या कम्युनिस्टों से मिलते-जुलते लोगों का इस दल पर असर था। हां, यह दल उनके नियन्त्रण में नहीं था। बम्बई में कपड़ों के कारखानों के मज़दूर इस दल के हाथ में थे। और उसके नेतृत्व में बम्बई के कपड़े के कारख़ानों में मज़दूरों की एक बहुत बड़ी हड़ताल हुई थी, जो कुछ हद तक कामयाब भी हुई थी। बम्बई में 'गिरनी कामगार यूनियन' नाम की एक नई और ज़बरदस्त यूनियन क़ायम हुई थी, जिसका बम्बई के मज़दूरों पर असर था। आगे बढ़े हुए दल के प्रभाव में एक और ताकतवर संघ जी० आई० पी० रेलवे के मज़दूरों का था।

जब से ट्रेड यूनियन कांग्रेस क़ायम हुई है तभीसे उसकी कार्यकारिणी और उसका दफ़्तर एन० एम० जोशी और उनके नज़दीकी साथियों के हाथ में रहा है और मजदूर-संघों का आन्दोलन चलाने का श्रेय उन्हींको है। यद्यपि उग्र दल का मज़दूर जनता पर ज्यादा ज़ोर है, पर ऊपर से दल की नीति पर असर डालने का उन्हें कोई मौक़ा नहीं मिला। यह हालत सन्तोषजनक नहीं कही जा सकती और न उससे सच्चे हालात का पता ही चल सकता है। इनमें आपस में बड़ा असन्तोष और झगड़ा था और उग्र दल के लोग चाहते थे कि वे ट्रेड यूनियन कांग्रेस को अपने अधिकार में कर लें। इसके साथ-ही-साथ मामलों को बहुत ज़्यादा बढ़ाने की अनिच्छा भी थी, क्योंकि लोगों को फूट हो जाने का डर था। ट्रेड यूनियन-आन्दोलन हिन्दुस्तान में अभी अपनी जवानी की तरफ़ बढ़ रहा था। वह कमज़ोर था और जो लोग उसे चला रहे थे उनमें से ज्यादातर ख़ुद मज़दूर नहीं थे। ऐसी हालतों में हमेशा बाहरवालों में यह प्रवृत्ति होती है कि मज़दूरों को

इस्तेमाल करके अपना मतलब गांठें। हिन्दुस्तान की ट्रेड यूनियन कांग्रेस में और मज़दूर-संघों में यह प्रवृत्ति साफ़-साफ़ दिखाई देती थी। फिर भी, सालों काम करके एन० एम० जोशी ने यह साबित कर दिया था कि वह मज़दूर-संघों के सच्चे और उत्साही हितैषी हैं और जो लोग राजनैतिक दृष्टि से उन्हें नरम और फिसड्डी समझते थे वे भी यह मानते थे कि हिन्दुस्तान के मज़दूरों के आन्दोलन में उन्होंने जो सेवाएं की हैं वे कद्र के लायक़ हैं। नरम या आगे बढ़े हुए दोनों दलों में से बहुत ही कम आदमियों के लिए यह बात कही जा सकती थी।

झरिया में मेरी अपनी हमदर्दी आगे बढ़े हुए दल के साथ थी। लेकिन मैं नया-नया ही वहां पहुंचा था, इसलिए ट्रेड यूनियन कांग्रेस की इस घरेलू लड़ाई में मेरा दिमाग़ चकराता था, अतएव मैंने यही तय किया कि मैं इन झगड़ों से अलग रहूं। मेरे झरिया से चले आने के बाद ट्रेड यूनियन कांग्रेस के पदाधिकारियों का सालाना चुनाव हुआ और कलकत्ते में मुझे यह मालूम हुआ कि अगले साल के लिए मैं उसका सभापति चुना गया हूं। मेरा नाम नरम दलवालों ने पेश किया था; ग़ालिबन इसलिए कि जिस दूसरे उम्मीदवार का नाम उग्र दल ने पेश किया था उसको हराने का सबसे ज्यादा मौक़ा मेरा नाम पेश करने में ही था। इन महाशय ने रेलों के कर्मचारियों में वास्तविक काम किया था, इसलिए अगर मैं चुनाव के दिन झरिया में मौजूद होता तो मुझे विश्वास है कि मैं उन कार्यकर्त्ता उम्मीदवार के मुक़ाबले में अपना नाम वापस ले लेता। मुझे यह बात ख़ासतौर पर बेजा मालूम होती थी कि एक ऐसे शख़्स को, जिसने कुछ काम नहीं किया और नया-नया ही आया, एकाएक सभापति की गद्दी पर बिठा दिया जाय। यह बात ख़ुद ही इस बात की सबूत थी कि हिन्दुस्तान में मज़दूर-संघ का आन्दोलन अभी अपने बचपन में है और कमज़ोर है।

१९२८ के साल में मजदूरों के झगड़ों और हड़तालों की भरमार रही। १९२९ में भी यही हाल रहा। बम्बई के कपड़ों के कारखानों के मज़दूर बहुत दुःखी और लड़ाकू थे। उन्होंने इन हड़तालों का नेतृत्व किया। बंगाल के सन के कारखानों में भी एक बहुत बड़ी हड़ताल हुई। जमशेदपुर के लोहे के कारखानों में, और मेरा ख़याल है कि रेलों के मजदूरों में भी, हड़तालें हुईं। जमशेदपुर की टीन की चद्दरों के कारखानों में तो बहुत दिनों झगड़ा रहा। यह हड़ताल मजदूरों ने बहादुरी के साथ कई महीनों तक चलाई। यद्यपि इन मजदूरों से लोगों की

बहुत ज्यादा हमदर्दी थी, फिर भी जो ज़बरदस्त कम्पनी इन कारखानों की मालिक थी उसने मज़दूरों को कुचल दिया। इस कम्पनी का ताल्लुक़ बर्मा की तेल कम्पनी से था।

सब मिलाकर ये दोनों साल मज़दूरों में बेचैनी के साल थे और मज़दूरों की हालत दिन-पर-दिन खराब होती जा रही थी। हिन्दुस्तान में लड़ाई के बाद के साल यहां के धन्धों के लिए मौज के साल थे। इन दिनों उन्होंने अनाप-शनाप मुनाफ़ा कमाया। सन या रुई के कारखानों ने पांच या छ: साल तक अपने हिस्सेदारों को सालाना जो मुनाफ़ा बांटा वह सौ फ़ीसदी था—अक्सर वह डेढ़ सौ फ़ीसदी तक पहुंचा। ये अनाप-शनाप मुनाफ़े सब-के-सब कारखानों के मालिकों और हिस्सेदारों की जेब में गये। मज़दूरों की हालत जैसी-की-तैसी बनी रही। उनकी मज़दूरी में जो थोड़ी-बहुत बढ़ोतरी हुई, वह आमतौर पर चीज़ों की कीमतें बढ़ जाने से बराबर हो गई। इन दिनों जब लोग धड़ाधड़ कमा रहे थे तब भी ज्यादातर मज़दूर बहुत ही बुरे घरों में रहते थे और उनकी औरतों तक को कपड़ा भी पहनने को नहीं मिलता था। बम्बई के मज़दूरों की हालत तो बहुत बुरी थी; लेकिन सन के कारखानों में काम करनेवाले उन मज़दूरों की हालत तो बहुत ही बरी थी जिनके पास आप मोटर में कलकत्ते के महलों से घंटे-भर के अन्दर पहुंच सकते थे। वहां बाल बिखेरे और फटे-पुराने मैले-कुचैले कपड़े पहने हुए अधनंगी औरतें महज़ रोटियों पर काम करती थीं, इसलिए कि दौलत का एक लम्बा-चौड़ा दरिया लगातार ग्लासगो और डंडी की तरफ़ बहता रहे और उसमें से कुछ हिस्सा थोड़े-से हिन्दुस्तानियों की जेबों में चला जाय।

तेज़ी के इन सालों में कारखाने मज़े से चलते रहे, यद्यपि मज़दूरों की हालत पहले-जैसी बनी रही और उन्हें कुछ भी फ़ायदा नहीं हुआ। लेकिन जब तेज़ी का वक़्त चला गया और अनाप-शनाप मुनाफ़ा कमाना उतना आसान नहीं रह गया तब सारा बोझ मज़दूरों के सिर पटक दिया गया। कारखानों के मालिक पुराने मुनाफ़े को भूल गये। उसे तो वे खा चुके थे और अब अगर उन्हें काफ़ी मुनाफ़ा नहीं होता है तो यह रोज़गार किस तरह चले? इसीके फलस्वरूप मज़दूरों में बेचैनी फैली, झगड़े खड़े हुए और बम्बई में ऐसी भारी-भारी हड़तालें हुई कि देखनेवाले दंग रह गये और जिनसे कारखानों के मालिक और सरकार दोनों ही डर गये। मज़दूरों के आन्दोलन में वर्ग-चेतना आने लगी थी और विचारधारा तथा संगठन

दोनों ही दृष्टियों से वह लड़ाकू और ख़तरनाक होता जा रहा था। इधर राजनैतिक हालत भी तेज़ी के साथ बिगड़ रही थी और यद्यपि मज़दूरों का आन्दोलन और राजनैतिक हलचल एक-दूसरे से अलग थे, उनका आपस में कोई सम्बन्ध न था, फिर भी कुछ हद तक वे एक-दूसरे के साथ-साथ चलते थे, इसलिए सरकार भविष्य को आशंकारहित नहीं समझती थी।

मार्च १९२९ में सरकार ने आगे बढ़े हुए दल में से उनके कई सबसे ज़्यादा नामी-नामी कार्यकर्ताओं को गिरफ़्तार करके संगठित मज़दूरों पर एकाएक हमला कर दिया। बम्बई की 'गिरनी कामगार यूनियन' के नेता तथा बंगाल, युक्तप्रान्त और पंजाब के मज़दूर-नेता गिरफ़्तार कर लिये गए। इसमें से कुछ कम्युनिस्ट थे, कुछ कम्युनिस्टों से मिलते-जुलते और महज़ मज़दूर-संघोंवाले थे। यह उस नामी मेरठ-केस की शुरुआत थी जो साढ़े चार वर्ष के क़रीब चला।

मेरठ के इन मुलज़िमों की मदद के लिए बचाव-कमेटी बनी। मेरे पिताजी इस कमेटी के सभापति थे तथा डाक्टर अन्सारी, मैं तथा कुछ और लोग उसके मेम्बर थे। हम लोगों का काम मुश्किल था। मुक़दमे के लिए रुपया इकट्ठा करना आसान न था। ऐसा मालूम होता था कि पैसेवाले लोगों को कम्युनिस्ट तथा समाजवादी आन्दोलन करनेवालों से कोई हमदर्दी नहीं थी, और वकील लोग पूरा मेहनताना लिये बिना काम करने को तैयार न थे, जोकि किसीका ख़ून ही चूसकर दिया जा सकता था। हमारी कमेटी में कई नामी वकील थे, जैसे पिताजी तथा दूसरे लोग। ये हर वक़्त हमें सलाह देने और रास्ता दिखाने को तैयार थे। उसमें हमारा कुछ भी ख़र्च नहीं पड़ता था। लेकिन उनके लिए यह मुमकिन न था कि वे महीनों लगातार मेरठ में ही बने रहें। उनके अलावा जिन वकीलों के पास हम गये, मालूम होता है, वे यह समझते थे कि यह मुक़दमा हमारे लिए ज़्यादा-से-ज़्यादा रुपया कमाने का एक ज़रिया है।

मेरठ के मुक़दमे के अलावा कुछ और बचाव-कमेटियों से भी मेरा ताल्लुक़ रहा है—जैसे एम० एन० राय के तथा दूसरे और मुक़दमों में। हर मौक़े पर मुझे अपने पेशे के लोगों के लालचीपने को देखकर हैरत हुई है। इस सिलसिले में मुझे सबसे पहला बड़ा धक्का उस वक़्त लगा जब १९१९ में पंजाब में फ़ौजी क़ानून की रू से मुक़दमे चल रहे थे। उन दिनों वकीलों के एक बहुत बड़े लीडर ने इस बात पर ज़िद की कि उन्हें पूरी फ़ीस दी जाय। यह रक़म बहुत बड़ी थी। उन्होंने इस

बात का कोई खयाल नहीं किया कि उनके मुवक्किल वे लोग हैं जो फ़ौजी क़ानून के शिकार हुए हैं, और उनमें उनका एक वकील साथी भी है। इनमें से बहुत-से लोगों को क़र्ज़ लेकर या अपनी जायदादें बेच-बाचकर इन वकीलसाहब की फ़ीस देनी पड़ी। इसके बाद मुझे जो तजरबे हुई वे तो और भी दुःखदायी थे। हम लोगों को ग़रीब-से-ग़रीब लोगों से तांबे के पैसे ले-लेकर रुपये इकट्ठे करने पड़ते थे। और वे बड़े-बड़े चैकों के रूप में वकीलों को दे देने पड़ते थे। यह बात हमें बहुत ही अखरती थी। और फिर यह सब काम बिल्कुल बेकार मालूम पड़ता था, क्योंकि एक राजनैतिक मामले में या मज़दूरों के मामले में हम बचाव करें या न करें, नतीजा ग़ालिबन वही होता है। लेकिन मेरठ के मुक़दमे-जैसे मुक़दमे में, बिला शक, बचाव करना कई दृष्टियों से लाज़िमी था।

मेरठ-षड्यन्त्र बचाव-कमेटी की मुलज़िमों के साथ आसानी से नहीं पटी इन मुलज़िमों में तरह-तरह के लोग थे, जिनका बचाव भी अलग-अलग क़िस्म का था, और कभी-कभी तो उनमें आपसी मेल क़तई ग़ायब रहता था। कुछ महीनों के बाद हमने बाक़ायदा कमेटी को तोड़ दिया और अपनी ज़ाती हैसियत से मदद करते रहे। राजनैतिक हालात जिस तरह बदलते जा रहे थे, उसकी तरफ़ हमारा ध्यान अधिकाधिक खिचने लगा और १९३० में तो हम सब-के-सब जेल में बन्द हो गये।

: २७ :

विक्षोभ का वातावरण

१९२९ की कांग्रेस लाहौर में होनेवाली थी। वह दस साल के बाद फिर पंजाब में होने जा रही थी, और लोग दस वर्ष पहले की बातें याद करने लगे—१९१९ की घटनाएं, जलियांवाला बाग़, फ़ौजी क़ानून और उसके साथ होनेवाली बेइज़्ज़तियां, अमृतसर का कांग्रेस-अधिवेशन और उसके बाद असहयोग की शुरुआत। इन दस वर्षों में बहुत-सी घटनाएं हुई थीं और हिन्दुस्तान की सूरत ही बदल गई थी, मगर फिर भी उस और इस समय में समानताओं की कमी न थी। राजनैतिक विक्षोभ बढ़ रहा था और संघर्ष का वातावरण तेज़ी से बनता जा रहा था। आनेवाले संघर्ष की लम्बी छाया पहले से ही देश पर पड़ रही थी।

असेम्बली और प्रान्तीय कौंसिलों में बहुत समय से, उन मुट्ठीभर लोगों के सिवा, जो उनके चौकों में चक्कर काटा करते थे, लोगों की दिलचस्पी नहीं रही थी। ये असेम्बलियाँ और कौंसिलें अपनी लकीर पीटा करती थीं, जिनसे सरकार को अपने सत्ताधारी और स्वेच्छाचारी स्वरूप को ढकने के लिए एक टूटा-फूटा सहारा और लोगों को हिन्दुस्तान में पार्लमेण्ट होने और उसके मेम्बरों को भत्ता मिलने की बात करने का एक बहाना मिल जाता था। असेम्बली का आख़िरी सफल कार्य, जिसकी तरफ़ लोगों का ध्यान गया, १९२८ में हुआ था, जबकि उसने साइमन-कमीशन से सहयोग न करने का प्रस्ताव पास किया था।

इसके बाद असेम्बली के प्रेसीडेण्ट और सरकार के बीच में एक संघर्ष भी हुआ था। विट्ठलभाई पटेल, जो असेम्बली के स्वराजी प्रेसीडेण्ट थे, अपनी स्वतन्त्र वृत्ति के कारण सरकार के दिल में कांटे की तरह खटकते थे और उनके पर काट देने की बहुत कोशिशें की गईं। ऐसी बातों की तरफ़ ध्यान तो जाता था, मगर आमतौर पर जनता का ध्यान बाहर की घटनाओं की ही तरफ़ लगा हुआ था। मेरे पिताजी को अब कौंसिलों के बारे में कोई भ्रम नहीं रह गया था और वह अक्सर यह राय ज़ाहिर करते थे कि इस अवस्था में अब कौंसिलों से ज़्यादा फ़ायदा नहीं

उठाया जा सकता। अगर कोई मुनासिब मौक़ा आजाये तो वह उसमें से ख़ुद भी बाहर निकल आना चाहते थे। हालांकि उनका दिमाग़ वैधानिक था और क़ानूनी तरीक़ों और ज़ाब्तों का आदी था, मगर मौजूदा हालत से मजबूरन उन्हें यही नतीजा निकालना पड़ा कि हिन्दुस्तान में तो वैधानिक कहे जानेवाले तरीक़े बेकार और फ़िज़ूल हैं। वह अपने क़ानूनी दिमाग़ को यह कहकर सान्त्वना दे देते थे कि हिन्दुस्तान में विधान ही नहीं है, और न वस्तुतः यहां कोई क़ानून की हुकूमत ही है। क्योंकि यहाँ किसी एक व्यक्ति या दल की मर्ज़ी पर ही, जिस तरह जादूगर के पिटारे में से अचानक कबूतर निकल पड़ते हैं उसी तरह, आर्डिनेंस वग़ैरा निकल पड़ते हैं। तबीयत और आदत से वह क्रान्तिकारी बिल्कुल न थे, और अगर मध्यम-वर्गीय प्रजातन्त्रवाद जैसी कोई चीज़ होती तो वह बिला शक विधान के बड़े भारी स्तम्भ होते। मगर जैसी हालत थी, हिन्दुस्तान में नक़ली पार्लमेण्ट का नाटक होने के कारण, यहां वैधानिक आन्दोलन करने की चर्चा से वह अधिकाधिक चिढ़ने लगे थे।

गांधीजी अब भी राजनीति से अलग ही रह रहे थे, सिवाय इसके कि कलकत्ता-कांग्रेस में उन्होंने हिस्सा लिया था। मगर वह सब घटनाओं की जानकारी रखते थे, और कांग्रेस-नेता उनसे अक्सर सलाह-मशवरा किया करते थे। कुछ वर्षों से उनका खास काम खादी-प्रचार हो गया था, और इसके लिए उन्होंने सारे हिन्दुस्तान में लम्बे-चौड़े दौरे किये थे। उन्होंने बारी-बारी से एक-एक प्रान्त को लिया। वह उसके हर ज़िले और करीब-करीब हर महत्त्वपूर्ण क़स्बे में गये, और दूर के और देहाती हिस्सों में भी गये। हर जगह उनके लिए लोगों की भारी भीड़ जमा होती थी और उनका कार्यक्रम पूरा करने के लिए पहले से बहुत तैयारी करनी पड़ती थी। इस तरह से उन्होंने बार-बार हिन्दुस्तान का दौरा किया है, और उत्तर से दक्षिण तक और पूर्वी पहाड़ों से पश्चिमी समुद्र तक इस विशाल देश के एक-एक कोने को उन्होंने देख लिया है। मैं नहीं समझता कि और किसी मनुष्य ने कभी हिन्दुस्तान में इतना सफ़र किया होगा।

प्राचीन काल में बड़े-बड़े परिव्राजक होते थे, जो हमेशा घूमते ही रहते थे। मगर उनके यात्रा के साधन बहुत धीमे थे। और इस तरह का जीवन-भर का भ्रमण भी एक साल के रेल और मोटर के सफ़र का मुक़ाबला नहीं कर सकेगा। गांधीजी रेल और मोटर से जाते थे, मगर वह सिर्फ उन्हींसे बंधे हुए नहीं थे;

वह पैदल भी चलते थे। इस तरह उन्होंने हिन्दुस्तान और यहां के लोगों का अद्भुत ज्ञान प्राप्त किया, और इसी तरीक़े से करोड़ों लोगों ने उन्हें देखा और उनके व्यक्तिगत सम्पर्क में आये।

वह १९२९ में अपने खादी-सम्बन्धी दौरे में युक्तप्रान्त में आये, और उन्होंने निहायत गरम मौसम में इस प्रान्त में कई हफ़्ते बिताये। मैं कभी-कभी उनके साथ कई दिनों तक लगातार रहता, और हालांकि उनके आने पर इससे पहले भी बड़ी-बड़ी भीड़ देख चुका था, मगर फिर भी उनके लिए इकट्ठी हुई भीड़ों को देखकर ताज्जुब किये बग़ैर न रहता। यह हाल गोरखपुर-जैसे पूर्वी ज़िलों में ख़ास तौर पर देखा जाता था, जहां आदमियों का मजमा देखकर टिड्डी-दल की याद आ जाती थी। जब हम देहात में मोटर से गुज़रते थे, तो कुछ-कुछ मीलों के फ़ासले पर ही दस हज़ार से लेकर पचीस हज़ार तक की भीड़ हमें मिला करती थी, और सभाओं में तो अक्सर लाख-लाख से भी ज़्यादा तादाद हो जाती थी। सिवाय किसी-किसी बड़े शहर के सभाओं में लाउड-स्पीकरों का इन्तज़ाम नहीं होता था, और ज़ाहिरा सब आदमियों को भाषण सुनाई देना नामुमकिन था। शायद वे कुछ सुनने की उम्मीद भी नहीं करते थे; वे तो महात्माजी के दर्शन करके ही सन्तुष्ट हो जाते थे। गांधीजी अपने पर अनावश्यक बोझ न पड़ने देते हुए, आमतौर पर, छोटा-सा भाषण देते थे। नहीं तो, इस तरह हर घण्टे और हर रोज़ काम चलाना बिल्कुल असम्भव हो जाता।

मैं सारे युक्तप्रान्त के दौरे में उनके साथ नहीं रहा, क्योंकि मैं उनके लिए कोई ख़ास उपयोगी नहीं हो सकता था, और यात्री-दल मे मेरे एक के और बढ़ जाने से कोई मतलब न था। यों मजमों से मुझे परहेज़ न था, मगर गांधीजी के साथ चलने-वालों का आमतौर पर जैसा हाल होता है, यानी धक्के खाना और अपने पैर कुचलवाना, ये मुझे ललचाने को काफ़ी न थे। मेरे पास करने को दूसरा काम भी काफ़ी था, और सिर्फ़ खादी के प्रचार में ही, जो मुझे बढ़ती हुई राजनीतिक हालत में एक अपेक्षाकृत छोटा ही काम नज़र आता था, लग जाने की मेरी इच्छा न थी। किसी हद तक मैं गांधीजी के ग़ैर-राजनैतिक कामों में लगे रहने से नाराज़ भी था, और मैं उनके विचारों की पृष्ठभूमि कभी नहीं समझ सका। उन दिनों वह खादी-कार्य के लिए धन इकट्ठा कर रहे थे, और वह अक्सर कहते थे कि मुझे 'दरिद्र-नारायण' अर्थात् दरिद्रों के लिए धन चाहिए। उनका यही मतलब था कि उससे वह

ग़रीबों की मदद करेंगे, उन्हें घरेलू उद्योग-धन्धों द्वारा काम दिलायेंगे। मगर इससे अप्रत्यक्ष रूप से दरिद्रता का गौरव बढ़ता दिखाई देता था, क्योंकि नारायण खासकर ग़रीबों का नारायण है, ग़रीब उसके प्यारे हैं। सब जगह धार्मिक भावना यही है। मैं इस बात को पसन्द नहीं कर सकता था; क्योंकि मुझे तो दरिद्रता एक घृणित चीज़ मालूम होती थी, जिससे लड़कर उसे उखाड़ फेंकना चाहिए, न कि उसे किसी तरह बढ़ावा देना चाहिए। इसके लिए लाज़िमी तौर पर उस प्रणाली पर हमला करना चाहिए जो दरिद्रता को बरदाश्त करती और पैदा करती है, और जो लोग ऐसा करने से झिझकते हैं उन्हें मजबूरन दरिद्रता को किसी-न-किसी तरह उचित ठहराना ही पड़ता था। वे यही विचार कर सकते थे कि दुनिया में सदा चीज़ों की कमी ही रहेगी, और ऐसी दुनिया की कल्पना नहीं कर सकते थे कि जिसमें सबको जीवन की आवश्यक चीज़ें भरपूर मिल सकें। शायद उनके विचारानुसार हमारे समाज में ग़रीब और अमीर तो हमेशा ही बने रहेंगे।

जब कभी मुझे इस बारे में गांधीजी से बहस करने का मौक़ा मिला तभी वह इस बात पर ज़ोर देते थे कि अमीर लोगों को अपनी दौलत जनता की धरोहर की तरह समझनी चाहिए। यह दृष्टिकोण काफ़ी पुराना है और हिन्दुस्तान में तथा मध्यकालीन यूरोप में भी अक्सर पाया जाता है। किन्तु मैं तो इस बात को बिलकुल नहीं समझ सका हूं कि कोई भी शख्स ऐसा हो जाने की कैसे उम्मीद कर सकता है, या यह कैसे कल्पना कर लेता है, कि इसीसे समाज की समस्या हल हो जायगी।

असेम्बली, जैसा कि मैंने ऊपर कहा है, सुस्त और सोती रहनेवाली संस्था हो गई थी और उसकी उबा देनेवाली कार्रवाइयों में शायद ही कोई दिलचस्पी लेता हो। जब भगतसिंह और बी० के० दत्त ने दर्शकों की गैलरी से उस सभा-भवन के फ़र्श पर दो बम फेंके, तब एक दिन एक झटके की तरह एकाएक उसकी नींद खुली। किसीको सख्त चोट नहीं आई, और शायद बम इसी इरादे से फेंके गये थे, जैसा कि अभियुक्तों ने बाद में बयान किया था कि 'शोर और खलबली पैदा की जाय, न कि किसी को चोट पहुंचाई जाय।'

उससे सचमुच असेम्बली में और बाहर खलबली मच गई। आतंककारियों के दूसरे काम इतने निरापद न थे। एक नौजवान अंग्रेज़ पुलिस अफ़सर को, जिसके

बारे में कहा गया था कि उसने लाला लाजपतराय पर डंडे बरसाये थे, लाहौर में गोली से मार दिया गया। बंगाल और दूसरी जगहों पर ऐसा मालूम होने लगा कि आतंककारियों की हलचलें फिर से शुरू हो गईं। षड्यन्त्र के बहुत-से मुक़दमे चलने लगे, और नज़रबन्दी की—यानी बग़ैर मुक़दमा चलाये और सज़ा दिये जेल में रक्खे जानेवाले या दूसरी तरह से रोके हुए लोगों की—तादाद में जल्दी ही बढ़ती हो गई।

लाहौर षड्यन्त्र के मुक़दमे में अदालत में पुलिस ने कई असाधारण काम किये, और इस कारण भी इस मुक़दमे की तरफ़ लोगों का ध्यान बहुत गया। अदालत और जेल में अभियुक्तों के साथ जो बर्ताव किया जा रहा था, उसके विरोधस्वरूप ज़्यादातर क़ैदियों ने भूख-हड़ताल कर दी। यह ठीक किन कारणों से शुरू हुई, यह तो मैं भूल गया हूं, मगर अन्त में यह बड़ा सवाल बन गया कि क़ैदियों, खासकर राजनैतिक, के साथ आमतौर पर कैसा बर्ताव होना चाहिए। यह हड़ताल हफ़्तों तक बढ़ती गई, और उससे सारे देश में खलबली मच गई। अभियुक्तों की शारीरिक कमज़ोरी के सबब से उन्हें अदालत में नहीं ले जाया जा सकता था, और बार-बार कार्रवाई मुल्तवी करनी पड़ती थी। इसपर भारत सरकार ने ऐसा क़ानून बनाने की शुरुआत की जिससे अभियुक्तों या उनके पैरोकारों की ग़ैर-मौजूदगी में भी अदालत अपनी कार्रवाई जारी रख सके। उन्हें जेल के बर्ताव के प्रश्न पर भी ग़ौर करना पड़ा।

जब हड़ताल एक महीने तक चल चुकी थी, उस वक़्त मैं इत्तफ़ाक से लाहौर पहुंचा। मुझे कुछ क़ैदियों से जेल में मिलने की इजाज़त दे दी गई, और मैंने इसका फ़ायदा उठाया। भगतसिंह से यह मेरी पहली मुलाक़ात थी। मैं जतीन्द्रनाथ दास वग़ैरा से भी मिला। भगतसिंह का चेहरा आकर्षक था और उससे बुद्धिमत्ता टपकती थी। वह निहायत गम्भीर और शान्त था। उसमें ग़ुस्सा नहीं दिखाई देता था। उसकी दृष्टि और बातचीत में बड़ी सुजनता थी। मगर मेरा खयाल है कि कोई भी शख्स, जो एक महीने तक उपवास करेगा, आध्यात्मिक और सौजन्यपूर्ण दिखाई देने लगेगा। जतीन्द्रनाथ दास तो और भी मृदुल, एक कन्या की तरह कोमल और सुशील, मालूम पड़ा। जब मैं उससे मिला, उसे काफ़ी दर्द हो रहा था। बाद में वह, उपवास से ही भूख-हड़ताल के इकसठवें रोज़ मर गया।

भगतसिंह की विशेष इच्छा अपने चाचा सरदार अजीतसिंह से, जो १९०७

में लाला लाजपतराय के साथ निर्वासित कर दिये गए थे, मिलना या कम-से-कम उनकी खबर पाना मालूम हुई। वह कई बरसों तक विदेशों में देश-निकाले में रहे। कुछ-कुछ यह भी सुना गया था कि वह दक्षिण अमेरिका में बस गये हैं, मगर मुझे खयाल नहीं है कि उनके बारे में कोई भी निश्चित ख़बर हो। मुझे यह भी पता नहीं कि वह मर गये हैं या जीते हैं।

जतीन्द्रनाथ दास की मृत्यु से सारे देश में सनसनी पैदा हो गई। इससे राजनैतिक क़ैदियों के बर्ताव का सवाल आगे आ गया, और इसपर सरकार ने एक कमेटी मुक़र्रर कर दी। इस कमेटी के विचारों के फलस्वरूप नये क़ायदे जारी किये गए, जिनसे क़ैदियों के तीन दर्जे कर दिये गए। इन क़ायदों से कुछ सुधार होने की सूरत नज़र आई, मगर असल में कुछ भी फ़र्क़ नहीं पड़ा, और हालत अत्यन्त असन्तोषजनक ही रही, और अब भी है।

धीरे-धीरे गरमी और बरसात की ऋतु बीतकर ज्योंही शरद-ऋतु आई, प्रान्तीय कांग्रेस कमेटियां कांग्रेस के लाहौर-अधिवेशन के लिए अध्यक्ष चुनने के काम में लग गईं। इस चुनाव की एक लम्बी कार्रवाई होती है, जो अगस्त से अक्तूबर तक चलती रहती है। १९२९ में गांधीजी को अध्यक्ष बनाने के पक्ष में क़रीब-क़रीब एकमत था। उन्हें दूसरी बार सभापति बनाने से, वास्तव में, कांग्रेस के नेताओं में उनका पद कोई और ऊंचा नहीं हो जाता था, क्योंकि वह तो कई बरसों से एक तरह के सभापतियों के भी दादा बने हुए थे। उस वक़्त सबको यही लगा कि चूंकि लड़ाई अत्यन्त निकट है और उसकी सारी बागडोर यों भी उन्हींके हाथों में रहनेवाली है, तो फिर कांग्रेस का विधिवत् नेता भी उस वक़्त के लिए उन्हीं को क्यों न बनाया जाय। इसके सिवा, इतना बड़ा और कोई आदमी सामने न था जो उस समय सभापति बनाया जाता।

इसलिए प्रान्तीय कमेटियों ने सभापति-पद के लिए गांधीजी की सिफ़ारिश की। मगर उन्होंने मंजूर न किया। हालांकि उन्होंने ज़ोर के साथ इन्कार किया था, मगर उसमें दलील करने की गुंजाइश मालूम हुई और यह उम्मीद की गई कि वह उसपर दुबारा ग़ौर कर लेंगे। लखनऊ में इसका आखिरी फ़ैसला करने के लिए अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की मीटिंग की गई, और आखिरी घड़ी तक क़रीब-क़रीब हम सभी का खयाल यह था कि वह राज़ी हो जायेंगे। मगर ऐसा न हुआ और आखिरी घड़ी में उन्होंने मेरा नाम पेश किया और उसपर ज़ोर

दिया। उनके आख़िरी इन्कार से अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के लोग तो कुछ-कुछ भौचक्के रह गये, और इस विषम स्थिति में डाले जाने से कुछ-कुछ नाराज़ भी हुए। किसी दूसरे शख्स के उपलब्ध न होने की दशा में, लाचारी से उन्होंने आखिर मुझको चुन लिया।

मुझ पहले कभी इतनी झुंझलाहट और ज़िल्लत महसूस नहीं हुई जितनी इस चुनाव पर। यह बात नहीं थी कि मुझे यह सम्मान दिये जाने का—क्योंकि यह एक बड़े भारी सम्मान की बात है—भान न हो, और अगर मैं मामूली तरीक़े से चुना जाता तो मुझे ख़ुशी भी हुई होती। मगर मुझे यह सम्मान तो सीधे रास्ते या बग़ल के रास्ते से भी नहीं मिला, मैं तो गोया किसी छिपे रास्ते से आ खड़ा हुआ और अचानक लोगों को मुझे मंजूर कर लेना पड़ा। उन्होंने किसी तरह इसे बरदाश्त किया, और दवा की गोली की तरह मुझे निगल लिया। इससे मेरे स्वाभिमान को चोट पहुंची, और मुझे क़रीब-क़रीब महसूस हुआ कि मैं इस सम्मान को लौटा दूं। मगर ख़ुशक़िस्मती से मैंने अपने भावों को प्रकट करने से अपने-आपको रोक लिया, और भारी कलेजा लिये हुए वहां से चुपचाप चला आया।

इस फ़ैसले पर जिसको सबसे ज्यादा खुशी हुई वह शायद मेरे पिताजी थे। वह मेरी राजनीति को पसन्द नहीं करते थे, मगर वह मुझे तो बहुत ज़्यादा चाहते थे, और मेरे लिए कुछ भी अच्छी बात होने से उन्हें ख़ुशी होती थी। अक्सर वह मेरी नुक़्ताचीनी करते थे और मुझसे कुछ रुखाई से बोला करते थे; मगर कोई भी आदमी, जो उनकी सदिच्छा बनाये रखने की परवा करता हो, उनके सामने मेरे खिलाफ़ कुछ कह नहीं सकता था।

मेरा चुनाव मेरे लिए एक बड़े सम्मान और उत्तरदायित्व की बात थी; और यह चुनाव इसलिए महत्त्व रखता था कि अध्यक्ष-पद पर बाप के बाद फ़ौरन ही बेटा आ रहा था। यह अक्सर कहा गया कि मैं कांग्रेस का सबसे-कम उम्र का सभापति था—उस वक़्त मेरी उम्र ठीक चालीस साल की थी। मगर यह ग़लत है। मेरा खयाल है कि गोखले की भी क़रीब-क़रीब यही उम्र थी, और मौलाना अबुलकलाम आज़ाद की (हालांकि वह मुझसे कुछ बड़े हैं) उम्र तो शायद चालीस से भी कम थी जब वह सभापति बने थे। मगर गोखले जब ३५-४० के थे, तभी योग्यता के लिहाज़ से बड़े राजनीतिज्ञों में माने जाते थे, और अबुलकलाम आज़ाद की सूरत-शक्ल ऐसी बन गई थी, जो उनकी विद्वत्ता के अनुकूल आदरणीय थी।

चूंकि मुझमें राजनीतिज्ञता का गुण शायद ही कभी माना गया हो, और मुझपर कभी बड़ा विद्वान् होने का दोषारोपण भी किसी ने नहीं किया, इसलिए मैं बड़ी उम्र का होने के दोषारोपण से बच गया हूं—भले ही मेरे बाल पक गये हैं और मेरा चेहरा भी उसकी चुगली खा लेता है।

लाहौर-कांग्रेस नज़दीक आती जाती थी। इस बीच घटनाएं एक-एक करके ऐसी घटती जाती थीं, जिनसे मालूम होता था कि वे खुद अपनी ही किसी ताक़त से आगे बढ़ती जा रही हैं। व्यक्ति कितने ही बड़े क्यों न थे, मगर उनका बहुत ही थोड़ा हिस्सा था। व्यक्ति को यही मालूम होता था कि वह किसी बड़ी मशीन के अन्दर, जो बेरोक आगे बढ़ती हुई चली जा रही थी, सिर्फ़ एक पुर्जे की तरह ही है।

भाग्य की इस प्रगति को, शायद रोकने की आशा से ब्रिटिश सरकार एक क़दम आगे बढ़ी, और वाइसराय लार्ड इर्विन ने एक गोलमेज़ कान्फ्रेंस करने की बाबत ऐलान किया। उस ऐलान के शब्द बड़े चालाकी-भरे थे। जिनका मतलब 'बहुत कुछ' भी और 'कुछ नहीं' भी हो सकता था; और हम कई को तो यह साफ़ मालूम होता था कि 'कुछ नहीं' ही निकलेगा। और अगर उसमें ज़्यादा मतलब भी होता, तो भी हम जो कुछ चाहते थे उसके क़रीब तक भी नहीं पहुंच सकता था। वाइसराय के इस ऐलान के निकलते ही फ़ौरन, और बड़ी जल्दी से, दिल्ली में 'लीडरों की कान्फ्रेंस' बुलाई गई, और कई दलों के लोग उसमें बुलाये गये। उसमें गांधीजी, मेरे पिताजी और विट्ठलभाई पटेल भी (जो उस समय तक असेम्बली के प्रेसीडेण्ट ही थे) मौजूद थे; और तेजबहादुर सप्रू वग़ैरा नरम दल के नेता भी थे। सबकी सहमति से एक संयुक्त प्रस्ताव या वक्तव्य तैयार किया गया, जिसमें वाइसराय का ऐलान कुछ शर्तों के साथ—जिनके बारे में कहा गया था कि ये ज़रूरी है और पूरी की जानी चाहिए—मंजूर किया गया। अगर इन शर्तों को सरकार मंजूर कर लेगी तो सहयोग किया जायगा। ये शर्तें[१] काफ़ी वज़नदार थीं, और उनसे कुछ तो अन्तर होता ही।

---

[१] शर्तें ये थीं—

१—प्रस्तावित कान्फ्रेंस में सारी बातचीत हिन्दुस्तान के लिए पूर्ण औपनिवेशिक पद के आधार पर होनी चाहिए।

२—कान्फ्रेंस में कांग्रेस के लोगों का सबसे ज़्यादा प्रतिनिधित्व होना चाहिए।

३—राजनैतिक क़ैदियों की आम रिहाई हो।

नरम और प्रगतिशील सभी दलों के द्वारा ऐसा प्रस्ताव मजूर किया जाना एक बड़ी विजय ही थी। मगर कांग्रेस के लिए तो यह नीचे गिरना था। हां, सबके बीच में एक सर्वसम्मत बात के रूप में वह ऊंची चीज़ थी, मगर उसमें एक घातक पकड़ भी थी। उन शर्तों को देखने के कम-से-कम दो भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण थे। कांग्रेस के लोग तो उन्हें सार-रूप में पूरी तरह से अनिवार्य मानते थे, जिनके पूरा हुए बिना कोई सहयोग नहीं हो सकता था। उनकी निगाह में वे कम-से-कम शर्तें थीं। यह बात कांग्रेस कार्य-समिति की एक बाद की बैठक में साफ़ कर दी गई और उसमें यह भी कह दिया गया कि यह तजवीज़ सिर्फ़ अगली कांग्रेस तक के लिए ही है। मगर नरम दलों के लिए ये ज़्यादा-से-ज़्यादा मांगें थीं, जिनका बयान किया जाना अच्छा था, मगर जिनपर इतना ज़ोर नहीं दिया जा सकता था कि सहयोग तक से इन्कार कर दिया जाय। उनकी दृष्टि से वे शर्तें महत्त्वपूर्ण कहलाते हुए भी वास्तव में कोई शर्तें नहीं थीं। और बाद में हुआ भी यही कि, जब इनमें से एक भी शर्त पूरी नहीं की गई और हममें से ज़्यादातर लोग, बीसियों हज़ार दूसरे आदमियों के साथ जेल में पड़े थे, उस वक़्त, हमारे नरमदली और सहयोगी मित्र, जिन्होंने उस वक्तव्य पर हमारे साथ दस्तख़त किये थे, हमें जेल में डालनेवालों को सहयोग दे रहे थे।

हममें से ज़्यादातर लोगों को अन्देशा तो था कि ऐसी बात होगी—मगर यह उम्मीद नहीं थी कि इस हदतक होगी। लेकिन हमें कुछ-कुछ यह भी उम्मीद थी कि इस संयुक्त कार्य से, जिसमें कांग्रेस के लोगों ने अपने-आपको इतना दबाया है, यह भी नतीजा होगा कि लिबरल और दूसरे लोग ब्रिटिश सरकार को मनमाना और एक-सा सहयोग देने की आदत से बाज़ आजायंगे। हम कई लोगों के लिए तो, जो इस समझौते के प्रस्ताव को दिल से नापसन्द करते थे, ज़्यादा ज़बरदस्त कारण यह था कि हमारे कांग्रेस के लोगों की आपस में एकता बनी रहे। एक बड़ी लड़ाई की शुरुआत में हम कांग्रेस में फूट होना बरदाश्त नहीं कर सकते। यह तो अच्छी तरह मालूम था कि हमारी पेश की हुई शर्तों को सरकार नहीं मान सकेगी, और इस तरह हमारी स्थिति और भी मज़बत हो जायगी, और हम अपने दाहिने

४—अभी से आगे हिन्दुस्तान का शासन, मौजूदा हालात में जहां तक मुमकिन हो, उपनिवेशों के शासन के ढंग पर चलना चाहिए।

दल को भी अपने साथ आसानी से ले चल सकेंगे। यह सिर्फ़ कुछ ही हफ़्तों का सवाल था। दिसम्बर आया और लाहौर-कांग्रेस नज़दीक आई।

फिर भी वह संयुक्त वक्तव्य हममें से कुछ लोगों के लिए एक कड़वा घूंट था। स्वाधीनता की मांग को छोड़ देना, चाहे सिर्फ़ कल्पना में ही और सिर्फ़ थोड़ी ही देर के लिए क्यों न हो, एक ग़लत और ख़तरनाक बात थी। इसका मतलब यह था कि स्वाधीनता की बात सिर्फ़ एक चाल थी, जिसकी बिना पर कुछ सौदा किया जा सकता था; वह कोई सारभूत चीज़ न थी, जिसके बग़ैर हमें कभी सान्त्वना ही न हो सके। इसलिए मैं दुविधा में पड़ गया और मैंने वक्तव्य पर हस्ताक्षर नहीं किये (सुभाष बोस ने तो निश्चित रूप से इस वक्तव्य पर हस्ताक्षर करने से इन्कार कर दिया); मगर, जैसा कि मुझसे अक्सर होता है, बहुत कहने-सुनने पर मैं नरम पड़ गया और मैंने हस्ताक्षर कर दिये। मगर फिर भी मैं बड़ी बेचैनी लेकर आया, और दूसरे ही दिन मैंने कांग्रेस के सभापति-पद से अलग हो जाने का विचार किया और अपना यह इरादा गांधीजी को लिख भेजा। मैं नहीं समझता कि मैंने यह गम्भीरता से लिखा था, हालांकि मैं क्षुब्ध तो काफी हो गया था। फिर गांधीजी का एक धीरज का पत्र आने और तीन दिन तक सोचते रहने से आखिर मैं शान्त हो गया।

लाहौर-कांग्रेस से कुछ ही समय पहले, कांग्रेस और सरकार के बीच में समझौते का कोई आधार ढूढ़ने की एक आख़िरी कोशिश की गई। वाइसराय लॉर्ड इर्विन के साथ एक मुलाक़ात का इन्तज़ाम किया गया। मुझे नहीं मालूम कि इस मुलाक़ात के इन्तज़ाम में पहला क़दम किसने उठाया, मगर मेरा अन्दाज़ है कि विट्ठलभाई पटेल ने ही यह ख़ासतौर पर किया होगा। इस मुलाक़ात में गांधीजी और मेरे पिताजी कांग्रेस का दृष्टिकोण प्रकट करने के लिए मौजूद थे, और मेरे ख़याल से जिन्नासाहब, सर तेजबहादुर सप्रू और प्रेसीडेण्ट पटेल भी थे। इस मुलाक़ात का कुछ नतीज़ा न निकला। सहमत होने का कोई सामान्य आधार हाथ न आया, और यह पाया गया कि दो ख़ास पार्टियां, सरकार और कांग्रेस, एक-दूसरे से बहुत फ़ासले पर थीं। इसलिए अब इसके सिवा कुछ बाक़ी न रह गया कि कांग्रेस अपना क़दम आगे बढ़ावे। कलकत्ते में दी हुई एक साल की मियाद ख़तम हो रही थी; अब कांग्रेस का आदर्श हमेशा के लिए स्वाधीनता घोषित होने को था, और उसे प्राप्त करने के लिए ज़रूरी कारवाइयां करने को थीं।

लाहौर-कांग्रेस से पहले के इन आख़िरी हफ़्तों में मुझे एक दूसरे क्षेत्र में भी

ज़रूरी काम करना था। ट्रेड यूनियन कांग्रेस नागपुर में होनेवाली थी, और इस साल उसका प्रेसीडेण्ट होने के कारण मुझे उसका सभापतित्व करना था। यह बहुत ही असाधारण बात थी कि एक ही आदमी राष्ट्रीय कांग्रेस और ट्रेड यूनियन कांग्रेस दोनों का ही कुछ हफ़्तों के अन्दर सभापतित्व करे। परन्तु मैंने यह उम्मीद की थी कि मैं दोनों कांग्रेसों को जोड़नेवाली कड़ी बन जाऊंगा, और दोनों को ज़्यादा नजदीक ले आऊंगा, जिससे राष्ट्रीय कांग्रेस तो ज़्यादा समाजवादी और ज़्यादा श्रमिक-पक्षीय हो जाय और संगठित मज़दूर-पक्ष राष्ट्रीय संग्राम में साथ दे।

मगर शायद यह उम्मीद झूठी थी; क्योंकि राष्ट्रीयता समाजवाद और श्रमिक-पक्षीय दिशा में दूर तक तभी जा सकती है जब वह राष्ट्रीयता न रहे। फिर मुझे लगा कि हालांकि कांग्रेस का दृष्टिकोण मध्यम-वर्गीय है, फिर भी देश में वही एक कारगर क्रान्तिकारी ताक़त है। इस हालत में मज़दूर-वर्ग को उसकी मदद करनी चाहिए, उसके साथ सहयोग करना चाहिए, और उसको अपने प्रभाव में लाना चाहिए। मगर साथ ही उसको अपनी हस्ती और अपनी विचारधारा अलग क़ायम रखनी चाहिए। मुझे उम्मीद है कि जैसे-जैसे घटनाएं घटती जायंगी और कांग्रेस सीधे संघर्ष में पड़ती जायगी, वैसे-वैसे वह अपने आप लाज़िमी तौर पर ज़्यादा उग्र आदर्श या दृष्टिकोण पर आती जायगी। पिछले बरसों में कांग्रेस का काम किसानों और गांवों की तरफ बढ़ा है। अगर इसी तरफ़ इसका कदम बढ़ता रहा तो किसी दिन यह किसानों का एक बड़ा संगठन बन जायगी, वरना ऐसा संगठन तो हो ही जायगी जिसमें किसान-वर्ग प्रधान हो। संयुक्तप्रान्त की कई ज़िला-कमेटियों में इस वक़्त भी किसानों के प्रतिनिधि काफ़ी तादाद में थे, हालांकि नेतृत्व मध्यमवर्ग के पढ़े-लिखे लोगों ने अपने हाथ में ले रक्खा था।

इस तरह से देहात और शहरों के निरन्तर संघर्ष का राष्ट्रीय कांग्रेस के और ट्रेड यूनियन कांग्रेस के सम्बन्ध पर असर होने की सम्भावना थी। मगर वह सम्भावना दूर थी, क्योंकि मौजूदा राष्ट्रीय कांग्रेस मध्यमवर्गीय लोगों के हाथ में है और उसपर शहरवालों का कब्ज़ा है, और जबतक राष्ट्रीयता व स्वाधीनता का सवाल हल नहीं हो जाता है तबतक राष्ट्रीयता ही मैदान में प्रधान रहेगी, और वही देश की सबसे ज़बरदस्त भावना रहेगी। फिर भी मुझे यही दिखाई दिया कि कांग्रेस को संगठित मज़दूर-वर्ग के नज़दीक लाना स्पष्ट तौर पर अच्छा है, और युक्तप्रान्त में तो हमने प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी में ट्रेड यूनियन कांग्रेस की

प्रान्तीय शाखा से प्रतिनिधि भी बुलाये थे। कांग्रेस के कई लोगों ने भी मज़दूरों की हलचलों में बड़ा हिस्सा लिया था।

मगर मज़दूरों के कुछ आगे बढ़े हुए दल राष्ट्रीय कांग्रेस से झिझकते थे। वे इसके नेताओं पर अविश्वास करते थे और इसके आदर्श को मध्यमवर्गीय और प्रतिगामी समझते थे, और मज़दूर दृष्टिकोण से देखा जाय तो यह सचमुच ऐसा था भी। जैसा कि नाम से ही ज़ाहिर होता है, कांग्रेस तो एक राष्ट्रीय संगठन था।

१९२९ ईस्वी भर हिन्दुस्तान के मज़दूर-संघ एक नये सवाल पर, यानी हिन्दुस्तानी मदूज़रों के विषय में नियुक्त रायल कमीशन पर, जिसका नाम व्हिटले-कमीशन था, बहुत विक्षुब्ध हो रहे थे। वाम पक्ष (गरम दल) कमीशन का बहिष्कार करने की राय रखता और दाहिना पक्ष (नरम दल) सहयोग देने की तरफ़ था; और चूंकि दाहिने पक्ष के नेताओं को कमीशन में मेम्बर बना दिया गया था, इसलिए यह कुछ व्यक्तिगत मामला भी बन गया था। और कई बातों की तरह इस बात में भी मेरी हमदर्दी वाम-पक्ष की तरफ़ थी, और खासकर इसलिए कि यही राष्ट्रीय कांग्रेस की नीति थी। जब कि हम सीधे हमले की लड़ाई चला रहे हैं या चलानेवाले हैं उस वक़्त सरकारी कमीशनों से सहयोग करना निरर्थक बात मालूम हुई।

नागपुर ट्रेड यूनियन कांग्रेस में व्हिटले-कमीशन के बहिष्कार का यह प्रश्न एक बड़ा प्रश्न बन गया, और दूसरे भी कई विवादग्रस्त प्रश्नों पर वाम-पक्ष को सफलता मिली। इस कांग्रेस में मैंने प्रकट बहुत कम भाग लिया। मैं मज़दूर-क्षेत्र में बिल्कुल नया था। अभी मैं रास्ता ढूंढ़ रहा था, इसलिए भी मैं थोड़ा झिझकता रहा। आमतौर पर मैं अपनी राय ज़्यादा आगे बढ़े हुए दलों की तरफ़ ज़ाहिर करता था, मगर मैंने किसी भी जमात के साथ हो जाने से अपने को बचाया। मैंने संचालन करने वाले अध्यक्ष की बनिस्बत एक निष्पक्ष 'स्पीकर' के रूप में ज़्यादा काम किया। इस तरह ट्रेड यूनियन कांग्रेस के टुकड़े हो जाने और एक नये नरम संगठन के कायम हो जाने में मैं प्रायः एक मौन दर्शक बना रहा। ज़ाती तौर पर मुझे यह महसूस हुआ कि दाहिने पक्ष के दलों का अलग हो जाना मुनासिब न था, मगर बायें पक्ष के कुछ नेताओं ने ही इस काम को जल्दी करवा दिया और उन्हें अलग हो जाने का पूरा-पूरा बहाना दे दिया। दाहिने और बायें पक्षों के झगड़ों में बीच के बड़े भारी दल को कुछ-कुछ बेबसी मालम हुई। अगर इस दल का पथ-प्रदर्शन

ठीक तरह किया गया होता तो शायद इसने उन दोनों दलों को संयम में रक्खा होता और ट्रेड यूनियन कांग्रेस में फूट पड़ने से बचा ली जाती। अगर अलग-अलग टुकड़े भी होते तो उसके इतने खराब नतीजे न होते जितने कि बाद में जाकर हुए।

उस समय जो कुछ हुआ उससे मज़दूर-संगठन के आन्दोलन को एक ज़बरदस्त धक्का लगा, जिससे वह अभी तक सम्हल नहीं सका है। सरकार ने मज़दूर-आन्दोलन के आगे बढ़े हुए दलों पर पहले ही से हमला शुरू कर दिया था, और उसका पहला फल हुआ मेरठवाला मुक़दमा। सरकार का हमला जारी रहा। मालिकों ने भी देखा कि अपने लाभ की पूर्ति के लिए यही ठीक मौक़ा है। १९२९-३० के जाड़े में संसार-व्यापी मन्दी शुरू हो ही गई थी। आर्थिक मन्दी के धक्के से, सब तरह से हमला किये जाने से और अपने ट्रेड यूनियन संगठन की हालत उस समय बहुत ही कमज़ोर होने के कारण, हिन्दुस्तान के मज़दूर-वर्ग के लिए बड़ी कठिनाई का ज़माना आ गया। वे लाचार होकर देख रहे थे कि उनकी हालत दिन-ब-दिन गिरती जा रही है। इसके बाद ही या दूसरे साल एक और टुकड़ा—कम्युनिस्ट हिस्सा—ट्रेड यूनियन कांग्रेस से अलहदा हो गया। इस तरह सिद्धान्ततः हिन्दुस्तान में मज़दूर-संघों के तीन संगठन बन गये—एक नरम दल, एक मुख्य ट्रेड यूनियन कांग्रेस दल, और एक कम्यूनिस्ट-दल। व्यवहार में ये सभी कमज़ोर और बेकार हो गये, और उनके आपसी झगड़ों से आम मज़दूर ऊब उठे थे। १९३० के बाद से मैं इन सबसे अलग था, क्योंकि मैं तो ज्यादातर जेल में रहा। जब कभी बीच-बीच में मैं जेल से बाहर आता था तो मुझे मालूम होता था कि सबमे एकता होने की कोशिशें की जा रही हैं। मगर वे कामयाब न हुईं[1]। नरम दल के यूनियनों के साथ रेलवे कामगरों के रहने से उनकी ताक़त बढ़ गई। दूसरे दलों के मुक़ाबले में उनको एक फ़ायदा यह था कि सरकार उनको स्वीकार करती थी, और जिनेवा की मज़दूर-कान्फ्रेंसों के लिए उनकी सिफ़ारिशों को मंजूर कर लेती थी। जिनेवा जाने के लालच से भी कुछ मज़दूर-नेता उनकी तरफ़ खिंच गये और वे अपने साथ अपनी यूनियन को भी उधर खींच ले गये।

---

[1] इसके बाद ट्रेड यूनियनों में एकता पैदा करने की कोशिश ज्यादा कामयाब हुई है, और विभिन्न दल अब आपस में एक तरह के सहयोग से काम कर रहे हैं।

: २८ :

पूर्ण स्वाधीनता और उसके बाद

मेरी स्मृति में लाहौर-कांग्रेस की तस्वीर आज भी साफ़ खिंची हुई है। यह क़ुदरती भी है, क्योंकि मैंने उसमें सबसे बड़ा हिस्सा लिया था, और थोड़ी देर के लिए तो मैं रंगमंच के केन्द्र में ही था और भीड़-भब्भड़ के उन दिनों में मेरे दिल में जो-जो भावनाएं पैदा हुईं उनके ख़याल से मुझे आनन्द होता है। लाहौर के लोगों ने भारी तादाद में तथा दिल से मेरा जैसा शानदार स्वागत किया, उसे मैं कभी नहीं भूल सकता। मैं अच्छी तरह जानता था कि यह अपार उत्साह व्यक्तिगत मेरे लिए नहीं था, बल्कि एक प्रतीक के लिए, एक आदर्श के लिए था। मगर किसी आदमी के लिए यह भी कोई कम बात नहीं है कि वह, थोड़े समय के लिए ही सही, बहुत लोगों की आंखों में और दिलों में वैसा प्रतीक बन जाय। मेरे आनन्द का पार न था और मैं मानो अपने व्यक्तित्व की मर्यादा को पार कर रहा था। मगर मुझपर क्या असर हुआ, इसका कोई महत्त्व नहीं है, क्योंकि वहां तो बड़े-बड़े सवाल सामने थे। सारा वातावरण जोश से भरा हुआ था और अवसर की गम्भीरता का ख़याल सब ओर छाया हुआ था। हमें सिर्फ़ नुक्ताचीनी या विरोध या राय के ज़ाहिर करने के ही प्रस्ताव नहीं करने थे, मगर हमें ऐसी लड़ाई को न्योता देना था जिससे सारा देश हिल जानेवाला था और जिसका असर लाखों की ज़िन्दगी पर पड़नेवाला था।

दूर भविष्य में हमारे और हमारे देश के लिए क्या होने वाला है, यह तो कोई भी नहीं कह सकता था; मगर निकट-भविष्य में क्या होगा, यह तो साफ़ दिखाई देता था। हमारे लिए और हमारे प्रिय व्यक्तियों के लिए लड़ाई और तकलीफ़ सामने नज़र आती थी। इस ख़याल ने हमारे उत्साह में गम्भीरता ला दी थी और हमें अपनी ज़िम्मेदारी से बहुत आगाह कर दिया था। हमारा दिया हुआ हरेक वोट अपने आराम और सुख और पारिवारिक आनन्द और मित्रों के मिलने-जुलने को बिदाई का पैग़ाम था, और था एकान्त के दिनों और रातों को तथा शारीरिक और मानसिक कष्टों को निमन्त्रण।

स्वाधीनता और स्वाधीनता की लड़ाई को चलाने के लिए की जानेवाली कार्र-वाई का ख़ास प्रस्ताव तो क़रीब-क़रीब एकमत से पास होगया, कई हज़ारों में से मुश्किल से बीस आदमियों ने उसके ख़िलाफ़ वोट दिया था, मगर असली वोटिंग एक छोटे मामले पर हुआ, जो एक संशोधन की शकल में आया था। वह संशोधन गिर गया और दोनों तरफ़ की रायों की तादाद ज़ाहिर कर दी गई। ख़ास प्रस्ताव इत्तफ़ाक से इकत्तीस दिसम्बर की आधी रात के घंटे की चोट के साथ, जबकि पिछला साल गुज़रकर उसकी जगह नया साल आ रहा था, मंजूर हुआ। इस तरह ज्योंही कलकत्ता-कांग्रेस की दी हुई एक साल की मोहलत ख़त्म हुई त्योंही नया फ़ैसला किया गया और लड़ाई की तैयारी शुरू की गई। काल का चक्र तो चल गया, मगर फिर भी हम यह नहीं जानते थे कि हमें कैसे और कब शुरुआत करनी चाहिए। अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी को हमारी लड़ाई की योजना बनाने और उसको चलाने का इख़्तियार दिया गया, मगर सब जानते थे कि असली फ़ैसला तो गांधीजी के ही हाथ है।

लाहौर-कांग्रेस में नज़दीक के ही सीमाप्रान्त से बहुत-से लोग आये थे। इस प्रान्त से व्यक्तिगत प्रतिनिधि तो कांग्रेस की बैठक में हमेशा आया ही करते थे। पिछले कुछ बरसों से खान अब्दुलग़फ़्फ़ारखां कांग्रेस के अधिवेशनों में आकर हिस्सा लिया करते थे। मगर लाहौर में पहली बार सीमाप्रान्त से सच्चे नौजवानों का एक बड़ा दल आकर अखिल भारतीय राजनैतिक लहर के सम्पर्क में आया। उसके ताज़ा दिमाग़ों पर बड़ा असर पड़ा, और वे यह ख़याल और जोश लेकर गये कि वे आज़ादी की लड़ाई में सारे हिन्दुस्तान के साथ हैं। वे सीधे-सादे मगर बड़ा काम करनेवाले लोग थे। उन्हें हिन्दुस्तान के दूसरे प्रान्तों के लोगों की तरह महज़ बातचीत करने और बाल की खाल खींचने की आदत कम थी। उन्होंने अपने लोगों को संगठित करना और उनमें नये-नये ख़यालात फैलाना शुरू किया। उन्हें कामयाबी भी मिली, और सीमाप्रान्त के स्त्री-पुरुष, जोकि हिन्दुस्तान की लड़ाई में सबसे पीछे शामिल हुए थे, १९३० से महत्त्वपूर्ण और बड़ा हिस्सा लेने लगे।

लाहौर-कांग्रेस के बाद ही, और उसके आदेशानुसार मेरे पिताजी ने असेम्बली के कांग्रेसी मेम्बरों को अपनी-अपनी जगहों से इस्तीफ़ा दे देने को कहा। क़रीब-क़रीब सभी एक साथ बाहर आ गये। कुछ इने-गिने लोगों ने ही बाहर आने से इन्कार किया, हालांकि इससे उनके चुनाव की प्रतिज्ञा भंग होती थी।

फिर भी आगे के बारे म हमें कुछ साफ़ सूझता न था। हालांकि कांग्रेस-अधिवेशन में बड़ा जोश दिखाई देता था, मगर किसीको मालूम न था कि देश लड़ाई के कार्यक्रम का कहां तक साथ देगा। हम इतने आगे बढ़ गये थे कि अब पीछे नहीं जा सकते थे। मगर देश का रुख़ क्या होगा, इसका क़रीब-क़रीब बिल्कुल पता न था। अपनी लड़ाई को शुरू करने के लिए और देश की नब्ज़ भी पहचानने की दृष्टि से २६ जनवरी को स्वतंत्रता-दिवस मनाना तय हुआ। इस दिन देश-भर में आज़ादी की प्रतिज्ञा ली जानेवाली थी।

इस तरह अपने कार्यक्रम की बाबत शंकाशील मगर कुछ-न-कुछ कारगर काम करने की इच्छा और उत्साह से हम घटनाओं के इन्तज़ार में रहे। जनवरी के शुरू में मैं इलाहाबाद में था; मेरे पिताजी ज्यादातर बाहर थे। यह एक बड़े भारी सालाना मेले—माघ मेले का वक़्त था। शायद वह कुम्भ का साल था, और लाखों स्त्री-पुरुष लगातार इलाहाबाद, या यात्रियों की भाषा में, प्रयागराज, आ रहे थे। वे सब तरह के लोग थे, उनमें खासकर किसान थे, और मज़दूर, दूकानदार, कारीगर व्यापारी, औद्योगिक और ऊंचे पेशेवाले लोग भी थे। वास्तव में हिन्दुओं में से सभी तरह के लोग आये थे। जब मैं इस बड़ी भीड़ को और संगम पर जाते और आते हुए लोगों की अटूट धारा को देखता तो मैं सोचा करता कि ये लोग सत्याग्रह और शान्ति-पूर्ण सीधे हमले की पुकार का कितना साथ देंगे ? इनमें से कितने लोग लाहौर के प्रस्तावों को जानते हैं या उनकी परवा करते हैं ? उनका वह विश्वास कितना आश्चर्यजनक और मज़बूत था, जिससे वे और उनके बुज़ुर्ग हज़ारों बरसों से हिन्दुस्तान के हर हिस्से से पवित्र गंगा-मैया में स्नान करने के लिए चले आते थे ! क्या वे इस अदम्य उत्साह को अपनी ज़िन्दगी सुधारने के लिए राजनैतिक और आर्थिक कार्य में नहीं लगा सकते ? या क्या उनके दिमाग़ों में धर्म का बाह्याचार और दक़ियानूसीपन इतना भर चुका है कि उनमें दूसरे खयालात की गुंजाइश ही नहीं रही ? मैं तो यह जानता ही था कि ये दूसरे खयालात उनमें पहुंच चके हैं, जिनसे सदियों की शान्त निश्चिन्तता में खलबली पैदा हो गई है। इन अस्पष्ट विचारों और आकांक्षाओं की हलचल के जनता में फैलने से ही पिछले बारह बरसों में बड़े-बड़े उतार-चढ़ाव आये थे, जिनसे हिन्दुस्तान की सूरत ही बदल गई है। इन विचारों के अस्तित्व के विषय म और उनकी बड़ा भारी ताक़त के बारे में तो कोई शकह ी नहीं था। मगर फिर भी शक पैदा होता था, और सवाल उठते थे,

जिनका तत्काल कोई जवाब न था। ये खयालात कितने फैल चुके हैं ? उनके पीछे कितनी ताक़त है ? संगठित काम करने की कितनी योग्यता है ? लम्बे धैर्य की कितनी शक्ति है ?

यात्रियों के झुण्ड-के-झुण्ड हमारे घर आते थे। हमारा घर एक तीर्थ-स्थान, भारद्वाज-आश्रम, के पास ही पड़ता था, जहां पुराने ज़माने में एक विद्यापीठ था। मेले के दिनों में सुबह से शाम तक बेशुमार लोग हमसे मिलने आते रहते थे। मेरे खयाल से ज्यादातर लोग तो कौतूहल से, और जिन बड़े आदमियों का नाम उन्होंने सुन रखा है उन्हें, ख़ासकर मेरे पिताजी को, देखने की इच्छा से आते थे। मगर आनेवालों में ऐसे भी बहुत-से लोग थे जिनका झुकाव राजनीति की ओर था, और वे कांग्रेस के बारे में, उसमें क्या तय हुआ, और आगे क्या होनेवाला है, ये सवाल भी पूछते थे। वे अपनी आर्थिक कठिनाइयां सुनाते थे और पूछते थे कि उनकी बाबत उन्हें क्या करना चाहिए ? हमारे राजनैतिक नारे उन्हें ख़ूब याद थे, और सारे दिन मकान उन्हींसे गूंजता रहता था। मैंने पहले तो, जैसे-जैसे बीस, पचास या सौ आदमियों का झुण्ड एक के बाद एक आता था, हरेक से थोड़े शब्द कहना शुरू किया। मगर जल्दी ही यह काम असम्भव हो गया, और तब मैं उनके आने पर चुपचाप नमस्कार कर लेता था। मगर इसकी भी हद थी। फिर तो मैंने छिप जाने की कोशिश की। मगर यह सब फ़िज़ूल था। नारे ज़्यादा-ज़्यादा तेज़ लगने लगते, मकान के बरामदे इन मिलनेवाले लोगों से भर जाते और हरेक दरवाज़े और खिड़की में से बहुत-से लोग हमें झांकने लगते। कुछ भी काम करना, बातचीत करना या भोजन करना तक मुश्किल हो जाता। इससे सिर्फ़ परेशानी ही नहीं होती थी बल्कि झुंझलाहट और चिढ़ भी होती थी। मगर फिर भी वे लोग तो आते ही थे। वे अपनी प्रेम-भरी चमकती आंखों से, जिनमें पीढ़ियों की ग़रीबी और मुसीबतें झलक रही थीं, देखते हुए हमारे ऊपर अपनी श्रद्धा और प्रेम बरसा रहे थे, और उसके बदले में सिवा भ्रातृ-भाव और सहानुभूति के कुछ नहीं मांगते थे। इस प्रेम और श्रद्धा की प्रचुरता के प्रभाव से हृदय को अपनी अल्पता का अनुभव हुए बिना नहीं रह सकता था।

एक महिला, जो हमारी प्रिय मित्र थी, उस वक़्त हमारे यहां ठहरी हुई थीं। उनसे बातचीत करना भी जब-तब कठिन हो जाता था, क्योंकि चार-चार पांच-पांच मिनट पर आये हुए झुण्ड से कुछ-न-कुछ कहने के लिए मुझे बाहर आना

पड़ता था, और बीच-बीच में हमें बाहर के नारे और शोरगुल सुनाई देते थे। मेरी परेशानी में उन्हें कुछ हँसी-सी आई, और साथ ही मेरा ख़याल है यह समझकर कि मैं जनता में बहुत लोकप्रिय हूं, वह प्रभावित भी हुईं। (सच बात तो यह थी कि लोग खासकर मेरे पिताजी को देखने के लिए आते थे, मगर चूंकि वह बाहर गये हुए थे, मुझे ही लोगों के सामने जाना पड़ता था।) उन्होंने अचानक मेरी तरफ़ मुड़कर मुझसे पूछा कि मैं इस वीर-पूजा को कैसा पसन्द करता हूं और क्या इसपर मुझे गर्व नहीं होता? जवाब देने से पहले मैं थोड़ा झिझका और इससे उन्होंने समझा कि शायद इस बिल्कुल व्यक्तिगत प्रश्न से उन्होंने मुझे परेशानी में डाल दिया। उन्होंने इसके लिए माफ़ी चाही। उनके सवाल से मुझे परेशानी बिल्कुल नहीं हुई, मगर मुझे सवाल का जवाब ढूंढ़ना बड़ा मुश्किल मालूम हुआ। मेरा दिमाग़ बहुत बातें सोचने लगा और मैं अपनी भावनाओं और विचारों का विश्लेषण करने लगा। वे अनेक प्रकार के थे। यह सच था कि प्रायः इत्तिफ़ाक से ही, मैं जनता में बड़ा लोकप्रिय हो गया था। पढ़े-लिखे लोगों में मेरी क़दर होती थी। नौजवान स्त्री-पुरुषों का तो, एक प्रकार से, मैं नायक बन गया था और उनकी निगाह में मेरे आसपास कुछ वीरता की आभा दिखाई पड़ती थी, मेरे बारे में गाने तैयार हो गये थे और ऐसी-ऐसी अनहोनी कहानियां गढ़ ली गई थीं जिन्हें सुनकर हँसी आती थी। मेरे विरोधी भी अक्सर मेरे लिए अच्छी राय ज़ाहिर करते थे, और बुज़ुर्गाना ढंग से कहते थे कि मुझमें योग्यता या ईमानदारी की कमी नहीं है।

शायद किसी बड़े महात्मा या बड़े भारी हैवान पर ही इन सब बातों का असर नहीं होता होगा। मगर मैं तो अपनेको दोनों में से एक भी नहीं मानता। बस, ये बातें मेरे दिमाग़ में बैठ गईं। उन्होंने मुझपर थोड़ा नशा-सा चढ़ा दिया और मुझको हिम्मत और ताक़त दी। मेरा यह अन्दाज़ है, (क्योंकि बाहर से अपने-आपको समझ लेना मुश्किल काम है) कि मैं अपने काम-काज में थोड़ा स्वेच्छाचारी और कुछ डिक्टेटर-जैसा बन गया। मगर फिर भी, मेरा ख़याल है कि, मेरा अभिमान कुछ ज़्यादा नहीं बढ़ा। मुझे इतना-सा ही ख़याल हुआ कि मुझमें भी कुछ बातों की लियाक़त है और उनके सम्बन्ध में मैं ऐसा नाचीज़ नहीं हूं। मगर मैं यह भी ख़ूब जानता था कि यह कोई विलक्षण बात नहीं है, और मुझे अपनी कमज़ोरियों का भी बहुत ख़याल था। आत्म-निरीक्षण की आदत ने ही शायद मुझे ठिकाने रखने में मदद

दी और इसीसे मैं अपने सम्बन्ध की कई घटनाओं पर अनासक्त दृष्टि से ग़ौर कर सकता था। सार्वजनिक जीवन के अनुभव ने मुझे बता दिया कि लोकप्रियता तो अक्सर अवांच्छनीय व्यक्तियों के पास रहती है; वह यक़ीनन भलेपन या अक़्ल-मन्दी का ही आवश्यक चिह्न नहीं होती। तो मैं अपनी कमज़ोरियों के सबब से लोकप्रिय था, या अपने गुणों के सबब से? सचमुच मैं लोकप्रिय किस कारण से था?

इसका सबब मुझमें दिमाग़ी क़ाबिलियत का होना नहीं था; क्योंकि मुझमें दिमाग़ी क़ाबिलियत कोई ग़ैरमामूली नहीं थी और कम-से-कम इसीसे लोकप्रियता नहीं मिलती; और 'क़ुर्बानी' कहे जानेवाले कामों से भी मेरी लोकप्रियता नहीं थी; क्योंकि यह सभी जानते हैं कि हमारे ही समय में हिन्दुस्तान में सैकड़ों-हज़ारों आदमियों ने मुझसे बेहद ज़्यादा तक़लीफ़ें उठाई हैं और जानतक की बलि दे दी है। मैं बड़ा वीर हूं, यह शोहरत बिल्कुल वाहियात है। मैं अपने-आपको वीरोचित बिल्कुल नहीं समझता और जीवन में वीरों का-सा ढंग या उसकी नक़ल और दिखावा करना मुझे बेवक़ूफ़ी की बात मालूम होती है। जहांतक रोमांस का संबंध है, मुझे कहना चाहिए कि मैं उसके पीछे दौड़नेवाले लोगों में नहीं हूं। यह सही है कि मुझमें कुछ शारीरिक और दिमाग़ी हिम्मत है, मगर उसकी बुनियाद तो है शायद अभिमान—अपना, अपने ख़ानदान का और अपने राष्ट्र का अभिमान, और किसीके भी दबाव से कुछ न करने की वृत्ति।

मुझे अपने सवाल का सन्तोषजनक जवाब नहीं मिला। तब मैं दूसरी ही तरह से उसकी खोज में लग गया। मुझे पता लगा कि मेरे पिताजी और मेरे बारे में एक बहुत प्रचलित दंतकथा यह है कि हम हर हफ़्ते अपने कपड़े पैरिस की किसी लौण्ड्री में धुलने को भेजते थे। हमने कई बार इसका खण्डन किया है, फिर भी यह बात प्रचलित है ही। इससे ज़्यादा अजीब वाहियात बात की कल्पना भी मैं नहीं कर सकता। अगर कोई इतना मूर्ख हो कि वह ऐसे झूठे बड़प्पन के लिए इस तरह की फ़िज़ूलख़र्ची करे, तो मैं समझता हूं कि वह अव्वल दर्जे का मूर्ख ही समझा जायगा।

इसी तरह से एक दूसरी दन्तकथा, जो कि इन्कार करने पर भी प्रचलित है, यह है कि मैं प्रिंस ऑफ़ वेल्स के साथ स्कूल में पढ़ता था। कहा जाता है कि जब १९२१ में वह हिन्दुस्तान आये तब उन्होंने मुझे बुलाया था; पर उस वक़्त मैं जेल

में था। सच बात तो यह है कि मैं न तो स्कूल में ही उनके साथ पढ़ा हूं और न मुझे उनसे मिलने या बात करने का ही मौक़ा हुआ है।

मेरे कहने का मतलब यह नहीं कि मेरी प्रसिद्धि या लोकप्रियता इन या ऐसी कहानियों की बदौलत ही है। उसकी ज़्यादा मज़बूत बुनियाद भी हो सकती है। मगर इसमें शक नहीं कि इसमें बड़प्पन की बात बहुत शामिल है, जैसा कि इन कहानियों से ज़ाहिर है। कम-से-कम भावना यह है कि पहले मैं बड़े-बड़े लोगों से मिलता-जुलता था, और बड़े ऐशो-आराम की ज़िन्दगी गुज़ारता था, और फिर मैंने वह सब त्याग दिया। हिन्दुस्तानी दिमाग़ त्याग को बहुत अच्छा समझता है। मगर इस कारण से मेरी नामवरी हो, यह मुझे बिल्कुल अच्छा नहीं लगता। मुझे निष्क्रिय गुणों की बनिस्बत सक्रिय गुण ज़्यादा पसन्द हैं, और केवल त्याग और बलिदान को मैं अच्छा नहीं समझता। मैं उसकी दूसरी ही दृष्टि से क़दर करता हूं—यानी मानसिक और आध्यात्मिक शिक्षा के तौर पर, जैसे कि कसरती आदमी को अच्छी तन्दुरुस्ती रखने के लिए सादा और नियमित जीवन रखना ज़रूरी है। और जो लोग महान् कार्यों में पड़ना चाहते हैं उनमें कठिन आघातों के सहन करने और धैर्य की क्षमता होना ज़रूरी है। मगर जीवन की त्यागमय दृष्टि, जीवन के निषेध, उसके आनन्दों और अनुभूतियों से भयपूर्वक दूर रहने की तरफ़ मुझे रुचि या आकर्षण नहीं है। मैंने किसी भी चीज़ का, जिसका मैंने वास्तव में महत्त्व समझा, जान-बूझकर त्याग नहीं किया है; मगर हां, चीज़ों का मूल्य हमेशा समान नहीं रहा करता है।

उन महिला मित्र ने मुझसे जो सवाल पूछा था उसका जवाब फिर भी नहीं मिला। क्या मैं भीड़ की इस वीर-पूजा से गर्व अनुभव नहीं करता? मैं तो इसे नापसन्द करता था, और इससे दूर भाग जाना चाहता था। मगर फिर भी मैं इसका आदी हो गया था। और जब यह बिल्कुल न होती थी तो इसका अभाव भी कुछ खटकता था। दोनों ही तरह से मुझे सान्त्वना नहीं थी। मगर कुल मिलाकर भीड़ ने मेरी एक अन्दरूनी ज़रूरत पूरी कर दी। मैं उनपर असर डाल सकता हूं, और उनसे काम करवा सकता हूं, इस ख़याल से मुझमें उनके दिल और दिमाग़ पर अधिकार होने की एक भावना आ गई थी। इससे किसी हद तक सत्ता की मेरी इच्छा पूरी होती थी। और वे लोग तो अपनी तरफ़ से मुझपर एक अजीब तरह का जुल्म करते थे, क्योंकि उनके विश्वास और प्रेम से मेरा अन्तस्तल हिल

जाता था, और उसके जवाब में मेरे दिल में भी भावुकता का संचार हो जाता था। हालांकि मैं व्यक्तिवादी हूं, मगर कभी-कभी मेरे व्यक्तिवाद की दीवारें भी टूट-सी जाती थीं, और मुझे ऐसा लगता था कि इन दुखिया लोगों के साथ-साथ मुसीबतों में रहना, अकेले छुटकारा पा जाने की बनिस्बत अच्छा है। मगर वे दीवारें हटनेवाली न थीं, और मैं उन्हींके ऊपर से आश्चर्य-भरी आंखों से इस घटना की तरफ़ देखा करता था।

अभिमान की तह आदमी पर, चर्बी की तरह, धीरे-धीरे अनजाने चढ़ती रहती है। यह जिस आदमी पर चढ़ती है उसे पता नहीं चलता कि रोज़ाना वह कितनी चढ़ती जाती है। मगर खुशक़िस्मती से इस पागल दुनिया की सख्त चोटों से वह कम भी हो जाती है या बिल्कुल उतर भी जाती है। हिन्दुस्तान में तो पिछले वर्षों में हमपर इन सख्त चोटों की कोई कमी नहीं रही है। ज़िन्दगी का स्कूल हमारे लिए बहुत सख्त रहा है, और कष्ट-सहन दरअसल बड़ा सख्त काम लेनेवाला मास्टर है।

एक दूसरी बात में भी मैं खुशक़िस्मत रहा हूं। मेरे परिवार के लोग, दोस्त और साथी ऐसे रहे हैं, जिन्होंने मुझे ठीक निगाह रखने में और अपना दिमाग़ बिगड़ने न देने में मदद दी है। सार्वजनिक उत्सवों, म्युनिसिपैलिटियों, स्थानिक बोर्डों और दूसरी सार्वजनिक संस्थाओं की तरफ़ से अभिनन्दनों और जुलूसों वग़ैरा से मेरे दिमाग़, मेरी विनोदप्रियता और वास्तविकता की भावना पर बड़ा बोझ पड़ता था। इन अवसरों पर बहुत लम्बी-चौड़ी और शानदार भाषा इस्तेमाल होती थी, और हरेक आदमी इतना गम्भीर और पाक-साफ़ बनता था कि इस सबको देखकर मेरी यह ज़बरदस्त इच्छा होती थी कि मैं हँस पड़ूं या अपनी ज़बान बाहर निकाल दूं या सिर के बल उल्टा खड़ा हो जाऊं; सिर्फ़ इसलिए कि उस गम्भीर सम्मेलन में लोगों के चेहरों पर इसका कैसा धक्का लगता है और क्या असर होता है, यह मैं देखूं और इसका मज़ा लूं। मगर खुशक़िस्मती से अपनी प्रसिद्धि के कारण और इसलिए कि हिन्दुस्तान के सार्वजनिक जीवन में गम्भीरता ही आदरणीय समझी जाती है, मैं अपनी इस अनियन्त्रित इच्छा को रोक लेता था, और आमतौर पर ठीक औचित्य से ही बर्ताव करता था। मगर हमेशा नहीं। किसी-किसी बड़ी सभा में, या ज्यादातर जुलूसों में, जिनसे मैं बहुत परेशान हो जाता हूं, मैंने कभी-कभी इसका प्रदर्शन भी किया है। कभी-कभी हमारे

सम्मान में निकाले जानेवाले जुलूसों को मैं अचानक छोड़ देता था और भीड़ में अनजाने शामिल हो जाता था। मैं अपनी पत्नी को या और किसीको जुलूस की गाड़ी में ही बैठा छोड़ देता था।

अपनी भावनाओं को हमेशा दबाये रखने और लोगों के सामने किसी ख़ास ढंग से बर्ताव करने की इस कोशिश के कारण दिमाग़ पर बड़ा ज़ोर पड़ता है, और नतीजा यह होता है कि सार्वजनिक अवसरों पर आदमी गम्भीर चेहरा बनाये रहता है। शायद इसीलिए एक हिन्दी मासिक-पत्रिका के लेख में एक बार लिखा गया था कि मै हिन्दू-विधवा की तरह हूँ। हालांकि मैं पुराने ढंग की हिन्दू-विधवा की बड़ी इज़्ज़त करता हूं, फिर भी मुझे इस वर्णन से धक्का लगा। लेखक का ज़ाहिरा उद्देश्य स्पष्टतया मेरे कुछ गुणों की, मेरे नम्रतापूर्वक समर्पण, त्याग, और कभी हँसी-मज़ाक किये बिना हमेशा काम में लगे रहने की तारीफ़ करना था। मेरा तो ख़याल था कि, मुझमें अधिक क्रियाशीलता और तेज़ी है, और मज़ाक़ करने और हँसने की योग्यता भी है। और निःसन्देह मैं चाहता हूं कि ये गुण हिन्दू-विधवाओं में भी चाहिए। गांधीजी ने एक बार एक मिलनेवाले से कहा था कि अगर मुझमें विनोदशीलता न होती तो मैं शायद आत्महत्या या ऐसा ही कुछ कर बैठता। मैं इतनी हदतक तो जाना नहीं चाहता, मगर ज़िन्दा रहना मेरे लिए तो प्रायः असह्य हो जाता, अगर मेरी ज़िन्दगी में कुछ लोग हँसी-मज़ाक़ की कुछ मात्रा न डालते रहते।

मेरी लोकप्रियता पर और मुझे मिलनेवाले बड़े-बड़े मानपत्रों पर, जिनमें (जैसा कि वास्तव मे हिन्दुस्तान के सभी मानपत्रों में होता है) बड़ी चुनी हुई और लच्छेदार भाषा और लम्बी-चौड़ी तारीफ़ भरी रहती थी, मेरे परिवार के और मित्र-मण्डली के लोग बड़ा मज़ाक़ उड़ाया करते थे। अतिशयोक्ति और अलंकार-पूर्ण शब्दों और विशेषणों को, जो साधारणतया राष्ट्रीय आन्दोलन के सभी प्रमुख व्यक्तियों के लिए काम में लाये जाते थे, मेरी पत्नी और बहनें और दूसरे लोग पकड़ लेते थे और उनका मौक़े-बे-मौक़े मेरा किसी तरह का लिहाज़ किये बिना प्रयोग करते रहते थे। वे मुझे 'भारत-भूषण' और 'त्याग-मूर्ति' आदि कहा करते थे, और इस विनोदपूर्ण व्यवहार से मुझे भी शांति मिलती थी, और उन गम्भीर सार्वजनिक सभाओं की थकावट, जहां मुझे बहुत शिष्टता का बर्ताव दिखाना पड़ता था, धीरे-धीरे दूर हो जाती थी। इस मज़ाक़ में मेरी छोटी-सी लड़की भी शामिल हो

जाती थी। सिर्फ़ मेरी माताजी ही इस बात पर ज़ोर दिया करती थीं कि मुझसे अदब का व्यवहार किया जाय। अपने प्यारे बेटे के साथ ज़्यादा मज़ाक़ या दिल्लगी होने का वह कभी समर्थन नहीं करती थीं। इससे मेरे पिताजी का भी कुछ मनोरंजन हो जाता था। वह अपने विचारों और भावों को चुपचाप प्रदर्शित करने का एक ख़ास तरीक़ा रखते थे।

मगर इन नारे लगानेवाले मजमों, बेलुत्फ़ और थकानेवाले सार्वजनिक उत्सवों और बेहद बहसों और राजनीति के धूम-धक्कों का मुझपर सिर्फ़ ऊपरी असर होता था, हालांकि यह असर कभी-कभी तेज़ और गहरा होता था। मगर मेरा असली संघर्ष मेरे अन्दर चल रहा था। मेरे विचारों और इच्छाओं और निष्ठाओं में संघर्ष चल रहा था। मेरे मस्तिष्क की अन्तः भावनाएं बाहरी परिस्थितियों से झगड़ रही थीं। मेरी अन्तर्ज्वाला बुझी न थी। मैं एक लड़ाई का मैदान बन गया था, जहां तरह-तरह की ताक़तें एक-दूसरे को जीत लेने की कोशिश कर रही थीं, मैं इससे छुटकारा चाहता था। मैंने सामंजस्य और चित्त की समता ढूंढ़ने की कोशिश की, और इसी प्रयत्न में लड़ाई में कूद पड़ा। इससे मुझे शान्ति मिली। बाहरी संघर्ष ने भीतरी संघर्ष की तेज़ी को कम कर दिया।

मैं जेल में बैठा-बैठा ये सब क्यों लिख रहा हूं ? मैं चाहे जेल में होऊं या जेल के बाहर, लेकिन अब भी मैं उसीकी तलाश में हूं; और मैं अपने पिछले विचार और अनुभव इस आशा से लिख रहा हूं कि इससे मुझे शान्ति और मानसिक सन्तोष मिल सके।

: २९ :

सविनय आज्ञा-भंग शुरू

स्वाधीनता-दिवस, २६ जनवरी १९३०, आया और बिजली की चमक की तरह उसने हमें बता दिया कि देश में सरगर्मी और उत्साह है। उस दिन हर जगह बड़ी-बड़ी सभाएं हुईं जिनमें बग़ैर भाषणों या विवेचनों के, शान्ति और गम्भीरता से, लोगों ने आज़ादी की प्रतिज्ञा[1] ली। सभाएं और जुलूस बड़े प्रभावशाली थे। गांधीजी को इस दिवस के प्रदर्शन से आवश्यक बल मिल गया और जनता की नब्ज़ की ठीक पहचान रखने के कारण उन्होंने समझ लिया कि लड़ाई छेड़ने का यह ठीक वक़्त है। इसके बाद तो घटनाएं एक के बाद एक इस तरह घटित होने लगीं, जैसा कि किसी नाटक में रस की पराकाष्ठा होते समय होता है।

जैसे-जैसे सविनय भंग नजदीक आता गया और लोगों में जोश बढ़ता गया, वैसे-वैसे हमारे खयालात इस बात की तरफ़ गये कि किस तरह १९२१-२२ का आन्दोलन चला था। और चौरी-चौरा के बाद वह एकाएक स्थगित कर दिया गया था। तब से अब देश में अनुशासन ज़्यादा था और अब लोग ज़्यादा साफ़ तौर से समझ गये थे कि यह लड़ाई किस क़िस्म की है। उसका तरीक़ा तो किसी हदतक समझ ही लिया गया था। मगर हर आदमी ने यह भी पूरी तरह महसूस कर लिया कि गांधीजी अहिंसा पर उत्कट रूप से ज़ोर देते हैं, और यह बात गांधीजी की दृष्टि से ज़्यादा ज़रूरी थी। दस साल पहले कुछ लोगों के दिमाग़ों में शायद इस बाबत शक रहा हो, मगर अब तो वैसा शक नहीं हो सकता था। फिर भी, हमें इसका पक्का विश्वास कैसे हो सकता था कि किसी स्थान पर अपने-आप या किसी षड्यन्त्र से हिंसा का कोई काण्ड न हो जायगा? और अगर ऐसी कोई घटना हुई, तो उसका हमारे सविनय भंग-आन्दोलन पर क्या असर होगा?

---

[1] देखिये परिशिष्ट नं० १।

क्या वह पहले की ही तरह अचानक बन्द कर दिया जायगा ? यही सम्भावना सबसे ज्यादा बेचैन कर रही थी।

गांधीजी ने भी शायद इस सवाल पर अपने खास ढंग से विचार किया, हालांकि जिस समस्या की उन्हें चिन्ता मालूम होती थी, जहांतक मैं कभी-कभी बातचीत करके समझ सका, वह दूसरे ही ढंग से उनके सामने उपस्थित थी।

सुधार करने के लिए अहिंसात्मक ढंग की लड़ाई करना ही उनकी दृष्टि में सच्चा उपाय था, और अगर ठीक तरह से उसपर व्यवहार किया जाय तो वही अचूक भी है। तो क्या यह कहा जाना चाहिए कि इस उपाय को व्यवहार में लाने और सफल बनाने के लिए ख़ासतौर पर कोई बहुत अनुकूल वातावरण चाहिए और अगर बाहरी हालतें इसके मुआफ़िक़ न हों तो इसको काम में नहीं लाना चाहिए ? इससे तो यह नतीजा निकलता है कि अहिंसात्मक उपाय हर हालत के लिए ठीक नहीं है, और इस तरह यह न तो सार्वभौम उपाय रह जाता है, न अचूक। मगर यह नतीजा गांधीजी के लिए असह्य था, क्योंकि उनका पक्का विश्वास था कि यह उपाय सार्वभौम भी है और अव्यर्थ भी। इसलिए बाहरी हालत के प्रतिकूल होने पर भी, और झगड़ों और हिंसा के होते रहते भी, यह उपाय अवश्य काम में आ सकता है। बदलती हुई हालतों में उसके व्यवहार का ढंग भी बदलता रह सकता है, मगर उसका बन्द किया जाना तो ख़ुद उस उपाय की विफलता को मान लेना होगा।

सम्भव है वह इस प्रकार से सोचते होंगे, मगर मैं उनके विचारों को निश्चय से नहीं कह सकता। उन्होंने हमें यह तो कुछ-कुछ बता ही दिया कि अब उनकी विचार-पद्धति में थोड़ा फ़र्क़ हो गया है, और जब सविनय भंग आयेगा, तो किसी एकाध हिंसात्मक काण्ड से उसका बन्द किया जाना ज़रूरी नहीं है। मगर यदि हिंसा किसी आन्दोलन का ही हिस्सा बन जायगी, तो वह शान्तिपूर्ण सविनय भंग-आन्दोलन न रहेगा और उसकी हलचलों को बन्द करना या बदलना पड़ेगा। इस आश्वासन से हम बहुतेरों को बहुत हद तक संतोष हुआ। अब सबके सामने बड़ा सवाल यह था, कि यह किया कैसे जाय ? शुरुआत किस तरह हो ? किस प्रकार का सविनय-भंग हम चलायें, जो कारगर हो, परिस्थिति के अनुकूल हो और जनता में लोकप्रिय हो ? इतने ही में गांधीजी ने इसकी तरकीब बताई।

नमक अचानक एक रहस्यपूर्ण और बलशाली शब्द बन गया। नमक-कर पर

हमला होना था। नमक-क़ानून को तोड़ना था। हम हैरत में पड़ गये। नमक का राष्ट्रीय संग्राम हमें कुछ अटपटा मालूम हुआ। दूसरी आश्चर्य में डालनेवाली बात हुई गांधीजी की अपनी ग्यारह बातों[1] का प्रकाशित करना। कुछ राजनैतिक और सामाजिक सुधारों की, चाहे वे अच्छे ही क्यों न हों, फ़ेहरिस्त उस समय पेश करना जबकि हम आज़ादी की दृष्टि से बात कर रहे थे, क्या मतलब रखता था? गांधीजी जब 'आज़ादी' शब्द कहते थे तो क्या उनका वही अर्थ था जो हमारा था, या क्या हम लोग अलग-अलग भाषाओं का प्रयोग कर रहे थे? मगर हमें बहस करने का मौक़ा न था, क्योंकि घटनाएं तो आगे जा रही थीं। वे हिन्दुस्तान में तो हमारी निगाहों के सामने राजनैतिक रूप में दिन-पर-दिन आगे बढ़ ही रही थीं; मगर, शायद, हम नहीं जानते थे कि वे दुनिया में भी तेज़ी से बढ़ रही थीं और दुनिया को एक भयंकर मन्दी में जकड़े हुए थीं। चीज़ों के भाव गिर रहे थे,

---

[1] सविनय भंग के शुरू होने के पहले लार्ड इर्विन ने एक भाषण दिया था, उसके जवाब में गांधीजी ने 'यंग इंडिया' में एक लेख लिखकर बताया था कि यदि सरकार कुछ शर्तों का पालन करे तो देश के लिए सविनय कानून-भंग करने का कारण न रह जाय। वे शर्तें ही ये ग्यारह बातें हैं—(१) सम्पूर्ण मद्य-निषेध। (२) रुपये की क़ीमत डेढ़ शिलिंग के बदले एक शिलिंग चार पेंस की जाय। (३) लगान पचास फ़ी सदी कम किया जाय और उसे सोलहों आना धारा-सभा के अंकुश में रक्खा जाय। (४) नमक-कर रद्द किया जाय। (५) सैनिक खर्च कम किया जाय, फ़िलहाल आधा कर दिया जाय। (६) लगान-कमी की पूर्ति बड़े अधिकारियों की तनख़्वाह पचास फ़ी सदी कम करके की जाय। (७) विदेशी कपड़े पर बहिष्कार-कर लगाया जाय। (८) समुद्र-तट पर देशी जहाज़ों के चलने का क़ायदा बनाया जाय। (९) हिंसा-काण्ड के अपराध के सिवा शेष सब राजनैतिक क़ैदियों को छोड़ दिया जाय, तमाम राजनैतिक मुक़दमे वापस लिये जायं; १२४ अ धारा, और १८१८ का क़ानून रद्द किया जाय और जिन्हें देश-निकाला दिया गया है उनके लिए दरवाज़ा खोल दिया जाय। (१०) खुफ़िया विभाग बन्द कर दिया जाय या लोक-नियन्त्रण में रक्खा जाय। (११) आत्म-रक्षा के लिए बन्दूक आदि रखने का परवाना दिया जाय और इस विषय को लोक-नियन्त्रण में रक्खा जाय। —अनु०

और शहर के रहनेवालों ने समझा कि अब ख़ुशहाली का ज़माना आ रहा है। मगर किसानों ने तो इसमें खतरा ही देखा।

इसके बाद गांधीजी का वाइसराय से पत्र-व्यवहार हुआ, और साबरमती-आश्रम से दाण्डी की नमक-यात्रा शुरू हुई। दिन-ब-दिन इस यात्रा-दल के बढ़ने का हाल जैसे-जैसे लोग पढ़ते थे, देश में जोश का पारा बढ़ता जाता था। अहमदाबाद में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की बैठक इस लड़ाई की बाबत, जो प्रायः हमारे सिर पर आ चुकी थी, आख़िरी व्यवस्था करने के लिए हुई। इस बैठक में हमारे संग्राम का नेता मौजूद नहीं था, क्योंकि वह तो अपने यात्रा-दल के साथ समुद्र की ओर बढ़ा जा रहा था, और उसने वहां से लौटने से इन्कार कर दिया। अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने योजना बनाई कि अगर गिरफ़्तारियां हों तो क्या-क्या किया जाना चाहिए, और यदि यह कमेटी फिर बैठक न कर सके तो उसकी तरफ़ से कार्य-समिति के गिरफ़्तारशुदा लोगों की जगह ख़ुद नये मेम्बर नियुक्त कर देने और अपने स्थान पर ऐसे ही अधिकार रखनेवाले अपने अनुगामी को नामज़द कर देने के बड़े-बड़े अधिकार सभापति को दिये गए। प्रान्तीय और स्थानीय कांग्रेस कमेटियों ने भी अपने-अपने सभापतियों को ऐसे ही अधिकार दे दिये।

इस तरह से वह ज़माना शुरू हुआ जबकि 'डिक्टेटर' कहे जानेवाले लोग क़ायम हो गये और उन्होंने कांग्रेस की तरफ़ से संग्राम का संचालन किया। इसपर भारत-मन्त्री और वाइसराय और गवर्नरों ने बड़ी नफ़रत ज़ाहिर की और वे चीख़-चीख़कर कहने लगे कि कांग्रेस कितनी ख़राब और पतित हो गई है कि वह डिक्टेटरी को मानने लगी है, जबकि वे ख़ुद तो मानो प्रजातन्त्रवाद के पक्के माननेवाले ही थे! कभी-कभी हिन्दुस्तान के नरम-दली अख़बारों ने भी हमें प्रजातन्त्र के लाभों का उपदेश दिया। हम यह सब ख़ामोशी से (क्योंकि हम तो जेल में थे) और हैरत में होकर सुनते थे। बेशरमी और मक्कारी इससे ज़्यादा क्या हो सकती थी! इधर तो हिन्दुस्तान पर एकतन्त्री डिक्टेटर द्वारा बल पूर्वक शासन हो रहा था, जिसमें आर्डिनेन्स-क़ानून बन रहे थे और हर तरह की नागरिक स्वतन्त्रता दबाई जा रही थी, और उधर हमारे शासक प्रजातन्त्रवाद की भली-भली बातें कर रहे थे। और क्या सामान्य अवस्था में भी, हिन्दुस्तान में प्रजातन्त्र की छाया भी कहीं थी? अंग्रेज़ी हुकूमत अपनी ताक़त और हिन्दुस्तान में स्थापित स्वार्थों की हिफ़ाज़त करती और उसकी सत्ता को हटानेवालों का दमन करती, यह तो

बेशक उसके लिए क़ुदरती बात थी। मगर उसका यह कहना कि यह सब प्रजातन्त्री तरीक़ा है, एक ऐसी बात है जो अगली पीढ़ियों के ग़ौर करने और तारीफ़ करने के लिए लिखकर रख ली जाय।

कांग्रेस ऐसी हालत में जानेवाली थी, जब उसका मामूली ढंग पर काम करना ग़ैर-मुमकिन था; वह गैर-कानूनी करार दे दी जानेवाली थी, और गुप्त रूप के सिवा और किसी ढंग से उसकी कमेटियां किसी परामर्श या किसी काम के लिए इकट्ठी नहीं हो सकती थीं। हमने छुपाव को बढ़ावा नहीं दिया, क्योंकि हम अपनी लड़ाई को बिल्कुल खुली रखना चाहते थे, जिससे कि हमारा तर्ज ऊंचा रहे और हम जनता पर असर डाल सकें। क्योंकि छुपाव से भी कोई ज़्यादा काम नहीं चलता। केन्द्र में, प्रान्तों में और स्थानीय हल्कों में हमारे सब बड़े-बड़े स्त्री-पुरुष तो गिरफ़्तार होनेवाले ही थे। फिर कौन आगे काम चलाता? इस सूरत में हमारे सामने एक ही रास्ता था, जिस तरह लड़ाई करती हुई फौज में होता है, कि पुराने सेनानायकों के हटते ही नये सेनानायक बनाने की व्यवस्था करना। लड़ाई के मैदान में बैठकर कमिटियों की बैठकें करना हमारे लिए नामुमकिन था। वास्तव में, कभी-कभी ऐसा हमने किया भी था, मगर इसका उद्देश्य और अनिवार्य नतीजा यह होता था कि सारी कमेटी एक-साथ गिरफ़्तार हो जाती। हमें यह भी सुभीता नहीं था कि लड़नेवाली लाइनों के पीछे जनरल स्टाफ सुरक्षित बैठा रहता, या कहीं दूसरी जगह और भी ज़्यादा हिफ़ाज़त से देश का मन्त्री-मण्डल बैठा रहता। यह लड़ाई ही इस तरह की थी कि हमारे जनरल स्टाफ़ और मन्त्री-मण्डलों को अपने-आपको सबसे आगे और खुली जगहों में रखना पड़ता था, और वे तो सब शुरू में ही गिरफ़्तार कर लिये गए थे। फिर हमने अपने 'डिक्टेटरों' को भी क्या सत्ता दे दी थी? लड़ाई चालू रखने के राष्ट्र के दृढ़ निश्चय के प्रतीक-रूप में उन्हें सामने रहने का यह सम्मान दिया जाता था। मगर असल में तो उन्हें ज़्यादातर खुद जेल में चले जाने की ही सत्ता मिली थी। वे तभी काम करते थे जब किसी बड़ी और अबाध सत्ता के कारण उनकी कमेटी, जिसके वह प्रतिनिधि थे, मीटिंग नहीं कर सकती थी; और जब उस कमेटी की बैठक हो सकती, तो डिक्टेटर की जो कुछ भी सत्ता थी वह समाप्त हो जाती थी। डिक्टेटर किसी बुनियादी सवाल या सिद्धान्त के बारे में कुछ फैसला नहीं कर सकता था। वह तो आन्दोलन की छोटी-छोटी और ऊपरी बातों के विषय में ही कुछ कर सकता था। कांग्रेस की

'डिक्टेटरशिप' तो वास्तव में जेल पहुंचने की सीढ़ी थी। और रोज़-रोज़ वही बात होती रही। पुराने लोग हटते जाते थे और उनकी जगह नये लोग आते जाते थे।

इस तरह अपनी आखिरी तैयारियां करके, अहमदाबाद में हमने अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के अपने साथियों से विदा मांगी; क्योंकि यह किसीको मालूम न था कि आगे हम कब और कैसे इकट्ठे हो सकेंगे, या इकट्ठे हो भी सकेंगे या नहीं? हम अपनी-अपनी जगहों पर जाकर अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के आदेशों के अनुसार अपनी-अपनी जगह के इन्तज़ाम को आखिरी तौर पर ठीक-ठीक करने और, जैसा कि सरोजिनी नायडू ने कहा, जेल-यात्रा के लिए बिस्तर बांधने को जल्दी-जल्दी चल दिये।

लौटते वक़्त पिताजी और मैं गांधीजी से मिलने गये। वह अपने यात्री-दल के साथ जम्बूसर में थे। वहां हम उनके साथ कुछ घंटे रहे और फिर वह अपने दल के साथ समुद्र-यात्रा के दूसरे पड़ाव के लिए पैदल चल पड़े। वह हाथ में डण्डा लिये हुए, अपने अनुयायियों के आगे-आगे जा रहे थे। उनके क़दम मज़बूत थे और चेहरे पर शान्ति तथा निर्भयता छिटकी पड़ती थी। इस तरह उस समय मैंने उनके आखिरी दर्शन किये। वह एक दिल हिला देनेवाला दृश्य था।

जम्बूसर में मेरे पिताजी ने गांधीजी से सलाह करके यह तय किया था कि वह इलाहाबाद का अपना पुराना मकान राष्ट्र को दान कर देंगे, और उसका नाम बदलकर 'स्वराज-भवन' रख देंगे। इलाहाबाद लौटकर उन्होंने उसकी घोषणा कर दी, और कांग्रेसवालों को उसका क़ब्ज़ा भी दे दिया। उस बड़े मकान का हिस्सा अस्पताल बना दिया गया। उस वक़्त तो वह उसकी कानूनी कार्रवाई को पूरी न कर सके, पर डेढ़ साल बाद मैंने उनकी इच्छा के अनुसार उस मकान का एक ट्रस्ट बना दिया।

अप्रैल आया। गांधीजी समुद्र-तट पर पहुंच गये और हम नमक-क़ानून को तोड़कर सविनय-भंग करने की उनकी आज्ञा की प्रतीक्षा करने लगे। कई महीनों से हम अपने स्वयंसेवकों को क़वायद की तालीम दे रहे थे, और कमला और कृष्णा (मेरी पत्नी और बहन) भी उनमें शामिल हो गई थीं और उन्होंने इस काम के लिए मर्दाना लिबास धारण किया था। स्वयंसेवकों के पास कोई भी हथियार, लाठियां तक, न थीं। उनको तालीम देने का मक़सद यह था कि वे अपने काम में ज्यादा योग्य और कुशल हो जायं और बड़ी-बड़ी भीड़ों को नियंत्रण में रख

सकें। राष्ट्रीय सप्ताह, १९१९ के सत्याग्रह-दिवस से लेकर जलियांवाला बाग़ तक की घटनाओं की यादगार में, हर साल मनाया जाता है, और छह अप्रैल इसी सप्ताह का पहला दिन था। इसी दिन गांधीजी ने दांडी में समुद्र के किनारे नमक-क़ानून तोड़ा, और तीन-चार दिन बाद सारे कांग्रेस-संगठनों को इजाज़त दे दी गई कि वे भी नमक-क़ानून तोड़ें और अपने-अपने क्षेत्र में सविनय आज्ञा-भंग शुरू कर दें।

ऐसा मालूम हुआ कि जैसे कोई बटन दबा दिया गया; और अचानक सारे देश में, शहरों में और गांवों में, जिधर देखो रोज़ नमक बनाने की ही धूम फैल गई। नमक बनाने के लिए कई अजीब-अजीब तरकीबे निकाली गई। इस बारे में हमारी जानकारी बहुत ही थोड़ी थी, इसलिए जहां भी इस बारे में कुछ भी लिखा मिला वह हमने पढ़ डाला, और इस बाबत जानकारी देने के लिए कई पर्चियां प्रकाशित कीं, और बर्तन और कढ़ाइयां इकट्ठी की, और अन्त में एक भद्दी-सी चीज़ बना ही डाली, जिसे हम बड़ी बहादुरी से उठाकर दिखाते और अक्सर बहुत ऊंची कीमत पर नीलाम भी करते थे। वह अच्छी चीज़ है या बुरी, इसका सचमुच कोई महत्त्व न था; क्योंकि ख़ास चीज़ तो उस बेहूदे नमक-क़ानून को तोड़ना था। इसमें हम ज़रूर कामयाब हुए, चाहे हमारा बनाया हुआ नमक कितना भी ख़राब क्यों न हो। जब हमने देखा कि लोगों में उत्साह उमड़ रहा है, और नमक बनाना जंगली आग की तरह चारों तरफ़ फैल रहा है, तो हमें कुछ शर्म मालूम हुई; क्योंकि जब गांधीजी ने इस तरीक़े की तजवीज़ पहले-पहल रक्खी थी तब हमने उसकी कामयाबी में शक किया था। हमें ताज्जुब होता था कि इस व्यक्ति में लोगों पर असर डालने और उनसे संगठित रूप में काम करवाने की कितनी अद्भुत सूझ है।

मैं चौदह अप्रैल को गिरफ़्तार हो गया, जबकि मैं रायपुर (मध्यप्रान्त) की एक कान्फ्रेंस में शामिल होने के लिए रेलगाड़ी पर सवार हो रहा था। उसी दिन जेल में मेरा मुकदमा भी हो गया, और मुझे नमक-क़ानून के मातहत छः महीने की सज़ा दी गई। अपनी गिरफ़्तारी की सम्भावना से मैंने (अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी द्वारा दी गई नई सत्ता के अनुसार) पहले ही अपनी अनुपस्थिति में कांग्रेस के सभापति-पद के लिए गांधीजी को नामज़द कर दिया था, और अगर वह मंज़ूर न करें तो, मेरी दूसरी नामज़दगी पिताजी के लिए थी। जैसा कि मेरा ख़याल था, गांधीजी राज़ी न हुए, और इसलिए पिताजी ही कांग्रेस के स्थानापन्न

सभापति बने। उनकी तन्दुरुस्ती ठीक नहीं थी, फिर भी वह बड़े ही जोश-ख़रोश से लड़ाई में कूद पड़े। उन शुरू के महीनों में उनके ज़बरदस्त संचालन और अनुशासन से आन्दोलन को बहुत लाभ हुआ। आन्दोलन को तो बहुत लाभ हुआ, मगर इससे उनकी रही-सही तन्दुरुस्ती और शक्ति बिल्कुल चली गई।

उन दिनों बड़ी सनसनी पैदा करने वाले समाचार आया करते थे—जुलूसों का निकलना, लाठी-प्रहारों का होना और गोलियां चलना, नामी-नामी आदमियों की गिरफ़्तारियों पर अक्सर हड़तालें होना, पेशावर-दिवस, गढ़वाली-दिवस आदि का ख़ासतौर पर मनाया जाना वग़ैरा। उस वक़्त तो विदेशी कपड़े और तमाम अंग्रेज़ी माल का पूरा-पूरा बहिष्कार किया गया था। जब मैंने सुना कि मेरी बूढ़ी माताजी और बहनें भी गरमी की तेज़ धूप में विदेशी कपड़े की दूकानों के सामने धरना देने के लिए खड़ी रहती हैं, तो इसका मेरे दिल पर बड़ा गहरा असर हुआ। कमला ने भी यह काम किया। मगर उसने कुछ और ज़्यादा भी किया। मेरा ख़याल था कि कितने बरसों से मैं उसे बहुत अच्छी तरह जानता हूं; मगर उसने इस आन्दोलन के लिए इलाहाबाद शहर और ज़िले में इतनी शक्ति और निश्चय से काम किया कि मैं भी दंग रह गया। उसने अपने गिरते हुए स्वास्थ्य की बिल्कुल परवाह नहीं की। वह सारे दिन धूप में घूमा करती थी और उसने संगठन की बड़ी योग्यता का परिचय दिया। मैंने इसका कुछ-कुछ हाल जेल में सुना था। बाद में जब पिताजी भी वहां मेरे पास आ गये तब उन्होंने मुझे बताया कि वह कमला के काम की, ख़ासकर उसकी संगठन-शक्ति की, कितनी ज़्यादा सराहना करते थे। पिताजी मेरी माताजी का या लड़कियों का तेज़ धूप में इधर-उधर जाना पसन्द नहीं करते थे; मगर सिवा सिर्फ़ कभी-कभी ज़बानी मना करने के उन्होंने उन्हें रोका नहीं।

उन शुरू के दिनों में जो ख़बरें हमारे पास आया करती थीं, उनमें से सबसे बड़ी ख़बर २३ अप्रैल की पेशावर की घटना और बाद में सारे सीमाप्रान्त में होने-वाली घटनाएं थी। हिन्दुस्तान मे कहीं भी मशीनगनों की गोलियों के सामने इस प्रकार अनुशासनपूर्ण और शान्तिपूर्ण हिम्मत दिखाई जाती, तो उससे सारा देश थर्रा उठता। मगर सीमाप्रान्त के लिए तो यह घटना और भी ज़्यादा महत्त्व रखती थी, क्योंकि पठान लोग हिम्मत के लिए तो मशहूर थे, मगर शान्तिपूर्ण स्वभाव के लिए मशहूर नहीं थे। इन्हीं पठानों ने वह मिसाल क़ायम कर दी जो हिन्दुस्तान

में अद्वितीय थी। सीमाप्रान्त में ही वह मशहूर घटना हुई जिसमे गढ़वाली सिपाहियों ने निःशस्त्र जनता पर गोली चलाने से इन्कार कर दिया। उन्होंने इसलिए इन्कार कर दिया कि सच्चे सिपाहियों को निहत्थी भीड़ पर गोली चलाना नापसन्द होता है, और इसलिए भी कि भीड़ के लोगों से उन्हें सहानुभूति थी। मगर केवल सहानुभूति ही आमतौर पर सिपाही को अपने अफ़सर की हुकूम-उदूली जैसी खतरनाक कार्रवाई के लिए प्रेरित नहीं कर सकती, क्योंकि इसका बुरा नतीजा उसे मालूम रहता है। गढ़वालियों ने यह बात शायद इसलिए की कि उन्हें (और दूसरी भी कुछ रेजीमेण्टों को, जिनकी हुकुम-उदूली की खबर फैल नहीं पाई) यह ग़लत खयाल हो गया था कि अंग्रेज़ों की हुकूमत तो अब जाने ही वाली है। जब सिपाहियों में ऐसा खयाल पैदा हो जाता है तभी वे अपनी सहानुभति और इच्छा के अनुसार काम करने की हिम्मत दिखाते हैं। शायद कुछ दिनों या हफ़्तों तक आम हलचल और सविनय-भंग से लोगों में यह खयाल पैदा हो गया था कि अंग्रेज़ी हुकूमत के आखिरी दिन आ गये है, और इसका असर कुछ फ़ौज पर भी पड़ा, मगर जल्दी ही यह भी ज़ाहिर हो गया कि निकट-भविष्य में ऐसा होने की सूरत नहीं है, और फिर फ़ौज में हुकूम-उदूली नहीं हुई। फिर तो इस बात का भी खयाल रक्खा गया कि सिपाहियों को ऐसी दुविधा में डाला ही न जाय।

उन दिनों बड़ी-बड़ी आश्चर्यजनक बातें हुईं; मगर सबसे अधिक आश्चर्य की बात थी स्त्रियों का राष्ट्रीय संग्राम में भाग लेना। स्त्रियां बड़ी तादाद में अपने घर के घेरों से बाहर निकल आईं, और हालांकि उन्हें सार्वजनिक कार्यों का अभ्यास न था फिर भी वे लड़ाई में पूरी तरह कूद पड़ीं। विदेशी कपड़े और शराब की दूकानों पर धरना देने का काम तो उन्होंने बिल्कुल अपना ही कर लिया। सभी शहरों में सिर्फ़ स्त्रियों के ही भारी-भारी जुलूस निकाले गये, और आमतौर पर स्त्रियां पुरुषों की बनिस्बत ज्यादा मज़बूत साबित हुईं। अक्सर प्रान्तों में या स्थानीय क्षेत्रों में वे 'कांग्रेस-डिक्टेटर' भी बनती थीं।

अकेला नमक-क़ानून ही नहीं तोड़ा गया बल्कि दूसरी दिशाओं में भी सविनय-भंग होने लगा। वाइसराय द्वारा कई आर्डिनेंस—जिनमें कई कामों पर प्रतिबन्ध लगाये गये थे—निकाले जाने से भी इस काम में मदद मिली। जैसे-जैसे ये आर्डिनेन्स और प्रतिबन्ध बढ़ते गये, वैसे-वैसे उन्हें तोड़ने के मौक़े भी बढ़ते गये। और सविनय-भंग की यह शकल हो गई कि आर्डिनेंस से जिस काम की मुमानियत

की जाती थी वही काम किया जाता था। प्रारम्भिक सूत्रपात निश्चित रूप से कांग्रेस और लोगों के हाथ में रहा था, और जब एक आर्डिनेन्स से गवर्नमेण्ट की निगाह में परिस्थिति नहीं संभली तब वाइसराय ने और नये-नये आर्डिनेन्स निकाले। कांग्रेस कार्य-समिति के कई मेम्बर गिरफ़्तार कर लिये गए थे, मगर उनकी जगह नये मेम्बर नियुक्त कर लिये गए, और इस तरह वह काम करती ही रही। हर सरकारी आर्डिनेन्स के मुक़ाबले में कार्य-समिति अपना प्रस्ताव पास करती थी, और उस आर्डिनेन्स के लिए क्या करना चाहिए इसके लिए आज्ञाएं जारी करती थी। इन आज्ञाओं का देश में आश्चर्यजनक समानता से पालन होता था। हां, अलबत्ता, पत्र-प्रकाशन सम्बन्धी आज्ञा का यथारीति पालन नहीं हुआ।

जब प्रेस को ज़्यादा नियन्त्रित करने और समाचारपत्रों से ज़मानत मांगने के बारे में आर्डिनेन्स निकला, तब कार्य-समिति ने राष्ट्रीय समाचारपत्रों से यह कहा कि वे ज़मानत देने से इन्कार कर दें और यदि आवश्यक हो तो प्रकाशन ही बन्द कर दें। अख़बारवालों के लिए यह एक कड़वी घूंट थी, क्योंकि उसी समय तो लोगों में ख़बरों की बहुत ज्यादा मांग थी। फिर भी कुछ नरम-दल के अख़बारों को छोड़कर ज्यादातर अख़बारों ने अपना प्रकाशन बन्द कर दिया, और नतीजा यह हुआ कि तरह-तरह की अफ़वाहें फैलने लगीं। मगर वे ज्यादा वक़्त तक न टिक सके। प्रलोभन बहुत भारी था, और अपना धन्धा नरम-दल के अख़बार छीन लिये जा रहे थे यह देखकर उन्हें बुरा भी मालूम हुआ। इसलिए उनमें से ज़्यादातर फिर अपना प्रकाशन करने लगे।

गांधीजी ५ मई को गिरफ़्तार कर लिये गए थे। उनकी गिरफ़्तारी के बाद समुद्र के पश्चिमी किनारे पर नमक के कारखानों और गोदामों पर धावे किये गए। इन धावों में पुलिस की बेरहमी की बहुत दर्दनाक घटनाएं हुई। उन दिनों भारी-भारी हड़तालों, जुलूसों और लाठी-प्रहारों के कारण बम्बई सबसे ज़्यादा प्रसिद्ध हो रहा था। इन लाठी-प्रहारों के घायलों के इलाज के लिए कई अस्थायी अस्पताल क़ायम हो गये थे। बम्बई में कई बाते ऐसी हुई जो मार्के की थीं, और बड़ा शहर होने के कारण बम्बई में प्रकाशन की सुविधा भी थी। छोटे क़स्बों और देहाती हिस्सों में भी ऐसी ही बातें हुईं, मगर वे सब प्रकाश में न आ पाई।

जून के अन्त में मेरे पिताजी बम्बई गये, और उनके साथ माताजी और कमला भी गईं। उनका बड़ा स्वागत किया गया। जब वह वहां ठहरे हुए थे, तभी कुछ

बहुत ज़बरदस्त लाठी-प्रहार हुए। वास्तव में यह तो बम्बई में मामूली-सी बात हो गई थी। क़रीब दो हफ़्ते बाद ही वहां सारी रात एक असाधारण अग्नि-परीक्षा हुई, जबकि मालवीयजी और कार्य-समिति के मेम्बर एक बड़ी भारी भीड़ के साथ पुलिस के सामने, जिसने उनका रास्ता रोक रखा था, सारी रात डंटे रहे।

बम्बई से लौटने पर ३० जून को पिताजी गिरफ़्तार कर लिये गए, और उनके साथ सैयद महमूद भी पकड़े गए। वे कार्य-समिति के, जो ग़ैरक़ानूनी क़रार दे दी गई थी, स्थानापन्न अध्यक्ष और मन्त्री की हैसियत से गिरफ़्तार हुए। दोनों को छः-छः महीने की सज़ा मिली। मेरे पिताजी की गिरफ़्तारी शायद एक बयान प्रकाशित करने पर हुई थी, जिसमें उन्होंने सैनिकों या पुलिसमैनों को निहत्थी जनता पर गोली चलाने की आज्ञा मिलने की सूरत में उनका क्या कर्तव्य है यह बताया था। यह बयान सिर्फ़ क़ानूनी था, और उसमें बताया गया था कि मौजूदा ब्रिटिश इण्डिया क़ानून में इस बाबत क्या लिखा है। मगर फिर भी वह भड़काने वाला और ख़तरनाक समझा गया।

बम्बई जाने से पिताजी को बहुत मेहनत करनी पड़ी। बड़े सवेरे से बहुत रात तक उन्हें काम करना पड़ता था, और हर ज़रूरी काम का फ़ैसला उन्हें ही करना पड़ता था। वह बहुत दिनों से बीमार-से तो थे ही, अब वह बिल्कुल थककर लौटे और अपने डाक्टरों की ज़रूरी सलाह से उन्होंने फ़ौरन पूरी तरह आराम लेने का फ़ैसला कर लिया। उन्होंने मसूरी जाने की तैयारी की, और सामान वग़ैरा बंधवा लिया; मगर जिस दिन वह मसूरी जाना चाहते थे उससे एक दिन पहले ही वह नैनी सेण्ट्रल जेल की हमारी बैरक में हमारे पास आ पहुंचे।

: ३० :

नैनी-जेल में

मैं कोई सात साल के बाद फिर जेल गया था। जेल-जीवन की मेरी स्मृतियां कुछ-कुछ धुंधली हो गई थीं। मैं नैनी सेण्ट्रल जेल में रखा गया था, जोकि प्रान्त का एक बड़ा जेलखाना है। वहां मुझे अकेले रहने का नया अनुभव मिला। मेरा अहाता बड़े अहाते से, जिसमें कि बाईस सौ या तेईस सौ क़ैदी थे, अलग था। वह एक छोटा-सा गोल घेरा था, जिसका व्यास लगभग एक सौ फ़ीट था और जिसके चारों तरफ़ क़रीब पन्द्रह फ़ीट ऊंची गोल दीवार थी। उसके बीचोंबीच एक मटमैली और भद्दी-सी इमारत थी, जिसमें चार कोठरियां थी। मुझे इनमें से दो कोठरियां, जो एक-दूसरे से मिली हुई थीं, दी गई। इनमें एक नहाने-धोने वग़ैरा के लिए थी। दूसरी कोठरियां कुछ वक़्त तक ख़ाली रहीं।

बाहर के विक्षोभ और दौड़-धूप के जीवन के बाद, यहां मुझे कुछ अकेलापन और उदासी मालूम हुई। मैं इतना थक गया था कि दो-तीन दिन तक तो मैं ख़ूब सोता रहा। गरमी का मौसम शुरू हो गया था और मुझे रात को अपनी कोठरी के बाहर, अन्दर की इमारत और अहाते की दीवार के बीच की तंग जगह में, खुले में सोने की इजाज़त मिल गई थी। मेरा पलंग भारी-भारी ज़ंजीरों से कस दिया गया था, ताकि मैं उसे लेकर कहीं भाग न जाऊं, या शायद इसलिए कि पलंग कहीं अहाते की दीवार पर चढ़ने की सीढ़ी न बना लिया जाय। रातभर अजीब तरह की आवाज़ें आया करती थीं। ख़ासकर दीवार की निगरानी रखनेवाले कनविक्ट ओवरसियर अक्सर एक-दूसरे को तरह-तरह की आवाज़ें लगाया करते थे। कभी-कभी वे ऐसी लम्बी आवाज़ें लगाते थे जो अन्त में दूर पर चलती हुई तेज़ हवा के कराहने की-सी आवाज़ें मालूम होती थीं। बैरकों के अन्दर से चौकीदार बराबर ज़ोर-ज़ोर से अपने क़ैदियों को गिनते थे और कहते थे कि सब ठीक है। रात में कई बार कोई-न-कोई जेल-अफ़सर अपना चक्कर लगाता हुआ हमारे अहाते में आ जाता था, और जो वार्डर ड्यूटी पर होता था उससे वहां का हाल पूछता था।

चूंकि मेरा अहाता दूसरे अहातों से कुछ दूर था, ये आवाज़ें ज़्यादातर साफ़ सुनाई न देती थीं, और पहले-पहल मैं समझ न सका कि ये क्या हैं। पहले-पहल तो मुझे ऐसा लगा कि मैं किसी जंगल के पास हूं और किसान लोग अपने खेतों से जंगली जानवरों को भगाने के लिए चिल्ला रहे हैं; और कभी-कभी ऐसा मालूम होता था कि मानो रात में स्वयं जंगल और जानवर, सब मिलकर गीत गा रहे हैं।

मैं सोचता हूं कि यह मेरा महज़ ख़याल ही है, या यह सचाई है कि चौकोनी दीवार की बनिस्बत गोल दीवार में आदमी को अपने क़ैद होने का ज़्यादा भान होता है। कोनों और मोड़ों के न होने से यह भाव हमारे मन में और भी बढ़ जाता है कि हम यहां दबाये जा रहे हैं। दिन के वक़्त वह दीवार आसमान को भी ढक लेती थी और उसके एक छोटे हिस्से को ही देखने देती थी। मैं—

उस नन्हें नील वितान पर
बन्दी जिसे कहें आकाश—
उड़ते हुए मेघ-खंडों पर
जिनमें रजत-ऊर्मि-आभास;[1]

अपनी सजल-सतृष्ण दृष्टि डाला करता था। रात को वह दीवार मुझे और भी ज़्यादा घेर लेती थी, और मुझे ऐसा लगता था कि मैं किसी कुएं से भीतर हूं। कभी-कभी तारों से भरा हुआ आसमान का जितना हिस्सा मुझे दिखाई देता था वह मुझे असली नहीं मालूम होता था। वह नमूने के, बनावटी, तारामण्डल का हिस्सा-सा लगता था।

मेरी बैरक और अहाता, आमतौर पर, सारे जेल में कुत्ताघर कहलाता था। यह एक पुराना नाम था और इसका मुझसे कोई ताल्लुक़ नहीं था। यह छोटी बैरक, सबसे अलग, इसलिए बनाई गई थी कि इसमें ख़ासतौर पर ख़तरनाक अपराधी, जिन्हें अलग रखने की ज़रूरत हो, रखे जायं। बाद में वह राजनैतिक क़ैदियों, नज़रबन्दों वग़ैरा को रखने के काम में लिया जाने लगा, जो सारे जेल से अलग रखे जा सकते थे। अहाते के सामने कुछ दूर पर एक ऐसी चीज़ थी जिसे

---

[1]आस्कर वाइल्ड के अंग्रेज़ी पद्य का भावानुवाद। कवि ने अपने जेल-जीवन में 'रेडिंग जेल-प्रशस्ति' नामक एक काव्य लिखा है। उसमें से ये पंक्तियां उद्धृत की गई हैं। —अनु०

पहले-पहल अपनी बैरक से देखकर मुझे बड़ा धक्का-सा लगा। वह एक बड़ा भारी पिंजरा-सा था, जिसके अन्दर आदमी गोल-गोल चक्कर काट रहे थे। बाद में मुझे पता लगा कि वह पानी खींचने का पम्प था, जिसे आदमी चलाते थे। और जिसमें एक साथ सोलह आदमी लगते थे। देखते-देखते आदमी के लिए हर चीज़ मामूली हो जाती है। इसलिए मैं भी उसके देखने का आदी हो गया। मगर हमेशा वह मुझे मनुष्य-शक्ति के उपयोग का बिल्कुल मूर्खतापूर्ण और जंगली तरीक़ा मालूम हुआ है, और जब कभी मैं उसके पास से गुज़रता तो मुझे किसी पशु-प्रदर्शनी की याद आ जाती।

कुछ दिनों तक तो मुझे कसरत या दूसरे किसी मतलब से अपने अहाते के बाहर जाने की इजाज़त न मिली। बाद में मुझे बड़े सवेरे, जब प्रायः अंधेरा ही रहता था, आधा घंटा बाहर निकलने और मुख्य दीवार के सहारे-सहारे अन्दर घूमने या दौड़ लगाने की इजाज़त मिल गई। यह बड़े सुबह का वक़्त मेरे लिए इसलिए तजवीज़ किया गया था कि मैं दूसरे क़ैदियों के सम्पर्क में न आ सकूं, या वे मुझे देख न लें। पर मुझे उससे बड़ी ताज़गी आ जाती थी। इस थोड़े-से वक़्त में ज्यादा-से-ज्यादा खुला व्यायाम करने की ग़रज़ से मैं दौड़ लगाया करता था। दौड़ने के अभ्यास को मैंने धीरे-धीरे बढ़ा लिया था, और मैं रोज़ दो मील से ज्यादा दौड़ लिया करता था।

मैं सवेरे बहुत जल्दी, क़रीब चार या साढ़े तीन बजे ही जब बिल्कुल अंधेरा रहता था, उठ जाया करता था। कुछ तो जल्दी सोने से भी जल्दी उठना हो जाता था, क्योंकि मुझे जो रोशनी मिली थी, वह ज्यादा पढ़ने के लिए काफ़ी नहीं थी। मुझे तारों को देखते रहना अच्छा लगता था, और कुछ प्रसिद्ध तारों की स्थिति देखकर मुझे समय का अन्दाज़ हो जाता था। जहां मैं लेटता था वहां से मुझे ध्रुव-तारा दीवार के ऊपर झांकता हुआ दिखाई देता था, और उससे असाधारण शान्ति मिलती थी। उसके चारों तरफ़ का आसमान चक्कर काटता था, मगर वह वहीं क़ायम था। वह मुझे प्रसन्नतापूर्ण और दीर्घ उद्योग का प्रतीक मालूम होता था।

एक महीने तक मेरे पास कोई साथी न था, मगर फिर भी मैं अकेला नहीं था; क्योंकि मेरे अहाते में वार्डर और कनविक्ट ओवरसियर व रसोई और सफ़ाई करनेवाले क़ैदी थे। कभी-कभी किसी काम के लिए दूसरे क़ैदी, ज्यादातर कन-

विक्त ओवरसियर सी० ओ०—लोग भी, जो लम्बी सज़ाएं भुगत रहे थे, आ जाते थे। इनमें आजन्म-क़ैदी ज्यादा थे। आमतौर पर समझा जाता था कि आजन्म क़ैद बीस साल या कम में ख़त्म हो जाती है, मगर जेल में ऐसे बहुत क़ैदी थे जिन्हें बीस साल से भी ज्यादा हो गये थे। नैनी में मैंने एक बड़ी अजीब मिसाल देखी। क़ैदियों के कन्धों पर कपड़ों में लगी हुई लकड़ी की एक पट्टी रहती है जिनमें उनकी सज़ाओं का हाल और रिहाई की तारीख़ लिखी रहती है। एक क़ैदी की पट्टी पर मैंने पढ़ा कि उसकी रिहाई १९९६ में होगी। १९३० में ही उसको कई साल हो चुके थे, और उस समय वह अधेड़ था। शायद उसे कई सज़ाएं दी गई थीं और वे सब एक के बाद एक जोड़ दी गई थीं। शायद कुल मिलाकर उसे पचहत्तर साल की सज़ा थी!

बरसों बीत जाते हैं और कई आजन्म क़ैदी तो किसी बच्चे या स्त्री या जानवरों को भी नहीं देख पाते। उनका बाहरी दुनिया से सम्बन्ध बिलकुल टूट जाता है, और कोई मानवी सम्पर्क नहीं रहता। वे मन-ही-मन हमेशा घुटा करते हैं, और उनका दिमाग़ भय, बदले की भावना और नफ़रत के रोषपूर्ण विचारों से भर जाता है। दुनिया की भलाई, दयालुता और आनन्द को भूल जाते हैं, और सिर्फ़ बुराई में ही जीवन बिताते हैं। फिर धीरे-धीरे उनमें से द्वेष और बैर-भाव भी चला जाता है, और उनका जीवन एक जड़-यन्त्र जैसा बन जाता है। अपने आप चलनेवाले यन्त्रों की तरह वे अपने दिन गुज़ारते हैं, ये सब दिन सदा बिलकुल एक-से ही गुज़रते हैं। उन्हें एक भय के सिवा और कोई भावना ही नहीं होती। समय-समय पर क़ैदियों की तुलाई और नपाई होती है। मगर मस्तिष्क और हृदय की भावना को भी, जो अत्याचार के इस भयंकर वातावरण में मुरझाकर सूख जाती है, कोई तौलता है? लोग मौत की सज़ा के ख़िलाफ़ दलीलें देते हैं और वे मुझे बहुत जंचती भी हैं; मगर जब मैं जेल का लम्बा संकटभरा जीवन देखता हूं, तो सोचता हूं कि आदमी को घुला-घुलाकर मारने के बजाय तो मौत की सज़ा ही अच्छी है। एक दफ़ा एक आजन्म-क़ैदी मेरे पास आकर मुझसे पूछने लगा—"हम आजन्म-क़ैदियों का क्या होगा? क्या स्वराज हमें इस नरक में से निकालेगा?"

और ये आजन्म-क़ैदी कौन होते हैं? इनमें से बहुतेरे तो सामूहिक मुक़दमों में आते हैं, जिनमें कि उन लोगों को, कभी-कभी पचास-पचास या सौ-सौ आदमियों को, एक साथ सज़ाएं होती हैं। इनमें कुछ ही शायद क़ुसूरवार होते हैं, ज़्यादातर

लोग सचमुच क़ुसूरवार होते हैं इसमें मुझे सन्देह है । ऐसे मुक़दमे में लोगों को फंसा देना बड़ा आसान है । किसी मुख़बिर की शहादत और थोड़ी शनाख़्त हो जानी चाहिए, बस इतना ही ज़रूरी है । आजकल डकैतियां बढ़ रही है, और जेल की आबादी हर साल ज्यादा हो जाती है । जब लोग भूखों मर रहे हैं, तो वे क्या करें ? जज और मजिस्ट्रेट लोग अपराधों की बढ़ती पर टीका करते नहीं थकते । मगर उनकी निगाह उसके प्रकट—आर्थिक कारणों पर नहीं जाती ।

इसके अलावा काश्तकार लोग आते हैं । किसी ज़मीन के टुकड़े की बाबत गांव में झगड़ा हो जाता है, लाठियां चल जाती हैं और कोई मर जाता है । नतीजा यह होता है कि जन्मभर या लम्बी मियादों के लिए कई आदमी जेल भेज दिये जाते हैं । अक्सर किसी घर के सारे पुरुष क़ैद कर दिये जाते हैं और पीछे स्त्रियां रह जाती हैं, जो जैसे-तैसे करके पेट पालती हैं । इनमें एक भी व्यक्ति जरायमपेशा नहीं होता । साधारणतः ये लोग शारीरिक और मानसिक दोनों दृष्टियों से अच्छे युवक, औसत देहाती से कहीं ऊपर उठ हुए, होते हैं । यदि इन्हें थोड़ी तालीम मिले, और दूसरी बातों और कामों की तरफ़ इनकी रुचि थोड़ी बदल दी जाय, तो यही लोग देश के क़ीमती धन बन सकते हैं ।

बेशक हिन्दुस्तान की जेलों में पक्के मुज़रिम भी हैं, जो जान-बूझकर समाज के शत्रु बनकर उसके लिए बहुत ख़तरनाक हो जाते हैं । मगर मुझे जेल में ऐसे लड़के और आदमी बहुत मिले हैं जो अच्छे नमूने के थे, और जिनपर मैं बिना झिझके विश्वास कर सकता हूं । मुझे यह नहीं मालूम कि असली जरायमपेशा और ग़ैर-जरायमपेशा क़ैदी कितने-कितने अनुपात में हैं, और शायद इस तरह विभाजन करने का ख़याल तक जेल-महकमे में किसीको नहीं आया होगा । न्यू-यार्क के सिंग-सिंग जेल के वार्डन लुई ई० लोज़ ने इस विषय के कुछ दिलचस्प आंकड़े दिये हैं । वह अपनी जेल के क़ैदियों के बारे में कहता है कि मेरी राय में पचास फ़ीसदी तो बिल्कुल जरायम-वृत्ति के नहीं हैं, पचीस फ़ीसदी परिस्थितियों और मजबूरियों के कारण अपराधी बने हैं, और बाक़ी पचीस फ़ीसदी में से शायद आधे, यानी साढ़े बारह फ़ीसदी ही, समाज में न रहने लायक़ हैं । यह तो सभी जानते हैं कि असली अपराध-वृत्ति बड़े शहरों और आधुनिक सभ्यता के केन्द्रों में ज़्यादा होती है, और पिछड़े हुए देशों में कम होती है । अमेरिका की जरायमपेशा टोलियां तो मशहूर हैं और सिंग-सिंग जेल भी ख़ासतौर पर मशहूर है, जहां

भयंकर-से-भयंकर मुजरिम भेजे जाते हैं। मगर, उनके वार्डन की राय के मुताबिक़ उनके सिर्फ़ साढ़े बारह फ़ीसदी क़ैदी ही सचमुच बुरे हैं। मेरे खयाल से यह बड़ी अच्छी तरह कहा जा सकता है कि हिन्दुस्तान की जेलों में तो यह अनुपात इससे भी बहुत कम होगा। आर्थिक नीति थोड़ी और अच्छी हो जाय, लोगों को रोज़गार कुछ ज़्यादा मिलने लगे, और शिक्षा कुछ बढ़ जाय, तो हमारी जेलें खाली की जा सकती हैं। मगर इसको कामयाब बनाने के लिए बिलकुल मौलिक योजना की, जिससे हमारी सारी सामाजिक रचना बदल जाय, ज़रूरत है। इसके सिवा दूसरा असली उपाय वही है जो ब्रिटिश सरकार कर रही है— हिन्दुस्तान में पुलिस की तादाद और जेलों का बढ़ाना। हिन्दुस्तान में कितनी तादाद में लोग जेल भेजे जाते हैं, यह देखकर माथा ठनकने लगता है। अखिल भारतीय क़ैदी-सहायक समिति के मन्त्री की एक हाल की रिपोर्ट में कहा गया है, कि १९३३ में सिर्फ़ बम्बई प्रान्त में ही १,२८,००० लोग जेल भेजे गये, और उसी साल बंगाल की संख्या १,२४,००० थी।[1] मुझे सब प्रान्तों के आंकड़े तो मालूम नहीं, किन्तु यदि दो प्रान्तों का जोड़ ढाई लाख है, तो बहुत सम्भव है कि सारे हिन्दुस्तान का जोड़ क़रीब दस लाख तक तो होगा। मगर इसे वास्तव में जेल में हमेशा रहनेवालों की तादाद नहीं कह सकते, क्योंकि बहुत लोगों को तो थोड़ी-थोड़ी सज़ाएं मिलती हैं। स्थायी रहनेवालों की तादाद इससे बहुत कम होगी, मगर फिर भी वह एक बड़ी संख्या होगी। हिन्दुस्तान के कुछ बड़े प्रान्तों की जेलें संसार की बड़ी-बड़ी जेलों में समझी जाती हैं। युक्तप्रान्त भी ऐसे प्रान्तों में माना जाता है, जिसे वह गौरव—यदि इसे गौरव कहा जाय—प्राप्त है। और, बहुत सम्भव है, यहां संसार का सबसे पिछड़ा हुआ और प्रतिगामी जेल-प्रबन्ध है या था। क़ैदी को एक व्यक्ति, एक मानव-प्राणी, समझने और उसके मस्तिष्क को सुधारने या उसकी चिन्ता रखने की कुछ भी कोशिश यहां नहीं की जाती। युक्तप्रान्त का जेल-प्रबन्ध जिस बात में सबसे बढ़ा-चढ़ा है, वह है अपने क़ैदियों को भागने न देना। वहां भागने की कोशिश बहुत ही कम होती है और दस हज़ार में से शायद ही एकाध कोई भागने में सफल होता होगा।

जेलखानों की एक अत्यन्त दुःखजनक बात है, वहां पन्द्रह साल या इससे

---

[1] स्टेट्समैन, ११ दिसम्बर, सन् १९३४

ज्यादा उम्र के लड़कों का बड़ी तादाद में होना। इनमें से ज़्यादातर तो तेज़ और होशियार दीखनेवाले लड़के होते हैं, जो अगर मौक़ा मिले तो बड़ी आसानी से अच्छे बन सकते हैं। कुछ अरसे से इन्हें मामूली पढ़ना-लिखना सिखाने की कुछ शुरुआत की गई है; मगर जैसा कि हमेशा होता है, वह बिल्कुल ही नाकाफ़ी और बेकार है। खेल-कूद या दिल-बहलाव का बहुत-कम मौक़ा आता होगा; किसी किस्म के भी अख़बार की इज़ाज़त नहीं है, और न किताबें पढ़ने का प्रोत्साहन दिया जाता है। बारह घंटे या इससे भी ज़्यादा देर तक सब क़ैदियों को उनकी बैरकों या कोठरियों में ताले में रक्खा जाता है, और लम्बी-लम्बी शामों का वक़्त काटने के लिए उनके पास कोई काम नहीं रहता।

मुलाक़ातें तीन महीने में एक दफ़ा हो सकती है, और यही ख़तों का भी हाल है। यह मियाद अमानुषिक रूप से लम्बी है। इसपर भी, कई क़ैदी तो इससे भी लाभ नहीं उठा सकते। अगर वे अनपढ़ होते हैं, जैसे कि ज़्यादातर होते ही हैं, तो वे किसी जेल-अफ़सर से ही चिट्ठी लिखवाते हैं, और ये लोग चूंकि अपना काम और बढ़ाना नहीं चाहते इसलिए चिट्ठी लिखना अक्सर टालते रहते हैं; अगर चिट्ठी लिखी भी गई तो पता ठीक-ठीक नहीं दिया जाता, और वह ठिकाने पर नहीं पहुंचती। मुलाक़ात करना तो और भी मुश्किल है। क़रीब-क़रीब, लाज़िमी तौर पर, किसी-न-किसी जेल-कर्मचारी को कुछ नज़राना-शुकराना देने से ही मुलाक़ात हो सकती है। अक्सर क़ैदी दूसरी-दूसरी जेलों में बदल दिये जाते हैं, और उनके घर के लोगों को उनका पता नहीं लगता। मुझे कई ऐसे क़ैदी मिले हैं जिनका ताल्लुक़ अपने कुटुम्ब से बरसों से छट चुका था, और उन्हें मालूम नहीं था कि उनका क्या हुआ ? तीन या अधिक महीनों के बाद जब मुलाक़ातें होती भी हैं तो अजीब तरह से। जंगले के दोनों तरफ़ आमने-सामने बहुत-से क़ैदी और उनके मुलाक़ाती खड़े कर दिये जाते हैं, और वे सब एक-साथ बातचीत करने की कोशिश करते हैं। एक-दूसरे से बहुत ज़ोर से चिल्ला-चिल्लाकर बोलना पड़ता है, इससे मुलाक़ात में जो थोड़ा-बहुत मानवीय सम्पर्क हो सकता है वह भी नहीं रहता।

हज़ार में से किसी एकाध क़ैदी को (यूरोपियनों को छोड़कर) अच्छा खाना मिलने या जल्दी-जल्दी मुलाक़ात करने या ख़त लिखने की ख़ास सुविधा भी मिल जाती ह। राजनैतिक आन्दोलनों में जबकि लाखों राजनैतिक क़ैदी जेल जाते हैं, इन विशेष दरजे के क़ैदियों की तादाद कुछ थोड़ी-सी बढ़ जाती है, मगर

फिर भी वह बहुत थोड़ी ही रहती है । इन राजनैतिक स्त्री और पुरुष क़ैदियों में से ९५ फ़ीसदी के साथ मामूली ढंग का ही बर्ताव किया जाता है और उन्हें ऐसी सुविधाएं भी नहीं मिलतीं ।

कई लोग, जिन्हें क्रांतिकारी हलचलों के कारण आजन्म या लम्बी सज़ाएं दी जाती हैं, लम्बे अरसे तक तनहाई कोठरियों में रखे जाते हैं । मेरा ख़याल है कि यू० पी० में तो ऐसे सब लोग आमतौर पर सीधे तनहाई की कोठरियों में बन्द रखे जाते हैं । यों तो तनहाई जेल के किसी क़ुसूर के लिए सज़ा के तौर पर ही दी जाती है; मगर इन लोगों को तो, जो आमतौर पर कच्ची उम्र के नवयुवक होते हैं, शुरू से तनहाई में ही रखा जाता है, चाहे उनका बर्ताव जेल में बहुत अच्छा ही क्यों न हो । इस तरह अदालत की सज़ा के अलावा, जेल महकमा उसमें बिना किसी सबब के एक और भयंकर सज़ा बढ़ा देता है । यह बड़ी असाधारण बात है और क़ानून की किसी दफा के अनुसार नहीं है । थोड़े वक़्त के लिए भी तनहाई में बन्द रखा जाना एक बड़ी दर्दनाक बात है; फिर जब यह बरसों तक रहे तब तो बड़ी खतरनाक हो जाती है । इससे दिमाग़ी ताक़त धीरे-धीरे लगातार घटती जाती है, और अन्त में पागलपन की हद तक पहुंच जाती है, और क़ैदी का चेहरा विचार-शून्य या भयभीत पशु जैसा दिखने लगता है । यह मनुष्य की शक्ति को धीमे-धीमे खत्म करना या उसकी आत्मा को धीरे-धीरे हलाल करना है । अगर आदमी ज़िन्दा बचता भी है तो वह एक विलक्षण जीव और दुनिया के लिए बे-मौज़ू बन जाता है । और यह सवाल तो हमेशा उठता ही रहता है कि क्या वह व्यक्ति वास्तव में किसी कार्य या अपराध का गुनहगार था भी ? हिन्दुस्तान में पुलिस के तरीक़े अरसे से सन्देह की दृष्टि से देखे जाते हैं, और राजनैतिक मामलों में तो वे बहुत ही ज़्यादा सन्देहास्पद हैं ।

यूरोपियन या यूरेशियन क़ैदियों को, चाहे उन्होंने कोई भी अपराध किया हो या उनकी कैसी भी हैसियत हो, अपने-आप ऊंचे दरजे में रख दिया जाता है, और उन्हे ज्यादा अच्छा भोजन, हलका काम और जल्दी-जल्दी ख़त और मुलाक़ात की सुविधाएं दी जाती हैं । हर हफ़्ते पादरी के आने से वे बाहर की बातों के सम्पर्क में बने रहते हैं । पादरी उनके लिए सचित्र और हंसी-मज़ाकवाले विदेशी अखबार ले आता है, और जब ज़रूरत होती है तब उनके घरवालों से पत्र-व्यवहार करता रहता है ।

यूरोपियन क़ैदियों को ये सुविधाएं क्यों मिली हैं, इसकी किसीको शिकायत नहीं है, क्योंकि उनकी तादाद थोड़ी ही है, मगर दूसरे—स्त्री और पुरुष—क़ैदियों के प्रति व्यवहार में मनुष्यता का बिल्कुल अभाव देखकर ज़रूर रंज होता है। क़ैदी को एक व्यक्ति, एक मानव प्राणी, नहीं समझा जाता, और इसलिए उसके साथ वैसा बर्ताव भी नहीं किया जाता। जेल को तो सरकारी तन्त्र द्वारा बुरे-से-बुरे दमन का अमानुषिक पहलू समझना चाहिए। यह एक ऐसा यन्त्र है जो बेरहमी से, बिना सोचे, काम करता रहता है, और उसकी पकड़ में जो कोई आ जाता है उसे कुचल डालता है। जेल के क़ायदे इसी यन्त्र को दिखाने के लिए ख़ास तौर पर बनाये गये हैं। जब भावनाशील स्त्री या पुरुष यहां आते हैं, तो यह हृदय-हीन शासन उनके मन को एक यातना और पीड़ा-जैसा लगता है। मैंने देखा है कि कभी-कभी लम्बी मियाद के क़ैदी जेल की उदासी से ऊबकर बच्चे की तरह फूट-फूटकर रोने लगते हैं, और सहानुभूति और प्रोत्साहन के थोड़े-से शब्दों से, जोकि इस वातावरण में बहुत दुर्लभ होते हैं, उनके चेहरे ख़ुशी और अहसानमन्दी से चमक उठते हैं।

इतना होने पर भी, क़ैदियों में एक-दूसरे के प्रति उदारता और अच्छी मित्रता के कई हृदय-स्पर्शी उदाहरण भी दिखाई देते थे। एक बार एक अन्धा पेशेवर मुजरिम तेरह साल के बाद रिहा हुआ। इस लम्बे अरसे के बाद वह बाहर जा रहा था, जहां न उसके पास कोई साधन थे, न दोस्त। उसके साथी क़ैदी उसकी सहायता करना चाहते थे, लेकिन वे ज़्यादा नहीं कर सकते थे। एक ने जेल-दफ़्तर में जमा की हुई अपनी क़मीज दी, दूसरे ने कोई और कपड़ा दिया। एक तीसरे को उसी दिन सवेरे चप्पल की जोड़ी मिली थी, जिसे उसने अभिमान से मुझे दिखाया था। जेल में यह चीज़ मिलना बड़ी भारी बात है। मगर जब उसने देखा कि उसका कई साल का साथी यह अन्धा नंगे पैर बाहर जा रहा है तो उसने ख़ुशी से उसे अपने नये चप्पल दे दिये। उस समय मैंने सोचा कि शायद जेल के अन्दर बाहर से ज़्यादा उदारता है।

१९३० का वह साल आश्चर्यजनक परिस्थितियों और स्फूर्तिदायक घटनाओं से भरा हुआ था। गांधीजी की सारे राष्ट्र में स्फूर्ति और उत्साह भर देने की अद्भुत शक्ति से मुझे सबसे ज़्यादा आश्चर्य हुआ। उनकी शक्ति में एक मोहिनी-सी मालूम होती थी, और उनके बारे में जो बात गोखले ने कही थी वह हमें याद

आई—उनमें मिट्टी से सूरमा बना लेने की ताक़त है। शान्तिपूर्ण सविनय भंग महान् राष्ट्रीय उद्देश्यों को पूर्ण करने के लिए, लड़ाई के शस्त्र और शास्त्र दोनों तरह से, काम में आ सकता है, यह बात सच मालूम हुई। और देश में, मित्रों और विरोधियों दोनों को बिल्कुल भरोसा-सा होने लगा कि हम सफलता की ओर जा रहे हैं। आन्दोलन में क्रियात्मक रूप से काम करनेवालों में एक अजीब उत्साह भर आया, और थोड़ा-थोड़ा जेल के भीतर भी आ पहुंचा। मामूली क़ैदी भी कहते थे कि स्वराज आ रहा है। और इस उम्मीद से कि उससे उन्हें भी कुछ फ़ायदा हो जायगा, वे आतुरता से उसका इन्तजार करते थे। बाज़ार की बातचीत सुन-सुनकर वार्डर लोग भी उम्मीद करते थे कि स्वराज नज़दीक ही है। इससे जेल के छोटे-छोटे अफ़सर कुछ और घबराहट में पड़ जाते थे।

जेल में हमें कोई दैनिक पत्र नहीं मिलता था, मगर एक हिन्दी साप्ताहिक पत्र से हमें कुछ खबरें मिल जाया करती थीं। ये खबरें ही अक्सर हमारी कल्पनाओं को तेज़ कर दिया करती थीं। रोज़ लाठी-प्रहार होना, किसी-किसी दिन गोली चलना, शोलापुर में फ़ौजी क़ानून जारी होना, जिसमें राष्ट्रीय झंडा ले जाने के लिए ही दस साल की सज़ा दी गई थी, ऐसी खबरें आती थीं। सारे देश में हमें अपने लोगों, खासकर स्त्रियों, पर बड़ा अभिमान होने लगा। मुझे तो अपनी माता, पत्नी और बहनों तथा दूसरी चचेरी बहनों और महिला-मित्रों के कार्यों के कारण विशेष सन्तोष हुआ और हालांकि मैं उनसे दूर था, और जेल में था, फिर भी मुझे ऐसा लगा कि हम सब एक ही महान् कार्य में साथ-साथ कार्य करने के नये नाते से एक-दूसरे के बहुत पास आ गये हैं। ऐसा मालूम होने लगा मानो परिवार तो उससे भी बड़े समुदाय में समा गया है। मगर फिर भी उसमें पुरानी मधुरता और निकटता बनी रही। कमला ने तो मुझे आश्चर्य में ही डाल दिया; क्योंकि उसकी क्रिया-शीलता और उत्साह ने उसकी बीमारी को दबा दिया, और कम-से-कम कुछ समय के लिए तो वह बहुत ज्यादा काम-काज करते रहने पर भी चंगी बनी रही।

जिस वक़्त बाहर दूसरे लोग खतरे का मुक़ाबला कर रहे हैं और कष्ट उठा रहे हैं, उस वक़्त मैं जेल में आराम से समय बिता रहा हूं, यह खयाल मुझे दिक़ करने लगा। मैं बाहर जाने की इच्छा करता था, किन्तु नहीं जा सकता था। इसलिए मैंने अपना जेल-जीवन बड़ा कठोर, कार्यमय, बना लिया। मैं अपने चरखे

पर रोज़ क़रीब तीन घंटे सूत कातता था। इसके अलावा दो या तीन घंटे मैं निवाड़ बुनता, जो मैंने जेल-अधिकारियों से खासतौर पर मांग ली थी। मैं इन कामों को पसन्द करता था। इनमें न ज्यादा जोर पड़ता था न थकावट होती थी, और मेरा समय काम में लग जाता था। इससे मेरे दिमाग़ का बुख़ार भी शान्त हो जाता था। मैं बहुत पढ़ता रहता था, या सफ़ाई करने या कपड़े वग़ैरा धोने में लगा रहता था। मै मशक़्क़त अपनी ख़ुशी से ही करता था, क्योंकि मुझे सज़ा सादी मिली थी।

इस तरह, बाहर की घटनाओं और अपने जेल-कार्यक्रम का विचार करते-करते, मैं नैनी-जेल में अपने दिन गुज़ारने लगा। हिन्दुस्तान के इस जेल की कार्य-प्रणाली देखकर मुझे यह प्रतीत हुआ कि वह हिन्दुस्तान मे अंग्रेज़ी सरकार की प्रणाली से भिन्न नहीं है। सरकार का शासन-तन्त्र बहुत सुव्यवस्थित है, जिसके फलस्वरूप देश पर सरकार का क़ब्ज़ा मज़बूत होता है, मगर जिसमें देश की मानव-सामग्री की चिन्ता बहुत थोड़ी, या बिल्कुल नही, की जाती है। ऊपर से तो यही दिखना चाहिए कि जेल का प्रबन्ध सुचारु रूप से हो रहा है और यह किसी हद तक ठीक भी है। मगर शायद कोई भी यह खयाल नहीं करता कि जेल का खास लक्ष्य होना चाहिए उसमें आनेवाले अभागे लोगों को सुधारना और उनकी सहायता करना। यहां तो बस यही खयाल है कि उनको कुचल डालो, ताकि जबतक वे बाहर निकलें, तबतक उनमें ज़रा-सी भी हिम्मत बाकी न रहे। और जेल का प्रबन्ध-संचालन किस तरह होता है, क़ैदियों को कैसे क़ाबू में रक्खा जाता है, और कैसे दण्ड दिया जाता है, यह बात ज़्यादातर क़ैदियों की सहायता से ही होती है। क़ैदियों में से ही कुछ लोग कनविक्ट-वार्डर (सी० डबल्यू०) या कनविक्ट-ओवरसियर (सी० ओ०) बना दिये जाते हैं, और वे ख़ौफ़ से या इनामों वा छूट के प्रलोभन से अधिकारियों के साथ सहयोग करने लगते हैं। तनख़्वाहदार ग़ैर-कनविक्ट-वार्डर वैसे थोड़े ही हैं। जेल के अन्दर की ज़्यादातर हिफ़ाज़त और चौकीदारी कनविक्ट-वार्डर और सी० ओ० ही करते हैं। जेल में मुख़बिरी का भी खब ज़ोर रहता है। क़ैदियों को एक-दूसरे की चुग़ली और मुख़बिरी करने को उत्साहित किया जाता है, और क़ैदियों को एका करने या कोई भी संयुक्त कार्य करने की तो इजाज़त ही नहीं रहती। यह सब आसानी से समझ में आ सकता है, क्योंकि उनमें फूट रखने से ही वे क़ाब में रक्खे जा सकते हैं।

जेल से बाहर, हमारे देश के शासन में भी, यही एक प्रणाली व्यापक लेकिन कम ज़ाहिर रूप में दिखाई देती है। मगर यहां सी० डब्ल्यू० और सी० ओ० लोगों का नाम बदल गया है। उनके बड़े-बड़े शानदार नाम हैं और उनकी वर्दियां ज़्यादा तड़क-भड़कदार हैं और नियम-पालन कराने के लिए, जेल की ही तरह, उनके पीछे हथियारबन्द सशस्त्र दल रहता है।

आधुनिक राज्यों के लिए जेलखाना कितना ज़रूरी और लाज़िमी है, कम-से-कम क़ैदी तो यही सोचने लगता है। सरकार के प्रबन्ध आदि विषयक तरह-तरह के कार्य तो जेल, पुलिस और फौज के मौलिक कार्यों के मुक़ाबले में थोथे मालूम होने लगते हैं। जेल मे आदमी मार्क्स के इस सिद्धान्त की क़दर करने लगता है, कि राज्य तो वास्तव में उस दल की, जिसके हाथ में शासन है, इच्छा को अमल में लानेवाला एक ज़बरदस्ती का साधन है।

एक महीने तक मैं अपनी बैरक में अकेला ही रहा। फिर एक साथी—नर्मदाप्रसादसिंह—आ गये, और उनके मिलने से बड़ी सान्त्वना मिली। इसके ढाई महीने बाद, जून १९३० की आखिरी तारीख़ को, हमारे अहाते मे असाधारण खलबली मच गई। अचानक बड़े सवेरे मेरे पिताजी और डॉ० सैयद महमूद वहां लाये गए। वे दोनों आनन्द-भवन मे, जबकि अपने बिस्तरों मे सोये हुए थे गिरफ़्तार किये गए थे।

: ३१ :

यरवदा में सन्धि-चर्चा

पिताजी की गिरफ्तारी के साथ ही, या उसके फ़ौरन बाद ही, कार्य-समिति ग़ैर-क़ानूनी क़रार दे दी गई। इससे एक नई स्थिति पैदा हो गई—यदि कमिटी अपनी मीटिंग करे तो सब-के-सब मेम्बर एक साथ गिरफ़्तार हो सकते थे। इसलिए कार्यवाहक सभापतियों को जो इख्तियार दे दिया गया था उसके मुताबिक़ स्थानापन्न मेम्बर उसमे और जोड़े गये और इस सिलसिले में कई स्त्रियां भी मेम्बर बनीं। कमला भी उनमें थीं।

पिताजी जब जेल आये तो उनकी तन्दुरुस्ती निहायत खराब थी और वह जिन हालतों में वहां रक्खे गये थे उनमें उन्हें बड़ी तकलीफ़ थी। सरकार ने जान-बूझकर यह स्थिति पैदा नहीं की थी, क्योंकि वह अपनी तरफ़ से तो उनकी तकलीफ़ कम करने की भरसक कोशिश करने को तैयार थी, परन्तु नैनी-जेल में वह अधिक कुछ नहीं कर सकी। मेरी बैरक की ४ छोटी-छोटी कोठरियों में हम चार आदमियों को एक साथ रख दिया गया। जेल के सुपरिण्टेण्डेण्ट ने सुझाया भी कि पिताजी को किसी दूसरी जगह रख दें, जहां उन्हें कुछ ज़्यादा जगह मिल जाय, लेकिन हम लोगों ने एक साथ रहना ही बेहतर समझा, क्योंकि यहां हम में से कोई-न-कोई उनकी सम्हाल रख सकता था।

बारिश शुरू ही हुई थी, पर कोठरी के अन्दर की ज़मीन मुश्किल से सूखी रहती थी, क्योंकि छत से पानी जगह-जगह टपकता रहता था। रात के वक़्त रोज़ यह सवाल उठता कि पिताजी का बिछौना हमारी कोठरी से सटे उस छोटे-से बरामदे में, जो १० फुट लम्बा और ५ फुट चौड़ा था, कहां लगाया जाय, जिससे पानी से बचाव हो सके? कभी-कभी उन्हें बुख़ार आ जाता था। आखिर जेल-अधिकारियों ने हमारी कोठरी से लगा हुआ एक और अच्छा बड़ा बरामदा बनवाना तय किया। बरामदा बन तो गया और उससे ज़्यादा आराम भी मिलता, मगर पिताजी को उसका कुछ फ़ायदा न मिला; क्योंकि उसके तैयार होने के बाद

शीघ्र ही उन्हें रिहा कर दिया गया। तब हममें से जो लोग वहां पीछे रह गये थे उन्होंने उससे पूरा फ़ायदा उठाया।

जुलाई के अख़ीर में यह चर्चा बहुत सुनाई दी कि सर तेजबहादुर सप्रू और जयकरसाहब इस बात की कोशिश कर रहे हैं कि कांग्रेस और सरकार के बीच सुलह हो जाय। हमने यह ख़बर एक दैनिक पत्र में पढ़ी जो पिताजी को खासतौर पर बतौर रिआयत के दिया जाता था। उसमें हमने वह सारा पत्र-व्यवहार पढ़ा जो वाइसराय लार्ड इर्विन और सर सप्रू तथा जयकरसाहब के बीच हुआ था। और बाद में हमें यह भी मालूम हुआ कि हमारे ये 'शान्तिदूत' गांधीजी से भी मिले थे। हमारी समझ में यह नही आता था कि आख़िर इनको सुलह की इतनी क्यों पड़ी है, या ये इससे क्या नतीजा निकालना चाहते हैं। बाद को हमें मालूम हुआ कि उन्हें इस बात का उत्साह मिला है पिताजी के एक छोटे-से बयान से, जो उन्होंने बम्बई में अपनी गिरफ़्तारी से कुछ पहले दिया था। वक्तव्य का खर्रा मि० स्लोकॉम्ब (लन्दन के 'डेली हैरल्ड' के संवाददाता, जो उन दिनों हिन्दुस्तान में थे) का बनाया हुआ था, जो पिताजी से बातचीत करके तैयार किया गया था और जिसे उन्होंने पसन्द भी कर लिया था। इस वक्तव्य[1] में यह बताया गया था कि

---

[1] यह वक्तव्य २५ जून १९३० को पं० मोतीलाल नेहरू की सहमति से दिया गया था—"यदि किन्हीं हालतों में ब्रिटिश-सरकार और भारत-सरकार—हालांकि इसका पहले से अन्दाज नहीं किया जा सकता कि गोलमेज परिषद अपनी खुशी से क्या सिफ़ारिशें करेगी या ब्रिटिश पार्लमेण्ट का उन सिफ़ारिशों के बारे में क्या रुख़ रहेगा—खानगी तौर पर यह आश्वासन दें कि वे भारत के लिए पूर्ण उत्तरदायी शासन की मांग का समर्थन करेंगी, सिर्फ़ शर्त इतनी होगी कि हिन्दुस्तान की ख़ास जरूरतों और अवस्थाओं और ग्रेट ब्रिटेन के साथ उसका पुराना सम्बन्ध होने के कारण जरूरी बातों पर दोनों में आपस में समझौता हो जायगा और सत्ता को हस्तान्तर करने की शर्तें तय हो जायंगी और इनका निर्णय गोलमेज कान्फ्रेंस करेगी, तो पंडित मोतीलाल नेहरू यह ज़िम्मेदारी अपने ऊपर ले लेते हैं कि वह खुद इस तरह का आश्वासन—या किसी तीसरे ज़िम्मेदार पार्टी का यह इशारा कि ऐसा आश्वासन मिल जायगा—गांधीजी या पं० जवाहरलाल नेहरू तक ले जायेंगे। यदि ऐसा आश्वासन मिला और मंजूर कर लिया गया

अगर सरकार कुछ शर्तें मान ले तो सम्भव है कि कांग्रेस सत्याग्रह को वापस ले लेगी।

यह एक गोल-मोल और कच्ची बात थी और उसम भी यह साफ़ कह दिया गया था कि उन स्पष्ट शर्तों पर भी तबतक विचार नहीं किया जा सकेगा, जबतक पिताजी गांधीजी से और मुझसे मशवरा न कर लें। मुझसे ज़रूरत इसलिए पड़ती थी कि मैं उस साल कांग्रेस का प्रधान था। मुझे याद है कि अपनी गिरफ़्तारी के बाद पिताजी ने इसका ज़िक्र नैनी में मुझसे किया था, और उन्हें इस बात पर दुःख ही रहा कि उन्होंने जल्दी में ऐमा गोल-मोल वक्तव्य दे डाला और सम्भव था कि उसका ग़लत अर्थ लगाया जाय। और दरअसल ऐसा हुआ भी; क्योंकि जिन लोगों की विचारधारा हमसे बिल्कुल जुदा है उनके द्वारा तो बिल्कुल स्पष्ट और यथार्थ वक्तव्यों का भी ग़लत अर्थ लगाये जाने की सम्भावना रहती ही है।

२७ जुलाई को सर तेजबहादुर सप्रू और जयकर अचानक नैनी-जेल में हमसे मिलने आ पहुंचे। वे गांधीजी का एक पत्र साथ लाये थे। उस दिन तथा दूसरे दिन हम लोगों में बड़ी देर तक बातचीत हुई। पिताजी को हरारत थी। इस बातचीत से वह बहुत थक गए। हमारी बातचीत और बहस घूम-घामकर वहीं आ जाती थी जहां से शुरू हुई थी। हम लोगों के राजनैतिक दृष्टि-बिन्दु इतने जुदा-जुदा थे कि हम मुश्किल से एक-दूसरे की भाषा और भावों को समझ पाते थे। हमें यह साफ़ दिखाई देता था कि मौजूदा हालत में कांग्रेस और सरकार के बीच सुलह होने का कोई मौक़ा नहीं है। हमने अपने साथियों—कार्य-समिति के सदस्यों—और ख़ासकर गांधीजी से सलाह किये बिना अपनी तरफ़ से कुछ भी कहने से इन्कार कर दिया, और हमने इस आशय की एक चिट्ठी गांधीजी को लिख भी दी।

ग्यारह दिन बाद, ८ अगस्त को, डॉक्टर सप्रू वाइसराय का जवाब लेकर

तो इससे सुलह का रास्ता खुल जायगा, जिसके मानी यह होंगे कि इधर सविनय भंग आन्दोलन बन्द किया जायगा और साथ ही उधर सरकार की मौजूदा दमन-नीति भी ख़त्म हो जायगी, राजनैतिक क़ैदियों की आम रिहाई होगी और इसके बाद कांग्रेस उन शर्तों पर, जो आपस में तय हो जायंगी, गोलमेज-कान्फ्रेंस में शरीक होगी।"

फिर हमसे मिलने आये। वाइसराय को इस बात पर कोई ऐतराज़ न था कि हम लोग यरवदा जायें (यरवदा पूना के पास है और यहीं की जेल में गांधीजी रखे गए थे); लेकिन वह तथा उनकी कौंसिल हमें सरदार वल्लभभाई, मौलाना अबुलकलाम आज़ाद और कार्य-समिति के दूसरे मेम्बरों से मिलने की इजाज़त नहीं दे सकती थी, जो कि बाहर थे और सरकार के ख़िलाफ़ सक्रिय आन्दोलन कर रहे थे। डाक्टर सप्रू ने हमसे पूछा कि ऐसी हालत में आप लोग यरवदा जाने को तैयार हैं या नहीं? हमने कहा कि हमें तो कभी भी गांधीजी से मिलने जाने में कोई उज्र नहीं है, न हो सकता है; लेकिन जबतक हम अपने दूसरे साथियों से न मिल लें, तबतक किसी अन्तिम निर्णय पर नहीं पहुंचा जा सकेगा। इत्तिफ़ाक़ से उसी दिन या शायद एक दिन पहले के अखबार में यह ख़बर पढ़ी कि बम्बई में भयंकर लाठी-चार्ज हुआ और सरदार वल्लभभाई, मालवीयजी, तसद्दुक़ अहमद शेरवानी वग़ैरा कार्य-समिति के स्थायी या स्थानापन्न मेम्बर गिरफ़्तार कर लिये गए हैं। हमने डाक्टर सप्रू से कहा कि इस घटना से मामला सुधरा नहीं है और हमने उनसे कह दिया कि वह सारी स्थिति वाइसराय के सामने साफ़ कर दें। फिर भी डाक्टर सप्रू ने कहा कि गांधीजी से तो जल्दी मिलने में हर्ज ही क्या है? हमने उन्हें यह बात पहले ही कह दी थी कि यदि हमारा जाना यरवदा हुआ तो हमारे साथी डाक्टर सैयद महमूद भी, जो हमारे साथ नैनी में ही थे, बहैसियत कांग्रेस-सेक्रेटरी हमारे साथ चलेंगे।

दो दिन बाद, १० अगस्त को, हम तीनों—पिताजी, महमूद और मैं—एक स्पेशल ट्रेन में नैनी से पूना भेजे गए। हमारी गाड़ी बड़े-बड़े स्टेशनों पर नहीं ठहरी, हम उन्हें सपाटे से पार करते हुए चले गए; कहीं-कहीं छोटे और किनारे के स्टेशनों पर ट्रेन ठहराई गई। फिर भी हमारे जाने की ख़बर हमसे आगे दौड़ गई और लोगों की बड़ी भीड़ स्टेशनों पर—जहां हम ठहरे वहां भी और जहां नहीं ठहरे वहां भी—इकट्ठी हो गई। हम ११ की रात को पूना के नज़दीक खिड़की स्टेशन पर पहुंचे।

हमने उम्मीद तो यह की थी कि हम गांधीजी की ही बैरक में ठहराये जायंगे, या कम-से-कम उनसे जल्दी ही मुलाक़ात हो जायगी। यरवदा के सुपरिण्टेण्डेण्ट ने तो यही तजवीज़ कर रक्खी थी; लेकिन ऐन वक़्त पर उन्हें अपना प्रबन्ध बदल देना पड़ा। जो पुलिस अफ़सर हमारे साथ नैनी से आया था उसके द्वारा यरवदा

वालों को ऐसी ही कुछ हिदायत मिली थी। सुपरिण्टेण्डेण्ट कर्नल मार्टिन ने तो हमें इस रहस्य का पता न दिया, परन्तु पिताजी ने कुछ ऐसे मार्मिक प्रश्न किये जिनसे यह मालूम हो गया कि हमें गांधीजी से (कम-से-कम पहली बार तो) सप्रू और जयकर साहब के सामने ही मिलने दिया जायगा। यह अन्देशा किया गया था कि अगर हम पहले मिल लेंगे तो हमारा रुख़ कड़ा हो जायगा और हम सब और भी मजबूत हो जायंगे। लिहाज़ा वह सारी रात और दूसरे दिनभर और रातभर हम दूसरी बैरक में रखे गए। इसपर पिताजी को बहुत बुरा मालूम हुआ। वहां ले जाकर गांधीजी से न मिलने देना, जिनसे मिलने के लिए हम इतनी दूर नैनी से लाये गए, गोया हमें तरसाना और तड़पाना था। आख़िर १३ ता० को दोपहर के पहले हमें ख़बर की गई कि सर सप्रू और जयकरसाहब तशरीफ़ ले आये हैं और गांधीजी भी जेल के दफ़्तर में उनके साथ मौजूद हैं और आप सबको वहीं बुलाया है। पिताजी ने जाने से इन्कार कर दिया और जब जेलवालों की तरफ़ से बहुतेरी सफ़ाइयां दी गई और माफ़ियां मांगी गई और यह तय पाया कि हम पहले अकेले गांधीजी से ही मिलाये जायेंगे, तब वह वहां जाने को राज़ी हुए। आगे चलकर हम सबके सम्मिलित अनुरोध पर सरदार पटेल और जयरामदास दौलतराम, जो दोनों यरवदा ले आये गए थे, और सरोजिनी नायडू भी, जो हमारे सामने की स्त्री-बैरक में ही रक्खी गई थीं, हमारे साथ बातचीत में शरीक किये गए। उसी रात पिताजी, महमूद और मैं तीनों गांधीजी के अहाते में ले जाये गए और यरवदा से चलने तक हम वहीं रहे। वल्लभभाई और जयरामदास भी वहां लाये गए और वे भी वहीं रक्खे गए, जिससे हमारे आपसमें सलाह-मशवरा किया जा सके।

१३, १४ और १५ अगस्त तक सप्रू और जयकरसाहब से हमारा मशवरा जेल के दफ़्तर में होता रहा और हमने आपस में चिट्ठी-पत्री के द्वारा अपने-अपने विचार भी प्रदर्शित कर दिये, जिनमें हमारी तरफ़ से वे कम-से-कम शर्तें बता दी गई जिनके पूरा होने पर सविनय-भंग वापस लिया जा सकता था और सरकार के साथ सहयोग किया जा सकता था। बाद को ये चिट्ठियां अख़बारों में भी छाप दी गई थीं।[1]

इस बातचीत का पिताजी के शरीर पर बुरा असर हुआ और १६ ता० को

---

[1] देखिए परिशिष्ट संख्या २।

एकाएक उन्हें ज़ोर का बुख़ार आ गया। इससे हमारा जाना रुक गया और हम १९ की रात को रवाना हो पाये--फिर उसी तरह स्पेशल ट्रेन से। बम्बई-सरकार ने सफ़र में हर तरह से पिताजी के आराम का ख़याल रक्खा और यरवदा-जेल में भी उनके आराम का पूरा-पूरा प्रबन्ध किया गया था। जिस रात हम यरवदा पहुंचे, उस दिन एक मज़ेदार घटना हुई, जो मुझे अब तक याद है। सुपरिण्टेण्डेण्ट कर्नल मार्टिन ने पिताजी से पूछा कि आप किस तरह का खाना पसन्द करेंगे? पिताजी ने कहा कि मैं बहुत सादा और हल्का खाना खाता हूं, और उन्होंने सुबह की चाय से लेकर रात के खाने तक की सब ज़रूरी चीज़ें गिना दीं। (नैनी में रोज़ हम लोगों के घर से खाना आता था)। पिताजी ने सरल भाव से जो-जो चीज़ें लिखाई वे थीं तो सब सादी और हल्की ही, मगर उन्हें देखकर कर्नल मार्टिन दंग रह गए। बहुत मुमकिन था कि रिज और सेवाय होटल में वे चीज़ें सादा और हल्की समझी जाती हों, जैसा कि खुद पिताजी भी समझते थे; लेकिन यरवदा-जेल में ये अजीब और बेतुकी दिखाई दीं। महमूद और मैं बड़ी रंगत के साथ उस समय कर्नल मार्टिन के चेहरे के उतार-चढ़ाव देखते रहे, जबकि पिताजी भोजन की उन कई तरह की और ख़र्चीली चीजों के नाम सुनाते जा रहे थे; क्योंकि कई दिनों से उनके यहां भारत का सबसे बड़ा और बहुत नामी नेता रक्खा गया था और उसकी भोजन-सामग्री थी सिर्फ बकरी का दूध, ख़जूर और शायद कभी-कभी संतरे। मगर जो यह नया नेता उनके सामने आया उसका ढंग कुछ और ही था।

पूना से नैनी लौटते समय भी हम बड़े-बड़े स्टेशन छलांगते गए और ऐसी-वैसी मामूली जगह गाड़ी ठहरती रही। मगर भीड़ अब की और ज़्यादा थी, प्लेटफ़ार्म भरे हुए थे और कहीं-कहीं तो रेलवे लाइन पर भी भीड़ जमा हो गई थी—खासकर हरदा, इटारसी और सोहागपुर में। यहांतक कि दुर्घटनाएं होते-होते बचीं।

पिताजी की हालत तेज़ी से गिरने लगी। कितने हो डाक्टर उन्हें देखने जेल में आते—खुद उनके डाक्टर भी और प्रान्तीय सरकार की तरफ़ से भेजे हुए डाक्टर भी। ज़ाहिर था कि जेल उनके लिए सबसे ख़राब जगह थी और वहां किसी तरह माकूल इलाज भी नहीं हो सकता था। मगर फिर भी जब किसी मित्र ने अख़बार में लिखा कि बीमारी के सबब से उन्हें रिहा कर देना चाहिए तो पिताजी बहुत बिगड़े और उन्होंने कहा कि लोग समझेंगे कि मेरी तरफ़ से यह इशारा कराया गया है। यहांतक कि उन्होंने लार्ड इर्विन को तार दिया कि मैं ख़ास मेहरबानी

कराके नहीं छूटना चाहता। लेकिन उनकी हालत दिन-ब-दिन खराब ही होती गई। वज़न तेज़ी से गिरता जा रहा था, और उनका शरीर एक छाया या ढांचा-मात्र रह गया था। आखिर ८ सितम्बर को, ठीक १० सप्ताह बाद, वह रिहा कर दिये गए।

उनके चले जाने से हमारी बैरक से मानो जीवन और आनन्द चला गया। जब वह हमारे पास थे तो उनके लिए न जाने क्या-क्या करना पड़ता था, उनके आराम के लिए छोटी-छोटी बातों का भी ध्यान रखना पड़ता था। और हम सब—महमूद, नर्मदाप्रसाद और मैं—बड़ी ख़ुशी-ख़ुशी उनकी सेवा में दिन बिताते थे। मैंने निवाड़ बुनना छोड़ दिया था, कातना भी बहुत कम कर दिया था और न किताबें पढ़ने का ही वक्त मिलता था। जब वह चले गए तो हमें फिर उन्हीं कामों को शुरू करना पड़ा, मगर दिल पर बोझ बना रहता था और वह आनन्द नहीं रहा था। उनके रिहा होने पर दैनिक पत्र भी मिलना बन्द हो गया। ४-५ दिन बाद मेरे बहनोई रणजित पंडित गिरफ़्तार हुए और हमारी बैरक में ही रखे गए।

१ महीने बाद, ११ अक्तूबर को, मेरी छह महीने की सज़ा पूरी हो जाने पर, मैं छोड़ दिया गया। मैं जानता था कि मैं थोड़े ही दिन आज़ाद रह सकूंगा, क्योंकि लड़ाई जमती और तेज़ होती जा रही थी। 'शान्ति-दूतों'—सप्रू-जयकर साहब—की कोशिशें बेकार हो चुकी थीं। उसी दिन, जिस दिन मैं छूटा, दो और आर्डिनेन्स जारी किये गए थे। ऐसे वक़्त पर छूटने से मुझे ख़ुशी हुई और मैं इस बात के लिए उत्सुक था कि जितने दिन आज़ाद रहूं, कुछ अच्छा और ज़ोर-दार काम कर जाऊं।

उन दिनों कमला इलाहाबाद थी और वह कांग्रेस के काम में जुट पड़ी थी। पिताजी मसूरी में इलाज करा रहे थे और मां तथा बहनें उनके साथ थीं। कमला को साथ लेकर मसूरी जाने से पहले कोई डेढ़ दिन तक मैं इलाहाबाद में ही व्यस्त रहा। उन दिनों हमारे सामने जो बड़ा सवाल था वह यह कि देहात में करबन्दी-आन्दोलन शुरू किया जाय या नहीं? लगान-वसूली का वक़्त नज़दीक आ रहा था और यों भी लगान वसूल होने में दिक़्क़त आनेवाली थी; क्योंकि अनाज के भाव बुरी तरह गिर गए थे। संसार-व्यापी मन्दी का प्रभाव हिन्दुस्तान-भर में दिखाई दे रहा था।

लगानबन्दी-आन्दोलन के लिए इससे बढ़कर उपयुक्त अवसर नहीं दिखाई देता था—दोनों तरह से, सविनय भंग-आन्दोलन के सिलसिले में भी और यों स्वतन्त्र रूप से भी। यह ज़ाहिरा तौर पर असम्भव था कि ज़मींदार और काश्तकार उस साल की पैदावार से पूरा-पूरा लगान चुका दें। उन्हें या तो पिछले साल की बचत, अगर कुछ हो तो उसका, या कर्ज़ का सहारा लिये बिना चारा न था। ज़मींदार के पास तो यों भी कुछ-न-कुछ सहारा रहता है, और उसे कर्ज़ भी आसानी से मिल सकता है; मगर एक औसत किसान का तो, जो अमूमन भूखा-नंगा और कंगाल होता है, कोई सहारा नहीं होता। किसी भी प्रजातन्त्री देश में या और जगह जहां किसानों का संगठन अच्छा और प्रभावशाली है, इन परिस्थितियों में, किसानों से ज़्यादा वसूल करना असम्भव होता। लेकिन भारत में उनका प्रभाव नाममात्र का है—सिवा इसके कि कहीं-कहीं कांग्रेस उनकी हिमायत करती और उनका साथ देती है। हां, एक बात और भी है। सरकार को यह डर ज़रूर लगा रहता है कि जब किसानों के लिए हालत असहनीय हो जायगी, तो वे उठ खड़े होंगे और बुरी तरह उभड़ पड़ेंगे। लेकिन, उन्हें तो ज़माने से यह शिक्षा मिलती चली आ रही है कि जो कुछ विपदा आये, उसे चूं तक किये बिना करम पर हाथ रखकर बरदाश्त करते चले जाओ।

गुजरात तथा दूसरे प्रान्तों में उस समय करबन्दी-आन्दोलन चल रहे थे, लेकिन वे प्रायः सब राजनैतिक स्वरूप के थे और सविनय भंग-आन्दोलन से जड़े हुए थे। ये वे प्रान्त थे जहां रैयतवारी तरीक़ा था और किसानों का ताल्लुक सीधा सरकार से था। उनके लगान न देने का असर तुरन्त सीधा सरकार पर पड़ता था। मगर युक्तप्रान्त की हालत उनसे भिन्न थी; क्योंकि हमारा इलाका ज़मींदारी और ताल्लुक़ेदारी है और काश्तकार तथा सरकार के बीच एक तीसरी जमात भी है। अगर काश्तकार लगान देना बन्द कर दे तो उसका सीधा असर ज़मींदार पर होता है; इससे वह एक वर्ग का प्रश्न बन जाता है। इधर कांग्रेस कुल मिलाकर एक राष्ट्रीय संस्था है और उनमें कितने ही छोटे-मोटे तथा कुछ बड़े ज़मींदार भी शामिल थे। उसके नेता इस बात से बुरी तरह भय खाते थे कि कहीं कोई वर्ग-विग्रह का प्रश्न न बन जाय, या ज़मींदार लोग न बिगड़ बैठें। इस कारण सविनय भंग शुरू होने से ठेठ छह महीने तक वे देहात में करबन्दी-आन्दोलन शुरू करने से बचते रहे; हालांकि मेरी राय में उसके लिए बहुत ही अनुकूल अवसर

था। मैं इस वर्गवाद के सवाल से तो इस तरह या और किसी तरह क़तई नहीं घबराता था; लेकिन मैं इतना ज़रूर महसूस करता था कि कांग्रेस अपनी मौजूदा हालत में वर्ग-संघर्ष को नहीं अपना सकती। हां, वह दोनों से—काश्तकार और ज़मींदार दोनों से—कह सकती थी कि लगान मत दो। फिर भी औसत ज़मींदार बहुत करके मालगुज़ारी दे देते; लेकिन उस दशा में क़ुसूर उनका होता।

अक्तूबर में जब मैं जेल से छूटा तो क्या राजनैतिक और क्या आर्थिक दोनों दशाएं मुझे ऐसी मालूम हुई, मानो वे देहात में करबन्दी-आन्दोलन छेड़ देने के लिए पुकार-पुकार के कह रही हों। किसानों की आर्थिक कठिनाइयां तो ज़ाहिर ही थीं। राजनैतिक क्षेत्र में, हमारा सविनय भंग-आन्दोलन यद्यपि सब जगह फल-फूल रहा था, तो भी कुछ-कुछ धीमा पड़ गया था। हालांकि लोग थोड़े-थोड़े करके और कहीं-कही बड़े दल बनाकर भी जेल जाते थे, तो भी वातावरण में वह तेज़ी और गर्मी नहीं दिखाई देती थी। शहर और मध्यम श्रेणी के लोग हड़तालों और जुलूसों से कुछ थक-से गए थे। ज़ाहिरा तौर पर यह दिखाई देता था कि कुछ ज़िन्दगी डालने की, नया ख़ून लाने की, ज़रूरत है। किसान-समुदाय के अलावा यह और कहां से आ सकता था? और यह ख़ज़ाना तो अभी अखूट भरा पड़ा है। यह फिर जनता का एक आन्दोलन हो जायगा, जिससे जनता के गहरे हितों का सम्बन्ध होगा, और मुझे जो सबसे मार्के की बात मालूम होती थी वह यह थी कि इसकी बदौलत समाज-व्यवस्था-सम्बन्धी प्रश्न उठ खड़े होंगे।

उस थोड़े समय में जब मै इलाहाबाद रहा, हमारे साथियों ने और मैंने इन विषयों पर ख़ूब गौर किया। जल्दी ही हमने प्रान्तीय कांग्रेस की कार्यकारिणी की मीटिंग बुलाई और बहुत बहस-मुबाहसे के बाद करबन्दी-आन्दोलन की मंज़ूरी दे दी और हर ज़िले को उसे शुरू करने का अधिकार दे दिया। हमने ख़ुद सूबे के किसी हिस्से में उसे शुरू नहीं किया, और कार्यकारिणी ने उसे ज़मींदार और काश्तकार दोनों पर लागू किया, जिससे उनके वर्गवाद-सम्बन्धी प्रश्न बन जाने की सम्भावना न रह जाय। हां, यह तो हम जानते ही थे कि इसमें मुख्य सहयोग किसानों की ही तरफ़ से मिलेगा।

जब इस तरह आगे क़दम बढ़ाने की छुट्टी मिल गई, तो हमारे इलाहाबाद ज़िले ने पहला क़दम उठाना चाहा। हमने एक सप्ताह बाद ज़िले के किसानों का एक सम्मेलन करके इस नये आन्दोलन को आगे ठेलने का निश्चय किया।

मेरे मन को इस बात से तसल्ली हुई कि जेल से छूटते ही पहले दिन मैंने ठीक-ठीक काम कर लिया। सम्मेलन के साथ ही मैंने इलाहाबाद में एक बड़ी आम सभा का भी आयोजन किया। इसमें मैंने एक लम्बा भाषण दिया। इसी भाषण पर बाद को मुझे फिर सज़ा दी गई थी।

इसके बाद १३ अक्तूबर को कमला और मैं तीन दिन के लिए पिताजी से मिलने मसूरी गये। वह कुछ-कुछ अच्छे हो रहे थे और मुझे यह देखकर तसल्ली हुई कि अब उन्होंने करवट बदली है और चंगे हो रहे हैं। वे तीन दिन बड़ी शान्ति और बड़े आनन्द में बीते जो मुझे अबतक याद आते हैं। फिर से अपने परिवार के साथ आकर रहना कितना अच्छा लगता था! मेरी लड़की इन्दिरा और मेरी तीन नन्हीं-नन्हीं भानजियां भी वहीं थीं। मैं इन बच्चों के साथ खेलता, कभी-कभी हम एक शाही जुलूस वनाकर घर के आस-पास बड़ी शान से घूमते। सबसे छोटी लड़की जो शायद ३-४ साल की थी, हाथ में राष्ट्रीय झण्डा लिये, हमारा झण्डा-गीत 'झंडा ऊंचा रहे हमारा' गाती हुई सबके आगे-आगे चलती। पिताजी के साथ मेरे ये तीन दिन बस आख़िरी दिन थे; क्योंकि इसके बाद उनकी बीमारी असाध्य हो गई और उन्हें हमसे छीनकर ले ही गई।

पिताजी ने एकाएक इलाहाबाद आने का निश्चय कर लिया—शायद इस अन्देशे से कि शीघ्र ही मेरी गिरफ़्तारी हो जायगी, या इसलिए कि वह मेरी परिस्थिति को अच्छी तरह देख सकें। १९ को इलाहाबाद में किसान-सम्मेलन होनेवाला था, इसलिए कमला और मैं १७ को मसूरी से चलनेवाले थे। पिताजी ने हमारे जाने के दूसरे दिन, १८ को और लोगों के साथ रवाना होने की तजवीज़ की।

कमला और मेरे दोनों के लिए यह यात्रा ज़रा घटनापूर्ण रही। देहरादून में, ज्योंही मैं रवाना होने लगा, ज़ाब्ता फौजदारी की दफ़ा १४४ के मुताबिक़ मुझपर एक नोटिस तामील की गई। लखनऊ में हम कुछ ही घण्टों के लिए ठहरे थे, कि मालूम हुआ, कि वहां भी दफ़ा १४४ की एक नोटिस हमारी राह देख रही है। लेकिन वह तामील न हो सकी, क्योंकि भीड़ के कारण पुलिस अफ़-सर मुझतक पहुंच नहीं पाया। म्युनिसिपैलिटी की तरफ़ से मुझे एक मानपत्र दिया गया और फिर हम मोटर से इलाहाबाद चले गए। रास्ते में जगह-जगह ठहरकर किसानों की सभाओं में व्याख्यान भी देते जाते थे। इस तरह करते-करते १८ की रात को हम इलाहाबाद पहुंचे।

१९ को सुबह होते ही दफ़ा १४४ की एक और नोटिस मुझे मिली। सरकार मेरे पीछे पड़ी थी, और मैं कुछ घण्टों का ही मेहमान था। मैं उत्सुक था कि गिरफ़्तारी के पहले किसान-सम्मेलन में हो आऊं। इस सम्मेलन में हमने खानगी तौर से सिर्फ़ प्रतिनिधियों को ही बुलाया था। किसी बाहरी आदमी के आने की इजाज़त इसमें न थी। इलाहाबाद ज़िले के बहुत से प्रतिनिधि इसमें आये थे, और जहां तक मुझे याद है उनकी संख्या १६०० के लगभग थी। सम्मेलन ने बड़े उत्साह के साथ अपने ज़िलों में करबन्दी शुरू करने का फ़ैसला किया। हां, कुछ मुख्य कार्यकर्त्ताओं को ज़रूर हिचकिचाहट थी। इस बात में उन्हें कुछ शक था कि कामयाबी होगी या नहीं; क्योंकि किसानों को डराने-दबाने के साधन ज़मींदारों के पास बहुत थे और सरकार उनकी पीठ पर थी। उन्हें यह भी अन्देशा था कि किसान इन सब कठिनाइयों में कहां तक टिक सकेंगे। लेकिन उन भिन्न-भिन्न श्रेणी के १६०० प्रतिनिधियों के दिलों में, जो वहां मौजूद थे, ऐसी कोई हिचक या सन्देह न था, कम-से-कम वहां तो दिखाई नहीं देता था। सम्मेलन में मैंने भी एक भाषण दिया था। लेकिन मैं नहीं कह सकता कि मैंने दफ़ा १४४ का उल्लंघन किया या नहीं, जोकि मुझपर सार्वजनिक सभा में न बोलने के लिए लगाई गई थी।

वहां से मैं, पिताजी और घर के दूसरे लोगों को लिवाने के लिए स्टेशन गया। गाड़ी लेट थी और उनके उतरते ही मैं उन्हें वहीं छोड़कर एक और सभा के लिए रवाना हो गया। इसमें शहर और आसपास के देहात के लोग भी आनेवाले थे। ८ बजे के बाद रात को मैं और कमला थके-मांदे सभा से घर लौट रहे थे। मैं पिताजी से बातें करने के लिए उत्सुक हो रहा था, और मैं जानता था कि वह भी मेरी राह देख रहे होंगे, क्योंकि उनके आने के बाद हमें शायद ही बातचीत करने का मौका मिला हो। पर रास्ते में हमारी मोटर रोक ली गई—वहां से हमारा घर दिखाई दे रहा था, और मैं गिरफ़्तार करके फिर जमना-पार नैनी की अपनी पुरानी बैरक में पहुंचा दिया गया। कमला अकेली आनन्द-भवन गई और उसने पिताजी तथा घर के दूसरे लोगों को इस घटना की खबर सुनाई। और उधर नौ का घण्टा बजते-बजते मैंने फिर उसी नैनी-जेल के फाटक में प्रवेश किया।

: ३२ :

युक्तप्रान्त में कर-बन्दी

आठ दिन की ग़ैरहाज़िरी के बाद मैं फिर नैनी आ गया और सैयद महमूद, नर्मदाप्रसाद और रणजित पण्डित के साथ उसी पुरानी बैरक में आ मिला। कुछ दिनों के बाद जेल में ही मेरा मुक़दमा चला। मुझपर कई दफ़ाएं लगाई गई थीं, जिनका आधार था मेरा वह भाषण जो मैंने अपने छूटने के बाद इलाहाबाद में दिया था। उसीके अलग-अलग हिस्सों को लेकर अलग-अलग इलज़ाम लगाये गए थे। अपने व्यवहार के अनुसार मैंने कोई सफ़ाई नहीं दी, सिर्फ़ थोड़े में अपना एक लिखित बयान अदालत में पेश किया। दफा १२४ की रू से राजद्रोह के अपराध में मुझे १८ मास की सख़्त क़ैद और ५०० रु० जुरमाने, १८८२ के नमक-क़ानून के मुताबिक़ ६ महीने की क़ैद और १०० रु० जुरमाने तथा १९३० के आर्डिनेन्स ६ के मातहत (मैं भूल गया हूं कि यह आर्डिनेन्स किस विषय का था) ६ मास की क़ैद और १०० रु० जुरमाने की सज़ाएं दी गई। पिछली दोनों सज़ाएं एक साथ चलनेवाली थीं, इसलिए कुल मिलाकर मुझे २ साल की क़ैद हुई और जुरमाना न देने की हालत में ५ महीने और। यह मेरी पांचवी जेल-यात्रा थी।

फिर से मेरी गिरफ़्तारी और सज़ा का सविनय भंग-आन्दोलन की गति पर कुछ समय के लिए अच्छा ही असर हुआ। उससे उसमें एक नया जीवन और अधिक बल आ गया। इसका अधिकांश श्रेय पिताजी को है। जब कमला से उनको मेरी गिरफ्तारी की ख़बर मिली तो उन्हें एक धक्का लगा, मगर फ़ौरन ही उन्होंने अपनी शक्तियों को बटोरा और सामने पड़ी हुई मेज़ को ठोंककर कहा—अब मैंने निश्चय कर लिया है कि इस तरह बीमार बनकर पड़ा नहीं रहूंगा; अब अच्छा होकर एक जवांमर्द की तरह काम करूंगा और बीमारी को व्यर्थ में अपने पर हावी न होने दूगा। उनका यह निश्चय तो जवांमर्दों का-सा ही था; मगर अफ़सोस है कि यह सारा संकल्प-बल भी उस गहरी बीमारी को, जो उनके शरीर को कतर-कुतरकर खा रही थी, न दबा पाया। फिर भी कुछ दिनों

तक तो उनके स्वास्थ्य में साफ़-साफ़ तब्दीली दिखाई देने लगी—इतनी कि देखकर लोगों को अचम्भा होता था। कुछ महीने पहले से, जबसे वह यरवदा गये, उनके बलग़म में ख़ून आने लगा था। उनके इस निश्चय के बाद ही वह यकायक बन्द हो गया और कुछ दिन तक बिल्कुल नहीं दिखाई दिया। इससे उन्हें ख़ुशी हुई थी, और जब वह मुझसे जेल में मिलने आये तो उन्होंने मुझसे इस बात का कुछ फ़ख्र के साथ ज़िक्र किया। लेकिन बदक़िस्मती से यह तसल्ली थोड़े ही दिन रही और आगे चलकर बीमारी फिर बढ़ गई और ख़ून अधिक परिमाण में आने लगा। इस बीच में उन्होंने अपने पुराने जोश-ख़रोश से काम शुरू किया और देश-भर में सविनय भंग-आन्दोलन को एक ज़ोर का धक्का दिया। जगह-जगह के लोगों से वह बातचीत करते और उन्हें ब्यौरेवार आज्ञाएं भेजते। उन्होंने एक दिन मुक़र्रर किया (यह नवम्बर में मेरा जन्मदिन था) जो सारे हिन्दुस्तान में उत्सव के रूप में मनाया जाय और उस दिन मेरे भाषण के वे अंश सभाओं में पढ़े जायं जिनपर मुझे सज़ा दी गई थी। उस दिन कई जगह लाठी-चार्ज हुए, जुलूस और सभाएं बलपूर्वक तितर-बितर की गई और यह अन्दाज़ किया गया था कि उस दिन सारे देशभर में कोई पांच हज़ार गिरफ़्तारियां हुई होंगी। वह अपने ढंग का एक अनोखा जन्मोत्सव था।

बीमार तो वह थे ही, तिस पर यह ज़िम्मेदारी और उसम इतनी ज़्यादा ताक़त का सर्फ़ होना उनकी तन्दुरुस्ती के लिए बहुत हानिकारक हुआ और मैंने उनसे आग्रह किया कि वह बिल्कुल आराम ही करे। मैंने सोचा कि हिन्दुस्तान में तो उनको ऐसा विश्राम मिलेगा नहीं; क्योंकि यहां उनका दिमाग़ लड़ाई के उतार-चढ़ाव में लगा रहेगा और लोग उनके पास सलाह-मशवरा लेने के लिए आये बिना न रहेंगे; इसलिए मैंने उन्हें सुझाया कि वह रंगून, सिंगापुर, और डच-इंडीज़ की तरफ़ छोटी-सी समुद्र-यात्रा कर आयें और उन्हें यह विचार पसन्द भी आया था। यह भी तजवीज़ की गई थी कि कोई डाक्टर-मित्र यात्रा में साथ रहें। इस ग़रज़ से वह कलकत्ता गये भी, मगर वहां उनकी तबीयत और भी ख़राब होती गई और वह आगे न बढ़ सके। कलकत्ते से बाहर एक स्थान में सात हफ़्ते तक रहे। कमला को छोड़कर हमारे घर के सब लोग उनके साथ थे। कमला इलाहाबाद में बहुत अरसे तक कांग्रेस का काम करती रही।

मेरी गिरफ़्तारी इतनी जल्दी शायद इसलिए हुई कि मैं करबन्दी-आन्दोलन

के सिलसिले में काम कर रहा था। मगर सच पूछिये तो मेरी गिरफ़्तारी से बढ़कर उस आन्दोलन को बढ़ानेवाली और कोई घटना नहीं हो सकती थी—खासकर उसी दिन जबकि किसान-सम्मेलन ख़त्म ही हुआ था और उसके प्रतिनिधि इलाहाबाद में ही मौजूद थे। इससे उनका उत्साह बहुत बढ़ गया और वे ज़िले के क़रीब-क़रीब हर गांव में सम्मेलन का फ़ैसला अपने साथ लेते गये। दो-एक दिन में ही ज़िले में ख़बर फैल गई कि करबन्दी-आन्दोलन शुरू हो गया है और हर जगह लोग ख़ुशी-ख़ुशी उसमें शरीक होने लगे।

उन दिनों हमारी सबसे बड़ी मुश्किल ख़बर पहुंचाने की थी—लोगों को यह बतलाने की कि हम क्या कर रहे हैं और उनसे क्या कराना चाहते हैं। अख़बार हमारी खबरों को छापने के लिए तैयार नहीं होते थे, इस डर से कि सरकार उनको सज़ा देगी और दबा देगी; छापेख़ाने भी हमारे इश्तिहार और पत्रिकाएं छापने को तैयार नहीं होते थे; चिट्ठियों और तारों को काट-छांट दिया जाता था और अक्सर रोक भी लिया जाता था। खबरें पहुंचाने का भरोसे का तरीक़ा जो हमारे पास बाक़ी था वह यह था कि हम हरकारों की मार्फ़त अपनी ख़बरें भेजें। इसमें भी हमारे हरकारों को कभी-कभी गिरफ़्तार कर लिया जाता था। यह तरीक़ा खर्चीला था, और इसमें बड़े संगठन की भी ज़रूरत थी। लेकिन इसमें कुछ सफलता मिली। प्रान्तीय कार्यालय प्रधान कार्यालय के निरन्तर सम्पर्क में रहते थे और अपने खास-खास ज़िला-केन्द्रों के सम्पर्क में भी। शहरों में कोई खबर फैलाना मुश्किल नहीं था। कई शहरों में ग़ैर-क़ानूनी ख़बरें रोज़ाना या हफ़्तेवार साइक्लोस्टाइल के ज़रिये प्रकाशित होती रहती थीं और ऐसी खबरों की मांग बहुत रहती थी। आम लोगों में इत्तिला करने के लिए शहर में डोंडी पिटवाने का भी एक तरीक़ा था। इसमें अक्सर इत्तिला करनेवाले की गिरफ़्तारी हो जाती थी, मगर इसकी कुछ परवाह नहीं थी; क्योंकि लोग गिरफ़्तारी को तो पसन्द ही करते थे, उससे बचना नहीं चाहते थे। ये सब तरीके शहरों में अनुकूल पड़ते थे, परन्तु गांवों में आसानी के साथ काम में नहीं लाये जा सकते थे। हरकारों और साइक्लोस्टाइल से छपे हुए इश्तिहारों के ज़रिये से खास-खास गांवों के केन्द्रों से किसी-न-किसी तरह का ताल्लुक़ तो रक्खा ही जाता था, परन्तु यह सन्तोषजनक नहीं था, क्योंकि दूर के गांवों में हमारी खबरों को पहुंचने में काफ़ी समय लग जाया करता था।

इलाहाबाद के किसान-सम्मेलन से यह मुश्किल दूर हो गई। ज़िले के प्राय: हर ख़ास-ख़ास गांव से डेलीगेट आये थे और जब वे वापस गये तब अपने साथ किसानों से सम्बन्ध रखनेवाले ताज़े फ़ैसलों और उनके कारण हुई मेरी गिरफ़्तारी की ख़बर को ज़िले के हरेक हिस्से में ले गये। वे लोग, जिनकी कि तादाद सोलह सौ थी, करबन्दी-आन्दोलन के प्रभावशाली और जोशीले प्रचारक बन गए। इस प्रकार आन्दोलन की प्रारम्भिक सफलता का विश्वास हो गया, और इसमें कोई शक नहीं था कि शुरू में उस प्रदेश के आम किसान लगान देना बन्द कर देंगे, और उस वक़्त तक बिल्कुल नहीं देंगे, जबतक कि उनको देने से लिए और दबाया-डराया नहीं जायगा। निस्सन्देह कोई नहीं कह सकता था कि ज़मींदारों और अहलकारों की हिंसावृत्ति और भय के मुक़ाबले में उनकी सहनशक्ति कितनी टिक सकेगी।

करबन्दी करने की अपील हमने ज़मींदारों और किसानों दोनों से की थी। सिद्धान्त की दृष्टि से वह अपील किसी एक वर्ग के लिए नहीं थी। मगर अमली रूप में कई ज़मींदारों ने अपना कर दे दिया और राष्ट्रीय संग्राम के प्रति जिनकी सहानुभूति थी, ऐसे भी कई लोगों ने कर दे दिया। उनपर दबाव बहुत भारी था और उनके बहुत नुक़सान हो जाने की सम्भावना थी। जहांतक किसानों का सवाल था, वे तो मज़बूत ही रहे। उन्होंने लगान नहीं दिया और इस प्रकार हमारा आन्दोलन एक करबन्दी-आन्दोलन ही हो गया। इलाहाबाद ज़िले से वह संयुक्तप्रान्त के कुछ दूसरे ज़िलों में भी फैल गया। कई ज़िलों में उसको बाज़ाब्ता इख़्तियार नहीं किया गया, न उसका ऐलान किया गया, परन्तु वास्तव में किसानों ने कर देना रोक दिया और कई जगह तो भावों के गिर जाने के कारण वे दे ही नहीं सके। इसपर कई महीनों तक न तो सरकार ने और न बड़े ज़मींदारों ने उन सरकश किसानों को भयभीत करने के लिए कोई बड़ी कार्रवाई ही की। उन्हें अपनी कामयाबी पर भरोसा नहीं था; क्योंकि एक तरफ़ तो सविनय भंग-आन्दोलन के सहित राजनैतिक संग्राम था और दूसरी तरफ़ आर्थिक मन्दी का प्रभाव था, जिससे कि किसान दु:खी थे। इन दोनों कठिनाइयों का समावेश एक-दूसरे में हो गया और सरकार को बराबर यह डर रहा कि कहीं किसानों में कोई तूफ़ान न उठ खड़ा हो। उधर लन्दन में गोलमेज़-कान्फ्रेंस हो रही थी। इसलिए इधर भारतवर्ष में सरकार अपनी तकलीफ़ें नहीं बढ़ाना चाहती थी, और न 'ज़ोरदार'

हुकूमत का प्रभावशाली प्रदर्शन ही करना चाहती थी।

जहां तक इस प्रान्त का सम्बन्ध है, करबन्दी-आन्दोलन का एक खास नतीजा दिखाई दिया। इससे हमारे संग्राम का आकर्षण-केन्द्र शहरी प्रदेश से हटकर देहाती प्रदेशों में चला गया। इससे आन्दोलन में नवजीवन आ गया और जिसने उसकी बुनियाद को अधिक व्यापक और मज़बूत बना दिया। यद्यपि हमारे शहरी लोग इससे हैरान हो गए और थक गए और हमारे मध्यम श्रेणी के लोग किसी हदतक निराश हो गए, परन्तु संयुक्तप्रान्त में आन्दोलन मजबूत था और पहले किसी भी समय किये गए आन्दोलन से मज़बूत रहा। शहर से देहात की तरफ़ परिवर्तन--और राजनैतिक से आर्थिक समस्याओं की तरफ़ परिवर्तन--दूसरे प्रान्तों में इतनी हद तक नहीं हुआ। नतीजा यह हुआ कि उनमें शहरों की प्रधानता बनी रही और वे मध्यमवर्ग के लोगों की थकावट से ज़्यादा-से-ज़्यादा नुक़सान उठाते रहे। बम्बई शहर में भी, जो कि शुरू से अख़ीर तक आन्दोलन में ख़ूब भाग लेता रहा, कुछ-कुछ निराशा फैलने लगी। बम्बई में और दूसरी जगह भी हुकूमत की अवहेलना और गिरफ़्तारियां तो जारी रहीं, परन्तु यह सब किसी क़दर बनावटी दिखाई देता था। उसका सजीव तत्त्व जाता रहा था। यह स्वाभाविक भी था; क्योंकि जन-समूह को लम्बे समय तक किसी क्रान्ति की हालत में रखना असम्भव है। आमतौर पर तो ऐसी स्थिति कुछ दिनों तक ही टिका करती है, परन्तु सविनय भंग की यह अद्भुत शक्ति है कि यह कई महीनों तक जारी रहनेके बाद भी धीमी चाल से अमर्यादित समय तक चलता रह सकता है।

सरकारी दमन बढ़ा। स्थानिक कांग्रेस कमेटियां, यूथ-लीग आदि, जोकि अभी तक आश्चर्य के साथ चलती रही थीं, ग़ैर-क़ानूनी क़रार दी गई और दबा दी गईं। जेलों में राजनैतिक क़ैदियों के साथ ज्यादा बुरा बर्ताव होने लगा। सरकार खास करके इससे चिढ़ गई, कि लोग जेल से छूट जाने के बाद तुरन्त ही फिर जेल में चले जाते थे। सज़ा के बावजूद भी सत्याग्रहियों को झुकाने मे अस-फल होने के कारण शासकों का हौसला ढीला हो गया। ज़ाहिरा तौर पर जेल-शासन-सम्बन्धी अपराधों के कारण संयुक्तप्रान्त में नवम्बर या दिसम्बर १९३० के शुरू में कुछ राजनैतिक क़ैदियों को बेंतों की सज़ा दी गई थी। इसकी खबर हमारे पास नैनी-जेल में पहुंची। उससे हम सब क्षुब्ध हो उठे—तबसे हम हिन्दुस्तान में इसके तथा इससे भी खराब दृश्यों और घटनाओं के आदी हो गए हैं—क्योंकि

बेंत लगाना बुरे-से-बुरे और जेल-जीवन के आदी क़ैदियों के लिए भी मुझे एक अवांछनीय यातना मालूम हुई, और नौजवान कोमल-हृदय बच्चों के लिए तो और ज़्यादा। फिर नाममात्र के और नियम-भंग के क़ुसूर में बेंत की सज़ा को बिलकुल जंगली ही कहना चाहिए। हमारी बैरक के हम चारों ने सरकार को इसकी बाबत लिखा, और जब दो हफ्ते तक उसका कोई जवाब न आया तो हमने इस बेंत लगाने के विरोध में और इस बर्बरता के शिकार होनेवालों के प्रति हमदर्दी में कोई निश्चित कार्रवाई करना तय किया। हमने तीन दिन—७२ घंटे—का पूरा उपवास किया। उपवास के लिहाज़ से यह कोई बड़ी बात न थी, मगर हमें उपवास का अभ्यास नहीं था और न यही जानते थे कि हम उसमें कितने टिक सकेंगे ? इससे पहले २४ घंटे से ज्यादा का उपवास मैंने शायद ही कभी किया हो।

हमें उपवास के दिनों में कोई ज़्यादा तकलीफ़ नहीं हुई, और मुझे यह जानकर ख़ुशी हुई कि उसमें वैसी सख़्त तकलीफ़-जैसी कोई बात नहीं थी जिसका कि डर था। मगर एक बेवक़ूफ़ी मैंने की। उपवास-भर मैंने अपनी कड़ी कसरत जारी रक्खी थी—जैसे दौड़ना और हाथ-पांव को झटके देने की कसरत वग़ैरा। मैं नहीं समझता कि उससे मुझे कोई ज्यादा फ़ायदा हुआ। ख़ासकर उस हालत में जबकि मेरी तबीयत पहले से ही कुछ ख़राब थी। इन तीन दिनों में हम सबका वज़न ७ से ८ पौण्ड तक घटा। इससे पहले महीने में कोई १५ से २६ पौण्ड तक वज़न हम हरेक का घट चुका था सो अलग।

हमारे उपवास के अलावा, बाहर भी, बेंत लगाने के ख़िलाफ़ ख़ासा आन्दोलन हो रहा था, और मैं समझता हूं कि युक्तप्रान्तीय सरकार ने महकमा-जेल को ऐसी हिदायतें भेजी थीं कि आइन्दा बेंत न लगाये जायं। मगर ये आज्ञाएं ज़्यादा दिन क़ायम रहने को नहीं थीं और कोई एक साल के बाद युक्तप्रान्त की और दूसरे प्रान्तों की जेलों में बेंतों की सज़ा फिर दी जाने लगी।

बीच-बीच में यदि ऐसी उत्तेजक घटनाओं से ख़लल न पड़ा होता तो हमारा जेल-जीवन शान्तिपूर्ण रहता। मौसम अच्छा था और जाड़ा तो इलाहाबाद में बहुत ही मज़ेदार होता है। रणजित पंडित क्या आये, हमारी बैरक को दुर्लभ लाभ मिल गया; क्योंकि वह बाग़बानी बहुत-कुछ जानते थे और शीघ्र ही वह हमारा वीरान अहाता फूलों और तरह-तरह के रंगों से गुलज़ार हो गया। उन्होंने तो उस तंग और थोड़ी जगह में छोटे पैमाने पर गॉल्फ खेलने की सुविधा भी कर दी थी।

नैनी-जेल में हमारे सिर पर से हवाई जहाज़ उड़कर जाया करते थे और यह हमारे लिए एक आनन्द और मनोरंजन का विषय हो गया था। पूर्व और पश्चिम को आने-जानेवाले बड़े-बड़े हवाई जहाज़ों के लिए इलाहाबाद एक ख़ास स्टेशन है और आस्ट्रेलिया, जावा तथा फ्रेंच इण्डो-चायना को जानेवाले बड़े-बड़े जहाज़ सीधे हमारे सिर पर से गुज़रा करते थे। उनमें सबसे बड़े और शाही थे डच जहाज़, जो बटेविया आते-जाते थे। कभी-कभी इत्तिफ़ाक़ से और हमारी ख़ुश-क़िस्मती से जाड़े में बड़े तड़के, जबकि कुछ-कुछ अंधेरा रहता था और तारे चमकते दिखाई देते थे, कोई जहाज़ ऊपर से गुज़रता था। उसमें ख़ूब रोशनी की जगमगाहट रहती थी और उसके दोनों सिरों पर लाल बत्तियां होती थीं। प्रातःकाल के स्वच्छ नीले आसमान में जब वह जहाज़ ऊपर उड़ता तो उसका दृश्य बड़ा ही सुन्दर मालूम होता था।

पण्डित मदनमोहन मालवीय भी, किसी दूसरी जेल से, नैनी भेज दिये गए थे। वह हमसे अलग दूसरी बैरक में रक्खे गए थे, लेकिन हम रोज़ उनसे मिलते थे और शायद बाहर की बनिस्बत वहां मैं उनसे अधिक परिचय कर पाया। वह बड़े ख़ुश-मिज़ाज साथी थे। जीवनी-शक्ति से भरे-पूरे और हर बात में एक युवक की तरह दिलचस्पी लेनेवाले। रणजित की सहायता से उन्होंने जर्मन पढ़ना शुरू किया और उस सिलसिले में उन्होंने अपनी विलक्षण स्मरण-शक्ति का परिचय दिया। जब यह बेंतें लगाने की ख़बर मिली तब वह नैनी में ही थे और यह ख़बर सुनकर बहुत बिगड़े थे और उन्होंने हमारे सूबे के कार्यवाहक गवर्नर को इसके विषय में लिखा भी था। इसके बाद ही वह बीमार हो गए। जेल की सर्दी उन्हें बरदाश्त न हुई। उनकी बीमारी चिन्ताजनक होती गई और वह शहर के अस्पताल में भेज दिये गए और कुछ दिन बाद मियाद से पहले ही वहां से रिहा कर दिये गए। ख़ुशी की बात है कि अस्पताल जाकर वह चंगे हो गए।

१ जनवरी १९३१ को अंग्रेज़ी साल के नये दिन, कमला की गिरफ़्तारी की ख़बर हमें मिली। मुझे इससे ख़ुशी हुई, क्योंकि वह बहुत दिनों से अपने दूसरे साथियों की तरह जेल जाने को बहुत उत्सुक थी। यों तो अगर वह मर्द होती तो वह और मेरी दोनों बहनें तथा और भी दूसरी स्त्रियां बहुत पहले ही गिरफ़्तार हो गई होतीं; मगर उस वक़्त सरकार जहांतक हो सकता था स्त्रियों को गिरफ़्तार करना टालती थी और इससे वह इतने अरसे तक बच रही और अब जाकर उसके

मन की मुराद पूरी हुई। मैंने सोचा, सचमुच उसे कितनी ख़ुशी हुई होगी। मगर साथ ही मुझे कुछ डर भी लगा, क्योंकि उसकी तन्दुरुस्ती हमेशा ख़राब रहती थी। और मुझे अन्देशा था कि जेल में कहीं उसे बहुत ज़्यादा तकलीफ़ न हो।

गिरफ़्तारी के वक़्त एक पत्र-प्रतिनिधि वहां मौजूद था। उसने उससे एक सन्देश मांगा। उसी क्षण झट-से उसने एक छोटा-सा सन्देश दिया, जो उसके स्वभाव के अनुकूल ही था—"आज मुझे असीम प्रसन्नता है और इस बात का गर्व है कि मैं अपने पति के पद-चिह्नों पर चल सकी हूं। मुझे आशा है कि आप लोग इस ऊंचे झण्डे को नीच न झुकने देंगे।" मुमकिन था कि अगर वह कुछ सोच पाती तो ऐसा सन्देशा न देती; क्योंकि वह अपने को पुरुषों के अत्याचारों से स्त्रियों के अधिकारों की रक्षा करनेवाली योद्धा समझती थी। लेकिन उस समय हिन्दू-स्त्रीत्व के संस्कार उसमें प्रबल हो उठे और उनके प्रवाह में पुरुषों के अत्याचार न जाने कहां बह गए !

पिताजी कलकत्ता थे और उनकी हालत सन्तोषजनक नहीं थी। लेकिन कमला की गिरफ़्तारी और सज़ा के समाचार सुनकर वह बहुत बेचैन हो गए और उन्होंने इलाहाबाद लौटना तय किया। फ़ौरन ही मेरी बहन कृष्णा को उन्होंने इलाहाबाद रवाना किया और ख़ुद घर के और लोगों के साथ कुछ दिन बाद चले। १२ जनवरी को वह मुझसे मिलने नैनी आये। मैंने उन्हें कोई दो मास बाद देखा था, और उन्हें देखकर मेरे दिल को जो धक्का लगा उसे मैं मुश्किल से छिपा सका। उनके चेहरे को देखकर मेरे दिल में जो दहशत बैठ गई उससे वह अनजान मालूम हुए; क्योंकि उन्होंने मुझसे कहा कि कलकत्ते की बनिस्बत अब तो मैं बहुत अच्छा हूं। उनके चेहरे पर वरम आ गया था और वह शायद यह समझते थे कि यह तो यों ही आ गया है।

उनके उस चेहरे का मुझे रह-रहकर खयाल हो आता था। वह किसी तरह उनके चहरे-जैसा न रहा था। अब पहली मर्तबा मेरे दिल में यह डर पैदा हुआ कि उनके लिए ख़तरा सामने खड़ा है। मैंने हमेशा उनकी कल्पना बल और स्वास्थ्य के साथ-साथ ही की थी और उनके सम्बन्ध में मौत का ख़याल कभी मन में नहीं आता था। मौत के ख़याल पर वह हमेशा हंस दिया करते थे—उसे हंसी में उड़ा दिया करते थे, और हमसे कहा करते थे कि मैं तो अभी बहुत दिन जीऊंगा। लेकिन

इधर मैं देखता था कि जब कभी कोई उनका जवानी का मित्र मर जाता, तब वह अपने को अकेला-सा, अटपटे साथियों और लोगों में छूट गया-सा और मृत्यु के आने का इशारा-सा होता हुआ अनुभव करते थे। लेकिन आमतौर पर यह भाव आकर चला जाता था और उनकी ओत-प्रोत जीवनी-शक्ति अपना ज़ोर जमा लेती थी। हम परिवार के लोग उनके इस बहु-सम्पन्न व्यक्तित्व के और उनके सर्वव्यापी उत्साहप्रद स्नेह-पान के कितने अभ्यस्त हो गए थे कि उनके बिना दुनिया की कल्पना करना हमारे लिए कठिन था।

उनके चेहरे को देखकर मुझे बड़ा दुःख हुआ और मेरे मन में तरह-तरह की आशंकाएं छा गईं। फिर भी मुझे यह ख़याल नहीं हुआ था कि ख़तरा इतना नज़दीक आ पहुंचा है। ठीक उन्हीं दिनों, पता नहीं क्यों, ख़ुद मेरी भी तन्दुरुस्ती अच्छी नहीं रहती थी।

पहली गोलमेज़-कान्फ्रेंस के वे आख़िरी दिन थे और उसमें जो अलंकारिक भाषण हुए और आडम्बरयुक्त भाव प्रदर्शित किये गए वे हमारे मनोरंजन का विषय बन गये थे, और मुझे कहना होगा कि उस मनोरंजन में कुछ घृणा का भाव भी था। वहां के भाषण और लम्बी-चौड़ी बातें और वाद-विवाद हमें अवास्तविक और व्यर्थ मालूम होते थे; पर हां, एक वास्तविकता साफ़ दिखाई पड़ती थी—वह यह कि देश की कठिन परीक्षा के अवसर पर और जबकि हमारे भाइयों और बहनों ने अपने आचरण से सबको इतना आश्चर्य में डाल दिया, तब भी हमारे देश में ऐसे लोग थे जो हमारे संग्राम की अवहेलना करते थे और हमारे विपक्षियों की तरफ़ अपना नैतिक बल लगाते थे। यह बात हमें पहले से भी ज्यादा साफ़ नज़र आ गई कि राष्ट्रीयता की धोखे की टट्टी में विरोधी आर्थिक हित अपना काम कर रहे हैं और किस तरह स्थापित स्वार्थ उसी राष्ट्र-धर्म के नाम पर भविष्य के लिए अपनी रक्षा करने की चष्टा कर रहे हैं। गोलमेज़-कान्फ्रेंस इन स्थापित स्वार्थों के प्रतिनिधियों का ही एक सम्मेलन था। उनमें से कितनों ही ने हमारे संग्राम का विरोध किया था, कुछ ख़ामोश होकर एक तरफ़ खड़े देखते थे—हां, समय-समय पर हमें इस बात की याद भी दिलाया करते थे कि "जो खड़े होकर इन्तज़ार करते हैं वे एक तरह की सेवा ही करते हैं।" लेकिन ज्यों ही लन्दन से डोर हिली, इस इन्तज़ारी का एकाएक अन्त आ गया और वे अपने विशेष हितों की रक्षा के लिए और जो कुछ टुकड़े और मिल सकते हैं उनमें हिस्सा बंटाने के

लिए एक-के-बाद एक दौड़ पड़े। लन्दन में यह सम्मेलन और भी जल्दी इसलिए किया गया कि कांग्रेस तेज़ी के साथ बायें पक्ष की ओर जा रही थी और उसपर जनता का अधिकाधिक प्रभाव पड़ता जा रहा था। यह सोचा गया कि अगर भारत में आमूल राजनैतिक परिवर्तन का दौर आ गया तो इसके मानी होंगे जनता की भिन्न-भिन्न शक्तियों या अंशों का प्राधान्य हो जाना, या कम-से-कम महत्त्वपूर्ण बन बैठना। और ये लाज़िमी तौर पर आमूल सामाजिक परिवर्तन पर ज़ोर देंगे और इस तरह स्थापित स्वार्थों को धक्का पहुंचा जायेंगे। हिन्दुस्तानी स्थापित स्वार्थवाले इस आनेवाली आफ़त को देखकर सहम गए और इसके कारण उन्होंने दूरगामी राजनैतिक परिवर्तनों का विरोध किया। उन्होंने चाहा कि ब्रिटिश लोग यहां वर्तमान सामाजिक ढांचे को और स्थापित स्वार्थों को क़ायम रखने के लिए अन्तिम निर्णायक शक्ति के तौर पर क़ायम रहें। औपनिवेशिक पद पर जो इतना ज़ोर दिया गया उसके मूल में यही धारणा काम कर रही थी। एक दफ़ा तो एक मशहूर हिन्दुस्तानी लिबरल नेता मुझपर इस बात के लिए बिगड़ पड़े कि मैंने इस बात पर ज़ोर दिया था कि ग्रेट ब्रिटेन से समझौता होने के लिए आवश्यक है कि ब्रिटिश फ़ौज हिन्दुस्तान से तुरन्त हटा ली जाय और हिन्दुस्तानी फ़ौज हिन्दुस्तानी लोकतन्त्र के मातहत कर दी जाय। वह तो यहां तक आगे बढ़ गए थे कि बोले—"अगर ब्रिटिश सरकार इस बात पर राज़ी हो भी जाय, तो मैं अपनी पूरी ताक़त से इसका विरोध करूंगा।" किसी भी तरह की क़ौमी आज़ादी के लिए यह मांग बहुत ज़रूरी थी। फिर भी उन्होंने इसका जो विरोध किया वह इसलिए नहीं कि मौजूदा हालत मे वह पूरी नहीं की जा सकती थी, बल्कि इसलिए कि वह अवांछनीय समझी गई। इसका आंशिक कारण तो शायद यह डर हो कि बाहरी शक्तियां हमारे देश पर धावा बोल देंगी, और वह समझते थे कि ब्रिटिश फ़ौज उस समय हमा ी रक्षा के काम आयेगी! मगर ऐसे किसी हमले की सम्भावना हो या न हो, इसके अलावा भी किसी भी जानदार हिन्दुस्तानी के लिए यह खयाल ही कितना ज़लील करनेवाला है कि वह किसी बाहरी आदमी से अपनी रक्षा करने के लिए कहे। मगर अंग्रेज़ों के सबल बाहुओं को हिन्दुस्तान में क़ायम रखने की ख्वाहिश की तह में असली बात यह नहीं थी। अंग्रेज़ों की ज़रूरत तो समझी गई थी ख़ुद हिन्दुस्तानियों से, लोकतन्त्र से और जनता की आगे बढ़ती हुई लहर के प्रभाव से, हिन्दुस्तानी स्थापित स्वार्थों की रक्षा के लिए।

इसलिए गोलमेज़ के प्रसिद्ध प्रतिगामी और साम्प्रदायिक ही नहीं, बल्कि वे प्रतिनिधि भी जो अपने को उन्नतिशील और राष्ट्रवादी कहते थे, आपस में तथा ब्रिटिश सरकार के और अपने बीच अपने समान-हित की बहुत बातें पाते थे। राष्ट्र-धर्म सचमुच में बहुत व्यापक और भिन्न-भिन्न अर्थ रखनेवाला शब्द मालूम हुआ। एक तरफ़ उसमें जहां वे लोग शामिल थे जो आज़ादी की लड़ाई में जूझते हुए जेल गए थे, वहां दूसरी तरफ़ उसमें उन लोगों का भी समावेश होता था, जो हमें जेल भेजनेवालों से हाथ मिलाते थे, उनकी क़तार में खड़े होते थे और उनके साथ बैठकर एक कार्य-नीति बनाने का आयोजन करते थे। एक दूसरे लोग भी हमारे देश में थे—बहादुर राष्ट्रवादी, जो धारा-प्रवाह व्याख्यान झाड़ते थे, जो हर तरह से स्वदेशी-आन्दोलन को बढ़ावा देते थे। वे हमसे कहते थे कि इसीमें स्वराज का सार छिपा हुआ है। इसलिए क़ुरबानी करके भी स्वदेशी को अपनाओ; और तक़दीर से इस आन्दोलन की बदौलत उन्हें कुछ त्याग नहीं करना पड़ा। उलटे उनकी तिजारत और मुनाफ़ा बढ़ता था। और जब एक तरफ़ कितने ही लोग जेल गये और लाठी-प्रहार का मुक़ाबला किया, तो दूसरी तरफ़ वे अपनी दुकानों में बैठ-बैठकर रुपये गिन रहे थे। बाद को जब राष्ट्रवाद ने ज़रा उग्र रूप धारण किया और उसमें ज़्यादा जोखिम दिखाई दी तो उन्होंने अपने भाषणों का स्वर नीचा कर दिया, गरम दलवालों को बुरा कहने लगे और विरोधियों के साथ राज़ीनामे और ठहराव कर लिये।

हमें सचमुच इसका कुछ खयाल या परवा नहीं थी कि गोलमेज़-कान्फ्रेंस ने क्या किया। वह हमसे बहुत दूर, अवास्तविक और खोखली थी और लड़ाई यहाँ हमारे क़स्बों और गांवों में हो रही थी। हमें इस बात में कोई भ्रम नहीं था कि हमारी लड़ाई जल्द ही खतम हो जायगी, या खतरा सामने खड़ा है; मगर फिर भी १९३० की घटनाओं ने हमें अपने राष्ट्रीय बल और दम-खम का इत्मीनान करा दिया और उस इत्मीनान के भरोसे हमने भावी का मुक़ाबला किया।

दिसम्बर या जनवरी के शुरू की एक घटना से हमें बड़ा दुःख पहुंचा। श्री श्रीनिवास शास्त्री ने एडिनबरा के (जहां मैं समझता हूँ कि उन्हें 'फ्रीडम आव् दि सिटी' भेंट की गई थी) अपने एक भाषण में उन लोगों के प्रति नफ़रत के भाव ज़ाहिर किये जो सविनय अवज्ञा-आन्दोलन के सिलसिले में जेल जा रहे थे। उस भाषण ने, और खासकर जिस मौक़े पर वह दिया गया, उससे हमारे दिलों को

बड़ी चोट लगी। क्योंकि यद्यपि राजनीति में शास्त्रीजी से हमारा बहुत मतभेद था, तो भी हम उनकी इज़्ज़त करते थे ।

रैम्ज़े मैकडानल्ड साहब ने, सदा की तरह, एक सद्‌भावपूर्ण भाषण के द्वारा गोलमेज़-कान्फ्रेंस का उपसंहार किया। उसमें कांग्रेसियों से ऐसी अपरोक्ष रीति से अपील की गई थी कि वे बुरा मार्ग छोड़ दें और भले आदमियों की टोली में मिल जायं। ठीक इसी समय—१९३१ की जनवरी के बीच में—इलाहाबाद में कांग्रेस की कार्य-समिति की एक बैठक हुई और दूसरी बातों के साथ-साथ इस भाषण और उसमें की गई अपील पर भी विचार किया। उस वक़्त मैं नैनी-जेल में था और रिहा होने पर मैंने उसकी कार्रवाई का हाल सुना। पिताजी उसी समय कलकत्ते से लौटे थे और हालांकि वह बहुत बीमार थे तो भी उन्होंने इस बात पर बहुत ज़ोर दिया कि उनकी रोगशैय्या के पास मेम्बर लोग आकर चर्चा करें। किसीने यह सुझाया कि मि० मैकडानल्ड की अपील के जवाब में हमारी तरफ़ से भी कोई इशारा किया जाय और सविनय-भंग कुछ ढीला कर दिया जाय। इससे पिताजी बहुत उत्तेजित हो गए, अपने बिछौने पर उठ बैठे और कहा कि, मैं तबतक समझौता नहीं करूंगा जबतक कि राष्ट्रीय ध्येय प्राप्त नहीं हो जाता; और अगर मैं अकेला ही रह गया तो भी मैं लड़ाई जारी रक्खूंगा। यह उत्तेजना उनके लिए बहुत बुरी थी। उनका तापमान बढ़ गया। आख़िर डॉक्टरों ने किसी तरह उन्हें राज़ी करके मेहमानों को वहां से हटाकर उन्हें अकेला रहने दिया।

बहुत कुछ उन्हींके आग्रह से कार्य-समिति ने बिल्कुल न झुकने का प्रस्ताव पास किया था। उसके अख़बारों में छपने से पहले ही सर तेजबहादुर सप्रू और श्रीनिवास शास्त्री का एक तार पिताजी को मिला, जिसमें उनकी मार्फ़त कांग्रेस से यह दरख़्वास्त की गई थी कि वह इस विषय पर तबतक कोई फ़ैसला न करे, जबतक कि उन्हें बातचीत करने का एक मौक़ा न दिया जाय। वे लन्दन से विदा हो चुके थे। उन्हें इस आशय का जवाब दिया गया कि कार्य-समिति ने एक प्रस्ताव तो पास कर दिया है, लेकिन जबतक आप दोनों यहां नहीं आ जायंगे और आपसे बातचीत न हो जायगी, तबतक वह प्रकाशित नहीं किया जायगा।

बाहर यह जो-कुछ हो रहा था उसका हमें जेल में कुछ पता न था। हम इतना ही जानते थे कि कुछ होनेवाला है और इससे हम कुछ चिन्तित हो गए

थे। हमें जिस बात का सबसे अधिक खयाल था, वह तो था २६ जनवरी के स्वतन्त्रता-दिवस का प्रथम वार्षिकोत्सव, और हम सोचते थे कि देखें यह किस तरह मनाया जाता है। बाद को हमने सुना कि वह सारे देश में मनाया गया। सभाएं की गई और उनमें स्वाधीनता के प्रस्ताव का समर्थन किया गया और सब जगह वह प्रस्ताव पास किया गया, जिसे 'स्मारक प्रस्ताव'[१] कहा जाता था। इस उत्सव का संगठन एक तरह की करामात ही थी। क्योंकि न तो अखबार और न छापेखाने ही सहायता करते थे, न तार व डाक से ही काम लिया जा सकता था। लेकिन फिर भी एक ही प्रस्ताव अपनी-अपनी प्रान्तीय भाषा में, कई बड़ी-बड़ी सभाएं करके क़रीब-क़रीब एक ही समय देशभर में, क्या देहात और क्या कस्बे, सब जगह पास किया गया। बहुतेरी सभाएं तो क़ानून की अवहेलना करके की गईं और पुलिस के द्वारा बलपूर्वक तितर-बितर की गई थीं।

२६ जनवरी को हम नैनी-जेल में बीते हुए साल के कामों पर सिंहावलोकन कर रहे थे और आगामी वर्ष को आशा की दृष्टि से देख रहे थे। इतने ही मे दोपहर को एकाएक मुझे कहा गया कि पिताजी की हालत बहुत नाज़ुक हो गई है और मुझे फ़ौरन घर जाना होगा। पूछने पर पता चला कि मैं रिहा किया जा रहा हूं। रणजित भी मेरे साथ थे।

उसी शाम को हिन्दुस्तान की कितनी ही जेलों से बहुत-से दूसरे लोग भी छोड़े गए। ये लोग थे कार्य-समिति के मूल और स्थानापन्न सदस्य। सरकार हमें आपस में मिलकर हालात पर ग़ौर करने का मौक़ा देना चाहती थी। इसलिए मैं उसी शाम को हर हालत में छूट ही जाता। पिताजी की तबीयत की वजह से कुछ घंटे पहले रिहाई हो गई। २६ दिन का जेल-जीवन बिताकर कमला भी उसी दिन लखनऊ-जेल से छोड़ दी गई। वह भी कार्य-समिति की एक स्थानापन्न मेम्बर थी।

---

[१] परिशिष्ट नं० ३ देखिये।

: ३३ :

पिताजी का देहान्त

पिताजी को मैंने दो हफ़्ते बाद देखा। १२ जनवरी को नैनी में जब वह मिलने आये थे तब उनका चेहरा देखकर मेरे दिल को एक धक्का लगा था। तबसे अब उनकी तबीयत और ज़्यादा ख़राब हो गई थी और उनके चेहरे पर ज़्यादा वरम आ गया था। बोलने में कुछ तकलीफ़ होती थी और दिमाग़ पर पूरा-पूरा क़ाबू नहीं रहा था; लेकिन फिर भी उनकी संकल्प-शक्ति वैसी ही क़ायम रही थी और वह उनके शरीर और दिमाग़ को काम करने में ताक़त देती रही।

मुझे और रणजित को देखकर वह ख़ुश हुए। एक या दो रोज़ बाद रणजित (वह कार्य-समिति के सदस्यों की श्रेणी में नहीं आते थे इसलिए) वापस नैनी भेज दिये गए। इससे पिताजी को बहुत बुरा मालूम हुआ और वह बार-बार उनको याद करते थे और शिकायत करते थे कि जब इतने सारे लोग मुझसे दूर-दूर से मिलने आते हैं तब मेरा दामाद ही मुझसे दूर रक्खा जाता है। उनके इस आग्रह से डॉक्टर लोग चिन्तित थे और यह ज़ाहिर था कि उससे पिताजी को कोई फ़ायदा नहीं हो रहा था। ३ या ४ दिन बाद, मैं समझता हूं डॉक्टरों के कहने से, युक्त-प्रान्त की सरकार ने रणजित को छोड़ दिया।

२६ जनवरी को, उसी दिन जिस दिन मैं छोड़ा गया, गांधीजी भी यरवदा-जेल से रिहा कर दिये गए। मैं उत्सुक था कि वह इलाहाबाद आयें, और जब मैंने उनके छूटने की ख़बर पिताजी को दी तो मैंने देखा कि वह उनसे मिलने के लिए आतुर थे। बम्बई में एक अभूतपूर्व विशाल जन-सभा में स्वागत हो जाने के बाद दूसरे ही दिन गांधीजी बम्बई से चल पड़े। वह इलाहाबाद रात को देर से पहुंचे। लेकिन पिताजी उनसे मिलने की इन्तज़ारी में जाग रहे थे, और उनके आगे से और उनके कुछ शब्द सुन लेने से पिताजी को बड़ी शान्ति मिली। उनके आ जाने से मेरी मां को भी बहुत शान्ति और तसल्ली मिली।

अब कार्य-समिति के जो मूल और स्थानापन्न मेम्बर रिहा किये गए थे, वे

असमंजस में पड़े हुए मीटिंग की सूचनाओं की इन्तज़ार कर रहे थे। कितने ही लोग पिताजी की बाबत चिन्तित थे और तुरन्त ही इलाहाबाद आना चाहते थे। इसलिए यह तय हुआ कि उन सबको फ़ौरन मीटिंग के लिए इलाहाबाद बुला लिया जाय। दो दिन के बाद ३० या ४० लोग आ गये; और हमारे मकान के पास ही स्वराज-भवन में उनकी मीटिंगें होने लगीं। कभी-कभी मैं भी इन मीटिंगों में चला जाता था। लेकिन मैं अपनी चिन्ताओं में इतना डूबा रहता था कि उनमें कोई उपयोगी हिस्सा नहीं लेता था और इस समय मुझे कुछ याद नहीं आता कि वहां क्या-क्या निर्णय हुए थे। मेरा ख़याल है कि वे सविनय भंग-आन्दोलन को जारी रखने के हक़ में हुए थे।

ये मित्र और साथी लोग, जिनमें से बहुतेरे तो हाल ही जेल से छूटे थे और फिर शीघ्र ही जेल जाने की आशा लगाये बैठे थे, पिताजी से मिलना चाहते थे। और उनके अन्तिम दर्शन करके उनसे अन्तिम विदा लेना चाहते थे। सुबह-शाम वे दो-दो तीन-तीन करके आते। पिताजी अपने इन पुराने साथियों का स्वागत करने के लिए उनसे आराम कुरसी पर बैठने का आग्रह करते थे। उनका डील-डौल तो भव्य मगर चेहरा भावशून्य दिखाई देता था; क्योंकि वरम आ जाने के कारण चेहरे पर भाव प्रकट नहीं हो पाते थे। लेकिन जैसे-जैसे एक के बाद एक साथी आते और जाते थे तैसे-तैसे उन्हें पहचान-पहचानकर उनकी आंखों में चमक आ जाती थी। उनका सिर कुछ झुकता जाता था और नमस्कार के लिए हाथ जुड़ जाते थे। हालांकि वह ज़्यादा नहीं बोल सकते थे, कभी-कभी कुछ शब्द बोलते थे, मगर फिर भी उनका पुराना हँसी-मजाक क़ायम था। वह एक बूढ़े शेर की तरह, जिसका शरीर बुरी तरह ज़ख्मी हो गया हो और जिसकी ताक़त शरीर से क़रीब-क़रीब चली गई हो, बैठे थे, लेकिन उस हालत में भी उनकी शान तो सिंहों या राजाओं-जैसी ही थी। जब-जब मैं उनकी तरफ़ देखता, तो मैं सोचता कि उनके दिमाग़ में क्या-क्या ख़याल आते होंगे। क्या वह हम लोगों के काम-काज में दिलचस्पी लेने की हालत में अब नहीं रहे? यह साफ़ मालूम होता था कि वह अक्सर अपने-आपसे लड़ते थे। चीज़ें उनकी पकड़ से निकलना चाहती थीं और वह उनपर क़ाबू पाने की कोशिश करते थे। अख़ीर तक यह लड़ाई जारी रही, मगर, वह हारे नहीं। जब-तब बड़ी ही स्पष्टता के साथ हमसे बातें करते थे—यहां तक कि जब गले की सिकुड़न से उनके मुंह से शब्द निकलना

मुश्किल हो गया था तो वह कागज़ पर लिख-लिखकर अपना आशय ज़ाहिर करते थे ।

कार्य-समिति की बैठकों में, जो कि हमारे पड़ोस में ही हो रही थी, कहना चाहिए कि, उन्होंने कुछ भी दिलचस्पी नहीं ली । १५ रोज़ पहले इनसे उनका उत्साह जरूर बढ़ा होता, मगर अब शायद उन्होंने महसूस किया कि अब वह उससे बहुत दूर निकल गए हैं । उन्होंने गांधीजी से कहा—"महात्माजी ! मैं जल्दी ही चला जानेवाला हूं, स्वराज देखने के लिए ज़िन्दा नहीं रहूंगा । लेकिन मैं जानता हूं कि आपने स्वराज जीत लिया है और जल्दी ही वह आपके हाथ में आ जायगा ।"

जो लोग दूसरे शहरों और सूबों से आये थे, उनमें से बहुतेरे चले गए। गांधीजी रह गए । कुछ और घनिष्ठ मित्र, निकट-सम्बन्धी और तीन नामी डॉक्टर भी, जो उनके पुराने मित्र थे और जिनके लिए वह कहा करते थे कि मैंने अपना शरीर उनके हाथों में सौंप दिया है, रह गए । वे थे डॉक्टर अन्सारी, विधानचन्द्र राय और जीवराज मेहता । ४ फ़रवरी को उनकी हालत कुछ अच्छी दिखाई पड़ी और इसलिए यह तय किया कि उससे फ़ायदा उठाकर उन्हें लखनऊ ले जाया जाय, जहां कि एक्स-रे द्वारा इलाज की सुविधाएं हैं । उसी दिन उन्हें हम मोटर से ले गए । गांधीजी और कुछ लोग भी साथ गये । हम गये तो धीरे-धीरे, लेकिन फिर भी वह बहुत थक गए । दूसरे दिन थकावट दूर होती हुई मालूम हुई, लेकिन फिर भी कुछ चिन्ताजनक लक्षण दिखाई पड़ते थे । दूसरे दिन सुबह, यानी ६ फरवरी को, मैं उनके बिछौने के पास बैठा हुआ उन्हें देख रहा था । रात उनकी तकलीफ़ और बेचैनी में बीती थी । एकाएक मैंने देखा कि उनका चेहरा शान्त हो गया और लड़ने की शक्ति खत्म हो गई । मैंने समझा कि उन्हें नींद लग गई है और इससे मुझे ख़ुशी भी हुई । मगर मां की निगाह तेज़ थी । वह रो पड़ी । मैंने उसकी तरफ़ देखा और कहा कि उन्हें नींद लग गई है, वह जाग जायंगे । मगर वह नींद तो उनकी आख़िरी नींद थी और उसके बाद फिर जागना नहीं हो सकता था !

उसी दिन हम उनके शव को मोटर से इलाहाबाद लाये । मैं उनके साथ बैठा । रणजित गाड़ी चला रहे थे और पिताजी का पुराना नौकर हरि भी साथ था । उसके पीछे दूसरी मोटर थी, जिसमें मां और गांधीजी थे और उसके बाद

दूसरी मोटरें थीं। मैं दिनभर भौचक्का-सा रहा। यह अनुभव करना मुश्किल था कि क्या घटना हुई है और एक के बाद एक हुई घटनाओं और बड़ी-बड़ी भीड़ों के कारण मैं कुछ सोच भी न सका। सूचना मिलते ही लखनऊ में बड़ी भीड़ जमा हो गई थी। वहां से शव को लेकर इलाहाबाद आये। शव राष्ट्रीय झंडे में लपेटा हुआ था और ऊपर एक बड़ा झंडा फहरा रहा था। मीलों तक ज़बरदस्त भीड़ उनके प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पण करने को जमा हुई थी। घर पर कुछ अन्तिम विधियां की गईं और फिर गंगा-यात्रा को चले। ज़बरदस्त भीड़ साथ थी। जाड़े के दिन थे। सन्ध्या का अंधकार गंगा-तट पर धीरे-धीरे फैल रहा था। और चिता की ऊंची-ऊंची लपटों ने उस शरीर को, जिसका हमारे लिए और उनके इष्ट-मित्रों के लिए और हिन्दुस्तान के लाखों लोगों के लिए इतना मूल्य और महत्त्व था, भस्म कर दिया। गांधीजी ने छोटा-सा हृदयस्पर्शी भाषण दिया और फिर हम सब लोग चुपचाप घर चले आये। जब हम उदास और सुनसान लौट रहे थे, तब आकाश में तारे तेज़ी से चमक रहे थे।

मां को और मुझे हज़ारों सहानुभूति के सन्देश मिले। लॉर्ड और लेडी इर्विन ने मां को एक सौजन्यपूर्ण सन्देश भेजा। इस बहुत भारी सद्भावना और सहानुभूति ने हमारे दुःख और शोक की तीव्रता को कम कर दिया था। लेकिन सबसे ज्यादा और आश्चर्यजनक शान्ति और सान्त्वना तो मिली गांधीजी के वहां मौजूद रहने से, जिससे मां को और हम सब लोगों को जीवन के उस संकट-काल का सामना करने का बल मिला।

मेरे लिए यह अनुभव करना मुश्किल था कि पिताजी अब नहीं हैं। तीन महीने बाद मैं, अपनी पत्नी और लड़की के साथ लंका गया। हम लोगों ने वहां नुवारा-एलीया में शान्ति और आराम से कुछ दिन गुज़ारे। वह जगह मुझे बहुत पसन्द आई और मुझे एकाएक खयाल हुआ कि पिताजी को यह जगह जरूर माफ़िक़ होगी। तो उन्हें यहां क्यों न बुला लूं। वह बहुत थक गए होंगे और यहां आराम से उनको जरूर फायदा होगा। मैं उन्हें इलाहाबाद तार देने लगा था।

लंका से इलाहाबाद लौटते समय डाक से मुझे एक अजीब चिट्ठी मिली। लिफ़ाफे पर पिताजी के हस्ताक्षर से पता लिखा हुआ था और उसपर न जाने कितने निशान और डाकखानों की मोहरें लगी हुई थीं। मैंने उसे खोला तो देखकर आश्चर्य हुआ कि वह सचमुच पिताजी का लिखा हुआ था, लेकिन तारीख उसपर

पड़ी थी २८ फ़रवरी सन् १९२६ की। वह मुझे १९३१ की गर्मियों में मिला। इस तरह वह कोई साढ़े पांच साल तक इधर-उधर सफर करता रहा। १९२६ में जब मैं कमला के साथ यूरोप रवाना हुआ था तब पिताजी ने अहमदाबाद से यह ख़त लिखा था। इटालियन स्टीमर लॉयड के पते पर, जिससे कि मैं यात्रा करने वाला था, वह बम्बई भेजा गया था। यह साफ़ है कि वह उस वक़्त मुझे नहीं मिला और बहुतेरे स्थानों में भ्रमण करता रहा और शायद कितने ही डाकखानों में हवा खाता रहा। अन्त को किसी मनचले आदमी ने उसे मुझे भेज दिया। कैसा अजीब संयोग है कि वह बिदाई का पत्र था!

: ३४ :

दिल्ली का समझौता

जिस दिन और जिस वक्त मेरे पिताजी की मृत्यु हुई, उसी दिन और लगभग उसी समय बम्बई में गोलमेज़-कान्फ़्रेंस के कुछ हिन्दुस्तानी मेम्बर जहाज़ से उतरे। श्री श्रीनिवास शास्त्री और सर तेजबहादुर सप्रू और शायद दूसरे कुछ लोग, जिनका खयाल अब मुझे नहीं है, सीधे इलाहाबाद आये। गांधीजी तथा कार्यसमिति के कुछ और सदस्य वहां पहले ही मौजूद थे। हमारे मकान पर खानगी बैठकें हुईं, जिनमें यह बताया गया कि गोलमेज़-कान्फ़्रेंस में क्या-क्या हुआ। मगर शुरू में ही एक छोटी-सी घटना हुई। श्री श्रीनिवास शास्त्री ने ख़ुद-ब-ख़ुद अपने एडिनबरा वाले भाषण पर खेद प्रकट किया। उन्होंने यह भी कहा कि अपने आस-पास के वातावरण का मुझ पर अक्सर असर हो जाता है और मैं अत्युक्ति और शब्दाडम्बर में बह जाता हूं।

इन प्रतिनिधियों ने हमें गोलमेज़-कान्फ़्रेंस के सम्बन्ध में ऐसी मार्के की कोई बात नहीं कही, जिसे हम पहले से न जानते हों। हां, उन्होंने यह अलबत्ता बताया कि वहां परदे के पीछे कैसी-कैसी साज़िशें हुईं, और फ़लां 'लॉर्ड' या फलां 'सर' ने खानगी में क्या-क्या किया। हमारे हिन्दुस्तानी लिबरल दोस्त हमेशा सिद्धान्तों की और हिन्दुस्तान की परिस्थिति की वास्तविकताओं की बनिस्बत इस बात को ज़्यादा महत्त्व देते हुए दिखाई देते हैं कि बड़े अफ़सरों ने खानगी बातचीत में या गपशप में क्या-क्या कहा। लिबरल नेताओं के साथ हमारी जो-कुछ बातचीत हुई, उसका कोई नतीजा न निकला। हमारी पिछली राय ही और मज़बूत हो गई कि गोलमेज़-कान्फ़्रेंस के निर्णयों की कुछ भी वक़त नहीं है। किसी ने—मैं उनका नाम भूल गया हूं—सुझाया कि गांधीजी वाइसराय को मुलाक़ात के लिए लिखें और उनके साथ खुलकर बातचीत कर लें। इसपर गांधीजी राज़ी हो गए, हालांकि मैं नहीं समझा कि उन्होंने परिणाम की कोई आशा की हो। मगर अपने सिद्धान्त को सामने रखते हुए वह सदा विरोधियों के साथ, कुछ

क़दम आगे जाकर भी, मिलने और बातचीत करने को तैयार रहते हैं। और चूंकि अपने पक्ष की सच्चाई का उन्हें पूरा विश्वास रहता है, इसलिए वह दूसरे पक्ष के लोगों को भी क़ायल करने की आशा रखते थे। मगर जो वह चाहते थे वह बौद्धिक विश्वास से शायद कुछ ज़्यादा था। वह हमेशा हृदय-परिवर्तन की कोशिश करते हैं—राग-द्वेष के बन्धनों को तोड़कर दूसरे की सदिच्छा और ऊंची भावनाओं तक पहुंचने की कोशिश करते हैं। वह जानते थे कि यदि यह परिवर्तन हो गया तो विश्वास का जमना आसान हो जायगा, या अगर विश्वास न भी जम सका तो विरोध ढीला हो जायगा और संघर्ष की तीव्रता कम हो जायगी। अपने व्यक्तिगत व्यवहारों में अपने विरोधियों पर उन्होंने इस तरह की बहुतेरी विजय प्राप्त की हैं, और यह ध्यान देने योग्य बात है कि वह महज़ अपने व्यक्तित्व के ज़ोर पर किसी विरोधी को कैसे अपनी तरफ़ कर लेते हैं। कितने ही आलोचक और निन्दक उनके व्यक्तित्व से प्रभावित होकर उनके प्रशंसक बन गए, और हालांकि वह नुक्ताचीनी करते रहते हैं, मगर उसमें कहीं उपहास का नामोनिशान नहीं रहता।

चूंकि गांधीजी को अपने सामर्थ्य का पता है, वह हमेशा उन लोगों से मिलना पसन्द करते हैं जो उनसे मतभेद रखते हैं। मगर किसी व्यक्तिगत या छोटे मामलों में व्यक्तियों से व्यवहार करना एक बात है और ब्रिटिश सरकार-जैसी अमूर्त वस्तु से, जो विजयी साम्राज्यवाद की प्रतिनिधि है, व्यवहार करना बिल्कुल दूसरी बात है। इस बात को जानते हुए, गांधीजी कोई बड़ी आशा लेकर लॉर्ड इर्विन से मिलने नहीं गए थे। सविनय-भंग आन्दोलन अब भी चल रहा था। मगर वह ढीला पड़ गया था; क्योंकि सरकार से 'सुलह' करने की बातों का बड़ा ज़ोर हो रहा था।

बातचीत का इन्तज़ाम फ़ौरन हो गया और गांधीजी दिल्ली रवाना हुए। हमसे कहते गए कि अगर वाइसराय से काम-चलाऊ समझौते के बारे में कोई बातचीत गम्भीर रूप से हुई तो मैं कार्य-समिति के मेम्बरों को बुला लूंगा। कुछ ही दिनों बाद हमें दिल्ली का बुलावा आया। हम तीन हफ़्ते तक वहां रहे। रोज़ मिलते और लम्बी-लम्बी बहस करते-करते थक जाते। गांधीजी कई बार लॉर्ड इर्विन से मिले। मगर कभी-कभी बीच में तीन-चार रोज़ ख़ाली भी जाते। शायद इसलिए कि भारत सरकार लन्दन में इण्डिया-आफ़िस से सलाह-मशवरा

किया करती थी। कभी-कभी देखने में ज़रा-ज़रा सी बात या कुछ शब्दों के कारण ही गाड़ी रुक जाती। एक ऐसा शब्द था सविनय भंग को स्थगित कर देना। गांधीजी बराबर इस बात को स्पष्ट करते रहे कि सविनय-भंग आखिरी तौर पर न तो बन्द ही किया जा सकता है न छोड़ा ही जा सकता है; क्योंकि यही एक-मात्र हथियार हिन्दुस्तान के लोगों के हाथ में है। हां, वह स्थगित किया जा सकता है। लार्ड इर्विन को इस बात पर आपत्ति थी। वह ऐसा शब्द चाहते थे जिसका अर्थ निकलता हो, सविनय-भंग छोड़ दिया गया। लेकिन यह गांधीजी को मंजूर नहीं होता था। आखिर 'डिस्कण्टिन्यू' (रोक देना) शब्द इस्तेमाल किया गया। विदेशी कपड़े और शराब की दूकानों पर धरना देने की बाबत भी लम्बी-चौड़ी बहस हुई। हमारा बहुतेरा समय समझौते की अस्थायी तजवीज़ों पर ग़ौर करने में लगा और मूलभूत बातों पर कम ध्यान दिया गया। शायद यह सोचा गया कि जब यह कामचलाऊ समझौता हो जायगा और रोज़-रोज़ की लड़ाई रोक दी जायगी, तब अधिक अनुकूल वातावरण में बुनियादी बातों पर ग़ौर किया जा सकेगा। हम उस बातचीत को विराम-सन्धि की वार्ता मान रहे थे जिसके बाद असली प्रश्नों पर आगे और बातचीत की जायगी।

उन दिनों दिल्ली में हर तरह के लोग खिच-खिचकर आते थे। बहुत से विदेशी, खासकर अमेरिकन पत्रकार थे और वे हमारी खामोशी पर कुछ नाराज़ से थे। वे कहते कि आपकी बनिस्बत तो हमें गांधी-इर्विन बातचीत के बारे में नई दिल्ली के सेक्रेटरियट से ज़्यादा खबरें मिल जाती हैं। और यह बात सही थी। इसके बाद बड़े-बड़े पद-धारी लोग थे जो गांधीजी के प्रति अपना सम्मान प्रदर्शित करने के लिए दौड़े आते थे; क्योंकि अब तो महात्माजी का सितारा बुलन्द हो रहा था। उन लोगों को, जो अब तक गांधीजी से और कांग्रेस से दूर रहे, और जब-तब उनकी बुराई करते रहे थे, अब उसका प्रायश्चित्त करने के लिए आते देखना मज़ेदार लगता था। कांग्रेस का बोलबाला होता हुआ दिखाई देता था, और कौन जाने आगे क्या-क्या होकर रहे, इसलिए बेहतर यही है कि कांग्रेस और उसके नेताओं के साथ मेल-जोल करके रहा जाय। एक साल के बाद ही उनमें दूसरे परिवर्तन की लहर आई दिखाई दी। वे कांग्रेस के प्रति तथा उसके तमाम कार्यों के प्रति ज़ोरों के साथ अपनी घृणा प्रदर्शित करने लगे और कहने लगे कि हमसे इनसे कोई वास्ता नहीं है।

सम्प्रदायवादी लोग भी इन घटनाओं से जगे और उन्हें यह आशंका पैदा हुई कि कहीं ऐसा न हो कि आनेवाली व्यवस्था में उनके लिए कोई ऊंचा स्थान न रह जाय, और इसलिए कई लोग गांधीजी के पास आये और उनको यक़ीन दिलाया कि साम्प्रदायिक प्रश्न पर हम समझौता करने को बिल्कुल तैयार हैं। अगर आप शुरुआत कर दें तो समझौते में कोई दिक़्क़त पेश न आयगी।

ऊंची और नीची सभी श्रेणियों के लोगों का सतत प्रवाह डॉक्टर अन्सारी के बंगले की ओर हो रहा था, जहां गांधीजी और हममें से बहुतेरे लोग ठहरे थे, और फ़ुरसत के वक़्त हम उन्हें दिलचस्पी से देखते और फ़ायदा भी उठाते थे। कुछ सालों से हम, ख़ास करके क़स्बों में, देहात में रहने वाले ग़रीबों और उन लोगों के जो जेलों में ठूंस दिये गए थे, सम्पर्क में आते रहते थे; लेकिन धनी-मानी वैभवशाली लोग जो गांधीजी से मिलने आते थे, मानव-प्रकृति का दूसरा पहलू सामने रखते थे। वे परिस्थितियों के साथ अपना मेल मिलाना खूब जानते हैं; जहां कहीं उन्हें सत्ता और सफलता दिखाई दी, वे उसी तरफ़ झुक गए और अपनी मधुर मुस्कान से उसका स्वागत करने लगे। उनमें कितने ही हिन्दुस्तान में ब्रिटिश सरकार के मज़बूत स्तम्भ थे। यह जानकर तसल्ली होती थी कि वे भारत में जो भी अन्य कोई सरकार क़ायम होगी, उसके भी उतने ही सुदृढ़ स्तम्भ बन जायंगे।

उन दिनों अक्सर मैं सुबह गांधीजी के साथ नई दिल्ली घूमने जाया करता था। यही एक ऐसा वक़्त था कि मामूली तौर पर कोई आदमी उनसे बात करने का मौक़ा पा सकता था; क्योंकि उनका बाकी सारा वक़्त बंटा हुआ था। एक-एक मिनट किसी काम या किसी व्यक्ति के लिए नियत था। यहां तक कि सुबह के घूमने का वक़्त भी किसीको बातचीत के लिए, मामूली तौर पर किसी विदेश से आये हुए को या किसी मित्र को, दे दिया जाता था, जो उनसे व्यक्तिगत, सलाह-मशवरे के लिए आते थे। हमने बहुत-से विषयों पर बातचीत की। पिछले ज़माने पर भी और मौजूदा हालत पर भी; और ख़ासकर भविष्य पर भी। मुझे याद है कि उन्होंने मुझे किस तरह कांग्रेस के भविष्य के बारे में अपने एक विचार से अचम्भे में डाल दिया। मैंने तो ख़याल कर रक्खा था कि आज़ादी मिल जाने पर कांग्रेस की हस्ती अपने-आप मिट जायगी। लेकिन उनका विचार था कि कांग्रेस बदस्तूर रहेगी—सिर्फ़ एक शर्त होगी, कि वह अपने लिए एक आर्डिनेन्स

पास करेगी, जिसके मुताबिक़ उसका कोई भी मेम्बर राज्य में वैतनिक काम न कर सकेगा, और अगर राज्य में अधिकार-पद ग्रहण करना चाहे तो उसे कांग्रेस छोड़ देनी होगी। मुझे इस समय यह तो याद नहीं है कि उन्होंने अपने दिमाग़ में उसका कैसा ढांचा बैठाया था, मगर उसका तात्पर्य यह था कि कांग्रेस इस प्रकार अपनी अनासक्ति और निःस्वार्थ भाव के कारण सरकार के प्रबन्ध तथा दूसरे विभागों पर ज़बर्दस्त नैतिक दबाव डाल सकेगी और उन्हें ठीक रास्ते पर क़ायम रख सकेगी।

यह एक अनोखी कल्पना है, जिसे पूरी तौर से समझ लेना मुश्किल है और जिसमें अनगिनत कठिनाइयां सामने आती हैं। मुझे यह दिखाई पड़ता है कि यदि ऐसी किसी सभा की कल्पना की भी जाय तो किसी स्थापित स्वार्थ के द्वारा उसका दुरुपयोग किया जायगा। मगर उसकी व्यावहारिकता को एक तरफ़ रख दें, तो इससे गांधीजी के विचारों का कुछ आधार समझने में ज़रूर मदद मिलती है। यह आधुनिक दल-व्यवस्था की कल्पना के बिल्कुल विपरीत है; क्योंकि आधुनिक व्यवस्था तो किसी पूर्व-निश्चित कल्पना के अनुसार राजनैतिक और आर्थिक ढांचे को ढालने के लिए राज्यसत्ता पर क़ब्ज़ा करने के ख़याल पर बनी हुई है। यह उस दल-व्यवस्था के भी विरुद्ध है, जोकि आजकल अक्सर पाई जाती है और जिसका कार्य श्री आर० एच० टानी के शब्दों में "ज़्यादा-से-ज़्यादा गधों को ज़्यादा-से-ज़्यादा गाजरें खिलाना" है।

गांधीजी के लोक-तन्त्र का ख़याल निश्चित-रूप से आध्यात्मिक है। मामूली अर्थ में उसका संख्या से या बहुमत से या प्रतिनिधित्व से कोई वास्ता नहीं है। उसकी बुनियाद है सेवा और त्याग; और यह नैतिक दबाब से ही काम लेती है। हाल ही प्रकाशित अपने एक वक्तव्य में (१७ सितम्बर १९३४) लोकतन्त्र की उन्होंने व्याख्या दी है। वह अपने को जन्मतः लोकतन्त्र-वादी मानते हैं और कहते हैं कि अगर "मनुष्य-जाति के दरिद्र-से-दरिद्र व्यक्तियों के साथ अपने-आपको बिल्कुल मिला देने, उनसे बेहतर हालत में अपना जीवन-यापन न करने की उत्कंठा और उनके समतल तक अपने को पहुंचाने के जागरूक प्रयत्न से किसीको इस दावे का अधिकार मिल सकता है, तो मैं अपने लिए यह दावा करता हूं।" आगे चलकर वह लोकतन्त्र की विवेचना इस प्रकार करते हैं—

"हमें यह बात जान लेनी चाहिए कि कांग्रेस के लोकतन्त्री स्वरूप और

प्रभाव की प्रतिष्ठा उसके वार्षिक अधिवेशन में खिंच आनेवाले प्रतिनिधियों या दर्शकों की संख्या के कारण नहीं बल्कि उसकी की हुई सेवा के कारण है, जिसकी मात्रा दिन-प्रति-दिन बढ़ती जा रही है। पश्चिमी लोकतन्त्र अगरचे अबतक विफल नहीं हुआ तो कम-से-कम वह कसौटी पर ज़रूर चढ़ा है। ईश्वर करे कि हिन्दुस्तान में प्रत्यक्ष सफलता के प्रदर्शन के द्वारा लोकतन्त्र के सच्चे विज्ञान का विकास हो।

"नीति-भ्रष्टता और दम्भ लोकतन्त्र के अनिवार्य फल नहीं होने चाहिए, जैसे कि वे निःसन्देह वर्तमान समय में हो रहे हैं; और न बड़ी संख्या लोकतन्त्र की सच्ची कसौटी ही है। यदि थोड़े-से व्यक्ति, जिनके प्रतिनिधि बनने का दावा करते हैं, उनकी भावना, आशा और हौसले का प्रतिनिधित्व करते है, तो यह लोकतन्त्र के सच्चे भाव से असंगत नहीं है। मेरा मत है कि लोकतन्त्र का विकास बल-प्रयोग करके नहीं किया जा सकता है। लोकतन्त्र की भावना बाहर से नहीं लादी जा सकती; वह तो अन्दर से ही पैदा की जा सकती है।"

निश्चय ही यह पश्चिमी लोकतन्त्र नहीं है, जैसा कि वह स्वयं कहते हैं। बल्कि कौतूहल की बात तो यह है कि वह कम्युनिस्टों के लोकतन्त्र की धारणा से मिलता-जुलता है; क्योंकि उसमें भी आध्यात्मिकता की झलक है। थोड़े-से कम्युनिस्ट जनता की असली आकांक्षाओं और आवश्यकताओं के प्रतिनिधित्व का दावा करेंगे, चाहे जनता को इसका पता न भी हो। जनता उनके लिए एक आध्यात्मिक वस्तु हो जायगी और वे इसका प्रतिनिधित्व करने का दावा करते हैं। फिर भी वह समानता थोड़ी ही है और हमको बहुत दूरतक नहीं ले जाती है। जीवन को देखने और उस तक पहुंचने के साधनों में बहुत ज़्यादा मतभेद है—मुख्यतः उसे प्राप्त करने के साधन और बलप्रयोग के सम्बन्ध में।

गांधीजी चाहे लोकतन्त्री हों या न हों, वह भारत की किसान-जनता के प्रतिनिधि अवश्य हैं। वह उन करोड़ों की जागी और सोई हुई इच्छा-शक्ति के साररूप हैं। यह शायद उनका प्रतिनिधित्व करने से कहीं ज़्यादा है; क्योंकि वह करोड़ों के आदर्शों की सजीव मूर्ति हैं। हां, वह एक औसत किसान नहीं हैं। वह एक बहुत तेज़ बुद्धि, उच्च भावना और सुरुचि तथा व्यापक दृष्टि रखनेवाले पुरुष हैं—बहुत सहृदय, फिर भी आवश्यक रूप से एक तपस्वी, जिन्होंने अपने विकारों और भावनाओं का दमन करके उन्हें दिव्य बना दिया है और आध्यात्मिक

मार्गों में प्रेरित किया है। उनका एक ज़बर्दस्त व्यक्तित्व है जो चुम्बक की तरह हरेक को अपनी ओर खींच लेता है और दूसरों के हृदय में अपने प्रति आश्चर्य-जनक वफ़ादारी और ममता पैदा करता है। यह सब एक किसान से कितना भिन्न और कितना परे है ? और इतना होने पर भी वह एक महान् किसान हैं जो बातों को एक किसान के दृष्टि-बिन्दु से देखते हैं और जीवन के कुछ पहलुओं के बारे में एक किसान की ही तरह अन्धे हैं। लेकिन भारत किसानों का भारत है और वह अपने भारत को अच्छी तरह जानते हैं और उसके हलके-से-हलके कम्पनों का भी उनपर तुरन्त असर होता है। वह स्थिति को ठीक-ठीक और अक्सर सहज स्फूर्ति से जान लेते हैं और ऐन मौक़े पर काम करने की अद्‌भुत सूझ उनमें है।

ब्रिटिश सरकार ही के लिए नहीं, बल्कि ख़ुद अपने लोगों और नज़दीकी साथियों के लिए भी वह एक पहेली और एक समस्या बने हुए हैं। शायद दूसरे किसी भी देश में आज उनका कोई स्थान न होता। मगर हिन्दुस्तान, आज भी ऐसा मालूम होता है पैग़म्बरों-जैसे धार्मिक पुरुषों को, जो पाप और मुक्ति और अहिंसा की बातें करते हैं, समझ लेता है या कम-से-कम उनकी क़दर करता है। भारत का धार्मिक साहित्य बड़े-बड़े तपस्वियों की कथाओं से भरा पड़ा है, जिन्होंने घोर तप और त्याग के द्वारा भारी पुण्य-संचय करके छोटे-छोटे देवताओं की सत्ता हिला दी तथा प्रचलित व्यवस्था उलट-पलट दी। जब कभी मैंने गांधीजी के अक्षय आध्यात्मिक भण्डार से बहनेवाली विलक्षण कार्य-शक्ति और आन्तरिक बल को देखा है, तो मुझे अक्सर ये कथाएं याद आ जाया करती हैं। वह स्पष्टतः दुनिया के साधारण मनुष्य नहीं है। वह तो बिरले और कुछ और ही तरह के सांचे में ढाले गए हैं और अनेक अवसरों पर उनकी आंखों से हमें मानो उस अज्ञात के दर्शन होते थे।

हिन्दुस्तान पर, क़स्बों के हिन्दुस्तान पर ही नहीं, नये औद्योगिक हिन्दुस्तान पर भी, किसानपन की छाप लगी हुई है और उसके लिए यह स्वाभाविक था कि वह अपने पुत्र को—अपने ही समान और फिर भी अपने से इतने भिन्न स्व-पुत्र को—अपना उपास्य-देव और अपना प्रिय नेता बनावे। उन्होंने पुरानी और धुंधली स्मृतियां फिर ताज़ा कर दीं और हिन्दुस्तान को उसकी आत्मा की झलक दिखलाई। इस ज़माने की ओर मुसीबतों से कुचले जाने के कारण उसे भूतकाल के असहाय गीत गाने और भविष्य के गोल-मोल स्वप्न देखने में सान्त्वना मिलती

थी मगर उन्होंने अवतरित होकर हमारे दिलों को आशा और हमारे जीर्ण-शीर्ण शरीर को बल दिया और भविष्य हमारे लिए मनमोहक वस्तु बन गया। इटली के दो-मुंहे देवता जेनस की तरह भारत पीछे भूतकाल की तरफ़ और आगे भविष्यकाल की तरफ़ देखने लगा और दोनों के समन्वय की कोशिश करने लगा।

हममें से कितने ही इस किसान-दृष्टि से कटकर अलग हो गए थे और पुराने आचार-विचार और धर्म हमारे लिए विदेशी-से बन गए थे। हम अपनेको नई रोशनी का कहते थे और प्रगति, उद्योगीकरण, ऊंचे रहन-सहन और समष्टीकरण की भाषा में सोचते थे। किसान के दृष्टि-बिन्दु को हम प्रतिगामी समझते थे और कुछ लोग, जिनकी संख्या बढ़ रही है, समाजवाद और कम्युनिज़्म को अनुकूल दृष्टि से देखते थे। ऐसी दशा में यह प्रश्न है कि हमने कैसे गांधीजी की राजनीति में उनका साथ दिया और किस तरह बहुत-सी बातों में उनके भक्त और अनुयायी बन गए ? इस सवाल का जवाब देना मुश्किल है और जो गांधीजी को नहीं जानता है, उसे उस जवाब से सन्तोष न हो सकेगा। बात यह है कि व्यक्तित्व एक ऐसी चीज़ है जिसकी व्याख्या नहीं हो सकती। वह एक ऐसी शक्ति है जिसका मनुष्य के अन्तःकरण पर अधिकार हो जाता है और गांधीजी के पास वह शक्ति बहुत बड़े परिमाण में है। और जो लोग उनके पास आते हैं उन्हें वह अक्सर भिन्न रूप में दिखाई पड़ते हैं। यह ठीक है कि वह लोगों को आकर्षित करते हैं, मगर लोग जो उनतक गये हैं और जाकर ठहर गए हैं सो तो अख़ीर में अपने बौद्धिक विश्वास के कारण ही। यह ठीक है कि वे उनके जीवन-सिद्धान्त से या उनके कितने ही आदर्शों से भी सहमत न थे; कई बार तो वे उन्हें समझते भी न थे; मगर जिस कार्य को करने का उन्होंने आयोजन किया वह एक मूर्त और प्रत्यक्ष वस्तु थी, जिसको बुद्धि समझ सकती थी और उसकी क़दर कर सकती थी। हमारी निष्क्रियता और अकर्मण्यता की लम्बी परम्परा के बाद, जो कि हमारी मुर्दा राज-नीति में पोषित चली आ रही थी, किसी भी प्रकार के कार्य का स्वागत ही हो सकता था। फिर एक बहादुराना और उपयोगी कार्य का तो, जिसके कि आस-पास नैतिकता का तेज भी जगमगा रहा हो, पूछना ही क्या ! बुद्धि और भावना दोनों पर इसका असर हुए बिना नहीं रह सकता था ! फिर धीरे-धीरे उन्होंने अपने कार्य के सही होने का भी हमें क़ायल कर दिया और हम उनके साथ हो लिये, हालांकि हमने उनके जीवन-तत्व को स्वीकार नहीं किया। कार्य को उसके मूल-

भूत विचार से अलग रखना शायद ठीक तरीक़ा नहीं है, और उससे आगे चलकर कठिनाई और मानसिक संघर्ष हुए बिना नहीं रह सकता। हमने मोटे तौर पर यह उम्मीद की थी कि गांधीजी चूंकि एक कर्मयोगी हैं और बदलनेवाली हालतों का उनपर बहुत जल्दी असर होता है, इसलिए उस रास्ते पर आगे बढ़ेंगे जो हमें सही नज़र आता था। और हर हालत में वह जिस रास्ते पर चल रहे थे अबतक तो सही ही था और अगर आगे चलकर हमें जुदे-जुदे रास्ते चलना पड़े तो उसका पहले से खयाल बनाना बेवक़ूफ़ी होगी।

इन सबसे यह ज़ाहिर होता है कि न तो हमारे विचार सुलझे हुए थे और न निश्चित। हमेशा हमारे दिल में यह भावना रही कि हमारा मार्ग चाहे अधिक तर्क-शुद्ध हो मगर गांधीजी हिन्दुस्तान को हमसे कहीं ज़्यादा अच्छी तरह जानते हैं और जो शख़्स इतनी ज़बरदस्त श्रद्धा-भक्ति का अधिकारी बन जाता है उसके अन्दर कोई ऐसी बात अवश्य होनी चाहिए जो जनता की आवश्यकताओं और ऊंची आकांक्षाओं के मुआफ़िक़ हो। हमने सोचा कि यदि हम उनको अपने विचारों का क़ायल कर सकें तो हम जनता को भी अपने मत का बना सकेंगे। और हमें यह सम्भव दिखाई पड़ता था कि हम उनको क़ायल कर सकेंगे, क्योंकि उनके किसान दृष्टिकोण के रहते हुए भी वह एक पैदायशी विद्रोही हैं, एक क्रान्तिकारी हैं, जो भारी-भारी परिवर्तनों के लिए कमर कसे रहते हैं और जिसे परिणाम की आशंकाएं रोक नहीं सकतीं।

जिस तरह उन्होंने सुस्त और निराश जनता को एक अनुशासन में बांधकर काम में जुटा दिया—बल-प्रयोग करके या सांसारिक लालच देकर नहीं, बल्कि महज़ मीठी निगाह, कोमल शब्द और इनसे भी बढ़कर ख़ुद अपने जीते-जागते उदाहरण के द्वारा। सत्याग्रह की शुरुआत के दिनों में ठेठ १९१९ में, मुझे याद है कि बम्बई के उमर सोभानी उन्हें 'स्लेव ड्राइवर' (गुलामों को हांकनेवाला) कहा करते थे। अब इस एक युग में तो हालत और भी बदल गई है। उमर अब मौजूद नहीं हैं कि उन परिवर्तनों को देखें। मगर हम जो ज़्यादा ख़ुशक़िस्मत रहे, १९३१ के शुरू महीनों से पीछे के समय को देखते हैं तो दिल उमंग और अभिमान से भर जाता है। १९३१ का साल सचमुच हमारे लिए एक अद्भुत साल था और ऐसा मालूम होता था कि गांधीजी ने अपनी जादू की लकड़ी से हमारे देश का नक़्शा ही बदल दिया है। कोई ऐसा मूर्ख तो नहीं था जो यह समझता

हो कि हमने ब्रिटिश सरकार पर आख़िरी विजय पा ली है। हमें जो अभिमान होता था उसका सरकार से कोई ताल्लुक़ नहीं है। हमें तो अपने लोगों, अपनी बहनों, अपने नौजवानों और बच्चों पर, इस आन्दोलन में जिस तरह उन्होंने योग दिया, उसपर, फ़ख्र था! वह एक आध्यात्मिक लाभ था जोकि किसी भी समय और किन्हीं भी लोगों के लिए क़ीमती था। मगर हमारे लिए तो, जोकि गुलाम और दलित हैं, दुहेरा उपकार था, और हमें इस बात की चिन्ता थी कि कोई ऐसी बात न हो जाय जिससे यह लाभ हमसे छिन जाय।

खासकर मुझपर तो गांधीजी ने असाधारण कृपा और ममता दिखाई है और मेरे पिताजी की मृत्यु ने तो उन्हें खास तौर से मेरे नज़दीक ला दिया है। मुझे जो कुछ कहना होता था, उसको वह बहुत ही धीरज के साथ सुनते थे और मेरी इच्छाओं को पूरी करने के लिए उन्होंने हर तरह की कोशिश की है। इससे अवश्य ही मैं यह सोचने लगा था कि यदि मैं और कुछ दूसरे साथी उनपर लगातार अपना असर डालते रहें तो सम्भव है उन्हें समाजवाद की ओर प्रेरित कर सकेंगे, और उन्होंने खुद भी यह कहा था कि जैसे-जैसे मुझे रास्ता दिखाई देगा, मैं एक-एक क़दम बढ़ता जाऊंगा। उस वक़्त मुझे ऐसा मालूम पड़ता था कि एक दिन वे अनिवार्यतः समाजवाद के मूल सिद्धान्त या स्थिति को स्वीकार कर लेंगे; क्योंकि मुझे तो मौजूदा समाज-व्यवस्था में हिंसा, अन्याय, नाश और दुःखों से बचने का दूसरा कोई रास्ता दिखाई नहीं देता था। मुमकिन है कि साधनों से उनका मतभेद हो, मगर आदर्श से नहीं। उस वक़्त मैंने यही खयाल किया था। मगर अब मैं अनुभव करता हूं कि गांधीजी के आदर्शों में और समाजवाद के ध्येय में मौलिक भेद है।

अब हम फिर फ़रवरी १९३१ की दिल्ली में चलें। गांधी-इर्विन बातचीत होती रहती थी। वह एकाएक रुक गई। कई दिनों तक वाइसराय ने गांधीजी को नहीं बुलाया और हमें ऐसा लगा कि बातचीत टूट गई। कार्य-समिति के सदस्य दिल्ली से अपने-अपने सूबों में जाने की तैयारी कर रहे थे। जाने से पहले हम लोगों ने आपस में भावी कार्य की रूप-रेखाओं और सविनय-भंग पर (जो कि अभी उसूलन जारी था) विचार-विनिमय किया। हमें यक़ीन था कि ज्योंही बातचीत के टूटने की बात पक्के तौर पर जाहिर हो जायगी, त्योंही हम सबके लिए फिर मिलकर बातचीत करने का मौक़ा नहीं रह जायगा।

हम गिरफ़्तारियों की उम्मीद ही रखते थे। हमसे कहा गया था और यह सम्भव भी दीखता था कि अबकी बार सरकार कांग्रेस पर जोर का धावा बोलेगी। वह अबतक के दमन से बहुत भयंकर होगा। सो हम आपस में आख़िरी तौर पर मिल लिये और आन्दोलन को भविष्य में चलाने के विषय में कई प्रस्ताव किये। एक प्रस्ताव ख़ासतौर पर मार्के का था। अबतक रिवाज़ यह था कि कार्यवाहक सभापति अपने गिरफ़्तार होने पर अपना उत्तराधिकारी नियुक्त कर देता था और कार्य-समिति में जो स्थान ख़ाली हों उनके लिए भी मेम्बरों को नामज़द कर देता था। स्थानापन्न कार्य-समितियों की शायद ही कभी बैठकें होती थीं और उन्हें किसी भी विषय में नई बात करने के नहीं-से अधिकार थे। वे सिर्फ़ जेल जाने-भर को थीं। इसमें एक जोखिम हमेशा ही लगी रहती थी और वह यह कि लगातार स्थानापन्न बनाने की कार्रवाई से सम्भव था कि कांग्रेस की स्थिति थोड़ी अटपटी हो जाय। इसमें ख़तरे भी थे। इसलिए दिल्ली में कार्य-समिति ने यह तय किया कि अब आगे से कार्यवाहक सभापति और स्थानापन्न सदस्य नामजद नहीं किये जाने चाहिए। जबतक मूल समिति के कुछ मेम्बर जेल के बाहर रहेंगे तबतक वही पूरी कमेटी की हैसियत से काम करेंगे। जब सब मेम्बर जेल चले जायंगे तब कोई समिति नहीं रहेगी, और हमने ज़रा दिखावे के तौर पर कहा कि सत्ता उस हालत में देश के प्रत्येक स्त्री-पुरुष के पास चली जायगी। और हम उनको आवाहन करते हैं कि वे बिना झुके लड़ाई को जारी रखें।

इस प्रस्ताव में संग्राम को जारी रखने का वीरोचित मार्ग दिखाया गया था और समझौते के लिए कोई गली-कूचा नहीं रखा गया था। इसके द्वारा यह बात भी मंज़ूर की गई थी कि हमारे सदर मुक़ाम के लिए देश के हर हिस्से से अपना सम्पर्क रखने और नियमित रूप से आदेश भेजने में कठिनाई अधिकाधिक बढ़ती जा रही थी। यह लाज़िमी था, क्योंकि हमारे बहुतेरे कार्यकर्ता नामी स्त्री-पुरुष थे और वे खुल्लमखुल्ला काम करते थे। वे कभी भी गिरफ़्तार हो सकते थे। १९३० में छिपे तौर पर आदेश भेजने, रिपोर्ट मंगवाने और देखभाल करने के लिए कुछ आदमी भेजे जाते थे। व्यवस्था चली तो अच्छी और उसने यह भी दिखा दिया कि हम गुप्त ख़बरें देने के काम को बड़ी सफलता के साथ कर सकते हैं। लेकिन कुछ हद तक यह हमारे खुले आन्दोलन के साथ मेल नहीं खाती थी, और गांधीजी इसके ख़िलाफ़ थे। तो अब प्रधान कार्यालय से हिदायतें मिलने के

अभाव में हमें काम की ज़िम्मेदारी स्थानीय लोगों पर ही छोड़नी पड़ी थी, वरना वे ऊपर से आदेश आने की राह देखते बैठे रहते और कुछ काम नहीं करते। हां, जब-जब मुमकिन होता आदेश भेजे भी जाते थे।

इस तरह हमने यह और दूसरे कई प्रस्ताव पास किये, (इनमें से कोई न तो प्रकाशित किया गया और न उन पर अमल ही किया गया। क्योंकि बाद को हालत बदल गई थी) और अपनी-अपनी जगह जाने के लिए बिस्तर बांध लिये। ठीक इसी वक्त लार्ड इर्विन की तरफ़ से बुलावा आया और बातचीत फिर शुरू हो गई। ४ मार्च की रात को हम आधी रात तक गांधीजी के वाइसराय-भवन से लौटने का इन्तज़ार कर रहे थे। वह रात को कोई २ बजे आये, और हमें जगाकर कहा कि समझौता हो गया है। हमने मसविदा देखा। बहुतेरी धाराओं को तो मैं जानता था, क्योंकि अक्सर उनपर चर्चा होती रहती थी; लेकिन धारा नं० दो[1] जोकि सबसे ऊपर ही थी और संरक्षण आदि के बारे में थी, उसे देखकर मुझे ज़बरदस्त धक्का लगा। मैं उसके लिए क़तई तैयार न था, मगर मैं उस वक़्त कुछ न बोला और हम सब सो गए।

अब कुछ करने की गुंजाइश भी कहां रह गई थी? बात तो हो चुकी थी। हमारे नेता अपना वचन दे चुके थे और अगर हम राज़ी न भी हों तो कर क्या सकते थे? क्या उनका विरोध करें? क्या उनसे अलहदा हो जायं? अपने मतभेद की घोषणा करें? हो सकता है कि इससे किसी व्यक्ति को अपने लिए सन्तोष हो जाय। परन्तु अन्तिम फ़ैसले पर उसका क्या असर पड़ सकता था? कम-से-कम अभी कुछ समय के लिए तो सविनय-भंग आन्दोलन खत्म हो चुका

---

[1] **दिल्ली-समझौते (५ मार्च, १९३१) की धारा नं० २ यह है—"विधान-सम्बन्धी प्रश्न पर, सम्राट्-सरकार की अनुमति से, यह तय हुआ है कि हिन्दुस्तान के वैध शासन की उसी योजना पर आगे विचार किया जायगा जिसपर गोलमेज़-कान्फ्रेंस में पहले विचार हो चुका है। वहां जो योजना बनी थी, संघ-शासन उसका एक अनिवार्य अंग है। इसी प्रकार भारतीय उत्तरदायित्व और भारत के हित की दृष्टि से रक्षा (सेना), वैदेशिक मामले, अल्पसंख्यक जातियों की स्थिति, भारत की आर्थिक साख और ज़िम्मेदारियों की अदायगी-जैसे विषयों के प्रतिबन्ध या संरक्षण भी उसके आवश्यक भाग हैं।"**

क्या होगा ? गांधीजी ने लार्ड ईर्विन से यह प्रश्न बिल्कुल साफ़ कर लिया था। उन्होंने कहा था कर-बन्दी आन्दोलन बन्द कर दिया जायगा, तो भी हम किसानों को यह सलाह नहीं दे सकते कि वे अपनी ताक़त या हैसियत से ज़्यादा दें। चूंकि यह प्रान्तीय मामला था, भारत-सरकार के साथ इसकी ज्यादा चर्चा नहीं हो सकी थी। हमें यह यक़ीन दिलाया गया था कि प्रान्तीय सरकार इस विषय में खुशी के साथ हमसे बातचीत करेगी और अपने बस-भर किसानों की तकलीफें दूर करने की कोशिश करेगी। यह एक गोलमोल आश्वासन था। लेकिन उन हालतों में इससे ज़्यादा पक्की बात होना मुश्किल था। इस तरह यह मामला उस वक़्त के लिए तो ख़त्म ही हो गया था।

अब हमारी स्वाधीनतता का, अर्थात् हमारे उद्देश्य का, महत्त्वपूर्ण प्रश्न बाक़ी रहा और समझौते की धारा नम्बर दो से मुझे यह मालूम पड़ा कि यह भी ख़तरे में जा पड़ा है। क्या इसीलिए हमारे लोगों ने एक साल तक अपनी बहादुरी दिखाई ? क्या हमारी बड़ी-बड़ी ज़ोरदार बातों और कामों का ख़ात्मा इसी तरह होना था ? क्या कांग्रेस का स्वाधीनता-प्रस्ताव और २६ जनवरी की प्रतिज्ञा इसीलिए की गई थी ? इस तरह के विचारों में डूबा हुआ मैं मार्च की उस रात-भर पड़ा रहा और अपने दिल में ऐसी शून्यता महसूस करने लगा कि मानो उसमें से कोई क़ीमती चीज़ सदा के लिए निकल गई हो—

तरीक़ा ये दुनिया का देखा सही—
गरजते बहुत वे बरसते नहीं।[1]

---

[1]अंग्रेजी पद्य का भावानुवाद।

: ३५ :

कराची-कांग्रेस

गांधीजी ने किसीसे मेरी मानसिक व्यथा का हाल सुना और दूसरे दिन सुबह घूमने के वक़्त अपने साथ चलने के लिए मुझे कहा। बड़ी देर तक हमने बातचीत की, जिसमें उन्होंने मुझे यह विश्वास दिलाने की कोशिश की कि न तो कोई अत्यन्त महत्त्व की बात छोड़ दी गई है और न कोई सिद्धान्त ही त्यागा गया है। उन्होंने धारा नम्बर दो का एक विशेष अर्थ लगाया, जिससे वह हमारी स्वतन्त्रता की मांग से मेल खा सके। इसमें उनका आधार ख़ासकर 'भारत के हित में' शब्द थे। यह अर्थ मुझे खींचातानी का मालूम हुआ। मैं उसका क़ायल तो नहीं हुआ, लेकिन उनकी बातचीत से मुझे कुछ सान्त्वना ज़रूर हुई; मैंने उनसे कहा कि समझौते के गुण-दोष को एक तरफ़ रख दें, तो भी एकाएक कोई नई बात खड़ी कर देने के आपके तरीक़े से मैं डरता हूं। आपमें कुछ ऐसी अज्ञात वस्तु है, जिसे चौदह साल के निकट सम्पर्क के बाद भी मैं बिल्कुल नहीं समझ सका हूं और इसने मेरे मन में भय पैदा कर दिया है। उन्होंने अपने अन्दर ऐसे अज्ञात तत्त्व का होना तो स्वीकार किया; मगर कहा कि मैं ख़ुद भी इसके लिए जवाबदेह नहीं हो सकता, न यही पहले से बता सकता हूं कि वह मुझे कहां और किस ओर ले जायगा।

एक-दो दिन तक मैं बड़ी दुविधा में पड़ा रहा। समझ न सका कि क्या करूं। अब समझौते के विरोध का या उसे रोकने का तो कोई सवाल ही नहीं था। वह वक़्त गुज़र चुका था और मैं जो कुछ कर सकता था वह यह कि व्यवहार में उसे स्वीकार करते हुए सिद्धान्ततः अपनेको उससे अलग रखूं। इससे मेरे अभिमान को कुछ सान्त्वना मिल जाती, लेकिन हमारे पूर्ण स्वराज के बड़े प्रश्न पर इसका क्या असर पड़ सकता था? तब क्या यह अच्छा न होगा कि मैं उसे ख़ूबसूरती के साथ मंज़ूर कर लूं और उसका अधिक-से-अधिक अनुकूल अर्थ लगाऊं, जैसाकि गांधीजी ने किया? समझौते के बाद ही फ़ौरन अख़बारवालों से बातचीत करते

हुए गांधीजी ने उसी अर्थ पर ज़ोर दिया और कहा कि हम स्वतन्त्रता के प्रश्न पर पूरे-पूरे अटल हैं। वह लार्ड इर्विन के पास गये और इस बात को बिल्कुल स्पष्ट कर दिया जिससे कि उस समय या आगे कोई ग़लतफ़हमी न होने पाये। उन्होंने उनसे कहा कि यदि कांग्रेस गोलमेज़-कान्फ्रेंस में अपना प्रतिनिधि भेजे, तो उसका आधार एकमात्र स्वतन्त्रता ही हो सकता है और उसे पेश करने के लिए ही वहां जाया जा सकता है। अवश्य ही लार्ड इर्विन इस दावे को मान तो नहीं सकते थे, लेकिन उन्होंने यह मंजूर किया कि हां, कांग्रेस को उसे पेश करने का हक़ है।

इसलिए मैंने समझौते को मान लेना और दिल से उसके लिए काम करना तय किया। यह बात नहीं कि ऐसा करते हुए मुझे बहुत मानसिक और शारीरिक क्लेश न हुआ हो। मगर मुझे बीच का कोई रास्ता नहीं दिखाई देता था।

समझौते के पहले तथा बाद में लार्ड इर्विन के साथ बातचीत के दरमियान गांधीजी ने सत्याग्रही क़ैदियों के अलावा दूसरे राजनैतिक क़ैदियों की रिहाई की भी पैरवी की थी। सत्याग्रही क़ैदी तो समझौते के फलस्वरूप अपने-आप रिहा हो ही जाने वाले थे। लेकिन दूसरे ऐसे हज़ारों क़ैदी थे जो मुक़दमा चलाकर जेल भेजे गए थे और ऐसे नज़रबन्द भी थे जो बिना मुक़दमा चलाये, बिना इलज़ाम लगाये या सज़ा दिये ही जेलों में ठूस दिये गए थे। इनमें से कितने ही नज़रबन्द वर्षों से जेलों पड़े हुए थे और उनके बारे में सारे देश में नाराज़गी फैली हुई थी—खासकर बंगाल में, जहां कि बिना मुक़दमा चलाये क़ैद कर देने के तरीक़े से बहुत ज्यादा काम लिया गया। पेनग्विन आइलैण्ड के[1] जनरल-स्टाफ़ के मुखिया की तरह (या शायद ड्रेफस[2] के मामले की तरह) भारत सरकार का भी मानना

---

[1] 'पेनग्विन आइलैण्ड' अनातोले फ्रांस नामक प्रसिद्ध फ्रेंच लेखक की कृति है, जिसमें लोकशासन से हीन, यन्त्राधीन राज्य का चित्र खींचा गया है।

[2] ड्रेफस नामक एक फ्रांसीसी सैनिक अफ़सर था, जिसपर पिछली सदी के अन्त में सरकारी ख़बरें बेचने का झूठा इल्ज़ाम लगाया गया था और लम्बी सज़ा दी गई थी। इसपर इल्ज़ाम दो बार झूठा साबित हुआ; दो दफ़ा उस पर फिर मुक़दमा चलाया गया और अन्त में बहुत सालों तक क़ैद भोगने के बाद बेचारा निरपराध साबित हुआ।

था कि सबूत का न होना ही बढ़िया सबूत है। सबूत का न होना तो ग़ैर-साबित किया ही नहीं जा सकता। नज़रबन्दों पर सरकार का यह आरोप था कि वे हिंसात्मक प्रकार के असली या अप्रत्यक्ष क्रान्तिकारी हैं। गांधीजी ने समझौते के अंग-स्वरूप तो नहीं, परन्तु इसलिए कि बंगाल में राजनैतिक तनातनी कम हो जाय और वातावरण अपनी मामूली स्थिति में आ जाय, उनकी रिहाई की पैरवी की थी। मगर सरकार इसपर रज़ामन्द नहीं हुई।

भगतसिंह की फांसी की सज़ा रद कराने के लिए गांधीजी ने जो ज़ोरदार पैरवी की, उसको भी सरकार ने मंजूर नहीं किया। उसका भी समझौते से कोई सम्बन्ध न था। गांधीजी ने इसपर भी अलहदा तौर पर ज़ोर इसलिए दिया कि इस विषय पर भारत में बहुत तीव्र लोक-भावना थी। मगर उनकी पैरवी बेकार गई।

उन्हीं दिनों की एक कुतूहलवर्धक घटना मुझे याद है जिसने हिन्दुस्तान के आतंकवादियों की मनःस्थिति का आन्तरिक परिचय मुझे कराया। मेरे जेल में से छूटने के पहले ही, या पिताजी के मरने के पहले या बाद, यह घटना हुई। हमारे स्थान पर एक अजनबी मुझसे मिलने आया। मुझसे कहा गया कि वह चन्द्रशेखर आज़ाद है। मैंने उसे पहले कभी नहीं देखा था। हां, दस वर्ष पहले मैंने उसका नाम ज़रूर सुना था, जबकि १९२१ के असहयोग-आन्दोलन के ज़माने में स्कूल से असहयोग करके वह जेल गया था। इस समय वह कोई पन्द्रह साल का रहा होगा और जेल के नियम-भंग करने के अपराध में जेल में उसे बेंत लगाये गए थे। बाद को उत्तर-भारत में वह आतंकवादियों का एक मुख्य आदमी बन गया। इसी तरह का कुछ-कुछ हाल मैंने सुन रक्खा था। मगर इन अफ़वाहों में मैंने कोई दिलचस्पी नहीं ली थी। इसलिए वह आया तो मुझे ताज्जुब हुआ।

पंडितजी का संकेत जिसकी तरफ है, ऐसा पात्र तो 'पेनग्विन आइलैण्ड' में मुमकिन है; परन्तु 'सबूत का न होना ही बढ़िया सबूत है' यह तो ड्रेफस के केस की याद दिलाता है। ड्रेफस के हाथ की सही का एक भी काग़ज मिलता नहीं था; इस सफ़ाई के विरोध में यह कहा जाता था कि 'सबूत का न होना ही बढ़िया सबूत है' क्योंकि सबूत हो तो सच-झूठ प्रमाणित करना पड़े! सबूत रक्खा ही नहीं, यह साबित करता है कि इसपर जुर्म साबित होता है। —अनु०

वह मुझसे इसलिए मिलने को तैयार हुआ था कि हमारे छूट जाने से आमतौर पर ये आशाएं बंधने लगीं कि सरकार और कांग्रेस में कुछ-न-कुछ समझौता होने-वाला है। वह मुझसे जानना चाहता था कि अगर कोई समझौता हो तो उनके दल के लोगों को भी कुछ शान्ति मिलेगी या नहीं ? क्या उनके साथ अब भी विद्रोहियों का-सा बर्ताव किया जायगा ? जगह-जगह उनका पीछा इसी तरह किया जायगा ? उनके सिरों के लिए इनाम घोषित होते ही रहेंगे और फांसी का तख़्ता हमेशा लटकता रहा करेगा, या उनके लिए शान्ति के साथ काम-धन्धे में लग जाने की भी कोई सम्भावना होगी ? उसने कहा कि ख़ुद मेरा तथा मेरे दूसरे साथियों का यह विश्वास हो चुका है कि आतंकवादी तरीक़े बिल्कुल बेकार हैं और उनसे कोई लाभ नहीं है। हां, वह यह मानने के लिए तैयार नहीं था कि शान्तिमय साधनों से ही हिन्दुस्तान को आज़ादी मिल जायगी। उसने कहा, आगे कभी सशस्त्र लड़ाई का मौक़ा आ सकता है, मगर वह आतंकवाद न होगा। हिन्दुस्तान की आज़ादी के लिए उसने आतंकवाद को ख़ारिज ही कर दिया था। पर उसने फिर पूछा, कि अगर मुझे शान्ति के साथ जमकर बैठने का मौक़ा न दिया जाय, रोज़-रोज़ मेरा पीछा किया जाय, तो मैं क्या करूंगा ? उसने कहा— "इधर हाल में जो आतंककारी घटनाएं हुई हैं वे ज़्यादातर आत्म-रक्षा के लिए ही की गई है।"

मुझे आज़ाद से यह सुनकर ख़ुशी हुई थी और बाद में उसका और सबूत भी मिल गया कि आतंकवाद पर से उन लोगों का विश्वास हट गया है। एक दल के विचार के रूप में तो वह अवश्य ही लगभग मर गया है, और जो कुछ व्यक्तिगत इक्की-दुक्की घटनाएं हो जाती हैं वे या तो किसी कारण बदले के लिए या बचाव के लिए या किसी की व्यक्तिगत लहर के फलस्वरूप हुई घटनाएं हैं, न कि आम धारणा के फलस्वरूप। अवश्य ही इसके यह मानी नहीं हैं कि पुराने आतंकवादी और उनके नये साथी अहिंसा के हामी बन गए हैं, या ब्रिटिश सरकार के भक्त बन गए हैं। हां, अब वे पहले की तरह आतंकवादियों की भाषा में नहीं सोचते। मुझे तो ऐसा मालूम होता है कि उनमें से बहुतों की मनोवृत्ति निश्चित रूप से फ़ासिस्ट[1] बन गई थी।

---

[1]फ़ासिस्ट पद्धति आज मुसोलिनी की पद्धति समझी जाती है। लेकिन

मैंने चन्द्रशेखर आज़ाद को अपना राजनैतिक सिद्धान्त समझाने की कोशिश की और यह भी कोशिश की कि वह मेरे दृष्टिबिन्दु का क़ायल हो जाय। लेकिन उसके असली सवाल का, कि 'अब मैं क्या करूं ?' मेरे पास कोई जवाब न था। ऐसी कोई बात होती हुई नहीं दिखाई देती थी, कि जिससे उसको या उसके-जैसों को कोई राहत या शान्ति मिले। मैं जो कुछ उसे कह सकता था वह इतना ही कि वह भविष्य में आतंकवादी कार्यों को रोकने की कोशिश करे, क्योंकि उससे हमारे बड़े कार्य को तथा खुद उसके दल को भी नुक़सान पहुंचेगा।

दो-तीन हफ़्ते बाद ही, जब गांधी-इर्विन बातचीत चल रही थी, मैंने दिल्ली में सुना कि चन्द्रशेखर आज़ाद पर इलाहाबाद में पुलिस ने गोली चलाई और वह मर गया। दिन के वक़्त एक पार्क में वह पहचाना गया और पुलिस के एक बड़े दल ने आकर उसे घेर लिया। एक पेड़ के पीछे से उसने अपनेको बचाने की कोशिश की। दोनों तरफ़ से गोलियां चलीं। एक-दो पुलिसवालों को घायल कर अन्त में गोली लगने से वह मर गया।

अस्थायी समझौता होने के बाद शीघ्र ही मैं दिल्ली से लखनऊ पहुंचा। हमने सारे देश में सविनय-भंग बन्द करने के लिए आवश्यक तमाम कार्रवाई की, और कांग्रेस की तमाम शाखाओं ने हमारे आदर्शों का पालन बड़े ही अनुशासन से किया। हमारे साथियों में से ऐसे कितने ही लोग थे जो समझौते से नाराज़ थे, और कितने ही तो आगबबूला भी थे। उन्हें सविनय-भंग से रोकने पर मजबूर करने के लिए हमारे पास कोई साधन न था। मगर जहांतक मुझे मालूम है, बिना एक भी अपवाद के उस सारे विशाल संगठन ने इस नई व्यवस्था को स्वीकार करके उसपर अमल किया, हालांकि कितने ही लोगों ने उसकी बड़ी आलोचना भी की थी। मुझे खासतौर पर दिलचस्पी इस बात पर थी कि हमारे सूबे में इसका क्या असर होगा। क्योंकि वहां कुछ क्षेत्रों में करबन्दी-आन्दोलन तेज़ी

यहां फ़ासिस्ट मनोवृत्ति का अर्थ है—'रक्षित हित रखनेवाले वर्ग के लाभ के लिए बलपूर्वक बनाई गई डिक्टेटरशाही।' ऐसी डिक्टेटरशाही आज इटली में चल रही है और जर्मनी में भी है। पंडितजी का कहना यह है कि हिंसावादी भी आज इसी तरह की डिक्टेटरशाही बनाने की तरफ़ झुक रहे हैं। —अनु०

से चल रहा था। हमारा पहला काम यह देखना था कि सत्याग्रही क़ैदी रिहा हो जायं। वे हज़ारों की तादाद में प्रतिदिन छूटते थे, और कुछ समय बाद—उन हज़ारों नज़रबन्दों के और उन लोगों के अलावा जो हिंसात्मक कार्यों के लिए सज़ा पाये हुए थे और जो रिहा नहीं किये गए थे—सिर्फ़ वही लोग जेल में रह गए जिनका मामला विवादास्पद था।

ये जेल से छूटे हुए क़ैदी जो अपने गांवों और क़स्बों में गये तो स्वभावतः लोगों ने उनका स्वागत किया। कई लोगों ने सजावट भी की, बन्दनवारें लगाईं, जुलूस निकाले, सभाएं कीं, भाषण हुए और स्वागत में मानपत्र भी दिये गए। यह सब कुछ होना बहुत स्वाभाविक था और इसीकी आशा भी की जा सकती थी। वह ज़माना जब कि चारों ओर पुलिस की लाठियां-ही-लाठियां दिखाई देती थीं, सभा और जुलूस ज़बरदस्ती बिखेर दिये जाते थे, एकाएक बदल गया था। इससे पुलिसवाले ज़रा बेचैनी अनुभव करने लगे और कदाचित् हमारे बहुतेरे जेल से आनेवालों में विजय का भाव भी आ गया था। यों अपनेको विजयी मानने का शायद ही कोई कारण था; लेकिन जेल से आने पर (अगर जेल में आत्मा कुचल न दी गई हो तो) हमेशा एक आनन्द और अभिमान की भावना पैदा होती है, और झुण्ड-के-झुण्ड लोगों के एक साथ जेल से छूटने पर तो यह आनन्द और अभिमान और अधिक बढ़ जाता है।

मैंने इस बात का ज़िक्र इसलिए किया है कि आगे जाकर सरकार ने इस 'विजय के भाव' पर बड़ा ऐतराज़ किया था, और हम पर इसके लिए इलज़ाम लगाया गया था! हमेशा हुकूमत-परस्ती के वातावरण में रहने और पाले-पोसे जाने के कारण और शासन के सम्बन्ध में ऐसे फ़ौजी स्वरूप की धारणा होने से जिसको जनता का आधार या समर्थन प्राप्त नहीं होता, उनके नज़दीक अपने तथा-कथित रोब के घट जाने से बढ़कर दुःखदायी बात दूसरी नहीं हो सकती। जहां-तक मुझे पता है, हममें से किसीको इसका कोई ख़याल न था और जब हमने बाद को यह सुना कि लोगों की इस गुस्ताख़ी पर सरकारी अफ़सर ठेठ शिमला से लेकर नीचे मैदान तक आग-बबूला हो गए हैं और ऐसा अनुभव करने लगे हैं मानो उनके अभिमान पर चोट पड़ी है, तो हम आश्चर्य से दंग रह गए! जो अख़बार उनके विचारों की प्रतिध्वनि करते हैं, वे तो अबतक भी इससे बरी नहीं हुए हैं। अब भी वे, हालांकि तीन-साढ़े तीन साल हो गए हैं, उन साहसिक और बुरे दिनों का

ज़िक्र भय से कांपते हुए करते हैं, जबकि उनके मतानुसार कांग्रेसी इस तरह विजय-घोष करते फिरते थे कि मानो उन्होंने कोई बड़ी भारी विजय प्राप्त की हो ! अखबारों में सरकार ने और उनके दोस्तों ने जो ग़ुस्सा उगला वह हमारे लिए एक नई बात थी। उससे पता लगा कि वे कितने घबरा गए थे, उन्हें अपने दिल को कितना दबा-दबाकर रखना पड़ता था, जिससे उनके मन में कैसी गांठ पड़ गई थी ! यह एक अनोखी बात है कि थोड़े-से जुलूसों से और हमारे लोगों के कुछ भाषणों से उनमें इतना तहलका मच गया !

सच पूछो तो कांग्रेस के साधारण लोगों में ब्रिटिश सरकार को 'हरा देने का कोई भाव' नहीं था; और नेताओं में तो और भी नहीं। लेकिन हां, अपने भाइयों और बहनों के त्याग और साहस पर हम लोगों के अन्दर एक विजय की भावना ज़रूर थी। देश ने १९३० में जो कुछ किया उस पर हमें अवश्य गर्व है। उसने हमें अपनी ही निगाहों में ऊंचा उठा दिया; हममें आत्म-विश्वास पैदा किया, और इस बात के खयाल से हमारे छोटे-से-छोटे स्वयंसेवक की भी छाती तन जाती और सिर ऊंचा हो जाता था। हम यह भी अनुभव करते थे कि इस महान आयोजन ने, जिसने सारी दुनिया का ध्यान अपनी तरफ़ खींच लिया था, ब्रिटिश सरकार पर बहुत भारी दबाव डाला और हमको अपने ध्येय के ज़्यादा नज़दीक पहुंचाया। इन सबका 'सरकार को हराने' से कोई ताल्लुक़ न था; और वास्तव में तो हममें से बहुतों का ही खयाल रहा कि दिल्ली-समझौते में तो सरकार ही ज़्यादा फ़ायदे में रही है। इसमें से जिन लोगों ने यह कहा कि अभी तो हम अपने ध्येय से बहुत दूर हैं और एक बड़ा और एक मुश्किल संग्राम सामने आने को है, वे सरकार के मित्रों के द्वारा लड़ाई को उकसाने और दिल्ली-समझौते की भावना को भंग करने के दोषी तक बताये गए।

युक्तप्रान्त में अब हमें किसानों के मामले का सामना करना था। हमारी नीति अब यह थी कि जहांतक मुमकिन हो, ब्रिटिश सरकार से सहयोग किया जाय और, इसलिए हमने तुरन्त ही युक्तप्रान्तीय सरकार के साथ उसकी कार्रवाई शुरू कर दी। बहुत दिनों के बाद सूबे के कुछ बड़े अफ़सरों से—कोई बारह साल तक हमने इधर सरकारी तौर पर कोई व्यवहार नहीं रक्खा था—मैं किसानों के मामलों पर चर्चा करने के लिए मिला। इस विषय में हमारी लम्बी लिखा-पढ़ी भी चली। प्रान्तीय कमेटी ने हमारे प्रान्त के प्रमुख नेता श्री गोविन्दवल्लभ

पन्त को एक मध्यस्थ के तौर पर नियत किया कि जो लगातार प्रान्तीय सरकार के सम्पर्क में रहें। सरकार की तरफ़ से यह बात मान ली गई कि हां, किसान वाक़ई संकट में हैं, अनाज के भाव बहुत बुरी तरह गिर गए हैं, और एक औसत किसान लगान देने में असमर्थ है। सवाल सिर्फ़ यह था कि छूट कितनी दी जाय। इस विषय में कुछ कार्रवाई करना प्रान्तीय सरकार के हाथ में था। साधारणतया सरकार ज़मींदारों से ही ताल्लुक़ रखती है, सीधे काश्तकारों से नहीं; और लगान कम करना या उसमें छूट देना ज़मींदारों का ही काम था। लेकिन ज़मींदारों ने तबतक ऐसा करने से इन्कार कर दिया, जबतक कि सरकार भी उनको उतनी ही छूट न दे दे। और उन्हें तो किसी भी सूरत में अपने काश्तकारों को छूट देने की ऐसी पड़ी नहीं थी। इसलिए फ़ैसला तो आखिर सरकार को ही करना था।

प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी ने किसानों से कह दिया था कि कर-बन्दी की लड़ाई रोक दी गई है और जितना हो सके उतना लगान दे दो। मगर उनके प्रतिनिधि की हैसियत से उसने काफ़ी छूट चाही थी। बहुत दिनों तक सरकार ने कुछ भी कार्रवाई नहीं की। शायद गवर्नर सर माल्कम हेली के छुट्टी या स्पेशल ड्यूटी पर चले जाने से वह दिक्क़त महसूस कर रही थी। और इस मामले में तुरन्त और व्यापक परिणाम लानेवाली कार्रवाई करने की ज़रूरत थी। कार्यवाहक गवर्नर और उनके साथी ऐसी कार्रवाई करने में हिचकते थे, और सर माल्कम हेली के आने तक (गर्मियों तक) मामले को आगे धकेलते रहे। इस देरी और ढील-ढाल ने उस मुश्किल हालत को और भी ख़राब बना दिया, जिससे काश्तकारों को बहुत नुकसान बर्दाश्त करना पड़ा।

दिल्ली-समझौते के बाद ही मेरी तन्दुरुस्ती कुछ ख़राब हो गई। जल में भी मेरी तबियत कुछ ख़राब रही थी। उसके बाद पिताजी की मृत्यु से गहरा धक्का लगा और फिर फ़ौरन ही दिल्ली में सुलह की चर्चा का ज़ोर पड़ा। यह सब मेरे स्वास्थ्य के लिए हानिकर साबित हुआ। लेकिन कराची-कांग्रेस में जाने तक मैं कुछ-कुछ ठीक हो चला था।

कराची हिन्दुस्तान के ठेठ उत्तर-पश्चिम कोने में है, जहां की यात्रा ज़रा मुश्किल होती है। बीच में बड़ा रेतीला मैदान है, जिससे वह हिन्दुस्तान के शेष हिस्सों से बिलकुल जुदा-सा पड़ जाता है। लेकिन फिर भी वहां दूर-दूर के हिस्सों

से बहुत-से लोग आये थे और वे उस समय देश का जैसा मिज़ाज था उसको सही तौर पर ज़ाहिर करते थे। उनके दिलों में शान्ति के भाव थे और राष्ट्रीय आन्दोलन की जो ताक़त देश में बढ़ रही थी उसके प्रति गहरा सन्तोष था। कांग्रेस-संगठन के प्रति, जिसने कि देश की भारी पुकार और मांग का बड़ी योग्यतापूर्वक जवाब दिया था और जिसने अनुशासन और त्याग के द्वारा अपने अस्तित्व की पूरी सार्थकता दिखलाई थी, उनके मन में अभिमान था। अपने लोगों के प्रति विश्वास का भाव था और उस उत्साह में संयम भी दिखलाई पड़ता था। इसके साथ ही आगे आनेवाले ज़बरदस्त प्रश्नों और ख़तरों के प्रति ज़िम्मेदारी का भी गहरा भाव था। हमारे शब्द और प्रस्ताव अब राष्ट्रीय पैमाने पर किये जाने-वाले कार्यों के मंगलाचरण-से थे और वे योंही बिना सोचे-विचारे न बोले जाते थे, न पास किये जाते थे। दिल्ली-समझौता यद्यपि भारी बहुमत से पास हो गया था, तो भी वह लोकप्रिय नहीं था, और न पसन्द ही किया गया था, और लोगों के अन्दर यह भय काम कर रहा था कि यह हमें तरह-तरह की भद्दी और विषम स्थितियों में लाकर डाल देगा। कुछ ऐसा दिखाई पड़ता था कि देश के सामने जो सवाल हैं, उनको यह अस्पष्ट कर देगा। कांग्रेस-अधिवेशन के ठीक पहले ही देश की नाराज़गी का एक और कारण पैदा हो गया था—भगतसिंह का फांसी पर लटकाया जाना। उत्तर-भारत में इस भावना की लहर तेज़ थी और कराची उत्तर में ही होने के कारण वहां पंजाब से बड़ी तादाद में लोग आये थे।

पिछली किसी भी कांग्रेस की बनिस्बत कराची-कांग्रेस में तो गांधीजी की और भी बड़ी निजी विजय हुई है। उसके सभापति सरदार वल्लभभाई पटेल हिन्दुस्तान के बहुत ही लोकप्रिय और ज़ोरदार आदमी थे और उन्हें गुजरात के सफल नेतृत्व की सुकीर्ति प्राप्त थी। फिर भी उसमें प्रधानता तो गांधीजी की ही थी। अब्दुलग़फ़्फ़ार ख़ां के नेतृत्व में सीमाप्रान्त से भी लालकुर्तीवालों का एक अच्छा दल वहां पहुंचा था। लालकुर्तीवाले बड़े लोकप्रिय थे। जहां कहीं भी जाते लोग तालियों से उनका स्वागत करते, क्योंकि अप्रैल १९३० के बाद से अबतक गहरी उत्तेजना दिखाई जाने पर भी उन्होंने असाधारण शान्ति और साहस की छाप हिन्दुस्तान पर डाली थी। लालकुर्ती नाम से कुछ लोगों को यह गुमान हो जाता था कि वे कम्युनिस्ट या वामपक्षीय मज़दूर-दल के थे। उनका असली नाम तो 'ख़ुदाई ख़िदमतगार' था और वह संगठन कांग्रेस के साथ मिलकर

काम करता था (और १९३१ में बाद को कांग्रेस का एक अभिन्न अंग बना लिया गया था)। वे लालकुर्तीवाले महज़ इसलिए कहलाते थे कि उनकी वर्दी ज़रा पुराने ढंग की लाल थी। उनके कार्यक्रम में कोई आर्थिक नीति शामिल न थी, वह पूर्णरूप से राष्ट्रीय था और उसमें सामाजिक सुधार का काम भी शामिल था।

कराची के मुख्य प्रस्ताव में दिल्ली-समझौता और गोलमेज़-कान्फ्रेंस का विषय था। कार्य-समिति ने जिस अन्तिम रूप में उसे पास किया था उसे मैंने अवश्य ही मंजूर कर लिया था। मगर जब गांधीजी ने मुझे खुले अधिवेशन में उसे पेश करने के लिए कहा, तो मैं ज़रा हिचकिचाया। यह मेरी तबीयत के खिलाफ़ था। पहले तो मैंने इन्कार कर दिया, मगर बाद को यह मुझे अपनी कमज़ोरी और असन्तोषजनक स्थिति दिखाई दी। या तो मुझे इसके पक्ष में होना चाहिए या इसके खिलाफ़; यह मुनासिब न था कि ऐसे मामले में टालमटोल करूं और लोगों को अटकलें बांधने के लिए खुला छोड़ दूं। अतः बिल्कुल आखिरी घड़ी पर खुले अधिवेशन में, प्रस्ताव आने के कुछ ही मिनट पहले, मैंने उसे पेश करने का निश्चय किया। अपने भाषण में मैंने अपने हृदय के भाव ज्यों-के-त्यों उस विशाल जन-समूह के सामने रख दिये और उनसे पैरवी की कि वे उस प्रस्ताव को हृदय से स्वीकार कर लें। मेरा वह भाषण—जो ऐन मौक़े पर अन्तःस्फूर्ति से दिया गया था और हृदय की गहराई से निकला था, जिसमें न अलंकार था न सुन्दर शब्दावली—शायद मेरे उन कई भाषणों से ज़्यादा सफल रहा जिनके लिए पहले से ध्यान देकर तैयारी करने की ज़रूरत हुई थी।

मैं और प्रस्तावों पर भी बोला था। इनमें भगतसिंह, मौलिक अधिकार और आर्थिक नीति के प्रस्ताव उल्लेखनीय हैं। आखिरी प्रस्ताव में मेरी खास दिलचस्पी थी; क्योंकि एक तो उसका विषय ही ऐसा था और दूसरे उसके द्वारा कांग्रेस में एक नये दृष्टिकोण का प्रवेश होता था। अबतक कांग्रेस सिर्फ़ राष्ट्रीयता की ही दिशा में सोचती थी और आर्थिक प्रश्न से बचती रहती थी। जहांतक ग्राम-उद्योगों से और आमतौर पर स्वदेशी को बढ़ावा देने से ताल्लुक़ था, उसको छोड़कर कराचीवाले इस प्रस्ताव के द्वारा मूल उद्योगों और नौकरियों के राष्ट्रीयकरण और ऐसे ही दूसरे उपायों के प्रचार के द्वारा ग़रीबों का बोझा कम करके अमीरों पर बढ़ाने के लिए एक बहुत छोटा क़दम, समाजवाद की दिशा में, उठाया गया; लेकिन वह समाजवाद क़तई न था। पूंजीवादी राज्य भी उसकी प्रायः हर

बात को आसानी से मंजूर कर सकता है ।

इस बहुत ही नरम और निस्सार प्रस्ताव ने भारत सरकार के बड़े-बड़े लोगों को गहरे विचार में डाल दिया। शायद उन्होंने अपनी हमेशा की अन्दरूनी निगाह से यह खयाल कर लिया कि बोल्शेविकों का रुपया लुक-छिपकर कराची जा पहुंचा है और कांग्रेस के नेताओं को नीति-भ्रष्ट कर रहा है । एक तरह के राजनैतिक अन्तःपुर में रहते-रहते, बाहरी दुनिया से कटे, गोपनीयता के वातावरण से घिरे हुए उनके दिमाग़ को रहस्य और भेद की कहानियां और कल्पित कथाएं सुनने का बड़ा शौक़ रहता है । और फिर ये क़िस्से एक रहस्यपूर्ण ढंग से थोड़ा-थोड़ा करके उनके प्रीति-भाजन पत्रों में दिये जाते हैं और साथ में यह झलकाया जाता है कि यदि परदा खोल दिया जाय तो और भी कई गुल खिल सकते हैं । उनके इस मान्य प्रचलित तरीक़े से मौलिक अधिकार आदि सम्बन्धी कराची के प्रस्तावों का बार-बार ज़िक्र किया गया है, और मैं उनसे यही नतीजा निकाल सकता हूं कि वे, इस प्रस्ताव पर सरकारी सम्मति क्या है, यह बतलाते हैं । क़िस्सा यहांतक कहा जाता है कि एक छिपे व्यक्ति ने, जिसका कम्युनिस्टों से सम्बन्ध है, पूरे प्रस्ताव का या उसके ज़्यादातर हिस्से का ढांचा बनाया है और उसने कराची में वह मेरे मत्थे मढ़ दिया । उसपर मैंने गांधीजी को चुनौती दे दी कि या तो इसे मंजूर कीजिए या दिल्ली-समझौते पर मेरे विरोध के लिए तैयार रहिए । गांधीजी ने मुझे चुप करने के लिए यह रिश्वत दे दी और आखिरी दिन, जबकि विषय-समिति और कांग्रेस थकी हुई थी, उन्होंने इसे उनके सिर पर लाद दिया ।

उस छिपे व्यक्ति का नाम, जहांतक मुझे पता है, यों साफ़-साफ़ लिया नहीं गया है । लेकिन तरह-तरह के इशारों से मालूम हो जाता है कि उनकी मंशा किनसे है । मुझे छिपे तरीकों और घुमाव-फिराव से बात कहने की आदत नहीं; इसलिए मैं सीधे ही कह दूं कि उनकी मंशा शायद एम० एन० राय से है । शिमला और दिल्ली के ऊंचे आसनवालों के लिए यह जानना दिलचस्प और शिक्षाप्रद होगा कि एम० एन० राय या दूसरे 'कम्युनिस्ट-विचारवाले' कराची के उस सीधे-सादे प्रस्ताव के बारे में क्या खयाल करते हैं । उन्हें यह जानकर ताज्जुब होगा कि उस तरह के आदमी तो उस प्रस्ताव को कुछ-कुछ घृणा की दृष्टि से देखते हैं; क्योंकि उनके मतानुसार तो यह मध्यम वर्ग के सुधारवादियों की मनोवृत्ति का एक खासा उदाहरण है ।

जहांतक गांधीजी से ताल्लुक़ है, उनसे मेरी घनिष्ठता पिछले १७ बरसों से है और मुझे उन्हें बहुत नज़दीक से जानने का सौभाग्य प्राप्त है। यह ख़याल कि मैं उन्हें चुनौती दूं, या उनसे सौदा करूं, मेरी निगाह में भयानक है। हां, हम एक-दूसरे का ख़ूब लिहाज़ रखते हैं और कभी किसी विशेष मसले पर अलग-अलग भी हो सकते हैं, लेकिन हमारे आपस के व्यवहारों में बाज़ारू तरीक़ों से हरगिज़ काम नहीं लिया जा सकता।

कांग्रेस में इस तरह के प्रस्ताव को पास कराने का ख़याल पुराना है। कुछ सालों से युक्तप्रान्तीय कांग्रेस कमेटी इस विषय में हलचल मचा रही थी और कोशिश कर रही थी कि अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी समाजवादी प्रस्ताव को स्वीकार कर ले। १९२९ में उसने अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी में कुछ हदतक उसके सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया था। उसके बाद सत्याग्रह आ गया। दिल्ली में, फ़रवरी १९३१ में, जबकि मैं गांधीजी के साथ सुबह घूमने जाया करता था, मैंने उनसे इस मामले का ज़िक्र किया था और उन्होंने आर्थिक विषयों पर एक प्रस्ताव रखने के विचार का स्वागत किया था। उन्होंने मुझसे कहा था कि कराची में इस विषय को उठाना और इस विषय में एक प्रस्ताव बनाकर मुझे दिखाना। कराची में मैंने मसविदा बनाया और उन्होंने उसमे बहुतेरे परिवर्तन सुझाये और तजवीज़ें कीं। वह चाहते थे कि कार्य-समिति में पेश करने के पहले हम दोनों उसकी भाषा पर सहमत हो जायं। मुझे कई मसविदे बनाने पड़े और इससे इस मामले में कुछ दिन की देरी हो गई। आख़िर गांधीजी और मैं दोनों एक मसविदे पर सहमत हो गए और तब वह कार्य-समिति में और उसके बाद विषय-समिति में पेश किया गया। यह बिल्कुल सच है कि विषय-समिति के लिए यह एक नया विषय था और कुछ मेम्बरों को उसे देखकर ताज्जुब हुआ था। फिर भी वह कमेटी में और कांग्रेस में आसानी से पास हो गया और बाद में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी को सौंप दिया गया कि वह निर्दिष्ट दिशा में उसको और विशद और व्यापक बनाये।

हां, जब मैं इस प्रस्ताव का मसविदा तैयार कर रहा था तब कितने ही लोगों से, जो मेरे डेरे पर आया करते थे, इसके बारे में मैं कभी-कभी कुछ सलाह ले लिया करता था। मगर एम० एन० राय से इसका कोई ताल्लुक़ नहीं था, और मैं यह अच्छी तरह जानता था कि वह इसको बिल्कुल पसन्द नहीं करेंगे और इसकी खिल्ली तक उड़ायेंगे।

अलबत्ता कराची आने के कुछ दिन पहले इलाहाबाद में एम० एन० राय से मेरी मुलाक़ात हुई थी। वह एक रोज़ शाम को अकस्मात् हमारे घर चले आये। मुझे पता नहीं था कि वह हिन्दुस्तान में हैं। फिर भी मैंने उन्हें फ़ौरन पहचान लिया, क्योंकि उनको मैंने १९२७ में मास्को में देखा था। कराची में वह मुझसे मिले थे, मगर शायद पांच मिनट से ज़्यादा नहीं। पिछले कुछ सालों में राजनैतिक दृष्टि से मेरी निन्दा करते हुए मेरे खिलाफ़ उन्होंने बहुत-कुछ लिखा है, और अक्सर मुझे चोट पहुंचाने में कामयाब भी हुए हैं। गोकि उनके और मेरे बीच बहुत मतभेद हैं, फिर भी मेरा आकर्षण उनकी ओर हुआ, और बाद को जब वह गिरफ़्तार हुए और मुसीबत में थे, तब मेरा जी हुआ कि जो-कुछ मुझसे हो सके (और वह बहुत थोड़ी थी) उनकी मदद करूं। मै उनकी तरफ़ आर्कषित हुआ उनकी विलक्षण बौद्धिक क्षमता को देखकर। मैं उनकी तरफ़ इसलिए भी खिंचा कि मुझे वह सब तरह अकेले मालूम हुए, जिनको हर आदमी ने छोड़ दिया था। ब्रिटिश सरकार उनके पीछे पड़ी हुई थी ही। हिन्दुस्तान के राष्ट्रीय दल के लोगों को उनकी ओर दिलचस्पी नहीं थी। और जो लोग हिन्दुस्तान में अपने को कम्युनिस्ट कहते हैं वे विश्वासघाती समझकर उनकी निन्दा करते थे। मुझे मालूम हुआ कि सालों तक रूस में रहने और कमिण्टर्न के साथ घनिष्ठ सहयोग करने के बाद वह उनसे जुदा पड़ गए थे, या जुदा कर दिये गए थे। ऐसा क्यों हुआ, इसका मुझे पता नहीं है और सिवा कुछ आभास के न अबतक यही जानता हूं कि उनके मौजूदा विचार क्या हैं और पुराने कम्युनिस्टों से किस बात में उनका मतभेद है। लेकिन उनके-जैसे पुरुष को इस तरह प्रायः हरेक के द्वारा अकेला छोड़े जाते देखकर मुझे पीड़ा हुई और अपनी आदत के खिलाफ़ मैं उनके लिए बनाई गई डिफ़ेंस कमेटी में शामिल हुआ। १९३१ की गर्मियों से, अबसे कोई तीन वर्ष पहले से, वह जेल में हैं, बीमार हैं और प्रायः तनहाई में रह रहे हैं।[१]

कराची में कांग्रेस अधिवेशन का एक आखिरी काम था कार्य-समिति का चुनाव। यों तो उसका चुनाव अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी द्वारा होता है, मगर ऐसा रिवाज पड़ गया था कि उस साल का सभापति (गांधीजी और कभी-कभी दूसरे साथियोंकी सलाहसे) नाम पेश करता और वे अखिल भारतीय कांग्रस कमेटी में मंजूर

---

[१] इनका सन् १९५४ में देहांत हो गया। —अनु०

कर लिये जाते। लेकिन कराची में हुए कार्य-समिति के चुनाव का बुरा नतीजा निकला, जिसका पहले किसीको खयाल नहीं हुआ था। अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के कुछ मुसलमान मेम्बरों ने इस चुनाव पर ऐतराज़ किया था। खास तौर पर एक (मुस्लिम) नाम पर। शायद उन्होंने उसमें अपनी तौहीन समझी थी कि उनके दल का कोई आदमी नहीं था। एक ऐसी अखिल भारतीय कमेटी में, जिसमें केवल पन्द्रह ही मेम्बर हों, यह बिल्कुल असम्भव था कि सभी हितों के प्रतिनिधि उसमें रहें। और असली झगड़ा था, जिसके बारे में हमें कुछ भी इल्म नहीं था, बिल्कुल निजी और पंजाब का स्थानीय। लेकिन उसका नतीजा यह हुआ कि जिन लोगों ने विरोध की आवाज़ें उठाई थीं वे (पंजाब में) कांग्रेस से हटकर मजलिसे-अहरार[1] में शरीक हो गए। कांग्रेस के कुछ बहुत ही मुस्तैद और लोक-प्रिय कार्यकर्ता उसमें शामिल हो गए और पंजाब के कितने ही मुसलमानों को उसने अपनी ओर खींच लिया। वह निचले मध्यमवर्ग के लोगों का प्रतिनिधित्व करती थी और मुस्लिम जनता से उसका बहुत सम्पर्क था। इस तरह वह एक ज़बरदस्त संगठन बन गया। उच्च श्रेणी के मुस्लिम साम्प्रदायिक लोगों के उस लुंज संगठन की बनिस्बत यह कहीं ज्यादा मज़बूत था, काम करता था जो कि हवा में या यों कहिये, कि दीवानखाने में या कमेटियों के अहरार लोग वैसे तो साम्प्रदायिकतावाद की तरफ़ चले गए, मगर मुस्लिम जनता के साथ उन्होंने अपना सिलसिला बांध रक्खा था। इसलिए वे एक ज़िन्दा जमात बने रहे, जिसका एक धुंधला-सा आर्थिक दृष्टिकोण है। देशी राज्यों के मुसलमान-आन्दोलन में खासकर कश्मीर में, उन्होंने बड़ा काम किया है जिनमें कि आर्थिक कष्ट और साम्प्रदायिकता दोनों अजीब तरह से और बदक़िस्मती से घुल-मिल गए हैं। कांग्रेस से अहरार पार्टी के कुछ नेताओं का कट जाना पंजाब में कांग्रेस के लिए बहुत ही हानिकारक हुआ। मगर कराची में इसका हमें पता क्या था? बाद में जाकर धीरे-धीरे हमें इसका भान होने लगा। लेकिन यह न समझना चाहिए कि कार्य-समिति के चुनाव के कारण ही वे लोग कांग्रेस से अलग हो गये। वह तो एक तिनका था जिसने हवा के रुख को बताया। उसके असली कारण तो और ही हैं, और वे गहरे हैं।

---

[1]अहरार के मानी हैं आत्म-सम्मान रखनेवाले। —अनु०

हम सब कराची में ही थे कि कानपुर के हिन्दू-मस्लिम दंगे की खबर हमें मिली। इसके बाद ही दूसरा समाचार यह मिला कि गणेशशंकर विद्यार्थी को कुछ मज़हबी दीवाने लोगों ने, जिनकी मदद के लिए वह वहाँ गए थे, क़त्ल कर डाला। वे भयंकर और पाशविक दंगे ही क्या कम बुरे थे ? लेकिन गणेशजी की मृत्यु ने हमें उनकी बीभत्सता जिस तरह हमारे हृदय पर अंकित कर दी, वैसी और कोई चीज़ नहीं कर सकती थी। उस कांग्रेस-कैम्प में हज़ारों आदमी उन्हें जानते थे और युक्तप्रान्त के हम सब लोगों के वह अत्यन्त प्यारे साथी और दोस्त थे। जवांमर्द और निडर, दूरदर्शी और निहायत अक्लमन्द सलाहकार, कभी हिम्मत न हारनेवाले, चुपचाप काम करनेवाले, नाम, पद और प्रसिद्धि से दूर भागनेवाले। अपनी जवानी के उत्साह में झूमते हुए वह हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए, जो उन्हें इतनी प्यारी थी और जिसके लिए उन्होंने अबतक कार्य किया था, अपना सिर हथेली पर लेकर ख़ुशी-ख़ुशी आगे बढ़े थे कि बेवक़ूफ़ हाथों ने उन्हें ज़मीन पर मार गिराया और कानपुर को और सूबे को एक अत्यन्त उज्ज्वल रत्न से वंचित कर दिया। जब यह ख़बर पहुंची तो कराची के यू० पी० कैम्प में शोक की घटा छा गई और ऐसा मालूम हुआ कि उसकी शान चली गई। लेकिन फिर भी उसके दिल में यह अभिमान था कि गणेशजी ने बिना पीछे क़दम उठाये मौत का मुक़ाबला किया और उन्हें ऐसी गौरवपूर्ण मौत नसीब हुई।

लेखक पत्नी और पुत्री के साथ
(श्रीमती कमला नेहरू, जवाहरलालजी और इन्दिरा गांधी)

: ३६ :

लंका में विश्राम

मेरे डाक्टरों ने मुझपर ज़ोर दिया कि मुझे कुछ आराम करना चाहिए, और आब-हवा बदलनी चाहिए। मैंने लंका द्वीप में एक महीना गुज़ारना तय किया। हिन्दुस्तान बड़ा भारी देश होने पर भी, इसमें स्थान-परिवर्तन या मानसिक विश्राम की असली सम्भावना दिखाई न दी; क्योंकि मैं जहां भी जाता वहां राजनैतिक साथी मिलते ही, और वही समस्याएं भी मेरे पीछे-पीछे वहां पहुंच जातीं। लंका ही हिन्दुस्तान से सबसे नज़दीक की जगह थी; इसलिए हम लंका ही गये—कमला, इन्दिरा और मैं। १९२७ में यूरोप से लौटने के बाद यही मेरी पहली तातील थी; यही पहला मौक़ा था जब मेरी पत्नी, कन्या और मैंने एक साथ शान्ति से कहीं विश्राम किया हो, और हमें कोई चिन्ताएं न रही हों। ऐसा विश्राम फिर नहीं मिला है, और मैं सोचता हूं कि शायद मिलेगा भी या नहीं।

फिर भी, दरअसल, हमें लंका में नुवाया-एलीया में दो हफ़्तों के सिवा ज्यादा विश्राम नहीं मिला। वहां के सभी वर्गों के लोगों ने हमारे प्रति बहुत ही आतिथ्य और मित्र-भाव प्रदर्शित किया। यह इतनी सद्भावना लगती तो बहुत अच्छी थी, मगर परेशानी में भी डाल देती थी। नुवाया-एलीया में बहुत-से श्रमिक, चाय-बागों के मज़दूर और दूसरे लोग रोज़ कई मील चलकर आया करते थे, और अपने साथ अपनी प्रेमपूर्ण भेंट की चीज़ें—जंगल के फूल, सब्जियां, घर का बना मक्खन—भी लाया करते थे। हम तो उनसे प्रायः बात भी नहीं कर सकते थे; एक-दूसरे की तरफ़ देख भर लेते थे और मुस्करा देते थे। हमारा छोटा-सा घर उनकी भेंट की इन क़ीमती चीज़ों से, जो वे अपनी दरिद्रावस्था में भी हमें दे जाते थे, भर गया था। ये चीज़ें हम वहां के अस्पतालों और अनाथालयों को भेज दिया करते थे।

हमने उस द्वीप की मशहूर चीज़ों और ऐतिहासिक खंडहरों, बौद्ध मठों और घने जंगलों को देखा। अनुराधापुर में मुझे बुद्ध की एक पुरानी बैठी हुई मूर्ति

बहुत पसन्द आई। एक साल बाद जब मैं देहरादून जेल में था, तब लंका के एक मित्र ने इस मूर्ति का चित्र मेरे पास भेज दिया था, जिसे मैं अपनी कोठरी में अपने छोटे-से टेबल पर रक्खे रहता था। यह चित्र मेरा बड़ा मूल्यवान साथी बन गया था, और बुद्ध की मूर्त्ति के गम्भीर शान्त भावों से मुझे बड़ी शान्ति और शक्ति मिलती थी, जिससे मुझे कई बार उदासी के मौक़ों पर बड़ी मदद मिली।

बुद्ध हमेशा मुझे बहुत आकर्षक प्रतीत हुए हैं। इसका कारण बताना तो मुश्किल है, मगर वह धार्मिक नहीं है; क्योंकि बौद्ध-धर्म के आस-पास जो मताग्रह जम गए हैं उनमे मुझे कोई दिलचस्पी नही है। उनके व्यक्तित्व ने ही मुझे आकर्षित किया है। इसी तरह ईसा के व्यक्तित्व के प्रति भी मुझे बड़ा आकर्षण है।

मैंने मठों में और सड़कों पर बहुत-से 'भिक्षुओं' को देखा, जिन्हें हर जगह जहां कहीं वे जाते थे, सम्मान मिलता था। क़रीब-क़रीब सभी के चेहरों पर शान्ति और निश्छलता का, तथा दुनिया की फ़िक्रों से एक विचित्र वैराग्य का, मुख्य भाव था। आमतौर पर उनके चेहरे से बुद्धिमत्ता नहीं झलकती थी; उनकी सूरत से दिमाग़ के अन्दर होनेवाला भयंकर संघर्ष नही मालूम पड़ता था। जीवन उन्हें महासागर की ओर शान्ति से बहती हुई नदी के समान दिखाई देता था। मैं उनकी तरफ़ कुछ रश्क के साथ, आंधी और तूफ़ान से बचानेवाला शान्त बन्दरगाह पाने की एक हल्की उत्कण्ठा के साथ, देखता था। मगर मैं तो जानता था कि मेरी क़िस्मत में कुछ और ही है, उसमें तो आंधी और तूफ़ान ही हैं। मुझे कोई शान्त बन्दरगाह मिलनेवाला नहीं है, क्योंकि मेरे भीतर का तूफ़ान भी उतना ही तेज़ है जितना बाहर का। और अगर मुझे कोई ऐसा बन्दरगाह मिल भी जाय, जहां इत्तिफ़ाक़ से आंधी की प्रचंडता न हो, तो भी क्या वहां मैं सन्तोष और सुख से रह सकूंगा?

कुछ समय के लिए तो वह बन्दरगाह खुशनुमा ही था। वहां आदमी पड़ा रह सकता था, स्वप्न देख सकता था और उष्ण-कटिबन्ध का शान्तिप्रद और जीवनदायी आनन्द अपने अन्दर भर सकता था। लंकाद्वीप उस समय मेरी भी वृत्ति के अनुकूल था, और उसकी शोभा देखकर मेरा हृदय हर्ष से भर गया। विश्राम का हमारा महीना जल्दी ही खत्म हो गया, और हार्दिक खेद के साथ हम वहां से विदा हुए। उस भूमि की और वहां के लोगों की कई बातें अब भी मुझे

याद आया करती हैं; जेल के मेरे लम्बे और सूने दिनों में भी यह मीठी याद मेरे साथ रही। एक छोटी-सी घटना मुझे याद है। वह शायद जाफ़ना के पास हुई थी। एक स्कूल के शिक्षकों और लड़कों ने हमारी मोटर रोक ली, और अभिवादन के कुछ शब्द कहे। दृढ़ और उत्सुक चेहरे लिये लड़के खड़े रहे, और उनमें से एक मेरे पास आया। उसने मुझसे हाथ मिलाया। बिना कुछ पूछे या दलील किये उसने कहा—"मैं कभी लड़खड़ाऊंगा नहीं।" उस लड़के की उन चमकती हुई आंखों की, उस आनन्दपूर्ण चेहरे की, जिसमें निश्चय की दृढ़ता भरी हुई थी, छाप मेरे मन पर अब भी पड़ी हुई है। मुझे पता नहीं कि वह कौन था, उसका कोई पता ठिकाना मेरे पास नहीं है; मगर किसी-न-किसी प्रकार मुझे यह विश्वास होता है कि वह अपने शब्दों का पक्का रहेगा, और जब जीवन की विषम समस्याओं का मुक़ाबला उसे करना होगा तब वह लड़खड़ायेगा नहीं, पीछे नहीं रहेगा।

लंका से हम दक्षिण भारत, ठीक कुमारी अन्तरीप के पास, दक्षिणी सिरे पर गये। वहां आश्चर्यजनक शान्ति थी। इसके बाद हम त्रावणकोर, कोचीन, मलाबार, मैसूर, हैदराबाद में होकर गुज़रे, जो ज्यादातर देशी रियासतें हैं। इनमे से कुछ दूसरों से बहुत प्रगतिशील हैं, तो कुछ बहुत पिछड़ी हुई। त्रावणकोर और कोचीन शिक्षा में ब्रिटिश-भारत से भी बहुत आगे बढ़े हुए हैं। मैसूर शायद उद्योग-धन्धों में आगे बढ़ा हुआ है, और हैदराबाद क़रीब-क़रीब पूरी तरह पुराने सामन्ती ढांचे की यादगार है। हमें हर जगह, जनता से भी और अधिकारियों से भी, आदर और स्वागत मिला। मगर इस स्वागत में अधिकारियों की यह चिन्ता भी छिपी हुई थी कि हमारे वहां आने से कहीं लोगों के ख़यालात ख़तरनाक न हो जायें। मालूम होता है, उस वक़्त मैसूर व त्रावणकोर ने राजनैतिक कार्य के लिए कुछ नागरिक स्वतन्त्रता और अवसर दिया था। हैदराबाद में इतनी आज़ादी न थी। और, हालांकि हमारे साथ आदर का बर्ताव किया जा रहा था, फिर भी मुझे वह वातावरण दम घोंटने और सांस रोकने वाला मालूम हुआ। बाद में मैसूर और त्रावणकोर की सरकारों ने उतनी नागरिक स्वतन्त्रता और राजनैतिक कार्यों की सुविधा भी छीन ली, जो उन्होंने पहले दे रक्खी थी।

मैसूर रियासत के बंगलौर शहर में, एक बड़े मजमे के बीच, मैंने लोहे के एक ऊंचे खम्भे पर राष्ट्रीय झण्डा फहराया था। मेरे जाने के थोड़े दिनों बाद ही वह खम्भा तोड़कर टुकड़े-टुकड़े कर दिया गया, और मैसूर-सरकार ने झण्डे को

प्रदर्शन जुर्म क़रार दे दिया। मैंने जिस झण्डे को फहराया था, उसकी इतनी ख़राबी और बेइज्ज़ती होने से मुझे बड़ा रंज हुआ।

आज त्रावणकोर में कांग्रेस ही ग़ैरक़ानूनी संस्था क़रार दे दी गई है और कांग्रेस का मेम्बर भी कोई नहीं बन सकता, हालांकि ब्रिटिश भारत में सविनय-भंग रुक जाने के बाद से वह क़ानूनी हो गई है। इस तरह मैसूर और त्रावणकोर दोनों मामूली शान्तिपूर्ण राजनैतिक हलचल को भी कुचल रही हैं, और उन्होंने वे सुभीते भी छीन लिये हैं जो पहले दे रक्खे थे। ये रियासतें पीछे हट रही हैं, किन्तु हैदराबाद को पीछे जाने या सुविधाएं छीनने की जरूरत ही नहीं महसूस हुई; क्योंकि वह आगे कभी बढ़ी ही न थी और न उसने इस क़िस्म की कोई सुविधाएं ही दी थीं। हैदराबाद में राजनैतिक सभाएं नहीं होतीं, और सामाजिक और धार्मिक सभाएं भी सन्देह की दृष्टि से देखी जाती हैं, और उनके लिए भी ख़ास इजाज़त लेनी पड़ती है। वहां कोई भी अच्छे अख़बार नहीं निकलते और बाहर से बुराई के कीटाणुओं को न आने देने के लिए हिन्दुस्तान के दूसरे हिस्सों में छपनेवाले बहुत-से अख़बारों की रियासत में रोक कर दी गई है। बाहर के असर से दूर रहने की यह नीति इतनी सख़्त है कि नरम नीति के अख़बारों की भी वहां मुमानियत है।

कोचीन में हम 'सफ़ेद यहूदी' कहानेवाले लोगोंका मुहल्ला देखने गये, और उनके पुराने मन्दिर में उनकी पूजा देखी। यह छोटा-सा समाज बहुत प्राचीन और बहुत अजीब है। इनकी तादाद घटती जा रही है। हमसे कहा गया कि कोचीन के जिस हिस्से में वे रहते हैं, वह जेरूसलेम के समान था। निश्चय ही वह पुरानी बनावट का तो मालूम हुआ।

मलाबार के किनारे हमने कुछ ऐसे क़स्बे देखे जिनमें ज्यादातर सीरियन मत के ईसाई बसे हुए थे। शायद इसका बहुत कम लोगों को ख़याल होगा कि ईसाई धर्म हिन्दुस्तान में ईसा के बाद पहली सदी में ही आ गया था, जबकि यूरोप ने उसे ग्रहण भी नहीं किया था, और दक्षिण हिन्दुस्तान में ख़ूब मज़बूती से जम गया था। हालांकि इन ईसाइयों का बड़ा धर्माध्यक्ष सीरिया के एण्टियोक या और किसी कस्बे में है, मगर इनकी ईसाइयत ज्यादातर हिन्दुस्तानी चीज़ ही है। और उसका बाहर से ज्यादा ताल्लुक़ नहीं है।

दक्षिण में नेस्टेरियन मत के लोगों की भी एक बस्ती देखकर मुझे बड़ा

ताज्जुब हुआ। उनके पादरी ने मुझे बताया कि उनकी तादाद दस हज़ार है। मेरा तो यह ख़याल था कि ये लोग कभी के दूसरे मतों में मिल चुके होंगे, और मुझे यह पता न था कि कभी वे हिन्दुस्तान में भी मौजूद थे। मगर मुझसे कहा गया कि एक समय हिन्दुस्तान में उनके अनुयायी बहुत थे और वे उत्तर में बनारस तक फैले हुए थे।

हम हैदराबाद खासकर श्रीमती सरोजिनी नायडू और उनकी लड़कियों, पद्मजा और लीलामणि, से मिलने गये थे। जिन दिनों हम उनके यहां ठहरे हुए थे, एक बार मेरी पत्नी से मिलने के लिए कुछ पर्दानशीन स्त्रियां उन्हींके मकान पर इकट्ठी हो गई और शायद कमला ने उनके सामने भाषण दिया। उसका भाषण सम्भवतः पुरुषों के बनाये हुए क़ानूनों और रिवाजों के खिलाफ़ स्त्रियों के युद्ध के (जो उसका एक ख़ास प्यारा विषय था) बारे में था, और उसने स्त्रियों से कहा कि वे पुरुषों से बहुत न दबें। इसके दो या तीन हफ़्ते बाद इसका एक बड़ा दिलचस्प नतीजा निकला। एक परेशान हुए पति ने हैदराबाद से कमला को ख़त लिखा कि आपके यहां आने के बाद से मेरी पत्नी का बर्ताव अजीब हो गया है। पहले की तरह वह मेरी बात नहीं सुनती, न मेरी बात मानती है; बल्कि मुझसे बहस करती है और कभी-कभी सख़्त रुख भी इख़्तियार कर लेती है।

बम्बई से लंका को रवाना होने के सात हफ़्ते बाद हम फिर बम्बई आ गए और मैं फ़ौरन ही कांग्रेस की राजनीति के भंवर में कूद पड़ा। कार्य-समिति की बैठकें कई ज़रूरी मामलों पर विचार करने के लिए होने वाली थीं—हिन्दुस्तान की स्थिति तेज़ी से बदलती और गम्भीर होती जाती थी; यू० पी० के किसानों का प्रश्न जटिल हो गया था; खान अब्दुलगफ़्फ़ार खां के नेतृत्व में सीमा-प्रान्त में लालकुर्ती दल की आश्चर्यजनक प्रगति हुई थी; बंगाल में अत्यन्त विक्षोभ की दशा हो गई थी और उसमें क्रोध और असन्तोष अन्दर-ही-अन्दर बढ़ गया था हमेशा की साम्प्रदायिक समस्या तो थी ही, और कांग्रेस के लोगों और सरकारी अफ़सरों के बीच कई तरह के मामलों में छोटे-छोटे कई स्थानीय झगड़े खड़े हो गए थे, जिनमें दोनों पक्ष एक-दूसरे पर दिल्ली-समझौते को तोड़ने का इल्ज़ाम लगाते थे। इसके अलावा यह सवाल भी बार-बार उठता था कि क्या कांग्रेस गोलमेज़-कान्फ्रेंस में शामिल होगी ? क्या गांधीजी को वहां जाना चाहिए ?

: ३७ :

समझौता-काल में दिक़्क़तें

गांधीजी को गोलमेज़-कान्फ्रेंस के लिए लन्दन जाना चाहिए या नहीं, यह सवाल बराबर उठता रहता था, और इसका कोई निश्चित जवाब नहीं मिलता था। आख़िरी मिनट तक कोई भी कुछ नहीं जानता था; कांग्रेस कार्य-समिति और ख़ुद गांधीजी भी नहीं जानते थे। क्योंकि, जवाब का आधार तो कई बातों पर था, और नई-नई घटनाएं परिस्थिति को बदल रही थीं। इस सवाल और जवाब की तह में असली मुश्किल समस्याएं खड़ी थीं।

ब्रिटिश सरकार और उसके दोस्तों की तरफ़ से हमसे बराबर कहा गया कि गोलमेज़-कान्फ्रेंस ने तो विधान की रूप-रेखा निश्चित कर ही दी है, चित्र की मोटी-मोटी रेखाएं खिंच चुकी हैं, और अब तो इनमें रंग भरना ही बाक़ी रहा है। मगर कांग्रेस ऐसा नहीं समझती थी और उसकी निगाह में तो अभी सारी तस्वीर ही बनाना बाक़ी थी; सो भी क़रीब-क़रीब कोरे काग़ज़ पर। यह तो सच था कि दिल्ली में समझौते के द्वारा संघ-स्वरूप को आधार मान लिया गया था, और संरक्षणों या प्रतिबन्धों का विचार भी मंजूर कर लिया था। मगर हममें से बहुत-से तो पहले से ही हिन्दुस्तान के लिए संघ-स्वरूप का विधान ही सबसे ज़्यादा उपयुक्त समझते थे। और इस विचार को हमारे मान लेने का यह मतलब नहीं था कि हमने ख़ास उस तरह का संघ भी मान लिया, जिसकी रचना पहली गोलमेज़-कान्फ्रेंस ने की थी। राजनैतिक स्वाधीनता और सामाजिक परिवर्तन के साथ भी संघ-स्वरूप पूरी तरह मेल खा सकता है। हां, संरक्षणों या प्रतिबन्धों के विचार का मेल बैठाना ज़्यादा मुश्किल था और मामूली तौर पर उसके होने से स्वाधीनता में काफ़ी कमी आ जाती थी। मगर 'भारत के हित की दृष्टि से' इन शब्दों से हम इस कठिनाई से कम-से-कम थोड़ी हद तक तो निकल सकते थे, फिर भी अच्छी तरह नहीं। कुछ भी हो, कराची-कांग्रेस ने यह साफ़ कर दिया था कि हमें वही विधान मंजूर हो सकेगा जिसमें फ़ौज,

वैदेशिक मामलों और राजस्व तथा आर्थिक नीति पर पूरा अधिकार दिया गया हो, और हिन्दुस्तान को विदेशों की (अर्थात् अधिकांश ब्रिटिशों की) देनदारी मंज़ूर करने से पहले अपने कर्ज़े के प्रश्न की जांच करने का हक़ हो। इसके अलावा मौलिक अधिकारों-सम्बन्धी प्रस्ताव ने भी बता दिया था कि हम किन-किन राजनैतिक और आर्थिक परिवर्तनों को करना चाहते हैं। ये सब बातें गोलमेज़-कान्फ्रेंस के कई निश्चयों और हिन्दुस्तान की सरकार के मौजूदा ढांचे के भी खिलाफ़ पड़ती थीं।

कांग्रेस और ब्रिटिश सरकार के दृष्टिकोण में भारी फ़र्क था, और अब इस अवस्था में उनका दूर होना बहुत ही असम्भव मालूम होता था। क़रीब-क़रीब सभी कांग्रेसवालों को गोलमेज़-कान्फ्रेंस में कांग्रेस और सरकार के बीच किसी भी बात पर एक-राय की उम्मीद नहीं थी; और गांधीजी को भी, हालांकि वह हमेशा बड़े आशावादी रहे हैं, कोई ज्यादा आशा न हो सकी। फिर भी वह कभी नाउम्मीद नहीं होते थे और आखिरी हद तक कोशिश करने का इरादा रखते थे। हम सब महसूस करते थे, कि चाहे सफलता मिले या न मिले, दिल्ली-समझौते के कारण एक बार प्रयत्न तो करना ही चाहिए। मगर दो बातें ज़रूरी थीं, जिनके कारण हमारा गोलमेज़-कान्फ्रेंस में हिस्सा लेना रुक सकता था। हम तभी जा सकते थे जबकि हमें गोलमेज़-कान्फ्रेंस के सामने अपना सम्पूर्ण दृष्टिबिन्दु रखने की पूरी आज़ादी रहे, और इसके लिए हम यह कहकर, कि यह मामला तो पहले ही तय हो चुका है, या और किसी सबब से रोका न जाय। हिन्दुस्तान में भी ऐसी परिस्थिति हो सकती थी कि जिससे गोलमेज़-कान्फ्रेंस में हमारा प्रतिनिधि न जा पाता। यहां ऐसी हालत पैदा हो सकती थी कि जिससे सरकार से संघर्ष पैदा हो जाता, या जिसमें हमें कठोर दमन का मुक़ाबला करना पड़ता। अगर हिन्दुस्तान में ऐसा हो, और हमारा घर ही जल रहा हो, तो हमारे किसी भी प्रतिनिधि के लिए यह बिल्कुल असम्भव होता कि इस आग का ख़याल न करे और लन्दन में जाकर विधान आदि पर कोरे पण्डितों की तरह बहस करे।

हिन्दुस्तान में परिस्थिति तेज़ी से बदल रही थी। सारे देश में ऐसा हो रहा था—खासकर बंगाल, युक्तप्रान्त और सीमाप्रान्त में। बंगाल में तो दिल्ली के समझौते से कोई ख़ास फ़र्क नहीं पड़ा और तनाव जारी रहा, बल्कि और भी ज्यादा हो गया। सविनय-भंग के कुछ क़ैदी छोड़ दिये गए। लेकिन हज़ारों

राजनैतिक क़ैदी, जो नाम के लिए सविनय-भंग के क़ैदी नहीं समझे जा सकते थे, जेल में ही रहे। नज़रबन्द भी जेलों या नज़रबन्द-कैम्पों में ही सड़ते रहे। राजद्रोहात्मक भाषणों या दूसरी राजनैतिक प्रवृत्तियों के कारण नई गिरफ़्तारियां अक्सर हो जाती थीं, और आमतौर पर यही मालूम हो रहा था कि सरकार की तरफ़ से हमला अब भी बन्द नहीं हुआ है, बल्कि जारी है। कांग्रेस के लिए आतंकवाद के कारण बंगाल की समस्या हमेशा बहुत ही कठिन रही है। कांग्रेस की सामान्य प्रवृत्तियों और सविनय-भंग के मुक़ाबले आतंकवादी हलचलें तो बहुत थोड़ी और बहुत छोटी-सी रही हैं। मगर उनसे शोर ज़्यादा मचता था, और उनकी तरफ़ ध्यान बहुत खिच जाता था। इन हलचलों से दूसरे प्रान्तों की तरह वहां कांग्रेस का काम होना मुश्किल हो गया था। क्योंकि आतंकवाद से ऐसा वातावरण पैदा हो जाता था जो शान्तिपूर्ण लड़ाई के लिए अनुकूल न था। लाज़िमी तौर पर इसके कारण सरकार ने सख़्त-से-सख़्त दमन किया, जोकि आतंकवादी और ग़ैर-आतंकवादी बहुत-कुछ दोनों पर निष्पक्ष समानता से पड़ा।

पुलिस और स्थानीय अफ़सरों के लिए यह मुश्किल था कि वे ख़ास क़ानूनों और आर्डिनेंसों का (जो आतंकवादियों के लिए बनाये गए थे) कांग्रेसवालों, मज़दूरों और किसानों के कार्यकर्ताओं और दूसरे लोगों पर, जिनकी प्रवृत्तियों को वे नापसन्द करते थे, उपयोग न करें। यह मुमकिन है कि कई नज़रबन्दों का, जिन्हें अभी तक कई वर्षों से बग़ैर इलज़ाम लगाये, मुक़दमा चलाये या सज़ा दिये बन्द रखा गया था, असली कुसूर आतंकवादी प्रवृत्तियां नहीं, बल्कि दूसरी ही कोई प्रबल राजनैतिक प्रवृत्ति हो। उन्हें इसका मौक़ा तक नहीं दिया गया कि वे अपनी सफ़ाई दे सकें, या कम-से-कम अपना अपराध तक मालूम कर सकें। उनपर अदालतों में मुक़दमे इसलिए नहीं चलाये जाते थे कि शायद पुलिस के पास उन्हें सज़ा दिलाने लायक़ काफ़ी सबूत नहीं थे, हालांकि यह सभी जानते हैं कि सरकार-विरोधी जुर्मों के लिए ब्रिटिश भारत के क़ानून आश्चर्यजनक रूप से व्यापक और भरे-पूरे हैं और उनके घने जाल में से बच सकना मुश्किल है। यह अक्सर होता है कि कोई आदमी अदालतों से बरी कर दिया जाता है, मगर फिर फ़ौरन ही गिरफ़्तार कर लिया जाता है और नज़रबन्द बना लिया जाता है।

बंगाल के इस पेचीदा सवाल के कारण कांग्रेस कार्य-समिति के लोग अपने को बड़ा लाचार अनुभव करते थे। हमेशा वे इससे परेशान रहते थे और किसी-न-

किसी रूप में बंगाल का कोई-न-कोई मामला उनके सामने आता ही रहता। जितना उनसे बनता था उतना उस बारे में वे ज़रूर करते थे, मगर वे अच्छी तरह जानते थे कि इससे असली सवाल हल न होगा। इसलिए कुछ कमज़ोरी ही समझिए, वे जो-कुछ वहां होता था उसे वैसा ही चलने देते थे। और यह कहना भी मुश्किल है कि, उनकी जैसी परिस्थिति थी उसमें वे और कर भी क्या सकते थे? बंगाल में कार्य-समिति के इस रवैये पर बड़ा रोष प्रकट किया जाता रहता था, और वहां यह ख़याल पैदा हो गया कि कांग्रेस कार्य-समिति और दूसरे सब प्रान्त बंगाल की परवा नहीं करते। उनको महसूस होता था कि मुसीबत के वक़्त में सबने बंगाल का साथ छोड़ दिया है। मगर यह ख़याल बिल्कुल ग़लत था; क्योंकि सारे हिन्दुस्तान में बंगाल के प्रति सहानुभूति थी, लेकिन उसे यह नहीं सूझता था कि इस सहानुभूति को अमली मदद की शक़्ल में कैसे ज़ाहिर करे? इसके अलावा, हर प्रान्त के सामने अपने-अपने कष्टों का भी तो सवाल था।

युक्तप्रान्त में किसानों की स्थिति ख़राब होती जा रही थी। प्रान्तीय सरकार इस सवाल पर टालमटोल करने की कोशिश कर रही थी। उसने लगान और मालगुज़ारी के छूट के फ़ैसले को आगे धकेल दिया, और ज़बरदस्ती लगान-वसूली शुरू कर दी। सामूहिक बेदखलियां और कुर्कियां होने लगीं। जब हम लंका में थे तभी ज़बरदस्ती लगान-वसूली की कोशिश के कारण, दो या तीन जगहों पर किसानों के दंगे हो गये थे। ये दंगे थे तो मामूली-से ही, मगर बदक़िस्मती से उनमें ज़मींदार या उनके कारिन्दे मर गये थे। गांधीजी युक्तप्रान्त के गवर्नर सर माल्कम हेली से किसानों की परिस्थिति पर बातचीत करने नैनीताल गए थे (उस वक़्त भी मैं लंका में ही था), मगर उसका कोई अच्छा नतीजा नहीं निकला। जब सरकार ने छूट की घोषणा की, तो वह उम्मीद से बहुत कम थी। देहात में लगातार हो-हल्ला मचने और बढ़ने लगा। ज्यों-ज्यों ज़मीदार और सरकार दोनों का मिलाकर दबाव बढ़ता गया, और हज़ारों किसान अपनी ज़मीनों से बेदख़ल किये जाने लगे, और उनकी छोटी-छोटी मिल्कियत छीनी जाने लगी, त्यों-त्यों ऐसी स्थिति पैदा होती गई कि जिससे किसी भी दूसरे देश में एक बड़ा किसान-विप्लव खड़ा हो सकता था। मेरा ख़याल है कि यह कांग्रेस की कोशिश का ही नतीजा था कि जिससे किसानों ने कोई हिंसात्मक कार्य नहीं किये। मगर ख़ुद उनपर जो बल-प्रयोग हुआ उसका क्या पूछना!

किसानों के इस उभाड़ और मुसीबत में एक बात अच्छी थी। खेती की पैदावारों के भाव बहुत कम हो जाने से ग़रीब लोगों के पास, जिनमें किसान भी शामिल थे, अगर उनकी सम्पत्ति छिनी नहीं थी, तो पिछले कई सालों की बनिस्बत, ज्यादा खाद्य-सामग्री मौजूद थी।

बंगाल की तरह, सीमाप्रान्त में भी दिल्ली के समझौते से कोई शान्ति नहीं हुई। वहां विक्षोभ का वातावरण निरन्तर बना रहा। वहां की हुकूमत विशेष क़ानूनों और आर्डिनेन्सों और छोटे-छोटे कुसूरों पर भारी-भारी सज़ाओं के कारण एक फ़ौजी हुकूमत के समान हो रही थी। इस हालत का विरोध करने के लिए खान अब्दुलग़फ़्फ़ार खां ने बड़ा आन्दोलन उठाया, जिससे सरकार की निगाह में वह बहुत खटकने लगे। वह छः फुट तीन इंच ऊंचे पूरे पठान, मर्दानगी के साथ, गांव-गांव पैदल जाते थे, और जगह-जगह 'लाल-कुर्ती' दल के केन्द्र क़ायम करते थे। जहां कहीं वह या उनके खास-खास साथी जाते थे वहां-वहां वह लाल-कुर्ती दल का एक सिलसिला बनाकर छोड़ जाते थे, और जल्दी ही सारे प्रान्त में 'खुदाई-खिदमतगार' की शाखाएं फैल गईं। वे बिकुल्ल शान्तिपूर्ण थे, और उनके खिलाफ़ गोल-मोल आरोप लगाये जाने पर भी, आजतक हिंसा का कोई एक भी निश्चित अभियोग नहीं ठहर सका है। मगर चाहे वे शान्तिपूर्ण रहे हों या नहीं, उनका पूर्व-इतिहास तो युद्ध और हिंसा का रहा था, और वे उपद्रवी सीमा-प्रदेश के पास बसे हुए थे, इसलिए इस अनुशासनयुक्त आन्दोलन के, जिसका हिन्दु-स्तान के राष्ट्रीय आन्दोलन से गहरा ताल्लुक़ था, तेज़ी से बढ़ने के कारण सरकार घबरा गई। मेरा ख़याल है कि उसने इस आन्दोलन के शान्ति और अहिंसा के दावे पर कभी विश्वास नहीं किया। मगर, यदि उसने विश्वास भी कर लिया होता, तो भी उसके हृदय में इसके कारण दहशत और झुंझलाहट ही पैदा हुई होती। इसमें उसे इतनी असली और भीतरी शक्ति दिखाई दी कि वह इसे शान्ति से देखती नहीं रह सकती थी।

इस बड़े आन्दोलन के मुखिया, बिला उज्र, खान अब्दुलगफ़्फ़ार खां ही थे—जिन्हें 'फ़ख्रे-अफ़गान', 'फख्रे-पठान', 'गांधी-ए-सरहद' वग़ैरा नामों से याद किया जाने लगा। उन्होंने सिर्फ़ अपने चुपचाप और एकनिष्ठ काम के बल पर, जिसमें वह न मुश्किलों से डरे, न सरकारी दमन से, सीमाप्रान्त में आश्चर्यजनक लोकप्रियता पा ली थी। जैसे कि राजनीतिज्ञ आमतौर पर हुआ करते हैं उस तरह के राज-

नीतिज्ञ न वह थे, न हैं; वह राजनैतिक चालाकियों और पैंतरेबाज़ियों को नहीं जानते। वह तो एक ऊंचे और सीधे—शरीर और मन दोनों से—आदमी हैं। वह शोर-ग़ुल और बकवास से नफ़रत करते हैं। वह हिन्दुस्तान ही आज़ादी के ढांचे के अन्दर अपने सीमा-प्रान्तीय लोगों के लिए भी आज़ादी चाहते हैं, मगर विधानों और कानूनी बातों के बारे में उनका दिमाग़ उलझा हुआ नहीं है और न उनमें उन्हें कोई दिलचस्पी ही है। किसी भी चीज़ को पाने के लिए ज़ोरदार काम की ज़रूरत है, और गांधीजी ने ऐसे शान्तिपूर्ण काम का एक बढ़िया तरीक़ा, जो उन्हें जंच गया, बता ही दिया था। इसलिए ज़्यादा बहस में न पड़ते हुए, और अपने संगठन के लिए क़ायदों के मसविदे के फेर में न पड़कर, उन्होंने सीधा संगठन करना ही शुरू कर दिया और उसमें उन्हें ख़ूब कामयाबी मिली।

गांधीजी की तरफ़ उनका रुझान ख़ासतौर पर हो गया। पहले तो अपने-आपको पीछे ही रखने के लजीले स्वभाव के कारण वह उनसे दूर-दूर रहे। बाद में कई मामलों में बहस करने के लिए उन्हें उनसे मिलना पड़ा, और उनका ताल्लुक़ बढ़ा। यह ताज्जुब की बात है कि इस पठान ने अहिंसा को उसूलन हममें से कई लोगों की बनिस्बत ज़्यादा कैसे मान लिया? और चूंकि उनका अहिंसा पर पक्का यक़ीन था, इसी कारण वह अपने लोगों को समझा सके कि उभाड़े जाने पर भी शान्ति रखने का बड़ा भारी महत्व है। यह कहना तो बिल्कुल ग़लत ही होगा कि सीमा-प्रान्त के लोगों ने कभी भी या छोटी भी हिसा करने का विचार पूरी तरह से छोड़ दिया है, जैसा कि किसी भी प्रान्त के लोगों के बारे में आमतौर पर यह कहना बिल्कुल ग़लत होगा। आम जनता तो भावुकता की लहरों में बहा करती है, और जब इस तरह की लहर उठ खड़ी हो तब वह क्या करेगी, यह पहले से नहीं कहा जा सकता। मगर अपने-आप पर क़ाबू और ज़ब्त रखने की जो मिसाल सीमा-प्रान्त के लोगों ने १९३० में और बाद के बरसों में पेश की थी वह विलक्षण ही थी।

सरकारी अधिकारी और हमारे कई निहायत डरपोक देशवासी 'सरहदी गांधी' को शक की निगाह से देखते हैं। वे उनकी बातों का यक़ीन नहीं करते। उन्हें उनमें कोई छिपा हुआ षड्यन्त्र ही दिखाई देता है। मगर पिछले कुछ बरसों से वह और सीमा-प्रान्त के दूसरे साथी हिन्दुस्तान के दूसरे हिस्सों के कांग्रेसी कार्यकर्त्ताओं के बहुत नज़दीक आ गए हैं, और उनके बीच में गहरा भाईचारा

और परस्पर आदर का भाव पैदा हो गया है। खान अब्दुलग़फ़्फ़ार खां को कांग्रेस के लोग कई बरस से जानते और चाहते हैं। मगर वह महज़ एक साथी ही नहीं हैं, उससे कुछ ज़्यादा हैं। दिन-ब-दिन हिन्दुस्तान के बाक़ी हिस्सों में लोग उनको एक बहादुर और निडर लोगों के, जो हमारे सर्व-सामान्य युद्ध में हमारे साथी हैं, साहस और बलिदान का प्रतीक समझने लगे हैं।

खान अब्दुलग़फ़्फ़ार खां से पहचान होने के बहुत पहले ही मैं उनके बड़े भाई डाक्टर खानसाहब को जानता हूं। जब मैं कैम्ब्रिज में पढ़ता था, तब वह लन्दन के सेण्ट टॉमस अस्पताल मे शिक्षा पाते थे, और बाद में जब मैं इनर टेम्पल के क़ानूनी विद्यालय मे पढ़ता था तब मेरी उनकी गहरी दोस्ती हो गई थी। जब मैं लन्दन में रहता था, तो शायद ही कोई ऐसा दिन जाता हो जब हम आपस में न मिलते हों। मैं तो हिन्दुस्तान चला आया, मगर वह इंग्लैंड में ही रह गए और महायुद्ध के ज़माने में डाक्टर की हैसियत से काम करते हुए कई बरसों तक वहीं रहे। इसके बाद मैंने उन्हें नैनी-जेल में देखा।

सीमाप्रान्त के लालकुर्तीवालों ने कांग्रेस के साथ सहयोग तो किया, लेकिन उनका अपना संगठन अलग ही था। यह एक विचित्र हालत थी। दोनों को जोड़नेवाली कड़ी तो अब्दुलग़फ़्फ़ार खां थे। १९३१ की गर्मियों में इस सवाल पर कार्य-समिति ने सीमाप्रान्त के नेताओं की सलाह से यह तय किया कि लाल-कुर्तीवालों को कांग्रेस का ही अंग बना लिया जाय और इस तरह वे कांग्रेस के एक जुज़ बन गए।

गांधीजी की इच्छा कराची-कांग्रेस के बाद फ़ौरन सीमा प्रान्त में जाने की थी, मगर सरकार ने ऐसा न होने दिया। बाद के महीनों में जब सरकारी अधि-कारियों ने लालकुर्ती-दल की कारंवाइयों की शिकायत की, तो उन्होंने ज़ोर दिया कि उनको वहां इन बातों का खुद पता लगाने के लिए जाने की इजाज़त दी जाय, मगर उन्हें नहीं जाने दिया गया। न वहां मेरा जाना ही पसन्द किया गया। दिल्ली के समझौते को देखते हुए, हमने यह ठीक नहीं समझा कि हम सरकार की स्पष्ट इच्छा के विरुद्ध सीमाप्रान्त में जायं।

इन सवालों के अलावा, कार्यसमिति के सामने एक और मसला था—साम्प्र-दायिक। यह कोई नई समस्या न थी, हालांकि बार-बार यह नई और अजीब शक्ल में सामने आती थी। गोलमेज़-कान्फ्रेंस के सबब से इसे और भी महत्त्व

मिल गया। क्योंकि यह तो ज़ाहिर था कि ब्रिटिश सरकार इसीको सबसे आगे रक्खेगी, और दूसरी सब समस्याओं को इससे कम महत्त्व देगी। इस कान्फ्रेंस के मेम्बर, जो कि सभी सरकार के नामज़द किये हुए थे, खासकर इस तरह पसन्द किये गए थे कि जिससे साम्प्रदायिक और सामुदायिक स्वार्थों को महत्त्व दिया जा सके। सरकार ने खासतौर पर, और ज़ोर के साथ, राष्ट्रीय मुसलमानों के किसी भी नेता को नामज़द करने से ही इन्कार कर दिया। गांधीजी ने महसूस किया कि अगर ब्रिटिश सरकार के कहने से कान्फ्रेंस बिल्कुल शुरू में ही साम्प्रदायिक सवाल मे ही उलझ गई, तो असली राजनैतिक और आर्थिक सवालों पर काफ़ी विचार न हो सकेगा। इस परिस्थिति में उनके लन्दन जाने से कोई फ़ायदा न होगा। इसलिए उन्होने कार्य-समिति के सामने यह बात पेश की कि लन्दन तभी जाना चाहिए जबकि सब सम्बन्धित दलों के बीच साम्प्रदायिक समस्या पर कोई समझौता हो जाय। उनकी यह सहज-बुद्धि बिल्कुल ठीक थी, मगर कमेटी ने यह बात न मानी; और यह फ़ैसला किया कि सिर्फ़ इसी आधार पर कि हम साम्प्रदायिक समस्या को तय नहीं कर पाये हैं, उन्हें जाने से इन्कार न करना चाहिए। कमेटी ने विविध सम्प्रदायों के प्रतिनिधियों की सलाह से इस समस्या का हल ढूंढ़ने की कोशिश भी की। मगर इसमें ज़्यादा कामयाबी न मिली।

१९३१ की गर्मियों में, छोटे-मोटे कई मसलों के अलावा, यही कुछ बड़े प्रश्न हमारे सामने थे। सारे देश की स्थानीय कांग्रेस-कमेटियों से हमारे पास बराबर शिकायतें आ रही थीं कि स्थानीय अफ़सरों ने फ़लां-फ़लां बात में दिल्ली के समझौते को तोड़ दिया है। हमने उनमें से कुछ बड़ी-बड़ी शिकायतें सरकार के पास भी भेज दीं, और उधर सरकार ने भी कांग्रेसवालों के खिलाफ़ समझौता तोड़ने के अपराध लगाये। इस तरह एक-दूसरे पर आरोप और प्रत्यारोप किये गए, और बाद में वे अखबारों में भी छाप दिये गए। यह कहने की ज़रूरत नहीं है कि इससे भी कांग्रेस और सरकार के सम्बन्ध सुधरे नहीं।

फिर भी, इन छोटे-छोटे कई मसलों के सम्बन्ध में संघर्ष खुद कोई बड़ा महत्व नहीं रखता था। इसका महत्त्व यही था कि इससे एक-दूसरे बड़े और मौलिक संघर्ष के बढ़ने का पता लगता था। यह मौलिक संघर्ष व्यक्तियों पर निर्भर नहीं करता था, बल्कि हमारे राष्ट्रीय संग्राम के स्वरूप के कारण और हमारे गांवों

की आर्थिक व्यवस्था में असामंजस्य होने के कारण उत्पन्न हुआ था। इस संघर्ष को बिना बुनियादी संघर्ष किये मिटाना या कम करना मुमकिन नहीं था। हमारा राष्ट्रीय आन्दोलन मूल में इसलिए शुरू हुआ था कि हमारे ऊपरी तह के मध्यम-वर्गों में अपनी उन्नति और विकास का साधन प्राप्त करने की इच्छा पैदा हुई, और इसकी जड़ में राजनैतिक और आर्थिक प्रेरणा थी। यह आन्दोलन निचले मध्यम वर्गों में फैल गया, और देश में एक ताक़त बन गया; और फिर उसने देहात के लोगों को भी उठाना शुरू किया, जिन्हें आमतौर पर यह भी मुश्किल हो रहा था कि अपना सबसे निचली कोटि का दरिद्रतापूर्ण जीवन भी किसी तरह क़ायम रख सकें। पुराने ज़माने की स्वावलम्बी ग्रामीण व्यवस्था कभी की मिट चुकी थी। सहायक घरेलू धन्धे भी, जो खेती के सहायक थे और जिनसे ज़मीन का बोझ कुछ कम हो जाता था, बर्बाद हो गए थे; कुछ तो सरकारी नीति के सबब से, मगर खासकर इस कारण भी कि वे मशीनों के व्यवसायों का मुक़ाबला नहीं कर सके। ज़मीन का बोझ बढ़ने लगा, और हिन्दुस्तान के कारखानों की तरक़्क़ी इतनी धीमी हुई कि वह इसमें कुछ फ़र्क न कर सकी। और फिर ये गांव, जो सब तरह से साधनहीन और तरह-तरह के बोझों से लदे हुए थे, और सहसा संसार के बाज़ारों के मुक़ाबले में डाल दिये गए, और इधर-से-उधर धक्के खाने लगे थे, बराबरी के नाते से विदेशों का मुकाबला कर नहीं सकते थे। उनकी उत्पत्ति के औज़ार पुराने ढंग के थे, और ज़मीन के बंटवारे का तरीक़ा उनका ऐसा था जिससे खेत बराबर छोटे-छोटे टुकड़ों में बंटते जाते थे। कोई भी आमूल सुधार होना नामुमकिन था। इसलिए कृषि करनेवाले वर्ग—ज़मींदार और काश्तकार दोनों ही—सिवा उन दिनों के जबकि भाव बहुत ऊंचे हो जाते थे, नीचे ही गिरते गए। ज़मीदारों ने अपने बोझ को काश्तकारों पर उतारने की कोशिश की, और किसानों के, छोटे ज़मीन-मालिकों और काश्तकारों दोनों ही के, मुफ़लिस हो जाने के कारण वे राष्ट्रीय आन्दोलन की तरफ़ खिंच आये। खेतिहर मज़दूर भी, अर्थात् देहातों के ऐसे लोग, जिनके पास ज़मीन नहीं थी और जिनकी तादाद बड़ी थी, इस तरफ़ आकर्षित हुए। इन देहाती वर्गों के लिए तो 'राष्ट्रीयता' या 'स्वराज' का मतलब यही था कि ज़मीन के बंटवारे की प्रणाली में मौलिक परिवर्तन किया जाय, जिससे कि उनका बोझ दूर या कम हो जाय और भूमिहीन को भूमि मिल जाय। मगर राष्ट्रीय आन्दोलन में पड़े हुए किसानों या मध्यम वर्गीय नेताओं में किसी ने भी

इनकी इच्छाओं को साफ़ तौर पर ज़ाहिर नहीं किया।

१९३० का सविनय-भंग आन्दोलन, उद्योग-धन्धों और कृषि की बड़ी संसार-व्यापी मन्दी के बिल्कुल मुआफ़िक बैठ गया, और इसका पता पहले तो उसके नेताओं को भी न लगा। इस मन्दी का असर देहाती जनता पर भी बहुत ज़्यादा पड़ा था, इसलिए वे भी कांग्रेस और सविनय-भंग की तरफ़ झुक पड़े। उनका यह लक्ष्य नहीं था कि लन्दन में या दूसरी किसी जगह बैठकर कोई अच्छा-सा विधान तैयार किया जाय; मगर उनका लक्ष्य, खासकर ज़मींदारी इलाक़े में, यह था कि भूमि-प्रथा में बुनियादी तब्दीली की जाय। वास्तव में यह मालूम होने लगा कि ज़मींदारी तरीक़ा अब इस ज़माने के लिए पुराना पड़ गया है, और उसमें कोई स्थिरता बाकी नहीं रही है। मगर ब्रिटिश सरकार, अपनी मौजूदा परिस्थिति में, इस भूमि-प्रणाली में कोई बुनियादी तब्दीली करने की हिम्मत नहीं दिखा सकती थी। जब उसने एक शाही कृषि-कमीशन मुक़र्रर किया था, तब भी उसके निर्देशों में ज़मीन की मिल्कियत और भूमि-प्रणाली के परिवर्तन पर विचार करने की मनाही कर दी गई थी।

इस तरह, उस समय संघर्ष मानो हिन्दुस्तान की परिस्थिति में ही छिपा था, और वह किसी प्रकार के लुभावने शब्दों या समझौते से दूर नहीं किया जा सकता था। दूसरे आवश्यक राष्ट्रीय प्रश्नों के अलावा ज़मीन के सवाल का बुनियादी हल निकालने से ही यह संघर्ष बच सकता था। यह हल ब्रिटिश सरकार की मार्फ़त निकले, इसकी कोई सम्भावना न थी। अस्थायी इलाजों से बीमारी चाहे थोड़ी देर के लिए कम हो सके, और सख़्त मन के डर से चाहे लोग उसका इज़हार करना बन्द कर दें, मगर दोनों बातों से सवाल का हल नहीं निकल सकता था।

मगर, मैं समझता हूं कि, ज़्यादातर सरकारों की तरह ब्रिटिश सरकार का भी यह खयाल है कि हिन्दुस्तान में ज़्यादा गड़बड़ 'आन्दोलनकारियों' के कारण है। मगर यह बिल्कुल ही ग़लत खयाल है। पिछले पन्द्रह बरसों से हिन्दुस्तान के पास एक ऐसा नता तो रहा है, जिसने अपने करोड़ों देशवासियों का स्नेह, श्रद्धा और भक्ति पाई है, और जो उससे कई तरह अपनी इच्छा भी मनवा लेता है। उसने उसके वर्तमान इतिहास में बहुत ही महत्त्वपूर्ण हिस्सा लिया है, मगर फिर भी उससे ज़्यादा महत्त्वपूर्ण तो वे आम लोग ही रहे हैं, जो उसके आदेशों को मानो आंख बन्द करके मानते रहे हैं। आम लोग ही मुख्य अभिनेता थे, और

उनके पीछे, उन्हें आगे धकेलने वाली, बड़ी-बड़ी ऐतिहासिक प्रेरणाएं थीं, जिन्होंने लोगों को तैयार कर दिया और अपने नेता की आवाज़ सुनने को मजबूर कर दिया। उस ऐतिहासिक परिस्थिति और राजनैतिक तथा आर्थिक प्रेरणाओं के अभाव में, कोई भी नेता या आन्दोलनकारी उन्हें कोई भी काम करने की स्फूर्ति नहीं दे सकता था। गांधीजी में नेतृत्व का यही ख़ास गुण था कि वह अपनी सहज-बुद्धि से आम लोगों की नब्ज़ पहचान सकते थे, और जान लेते थे कि किस प्रगति और काम के लिए कब परिस्थिति ठीक अनुकूल है।

१९३० मे हिन्दुस्तान का राष्ट्रीय आन्दोलन कुछ वक़्त के लिए देश की बढ़ती हुई सामाजिक शक्तियों के भी अनुकूल बैठ गया, जिससे उसे बड़ी ताक़त मिल गई। उसमें वास्तविकता मालूम होने लगी, और ऐसा लगने लगा कि मानो वह सचमुच इतिहास के साथ क़दम-ब-क़दम आगे बढ़ रहा है। कांग्रेस उस राष्ट्रीय आन्दोलन की प्रतिनिधि थी, और उसकी प्रतिष्ठा बढ़ने से मालूम होता था कि उसकी शक्ति और सत्ता बढ़ रही है। यह कुछ-कुछ अस्पष्ट, कुछ बे-अन्दाज़, कुछ ज़बान से न बयान किया जाने-जैसा तो था, किन्तु फिर भी बहुत-कुछ मौज़ूं था ही। निःसन्देह किसान लोग कांग्रेस की तरफ़ झुके, और उन्होंने ही उसकी असली शक्ति बनाई। निचले मध्यम वर्ग ने उसे सबसे मज़बूत सैनिक दिये। ऊपरी मध्यम-वर्ग ने भी, इस वातावरण से घबराकर, कांग्रेस से दोस्ती बनाये रखने में ही ज़्यादा भलाई देखी। ज़्यादातर सूती मिलों ने कांग्रेस के बनाये इक़रारनामों पर दस्तखत कर दिये, और वे ऐसे काम करने से डरने लगीं जिनसे कांग्रेस उनसे नाराज़ हो जाय। जब कुछ लोग लन्दन में बैठे पहली गोलमेज़-कान्फ्रेंस में भले-भले क़ानूनी प्रश्नों पर बातचीत कर रहे थे, उस वक़्त मालूम हो रहा था कि आम लोगों के प्रतिनिधि की हैसियत से कांग्रेस के पास ही धीरे-धीरे और अनजान में असली ताक़त चली जा रही है। दिल्ली के समझौते के बाद भी यह भ्रम बढ़ता ही रहा; किन्हीं अभिमान-भरे भाषणों के कारण नहीं, बल्कि १९३० और बाद की घटनाओं के कारण। इसमें शक नहीं कि शायद कांग्रेस के नेताओं को ही सबसे ज़्यादा यह पता था कि सामने क्या-क्या कठिनाइयां और ख़तरे आनेवाले हैं, इसलिए उनको मामूली न समझने की उन्होंने पूरी फ़िक्र रक्खी।

देश में बढ़नेवाली बराबर की दो समान सत्ताओं की हस्ती का अस्पष्ट भान क़ुदरती तौर पर सरकार को बहुत ही चुभनेवाला था। असल में, इस धारणा के

लिए कोई असली बुनियाद तो थी नहीं, क्योंकि दृश्य सत्ता तो सोलहों आना सरकारी अधिकारियों के हाथ में ही थी; फिर भी लोगों के दिमाग़ों में दो समान सत्ताओं के अस्तित्व का भान था, इसमें तो शक ही नहीं है। सत्तावादी और अपरिवर्तनीय शासन-तन्त्र के लिए तो यह स्थिति चलने देना असम्भव था और इसी विचित्र वातावरण से अधिकारी बेचैन हो गए थे, न कि गांवों के कुछ ऐसे-वैसे भाषणों या जुलूसों से, जिनकी कि उन्होंने बाद में शिकायत की। इसलिए संघर्ष होना लाज़िमी दीखने लगा। कांग्रेस अपनी ख़ुशी से आत्मघात नहीं कर सकती थी, और सरकार भी इस दुहेरी सत्ता के वातावरण को बरदाश्त नहीं कर सकती थी, और कांग्रेस को कुचल डालने पर तुली हुई थी। यह संघर्ष दूसरी गोलमेज़-कान्फ़्रेंस के कारण रुका रहा। किसी-न-किसी कारण से, ब्रिटिश सरकार गांधीजी को लन्दन बुलाने को बहुत उत्सुक थी, और इसीसे जहांतक हो सके कोई भी ऐसा काम नहीं करती थी जिसमें उनका लन्दन जाना रुक जाय।

इतने पर भी संघर्ष की भावना बढ़ती ही गई, और हमें दीखने लगा कि सरकार का रुख़ सख़्त हो रहा है। दिल्ली के समझौते के बाद ही लार्ड इर्विन हिन्दुस्तान से चले गए और लार्ड विलिंग्डन वाइसराय बनकर आये। यह ख़बर फैलने लगी कि नया वाइसराय बड़ा सख़्त आदमी है, और पिछले वाइसराय की तरह समझौते करनेवाला नहीं है। हमारे कई राजनैतिक पुरुषों में, लिबरलों की तरह राजनीति का विचार सिद्धान्तों की दृष्टि से न करके व्यक्तियों की दृष्टि से करने की आदत हो गई है। वे यह नहीं समझते थे कि ब्रिटिश सरकार की सामान्य साम्राज्यवादी नीति वाइसरायों की व्यक्तिगत रायों पर निर्भर नहीं रहती। इसलिए वाइसरायों के बदल जाने से कोई फ़र्क़ नहीं पड़ा, न पड़ सकता था। मगर, व्यवहार में यह हुआ कि परिस्थिति की गतिविधि के कारण सरकार की नीति भी धीरे-धीरे बदलती गई। सिविल-सर्विस के उच्च अधिकारियों को कांग्रेस के साथ समझौते या व्यवहार करने की बात पसन्द नहीं थी। शासन के सम्बन्ध में उनकी सारी तालीम और सत्तावादी धारणाएं इसके ख़िलाफ़ थीं। उनके दिमाग़ में यह ख़याल था कि उन्होंने गांधीजी के साथ बिल्कुल बराबरी का-सा बर्ताव करके कांग्रेस के प्रभाव और गांधीजी के रुतबे को बढ़ा दिया है, और अब यह वक़्त है कि जब उनको थोड़ा-सा नीचा दिखाया जाय। यह ख़याल बड़ी बेवक़ूफ़ी का था; मगर, हिन्दुस्तान की सिविल-सर्विस में विचारों की मौलि-

कता तो कभी मानी ही नहीं गई है। खैर, कुछ भी कारण हो, सरकार सख्ती से तन गई और उसने अपना पंजा और भी मजबूती से जमाया, और पुराने पैग़म्बर के शब्दों में मानो उसने हमसे कहा कि "मेरी छोटी अंगुली भी मेरे बाप की कमर से मोटी है; उसने तुम्हें कोड़े लगवाये थे, तो मैं तुम्हें बिच्छू से कटवाऊंगा।"[१]

मगर अभी तोबा कराने का वक़्त नहीं आया था। अभी तो यही ज़रूरी समझा गया कि अगर मुमकिन हो, तो कांग्रेस का प्रतिनिधि दूसरी गोलमेज़-कान्फ्रेंस में ज़रूर जाय। वाइसराय और दूसरे अधिकारियों से लम्बी-लम्बी बातचीत करने के लिए गांधीजी दो बार शिमला गये। उन्होंने उस समय के मौजूदा कई सवालों पर बातचीत की, और बंगाल के अलावा, जो सरकार को सबसे ज़्यादा चिन्तित कर रहा मालूम पड़ता था, ख़ासकर सीमा-प्रान्त के लाल-कुर्ती दल के आन्दोलन और युक्तप्रान्त के किसानों की स्थिति इन दो विषयों पर बातचीत हुई।

शिमला में गांधीजी ने मुझे भी बुला लिया था, और मुझे भारत सरकार के कुछ अधिकारियों से मिलने के भी मौक़े मिले। मैं सिर्फ़ युक्तप्रान्त के बारे में ही बातचीत करता था। बड़ी साफ़-साफ़ बातें हुईं, और छोटे-छोटे आरोपों और प्रत्यारोपों की तह में जो असली संघर्ष की बातें छिपी हुई थीं उनपर भी बहस हुई। मुझे याद है कि मुझसे कहा गया कि फ़रवरी १९३१ में ही सरकार की ऐसी स्थिति थी कि वह ज़्यादा-से-ज़्यादा तीन महीने के अन्दर सविनय-भंग के आन्दोलन को दबा सकती थी। उसने अपना सारा यन्त्र तैयार कर लिया था,

---

[१]ये शब्द बाइबिल के पुराने अहदनामे (१ किंग्ज, १२-१०) से लिये गए हैं। ये शब्द पैग़म्बर के नहीं हैं, बल्कि प्राचीन यहूदी बादशाह के सलाहकार के हैं। सुलेमान बादशाह का लड़का जब गद्दी पर बैठा तो प्रजा ने उससे जाकर प्रार्थना की—"हम आपके वफादार हैं, आपके वालिद के ज़माने में जो जूआ हमारे कन्धे पर था उसे बराय मेहरबानी हलका कर दीजिए।" बादशाह के पिता के वृद्ध सलाहकारों ने सलाह दी कि यह बात मंजूर कर लेनी चाहिए। मगर उसके युवक सलाहकारों ने कहा कि ये लोग यों सीधे न होंगे। इनसे आप कहिए—"मेरे बाप की कमर से मेरी छोटी अंगुली भी ज़्यादा मोटी है। मेरे पिता के समय जूआ भारी था तो मैं उसे और भारी कर दूंगा। उन्होंने तुम्हें कोड़े लगवाये थे तो मैं तुम्हें बिच्छू से कटवाऊंगा।" —अनु०

और उसे चालू कर देने की, केवल बटन दबा देने-भर की, आवश्यकता थी। मगर उसने यह सोचकर कि, अगर हो सके तो, बल-प्रयोग के बजाय आपस में मिलकर समझौता कर लेना शायद अच्छा होगा, आपसी बातचीत करके देखना तय किया था, और इसीका नतीजा था कि दिल्ली का समझौता हो गया। अगर समझौता न हुआ होता, तो बटन तो मौजूद था ही, और पल-भर में दबाया भी जा सकता था। और इसमें यह भी इशारा मालूम होता था कि अगर हमने ठीक बर्ताव न किया तो फिर जल्दी ही बटन दबा देना पड़ेगा। यह सारी बात बड़ी नम्रता से और साफ़-साफ़ कही गई थी, और हम दोनों ही जानते थे कि हमारे सारे प्रयत्नों के बावजूद, और हम चाहे कुछ भी कहें या करें, संघर्ष होना तो लाज़िमी था।

एक दूसरे ऊंचे अधिकारी ने कांग्रेस की तारीफ़ भी की। उस वक़्त हम ज्यादा व्यापक अ-राजनैतिक ढंग की समस्याओं पर विचार कर रहे थे। उसने मुझसे कहा कि राजनीति के सवाल को छोड़ दें तो भी कांग्रेस ने हिन्दुस्तान की बड़ी भारी सेवा की है। हिन्दुस्तानियों के खिलाफ़ आमतौर पर यह इलज़ाम लगाया जाता है कि वे अच्छे संगठनकर्त्ता नहीं हैं, मगर १९३० में कांग्रेस ने भारी कठिनाइयों और विरोध के होते हुए भी एक आश्चर्यजनक संगठन कर दिखाया था।

जहांतक गोलमेज़-कान्फ्रेंस में जाने का सवाल था, गांधीजी की पहली शिमला-यात्रा[1] का कोई नतीजा न निकला। दूसरी यात्रा[2] अगस्त के आखिरी हफ़्ते में हुई। जाने या न जाने का आखिरी फ़ैसला तो करना ही था, मगर फिर भी उन्हें हिन्दुस्तान छोड़ने का निश्चय करना मुश्किल हो गया। बंगाल में, सीमा-प्रान्त में और युक्तप्रान्त में उन्हें मुसीबत आती हुई दीख रही थी और जबतक उन्हें हिन्दुस्तान में शान्ति रहने का आश्वासन न मिल जाय, वह जाना नहीं चाहते थे। अन्त में[3] एक तरह का समझौता सरकार के साथ हो गया, जो एक वक्तव्य

[1,2,3] **समझौते के बाद सन्धि-भंग के बारे में तीन बार गांधीजी शिमला गये थे— दुबारा लन्दन जाने के निश्चय के बाद गांधीजी ने शिमला जाने का निश्चय किया। समझौते की शर्तें तोड़ी जा रही थीं। मगर शर्तें तोड़ी गईं या नहीं, इसका फ़ैसला करनेवाली कोई निष्पक्ष अदालत तो थी नहीं। गांधीजी यह चाहते थे कि यदि शर्तें तोड़ी गई हों तो उनका परिमार्जन किया जाय, या ऐसी कोई अदालत नियुक्त की जाय। समझौते की शर्तों के खिलाफ़ युक्तप्रान्त और बारडोली में कर वसूल**

: ३८ :

दूसरी गोलमेज़-परिषद्

एक अंग्रेज़ पत्रकार ने हाल ही में एक किताब लिखी है और उसका दावा है कि उसने गांधीजी को हिन्दुस्तान में और लन्दन में गोलमेज़-परिषद् में बहुत काफ़ी देखा है। अपनी किताब में उसने लिखा है—

"मुलतान नामक जहाज में जो लीडर बैठे हुए थे वे यह जानते थे कि गांधीजी के ख़िलाफ़ कार्य-समिति के भीतर एक साज़िश की गई है और वे यह भी जानते थे कि वक़्त आते ही कांग्रेस उन्हें निकाल फेंकेगी। लेकिन कांग्रेस गांधीजी को निकालकर ग़ालिबन अपने आधे के क़रीब मेम्बरों को निकाल देगी। इन आधे मेम्बरों को सर तेजबहादुर सप्रू और जयकर साहब लिबरल-पार्टी में मिला लेना चाहते थे। वे इस बात को कभी नहीं छिपाते थे। उन्हींके शब्दों में, गांधीजी का दिमाग़ साफ़ नहीं है, लेकिन अगर कोई मट्ठर दिमाग़वाला नेता अपने साथ दस लाख मट्ठर दिमाग़वाले अनुयायी आपको दे तो उनको अपनी तरफ़ करना अच्छा ही है।"[1]

---

[1] ग्लोर्नी बोल्टन की The Tragedy of Gandhi नामक पुस्तक का यह उद्धरण मैंने उस किताब की एक आलोचना से लिया है; क्योंकि ख़ुद किताब को पढ़ने का मौक़ा अभी तक नहीं मिल पाया है। मुझे उम्मीद है कि मैं ऐसा करके किताब के लेखक या जिन लोगों का नाम उसमें आया है उनके साथ कोई ज्यादती नहीं कर रहा हूं।

इतना लिखने के बाद मैंने किताब भी पढ़ ली। मि० बोल्टन के बहुत-से बयान और उन्होंने जो नतीजे निकाले हैं वे मेरे विचार से बिलकुल बेबुनियाद हैं। इसके अलावा कई वाक़यात भी ग़लत दिये गए हैं। ख़ासकर कमेटी ने दिल्ली-पैक्ट की बातचीत के दौरान में और उसके बाद क्या किया और क्या नहीं किया, इस सम्बन्धी बातें। उन्होंने एक अजीब बात यह भी मान ली है कि १९३१ में सरदार

मुझे पता नहीं कि इस उद्धरण में जो बातें कही गई हैं वे सर तेजबहादुर सप्रू और जयकर साहब या गोलमेज़-कान्फ्रेंस के दूसरे मेम्बरों के विचारों को, जो सन् १९३१ में लन्दन जा रहे थे, कहांतक प्रकट करती हैं। लेकिन मुझे यह बात ज़रूर आश्चर्यजनक मालूम होती है कि हिन्दुस्तान की राजनीति से थोड़ी-सी जानकारी रखनेवाला कोई शख़्स, फिर चाहे वह पत्रकार हो या नेता, इस तरह की बात कह सकता है! मैं तो उसे पढ़कर दंग रह गया, क्योंकि, इससे पहले मैंने किसीको इशारे में भी इस तरह की बात कहते हुए नहीं सुना। लेकिन इसमें ऐसी कोई बात नहीं है जो समझ में न आये, क्योंकि तभी से मैं ज़्यादातर जेल में रह रहा हूं।

वल्लभभाई पटेल को कांग्रेस का सभापतित्व और उसका नेतृत्व गांधीजी की प्रतिस्पर्धा में मिला; जबकि सच बात यह है कि पिछले पन्द्रह बरसों में कांग्रेस में, और निस्सन्देह देश में, गांधीजी की हस्ती कांग्रेस के किसी भी अध्यक्ष से कहीं ज्यादा बड़ी हस्ती रही है। वह सभापति बनानेवाले रहे हैं और उनकी बात हमेशा लोगों ने मानी है। उन्होंने ख़ुद बार-बार अध्यक्ष होने से इन्कार किया और यह पसन्द किया कि उनके कुछ साथी और सहायक सदारत करें। मैं तो कांग्रेस का सभापति महज़ उन्हींकी बदौलत हुआ। वास्तव में वह चुन लिये गए थे, लेकिन उन्होंने अपना नाम वापस लेकर ज़बरदस्ती मुझे चुनवाया। वल्लभभाई का चुनाव भी मामूली तरीक़े से नहीं हुआ। हम लोग अभी-अभी जेल से निकले थे। अभी तक कांग्रेस-कमेटियां ग़ैर-क़ानूनी जमातें थीं। वे मामूली तरीक़ों पर काम नहीं कर सकती थीं इसलिए कराची-कांग्रेस के लिए सभापति चुनने का काम कार्य-समिति ने अपने ऊपर ले लिया। वल्लभभाई समेत सारी कमेटी ने गांधीजी से प्रार्थना की कि वह सभापतित्व मंजूर कर लें और इस तरह जहां वह कांग्रेस के असली प्रधान हैं वहां पद के द्वारा भी प्रधान हो जायं; ख़ासकर आगामी नाज़ुक साल के लिए। लेकिन वह राजी नहीं हुए और इस बात पर जोर देते रहे कि वल्लभभाई को सभापतित्व मंजूर कर लेना चाहिए। मुझे याद है कि उस वक़्त उनसे कहा गया था कि आप हमेशा मुसोलिनी रहना चाहते हैं और दूसरों को, थोड़े वक़्त के लिए, बादशाह यानी बराय-नाम अधिकारी बना देते हैं।

एक छोटे-से फ़ुटनोट में मिस्टर बोल्टन की दूसरी बहुत-सी वाहियात बातों

तो ये साज़िश करनेवाले शख्स कौन हैं और इनका मक़सद क्या है ? कभी-कभी यह कहा जाता था कि मैं और कांग्रेस के सभापति सरदार वल्लभभाई पटेल कार्य-समिति के मेम्बरों में सबसे ज़्यादा गरम स्वभाव के हैं, और मेरा ख़याल है, इसलिए साज़िश के नेताओं में हम लोगों की भी गिनती होगी। लेकिन शायद गांधीजी का वल्लभभाई से ज़्यादा सच्चा भक्त हिन्दुस्तान-भर में दूसरा कोई न होगा। अपने काम में वह कितने ही कड़े और मज़बूत क्यों न हों, लेकिन गांधीजी के आदर्शों, उनकी नीति और उनके व्यक्तित्व के प्रति उनकी बड़ी भक्ति है। मैं ज़रूर इस बात का दावा नहीं कर सकता कि मैंने भी उसी तरह से इन आदर्शों को माना है, लेकिन मुझे बहुत नज़दीक रहकर गांधीजी के साथ काम करने का सौभाग्य मिला है। मेरे लिए उनके खिलाफ़ साज़िश करने का ख़याल ही कमीना

का जवाब देना मुमकिन नहीं है, लेकिन एक मामले की बाबत, जो कुछ-कुछ जाती-सा है, मैं जरूर कुछ कहना पसन्द करूंगा। उनको इस बात का इत्मीनान-सा हो गया मालूम होता है कि मेरे पिताजी के राजनैतिक जीवन को पलट देनेवाली बात एक यूरोपियन क्लब में उनका मेम्बर न चुना जाना ही है, और एक इसी बात से, न सिर्फ़ वह उग्र तरीक़ों के ही हामी हो गए, बल्कि अंग्रेजों की सोसायटी से भी वह दूर रहने लगे। यह कहानी जो अक्सर बार-बार दुहराई गई है, क़तई ग़लत है। असली घटना की कोई ख़ास अहमियत नहीं, लेकिन उस रहस्य को दूर करने के लिए मैं उसे यहां दिये देता हूं। वकालत के शुरू के दिनों में पिताजी को सर जॉन एज बहुत चाहते थे। वह उन दिनों इलाहाबाद हाईकोर्ट के चीफ़ जस्टिस थे। सर जान ने पिताजी से कहा कि आप इलाहाबाद की यूरोपियन क्लब में शामिल हो जायं। उन्होंने कहा, मैं ख़ुद मेम्बरी के लिए आपके नाम का प्रस्ताव करूंगा। पिताजी ने उनकी इस मेहरबानी के लिए उनका शुक्रिया अदा किया, लेकिन साथ में यह भी कहा कि इसमें बखेड़ा जरूर होगा, क्योंकि बहुत-से अंग्रेज मेरे हिन्दुस्तानी होने की वजह से ऐतराज करेंगे और मुमकिन है कि मेरे खिलाफ़ वोट दें। कोई भी मामूली अफ़सर इस तरह मेरा नाम रद करा सकेगा, और ऐसी हालत में मैं चुनाव के झगड़े में पड़ना पसन्द नहीं करूंगा। इसपर सर जॉन ने यह भी कहा कि मैं इलाहाबाद क्षेत्र की फ़ौज के कमाण्डर ब्रिगेडियर जनरल से आपके नाम का अनुमोदन करा दूंगा। लेकिन अख़ीर में यह ख़याल छोड़ दिया

है । सच बात तो यह है कि कार्य-समिति के सभी मेम्बरों के बारे में यही बात सही है । वह कमेटी असल में गांधीजी की बनाई हुई थी । अपने कुछ साथियों के सलाह-मशविरे से उन्होंने इस कमेटी को नामज़द किया था । उसके चुनाव की तो सिर्फ़ रस्म पूरी की गई थी । कमेटी के ज्यादातर मेम्बर तो उसके स्तम्भ-रूप थे—ऐसे जो उसमें बरसों से रह रहे थे—क़रीब-क़रीब उसके हमेशा मेम्बर खयाल किये जाते थे । उनमें राजनैतिक मतभेद था, लेकिन वह स्वभाव व दृष्टिकोण का मतभेद था; और बरसों तक एकसाथ और कन्धे-से कन्धा मिलाकर काम करते-करते तथा एक-से खतरों का सामना करते हुए वे एक-दूसरे से हिल-मिल गए थे । उनमें आपस में दोस्ती, भाईचारा और एक-दूसरे के लिए आदर पैदा हो गया था । वे 'संयुक्त-मण्डल' न होकर एक इकाई, एक शरीर थे और उनमें से किसीकी बाबत यह सोचा तक नहीं जा सकता कि वह दूसरों के खिलाफ़ साज़िश करेगा । कमेटी में गांधीजी की चलती थी और सब लोग नेतृत्व के लिए उन्हींकी तरफ़ देखते थे । कई सालों से यही होता आ रहा था और सन् १९३० और उसके बाद १९३१ में हमारी लड़ाई को जो बड़ी काम-याबी मिली थी उसमें तो यह बात और भी ज्यादा बढ़ गई थी । कार्य-समिति के गरम खयाल के मेम्बरों को उन्हें निकालने की कोशिश करने में क्या मक़सद

गया । मेरे पिताजी का नाम क्लब में पेश नहीं किया गया, क्योंकि उन्होंने यह बात साफ़ कर दी कि मैं बेइज्ज़ती का खतरा मोल लेने के लिए तैयार नहीं हूं । इस घटना की बदौलत वह अंग्रेज़ों के खिलाफ़ होने के बजाय सर जॉन एज के एहसान-मन्द बन गए और उसके बाद के सालों में ही बहुत-से अंग्रेज़ों से उनकी दोस्ती तथा मेल-मुहब्बत पैदा हुई । और यह सब तो हुआ १८९० से १८९९ के दरमियान, और पिताजी इसके कोई पच्चीस वर्ष बाद उग्र राजनैतिक और असहयोगी बने । उनकी यह तबदीली एकाएक नहीं हुई, लेकिन पंजाब के फ़ौजी क़ानून ने इस स्थिति को जल्दी ला दिया । और ऐन मौक़े पर पड़े गांधीजी के असर ने तो हालत बहुत ही बदल दी । इतने पर भी अंग्रेज़ों से मिलना-जुलना छोड़ने का—उनसे सम्बन्ध छोड़ने का—उनका कोई इरादा नहीं था । लेकिन जहां ज्यादातर अंग्रेज़ अफ़सर हों वहां असहयोग और सविनय-भंग के कारण लाज़िमी तौर पर मिलना-जुलना बन्द हो जाता है ।

हो सकता था ? शायद यह सोचा जाता है कि उन्हें जल्दी समझौता करने के लिए राज़ी हो जानेवाला और इसलिए एक क़िस्म का बोझा समझा जाता हो। लेकिन उनके बिना लड़ाई का क्या होता ? असहयोग और सत्याग्रह का क्या होता ? वह तो इस जीवित आन्दोलन के अंग थे। बल्कि, सच बात तो यह है कि वह ख़ुद ही आन्दोलन थे। जहांतक उस लड़ाई से ताल्लुक़ है, सब-कुछ उन्हींपर निर्भर था। यह ठीक है कि यह राष्ट्रीय लड़ाई उनकी ही पैदा की हुई नहीं थी, न वह किसी एक शख़्स पर निर्भर ही थी। उसकी जड़ें इससे ज्यादा गहरी थीं। लेकिन लड़ाई का वह खास पहलू, जिसकी निशानी सविनय-भंग थी, खासतौर पर गांधीजी पर ही अवलंबित था। उनके अलग होने के मानी थे इस आन्दोलन को बन्द करना और नई नींव पर नये सिरे से इमारत खड़ी करना। यह काम किसी भी वक़्त काफ़ी मुश्किल साबित होता, लेकिन १९३१ में तो कोई उसका ख़याल भी नहीं कर सकता था।

यह खयाल बड़ा ही मजेदार है कि कुछ लोगों की राय में हम कुछ लोग १९३१ में गांधीजी को कांग्रेस से निकालने की कोशिश कर रहे थे। जबकि उनको ज़रा-सा इशारा करने से ही काम चल सकता था, तो फिर हमें उनके ख़िलाफ़ साज़िश करने की क्या ज़रूरत थी ? ज्योंही गांधीजी कभी ऐसी बात कहते कि मैं कांग्रेस से अलग होना चाहता हूं, त्योंही तमाम कार्य-समिति और सारे मुल्क में तहलक़ा मच जाता था। वह हमारी लड़ाई के एक ऐसे अंग बन गए थे कि हम इस ख़याल को भी बरदाश्त नहीं कर सकते थे कि वह हमसे अलग हो जायं। बल्कि हम लोग तो उन्हें लन्दन भेजने में भी हिचकिचाते थे; क्योंकि उनकी ग़ैरहाज़िरी में हिन्दुस्तान के काम का तमाम बोझ हमारे ऊपर आकर पड़ता था, और यह बात ऐसी न थी कि जिनको हम पसन्द करते। हम लोग उनके कन्धों पर तमाम बोझ डाल देने के आदी हो गए थे। कार्य-समिति के मेम्बरों को ही नहीं, उससे बाहर के बहुत-से लोगों को भी जो बन्धन गांधीजी से बांधे हुए थे, वे ऐसे थे कि उनसे अलग होकर थोड़े वक्त के लिए कुछ फ़ायदा उठाने के बजाय वे उनके साथ रहकर नाकामयाब होना ज्यादा पसन्द करते थे।

गांधीजी का दिमाग़ साफ़ है या नहीं, इसका फ़ैसला तो हम अपने लिबरल दोस्तों के लिए ही छोड़ देते हैं। हां, यह बात बिल्कुल सच है कि कभी-कभी उनकी राजनीति बहुत आध्यात्मिक होती है, जो मुश्किल से समझ में आती है। लेकिन

उन्होंने यह दिखा दिया है कि वह कर्मवीर हैं, उनमें आश्चर्यजनक साहस है और वह एक ऐसे शख्स हैं जो अक्सर अपनी ज़िम्मेदारी को पूरा करके दिखा सकते हैं। और अगर 'दिमाग़ के साफ़ न होने' से इतने व्यावहारिक नतीजे निकलते हैं, तो शायद वह उस व्यावहारिक राजनीति के मुक़ाबले बुरा साबित न होगा, जिसकी शुरुआत और जिसका खात्मा स्टडी-रूमों और ऊंचे हलकों में ही हो जाता है। यह सच है कि उनके करोड़ों अनुयायियों का दिमाग़ साफ़ नहीं था। वे राजनैतिक और शासन-विधानों की बाबत कुछ नहीं जानते। वे तो सिर्फ़ अपनी इन्सानी ज़रूरतों, खाना, घर, कपड़ों और ज़मीन की बातें ही सोच सकते हैं।

मुझे यह बात हमेशा ही अचम्भे की मालूम हुई है कि मानव-प्रकृति को देखने की विद्या को भली-भांति सीखे हुए नामी विलायती पत्रकार किस तरह हिन्दुस्तान के मामलों में ग़लती कर जाते हैं। क्या यह उनके बचपन की उस अमिट धारणा की वजह से है कि 'पूर्व तो बिल्कुल दूसरी चीज़ है। उसको आप मामूली पैमानों से नहीं नाप सकते?' या अंग्रेज़ों के लिए, यह साम्राज्य का वह पीलिया रोग है, जो उनकी आंखों को खराब कर देता है? कोई चीज़ कैसी भी अनहोनी क्यों न हो, उसपर वे क़रीब-क़रीब फौरन ही इत्मीनान कर लेंगे, बिना किसी तरह का अचम्भा किये; क्योंकि वे समझते हैं कि रहस्य-भरे पूर्व में हर बात मुमकिन हो सकती है। कभी-कभी वे ऐसी किताबें छापते हैं, जिनमें काफ़ी योग्यतापूर्ण निरीक्षण होता है और तीव्र अवलोकन-शक्ति के नमूने भी, लेकिन बीच-बीच में बिलक्षण ग़लतियां भी होती हैं।

मुझे याद है कि जब गांधीजी १९३१ में यूरोप रवाना हुए तब, उसके बाद फ़ौरन ही, मैंने पेरिस के एक प्रसिद्ध संवाददाता का एक लेख पढ़ा था। उन दिनों वह लन्दन के एक अख़बार का संवाददाता था। उसका वह लेख हिन्दुस्तान के बारे में था। उस लेख में एक ऐसी घटना का ज़िक्र था जो उसके कहने के मुताबिक़ १९२१ में उस वक़्त हुई जब असहयोग के दौरान में प्रिंस ऑफ वेल्स ने यहां दौरा किया था। उसमें कहा गया था कि किसी जगह (शायद वह देहली थी), महात्मा गांधी एकाएक, जैसे नाटक में होता है, बिना इत्तिला के ही, युवराज के सामने जा पहुंचे और उन्होंने अपने घुटने टेककर युवराज के पैर पकड़ लिये और ढाड़ मार-मारकर रोते हुए उनसे विनती की कि इस अभागे देश को शान्ति

दीजिए। हम किसीने, गांधीजी ने भी, यह मज़ेदार कहानी कभी नहीं सुनी। इसलिए मैंने उस पत्रकार को एक ख़त लिखा।[1] उसने अफ़सोस ज़ाहिर किया, लेकिन साथ में यह भी लिखा कि मैंने यह कहानी बड़े विश्वस्त सूत्र से सुनी थी। जिस बात पर मुझे आश्चर्य हुआ वह यह थी कि उसने बिना किसी तरह की जांच की कोशिश किये एक ऐसी कहानी पर इत्मीनान कर लिया जो ज़ाहिरा तौर पर बिल्कुल ग़ैरमुमकिन थी और जिसका कोई भी शख़्स, जो गांधीजी, कांग्रेस या हिन्दुस्तान के बारे में कुछ भी जानता था, इत्मीनान कर नहीं सकता था। बदक़िस्मती से यह बात सही है कि हिन्दुस्तान में बहुत-से-ऐसे अंग्रेज हैं, जो यहां बहुत दिनों तक रहने के बाद भी कांग्रेस या गांधीजी या मुल्क की बाबत कुछ नहीं जानते। कहानी कतई इत्मीनान के क़ाबिल नहीं थी। वह बिल्कुल बेहूदा थी, उतनी ही बेहूदा जितनी यह कहानी होती कि केण्टरबरी के बड़े पादरी साहब एकाएक मुसोलिनी के सामने जा पहुंचे और सिर के बल खड़े होकर, हवा में अपने पैर हिलाकर, उनको सलाम करने लगे।

हाल ही में एक अख़बार में जो रिपोर्ट छपी है उसमें एक दूसरी क़िस्म की कहानी दी गई है। उसमें कहा गया है कि गांधीजी के पास अपार दौलत है, जो कई करोड़ होगी। वह उनके दोस्तों के पास छिपी रक्खी है। कांग्रेस उस रुपये को हड़पना चाहती है। कांग्रेस को डर है कि अगर गांधीजी कांग्रेस से अलहदा हो जायंगे तो वह दौलत उसके हाथ से निकल जायगी। यह कहानी भी सरासर बेहूदा है; क्योंकि गांधीजी कभी किसी फण्ड को न अपने पास रखते हैं और न छिपाकर रखते हैं। जो कुछ रुपया वह इकट्ठा करते हैं, उसे सार्वजनिक संस्थाओं को दे देते हैं। ठीक-ठीक हिसाब रखने के मामले मे उनमें बनियों की-सी सहज-बुद्धि है, और उन्होंने जितने चन्दे किये उनको खुलेआम आडिट कराया है।

कांग्रेस ने सन् १९२१ में एक करोड़ का जो मशहूर चन्दा किया था, यह अफ़वाह शायद उसीकी कहानी पर आधार रखती है। यह रक़म वैसे तो बहुत बड़ी मालूम होती है, लेकिन अगर हिन्दुस्तान-भर पर फैलाई जाय तो ज़्यादा

---

[1] यह पत्रकार हैं 'डेली हैरल्ड' के प्रतिनिधि श्री स्लोकोम्ब। गांधीजी जब विलायत गये तब फ्रांस में वह उनसे मिले थे और उन्होंने गांधीजी से क़बूल किया था कि यह बात बिल्कुल मनगढ़न्त थी और उसके लिए माफ़ी भी मांगी थी।—अनु०

नहीं मालूम होगी। इस रक़म का इस्तेमाल भी विद्यापीठें और स्कूल क़ायम करने, घरेलू धन्धों को तरक़्क़ी देने और खासतौर पर खद्दर की तरक़्क़ी के लिए, अछूतपन मिटाने के कार्यों में तथा ऐसे ही दूसरी तरह के रचनात्मक कार्यों मे किया गया था। उसमे से काफी तादाद ख़ास-ख़ास स्कीमों के लिए तय कर दी गई थी। फ़ण्ड अबतक मौजूद है और रुपये जिन ख़ास कार्यों के लिए तय किये गए थे उन्हींमें लगाये जा रहे हैं। बाक़ी जो रुपया इकट्ठा हुआ था, वह स्थानीय कमेटियों के पास छोड़ दिया गया था और वह कांग्रेस के संगठन के काम में तथा राजनैतिक कामों में ख़र्च किया गया। असहयोग-आन्दोलन का काम इसी फण्ड से चला था और कुछ साल बाद तक कांग्रेस का काम उसीसे चलता रहा। गांधीजी ने और मुल्क की ग़रीबी ने हमे यह सिखा दिया है कि बहुत थोड़े-से रुपयों से भी अपना राजनैतिक आन्दोलन कैसे चलाना चाहिए। हमारा ज्यादातर काम तो लोगों ने अपनी खुशी से बिना कुछ लिये ही किया है। और जिस किसीको कुछ देना भी पड़ा है, तो सिर्फ़ उतना ही जितना कि पेट भरने को काफ़ी होता हो। हमारे अच्छे-से-अच्छे ऐसे कार्यकर्त्ताओं को, जो विश्व-विद्यालय के ग्रेजुएट हैं और जिन्हें अपने परिवार का पालन करना पड़ता है, जो तनख्वाहें दी गई वे उस भत्ते से भी कम है, जो इंग्लैण्ड में बेकारों को दिया जाता है। पिछले पन्द्रह सालों के दौरान में कांग्रेस का आन्दोलन जितने कम रुपये से चला है, उतने कम रुपये से बड़े पैमाने पर और कोई राजनैतिक या मज़दूरों का आन्दोलन, मुझे शक है कि, किसी भी मुल्क में, शायद ही चलाया गया हो। और कांग्रेस के तमाम फ़ण्ड और उसका तमाम हिसाब खुलेआम हर साल आडिट होता रहा है; उनका कोई हिस्सा गुप्त नहीं है। हां, उन दिनों की बात बिलकुल दूसरी है जब सत्याग्रह की लड़ाई चल रही थी और कांग्रेस ग़ैर-क़ानूनी जमात थी।

गांधीजी गोलमेज़-परिषद् में शामिल होने के लिए कांग्रेस के एक-मात्र प्रतिनिधि की हैसियत से लन्दन गए थे। बड़ी लम्बी बहस के बाद हम लोगों ने यही तय किया था कि किसी दूसरे प्रतिनिधि की ज़रूरत नहीं। यह बात कुछ हद तक तो इसलिए की गई कि हम यह चाहते थे कि ऐसे नाज़ुक वक़्त में अपने सब अच्छे आदमियों को हिन्दुस्तान में ही रक्खें। उन दिनों हालात को बहुत होशियारी के साथ सम्हालते रहने की सख़्त ज़रूरत थी। हम लोग यह महसूस करते थे कि लन्दन में गोलमेज़-कान्फ्रेंस होने के बावजूद आकर्षण का केन्द्र

तो हिन्दुस्तान ही था और हिन्दुस्तान में जो कुछ होगा लन्दन में उसकी प्रतिध्वनि ज़रूर होगी। हम चाहते थे कि अगर मुल्क में कोई गड़बड़ हो तो हम उसे देखें और अपने संगठन को ठीक हालत में बनाये रक्खें। लेकिन सिर्फ़ एक प्रतिनिधि भेजने का हमारा असली कारण यही न था। अगर हम वैसा करना ज़रूरी और मुनासिब समझते तो हम बिलाशक दूसरे को भी भेज सकते थे लेकिन हम लोगों ने जान-बूझकर ऐसा नहीं किया।

हम गोलमेज़-कांन्फ्रेंस में इसलिए शामिल नहीं हो रहे थे कि हम विधान-सम्बन्धी छोटी-छोटी बातों पर ऐसी बातें और बहस करें जिनका कभी ख़ात्मा ही न हो। उस अवस्था में हमें इन तफ़सीलों में कोई दिलचस्पी नहीं थी। उनपर तो तभी ग़ौर किया जा सकता था जब कि ख़ास-ख़ास बुनियादी मामलों में ब्रिटिश सरकार के साथ हमारा कोई समझौता हो जाता। असली सवाल तो यह था कि लोकतन्त्री हिन्दुस्तान को कितनी ताक़त सौंपी जाती है। यह बात तय हो जाने के बाद राज़ीनामे का मसविदा बनाने और उसकी तफ़सीलें तय करने का काम तो कोई भी वकील कर सकता था। इन मूल बातों पर कांग्रेस की स्थिति बहुत साफ़ और सीधी थी और उस पर बहस करने का भी ऐसा ज़्यादा मौक़ा न था। हम लोगों को यह मालूम होता था कि हम लोगों के लिए यही गौरवपूर्ण रास्ता है कि हमारा सिर्फ़ एक ही प्रतिनिधि जाय और वह प्रतिनिधि हमारा लीडर हो। वह वहां जाकर हमारी स्थिति साफ़ कर दे। यह बताये कि हमारी स्थिति कितनी युक्तिसंगत है और किस तरह उसको मंजूर किये बिना गति नहीं है। अगर हो सके तो ब्रिटिश सरकार को इस बात के लिए राज़ी करले कि वह कांग्रेस की बात मान ले। हम जानते थे कि यह बात तो बहुत मुश्किल है, और उस वक़्त जैसी हालत थी उसको देखते हुए तो वह बिल्कुल ही सम्भव नहीं थी; लेकिन हमारे पास भी तो इसके सिवा कोई चारा न था। हम अपनी उस स्थिति को नहीं छोड़ सकते थे। न हम उन उसूलों और आदर्शों को ही छोड़ सकते थे जिनसे हम बंधे हुए थे और जिनमें हमें पूर्ण विश्वास था। अगर हमारी तक़दीर सिकन्दर हो और इन बुनियादी बातों में राज़ीनामे की कोई सूरत निकल आती तो बाक़ी बातें अपने-आप आसानी से तय हो जातीं। बल्कि सच बात तो यह है कि हम लोगों में आपस में यह तय हो गया था कि अगर किसी तरह से ऐसा राज़ीनामा हो जाय तो गांधीजी हम कुछ को या कार्य-समिति के तमाम

मेम्बरों को फौरन लन्दन बुला लेंगे, जिससे कि हम वहां जाकर समझौते की तफसील तय करने का काम कर सकें। हम लोगों को वहां जाने के लिए तैयार रहना था और ज़रूरत पड़ती तो हम लोग हवाई जहाज़ों में उड़कर भी जाते। इस तरह बुलाये जाने पर हम दस दिन के अन्दर उनके पास पहुंच सकते थे।

लेकिन अगर बुनियादी बातों में शुरू में कोई समझौता नहीं होता तो आगे और तफ़सील में समझौते की बातें करने का सवाल ही नहीं पैदा होता और न कांग्रेस के दूसरे प्रतिनिधियों को गोलमेज़-कांन्फ्रेंस में जाने की कोई ज़रूरत पड़ती। इसीलिए हमने सिर्फ़ गांधीजी को ही वहां भेजना तय किया। कार्य-समिति की एक और सदस्या श्रीमती सरोजिनी नायडू भी गोलमेज़-कान्फ्रेंस में शामिल हुईं; लेकिन वह वहां कांग्रेस की प्रतिनिधि होकर नहीं गई थी, उनको तो वहां हिन्दुस्तानी स्त्रियों के प्रतिनिधि-स्वरूप बुलाया गया था और कार्य-समिति ने उन्हें इजाज़त दी थी कि वह इस हैसियत से उस कान्फ्रेंस में शामिल हो सकती हैं।

लेकिन ब्रिटिश सरकार का इस तरह का कोई इरादा न था कि इस मामले में वह हमारी मर्ज़ी के मुताबिक़ काम करे। उसकी कार्य-पद्धति तो यह थी कि परिषद् गौण और बेमतलब की छोटी-छोटी बातों पर चर्चा करके थक जाय। तबतक मूल और असली सवालों पर विचार करने का काम टलता रहे। जब कभी बड़े-बड़े सवालों पर ग़ौर भी हुआ तब सरकार ने चुप्पी साध ली। उसने हां या ना करने से साफ़ इन्कार कर दिया और सिर्फ़ यह वादा किया कि सरकार अपनी राय बाद को अच्छी तरह सोच-विचार कर देगी। असल में उसके पास तुरुप का पत्ता तो था साम्प्रदायिक सवाल, और उसका उसने पूरा-पूरा इस्तेमाल किया। कान्फ्रेंस में इसी सवाल का बोलबाला था।

कान्फ्रेंस के ज़्यादातर हिन्दुस्तानी मेम्बर सरकार की इन चालों के जाल में फंस गए। ज़्यादा तो राज़ी-खुशी से और कुछ थोड़े-से मजबूरी से। कान्फ्रेंस क्या थी, भानमती का पिटारा था। उसमें शायद ही कोई ऐसा हो जो अपने अलावा किसी दूसरे का प्रतिनिधि हो। कुछ आदमी क़ाबिल थे और मुल्क में उनकी इज्ज़त भी थी, लेकिन बाक़ी बहुत-से लोगों की बाबत यह बात भी नहीं कही जा सकती थी। कुल मिलाकर राजनैतिक और सामाजिक दृष्टिकोण से वे हिन्दुस्तान में राजनैतिक उन्नति के सबसे ज़्यादा विरोधी दलों के प्रतिनिधि थे। ये लोग इतने फिसड्डी और प्रगति-विरोधी थे कि हिन्दुस्तान के लिबरल, जो

हिन्दुस्तान में बहुत ही माडरेट और फूंक-फूंक कर क़दम रखनेवाले माने जाते हैं, इस जमात में वही प्रगति के बड़े भारी हामी बनकर चमके। ये लोग हिन्दुस्तान में ऐसे स्थापित स्वार्थ रखनेवालों के प्रतिनिधि थे जो ब्रिटिश साम्राज्यवाद से बंधे हुए थे और तरक़्क़ी और रखवाली के लिए उसीका भरोसा रखते थे। सबसे ज़्यादा मशहूर प्रतिनिधि तो साम्प्रदायिक झगड़ों के सिलसिले में जो 'छोटी' और 'बड़ी' जातियां थीं उनके थे। ये टोलियां उन उच्च वर्गवालों की थीं जो कुछ भी मानने को तैयार न थे और जो आपस में कभी मिल ही नहीं सकते थे। राजनैतिक दृष्टि से वे हर क़िस्म की प्रगति के एकदम विरोधी थे और उनकी दिलचस्पी केवल एक बात में थी कि किसी तरह अपने फ़िरक़े के लिए कुछ फ़ायदे की बात हासिल कर लें, फिर चाहे ऐसा करने में हमें अपनी राजनैतिक प्रगति को भी छोड़ना पड़े। बल्कि सच बात तो यह है कि उन्होंने खुल्लमखुल्ला यह ऐलान कर दिया था कि जबतक उनकी साम्प्रदायिक मांगें पूरी नहीं की जायंगी, तबतक वे राजनैतिक आज़ादी लेने को राज़ी न होंगे। यह एक असाधारण दृश्य था और उससे हमें बड़े दुःख के साथ यह बात साफ़-साफ़ दिखाई देती थी कि एक ग़ुलाम क़ौम किस हद तक गिर सकती है और वह साम्राज्यवादियों के खेल में किस तरह शतरंज का मोहरा बन सकती है। यह सही था। हाईनेसों, लार्डों, सरों और दूसरे बड़े-बड़े उपाधिधारी लोगों की उस भीड़ की बाबत यह नहीं कहा जा सकता कि वे हिन्दुस्तान के लोगों के प्रतिनिधि हैं। गोलमेज़-कान्फ्रेंस के मेम्बर ब्रिटिश सरकार के नामज़द थे और अपनी दृष्टि से सरकार ने जो चुनाव किया था वह बहुत अच्छा किया था। फिर भी महज़ यह बात कि ब्रिटिश-अधिकारी हम लोगों का ऐसा इस्तेमाल कर सकते हैं, यह दिखाती है कि हम लोगों में कितनी कमज़ोरियां हैं और हम लोग कैसी अजीब आसानी के साथ असली बातों से हटाकर एक-दूसरे की कोशिशों को बेकार करने के काम में लगाये जा सकते हैं! हमारे उच्चवर्ग के लोग अभी तक हमारे साम्राज्यवादी शासकों की विचार-धारा के असर में थे और वे उन्हींका खेल खेलते थे। क्या यह इसलिए था कि वे उनकी चालों को समझ नहीं पाते थे? या वे उसके असली मानों को समझते हुए, जान-बूझकर उसे इसलिए मंजूर कर लेते थे कि उन्हें हिन्दुस्तान मे आज़ादी और लोक-तन्त्र क़ायम होने से डर लगता था?

यह तो ठीक ही था कि साम्राज्यवादी, मांडलिकवादी, महाजन, व्यवसायी,

और धार्मिक तथा साम्प्रदायिक लोगों के स्थापित स्वार्थों के इस समाज में ब्रिटिश भारतीय प्रतिनिधि-मंडल का नेतृत्व हमेशा के मुताबिक़ सर आग़ा खां के हाथ में रहे; क्योंकि वह कुछ हदतक इन सब स्वार्थों से स्वयं संपन्न थे। कोई एक पुश्त से ज़्यादा ब्रिटिश साम्राज्यवाद से और ब्रिटिश शासक-श्रेणी से उनका बहुत नज़दीक़ी सम्बन्ध रहा है। वह ज़्यादातर इंग्लैण्ड में ही रहते हैं। इसलिए वह हमारे शासकों के स्वार्थों और उनके दृष्टिकोण को पूरी तरह समझ सकते और उनका प्रतिनिधित्व कर सकते हैं। उस गोलमेज़-कान्फ्रेंस में साम्राज्यवादी इंग्लैण्ड के वह बहुत योग्य प्रतिनिधि हो सकते थे। लेकिन आश्चर्य तो यह था कि वह हिन्दुस्तान के प्रतिनिधि समझे जाते थे!

कान्फ्रेंस मे हमारे ख़िलाफ़ पलड़ा बुरी तरह से भारी था; और यद्यपि हमें उससे कभी कोई उम्मीद न थो फिर भी उसकी कार्रवाइयोंको पढ़-पढ़कर हमें हैरत होती थी और दिन-दिन उससे हमारा जी ऊबता जाता था। हमने देखा कि राष्ट्रीय और आर्थिक समस्याओं की सतह को खरोंचने की कैसी दयनीय और वाहियात ढंग से मामूली कोशिश की जा रही है! कैसे-कैसे पैक्ट और कैसी कैसी साज़िशें हो रही हैं! कैसी-कैसी चालें चली जा रही हैं! हमारे ही कुछ देश-भाई ब्रिटिश अनुदार दल के सबसे ज़्यादा प्रतिगामी लोगों से मिल गए हैं। टुच्चे-टुच्चे मामलों पर बातें चलती थीं और सो भी ख़त्म ही नहीं होती थीं। जो असली बातें हैं उनको जान-बूझकर टाला जा रहा है। ये प्रतिनिधि बड़े-बड़े स्थापित स्वार्थों के और खासकर ब्रिटिश साम्राज्यवाद के हाथ की कठपुतली बने हुए है। वे कभी तो आपस में लड़ते-झगड़ते हैं और कभी एक-साथ बैठकर दावतें खाते तथा एक-दूसरे की तारीफ़ करते है। शुरू से लेकर अख़ीर तक सब मामला नौकरियों का था। छोटे ओहदे, बड़े ओहदे, हिन्दुओं के लिए कितनी नौकरियां और कुर्सियां तथा सिक्खों और मुसलमानों के लिए कितनी? और एंग्लो-इंडियनों तथा यूरोपियनों के लिए कितनी? लेकिन ये सब ओहदे ऊंचे दरजे के अमीर लोगों के लिए थे, जन-साधारण के लिए उनमें कुछ न था। अवसर-वादिता का दौर-दौरा था और ऐसा मालूम पड़ता था कि नये शासन-विधान में टुकड़े-रूपी जो शिकार था उसकी फ़िराक में भिन्न-भिन्न गिरोह भूखे भेड़ियों की तरह घात लगाये फिरते थे। उनकी आज़ादी की कल्पना ने भी तो बड़े पैमाने पर नौकरियां तलाश करने का रूप धारण कर लिया था। इसे ये लोग 'भारतीय-

करण' के नाम से पुकारते थे। फ़ौज में, मुल्की नौकरियों में और दूसरी जगहों में हिन्दुस्तानियों को ज़्यादा नौकरियां मिलें, यही इनकी पुकार थी। कोई यह नहीं सोचता था कि हिन्दुस्तान के लिए आज़ादी की, असली स्वतन्त्रता की, भारत को लोकतन्त्री सत्ता सौंपे जाने की, हिन्दुस्तान के लोगों के सामने जो भारी और ज़रूरी आर्थिक समस्याएं मौजूद हैं उनके हल करने की भी कोई ज़रूरत है ? क्या इसीके लिए हिन्दुस्तान में इतनी मर्दानगी से लड़ाई लड़ी गई थी ? क्या हम सुन्दर आदर्शवाद और त्याग की दुर्लभ मलय-समीर को छोड़कर इस गन्दी हवा को ग्रहण करेंगे ?

उस राजसी महल में और इतने विभिन्न लोगों की भीड़ में गांधीजी बिल्कुल अकेले मालूम होते थे। उनकी पोशाक से, या उनकी कोई पोशाक ही न होने की वजह से, बाक़ी सब लोगों में उन्हें आसानी से पहचाना जा सकता था। लेकिन उनके आसपास अच्छे सजे-धजे लोगों की जो भीड़ बैठी हुई थी उसके विचार और दृष्टिकोण में तथा गांधीजी के विचारों और उनके दृष्टि-बिन्दु में और भी ज़्यादा फ़र्क़ था। उस कान्फ्रेंस में उनकी स्थिति बहुत ही मुश्किल थी। इतनी दूर बैठे-बैठे हम इस बात पर अचरज करते थे कि वह इसे कैसे बरदाश्त कर रहे हैं ? लेकिन आश्चर्यजनक धीरज के साथ वह अपना काम करते रहे, और समझौते की कोई-न-कोई बुनियाद ढूंढ़ने के लिए उन्होंने कई कोशिशें की। एक विलक्षण बात उन्होंने ऐसी की जिसने फ़ौरन यह दिखला दिया कि किस तरह साम्प्रदायिक भाव ने दरअसल राजनैतिक प्रतिगामिता को अपनी ओट में छिपा रखा था। मुसलमान प्रतिनिधियों की तरफ़ से कान्फ्रस में जो साम्प्रदायिक मांगें पेश की गई थीं उनको गांधीजी पसन्द नहीं करते थे। उनका खयाल था, और उनके साथी कुछ राष्ट्रीय विचार के मुसलमानों का भी यही खयाल था, कि इनमें से कुछ मांगें तो आज़ादी और लोकतन्त्र के रास्ते में रोड़ा अटकानेवाली हैं। लेकिन फिर भी उन्होंने कहा कि मैं इन सब मांगों को 'बिना किसी ऐतराज़ के मानने को तैयार हूं, बशर्ते कि मुसलमान प्रतिनिधि राजनैतिक मांग यानी आज़ादी के मामले में मेरा तथा कांग्रेस का साथ दें।'

उनका यह प्रस्ताव ख़ुद अपनी तरफ़ से था; क्योंकि उनकी जैसी हालत थी, उसमें कांग्रेस को वह किसी बात से नहीं बांध सकते थे। लेकिन उन्होंने वादा किया कि मैं कांग्रेस में इस बात के लिए ज़ोर दूंगा कि ये मांगें मान ली जायं। और

कोई भी शख्स, जो कांग्रेस में उनके असर को जानता था, इस बात में किसी तरह का शक नहीं कर सकता था कि वह कांग्रेस से उन मांगों को मनवाने में कामयाबी हासिल कर सकते थे। लेकिन मुसलमानों ने गांधीजी के इस प्रस्ताव को मंजूर नहीं किया। सचमुच इस बात की कल्पना करना ज़रा मुश्किल है कि आग़ाखां साहब हिन्दुस्तान की आज़ादी के हामी हो जायंगे। लेकिन इससे इतनी बात साफ़-साफ़ दिखाई दे गई कि असली झगड़ा साम्प्रदायिक नहीं था, यद्यपि कान्फ्रेंस में साम्प्रदायिक प्रश्न की ही धूम थी। असल में तो राजनैतिक प्रतिगामिता ही सब तरह की तरक़्क़ी के रास्ते को रोक रही थी और वही साम्प्रदायिक प्रश्न की आड़ में छिपी हुई टट्टी की ओट से शिकार करती रही। कान्फ्रेंस के लिए अपने नामज़द प्रतिनिधियों का चुनाव बड़ी चालाकी से करके ब्रिटिश सरकार ने इन उन्नति-विरोधी लोगों को वहां जमा किया था और कान्फ्रेंस की कार्रवाई की गति-विधि अपने हाथ में रखकर उसने साम्प्रदायिक सवाल को मुख्य और एक ऐसा सवाल बना दिया था जिसपर आपस में कभी न मिल सकनेवाले वहां पर इकट्ठे हुए लोगों में कभी कोई समझौता हो ही नही सकता था।

इस कोशिश में ब्रिटिश सरकार को कामयाबी मिली और इस कामयाबी से उसने यह साबित कर दिया कि अभी तक उसमें न सिर्फ़ अपने साम्राज्य को क़ायम रखने की बाहरी ताक़त ही है, बल्कि कुछ दिनों तक और साम्राज्यवादी परम्परा को चला ले जाने के लिए चालाकी और कूटनीति भी उसके पास है। हिन्दुस्तान के लोग नाकामयाब रहे, यद्यपि गोलमेज़-कान्फ्रेंस न तो उनकी प्रतिनिधि ही थी, और न उसकी ताक़त से हिन्दुस्तान के लोगों की ताक़त का आन्दाज़ा ही लगाया जा सकता था। उनके नाकामयाब होने की खास वजह यह थी कि उनके पास उनके उद्देश्य के पीछे कोई विचारधारा न थी, इसलिए उन्हें आसानी से अपनी असली जगह से हटाया तथा गुमराह किया जा सकता था। वे इसलिए असफल हुए कि वे अपने में इतनी ताक़त नहीं महसूस करते थे कि वे उन स्थापित स्वार्थ रखनेवालों को धता बता दें जो उनकी तरक़्क़ी के लिए भार-स्वरूप बने हुए थे। वे असफल रहे, क्योंकि उनमें मज़हबीपन की अति थी और उनके साम्प्रदायिक भाव आसानी से भड़काये जा सकते थे। थोड़े में वे इसलिए असफल हुए कि अभी तक इतने आगे नहीं बढ़े हुए थे, न इतने मज़बूत ही थे, कि कामयाब होते।

असल में इस गोलमेज़-कान्फ्रेंस में तो सफलता या विफलता का सवाल ही

न था। उससे तो कोई उम्मीद ही नहीं की जा सकती थी। फिर भी उसमें पहले से कुछ फ़र्क़ था। पहली गोलमेज़-कान्फ्रेंस थी तो अपने क़िस्म की सबसे पहली कान्फ्रेंस; लेकिन हिन्दुस्तान में बहुत ही कम लोगों का ध्यान उसकी तरफ़ गया, और बाहर भी यही बात रही; क्योंकि उन दिनों सब लोगों का ध्यान सविनय-भंग की लड़ाई की तरफ़ था। ब्रिटिश सरकार द्वारा जो नामज़द उम्मीदवार १९३० में कान्फ्रेंस मे शामिल होने गए, अक्सर उनके साथ-साथ काले झण्डे निकाले गए और विरोधी नारे लगाये गए। लेकिन १९३१ में सब बातें बदल गई थीं। क्यों? इसलिए कि गांधीजी कांग्रेस के प्रतिनिधि की हैसियत से, जिसके पीछे करोड़ों लोग चलते हैं, उसमें शामिल हुए; इस बात से कान्फ्रेंस की शान जम गई और हिन्दुस्तान ने दिलचस्पी के साथ रोज़-ब-रोज़ उसकी कार्रवाइयों पर ध्यान दिया। और वजह जो कुछ भी हो, यह ज़रूर है कि इस कान्फ्रेंस में जितनी असफलता हुई उससे हिन्दुस्तान की बदनामी हुई। अब हम लोगों की समझ में यह बात साफ़-साफ़ आ गई कि ब्रिटिश सरकार गांधीजी के उसमें शामिल होने को इतना महत्व क्यों देती थी।

वह कान्फ्रेस, जहां साज़िशों, मौक़ापरस्ती और जालसाज़ियों का बोलबाला था, हिन्दुस्तान की विफलता नहीं कहला सकती। वह तो बनाई ही ऐसी गई थी, जिससे असफल होती। उसकी नाकामयाबी का क़ुसूर हिन्दुस्तान के लोगों के मत्थे नहीं मढ़ा जा सकता। लेकिन उसे इस बात मे ज़रूर सफलता मिली कि उसने हिन्दुस्तान के असली सवालों से दुनिया का ध्यान हटा दिया और ख़ुद हिन्दुस्तान में उसकी वजह से लोगों की आंखें खुल गई, उनका उत्साह मर गया तथा उन्होंने उससे अपनी ज़िल्लत-सी महसूस की। उसने प्रतिगामी लोगों को फिर अपना सिर उठाने का मौक़ा दे दिया।

हिन्दुस्तान के लोगों के लिए तो सफलता या असफलता ख़ुद हिन्दुस्तान में होनेवाली घटनाओं से हो सकती थी। हिन्दुस्तान में जो मज़बूत राष्ट्रीय आन्दोलन चल रहा था वह लन्दन में होनेवाली चालबाज़ियों से ठण्डा नहीं पड़ सकता था। राष्ट्रीयता मध्यमवर्ग के लोगों और किसानों की, असली और तात्कालिक ज़रूरतों को दिखलाती थी। उसीके ज़रिये वे अपने मसलों को हल करना चाहते थे; इसलिए उस आन्दोलन की दो ही सूरतें हो सकती थीं—एक तो यह कि वह कामयाब होता, अपना काम पूरा करता और किसी ऐसे दूसरे आन्दोलन

के लिए जगह खाली कर देता जो लोगों को प्रगति और आज़ादी की सड़क पर और भी आगे ले जाता; दूसरी यह कि कुछ वक़्त के लिए उसे ज़बर्दस्ती दबा दिया जाता। असल में कान्फ्रेंस के बाद फ़ौरन हिन्दुस्तान में लड़ाई छिड़ने को और कुछ वक़्त के लिए बेबसी से खत्म हो जाने को थी। दूसरी गोलमेज़-कान्फ्रेंस का इस लड़ाई पर कोई ऐसा ज्यादा असर नहीं पड़ सका; पर उसने कुछ हदतक हमारी लड़ाई के खिलाफ़ वातावरण ज़रूर बना दिया।

: ३९ :

युक्तप्रान्त के किसानों में अशान्ति

कांग्रेस के प्रधान मन्त्री और कार्य-समिति के एक सदस्य की हैसियत से अखिल-भारतीय राजनीति से मेरा सम्बन्ध रहता था, और कभी-कभी मुझे कुछ दौरा भी करना पड़ता था; हालांकि जहांतक हो सकता मैं उसे टालता ही रहता था। जैसे-जैसे हमारा बोझ और ज़िम्मेदारियां ज़्यादा-ज़्यादा बढ़ने लगी, वैसे-वैसे कार्य-समिति की बैठकें भी ज़्यादा-ज़्यादा लम्बी होने लगीं। यहांतक कि वे लगातार दो-दो हफ़्ते तक होती थीं। अब सिर्फ़ नुक्ताचीनी के प्रस्ताव पास करना नहीं था, बल्कि एक बड़े भारी, और कई तरह की प्रवृत्तियोंवाले संगठन के अनेक और भिन्न-भिन्न प्रकार के रचनात्मक कार्यों का नियन्त्रण करना था, और दिन-ब-दिन मुश्किल सवालों का फ़ैसला करना था, जिनके ऊपर देशभर की व्यापक लड़ाई या शान्ति निर्भर करती थी।

मगर मेरा ख़ास काम तो युक्तप्रान्त में ही था, जहां कि कांग्रेस का ध्यान किसानों की समस्या पर लगा हुआ था। युक्तप्रान्तीय कांग्रेस-कमेटी में डेढ़ सौ से ज़्यादा सदस्य थे और उसकी बैठक हर दो या तीन महीने में हुआ करती थी। उसकी कार्यकारिणी कौंसिल की, जिसमें पन्द्रह सदस्य थे, बैठकें अक्सर होती रहती थीं, और उसीके हाथ में किसानों का महकमा था।

१९३१ के पिछले हिस्से में इस कौंसिल ने किसान-सम्बन्धी एक ख़ास कमेटी मुक़र्रर कर दी। यह जानने लायक़ बात है कि इस कौंसिल और इस कमेटी में कई ज़मींदार बराबर शामिल रहे थे, और सब कार्रवाई उनकी राय से की जाती थी। वास्तव में, उस साल के हमारे प्रान्तीय कमेटी के सभापति (और इसलिए जो कार्यकारिणी कौंसिल और किसान-कमेटी के अध्यक्ष भी थे) तसद्दुक़ अहमद ख़ां शेरवानी थे, जो एक मशहूर ज़मींदार ख़ानदान के थे। प्रधान-मन्त्री श्रीप्रकाशजी और कौंसिल के दूसरे भी कई बड़े-बड़े मेम्बर ज़मींदार थे, या ज़मींदार घराने के थे। बाक़ी सदस्य ऊंचा पेशा करनेवाले मध्यमवर्ग के लोग

थे। हमारी प्रान्तीय कार्यकारिणी में एक भी काश्तकार या ग़रीब किसान प्रतिनिधि नहीं था। हमारी ज़िला-कमेटियों में किसान पाये जाते थे, मगर जिन कई चुनावों में जाकर प्रान्त की कार्यकारिणी कौंसिल बनती थी, उनमें वे शायद ही कभी कामयाब हो पाते थे। इस कौंसिल में मध्यमवर्ग के पढ़े-लिखे लोगों की ही तादाद बहुत ज़्यादा थी, और ज़मींदारों का भी बहुत प्रभाव था। इस तरह यह कौंसिल किसी तरह भी 'गरम' नहीं कही जा सकती थी, और किसानों के सवाल पर तो निश्चय ही नहीं।

प्रान्त में मेरी हैसियत सिर्फ़ कार्यकारिणी कौंसिल और किसान-कमेटी के एक मेम्बर की थी, इससे ज्यादा कुछ भी नहीं। सलाह-मशविरों या दूसरे काम-काज में मैं ख़ास हिस्सा लेता था, मगर किसी भी मानी में सबसे प्रमुख भाग नहीं लेता था। वास्तव में, किसीके भी बारे में यह नहीं कहा जा सकता था कि वह प्रमुख भाग लेता है, क्योंकि इकट्ठा सामूहिक कार्य करने की हमारी पुरानी आदत हो गई थी, और व्यक्ति पर नहीं, संगठन पर ही हमेशा ज़ोर दिया जाता था। हमारा सभापति हमारा तात्कालिक मुखिया रहता था, और हमारा प्रतिनिधि होता था, मगर उसे भी विशेष अधिकार नहीं थे।

मैं इलाहाबाद की ज़िला कांग्रेस कमेटी का भी सदस्य था। इस कमेटी ने, अपने अध्यक्ष श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन के नेतृत्व में, किसान-समस्या की प्रगति में महत्वपूर्ण हिस्सा लिया था। १९३० में इस कमेटी ने ही प्रान्त में सबसे पहले करबन्दी-आन्दोलन शुरू किया था। इसका कारण यह नहीं था कि इलाहाबाद ज़िले में किसानों की हालत, भाव की मन्दी से, सबसे ज़्यादा ख़राब हो गई थी—क्योंकि अवध के ताल्लुक़ेदारी हिस्से और भी ज्यादा ख़राब थे—बल्कि इसलिए कि इलाहाबाद ज़िले का संगठन अच्छा था और इसमें राजनैतिक चेतना ज़्यादा थी। क्योंकि इलाहाबाद शहर राजनैतिक हलचलों का एक केन्द्र था और आस-पास के देहात में बड़े-बड़े कार्यकर्त्ता अक्सर जाया करते थे।

मार्च १९३१ के दिल्ली-समझौते के बाद फ़ौरन ही हमने देहात में कार्यकर्ता और नोटिस भेज दिये थे, और किसानों को इत्तिला दे दी थी कि सविनय-भंग और उसका आन्दोलन बन्द कर दिया गया है। राजनैतिक दृष्टि से उनके लगान अदा कर देने में अब कोई रुकावट न थी, और हमने उन्हें सलाह भी दी थी कि वे लगान अदा कर दें। मगर साथ ही हमने यह भी कह दिया कि इस भारी मन्दी

को देखते हुए हमारी राय यह है कि उन्हें काफ़ी छूट हासिल करने की कोशिश करनी चाहिए। मामूली हालत में भी लगान अक्सर एक असह्य बोझ ही होता था, फिर भारी मन्दी के ज़माने में तो पूरा लगान या पूरी के क़रीब रक़म देना तो बिलकुल ही असम्भव था। हमने किसानों के प्रतिनिधियों के साथ सलाह-मशविरा किया, और अस्थायी तजवीज़ की कि आमतौर पर छूट पचास फ़ीसदी होनी चाहिए, और कहीं-कहीं तो इससे भी ज़्यादा।

हमने किसानों के सवाल को सविनय-भंग के प्रश्न से बिल्कुल अलग करने की कोशिश की। कम-से-कम १९३१ में तो, हम उस पर आर्थिक दृष्टि से ही विचार करना चाहते थे और उसे राजनैतिक क्षेत्र से अलग रखना चाहते थे। मगर यह मुश्किल था, क्योंकि दोनों किसी-न-किसी तरह एक-दूसरे से गहरे जुड़ गए थे और पहले से दोनों का गहरा साथ हो गया था। और कांग्रेस-संगठन के रूप में, हम लोग तो निश्चित रूप से राजनैतिक थे ही। कुछ समय के लिए तो हमने कोशिश की कि हमारी संस्था एक किसान-यूनियन (जिसपर नियन्त्रण ग़ैर-किसानों और ज़मींदार तक का था!) की तरह ही काम करे, मगर हम अपना राजनैतिक स्वरूप नहीं छोड़ सके, और न हमने छोड़ने की ख्वाहिश ही की, और सरकार भी, जो-कुछ हम करते थे उसे राजनैतिक ही समझती थी। सविनय-भंग फिर होने की सम्भावना भी हमारे सामने थी, और अगर ऐसा हुआ तो इसमें शक नहीं कि अर्थ-नीति और राजनीति दोनों साथ-साथ मिलकर चलेंगी।

इन ज़ाहिरा मुश्किलों के बावजूद, दिल्ली-समझौते के वक़्त से हमेशा हमारी यही कोशिश रही कि किसानों के सवाल को राजनैतिक लड़ाई से अलग रक्खा जाय। इसका असली सबब यह था कि दिल्ली-समझौते ने इसे बन्द नहीं किया था, और यह बात हम सरकार और आम लोगों को बिल्कुल साफ़ बता देना चाहते थे। दिल्ली की बातचीतों में, मेरा ख़याल है, गांधीजी ने लॉर्ड इर्विन को यह भरोसा दे दिया था कि अगर वह गोलमेज़-कान्फ्रेंस में न भी गए, तो भी जबतक कान्फ्रेंस की बैठकें होती रहेंगी, तबतक सविनय-भंग फिर शुरू नहीं करेंगे; वह कांग्रेस से सिफ़ारिश करेंगे कि कान्फ्रेंस को हर तरह का मौक़ा दिया जाना चाहिए, और उसके नतीजे का इन्तज़ार करना चाहिए। मगर, तब भी गांधीजी ने यह साफ़ बता दिया था कि अगर किसी स्थानीय आर्थिक लड़ाई के लिए हमें मजबूर किया जायगा, तो उसपर यह बात लागू न होगी। युक्तप्रान्त के किसानों

की समस्या उस वक़्त हम सबके सामने थी, क्योंकि वहां संगठित कार्य किया गया था। दरअसल तो हिन्दुस्तान भर के किसानों की वैसी ही हालत थी। शिमला की बातचीतों में भी गांधीजी ने इस बात को दोहराया था और उनके प्रकाशित पत्र-व्यवहार[१] में भी इसका ज़िक्र किया गया था। यूरोप रवाना होने के ठीक पहले ही उन्होंने साफ़ कर दिया था, कि गोलमेज़-कान्फ्रेंस और राजनैतिक सवालों के बिल्कुल अलावा भी कांग्रेस के लिए यह ज़रूरी

---

[१] शिमला के २७ अगस्त १९३१ के समझौते में नीचे के पत्र भी शामिल थे--

भारत-सरकार के होम-सैक्रेटरी श्री इमरसन के नाम गांधीजी का पत्र

शिमला,

प्रिय श्री इमरसन, २७, अगस्त, १९३१

आपके आज की तारीख़ के ख़त के लिए, जिसके साथ नया मसविदा नत्थी है, धन्यवाद। सर कावसजी ने भी आपके बताये संशोधन भेजने की कृपा की है। मेरे साथियों ने व मैंने संशोधित मसविदे पर ख़ूब ग़ौर किया है। नीचे लिखे स्पष्टीकरण के साथ हम आपके संशोधित मसविदे को मंजूर करने को तैयार हैं--

पैराग्राफ़ ४ में सरकार ने जो स्थिति इख़्तियार की है उसे कांग्रेस की तरफ़ से मंजूर करना मेरे लिए नामुमकिन है। क्योंकि हम यह महसूस करते हैं कि जहां कांग्रेस की राय में समझौते के अमल में पैदा हुई शिकायत दूर नहीं की जाती वहां जांच करना ज़रूरी हो जाता है। क्योंकि सविनय-भंग आन्दोलन उसी वक़्त तक के लिए स्थगित किया गया है, जबतक दिल्ली का समझौता जारी है। लेकिन अगर भारत सरकार और दूसरी प्रान्तीय सरकारें जांच कराने को तैयार नहीं हैं, तो मेरे साथी और मैं इस जुमले के रहने देने पर कोई ऐतराज़ न करेंगे। इसका नतीजा यह होगा कि कांग्रेस अब से उठाये गए दूसरे मामलों के बारे में जांच के लिए जोर नहीं देगी; लेकिन अगर कोई शिकायत इतनी तीव्रता से महसूस की जा रही हो कि जांच के अभाव में उसे दूर करने के लिए रक्षात्मक सीधी लड़ाई लड़ना ज़रूरी हो जाय, तो कांग्रेस, सविनय-भंग आन्दोलन के स्थगित रहते हुए भी, उसे करने के लिए स्वतन्त्र होगी।

हो सकता है कि वह आर्थिक लड़ाइयों में लोगों के, और खासकर किसानों के, अधिकारों की रक्षा करे। ऐसी किसी लड़ाई में फंसने की उनकी इच्छा नहीं है। वह उसे टालना चाहते हैं; मगर यदि यह अनिवार्य ही हो जाय, तो उसे हाथ में लेना ही पड़ेगा। हम जनता को अकेला नहीं छोड़ सकते थे। वह यह मानते थे कि दिल्ली के समझौते में, जो सामान्य और राजनैतिक सविनय-भंग से ताल्लुक़ रखता था, इसकी रोक नहीं की गई है।

मैं इसका ज़िक्र इसलिए कर रहा हूं कि युक्तप्रान्तीय कांग्रेस-कमेटी और उसके नेताओं पर यह दोष बार-बार लगाया जाता रहा है कि उन्होंने करबन्दी-आन्दोलन फिर शुरू करके दिल्ली का समझौता तोड़ दिया। आरोप करनेवालों को सुभीता यह था कि यह आरोप तब लगाया गया जब वे सब लोग, जिनपर यह लगाया गया और जो इसका जवाब दे सकते थे, जेल में बन्द कर दिये गए थे और हर अखबार और प्रेस पर कड़ा सेंसर लगा हुआ था। इस हक़ीक़त के अलावा कि युक्तप्रान्तीय कमेटी ने १९३१ में कभी करबन्दी-आन्दोलन शुरू ही नहीं किया, मैं इस बात को साफ़ कर देना चाहता हूं कि आर्थिक उद्देश्य से, सविनय-भंग से अलग रहते हुए, ऐसी लड़ाई लड़ना भी दिल्ली के समझौते का भंग नहीं होता। वह उसके कारणों को देखते हुए उचित था या नहीं, यह तो दूसरी बात थी; लेकिन जिस तरह किसी कारखाने के मज़दूरों को अपने किसी आर्थिक कष्ट के कारण हड़ताल शुरू करने का हक़ होता है, उसी तरह किसानों को भी आर्थिक कारण से हड़ताल करने का अधिकार था। दिल्ली से शिमला तक बराबर हमारी

मैं सरकार को यह यक़ीन दिलाने की ज़रूरत नहीं समझता कि कांग्रेस की हमेशा यही कोशिश रहेगी कि सीधी लड़ाई से बचे और आपसी बातचीत और समझाने-बुझाने के उपायों से शिकायत दूर कराये। कांग्रेस की स्थिति का ज़िक्र करना यहां इसलिए ज़रूरी हो गया है कि आगे कोई सम्भावित ग़लतफ़हमी या कांग्रेस पर समझौता तोड़ने का आरोप न हो सके। मौजूदा बातचीत के सफल होने की हालत में मेरा ख़याल है कि यह विज्ञप्ति, यह पत्र और आपका जवाब एक साथ प्रकाशित कर दिये जायं।

आपका

मो० क० गांधी

यह स्थिति रही, और सरकार ने इसे समझ ही नहीं लिया था, बल्कि उसे वह ठीक भी मालूम हुई थी।

१९२९ और उसके बाद की कृषि-सम्बन्धी मन्दी से निरन्तर बिगड़ी हुई परिस्थिति हद दर्जे को पहुंच गई थी। पिछले कई वर्षों से दुनिया-भर में कृषि-सम्बन्धी भाव ऊंचे की तरफ़ चढ़ते जा रहे थे, और हिन्दुस्तान की कृषि ने भी, जो दुनिया के बाज़ार से बंध चुकी थी, इस चढ़ाव में हिस्सा लिया था। दुनिया-भर के कारखानों और खेतों की तरक़्क़ी में कोई तारतम्य न रहने के कारण सभी जगह कृषि-सम्बन्धी चीज़ों के भाव चढ़ गए थे। हिन्दुस्तान में जैसे-जैसे भाव बढ़ते गए, सरकार की मालगुज़ारी और ज़मींदार का लगान भी बढ़ता गया, जिससे कि असली खेती करनेवाले को इससे कुछ भी फ़ायदा न हुआ। कुल मिलाकर किसानों

गांधीजी के नाम मि० इमरसन का पत्र

प्रिय गांधीजी **शिमला**

आज की तारीख़ के पत्र के लिए धन्यवाद, जिसमें आपने अपने पत्र में लिखे स्पष्टीकरण के साथ विज्ञप्ति के मसविदे को मंज़ूर कर लिया है। कौंसिल-सहित गवर्नर-जनरल ने इस बात को नोट कर लिया है कि अब आगे से उठाये गए मामलों में जांच पर ज़ोर देने का इरादा कांग्रेस का नहीं है। लेकिन जहां आप यह आश्वासन देते हैं कि कांग्रेस हमेशा सीधी लड़ाई से बचने और आपसी बातचीत, समझाने-बुझाने आदि तरीक़ों से ही अपनी शिकायत दूर करने की हमेशा कोशिश करेगी, वहां आप, आगे अगर कांग्रेस कोई कार्रवाई करने का निश्चय करे तो उसकी स्थिति भी साफ़ करवा देना चाहते हैं। मुझे यह कहना है कि कौंसिल-सहित गवर्नर-जनरल आपके साथ इस उम्मीद में शामिल हैं कि सीधी लड़ाई का कोई मौक़ा नहीं आयेगा। जहांतक सरकार की सामान्य स्थिति की बात है, मैं वायसराय के १९ अगस्त के आपको लिखे हुए पत्र का निर्देश करता हूं। मुझे कहना है कि उक्त विज्ञप्ति, आपका आज की तारीख़ का पत्र और यह जवाब सरकार एक-साथ प्रकाशित कर देगी।

आपका

एच० डब्लू० इमरसन

की हालत, कुछ खासतौर पर अच्छे हिस्से को छोड़कर ख़राब ही हो गई। युक्त-प्रान्त में लगान मालगुज़ारी की बनिस्बत बहुत तेज़ी से बढ़ा; इन दोनों की सीधी वृद्धि, इस शताब्दी के पहले तीस वर्षों में क़रीब-क़रीब (मैं अपनी याददाश्त से ही कहता हूं) ५ : १ थी। इस तरह हालांकि ज़मीन से सरकार की आमदनी काफ़ी बढ़ गई, लेकिन ज़मींदार की आमदनी तो उससे भी बहुत ज़्यादा बढ़ी और काश्तकार हमेशा की तरह रोटी का मोहताज ही रहा। यदि कहीं भाव गिर भी जाते थे, या कहीं बारिश न होना, बाढ़ आ जाना, ओले और टिड्डी-वग़ैरा जैसी स्थानीय मुसीबतें आ पड़तीं, तब भी मालगुज़ारी और लगान की रकम वही रहती थी। अगर कुछ छूट भी हुई तो बहुत हिचकिचाहट के बाद थोड़ी-सी, सिर्फ़ उस फ़सल-भर के लिए। अच्छी-से-अच्छी फ़सलों के वक़्त भी लगान की दर बहुत ऊंची मालूम होती थी, तब दूसरे वक़्त में तो साहूकार से कर्ज़ लिये बिना उसकी अदायगी होनी मुश्किल थी। फलतः किसानों का कर्ज़ा बढ़ता ही जा रहा था।

खेती से ताल्लुक़ रखनेवाले सभी वर्ग, ज़मींदार, मालिक किसान और काश्तकार सभी साहूकारों के, जो कि मौजूदा हालतों में गांवों की आदिम-कालीन व्यवस्था का एक आवश्यक कार्य कर रहे थे, फन्दे में फंस गए। इस काम से उन्होंने खूब फ़ायदा उठाया, और उनका जाल ज़मीन पर और ज़मीन से सम्बन्ध रखनेवाले सभी लोगों पर फैल गया। उन पर कोई बन्धन नहीं था। क़ानून उनकी मदद पर था, और अपने इक़रारनामे के एक-एक लफ्ज़ को पकड़कर वे अपने असामियों को ज़रा भी नहीं बख्शते थे। धीरे-धीरे छोटे ज़मीदार और मालिक-किसान, दोनों के पास से ज़मीन उनके हाथों में आने लगी, और साहूकार ही बड़े पैमाने पर ज़मीन के मालिक, बड़े ज़मींदार—ज़मींदार-वर्गीय—बन गए। मालिक-किसान, जो अभी तक अपनी ही ज़मीन पर खेती करता था, अब बनिया-ज़मींदारों या साहूकारों का क़रीब-क़रीब दास-किसान बन गया; जो केवल काश्तकार था उसकी हालत तो और भी ख़राब हो गई। वह तो साहूकार का भी दास बन गया था, या बेदखल किये हुए भूमिहीन मज़दूरों की बढ़ती हुई जमात में शामिल हो गया। ऋण-दाता—लेन-देन करनेवाले व्यक्तियों—का जो अब इस तरह ज़मीन-मालिक भी बन गए, ज़मीन से या काश्तकारों से कोई सजीव सम्पर्क नहीं था। वे आमतौर पर शहर के रहनेवाले थे, जहां वे अपना लेन-देन करते थे, और उन्होंने लगान-वसूली का काम अपने कारिन्दों के सुपुर्द कर दिया, जो इस

काम को मशीनों-जैसी संग-दिली और बेरहमी से करते थे।

किसानों की बढ़ती हुई कर्जदारी ही खुद इस बात का सबूत था कि जमीन की मिल्कियत की प्रणाली ग़लत और अस्थिर है। ज्यादातर लोगों के पास किसी क़िस्म की बचत न थी, न शारीरिक न आर्थिक। उनकी बरदाश्त करने की ताक़त बिल्कुल न थी और वे हमेशा भूखे-नंगे ही रहते थे। किसी भी प्रतिकूल असाधारण घटना के सामने वे टिक नहीं सकते थे। कोई आम बीमारी आ जाती, तो लाखों मर जाते थे। १९२९ और १९३० में सरकार-द्वारा नियुक्त प्रान्तीय बैंकिग जांच-कमेटी ने अन्दाज़ा लगाया था कि (बर्मा-सहित) हिन्दुस्तान का कृषि-सम्बन्धी कर्ज़ा ८६० करोड़ रुपया था। इस आंकड़े में ज़मींदारों, मालिक-किसानों और काश्तकारों का कर्ज़ा शामिल था, मगर मुख्यतः यह असली काश्तकारों का ही कर्जा था। सरकारी आर्थिक नीति बिल्कुल साहूकारों के ही हक़ में रही है। इससे भी भारी क़र्ज़े में और बढ़ती ही हुई है। इस तरह रुपये का अनुपात, हिन्दुस्तान का ज़बरदस्त विरोध होते हुए भी सोलह पेंस के बजाय १८ पेंस कर देने से किसानों का कर्ज़ १२½ फीसदी या लगभग १०७ करोड़ बढ़ गया।[1]

लड़ाई के बाद अचानक चढ़ाव के बाद भाव धीरे-धीरे, लेकिन लगातार, गिरते ही चले गए और देहात की हालत और खराब हो गई। इस सबसे ऊपर १९२९ और बाद के वर्षों का संकट आ गया सो अलग।

---

[1] हिन्दुस्तान की कृषि-सम्बन्धी कर्ज़दारी ८६० करोड़ है; यह भी सम्भवतः बहुत कम अन्दाज़ा है और कम-से-कम, पिछले चार या पांच वर्षों में, यह काफ़ी ज्यादा बढ़ गया होगा। पंजाब प्रान्तीय बैंकिंग जांच-कमेटी ने, १९२९ में पंजाब का आंकड़ा १३५ करोड़ बताया था। लेकिन पंजाब ऋण-मुक्ति बिल की सिलेक्ट-कमेटी की रिपोर्ट में, जो १९३४ में पेश की गई थी, लिखा है कि "कृषकों के कर्ज़े का बोझा बहुत भारी है, बहुत ही कम अन्दाज़ लगायें तो क़रीब २०० करोड़ रुपया होगा।" यह नया आंकड़ा बैंकिंग जांच-कमेटी की रिपोर्ट के आंकड़े से लगभग ५० फ़ीसदी ज्यादा है। अगर दूसरे प्रान्तों के लिए भी इसी हिसाब से बढ़ती मानी जाय तो सारे भारत की मौजूदा (१९३४) कृषि-क़र्ज़दारी १२०० करोड़ से ज्यादा होगी।

१९३१ में युक्तप्रान्त में हमारा कहना यह था कि लगान चीज़ों के भावों के मुताबिक़ रहना चाहिए। यानी, पहले जिस समय १९३१ के बराबर भाव थे, उस वक़्त के लगान के बराबर ही अब भी लगान हो जाना चाहिए। ये भाव लगभग तीस साल पहले, क़रीब १९०१ में थे। यह एक मोटी कसौटी थी, और इससे परखना भी आसान नहीं था, क्योंकि काश्तकार भी कई तरह के थे—जैसे मौरूसी, ग़ैर-मौरूसी, शिकमी वग़ैरा, और सबसे नीचे दरजे के काश्तकारों पर ही मन्दी का सबसे ज्यादा असर पड़ा था। दूसरी कसौटी सिर्फ़ यही हो सकती थी, और यही सबसे मुनासिब भी थी कि खेती का ख़र्चा और निर्वाह-योग्य मज़दूरी निकालकर कितनी रक़म देने की ताक़त काश्तकार की रहती है। मगर इस पिछली कसौटी से जांचने पर जीवन-निर्वाह के खर्च कितने भी कम क्यों न माने जायं, हिन्दुस्तान में बहुत ज्यादा खेत ऐसे निकलेंगे जो बे-मुनाफ़ा हैं, और जैसा कि हमने १९३१ में यक्तप्रान्त में उदाहरणों से साबित किया था कि कई काश्तकार तो अपना लगान अदा कर ही नहीं सकते थे, जबतक कि वे, अगर उनके पास बेचने को कुछ जायदाद हो तो अपनी जायदाद न बेचें या ऊंची दरों पर क़र्ज़ न लें।

हमारी पहली और अस्थायी तजवीज़ यह थी कि सब मौरूसी काश्तकारों के लिए ५० फ़ीसदी आम छूट होनी चाहिए, और जिन काश्तकारों की हालत और भी ख़राब है उनके लिए इससे भी ज़्यादा छूट दी जाय। जब मई १९३१ में गांधीजी युक्तप्रान्त में आये थे और गवर्नर सर मालकम हेली से मिले थे, तो उनमें मतभेद पाया गया, और उनकी राय एक न हो सकी। इसके बाद उन्होंने युक्त-प्रान्त के ज़मींदारों और काश्तकारों के नाम अपीलें निकाली थीं। पिछली अपील में उन्होंने काश्तकारों से कहा कि, उनसे जितना बन सके वे अदा कर दें। उन्होंने एक आंकड़ा भी बताया, जोकि हमारे पहले बताये आंकड़ों से कुछ ऊंचा था। हमारी प्रान्तीय कमेटी ने गांधीजी का ही आंकड़ा मज़ूर कर लिया, मगर इससे मामला सुलझा नहीं, क्योंकि सरकार उस पर राज़ी नहीं हुई।

प्रान्तीय सरकार एक कठिन परिस्थिति में थी। मालगुज़ारी ही उसकी आमदनी का बड़ा ज़रिया था, और अगर वह इसे बिल्कुल उड़ा देती है या बहुत कम कर देती है तो उसका दिवाला ही निकल जाय। मगर, साथ ही उसे किसानों के उभड़ पड़ने का भी काफ़ी अन्देशा था, और जहांतक हो सके वह उन्हें काफ़ी लगान की छूट देकर तसल्ली भी देना चाहती थी। लेकिन दोनों तरफ़ फ़ायदे

में रहना आसान न था। सरकार और किसानों के बीच में ज़मींदार-वर्ग खड़ा था, जोकि आर्थिक दृष्टि से बेकार और ग़ैर-ज़रूरी वर्ग था; और यदि इस वर्ग को नुक़सान पहुंचाना गवारा किया जाय तो सरकार और किसान दोनों को रक्षण और सहायता मिल सकती थी। मगर ब्रिटश सरकार अपनी मौजूदा परिस्थिति में राजनैतिक कारणों से उस वर्ग को नाराज़ नहीं कर सकती थी, क्योंकि जो-जो वर्ग उसका पल्ला पकड़े हुए थे, उनमें वह भी एक था।

आखिर प्रान्तीय सरकार ने ज़मीदार और काश्तकार दोनों के लिए ही छूट की घोषणा की। यह छूट कुछ बड़े पेचीदा तरीक़े पर दी गई थी, और पहले तो यही समझना मुश्किल था कि कितनी छूट दी गई है। मगर यह तो साफ़ ज़ाहिर था कि यह बहुत ही नाकाफ़ी थी। इसके अलावा छूट चालू क़िस्त के लिए ही घोषित की गई, और किसानों के पिछले बक़ाया क़र्ज़े के बारे में कोई भी बात नहीं कही गई। यह तो ज़ाहिर था, कि अगर काश्तकार मौजूदा आधे वर्ष का लगान देने में असमर्थ है, तो वह पिछला बक़ाया या क़र्ज़ा चुकाने में तो और भी ज्यादा असमर्थ होगा। हमेशा ही ज़मींदारों का क़ायदा यह रहा था कि जितनी भी वसूली होती थी, वे पिछले बक़ाया में जमा किया करते थे। काश्तकार की दृष्टि से यह तरीक़ा खतरनाक था, क्योंकि क़िस्त-का कुछ-न-कुछ हिस्सा बाक़ी रह जाने की बिना पर उसके खिलाफ़, चाहे जब, मुक़दमा दायर किया जा सकता था, और उसकी ज़मीन जब चाहे छीनी जा सकती थी।

प्रान्तीय कांग्रेस की कार्यकारिणी बहुत ही कठिन स्थिति में पड़ गई। हमें विश्वास था कि काश्तकारों के साथ बहुत अनुचित बर्ताव हो रहा है, मगर हम कुछ न कर सकते थे। हम किसानों से यह कहने की जिम्मेदारी नहीं लेना चाहते थे कि वे अदायगी न करें। हम बराबर यही कहते रहे कि उनसे जितना बन सके उतना वे अदा कर दें, और आमतौर पर उनकी मुसीबतों में उनके साथ हमदर्दी दिखाते और उन्हें हिम्मत बंधाने की कोशिश करते रहे। हम उनकी इस बात से सहमत थे, कि छूट कम करने पर भी क़िस्त की रक़म उनकी ताक़त के बाहर है।

अब बल-प्रयोग की मशीन, क़ानूनी और ग़ैरक़ानूनी दोनों तरह से, चलने लगी। हज़ारों की तादाद में बेदखली के मुक़दमे दायर होने लगे; गाय, बैल और ज़ाती मिल्कियत क़ुर्क़ होने लगी; ज़मींदारों के कारिन्दे मारपीट करने लगे,

बहुत से किसानों ने क़िस्त का कुछ हिस्सा जमा कर दिया। उनकी राय में, इतना ही देने की उनकी ताक़त थी। बहुत मुमकिन है कि कुछ लोग थोड़ा और दे सकते हों, लेकिन यह बिल्कुल ज़ाहिर था कि ज़्यादातर किसानों के लिए तो यह भी भारी बोझ था। मगर इस थोड़ी-सी अदायगी के कारण वे बच नहीं सके। क़ानून का इंजन तो आगे बढ़ता और रास्ते में जो कुछ आया उसे कुचलता ही गया। हालांकि क़िस्तों का थोड़ा हिस्सा चुका दिया गया था, फिर भी इजराय डिग्री होती गई और पशुओं और व्यक्तिगत सम्पत्ति की क़ुर्की और नीलाम जारी रहा। अगर काश्तकार कुछ भी न देते, तो भी उनकी हालत इससे ज़्यादा खराब न हो सकती थी। बल्कि, उतना रुपया बचा लेने से उनकी हालत कुछ अच्छी ही रहती।

वे बड़ी तादाद में हमारे पास ज़ोरदार शिकायत करते हुए आते थे, और कहते थे कि हमने आपकी सलाह मान ली और जितना हमसे बन सकता था उतना लगान हमने अदा कर दिया, फिर भी यह नतीजा हुआ है। अकेले इलाहाबाद ज़िले में ही कई हज़ार काश्तकार बेदखल कर दिये गए थे, और कई हज़ारों के खिलाफ़ कोई-न-कोई मुक़दमा दायर कर दिया गया था। ज़िला कांग्रेस कमेटी का दफ़्तर दिन-भर परेशान काश्तकारों से घिरा रहता था। मेरा घर भी इसी तरह घिरा रहता था, और अक्सर मुझे लगता था कि मैं यहां से भाग जाऊं और कहीं छिप जाऊं, जहां यह भयंकर दुर्दशा दिखाई न दे। कई काश्तकारों पर, जो हमारे यहां आते थे, चोट के निशान थे, जो ज़मींदारों के कारिन्दों की मार के थे। हमने उनका अस्पताल में इलाज करवाया। वे क्या कर सकते थे ? और हम क्या कर सकते थे ? लेकिन हमने युक्तप्रान्तीय सरकार के पास बड़े-बड़े पत्र भेजे। हमारी कमेटी ने नैनीताल या लखनऊ में प्रान्तीय सरकार से सम्पर्क रखने के लिए श्री गोविन्द-वल्लभ पन्त को अपनी तरफ़ से मध्यस्थ बनाया था। वह सरकार को निरन्तर लिखते रहे; हमारे प्रान्तीय अध्यक्ष, तसद्दुक़ अहमद खां शेरवानी, भी लिखते रहे, और मैं भी लिखता रहा।

जून-जुलाई की बारिश नज़दीक आने से एक और कठिनाई सामने आई। यह खेत जोतने और बोने का मौसम था। क्या बेदखल किसान बेकार बैठे रहें और अपने सामने अपनी ज़मीन खाली पड़ी देखते रहें ? किसान के लिए यह बड़ा मुश्किल था। यह तो उसकी आदत के खिलाफ़ था। कई लोगों की बेदखली

सिर्फ़ कानूनी लिहाज़ से हो गई थी, उन्हें दरअसल हटा नहीं दिया गया था। सिर्फ़ अदालत का फ़ैसला हो गया था, इसके अलावा और कुछ नहीं हुआ था। इस हालत में क्या वे ज़मीन जोत डालें और इस तरह मदाख़लत बेजा का जुर्म कर लें, जिसमें शायद छोटे-मोटे दंगे की भी सम्भावना हो जाय ? यह देखना भी किसान के लिए मुश्किल था कि उसकी पुरानी ज़मीन को कोई दूसरा जोत ले। वे सब हमसे सलाह मांगने आते थे। हम उन्हें क्या सलाह दे सकते थे ?

गरमियों में जब मैं गांधीजी के साथ शिमला गया तो मैंने यह कठिनाई भारत सरकार के एक ऊंचे अधिकारी के सामने रक्खी, और उनसे पूछा कि अगर वह हमारी स्थिति में होते तो क्या सलाह देते ? उनका जवाब आंखें खोल देनेवाला था। उन्होंने कहा कि 'अगर कोई किसान, जिसकी ज़मीन छिन गई है, यह सवाल मुझसे पूछे तो मैं जवाब देने से इन्कार कर दूंगा !' हालांकि ज़मीन पर से किसान का क़ब्ज़ा क़ानूनन हटाया गया था, फिर भी वह उसको सीधा यह कहने को भी तैयार नहीं थे कि वह अपनी ज़मीन न जोते। शिमला के पहाड़ पर बैठकर मिसलों पर इस तरह हुक्म देना, मानो वह गणित की किसी अमूर्त समस्या पर विचार कर रहे हों, उनके लिए तो आसान था। उन्हें या नैनीताल के प्रान्तीय आक़ाओं को आदमियों से साबका नहीं पड़ता था, और न वे आदमियों की मुसीबतों को ही अपनी आंखों से देखते थे।

शिमला में हमसे यह भी कहा गया कि हम किसानों को सिर्फ़ एक ही सलाह दें कि उन्हें पूरी क़िस्त दे देनी चाहिए, या वे जितनी दे सकें उतनी दे देनी चाहिए। हमें क़रीब-क़रीब ज़मींदारों के कारिन्दों के जैसा ही काम करना चाहिए। दर-असल, कुछ ऐसी ही बात हमने उनसे तभी कह दी जबकि हमने उनसे कहा था कि जितना बन सके उतना अदा कर दो। लेकिन, बेशक, हमने साथ ही यह भी कहा था कि उन्हें अपने पशु नहीं बेचने चाहिए, या नया क़र्ज़ा नहीं करना चाहिए। और इसका नतीजा भी जो कुछ हुआ सो हम देख चुके थे।

यह गरमी हम सबके लिए बड़ी विकट थी, और हम मुश्किल से उसे सह रहे थे। हिन्दुस्तान के किसानों में मुसीबत सहने की अद्भुत शक्ति है, और उनपर हमेशा ज़रूरत से ज्यादा मुसीबतें आती भी रही हैं—अकाल, बाढ़, बीमारी और निरन्तर कुचलनेवाली ग़रीबी—और जब वे अधिक सह नहीं सकते, तो चुपचाप, और मानो बिना शिकायत किये, हज़ारों की तादाद में, मर जाते हैं।

उनका मुसीबतों से बचने का मार्ग ही यह रहा है। उनपर समय-समय पर आने-वाली पिछली मुसीबतों से बढ़कर १९३१ में कोई नई बात नहीं हुई थी। मगर, किसी कारण, १९३१ की घटनाएं उन्हें ऐसी न लगीं कि जो क़ुदरत की तरफ़ से आ गई हों और जिन्हें चुपचाप बरदाश्त करना ही चाहिए। उन्होंने विचार किया कि ये तो मनुष्य की लाई हुई हैं, और इसलिए उनका उन्होंने विरोध किया। जो नई राजनैतिक शिक्षा उन्हें मिली थी, वह अपना असर दिखा रही थी। हमारे लिए १९३१ की ये घटनाएं ख़ासतौर पर कष्टकर थीं, क्योंकि किसी हदतक हम अपने-आपको उनके लिए ज़िम्मेदार समझते थे। क्या इस मामले में किसानों ने बहुत-कुछ हमारी सलाह नहीं मानी थी ? लेकिन, फिर भी, मेरा तो पूरा विश्वास है कि अगर उन्हें हमारी निरन्तर सहायता न मिली होती तो किसानों की हालत और भी बदतर हो गई होती। हम उनको संगठित करके रखते थे, और उनकी अपनी एक ताक़त हो गई थी, जिसकी उपेक्षा नहीं हो सकती थी और इसी कारण उन्हें इतनी छूट भी मिल गई, जितनी शायद और तरह उन्हें न मिलती। इन अभागे लोगों पर जो मारपीट और सख़्ती की गई, वह ख़राब ज़रूर थी, मगर उनके लिए कोई नई बात न थी। हां, इस बार कुछ तो उनकी मात्रा में अन्तर था (क्योंकि इस बार पहले से अधिक मात्रा में की गई थी) और कुछ उसका प्रकाशन भी बढ़कर हुआ था। आमतौर पर, गांवों में जमींदारों के कारिन्दों का काश्तकारों से दुर्व्यवहार करना या उन्हें बहुत त्रास देना भी साधारण बात समझी जाती है, और पिटनेवाले की मौत ही न हो जाय तो, वहां छोड़कर बाहर किसीको उसकी ख़बर तक नहीं होती। मगर हमारे संगठन और किसानों की जागृति के कारण अब ऐसा नहीं हो सकता था, क्योकि इससे किसानों में ख़ूब एका हो गया था और वे हर बात की रिपोर्ट कांग्रेस के दफ़्तर में करते थे।

जैसे-जैसे गरमी का मौसम बीतता गया, ज़बरदस्ती वसूल करने की कोशिश कुछ ढीली हो गई और बल-प्रयोग की कार्रवाइयां कम पड़ने लगीं। अब हमें बहुसंख्यक बेदख़ल किसानों की फ़िक्र थी। उनके लिए क्या करना चाहिए ? हम सरकार पर ज़ोर डाल रहे थे कि वह उन्हें उनके खेत वापस दिलाने में मदद करें, जोकि ज्यादातर ख़ाली ही पड़े थे। इससे भी ज़्यादा ज़रूरी प्रश्न भविष्य का था। जो छूट मिली थी वह पिछली फ़सल के लिए ही थी, और भविष्य के लिए अभीतक कुछ भी तय नहीं हुआ था। अक्तूबर से अगली क़िस्त की वसूली का

वक़्त आ जायगा । तब क्या होगा ? क्या हमें इसी भयंकर घटना-चक्र में से फिर गुज़रना पड़ेगा ? प्रान्तीय सरकार ने इसपर विचार करने के लिए एक छोटी-सी कमेटी नियुक्त की, जिसमें उसीके अधिकारी और प्रान्तीय कौंसिल के कुछ ज़मींदार मेम्बर थे । उसमें किसानों की तरफ़ से कोई प्रतिनिधि न था । अन्तिम क्षण, जबकि कमेटी ने काम भी शुरू कर दिया, सरकार ने हमारी तरफ़ से गोविन्दवल्लभ पन्त से उसमें शामिल होने को कहा । उन्होंने इस आख़िरी वक़्त में उसमें शामिल होने में कुछ फ़ायदा न देखा, क्योंकि महत्त्वपूर्ण मामलों के निर्णय तो किये ही जा चुके थे ।

युक्तप्रान्तीय कांग्रेस कमेटी ने भी किसानों-सम्बन्धी पिछले और तात्कालिक कई आंकड़े इकट्ठा करने और सामयिक परिस्थिति पर अपनी रिपोर्ट देने के लिए एक छोटी-सी कमेटी बिठाई थी । इस कमेटी ने एक बड़ी रिपोर्ट पेश की, जिसमें युक्तप्रान्त के किसानों और खेती की परिस्थिति का बड़ी योग्यतापूर्ण निरीक्षण किया गया था और भावों की भारी कमी के कारण आई हुई दुर्दशा का विश्लेषण किया गया था । उसकी सिफ़ारिशें बड़ी व्यापक थीं । उस रिपोर्ट में जो पुस्तक-रूप में प्रकाशित की गई थी, गोविन्दवल्लभ पन्त, रफ़ी अहमद क़िदवई और वेंकटेशनारायण तिवारी के दस्तख़त थे ।

इस रिपोर्ट के निकलने के बहुत पहले ही गांधीजी गोलमेज़ परिषद् के लिए लन्दन जा चुके थे। वह बड़ी हिचकिचाहट के बाद गये थे, और इस हिचकिचाहट का एक कारण युक्तप्रान्त के किसानों की परिस्थिति भी थी। वास्तव में उन्होंने प्रायः यह तय कर लिया था कि अगर वह गोलमेज़-परिषद् के लिए लन्दन न गये, तो यू० पी० आयेंगे और इस पेचीदा सवाल को हल करने में जुट पड़ेंगे । सरकार के साथ शिमला में जो आख़िरी बातचीत हुई थी, उसमें और बातों के साथ युक्त-प्रान्त की बात भी शामिल थी । उनके इंग्लैण्ड रवाना हो जाने के बाद भी हम उन्हें परिस्थितियों में होनेवाले नये-नये परिवर्तनों की पूरी-पूरी सूचना देते रहते थे । पहले एक या दो महीने तक तो मैं उन्हें हर सप्ताह हवाई और मामूली, दोनों डाक से पत्र लिखा करता था । उनके प्रवास के अन्तिम समय में मैं इतने नियमित रूप से नहीं लिखता था, क्योंकि हमें आशा थी कि वह जल्दी ही लौट आयेंगे। उन्होंने हमसे कहा था कि वह ज्यादा-से-ज्यादा तीन महीने में, यानी नवम्बर में किसी वक़्त, लौट आयेंगे और हमें उम्मीद थी कि तबतक हिन्दुस्तान में कोई संकट

खड़ा न होगा। सबसे बड़ी बात तो यह थी कि उनकी ग़ैरहाजिरी में हम सरकार के साथ संघर्ष या संकट मोल लेना नहीं चाहते थे। मगर, जब उनके आने में देर लग गई और किसानों की समस्या तेज़ी से पेचीदा होने लगी, तब हमने उन्हें एक लम्बा तार भेजा, जिसमें ताज़ी-से-ताज़ी घटनाएं लिखीं और उन्हें सूचित किया कि किसी तरह हम कुछ-न-कुछ करने के लिए मजबूर हो रहे हैं। उन्होंने तार से जवाब दिया कि इस मामले में मैं लाचार हूं और इस समय कुछ नहीं कर सकता और यह भी कह दिया कि जैसा हम लोगों को ठीक मालूम हो वैसा ही करते जायं।

प्रान्तीय कार्यकारिणी, अखिल भारतीय कार्य-समिति को भी हर बात की इत्तिला देती रही। मैं खुद उसमें अपनी जानकारी से बातें बताने को मौजूद था ही, मगर चूंकि मामला गम्भीर होता जाता था, कमेटी ने हमारे प्रान्तीय सदर तसद्दुक़ अहमद खां शेरवानी और इलाहाबाद ज़िला कमेटी के प्रेसिडेण्ट पुरुषोत्तमदास टण्डन से भी बातचीत की।

सरकार की किसान-सम्बन्धी कमेटी ने अपनी रिपोर्ट निकाली, और कुछ सिफ़ारिशें भी कीं, जो पेचीदा और गोलमोल थीं और उसमें बहुत बातें स्थानीय अफ़सरों के ऊपर छोड़ दी गई थीं। कुल मिलाकर उसमें जिस छूट की तजवीज़ की गई थी, वह पिछले मौसम की छूट से ज़्यादा थी, पर यह छूट भी काफ़ी नहीं थी। जिन आधारों पर उसमें सिफ़ारिशें की गई थीं उनपर, और सिफ़ारिशों के स्वरूप पर भी, ऐतराज़ किया गया। इसके सिवा, रिपोर्ट में सिर्फ़ आगे का ही विचार किया गया था, मगर पिछले बक़ाया, क़र्ज़, और बहुसंख्यक बे-दखल किसानों के सवाल पर कुछ नहीं कहा गया था। अब हम क्या करते? जिस तरह हमने पिछले चैत-बैसाख में किसानों से कहा था कि वे जितना बने उतना अदा कर दें, क्या अब भी हम किसानों को वही सलाह दें, और फिर वही नतीज़े देखें? हमने देख लिया था कि वह सलाह सबसे ज़्यादा बेवक़ूफ़ी की थी, और फिर से नहीं दी जा सकती थी। या तो किसानों को चाहिए कि अगर वे दे सकें तो पूरी रक़म अदा करें जो अब छूट काटकर उनसे मांगी जा रही है, या वे कुछ भी न दें और देखें कि क्या होता है। रक़म का कुछ हिस्सा दे देने से वे न इधर के रहते, न उधर के। काश्तकारों का, जितना वे निकाल सकते हैं, सारा रुपया वग़ैरा भी चला जाता है और उनकी ज़मीन भी छिन जाती है।

हमारी प्रान्तीय कार्यकारिणी ने परिस्थिति पर बहुत समय तक और

गम्भीरता के साथ विचार किया और निश्चय किया कि सरकार की तजवीज़ें हालांकि पिछली गरमी की छूट से ज्यादा है, लेकिन इतनी मुआफ़िक नहीं हैं कि उन्हें इस रूप में स्वीकार कर लिया जाय। उनमें परिवर्तन करके उन्हें किसानों के लिए हितकर बनाये जाने की फिर से भी सम्भावना थी, और इसलिए हमने सरकार पर ज़ोर डाला। मगर हमें महसूस हो रहा था कि अब कोई आशा नहीं है, और जिस संघर्ष को हम टालना चाहते थे, वह कुछ तेज़ी से आ रहा है। प्रान्तीय सरकार और भारत सरकार का कांग्रेस-संगठन की तरफ़ लगातार रुख बदलता और सख्त होता जा रहा था। हमारे बड़े-बड़े पत्रों का हमें ज़रा-ज़रा-सा जवाब मिल जाया करता था, जिसमें कह दिया जाता था कि हम स्थानीय अफ़सरों से लिखा-पढ़ी करें। यह स्पष्ट था कि सरकार की नीति हमें किसी प्रकार से भी प्रोत्साहित करने की नहीं थी। सरकार की एक मुसीबत और मुश्किल यह भी थी कि अगर हम लोगों के कहने से किसानों को छूट दे दी जाती तो इससे कांग्रेस की प्रतिष्ठा बढ़ जाने की सम्भावना थी। पुरानी आदत के कारण वह सिर्फ़ प्रतिष्ठा की भाषा में ही सोच सकती थी, और यह खयाल उसे असह्य हो रहा था कि जनता छूट दिलाने की नामवरी कांग्रेस को देने लगे, और वह इससे जहांतक हो सके, बचना चाहती थी।

इस बीच हमारे पास दिल्ली और दूसरी जगहों से ये रिपोर्टें आ रही थीं कि भारत सरकार सारे कांग्रेस-आन्दोलन पर ज़ल्दी ही एक ज़बरदस्त हमला शुरू करनेवाली है। उस मशहूर यहूदी कहावत के अनुसार, अब सरकार की छोटी-सी अंगुली ज़्यादा ज़ोर से काम करनेवाली है और बिच्छू के डंक हमसे तोबा करानेवाले हैं। कांग्रेस के खिलाफ़ क्या-क्या करने की तजवीज़ है इसकी बहुत-सी तफ़सील भी हमें मिल गई। मेरी समझ में शायद नवम्बर में किसी वक़्त, डाक्टर अन्सारी ने मेरे पास और कांग्रेस के सदर वल्लभभाई पटेल के पास भी अलग से एक ख़बर भेजी, जिससे हमें पहले मिले हुए समाचारों की पुष्टि होती थी, और जिसमें खासकर सीमाप्रान्त और युक्तप्रान्त के लिए प्रस्तावित आर्डिनेंसों का ब्यौरा भी था। मेरा खयाल है कि उस समय तक शायद बंगाल को एक नये आर्डिनेंस की सौग़ात मिल चुकी थी, या मिलने ही वाली थी। कई हफ़्ते बाद जब नये आर्डिनेंस निकले, मानों वे किसी नई परिस्थिति का एकदम सामना करने के लिए निकले हों, तब डाक्टर अन्सारी की खबरें और उनकी तफ़सीलें भी

बहुत हद तक सच्ची निकलीं। आमतौर से यही माना गया कि सरकार ने गोलमेज़-कान्फ्रेंस के आशा से अधिक बढ़ जाने के कारण अपना हमला रोक रक्खा था। ऐसे समय में जबकि गोलमेज़-कान्फ्रेंस के मेम्बर आपस में मीठी-मीठी बे-मतलब की कानाफूसी कर रहे थे, सरकार हिन्दुस्तान में आम दमन को टालना चाहती थी।

इसलिए तनातनी बढ़ती गई, और हम सभी को महसूस हो रहा था कि घटनाए हम-जैसे छोटे-छोटे लोगों की उपेक्षा करती हुई अपने-आप आगे बढ़ रही है, और होनहार को कोई रोक न सकेगा। हम तो इतना ही कर सकते थे कि हम उनका मुकाबला करने के लिए, और जीवन के उस नाटक में जो शायद दुःखान्त होनेवाला था, व्यक्तिगत और सामूहिक रूप से अपना हिस्सा ठीक तरह से बंटाने के लिए अपने-आपको तैयार कर लें। मगर हमें उम्मीद थी कि परस्पर-विरोधी शक्तियों के संघर्ष का यह नाटक शुरू होने से पहले गांधीजी लौट आयेंगे और वह लड़ाई या सुलह की ज़िम्मेदारी अपने कन्धों पर उठा लेंगे। उनकी ग़ैरहाज़िरी में इस बोझ को उठाने के लिए हममे से कोई भी तैयार नही था।

युक्तप्रान्त में सरकार ने एक और काम किया, जिससे देहाती हलकों में हलचल मच गई। काश्तकारों को छूट की पर्चियां बांट दी गई, जिनमें छूट की रक़म बताई गई थी और यह धमकी शामिल थी कि अगर इसमें दिखाई हुई रक़म एक महीने में (किसी-किसी पर्ची में इससे भी कम वक़्त दिया गया था) जमा न की गई तो छूट रद कर दी जायगी और पूरी रक़म क़ानूनी तरीके से, जिसका मतलब होता है बेदख़ली, कुर्क़ी वग़ैरा से वसूल कर ली जायगी। मामूली बरसों में तो काश्तकार अपना लगान दो या तीन महीनों में क़िस्तों से अदा कर देते हैं। अबकी यह मामूली मियाद भी नही दी गई। किसानों के सामने एकदम नया संकट खड़ा हो गया, और पर्चियां हाथ में लेकर काश्तकार इधर-उधर उसका विरोध और शिकायत करते हुए, सलाह पूछने के लिए, दौड़ने लगे। सरकार या उसके स्थानीय अफ़सरों की तरफ़ से यह मूर्खताभरी धमकी थी। बाद को हमसे कहा गया था कि इसको सचमुच अमल में लाने का कोई इरादा नहीं था। मगर इससे शान्तिपूर्ण समझौते का मौक़ा बहुत कम रह गया, और अनिवार्य संघर्ष एक के बाद दूसरा क़दम रखता पास आने लगा।

अब तो किसानों को और कांग्रेस को ज़ल्दी ही फ़ैसला करना ज़रूरी था।

हम गांधीजी के लौटने तक अपना फ़ैसला नहीं रोक सकते थे। हमें अब क्या करना चाहिए ? क्या सलाह देनी चाहिए ? हम यह जानते थे कि कई किसान इस छोटी-सी मियाद में अपनी रक़म अदा नहीं कर सकते तो क्या यह उचित बात होती कि हम उन किसानों से कह देते कि वे अपनी रक़म अदा कर दें ? और फिर जो बक़ाया उनकी तरफ़ था, उसके बारे में क्या होगा ? अगर उनसे मांगी हुई रक़म भी चुका दें, जो बक़ाया में जमा कर ली जायगी, तो भी क्या वे बेदखल किये जाने के खतरे से बच जायंगे ?

इलाहाबाद कांग्रेस कमेटी ने अपनी मज़बूत किसान-सेना के साथ लड़ाई की तैयारी की। उसने फ़ैसला किया कि उसके लिए किसानों को अदायगी करने की सलाह देना सम्भव नहीं है। मगर यह कह दिया गया कि प्रान्तीय कार्यकारिणी और अखिल-भारतीय कार्य-समिति की बाक़ायदा मंजूरी के बिना वह कोई आक्रामक कार्य नहीं कर सकती। इसलिए मामला कार्य-समिति के सामने पेश किया गया, और प्रान्त और ज़िले की तरफ़ से अपना मामला समझाने के लिए तसद्दुक़ अहमद खां शेरवानी और पुरुषोत्तमदास टण्डन दोनों ही मौजूद रहे। हमारे सामने जो सवाल था वह सिर्फ़ इलाहाबाद ज़िले से ही वास्ता रखता था और वह शुद्ध आर्थिक मामला था, मगर हम जानते थे कि उस समय जैसी राजनैतिक तनातनी हो रही थी उसमें उसका परिणाम व्यापक हो सकता था। क्या इलाहाबाद ज़िला कांग्रेस कमेटी को इजाज़त दे दी जाय कि वह फ़िलहाल, जबतक कि आगे समझौते की बातचीत न हो ले और ज़्यादा अच्छी शर्तें न मिल जायं तबतक के लिए, लगान या मालगुज़ारी जमा न करने की सलाह किसानों को दे। यह एक छोटा मामला था और हम उसकी मर्यादा में ही रहना चाहते थे, लेकिन क्या हम ऐसा कर सकते थे ? कार्य-समिति गांधीजी के लौटने से पहले सरकार से लड़ पड़ने की स्थिति से बचने के लिए अपनी शक्ति-भर कोशिश करना चाहती थी, और खासकर वह एक ऐसी आर्थिक समस्या पर तो लड़ाई को टालना ही चाहती थी जिसके वर्ग-समस्या बन जाने की सम्भावना थी। कमेटी यद्यपि राजनैतिक दृष्टि से आगे बढ़ी हुई थी, लेकिन सामाजिक दृष्टि से तो आगे बढ़ी हुई नहीं थी, और उसे किसान और ज़मींदारों का आपसी झगड़ा खड़ा होना पसन्द न था।

चूंकि मेरा झुकाव समाजवाद की तरफ़ था, मुझे आर्थिक और सामाजिक मामलों में सलाह देने के लिए अधिक भरोसे का आदमी नहीं समझा गया। मुझे

खुद यह अनुभव हो रहा था कि कार्य-समिति को यह मालूम हो जाना चाहिए कि युक्तप्रान्त की परिस्थिति ही ऐसी है कि हमारे ज्यादा नरम पक्ष के मेम्बर भी, संघर्ष करने की पूरी अनिच्छा रखते हुए भी, घटनाओं से मजबूर होकर संघर्ष करना चाहते हैं, इसलिए मैंने हमारी कमिटी की मीटिंग में हमारे प्रान्त से तसद्दुक अहमद खां शेरवानी और दूसरे लोगों के आने को बहुत अच्छा समझा, क्योंकि शेरवानी, जो हमारे प्रान्त के सभापति थे, किसी भी प्रकार उग्र नहीं थे। स्वभाव से, राजनैतिक और सामाजिक दोनों रूप में वह कांग्रेस में नरम पक्ष के समझे जाते थे, और साल के शुरू में उनके विचार युक्तप्रान्तीय कांग्रेस कमेटी की किसानों-सम्बन्धी नीति के विरुद्ध हो गये थे। मगर जब वह खुद कमेटी के सदर बन गए और उन्हें खुद बोझ उठाना पड़ा, तो उन्होंने समझ लिया कि हमारे लिए दूसरा कोई चारा ही नहीं है। प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी ने बाद में जो-जो भी क़दम उठाया वह उनके घने-से-घने सहयोग के साथ, और अक्सर प्रधान की हैसियत से उन्हींकी मार्फ़त, उठाया।

इसलिए कार्य-समिति के सामने तसद्दुक़ अहमद खां शेरवानी की बहस से मेम्बरों पर बड़ा असर पड़ा—मैं जितना असर डाल सकता था, उससे कहीं ज्यादा। बहुत हिचकिचाहट के बाद, लेकिन यह महसूस करके कि वह उससे इन्कार नहीं कर सकते हैं, उन्होंने युक्तप्रान्तीय कमेटी को अधिकार दे दिया कि वह अपने किसी भी इलाक़े में लगान और मालगुज़ारी की अदायगी को स्थगित करने की इजाज़त दे सकती है। मगर साथ ही उन्होंने युक्तप्रान्त के लोगों पर ज़ोर दिया कि हो सके तो वे इस क़दम को न उठायें, और प्रान्तीय सरकार से समझौते की बातचीत चलाते रहें।

कुछ समय तक यह बातचीत चलाई भी गई; लेकिन नतीजा कुछ भी नहीं हुआ। मेरा खयाल है कि इलाहाबाद जिले की छूट मे थोड़ा-सा इज़ाफ़ा कर दिया गया। साधारण परिस्थिति में शायद यह संभव था कि आपस में समझौता हो जाता या खुला संघर्ष रुक जाता। सरकार और किसानों का मत-भेद कम होता जा रहा था। मगर परिस्थिति बहुत ही असाधारण थी, और सर-कार और कांग्रेस दोनों ही तरफ़ से यह भावना थी कि जल्दी ही संघर्ष होना लाज़िमी है, और हमारी निपटारे की बातचीत की तह में कोई असलियत नहीं थी। दोनों तरफ़ से जो-जो क़दम उठाया जाता, उसमें ऐसा ही दिखता था कि यह अपने लिए

अच्छी स्थिति पैदा कर लेने की इच्छा से उठाया जा रहा है। इसके लिए सरकार की तैयारियां तो गुप्तरूप से हो सकती थीं, और दरअसल सोलहों आना हो भी गई थीं। लेकिन हमारी शक्ति तो बिलकुल लोगों के नैतिक बल पर ही टिकी हुई थी, और इसकी तैयारी गुप्त कार्रवाइयों से नहीं हो सकती थी। हममें से कुछ लोगों ने तो, और मैं भी उन्हीं अपराधियों में से था, सार्वजनिक भाषणों में यह बार-बार कहा था कि आज़ादी की लड़ाई हरगिज़ खत्म नहीं हुई है, और हमें निकट-भविष्य में कई परीक्षाओं और कठिनाइयों से गुज़रना पड़ेगा। हमने लोगों से कहा कि वे इसके लिए हमेशा तैयार रहें, और इसी कारण हमें लड़ाई छेड़नेवाला कह कर हमारी आलोचना की गई थी। वास्तव में मध्यवर्ग के कांग्रेसी कार्यकर्त्ताओं में वस्तुस्थिति का मुक़ाबला करने की साफ़ अनिच्छा मालूम होती थी, और उन्हें आशा थी कि किसी-न-किसी तरह संघर्ष टल जायगा। गांधीजी का लन्दन में रहना भी अखबार पढ़नेवाले लोगों को चक्कर में डाले हुए था। मगर पढ़े-लिखे लोगों की इस निष्क्रियता के होते हुए भी घटनाएं आगे ही बढ़ती गईं, खासकर बंगाल, सीमाप्रान्त और युक्तप्रान्त में—और नवम्बर में कई लोगों को यह दीखने लगा कि संकट निकट आ गया है।

युक्तप्रान्तीय कांग्रेस कमेटी ने, इस डर से कि अचानक न जाने कैसी घटनाएं घट जायं, लड़ाई शुरू होने की अवस्था के लिए कुछ आन्तरिक व्यवस्था कर डाली। इलाहाबाद-कमेटी ने एक बड़ी किसान-कान्फ्रेंस बुलाई, जिसमें एक अस्थायी प्रस्ताव पास किया गया कि अगर ज़्यादा अच्छी शर्तें न मिल सकेंगी, तो उन्हे किसानों को लगान और मालगुज़ारी रोक लेने की सलाह देनी पड़ेगी। इस प्रस्ताव से प्रान्तीय सरकार बहुत नाराज़ हुई, और इसीको, 'लड़ाई का पर्याप्त कारण' समझकर उसने हमारे साथ आगे कोई भी बातचीत करने से इन्कार कर दिया। इस रुख का प्रान्तीय कांग्रेस पर भी असर पड़ा, और उसने इसको आनेवाले तूफ़ान का इशारा समझा और जल्दी-जल्दी अपनी तैयारियां करनी शुरू कीं। इलाहाबाद में एक और किसान-कान्फ्रेंस हुई, जिसमें पहले से भी ज़्यादा तेज़ और निश्चित प्रस्ताव पास किया गया। इसमें किसानों से कहा गया कि वे आगे और निपटारे की बातचीत होने और ज़्यादा अच्छी शर्तें मिलने तक के लिए अदायगी रोक लें। उस समय भी, और अन्त तक, हमारी लड़ाई का रुख यह नहीं था कि 'लगान न दिया जाय' मगर यह था कि 'मुनासिब लगान दिया जाय'।

और हम लगातार बातचीत करने की दरख्वास्त देते ही रहे, हालांकि दूसरा पक्ष ऐंठ मे दूर हट गया था। इलाहाबाद का प्रस्ताव ज़मींदारों और काश्तकारों दोनों पर लागू होता था, मगर हम जानते थे कि अमल में वह काश्तकारों और कुछ छोटे ज़मींदारों पर ही लागू होगा।

नवम्बर १९३१ के अन्त और दिसम्बर के आरम्भ में युक्तप्रान्त में यह परिस्थिति थी। इस बीच बंगाल और सीमाप्रान्त में भी घटनाएं सीमा तक पहुंच चुकी थीं, और बंगाल में एक नया और भयंकर रूप से व्यापक आर्डिनेंस जारी कर दिया गया था। ये सब लड़ाई के लक्षण थे, समझौते के नहीं; और प्रश्न उठता था कि गांधीजी कब लौटेंगे? सरकार ने जिस बड़े प्रहार की तैयारी बहुत अरसे से कर रक्खी थी, उसके शुरू कियें जाने से पहले क्या गांधीजी हिन्दुस्तान आ पहुंचेंगे? या तो यहां पहुंचकर यह देखेंगे कि उनके कई साथी जेल जा चुके हैं और लड़ाई चालू हो गई है? हमें मालूम हुआ कि वह इंग्लैण्ड से चल चुके हैं और महीने के अन्तिम हफ़्ते में बम्बई पहुंचेंगे। हममें से हरेक मुख्य कार्यालय का या प्रान्त का हर प्रमुख कार्यकर्त्ता, उनके लौटने तक संघर्ष को टालना चाहता था। लड़ाई की दृष्टि से भी हमारे लिए यह उचित था कि हम उनसे मिल ले, और उनकी सलाह और हिदायतें पा लें। पर यह एक ऐसी दौड़ थी, जिसमें हम मजबूर थे। इसको रोक रखना या शुरू करना तो ब्रिटिश सरकार के हाथ मे था।

हो गया और नज़रबन्दों ने जेल के अधिकारियों पर हमला कर दिया, इसलिए उनपर मज़बूरन जेलवालों को गोली चलानी पड़ी थी। इस गोलीकाण्ड से एक नज़रबन्द मारा गया और कई घायल हुए। स्थानीय सरकार द्वारा की गई जांच में, जो उसके बाद ही फ़ौरन हुई थी, जेलवालों को इस गोलीकाण्ड और इसके नतीजों से बिल्कुल बरी कर दिया। मगर इस घटना में कई विचित्र बातें हुई, और कई ऐसे तथ्य ऐसे प्रकट हो गए, जो सरकारी बयान से मेल नहीं खाते थे, और जगह-जगह से इसकी ज़्यादा जांच करने की ज़ोरदार और ज़बरदस्त मांग की गई। हिन्दुस्तान के आम सरकारी रिवाज़ के खिलाफ़ बंगाल-सरकार ने एक ऐसी जांच-कमेटी बैठाई, जिसमें सब ऊंचे-ऊंचे जुडीशियल अफसर ही थे। वह शुद्ध सरकारी कमेटी थी, लेकिन उसने गवाहियां लीं और मामले पर पूरा विचार किया, और उसकी रिपोर्ट नज़रबन्दी जेल के मुलाज़िमों के खिलाफ़ हुई। यह मान लिया गया कि क़ुसूर ज्यादातर जेल के अधिकारियों का ही था, और गोलीकाण्ड बिल-कुल अनुचित था। इस तरह सरकार की जो पहले विज्ञप्तियां निकली थी वे बिल्कुल झूठी साबित हुई।

हिजली की घटना कोई बहुत असाधारण घटना नहीं थी। बदक़िस्मती से ऐसी घटनाएं हिन्दुस्तान में कम नहीं होतीं और जेल के अन्दर दंगों के होने की और जेल में हथियारबन्द वार्डरों और दूसरे लोगों द्वारा निहत्थे और बेबस कैदियों के बहादुरी से दबाये जाने की खबरें अक्सर पढ़ने को मिला करती हैं। हिजली में असाधारण बात यही हुई कि उससे ऐसी घटनाओं के बारे में सरकारी विज्ञ-प्तियों के बिल्कुल एकतरफ़ापन और झूठेपन की पोल खुल गई और वह भी सर-कारी रिपोर्ट से ही। पहले ही सरकार की विज्ञप्तियों का कोई भरोसा नहीं किया जाता था, मगर अब तो उनका पूरा-पूरा भण्डाफोड़ ही हो गया।

हिजली-काण्ड के बाद तो जेल में दंगे, जिनमें जेलवालों द्वारा कहीं गोली चलाई जाती थी और कहीं दूसरे प्रकार का कोई बल-प्रयोग किया जाता था, सारे हिन्दुस्तान में बड़ी तादाद में होने लगे। अचरज की बात यह है कि इन जेल के दंगों में चोट सिर्फ़ क़ैदियों को ही लगती मालूम होती थी। क़रीब-क़रीब हर मामले में एक सरकारी वक्तव्य निकलता था, जिसमें क़ैदियों पर कई बेजा हरक़तों का इलज़ाम लगाया जाता था, और जेल के अधिकारियों को बचाया जाता था। बहुत ही कम उदाहरण ऐसे होंगे जिनमें जेलवालों को महकमे की तरफ़ से

कोई सज़ा दी गई होगी। पूरी जांच करने की तमाम मांगों के लिए बिल्कुल इन्कार कर दिया गया, सिर्फ़ महकमे की एकतरफ़ा जांच ही काफ़ी समझी जाती। साफ़ ज़ाहिर था कि सरकार ने हिजली से अच्छी तरह सबक़ सीख लिया था कि उचित और निष्पक्ष जांच कराने में ख़तरा रहता है और दोष देनेवाला ही खुद अपने इलज़ाम का सबसे अच्छा जज होता है। तो फिर इसमें भी क्या ताज्जुब है कि लोगों ने भी हिजली से सबक सीख लिया हो, कि सरकारी विज्ञप्तियों में वही बात कही जाती है जो सरकार हमसे कहना चाहती है, न कि वह जो दरअसल हुई होती है ?

चटगांव की घटना तो इससे भी ज़्यादा गम्भीर थी। एक आतंकवादी ने किसी एक मसलमान पुलिस-इन्सपेक्टर को गोली से मार डाला। इसके बाद ही एक हिन्दू-मुस्लिम दंगा हो गया, या उसे ऐसा नाम दिया गया। मगर यह तो जाहिर था कि मामला इससे बहुत ज़्यादा था और वह मामूली दंगों से कुछ भिन्न था। यह साफ़ था कि आतंकवादी के काम का साम्प्रदायिकता से कोई संबंध न था। वह हमला तो हिन्दू या मुसलमान का खयाल न रखते हुए एक पुलिस अफ़सर पर हुआ था। फिर भी यह तो सही ही है कि बाद में हिन्दू-मुसलमानों में कुछ झगड़ा भी हो गया। यह झगड़ा कैसे शुरू हुआ, उसके होने का कारण कौन-सा था, यह साफ नहीं बताया गया, हालांकि ज़िम्मेदार सार्वजनिक व्यक्तियों ने इस मामले में बहुत संगीन इलज़ाम लगाये थे। इस दंगे की एक और विशेषता यह थी कि इसमें दूसरी जातियों के निश्चित समुदायों ने—एंग्लो-इण्डियनों ने और खासकर रेलवे के मुलाज़िमों ने या दूसरे सरकारी मुलाज़िमों ने भी—जिनके बारे में कहा जाता है कि उन्होंने बड़े पैमाने पर बदला लेने के कार्य किये—हिस्सा लिया। जे० एम० सेनगुप्त और बंगाल के दूसरे मशहूर नेताओं ने चटगांव की घटनाओं के सम्बन्ध में कई निश्चित आरोप लगाये, और उन्होंने जांच करने या मानहानि का मुक़दमा चलाने तक की चुनौती दी मगर फिर भी सरकार ने कोई कार्रवाई न करना ही मुनासिब समझा।

चटगांव की इन सब असाधारण घटनाओं से दो ख़तरनाक संभावनाओं की तरफ़ विशेष ध्यान गया। आतंकवाद की कई दृष्टियों से निंदा की गई थी; और आधुनिक क्रान्तिकारी पद्धति भी उसको बुरा बताती थी। मगर उसका एक फल ऐसा भी हो सकता था, जिससे मुझे खासकर भय लगता था। वह संभा-

वना थी हिन्दुस्तान में इक्के-दुक्के और साम्प्रदायिक हिंसा-काण्डों का फैलना। हालांकि मै हिंसा-काण्डों को नापसन्द करता हूं, लेकिन मैं उनसे डर जानेवाला 'डरपोक हिन्दू' नहीं हूं। मगर मै यह ज़रूर महसूस करता हूं कि हिन्दुस्तान में फूट फैलानेवाली ताक़तें अभीतक भी बहुत बढ़ी-चढ़ी हैं, और अगर ऐसे इक्के-दुक्के हिंसा-काण्ड होने लगेंगे तो उनसे उन ताक़तों को मदद मिल जायगी, और एक संयुक्त और अनुशासनयुक्त राष्ट्र बनाने का काम आज से भी ज़्यादा मुश्किल हो जायगा। जब लोग मज़हब के नाम पर या स्वर्ग जाने के लिए क़त्ल करते हैं, तो ऐसे लोगों को आतंककारी हिंसा का अभ्यास करा देना बड़ी खतरनाक बात होगी। राजनैतिक ख़ून करना बुरा है। लेकिन राजनैतिक आतंकवादी को समझाकर अपनी राय का बना लिया जा सकता है, क्योंकि शायद उसका लक्ष्य सांसारिक है, और व्यक्तिगत नहीं बल्कि राष्ट्रीय है। मगर धर्म के नाम पर ख़ून करना तो और भी बुरा है, क्योंकि उसका सम्बन्ध इस लोक से नहीं, परलोक में सद्गति पाने से है, और ऐसे मामलों मे दलील से समझाने की भी कोई कोशिश नही कर सकता। कभी-कभी तो दोनों के बीच का अन्तर बहुत ही बारीक रहता है और क़रीब-क़रीब मिट-सा जाता है, और राजनैतिक हत्या, एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया से, अर्द्ध-धार्मिक बन जाती है।

चटगांव में एक आतंकवादी द्वारा एक पुलिस-अफ़सर की हत्या किये जाने और उसके नतीजों से हरेक को बहुत साफ़-साफ़ यह अनुभव होने लगा कि आतंककारी हलचलों से बड़ी खतरनाक बातें पैदा हो सकती हैं और हिन्दुस्तान की एकता और आज़ादी के काम को बेहद नुक़सान पहुंच सकता है। इसके बाद जो बदला लेने की घटनाएं हुईं उनसे भी हमें मालूम हुआ कि हिन्दुस्तान में फ़ासिस्ट तरीक़े पैदा हो चुके हैं। तबसे ऐसी बदला लेने की घटनाएं, खासकर बंगाल में, बहुत हुई हैं और यह फ़ासिस्ट मनोवृत्ति यूरोपियन और एंग्लो-इंडियन जातियों में तो निःसन्देह फैल चुकी है। हिन्दुस्तान में ब्रिटिश साम्राज्यवाद के कई पिछलग्गुओं में भी यह मनोवृत्ति घर कर चुकी है।

पर यह एक विचित्र बात है, कि खुद आतंककारियों का या उनमें से कई लोगों का भी यही फासिस्ट दृष्टिकोण है। लेकिन उसकी दिशा कुछ दूसरी है। उनका राष्ट्रीय फासिस्टवाद यूरोपियनों, एंग्लो-इण्डियनों और कुछ ऊंचे श्रेणीवाले हिन्दुस्तानियों के साम्राज्यवादी फ़ासिस्टवाद का जवाब है।

नवम्बर १९३१ में मैं कुछ दिनों के लिए कलकत्ता गया। वहां मेरा कार्यक्रम बहुत भरा-पूरा रहा, और निजी तौर पर लोगों और समूहों से मिलने के अलावा मैंने कई सार्वजनिक सभाओं में भाषण भी दिये। इन सब सभाओं में मैंने आतंक-वाद के प्रश्न पर भी चर्चा की और यह बताने की कोशिश की कि हिन्दुस्तान की आज़ादी के लिए वह कितना ग़लत, बेकार और हानिकारक है। मैंने आतंक-वादियों को बुरा नहीं कहा, न मैंने अपने कुछ ऐसे देशवासियों की तरह उन्हें 'कायर' ही कहा, जिन्होंने शायद ही कभी पराक्रम या ख़तरे का कोई काम करने का साहस किया हो। मुझे हमेशा यह बड़ी बेवकूफ़ी की बात मालूम हुई है कि ऐसे स्त्री या पुरुष को, जो लगातार अपनी जान को हथेली पर लिये रहता है, 'कायर' कहा जाय। इसका असर उस आदमी पर यह होता है कि वह अपने डरपोक समालोचकों को, जो दूर खड़े रहकर ही चिल्लाते हैं लेकिन कर कुछ भी नहीं सकते, तिरस्कार की निगाह से देखने लगता है।

कलकत्ते से रवाना होने के लिए स्टेशन पर जाने से थोड़ी देर पहले वहां शाम को मेरे पास दो युवक आये। वे बहुत ही कम उम्र के, करीब बीस-बीस साल के, नौजवान थे। उनके चेहरे फ़ीके थे और उनपर घबराहट झलक रही थी। उनकी आंखें चमकदार थीं। मुझे मालूम नहीं कि वे कौन थे, लेकिन मैं अटकल से समझ गया कि उनका काम क्या था। वे मेरे आतंकवादी हिंसा के विरुद्ध प्रचार करने के कारण मुझ पर बहुत ग़ुस्सा थे। उन्होंने कहा कि उससे नवयुवकों पर बहुत बुरा असर पड़ रहा है और इस तरह मेरा हस्तक्षेप करना वे पसन्द नहीं करते हैं। हमने थोड़ी-सी बहस भी की, लेकिन वह बड़ी जल्दी जल्दी में हुई, क्योंकि मेरे रवाना होने का समय पास आ रहा था। मेरा ख़याल है कि उस समय हमारी आवाज़ तेज़ और हमारा मिज़ाज कुछ गरम हो गया था, और मैंने उनसे कुछ कड़ी बाते भी कह दी थीं; और जब मैं उन्हें वहीं छोड़कर चलने लगा, तो उन्होंने मुझे अन्तिम चेतावनी दी कि "अगर आगे भी आपका यही रुख़ रहा तो हम आपके साथ भी वही बर्ताव करेंगे जैसा कि हमने दूसरों के साथ किया है।"

मैं कलकत्ते से चल तो दिया, मगर रात को गाड़ी में अपनी बर्थ पर लेटे-लेटे, मेरे दिमाग़ में उन्हीं दोनों लड़कों के उत्तेजित चेहरे बहुत देर तक चक्कर काटते रहे। उनमें जीवन और जोश भरा हुआ था। अगर वे ठीक रास्ते पर लग जाते

तो कितने अच्छे बन सकते थे ! मुझे दुःख हुआ कि मैंने उनके साथ जल्दी-जल्दी में बातें कीं और कुछ रूखा व्यवहार किया । काश, मुझे लम्बी बातचीत करने का मौक़ा मिलता ! शायद मैं उन्हें दूसरी दिशाओं में, हिन्दुस्तान की सेवा और आज़ादी के रास्ते में, जिसमें कि साहस और आत्मत्याग के मौक़ों की कमी नहीं थी, अपने होनहार जीवन को लगाने की बात समझा सकता । उस घटना के बाद भी मैं अक्सर उन लोगों का विचार किया करता हूं । मुझे उनके नाम मालूम न हो सके, और न उनका मुझे बाद में भी कुछ पता लगा । मैं कई बार सोचता हूं कि न जाने वे मर चुके हैं, या अण्डमान के टापुओं की किन्हीं कोठरियों में बन्द हैं ।

दिसम्बर का महीना था । इलाहाबाद में दूसरी किसान-कान्फ्रेंस हुई, और फिर मैं हिन्दुस्तानी सेवा-दल के अपने पुराने साथी डॉक्टर एन० एस० हार्डीकर को दिये अपने पिछले वादे को पूरा करने के लिए जल्दी में कर्नाटक गया । सेवा-दल राष्ट्रीय आन्दोलन का एक अंग था । वह हमेशा कांग्रेस का सहायक रहा, यद्यपि उसका संगठन बिल्कुल अलग ही था । लेकिन १९३१ की गरमियों में कार्य-समिति ने उसे बिल्कुल कांग्रेस में शामिल करने और उसे कांग्रेस का ही स्वयंसेवक-विभाग बना लेने का निश्चय कर लिया । ऐसा हो भी गया और वह विभाग हार्डीकर को और मुझे सौंपा गया । दल का हैडक्वार्टर हुबली (कर्नाटक) शहर में ही रहा, और हार्डीकर ने मुझे दल-सम्बन्धी कई कामों के लिए वहां बुलाया था । वहां से वह मुझे कुछ दिन के लिए कर्नाटक में दौरा करने को ले गए । वहां सब जगह लोगों में ज़बरदस्त जोश देखकर मैं दंग रह गया । लौटते हुए मैं शोलापुर भी गया, जिसका नाम फ़ौजी कानून (मार्शल लॉ) के दिनों में मशहूर हो चुका था ।

कर्नाटक के उस दौरे ने मेरे लिए विदाई के समारोह का रूप धारण कर लिया । मेरे भाषण विदाई के गीत-जैसे लगते थे, लेकिन उनमें संगीत के बजाय लड़ाई का सुर था । युक्तप्रान्त से जो खबर मिली वह निश्चित और स्पष्ट थी । सरकार ने वार कर दिया था, और सख़्त वार किया था । इलाहाबाद से कर्नाटक जाते हुए मैं कमला के साथ बम्बई गया था । वह फिर बीमार हो गई थी । मैंने बम्बई में उसके इलाज की व्यवस्था कर दी । बम्बई में ही, और लगभग हमारे इलाहाबाद से वहां पहुंचने के बाद ही, हमें यह पता लगा कि भारत सरकार ने युक्तप्रान्त के लिए एक ख़ास 'आर्डिनेंस' निकाल दिया है । सरकार ने निश्चय

कर लिया था कि वह गांधीजी के आने की बाट न देखेगी, हालांकि गांधीजी जहाज़ पर चल दिये थे, और जल्दी ही बम्बई आ जानेवाले थे। कहने को तो यह आर्डिनेस किसानों के आन्दोलन के ही लिए निकाला गया था, लेकिन वह इतना ज़्यादा विस्तृत था कि उससे हर प्रकार की राजनैतिक या सार्वजनिक प्रवृत्ति असम्भव हो गई। उसमें बच्चों या नाबालिग़ों के अपराधों के लिए माता-पिताओं या संरक्षकों को सज़ा देने का विधान भी किया गया। यह इंजील की प्राचीन प्रथा की ठीक उल्टी आवृत्ति थी।[1]

लगभग इन्हीं दिनों हमने गांधीजी की उस बातचीत की खबर पढ़ी, जो रोम में 'जेरनेल दि इटैलिया' के प्रतिनिधि से हुई बताई गई थी। इसे पढ़कर हम अचम्भे में पड़ गए, क्योंकि इस तरह रोम में राह-चलते 'इंटरव्यू' दे देना उनकी आदत के ख़िलाफ़ था। ज़्यादा ग़ौर से जांच करने पर कई शब्द और वाक्य ऐसे मिले जो उनके प्रयोग में नहीं आते थे, और हमें उसका खण्डन आने से पहले ही साफ़ तौर से मालूम हो गया था कि जिस तरह की 'इंटरव्यू' प्रकाशित हुई है वह उनकी दी हुई नहीं हो सकती। हमारा खयाल हुआ कि उन्होंने जो कुछ भी कहा होगा, यह उसको बहुत ज़्यादा तोड़-मरोड़कर बनाया गया है। बाद में तो गांधीजी का ज़ोरदार खण्डन भी निकला और यह वक्तव्य भी निकला कि उन्होंने रोम में कोई इंटरव्यू ही नहीं दी। हमें तो स्पष्ट मालूम था ही कि किसीने उनके साथ यह चालाकी की है। मगर हमें आश्चर्य इस बात से हुआ कि ब्रिटिश अखबारों और सार्वजनिक लोगों ने उनकी बात पर विश्वास नहीं किया और तिरस्कार के साथ उन्हें झूठा बतलाया। इससे हमें चोट पहुंची और ग़ुस्सा भी आया।

मैं इलाहाबाद वापस जाने और कर्नाटक का दौरा बन्द कर देने को उत्सुक

---

[1]यहां थोड़ा व्यंग है। बाइबिल (इंजील) में एक जगह पैग़म्बर मूसा ईश्वर के दस आदेश (टेन कमांडमेंट्स) गिनाते हैं, जिनमें एक जगह पर वह कहते हैं—"होशियार! तुम बुरे देवों को मत पूजना, क्योंकि ईश्वर तो ईर्ष्यालु देव है, दूसरे देवताओं की पूजा सहन नहीं कर सकता। माता-पिताओं के पापों के फल तीसरी-चौथी पीढ़ी तक उनकी सन्तानों को भोगने पड़ते हैं (ड्यूटे पृ. ९)"। इसकी उलटी आवृत्ति, अर्थात् सन्तानों के कुकर्म के फल माता-पिता भोगें।—अनु०

था। मुझे लगा कि मुझे तो अपने सूबे में अपने साथियों के साथ रहना चाहिए, और जब अपने घर-आंगन में इतनी घटनाएं हो रही हों, तब उनसे बहुत दूर रहना मेरे लिए एक कठोर परीक्षा ही थी। फिर भी मैंने निश्चय किया कि मैं कर्नाटक के कार्यक्रम को पूरा ही कर डालूं। मेरे बम्बई आने पर कुछ मित्रों ने मुझे सलाह दी कि मैं गांधीजी की वापसी तक ठहरा रहूं। वे एक ही सप्ताह बाद आनेवाले थे। मगर यह असम्भव था। इलाहाबाद से पुरुषोत्तमदास टण्डन और दूसरे लोगों की गिरफ़्तारी की खबर आई। इसके अलावा हमारी प्रान्तीय कान्फ्रेंस भी इटावा में उसी हफ़्ते में होनेवाली थी। इसलिए मैंने तय किया कि मैं पहले इलाहाबाद जाऊं और फिर एक हफ़्ते बाद, अगर आज़ाद रहा तो, गांधीजी से मिलने और कार्य-समिति की बैठक में सम्मिलित होने को बम्बई लौट आऊं। कमला को मैंने रोग-शय्या पर बम्बई में ही छोड़ा।

मुझे इलाहाबाद पहुंचने से पहले ही, छिउंकी स्टेशन पर नये आर्डिनेंस के अनुसार एक हुक्म मिला। इलाहाबाद स्टेशन पर उसी हुक्म की दूसरी नक़ल मुझे देने की कोशिश की गई। और मेरे मकान पर भी एक तीसरे व्यक्ति ने ऐसा ही तीसरा प्रयत्न किया। ज़ाहिर था कि सरकार कोई भी जोखिम उठाना नहीं चाहती थी। उस हुक्म के मुताबिक़ मैं इलाहाबाद म्युनिसिपल हद के अन्दर नज़रबन्द कर दिया गया, और मुझसे कहा गया कि मुझे किसी भी सार्वजनिक सभा या समारोह में शामिल नहीं होना चाहिए, किसी सभा में भाषण नहीं करना चाहिए। किसी अखबार, पत्रिका या पर्चे में कोई लेख नहीं लिखना चाहिए। और भी कई पाबन्दियां लगा दी गई थीं। मुझे मालूम हुआ कि मेरे साथियों के नाम भी, जिनमें तसद्दुक़ अहमद खां शेरवानी भी थे, इसी प्रकार के हुक्म जारी किये गए थे। दूसरे दिन सवेरे ही मैंने ज़िला-मजिस्ट्रेट को (जिसने हुक्म जारी किये थे) लिख दिया कि मुझे क्या करना चाहिए या क्या न करना चाहिए, इसकी बाबत में आपसे हुक्म लेना नहीं चाहता; मैं अपना साधारण काम साधारण रूप से करूंगा और अपने काम के सिलसिले में इस हफ़्ते में गांधीजी से मिलने और कार्य-समिति की, जिसका मैं सेक्रेटरी हूं, बैठक में शरीक होने बम्बई जानेवाला हूं।

एक नई समस्या भी हमारे सामने खड़ी हो गई। हमारी युक्तप्रान्तीय कान्फ्रेंस उसी हफ़्ते इटावा में होनेवाली थी। बम्बई से मैं इस कान्फ्रेंस को स्थगित कराने की तजवीज़ पेश करने के इरादे से आया था; क्योंकि एक तो वह गांधीजी

के आने के दिनों में ही होनेवाली थी, और दूसरे सरकार से अभी संघर्ष भी टालना था। लेकिन मेरे इलाहाबाद आने से पहले ही यू० पी० सरकार की तरफ़ से हमारे प्रधान शेरवानी साहब के पास एक ताक़ीदी खत आया था, जिसमें पूछा गया था कि क्या आपकी कान्फ्रेंस में किसानों की समस्या पर भी विचार किया जायगा ? क्योंकि अगर ऐसा होनेवाला हो, तो सरकार कान्फ्रेंस को ही बन्द कर देगी। यह तो साफ़ ज़ाहिर था कि कान्फ्रेंस का खास उद्देश्य ही किसानों की समस्या पर विचार करना था, जिससे कि सारे प्रान्त में खलबली मच रही थी। कान्फ्रेंस करना और उसमें इस सवाल पर ग़ौर न करना तो मूर्खता की हद थी और अपने-आपकी हँसी करानी ही थी। कुछ भी हो, हमारे प्रधान को या और किसीको भी यह हक़ न था कि वह कान्फ्रेंस को किसी बात के लिए पहले से बांध दे। सरकार की धमकी के बिना भी हम कुछ लोगों का तो यह इरादा था ही कि कान्फ्रेंस स्थगित की जाय, मगर इस धमकी से तो बात ही और हो गई। हममें से कई लोग ऐसे मामलों में तो कुछ-कुछ आग्रही थे, और सरकार द्वारा हमें ऐसा हुक्म दिया जाना किसीको अच्छा न लगा। फिर भी, बड़ी बहस के बाद, हमने तय कर लिया कि इस वक़्त अपने स्वाभिमान को पी जाना चाहिए और कान्फ्रेंस को स्थगित कर देना चाहिए। हमने यह फ़ैसला इसलिए किया कि हम गांधीजी के आने तक लड़ाई को, जो शुरू तो हो ही चुकी थी, किसी भी हालत में ज्यादा बढ़ाना नहीं चाहते थे। हम उन्हे ऐसी परिस्थिति के अन्दर नहीं डाल देना चाहते थे, जिसमें वह बागडोर अपने हाथ में न ले सकें। हमारे प्रान्तीय कान्फ्रेंस को स्थगित कर देने पर भी इटावा में पुलिस और फ़ौज का खूब प्रदर्शन किया गया, कुछ भूले-भटके प्रतिनिधि, जो वहां पहुंच गए थे, गिरफ़्तार कर लिये गए, और वहां लगी स्वदेशी-प्रदर्शनी पर फ़ौज ने क़ब्ज़ा कर लिया।

शेरवानी ने और मैंने २६ दिसम्बर की सुबह को इलाहाबाद से बम्बई रवाना होना तय किया। शेरवानी को कार्य-समिति की मीटिंग में यू० पी० की स्थिति पर विचार करने के लिए खास तौर पर बुलावा दिया गया था। हम दोनों को ही आर्डिनेंस के मुताबिक यह हुक्म मिल चुके थे कि हम इलाहाबाद शहर न छोड़ें। कहा गया था कि आर्डिनेंस यू० पी० के इलाहाबाद और दूसरे ज़िलों में लगानबन्दी की हलचलों के खिलाफ़ जारी किया गया है। यह समझना तो सरल था ही कि सरकार को हमारा इन देहाती हिस्सों में जाना बन्द करना ही
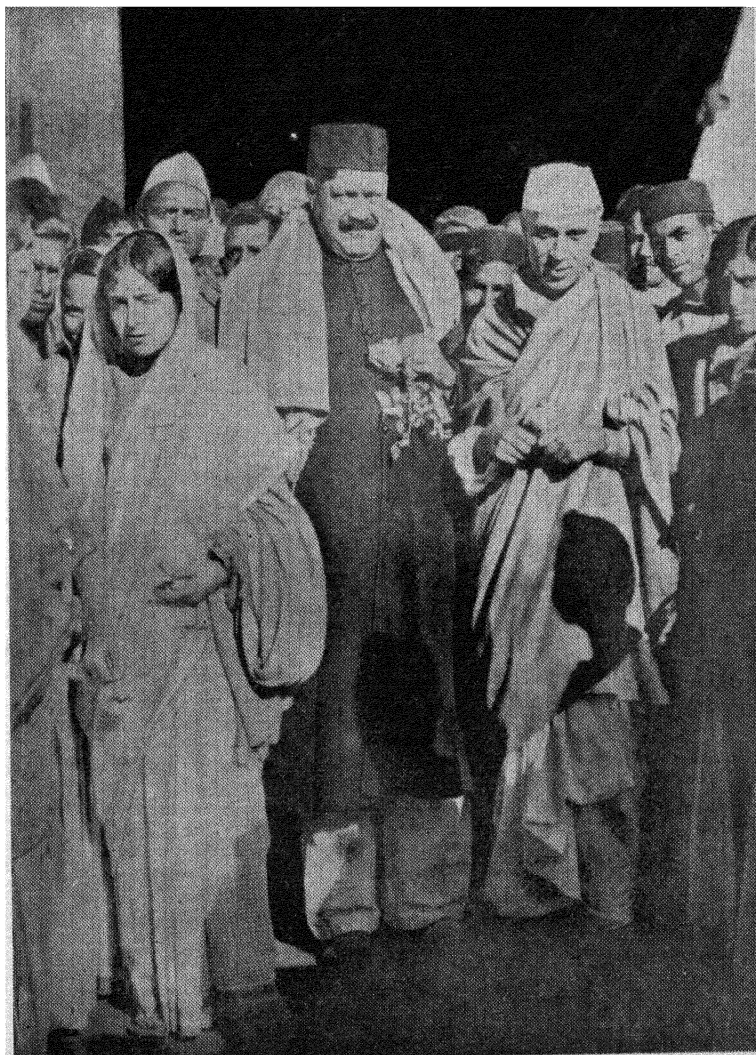
लेखक तसद्दुक़ अहमद खां शेरवानी के साथ बम्बई जाते हुए
इलाहाबाद स्टेशन पर

चाहिए। मगर यह भी साफ़ था कि हम बम्बई शहर में जाकर किसानों का आन्दोलन नहीं चला सकते थे और अगर वास्तव में आर्डिनेंस किसानों की परिस्थिति का मुक़ाबला करने के लिए ही जारी किया गया था, तो हमारे प्रान्त से दूर चले जाने का तो स्वागत ही किया जाना चाहिए था। आर्डिनेंस के जारी हो जाने के समय से हमारी आम नीति उससे बचते रहने की ही रही, और हम संघर्ष को टालते ही रहे, हालांकि बाज-बाज़ लोगों ने हुक्म-उदूली कर दी थी। जहांतक यू० पी० कांग्रेस का सम्बन्ध था, यह बात साफ़ थी कि वह, कम-से-कम फ़िलहाल सरकार से लड़ाई करने से बचना या उसे टालना चाहती थी। शेरवानी और मैं बम्बई जा रहे थे, जहां कि गांधीजी और कार्य-समिति इन मामलों पर ग़ौर करते, और यह किसीको मालूम नहीं था, और मुझे तो बिल्कुल ही निश्चय नहीं था कि उनके आख़िरी फ़ैसले क्या होते।

इन सब विचारों से मुझे ख़याल होता था कि हमें बम्बई जाने दिया जायगा, और, कम-से-कम उस समय के लिए ही सही, हमारी शहर की नज़रबन्दी के क़ानूनी आज्ञा-भंग को सरकार सह लेगी। लेकिन, मेरा दिल कुछ और ही कह रहा था।

ज्योंही हम रेल में बैठे, हमने सवेरे के अख़बारों में नये सीमाप्रान्तीय आर्डिनेंस और अब्दुलग़फ़्फ़ार खां तथा डॉक्टर ख़ानसाहब वग़ैरा की गिरफ़्तारी का हाल पढ़ा। बहुत जल्दी ही हमारी गाड़ी, बम्बई-मेल, रास्ते के एक छोटे-से स्टेशन इरादतगंज पर, जहां आमतौर पर वह नहीं ठहरा करती थी, अचानक ठहर गई, और हमें गिरफ़्तार करने को पुलिस अफ़सर आ गए। रेलवे लाइन के पास ही एक 'ब्लैक मैरिया' (जेल की मोटर) खड़ी थी, और क़ैदियों की इस लारी में मैं और शेरवानी दाख़िल हुए। वह तेज़ी से चली और हम नैनी-जेल में जा पहुंचे। वह 'बॉक्सिंग दिवस' का प्रातःकाल था और वह पुलिस सुपरिण्टेण्डेण्ट, जो हमें गिरफ़्तार करने आया था, अंग्रेज़ था; वह दुःखी और उदास दिखाई दिया। मुझे दुःख है कि हमने उसका क्रिसमस त्यौहार बिगाड़ दिया था।

और इस तरह हम जेल में आ पहुंचे—

'एक घड़ी भर तू सारा आह्लाद भुला दे;
और, वेदना में ही अब कुछ काल बिता दे।'[1]

---

[1] शेक्सपियर के अंग्रेजी पद्य का भावानुवाद।

: ४१ :

गिरफ़्तारियां, आर्डिनेंस और ज़ब्तियां

हमारी गिरफ़्तारी के दो दिन बाद ही गांधीजी बम्बई में उतरे, और तभी उन्हें यहां की नई और ताज़ी घटनाओं का हाल मालूम हुआ। उन्होंने लन्दन में ही बंगाल-आर्डिनेंस की खबर सुन ली थी, और वह उससे बहुत दुःखी हुए थे। अब उन्हें मालूम हुआ कि उनके लिए यू० पी० और सीमाप्रान्तीय आर्डिनेंसों के रूप में बड़े दिन की भेंट तैयार थी, और सीमाप्रान्त और यू० पी० में उनके कुछ सबसे घनिष्ठ साथी गिरफ़्तार हो चुके थे। अब तो पासा पड़ चुका दीखता था, और शान्ति की सारी आशा मिट चुकी थी, फिर भी उन्होंने रास्ता ढूंढ़ने की कोशिश की, और इसके लिए वाइसराय लॉर्ड विलिंग्डन से मुलाक़ात चाही। उन्हें नई दिल्ली से बताया गया कि मुलाक़ात कुछ खास शर्तों पर ही हो सकेगी। वे शर्तें ये थीं कि वह बंगाल, युक्तप्रान्त और सीमाप्रान्त की ताज़ी घटनाओं, नये आर्डिनेंसों और उनके मुताबिक हुई गिरफ़्तारियों के बारे में बातचीत न करें। (यह बात मैं अपनी याद से लिख रहा हूं, क्योंकि मेरे सामने वाइसराय के जवाब की नक़ल नहीं है।) यह समझ में नहीं आता कि सरकार इन विषयों के अलावा, जो कि देश में खलबली मचा रहे थे, और जिनपर बात करने का निषेध कर दिया गया था, और किन विषयों पर गांधीजी या कांग्रेस के अन्य किसी नेता से बातचीत करने की आशा करती थी? अब यह बिलकुल साफ़ प्रकट हो गया कि भारत सरकार ने कांग्रेस को कुचल डालने का निश्चय कर लिया है और वह उससे कोई नाता नहीं रखना चाहती। कार्य-समिति के पास सविनय आज्ञा-भंग फिर चालू कर देने के सिवा और कोई रास्ता न रहा। कार्य-समितिवालों को किसी भी समय अपने गिरफ़्तार हो जाने की आशंका हो गई थी, और बरबस विदा होने के पहले वे देश का आगे के लिए मार्ग-प्रदर्शन कर देना चाहते थे। इसी दृष्टि से अस्थायी तौर पर सविनय-भंग का प्रस्ताव पास किया गया, और गांधीजी ने वाइसराय से मुलाक़ात करने की दुबारा कोशिश

की। उन्होंने वाइसराय को बिना शर्त के मुलाक़ात देने के लिए तार दिया। सरकार का जवाब गांधीजी और कांग्रेस के सभापति सरदार पटेल की गिरफ़्तारी के रूप में मिला और साथ ही वह बटन भी दबा दिया गया जिससे सारे देश में भयंकर दमन का दौर शुरू हो गया। यह तो स्पष्ट ही था, कि चाहे दूसरा कोई लड़ाई चाहता हो या न चाहता हो, लेकिन सरकार तो लड़ाई के लिए बेचैन थी और पहले से ही जरूरत से ज्यादा तैयार बैठी थी।

हम तो जेल में ही थे और ये सारी खबरें हमारे पास गोलमोल और तितर-बितर होकर आईं। हमारा मुकदमा नये साल के लिए स्थगित कर दिया गया, इसलिए हमें हवालाती कैदी होने के कारण सजायाफ़्ता क़ैदियों की अपेक्षा ज़्यादा मुलाक़ातें करने का मौक़ा मिला। हमने सुना कि वाइसराय को मुलाक़ात मंजूर करनी चाहिए थी या नहीं, इसपर अखबारों में बहुत वाद-विवाद चल रहा है, मानो इससे कोई बड़ा फ़र्क़ पड़नेवाला था। यह मुलाक़ात का प्रश्न ही और सब बातों से बढ़कर चर्चा का विषय हो रहा था। यह कहा गया कि अगर लॉर्ड इर्विन होते तो वह मुलाक़ात ज़रूर मंजूर कर लेते, और अगर उनसे और गांधीजी से मुलाक़ात हुई होती तो निश्चय ही सब कुछ ठीक हो जाता। मुझे अचरज हुआ कि परिस्थिति के बारे में हिन्दुस्तान के अखबार कितनी ज्यादा सरसरी निगाह से काम लेते हैं और असलियत की ओर कैसे आंख उठाकर नहीं देखते हैं! क्या हिन्दुस्तान की राष्ट्रीयता और ब्रिटेन के साम्राज्यवाद का, जिनमें सूक्ष्म विचार करने से मालूम होगा कि कभी मेल नहीं हो सकता, न रुकनेवाला संघर्ष किन्हीं व्यक्तियों की व्यक्तिगत इच्छाओं पर ही निर्भर है? क्या इतिहास की दो विरोधी शक्तियों का संघर्ष मीठी मुस्कान और आपसी शिष्टता दिखाने-मात्र से हट सकता है? गांधीजी को एक खास दिशा में ही जाना पड़ा, इसलिए कि हिन्दुस्तान की राष्ट्रीयता अपने ही सिद्धान्तों का त्याग करके अपनी आत्म-हत्या नहीं कर सकती थी, और न महत्त्वपूर्ण मामलों में विदेशी फ़रमानों के सामने खुशी से झुक सकती थी। तथा हिन्दुस्तान के ब्रिटिश वाइसराय को दूसरी ही विशेष दिशा में जाना पड़ा, क्योंकि उन्हें इस राष्ट्रीयता का सामना करना था, और ब्रिटिश स्वार्थों की रक्षा करनी थी, और उस समय वाइसराय कोई भी हो इस बात में ज़रा भी फ़र्क़ नहीं पड़ सकता था। लॉर्ड इर्विन भी ठीक वही काम करते जो लॉर्ड विलिंग्डन ने किया, क्योंकि दोनों ही ब्रिटिश साम्राज्यवादी नीति के अस्त्र थे, और वे निर्धारित

दिशा में कुछ बहुत ही मामूली-सा फ़र्क़ कर सकते थे। और, बाद मे तो लॉर्ड इर्विन भी ब्रिटिश शासन-तन्त्र के सदस्य हो गए, और हिन्दुस्तान मे जो-जो सरकारी कार्रवाइयां की गई उन सबमें उन्होंने पूरा-पूरा साथ दिया। हिन्दुस्तान में प्रचलित ब्रिटिश नीति के लिए किसी खास वाइसराय की तारीफ़ या बुराई करना मुझे तो बिल्कुल ही अनुचित बात मालूम होती है, और हमारे ऐसा करने की आदत का कारण सिर्फ़ यही हो सकता है कि या तो हम असली सवालों को नहीं समझते, या उन्हें जान-बूझकर टालना चाहते है।

४ जनवरी सन् १९३२ एक महत्त्वपूर्ण दिन था। उसने बातचीत और बहस का अन्त कर दिया। उस दिन सवेरे ही गांधीजी और कांग्रेस के अध्यक्ष वल्लभभाई गिरफ़्तार कर लिये गए और, बिना मुक़दमा चलाये, राजबन्दी बना लिये गए। चार नये आर्डिनेंस जारी कर दिये गए जिनके द्वारा मैजिस्ट्रेटों और पुलिस अफ़सरों को व्यापक-से-व्यापक अधिकार मिल गए। नागरिक स्वतन्त्रता की हस्ती मिट गई और जन और धन दोनों पर ही अधिकारी चाहे जब कब्ज़ा कर सकते थे। सारे देश पर मानो क़ब्ज़ा कर लेने की हालत की घोषणा कर दी गई और इसको किस-किसपर और कितना-कितना लागू किया जाय, यह स्थानीय अफ़सरों की मर्ज़ी पर छोड़ दिया गया।[1]

४ जनवरी को ही नैनी-जेल मे यू० पी० इमर्जेंसी पावर्स आर्डिनेंस के मुताबिक़ हमारा मुक़दमा हुआ। शेरवानी को छह महीने की सख्त क़ैद और १५० रुपये जुर्माने की सजा हुई; मुझे दो साल की सख्त क़ैद और ५०० रुपये जुर्माने (या बदले मे छह महीने की क़ैद और) की सजा दी गई। दोनो के अपराध बिल्कुल एक-से थे। हम दोनों को इलाहाबाद शहर में नज़रबन्दी के एक-से हुक्म दिये गए थे। हम दोनो ने ही बम्बई जाने की कोशिश करके उनका एक ही तरह से भंग किया था। हम दोनों को एक ही धारा में गिरफ़्तार किया गया, और दोनों का एक साथ ही मुक़दमा चला। फिर भी हमारी सज़ाओं में बड़ा अन्तर था।

[1]भारत-मन्त्री सर सैम्युअल होर ने २४ मार्च १९३२ को कामन-सभा में कहा था कि, "मै मंजूर करता हूं कि जिन आर्डिनेंसों का हमने समर्थन कर दिया है वे बड़े व्यापक और सख्त है; वे हिन्दुस्तान के जीवन की लगभग हरेक प्रवृत्ति पर असर डालते हैं।"

लेकिन एक फ़र्क़ ज़रूर हुआ था। मैंने ज़िला मैजिस्ट्रेट को लिखकर सूचना दी थी कि मै हुक्म तोड़कर बम्बई जाना चाहता हूं; शेरवानी ने ऐसी कोई बाक़ायदा नोटिस नहीं दी थी, लेकिन वह भी जाना चाहते हैं, यह बात भी समान-रूप से सब जानते थे और इसकी खबर अखबारों में भी छपी थी। सज़ा सुनाने के बाद ही शेरवानी ने मैजिस्ट्रेट से पूछा कि मुसलमान होने के खयाल से तो मुझे कम सज़ा नहीं दी गई है ? उनके इस सवाल से वहां उपस्थित लोगों को बड़ी हँसी आई और मैजिस्ट्रेट कुछ परेशानी मे भी पड़ गया।

उस स्मरणीय दिन, ४ जनवरी को, देश-भर में बहुत-सी घटनाएं हुईं। इलाहाबाद शहर में, हमारे स्थान के पास ही, बड़ी-बड़ी भीड़ों की पुलिस और फ़ौज से मुठभेड़ हो गई, और सदा की भांति लाठी-प्रहार हुए, जिसमे कुछ लोग मरे और कुछ घायल हुए। सविनय आज्ञा-भंग के क़ैदियों से जेलें भरने लगीं। पहले तो ये क़ैदी जिला-जेलों में भेजे जाते, और जब वहां जगह न रहती तब ही नैनी आदि सेण्ट्रल जेलों मे आते थे। बाद में सभी जेलें भर गईं और बड़ी-बड़ी स्थायी कैम्प-जेले क़ायम करनी पड़ी।

नैनी के हमारे छोटे-से अहाते मे बहुत थोड़े लोग आये। मेरे पुराने साथी नर्मदाप्रसाद हमारे पास आ गए। रणजित पंडित और मेरे चचेरे भाई मोहनलाल नेहरू भी आ गये। बैरक नं० ६ की हमारी छोटी-सी मित्र-मण्डली में लंका के युवक-मित्र बर्नार्ड एलूविहारे भी अचानक आ गए, जो कि बैरिस्टर बनने के बाद इग्लैण्ड से अभी-अभी लौटे थे। मेरी बहिन ने उनसे कहा था कि आप हमारे जुलूस आदि में शामिल न हों। लेकिन जोश में आकर वह कांग्रेस के एक जुलूस में शरीक हो ही गए, और एक 'ब्लैक मरिया' गाड़ी उन्हें जेल मे ले आई।

कांग्रेस, जिसमे सबसे ऊपर कार्य-समिति और फिर प्रान्तीय कमेटियां और अनगिनती स्थानिक कमेटियां शामिल थीं, ग़ैर-क़ानूनी घोषित कर दी गई थीं। कांग्रेस के साथ-साथ सब तरह से सम्बन्धित या सहानुभूति रखनेवाले या प्रगतिशील संगठन—जैसे किसान-सभाएं, किसान-सघ, युवक-संघ, विद्यार्थी-मण्डल, प्रगतिशील राजनैतिक संगठन, राष्ट्रीय विश्व-विद्यालय और स्कूल, अस्पताल, स्वदेशी दूकानें, पुस्तकालय आदि भी—ग़ैर-क़ानूनी क़रार दे दिये गए। इनकी सूचियां बड़ी लम्बी-लम्बी थीं, प्रत्येक बड़े प्रान्त के सैकड़ों नाम इनमे शामिल थे; सारे हिन्दुस्तान का जोड़ कई हज़ार तक पहुंच गया होगा। इन ग़ैर-क़ानूनी

घोषित संस्थाओं की यह संख्या ही मानो कांग्रेस और राष्ट्रीय आन्दोलन का महत्त्व और प्रभाव दिखाती थी।

बम्बई में कमला रोग-शय्या पर पड़ी थी और आन्दोलन में हिस्सा न ले सकने के कारण छटपटा रही थी। मेरी मां और दोनों बहनें बड़े उत्साह के साथ आन्दोलन में कूद पड़ीं। उनको जल्दी ही एक-एक साल की सज़ा मिल गई और वे जेल पहुंच गईं। नये आनेवालों के ज़रिये या हमें मिलनेवाले स्थानीय साप्ताहिक पत्र द्वारा हमें कुछ अनोखी खबरें मिल जाया करती थीं। जो कुछ हो रहा था उसकी हम ज़्यादातर कल्पना कर लिया करते थे, क्योंकि सेंसर की बड़ी सख्ती थी, और समाचार-पत्रों और समाचार-एजेंसियों को भारी-भारी जुर्मानों का डर हमेशा बना रहता था। कुछ प्रान्तों में तो गिरफ्तारशुदा या सज़ा पाये हुए व्यक्ति का नाम छापना भी जुर्म था।

इस तरह हम नैनी-जेल में बाहर के झगड़ों से अलग पड़े हुए, फिर भी उनमें सैकड़ों तरह से उलझे हुए, रह गए थे। हमने अपने को सूत कातने, पढ़ने या दूसरे कामों में लगाये रक्खा था, और कभी-कभी हम दूसरे मामलों पर भी बातचीत करते थे, लेकिन हम लोग हमेशा यही सोचते रहते थे कि जेल की चहारदीवारी के बाहर क्या हो रहा है? उससे हम अलग भी थे और फिर भी उसमें शामिल थे। कभी-कभी किसी काम की उम्मीद करते-करते बहुत थक जाते थे और कभी-कभी किसी काम के बिगड़ जाने पर ग़ुस्सा आता था, और किसी कमज़ोरी या भद्देपन पर तबीयत झुंझला उठती थी। लेकिन कभी-कभी हम अजीब ढंग से तटस्थ से हो जाते थे और सारे दृश्य को शान्ति और अनासक्ति से देखा करते थे, और यह अनुभव करते थे कि जब बड़ी-बड़ी ताक़तें अपना काम कर रही हैं और दैवी तन्त्र लोगों को पीस रहा है, तब व्यक्तियों की छोटी-छोटी ग़लतियां या कमज़ोरियां कोई महत्त्व नहीं रखतीं। हम सोचा करते थे कि इस झगड़े और शोर-ग़ुल का और इस पराक्रमपूर्ण उत्साह, निर्दयताभरे दमन और घृणित कायरता का भविष्य क्या होनेवाला है? इसका क्या नतीजा होगा? हम किस तरफ़ जा रहे हैं? भविष्य हमारी आंखों से छिपा हुआ था; और अच्छा ही था कि वह छिपा हुआ था; और जहांतक हमसे सम्बन्ध था, वर्तमान भी एक परदे से कुछ-कुछ छिपा हुआ था। लेकिन हम एक बात जानते थे कि हमारा रास्ता तो आज भी और कल भी, संघर्ष, कष्ट-सहन और बलिदान में से होकर ही जाता है—

"कल फिर से आरम्भ युद्ध का हो जायेगा,
सारा जेन्थस[1] अहो रक्त से रंग जायेगा;
हेक्टर[2] तथा अजेक्स[3] पुनः होंगे समुपस्थित
हेलन[4] भी खुद दृश्य लखेगी हो उच्च-स्थित।
तब हम या परदे में होंगे या चमकेंगे रण में,
अन्धी आश-निराशाओं में झूलेंगे क्षण-क्षण में;
तब सोचा हमने यह जीवन-बल ला होमा सारा,
किन्तु न जाना आत्मा का क्या होगा हाल हमारा।[5]

[1]-[4]अजेक्स, हेक्टर और हेलन यूनानी कवि होमर के 'ईलियड' काव्य के पात्र हैं। यूनान की सुन्दरी के हरण होने पर यूनान ने ट्राय पर चढ़ाई की थी और दस वर्ष तक ट्राय का घेरा चलता रहा। हेक्टर ट्राय का योद्धा था और अजेक्स यूनान का। जेंन्थस ट्राय की एक नदी है।

[5]मेथ्यू आरनॉल्ड के अंग्रेजी पद्य का भावानुवाद। —अनु०

: ४२ :

ब्रिटिश शासकों की छेड़छाड़

१९३२ के उन शुरू के महीनों में, और बातों के अलावा, खास बात यह हुई कि ब्रिटिश हाकिमों ने अपनी खुशी का खूब प्रदर्शन किया। छोटे और बड़े, सभी हाकिम चिल्ला-चिल्लाकर यह कहने लगे कि देखो, हम कितने भले और शान्ति-प्रिय हैं और कांग्रेसवाले कितने बुरे और झगड़ालू हैं। हम लोग लोकतन्त्र के हामी हैं जबकि कांग्रेस को डिक्टेटरशिप भाती है। वह देखो, कांग्रेस का सभापति डिक्टेटर के नाम से पुकारा जाता है। एक धर्म-कार्य के लिए अपने इस जोश में हाकिम आर्डिनेंसों, तमाम आज़ादी का दमन, अखबारों और छापेखानों की मुंहबन्दी, बिना मुक़दमा चलाये लोगों की जेल-बन्दी, जायदाद और रुपयों की ज़ब्ती और रोज़-ब-रोज़ होनेवाली बहुत-सी दूसरी अद्भुत चीज़ों-जैसी न-कुछ बातों को भूल गए थे। इसके अलावा वे, हिन्दुस्तान में ब्रिटिश राज का जो मूल स्वरूप है, उसको भी भूल गए। सरकार के वे मिनिस्टर, जो हमारे ही देशभाई थे, इस विषय पर बड़े धारा-प्रवाह व्याख्यान देने लगे, कि जेलों में बन्द कांग्रेसी किस तरह अपना मतलब गांठ रहे हैं, जबकि हम कुछ हज़ार रुपये महीने की न-कुछ-सी मज़दूरी पर पब्लिक की भलाई में दिन-रात जुटे रहते हैं। छोटे-छोटे मैजिस्ट्रेट हम लोगों को भारी-भारी सज़ाएं तो देते ही थे, लेकिन सज़ा देते वक्त हमें उपदेश भी देते थे और उन उपदेशों के साथ-साथ कभी-कभी वे कांग्रेस और कांग्रेस में काम करनेवाले लोगों को गालियां भी देते थे। भारत-मंत्री के ऊंचे ओहदे की गम्भीर प्रतिष्ठावाले पद पर से सैम्युअल होर तक ने यह ऐलान किया कि, "हां, कुत्ते भोंक रहे हैं, मगर हमारा कारवां चला जा रहा है।" उस वक़्त वह यह भूल गए थे कि कुत्ते जेलों में बन्द थे, वहां से वे आसानी से भोंक नहीं सकते थे और जो कुत्ते बाहर रह गए थे उनके मुंह बिल्कुल बन्द कर दिये गए थे।

सबसे ज़्यादा अचरज की बात तो यह थी कि कानपुर के हिन्दू-मुस्लिम दंगे का दोष कांग्रेस के माथे मढ़ा जा रहा था। यह दंगा सचमुच बहुत ही बीभत्स

था, लेकिन उसकी बीभत्सता बार-बार जतलाई गई और बराबर ही यह बताया गया कि उसके लिए कांग्रेस ज़िम्मेदार थी, जबकि असली बात यह थी कि उस दंगे में कांग्रेस ने अत्यन्त गौरवपूर्ण कार्य किया; यहांतक कि कांग्रेस के एक सर्वश्रेष्ठ सेवक श्री गणेशशंकर विद्यार्थी उसमें बलि चढ़ गए, जिनकी मौत पर कानपुर की हर क़ौम और दल ने आंसू बहाकर शोक प्रकट किया। दंगों की खबर पाते ही कांग्रेस ने अपने कराची के अधिवेशन में फ़ौरन ही एक जांच कमेटी बिठा दी और इस कमेटी ने एक बहुत विस्तृत जांच की। कई महीने की मेहनत के बाद कमेटी ने एक बड़ी रिपोर्ट छपाई। सरकार ने फौरन ही इस रिपोर्ट को जब्त कर लिया। उसकी छपी हुई कापियां उठा ली गई, और मेरी समझ में वे नष्ट कर दी गई। जांच के नतीजों को इस तरह दबा देने के बाद भी हमारे सरकारी आलोचक और वे अख़बार, जिनके मालिक अंग्रेज़ हैं, हर बार यह बात दुहराते नहीं थकते कि दंगा कांग्रेस की वजह से हुआ। इसमे कोई शक नही कि इस मामले में ही नही, दूसरे और मामलों में भी, अन्त में जीत सचाई की होगी; लेकिन कभी-कभी झूठ बहुत दीर्घजीवी हो जाता है। एक कवि के शब्दों में—

"यह असत्य निश्चय ही जग में नष्ट एक दिन होगा,
पर तब तक वह बुरी तरह से क्षत-विक्षत कर देगा।
सत्य महान्, उसीकी जग मे विजय अन्त में होगी,
पर उस क्षण तक उसे देखने बैठा कौन रहेगा ?[1]

मेरा खयाल है कि हिस्टीरिया-जैसी युद्ध-मनोवृत्ति का यह प्रदर्शन बिल्कुल स्वाभाविक था। और ऐसी हालत में कोई भी इस बात की उम्मीद नहीं कर सकता था कि सचाई या संयम का पालन होगा। लेकिन फिर भी ऐसा मालूम पड़ता था कि उस समय आशातीत झूठ से काम लिया गया, उस झूठ की गहराई को देखकर अचम्भा होता था। इससे हमें इस बात का पता चल जाता है कि हिन्दुस्तान के शासक-दल की मनोवृत्ति कैसी थी और पिछले दिनों में वे अपने को कितना दबाये रखते थे। सम्भवत: उनको यह ग़ुस्सा हमारे किसी काम पर या हमारी किसी बात की वजह से नहीं आया, बल्कि इस विचार से आया कि अपने साम्राज्य से हाथ धो बैठने का उन्हें जो डर पहले था वह सच होता दीखता है। जिन शासकों

[1] अंग्रेजी पद्य का भावानुवाद।

को अपनी ताक़त का भरोसा होता है वे इस तरह हिम्मत नहीं हारते। शासकों की इस मनोवृत्ति मे और उधर दूसरी तरफ़ की तस्वीर मे ज़मीन-आसमान का फ़र्क था। क्योंकि कांग्रेस की तरफ़ बिल्कुल ख़ामोशी छाई हुई थी। मगर यह ख़ामोशी संयम की—स्वेच्छापूर्वक और गौरवपूर्ण संयम की—सूचक नहीं थी, बल्कि इसलिए थी कि कांग्रेसवाले जेलों में बन्द थे और बाकी लोग डरे हुए थे तथा अख़बारवालों को भी सर्व-व्यापी सेंसर का डर था। इसमें कोई शक नहीं कि अगर कांग्रेसवालों का मुंह इस तरह मजबूरी से बन्द न होता तो वे भी मनमानी बकवास करते, बढ़ा-चढ़ाकर बातें कहते और गालियां देने में शासकों को मात करते। मगर, हां, कांग्रेसवालों के लिए भी एक रास्ता तो था—वह था ग़ैर-कानूनी अख़बारों का, जो कई शहरों मे समय-समय पर निकाले जाते थे।

हिन्दुस्तान में अधगोरों के जो अख़बार निकलते है और जिनके मालिक अंग्रेज़ हैं, वे भी बड़े रस के साथ इस हर्ष-प्रदर्शन में शामिल हुए और उन्होंने ऐसे बहुत से विचार प्रकट किये और फैलाये जो शायद बहुत दिनों से उनके दिलों में दबे हुए पड़े थे। यों आमतौर पर उन्हें अपनी बात कुछ समझ-बूझकर कहनी पड़ती है, क्योंकि बहुत-से हिन्दुस्तानी उनके अख़बारों के ग्राहक हैं; लेकिन जब नाज़ुक वक्त आ गया तब यह सब संयम बह गया और हमें अंग्रेज़ और हिन्दुस्तानी दोनों ही के मन की झलक मिल गई। अब हिन्दुस्तान में अधगोरे अख़बार बहुत कम रह गए है, वे एक-एक करके बन्द हो गए हैं, लेकिन जो बाक़ी बचे हैं, उनमें कई ऊंचे दरजे के हैं—ख़बरों के लिहाज़ से भी और आकार-प्रकार की सुन्दरता के लिहाज़ से भी। दुनिया की समस्याओं पर उनके जो अग्रलेख होते हैं, यद्यपि वे हमेशा अनुदार लोगों के दृष्टिकोण से लिखे जाते हैं, फिर भी उनमें लिखने-वालों की योग्यता झलकती है, और इस बात का पता चलता है कि उन्हें अपने विषय का ज्ञान है और उसपर पूरा अधिकार है। इसमे कोई शक नहीं है कि अख़बारों की दृष्टि से सम्भवतः वे हिन्दुस्तान में सबसे अच्छे हैं; लेकिन हिन्दुस्तान के राजनैतिक मामलों में वे अपने उस गौरव से गिर जाते है। उनके एकपक्षी विचारों को देखकर ताज्जुब होता है। और जब कभी आन-बान का मौक़ा आता है तब तो उनकी वह हिमायत प्रायः बकवास और गंवारूपन का रूप धारण कर लेती है। वे सचाई के साथ भारत सरकार की राय को प्रकट करते हैं और

इस सरकार के हक में जो लगातार प्रचार करते हैं उसमें अपनी बात किसी पर ज़बरदस्ती न थोपने का गुण नहीं होता।

इन कुछ गिने-चुने अधगोरे अख़बारों के मुक़ाबले हिन्दुस्तानी अख़बार नीचे दरजे के हैं। उनके पास आर्थिक साधन बहुत कम होते हैं और उनके मालिक उनकी तरक्क़ी करने की बहुत कम कोशिश करते हैं। वे अपनी रोज़मर्रा की ज़िन्दगी मुश्किल से चला पाते हैं और बेचारे दुःखी सम्पादकीय विभाग को बड़ी मुसीबत का सामना करना पड़ता है। उनका आकार-प्रकार भद्दा है, उनमें छपने-वाले विज्ञापन अक्सर बहुत आपत्तिजनक होते हैं और क्या राजनीति और क्या सामान्य जीवन, दोनों में वे बहुत बढ़ी-चढ़ी भावुकता का परिचय देते हैं। मैं समझता हूं कि कुछ तो इसकी वजह यह है कि हम लोगों की जाति ही भावुकतामय है और कुछ यह कि जिस भाषा में (यानी अंग्रेज़ी में) वे निकलते हैं वह विदेशी भाषा है और उसमें सरलता से और साथ ही ज़ोर के साथ लिखना आसान नहीं है। लेकिन असली कारण तो यह है कि हम सब लोगों के मन मे दीर्घकालीन दमन और ग़ुलामी की वजह से कई प्रकार की गांठें पड़ गई हैं, इसलिए अपने भावों को बाहर निकालने की हमारी प्रत्येक विधि भावुकता से भरी हुई होती है।

अंग्रेज़ी मे निकलनेवाले हिन्दुस्तानी मालिकों के अख़बारों में, जहां तक बहिरंग की सुन्दरता और समाचार-सम्पादन से सम्बन्ध है, मद्रास का 'हिन्दू' सम्भवतः सबसे अच्छा है। उसे पढ़कर मुझे हमेशा किसी अविवाहित वृद्धा की याद आ जाती है, जो हमेशा मर्यादा और औचित्य को पसन्द करती है और अगर उसके सामने बेअदबी का एक हरूफ़ भी कह दिया जाय तो उसे बहुत बुरा मालूम होता है। यह अख़बार ख़ास तौर पर मध्यम श्रेणीवालों का अख़बार है, जिनकी ज़िन्दगी चैन से गुज़रती है। जीवन के संघर्षों और उसकी धक्का-मुक्की का, उसको कोई पता नहीं। नरम-दल के और भी कई अख़बारों का स्टैंडर्ड भी यही अवि-वाहित वृद्धाओं का-सा है। इस स्टैंडर्ड तक तो वे पहुंच जाते हैं, लेकिन उनमें वह ख़ूबी नहीं पा आती जो 'हिन्दू' मे है और इसलिए वे हर लिहाज़ से बहुत नीरस हो जाते हैं।

यह साफ़ था कि सरकार ने वार करने की तैयारी बहुत पहले से कर रक्खी थी और वह यही चाहती थी कि शुरू ही में उसकी चोट जहां तक हो सके पूरी कस-कर बैठे कि उसे खानेवाला चक्कर खाकर गिर पड़े। १९३० में वह हमेशा इस

कोशिश में रहती थी कि दिन-पर-दिन जो हालत बिगड़ती जा रही है उसे नये-नये आर्डिनेंसों से सम्हाले। उन दिनों वार का सूत्रपात हमेशा कांग्रेस की तरफ़ से होता था; लेकिन १९३२ की पद्धति बिल्कुल दूसरी थी। १९३२ में सरकार ने सब तरफ़ से हमला करके लड़ाई शुरू की। अखिल भारतीय और प्रान्तीय आर्डिनेंसों के द्वारा हाकिमों को जितने अधिकार सोचे जा सकते थे, सभी दे दिये गए। संस्थाएं ग़ैरकानूनी करार दे दी गई। इमारतों पर, ज़ायदादों पर, सवारियों, मोटरों वग़ैरा पर और बैंकों में जमा रुपयों पर कब्ज़ा कर लिया गया। आम जलसों और जुलूसों की मनाही कर दी गई और अखबारों और छापेख़ानों पर पूरी तरह नियन्त्रण कर लिया गया। दूसरी तरफ़, १९३० के बिल्कुल विरुद्ध, गांधीजी निश्चितरूप से यह चाहते थे कि उस वक़्त सत्याग्रह न किया जाय। कार्य-समिति के ज़्यादातर मेम्बरों की भी यही राय थी। उनमें से कुछ, जिनमें से मैं भी एक था, यह समझते थे कि हम कितना ही नापसन्द करें लेकिन लड़ाई हुए बिना नहीं रहेगी और हमें उसके लिए तैयार रहना चाहिए। इसके अलावा युक्तप्रान्त में और सीमाप्रान्त में जो तनातनी बढ़ रही थी उससे लोगों का ध्यान भावी लड़ाई की तरफ़ लग रहा था। लेकिन कुल मिलाकर मध्यम श्रेणी के और पढ़े-लिखे लोग लड़ाई की बात नहीं सोच रहे थे, हालांकि वे लड़ाई की सम्भावना की पूरी उपेक्षा नहीं कर सकते थे। किसी तरह हो, उन्हें यह उम्मीद थी कि गांधीजी के आने पर यह लड़ाई टल जायगी और ज़ाहिर है कि इस मामले में उनकी लड़ाई से बचने की इच्छा ने ही उनके हृदयों में यह आशा पैदा कर दी थी।

इस तरह १९३२ के शुरू में निश्चित रूप से पहला हमला सरकार की तरफ़ से होता था और कांग्रेस हमेशा अपना बचाव करने में लगी रहती थी। आर्डिनेंसों को और सत्याग्रह-संग्राम को पैदा करनेवाली जो घटनाएं अचानक हो गईं उनकी वजह से कई जगह के स्थानिक नेता तो भौचक्के रह गए। लेकिन इन सब बातों के होते हुए भी कांग्रेस की पुकार का लोगों ने जो जवाब दिया वह ऐसा-वैसा नहीं था। सत्याग्रहियों की कमी नहीं रही। बल्कि सच बात तो यह है और मेरे खयाल से इस बात मे कोई शक नहीं हो सकता कि १९३२ में ब्रिटिश सरकार का जो मुक़ाबला किया गया वह १९३० में किये जानेवाले मुक़ाबले से बहुत कड़ा और भारी था। १९३० में ख़ासतौर पर बड़े-बड़े शहरों में धूमधाम और शोरग़ुल ज्यादा था, पर १९३२ में लोगों ने सहन-शक्ति पहले से ज़्यादा दिखाई और वे

पूरी तरह शान्त रहे। इन बातों के होते हुए भी स्फूर्ति की प्रारम्भिक लहर का ज़ोर १९३० से इस बार बहुत था। ऐसा मालूम होता था मानो हम अनिच्छा से लड़ाई में शामिल हुए थे। १९३० में अपनी लड़ाई में हम एक तरह का गौरव महसूस करते थे जो दो साल बाद अब कुछ-कुछ मुरझा गया था। इधर सरकार ने उसके पास जितनी ताक़त थी सब लगाकर कांग्रेस का मुक़ाबला किया। उन दिनों हिन्दुस्तान एक तरह से फ़ौजी क़ानून के अधीन रहा और कांग्रेस असल में कभी भी पहला हमला न कर सकी, और न उसे काम करने की आज़ादी ही मिली। वह पहले ही प्रहार में बेहोश हो गई। उसके उन धनी-मानी हमदर्दों में से, जो पिछले दिनों में उसके ख़ास मददगार रहे थे, बहुत से इस बार घबरा गए। उनके धन-माल पर आ बनी। यह बात साफ़ दीखती थी कि जो लोग सत्याग्रह-संग्राम में शामिल होंगे या और किसी तरह से उसकी मदद करेंगे, न सिर्फ़ उनकी आज़ादी ही छीन ली जा सकती थी बल्कि शायद उनकी सारी जायदाद भी ज़ब्त कर ली जा सकती थी। इस बात का हम लोगों पर युक्तप्रान्त में तो कोई ख़ास असर नहीं पड़ा, क्योंकि यहां तो कांग्रेस ग़रीबों ही की थी। लेकिन बंबई-जैसे बड़े शहरों में इस बात का बड़ा भारी असर पड़ा। व्यापारियों के लिए तो इसका अर्थ था पूरा सत्यानाश। पेशेवर लोगों (जैसे वकील-डॉक्टरों) को भी उससे भारी नुकसान पहुंचता था। इसकी धमकी भर से—कभी-कभी तो वह धमकी पूरी करके भी दिखाई गई—शहर के अमीर श्रेणी के लोगों को लकवा-सा मार गया। पीछे मुझे मालूम हुआ कि एक डरपोक मालदार व्यापारी को पुलिस ने यह धमकी दी थी कि तुम्हें लम्बी क़ैद की सजा के देने के साथ तुम पर पांच लाख का जुर्माना किया जायगा। इस व्यापारी का राजनीति से कोई सम्बन्ध नहीं था, सिवा इसके कि कभी-कभी राजनैतिक कामों के लिए चन्दा दे दिया करता था। ऐसी धमकियां एक आम बात हो गई थी, और ये कोरी बातों की धमकियां ही न थीं; क्योंकि उन दिनों पुलिस सर्वशक्तिमान थी और लोगों को हर रोज़ इन धमकियों के पूरे होने के उदाहरण मिलते रहते थे।

मेरा विचार है कि किसी कांग्रेसी को इस बात का अधिकार नहीं है कि सरकार ने जो तरीक़ा इख़्तियार किया उसपर ऐतराज़ करे—यद्यपि एक सोलहों आने अहिंसात्मक आन्दोलन का दमन करने के लिए सरकार ने जिस ज़ोर-ज़बरदस्ती से काम लिया वह किसी भी शाइस्ता पैमाने से बहुत आपत्तिजनक थी। अगर

हम लोग सीधी लड़ाई के क्रान्तिकारी साधनों से काम लेते हैं तो हमें हर तरह के विरोध के लिए तैयार रहना चाहिए,फिर चाहे हमारे साधन कितने भी अहिंसात्मक क्यों न हों। हम लोग अपने बैठकख़ाने में बैठे-बैठे क्रान्ति का खेल नहीं खेल सकते, यद्यपि कुछ लोग इन दोनों का फ़ायदा साथ-साथ ही उठाना चाहते हैं। अगर कोई क्रान्ति की ओर क़दम बढ़ाना चाहता है, तो उसे उसके पास जो कुछ है उस सबको खो बैठने के लिए तैयार रहना चाहिए। इसीलिए धन-दौलत और पैसेवाले अमीर लोगों मे से तो बिरले ही क्रान्तिकारी मिलेंगे। हां, उन व्यक्तियों की बात दूसरी है जो व्यवहार-चतुर लोगों की दृष्टि में मूर्ख और अपनी श्रेणी के लोगों के लिए विश्वासघाती बनते हैं।

लेकिन आम लोगों के पास न तो मोटरें थीं, न बैंकों में उनका कोई हिसाब था, न ज़ब्त करने लायक जायदाद; और उन्हीं लोगों पर लड़ाई का असली बोझ था। इसलिए अवश्य ही उनके लिए सरकार ने दूसरे तरीक़े इख्तियार किये। सरकार ने चारों तरफ़ जिस बेरहमी से काम लिया उसका एक मज़ेदार नतीजा यह हुआ कि ऐसे बहुत-से लोग क्रियाशील हो उठे, जिनको (हाल ही में छपी एक किताब के अनुसार) 'सरकार-परस्त' के नाम से पुकारा जा सकता है। इन लोगों को यह तो पता नहीं था कि भविष्य में क्या होने वाला है, इसलिए ये लोग कांग्रेस के आगे-पीछे चक्कर काटने लगे थे। लेकिन सरकार इस बात को बरदाश्त करने को तैयार न थी। वह निष्क्रिय राजभक्ति को काफ़ी नहीं समझती थी। ग़दर के समय में मशहूर हुए फ्रेडरिक कूपर के शब्दों में 'शासक लोग, पूरी क्रिया-शीलता और प्रत्यक्ष वफ़ादारी से कम किसी बात को सह नहीं सकते। सरकार इतना नीचे उतरने को तैयार नहीं हो सकती थी कि वह अपनी रियाआ के सद्भाव मात्र पर क़ायम रहे।' अपने पुराने साथियों, ब्रिटिश लिबरल (उदार) दल के उन नेताओं के विषय में, जो राष्ट्रीय सरकार में जा मिले थे, एक साल पहले श्री लॉयड जार्ज ने कहा था कि "वे उन गिरगिटों के नमूने हैं जो अपने देश-काल की अवस्था देखकर अपना रंग बदल लेते हैं।" हिन्दुस्तान की नई देशकालावस्था में अलग-अलग रंगों के लिए गुंजाइश नहीं थी, इसलिए हमारे कुछ देश-भाई सरकार की पसन्द के अत्यन्त चमकीले रंग में रंगकर बाहर निकले और दावतें खाते तथा गीत गाते हुए वे शासकों के प्रति अपना प्रेम और आदर प्रदर्शित करने लगे। जो आर्डिनेंस जारी किये गए थे उनसे, तरह-तरह की जो पाबन्दियां

मनाहियां और रोकें लगी हुई थीं उनसे, और दिन छिपे बाद घरों से बाहर न निकलने का हुक्म जारी किये गए थे उनसे डरने की कोई ज़रूरत न थी, क्योंकि सरकार की ओर से यह बात कह दी गई थी कि यह सब तो राजद्रोहियों और अ-राजभक्तों ही के लिए है, राजभक्तों के लिए उनसे डरने का कोई कारण नहीं है। इसलिए जिस डर ने हमारे बहुत से देश-भाइयों को पकड़ रक्खा था वह उनके पास तक नहीं फटका और वे अपने चारों तरफ़ चलनेवाले आन्दोलन और संघर्ष को समदृष्टि से देखते थे। 'पतिव्रता ग्वालिन' नाम की कविता में शायद वे भी क्लो से सहमत होते, जब उसने यह कहा कि—

"भय क्यों हो, सर्वथा मुक्त हूं मैं तो भय से,
बलात्कार क्यों, राज़ी हूं जब स्वयं हृदय से ?"[1]

न जाने कैसे सरकार को यह खयाल हो गया कि कांग्रेस जेलों को औरतों से भरकर अपनी लड़ाई में उनका लाभ उठाना चाहती है। क्योंकि कांग्रेसवाले समझते होंगे कि औरतों के साथ अच्छा बर्ताव किया जायगा या उनको थोड़ी सज़ा दी जायगी। यह धारणा बिलकुल निराधार थी। ऐसा कौन है जो यह चाहता हो कि हमारे घर की औरतें जेलों में धकेली जायं ? मामूली तौर पर लड़कियों और स्त्रियों ने हमारी लड़ाई में क्रियात्मक भाग अपने पिताओं और भाइयों या पतियों की इच्छा के विरुद्ध ही लिया। किसी भी हालत में उन्हें अपने घर के पुरुषों का पूरा सहयोग नहीं मिला। फिर भी सरकार ने यह तय किया कि लम्बी-लम्बी सज़ाएं देकर और जेलों में बुरा बर्ताव करके स्त्रियों को जेल जाने से रोका जाय। मेरी बहिनों की गिरफ़्तारी के बाद शीघ्र ही कुछ युवती लड़कियां, जिनमें से अधिकांश पन्द्रह या सोलह वर्ष की थीं, इलाहाबाद में इस बात पर ग़ौर करने के लिए इकट्ठी हुई कि अब क्या करना चाहिए। उन्हें कोई अनुभव तो था ही नहीं। हां, उनमें जोश था और वे यह सलाह लेना चाहती थीं कि हम क्या करें। लेकिन जब वे एक प्राइवेट घर में बैठी हुई बातें कर रही थीं, गिरफ़्तार कर ली गईं और हरेक को दो-दो साल की सख़्त क़ैद की सज़ा दी गई। यह तो उन बहुत-सी छोटी-छोटी घटनाओं में से एक था, जो उन दिनों आये-दिन हिन्दुस्तान-भर में हो रही थीं। जिन लड़कियों व स्त्रियों को सज़ा मिली उनमें से

---

[1] फ़्लेचर कवि के एक प्रहसन की कविता का भावानुवाद।

ज़्यादातर को बहुत कठिनाई उठानी पड़ी। उन्हें मर्दों से भी ज़्यादा तकलीफ़ें भुगतनी पड़ीं। यों मैंने ऐसी कई दुःखदायी मिसालें सुनीं, लेकिन मीरा बहन (मिस मेडलीन स्लेड) ने बम्बई की एक जेल में अपने तथा अपनी साथी क़ैदी दूसरी सत्याग्रही स्त्रियों के साथ होने वाले जिस व्यवहार का वर्णन किया वह उन सबको मात करनेवाला था।

संयुक्तप्रान्त में हमारी लड़ाई का केन्द्र देहाती क्षेत्रों में ही रहा। किसानों के प्रतिनिधि की हैसियत से कांग्रेस ने जो लगातार ज़ोर डाला उसकी वजह से सरकार ने काफ़ी छूट देने का वादा किया, लेकिन हम उसे भी काफ़ी नहीं समझते थे। हमारी गिरफ़्तारी के बाद फ़ौरन ही और भी छूट का ऐलान किया गया। विचित्र बात तो यह थी कि इस छूट का ऐलान पहले से नहीं किया गया; क्योंकि अगर यह पहले हो जाता तो हालत में काफ़ी अन्तर पड़ जाता। हम लोगों के लिए यह मुश्किल हो जाता कि हम उसे यों ही ठुकरा दें। लेकिन उस वक़्त तो सरकार को यह चिन्ता थी कि इस छूट की नामवरी कांग्रेस को न मिलने पाये। इसलिए एक तरफ़ तो वह कांग्रेस को कुचलना चाहती थी और दूसरी तरफ़ किसानों को जितनी छूट वह दे सकती थी उतनी देती थी कि जिससे वे चुपचाप अपने घर बैठे रहें। यह बात तो साफ़ तौर पर दिखाई देती थी कि जहां-जहां कांग्रेस का ज़ोर ज़्यादा था वहीं-वहीं ज़्यादा छूट मिली थी।

यद्यपि ये छूटें ऐसी-वैसी न थी फिर भी उससे किसानों की समस्या हल न हुई। हां, उनसे स्थिति बहुत-कुछ संभल ज़रूर गई। इन छूटों ने किसानों की लड़ाई की तेज़ी कम कर दी और हमारी व्यापक लड़ाई की दृष्टि से इन छूटों ने उस समय हमें कमज़ोर कर दिया। उस लड़ाई से युक्तप्रान्त में बीसियों हज़ार किसानों को दुःख झेलने पड़े। उनमें से कई तो उसकी वजह से बिल्कुल बर्बाद हो गए। लेकिन उस लड़ाई के ज़ोर से लाखों किसानों को मौजूदा प्रणाली में ज़्यादा-से-ज़्यादा जितनी छूट सम्भव हो सकती थी क़रीब-क़रीब उतनी मिल गई और उस लड़ाई ने (सत्याग्रह-संग्राम की वजह से बहुतों को जो तक़लीफ़ उठानी पड़ती वह छोड़कर) तरह-तरह की परेशानियों से भी उनकी जान बचा दी। किसानों को कभी-कभी जो ये थोड़े से फ़ायदे हो गए वे ऐसे कुछ थे नहीं; लेकिन इस बात में कोई शक नहीं है कि वे जैसे कुछ थे प्रायः उस लगातार कोशिश के फल थे, जो युक्तप्रान्तीय कांग्रेस कमेटी ने किसानों की तरफ़ से की थी। और

किसानों को उस लड़ाई से कुछ दिनों के लिए फ़ायदा ही हुआ, लेकिन उसमें जो सबसे अधिक बहादुर थे, वे उस लड़ाई में काम आ गए।

दिसम्बर १९३१ में जब युक्तप्रान्त का विशेष आर्डिनेंस जारी हुआ, तब उसके साथ-साथ एक विवरणात्मक वक्तव्य निकाला गया था। इस बयान में और दूसरे आर्डिनेंसों के साथ-साथ जो बयान निकाले गए, उनमें बहुत सी असत्य और अर्ध-सत्य बातें भरी हुई थीं, जो प्रचार के मतलब के लिए कही गई थीं। यह सब शुरू-शुरू के हर्ष-प्रदर्शन का एक अंग था और हमें उसका जवाब देने या उनकी स्पष्ट ग़लतियों के खंडन करने का कोई मौक़ा नहीं मिला। शेरवानी के मत्थे ख़ास तौर पर एक झूठा दोष मढ़ने की कोशिश की गई थी। यह झूठ साफ़-साफ़ चमकता था और शेरवानी ने गिरफ़्तारी से कुछ ही पहले उसका खंडन कर दिया था। ये तरह-तरह के बयान और सरकार की सफाइयां बड़ी अजीब होती थीं। उनसे मालूम होता था कि सरकार कितनी बकवास करती थी और कितनी हड़बड़ा गई थी। उस दिन जब मैं वह आज्ञापत्र पढ़ रहा था, जो स्पेन के बोरबन चार्ल्स तीसरे ने अपने राज्य से जेसुइट्स को निकालते हुए जारी किया था, तो उसे पढ़ते-पढ़ते मुझे उन हुक्मनामों और आर्डिनेंसों की तथा उन्हें निकालने के लिए दिये गए कारणों की याद आये बिना न रही जो ब्रिटिश सरकार ने हिन्दुस्तान में प्रकाशित किये थे। चार्ल्स का वह हुक्मनामा फरवरी १७६७ को निकला था। बादशाह ने यह कहकर अपने हुक्म को ठीक ठहराया था कि इसको निकालने के लिए हमारे पास "अपनी प्रजा में अपना शासन, शान्ति और न्याय की रक्षा करने के लिए मेरा जो कर्त्तव्य है उससे सम्बन्ध रखनेवाले बहुत ही गम्भीर कारण हैं और इन कारणों को छोड़कर दूसरे बहुत ज़रूरी, उचित और आवश्यक कारण भी हैं, जिन्हें मैं अपने दिल में सुरक्षित रख रहा हूं।"

तो आर्डिनेंस निकालने के जो असली कारण थे वे तो वाइसराय के दिल में या उनके सलाहकारों के साम्राज्यवादी दिलों में ही बन्द रहे; यद्यपि वे साफ़-साफ़ दीख पड़ते थे। सरकार की तरफ़ से आर्डिनेंसों को निकालने के लिए जो कारण बताये गए, उनसे हमें सरकारी प्रचार की उस विद्या को समझने का मौक़ा मिला, जिसे ब्रिटिश सरकार हिन्दुस्तान में पूर्णता पर पहुंचा रही थी। कुछ महीने बाद हमें यह भी मालूम हुआ कि कुछ अर्द्ध-सरकारी परचे व पैम्फ़्लेट हज़ारों की तादाद में सब गांवों में बांटे जा रहे हैं, और जिनमें ग़लत बातों की तादाद काफ़ी आश्चर्य-

जनक हैं और जिनमें खासतौर पर यह बात भी कही गई थी कि किसानों को नाज की जिस मन्दी से नुक़सान पहुंचा है, वह कांग्रेस ने ही कराई है। कांग्रेस की ताक़त की इससे ज्यादा तारीफ़ और क्या हो सकती है कि वह संसारव्यापी संकट पैदा कर सकी; लेकिन यह झूठ काफ़ी होशियारी के साथ इस आशा से लगातार फैलाया गया कि उससे कांग्रेस की धाक को धक्का लगेगा।

इन सब बातों के होते हुए भी युक्तप्रान्त के कुछ खास-खास ज़िलों के किसानों ने सत्याग्रह की लड़ाई में जो हिस्सा लिया था, वह प्रशंसनीय था। सत्याग्रह की यह लड़ाई लाज़िमी तौर पर उचित लगान और छूट की लड़ाई में मिल गई थी। इस लड़ाई में किसानों ने १९३० की लड़ाई से कहीं ज्यादा तादाद में और ज्यादा अनुशासन के साथ हिस्सा लिया। शुरू-शुरू में इस लड़ाई में कुछ विनोद भी हुआ। हम लोगों को एक मज़ेदार कहानी यह सुनाई गई कि पुलिस की एक पार्टी रायबरेली ज़िले के बाकुलिया गांव में गई। वे लोग लगान अदा न होने पर माल कुर्क़ करने के लिए गए थे। इस गांव के लोग, दूसरे लोगों को देखते हुए, कुछ खुशहाल और जीवट के आदमी थे। उन्होंने माल और पुलिस के अफ़सरों का खूब स्वागत-सत्कार किया और अपने-अपने घरों के किवाड़ खोलकर उनसे कहा कि चले जाइए और जो चाहे उठा लाइए। इन लोगों ने मवेशी वग़ैरा कुर्क़ किये। इसके बाद गांववालों ने पुलिस और माल-विभाग के हाकिमों को पान-सुपारी नज़र की। वे बेचारे निहायत शर्मिन्दा होकर नीची निगाह करके वहां से चले गए। लेकिन यह तो एक छोटी-सी और ग़ैरमामूली घटना थी। लेकिन बाद को फ़ौरन ही यह चुहलबाज़ी या उदारता या मनुष्योचित दया कहीं भी नहीं दिखाई दी। चुहलबाज़ी की वजह से बेचारा बाकुलिया गांव उस सज़ा से नहीं बच सका जो उसे ऐसी जीवट दिखाने के लिए मिली।

इन कई खास-खास जिलों में कई महीनों तक किसानों ने लगान रोक रक्खा था। उसकी अदायगी शायद गरमी के शुरू में होने लगी। इसमें कोई शक नहीं कि बहुत से लोग गिरफ़्तार किये गए, लेकिन ये गिरफ़्तारियां तो सरकार को अपनी कार्य-नीति के खिलाफ़ करनी पड़ीं। साधारण तौर पर गिरफ़्तारियां तो खास-खास कार्यकर्ताओं तथा गांवों के नेताओं की ही की जाती थीं। दूसरों को तो केवल मार-पीटकर छोड़ दिया जाता था। मार-पीट की यह पद्धति जेल में ले जाने और गोली मारने से अच्छी पाई गई। क्योंकि लोगों को जब भी चाहे

तभी मारा-पीटा जा सकता है और दूर देहात में होनेवाली मार-पीट की तरफ़ वहां से दूर के लोगों का ध्यान प्रायः नहीं जाता है। इसके अलावा उससे क़ैदियों की तादाद भी नहीं बढ़ती, जोकि वैसे ही बढ़ती जाती थी। हा बेदखलियां, कुर्क़ियां और ढोरों तथा जायदाद की नीलामियां बहुत हुईं। किसान तकलीफ़ से तड़पते हुए यह देखते थे कि उनके पास जो कुछ थोड़ा-सा बचा-खुचा था वह भी उनसे छीनकर मिट्टी के मोल बेचा जा रहा है।

देश-भर में जिन बहुत-सी इमारतों पर सरकार ने अपना क़ब्ज़ा कर लिया था उनमें स्वराज-भवन भी था। स्वराज-भवन मे कांग्रेस का जो अस्पताल काम कर रहा था, उसका भी क़ीमती सामान और माल सरकार के क़ब्ज़े में ले लिया गया। कुछ दिनों तक तो अस्पताल बिल्कुल ही बन्द हो गया, लेकिन उसके बाद पड़ोस में एक पार्क की खुली जगह में ही दवाख़ाना खोल दिया गया। इसके बाद वह अस्पताल—या कहना चाहिए दवाख़ाना—स्वराज-भवन से लगे हुए एक छोटे-से मकान में रक्खा गया और वहीं वह कोई ढाई बरस तक चलता रहा।

हमारे रहने के घर 'आनन्द-भवन' की बावत भी कुछ बात चली कि सरकार उसपर भी अपना क़ब्ज़ा कर लेना चाहती है, क्योंकि मैंने इन्कम-टैक्स की एक बड़ी बक़ाया रक़म अदा करने से इन्कार कर दिया था। यह टैक्स १९३० में पिताजी की आमदनी पर लगाया गया था और उन्होंने सत्याग्रह की लड़ाई की वजह से उसे जमा नहीं किया। दिल्ली-पैक्ट के बाद १९३१ में उस टैक्स के बारे में इन्कम-टैक्स के हाकिमों से मेरी बहस हुई लेकिन अन्त में मैं उसे देने को राज़ी हो गया और उनकी एक क़िस्त दे भी दी। ठीक इसी समय आर्डिनेंस जारी हुए और मैंने तय कर लिया कि अब मैं टैक्स नहीं दूंगा। मुझे अपने लिए यह बात बहुत ही बुरी, बुरी ही क्यों, अनीतिपूर्ण भी, मालूम हुई कि मैं किसानों से तो यह कहूं कि तुम लगान और मालगुज़ारी देने से रुक जाओ और ख़ुद अपना इन्कम-टैक्स जमा कर दूं। इसलिए मैं यह आशा करता था कि सरकार हमारे मकान को कुर्क़ कर लेगी। मुझे अपने मकान की कुर्क़ी की बात बहुत ही बुरी लगती थी। क्योंकि उसका अर्थ यह होता है कि मेरी मा उससे निकाल दी जातीं और हमारी किताबें, काग़ज़ात तथा जानवर और बहुत-सी ऐसी वस्तुएं, जिनका निजी उपयोग तथा ममत्व के कारण हमारी दृष्टि में महत्त्व था, पराये लोगों के हाथों में चली जातीं और उनमें से कई तो शायद खो भी जातीं। हमारा

राष्ट्रीय झंडा उतार दिया जाता और उसकी जगह यूनियन जैक फहरा दिया जाता। पर साथ ही, मकान को खो बैठने का विचार मुझे बहुत अच्छा भी मालूम होता; क्योंकि मै अनुभव करता था कि मकान कुर्क हो जाने पर मैं उन किसानों के ज़्यादा नज़दीक आ जाऊंगा जो अपनी चीज़ें खो बैठे हैं और इससे उनके दिल भी बढेंगे। हमारे आन्दोलन की दृष्टि से तो सचमुच यह बात बहुत ही अच्छी होती। लेकिन सरकार ने दूसरी ही बात तय की। उसने मकान पर हाथ नहीं डाला; शायद इसलिए कि उसे मेरी मां का खयाल हुआ हो, या शायद इसलिए कि उसने यह बात समझ ली हो कि मेरे मकान को कुर्क़ करने से सत्याग्रह-आन्दोलन की तेज़ी बढ़ जायगी। कई महीने बाद मेरे कुछ रेलवे के शेयरों (हिस्सों) का उसे पता लगा और इन्कम-टैक्स वसूल करने के लिए उन्हें ज़ब्त कर लिया गया। सरकार ने मेरी और मेरी बहन की मोटर तो पहले ही कुर्क़ करके बेच डाली थी।

इन शुरू के महीनों की एक बात से तो मुझे बहुत ज़्यादा तक़लीफ़ हुई। यह बात थी कि कई म्युनिसिपैलिटियों और सार्वजनिक संस्थाओं द्वारा हमारे राष्ट्रीय झंडे का अपनी इमारतों पर से उतार डालना, खासकर कलकत्ता कारपोरेशन द्वारा, जिसके मेम्बरों में कांग्रेसियों का बहुमत बताया जाता था। झंडे सरकार और पुलिस के दबाव से लाचार होकर उतारे गए थे; क्योंकि यह धमकी दी गई थी कि अगर वे न उतारे गए तो सरकार सख़्ती से पेश आयेगी। यह सख़्ती सम्भवतः म्युनिसिपैलिटी को तोड़ने या उसके मेम्बरों को सज़ा देने के रूप में होती। जो संस्थाएं स्थापित स्वार्थ रखती हैं वे अक्सर डरपोक हो जाती हैं और शायद उनके लिए यह अनिवार्य था कि वे झंडे उतार डालतीं। फिर भी इस बात से बड़ा दुःख हुआ। हमारे लिए वह झंडा, जिन बातों को हम बहुत प्यार करते हैं, उनका प्रतीक हो गया था और उसकी छाया मे हमने उसके गौरव की रक्षा करने की अनेक प्रतिज्ञाएं ली थीं। खुद अपने ही हाथों उसे उतार फेंकना या अपने हुक्म से उसे उतरवाना सिर्फ़ अपनी प्रतिज्ञाओं का तोड़ना ही नहीं, बल्कि एक पाप-कर्म-सा मालम होता था। यह अपनी आत्मा को दबाकर अपने भीतर की सचाई की अवहेलना करना था—अधिक शारीरिक बल के सामने झूठ को क़ुबूल करना था। और जो लोग इस तरह दब गए उन्होंने क़ौम की बहादुरी को बट्टा लगाया और उसकी इज्ज़त को हलका किया।

यह बात नहीं है कि हम उनसे यह उम्मीद करते थे कि वे वीरों की तरह

काम करते और आग में कूद पड़ते। किसीको इसलिए दोष देना कि वह अगली पंक्ति में नहीं है या जेल नहीं जाता या दूसरी तरह की तकलीफ़ें या नुकसान नहीं सह सकता, ग़लत और व्यर्थ है। हरेक को बहुत से कर्त्तव्य पूरे करने पड़ते हैं और कई प्रकार की ज़िम्मेदारियां उठानी पड़ती हैं। और दूसरों को इस बात का कोई हक़ नहीं है कि वे उनके जज बनकर बैठें। लेकिन पीछे घरों में बैठे रहना या काम न करना एक बात है और सचाई से, या जिसे हम सचाई समझते हैं, उसे न मानना बिल्कुल दूसरी बात है—और बहुत ही बुरी बात है। जब म्युनिसिपैलिटी के मेम्बरों से कोई ऐसी बात करने के लिए कही गई जो राष्ट्रीय हितों के खिलाफ़ थी, तब उनके लिए यह रास्ता खुला हुआ था कि वे अपनी मेम्बरी से इस्तीफ़ा दे देते। मगर, इन लोगों ने तो मेम्बर बने रहना ही पसन्द किया। टामस मूर ने कहा है—

'पुष्पासन पाकर मधुमक्खी तज देती गुंजन सुन्दर,
त्यों कौंसिल-कुर्सी पाते ही चुप हो जाते हैं मेम्बर।[1]'

शायद उस काम के लिए किसीकी आलोचना करना अन्याय है जो उन्होंने एक ऐसे आकस्मिक संकट में किया, जिससे वे बुरी तरह दब गए थे। जैसा कि पिछला संसारव्यापी युद्ध कई बार दिखा चुका है, कभी-कभी बड़े-से-बड़े बहादुरों के भी छक्के छूट जाते हैं। उससे भी पहले १९१२ में 'टाइटैनिक'[2] जहाज़ सम्बन्धी जो भारी दुर्घटना हुई थी, उसमें ऐसे-ऐसे नामी आदमियों ने, जिनकी बाबत कभी भी यह खयाल नहीं किया जा सकता था कि वे कायर हैं, जहाज़ के कर्मचारियों को रिश्वत देकर अपनी जान बचाई और दूसरे लोगों को डूबता छोड़ दिया। अभी हाल में 'मॉ ो कैसिल' पर जो आग लगी उससे बहुत ही शर्मनाक हालात मालूम हुए। कोई नहीं कह सकता कि ऐसा ही संकट आने पर जबकि वृत्तियां बुद्धि और संयम को दबा लेती हैं तब वह खुद क्या करेगा? इसलिए हमें किसीको दोष नहीं देना चाहिए। लेकिन इसका मतलब यह नहीं

[1]टामस मूर के अंग्रेजी पद्य का भावानुवाद।

[2]एक अंग्रेजी स्टीमर जो अपनी अमेरिका की पहली ही यात्रा में एक बरफ़ीली चट्टान से टकराकर टूट गया था (१४ अप्रैल १९१२)। उसके २००० यात्रियों में से केवल ७०६ ही बच पाये थे। —अनु०

कि हम इस बात पर ग़ौर न करें कि हमने जो कुछ किया वह ठीक नहीं था और भविष्य में इस बात का ख़याल रक्खें कि क़ौम की नैया की पतवार ऐसे लोगों के हाथ में न दी जाय, जो ऐसे वक़्त पर, जब सबसे ज़्यादा धीरज की ज़रूरत होती है, कांपने लगें और बेकार हो जायं। अपनी इस असफलता को उचित ठहराने की कोशिश करना और उसे ठीक काम बताना तो और भी बुरा है। सचमुच यह तो इस असफलता से भी ज़्यादा बड़ा अपराध है।

लड़नेवाली ताक़तों की हरेक कशमकश ज़्यादातर दिलेरी और धीरज पर निर्भर रहती है। खूनी-से-खूनी लड़ाई भी इन्हीं दो गुणों पर नर्भर रहती है। मार्शल फोक ने कहा था—"अन्त में जाकर लड़ाई वही जीतता है जो कभी घबड़ाता नहीं और हमेशा धीरज धरे रहता है।" अहिंसात्मक लड़ाई में तो कर्तव्य पर डटे रहने और धीरज रखने की और भी ज़्यादा ज़रूरत है। और जो कोई अपने आचरण से राष्ट्र के इस तत्त्व को नुक़सान पहुंचाता है तथा उसका धीरज छुटाता है वह अपने उद्देश्य को भयंकर हानि पहुंचाता है।

महीने बीतते गए, और हमें हर रोज़ कुछ अच्छी ख़बरें मिलती गईं और कुछ बुरी। हम लोग जेल की अपनी नीरस और एकसां ज़िन्दगी के आदी हो गए। ६ अप्रैल से १३ अप्रैल तक राष्ट्रीय सप्ताह आया। हम लोग यह जानते थे कि इस सप्ताह में बहुत-सी नई-नई घटनाएं घटेंगी। सचमुच उस हफ़्ते में बहुत सी बातें हुईं भी। लेकिन मेरे लिए एक घटना के सामने बाक़ी सब बातें फीकी पड़ गईं। इलाहाबाद में मेरी मां उस जुलूस में थीं जिसे पुलिस ने पहले तो रोका और फिर लाठियों से मारा। जिस वक़्त जुलूस रोक दिया गया था उस वक़्त किसीने मेरी माताजी के लिए एक कुर्सी ला दी। वह जुलूस के आगे उस कुर्सी पर सड़क पर बैठी हुई थीं; कुछ लोग, जिनमें मेरे सेक्रेटरी वग़ैरा शामिल थे और जो खासतौर पर उनकी देखभाल कर रहे थे, गिरफ़्तार करके उनसे अलग कर दिये गए और इसके बाद पुलिस ने हमला किया। मेरी मां को धक्का देकर कुरसी से नीचे गिरा दिया गया और उनके सिर पर लगातार बेंत मारे गए जिससे उनके सिर में घाव हो गया और खून बहने लगा और वह बेहोश होकर सड़क पर गिर गईं। सड़क पर से उस वक़्त तक जुलूसवाले तथा दूसरे लोग भगा दिये गए थे। कुछ देर के बाद किसी पुलिस अफ़सर ने उन्हें उठाया और अपनी मोटर में बिठाकर आनन्द-भवन पहुंचा गया।

मां
(श्रीमती स्वरूपरानी नेहरू)

उस रात को इलाहाबाद में यह अफ़वाह उड़ गई कि मेरी मां का देहान्त हो गया है। यह सुनते ही क्रुद्ध जनता की भीड़ ने इकट्ठे होकर पुलिस पर हमला कर दिया। वे शान्ति और अहिंसा की बात भूल गए। पुलिस ने उनपर गोली चलाई जिससे कुछ लोग मर गए।

इस घटना के कुछ दिन बाद जब इन सब बातों की ख़बर मेरे पास पहुंची (क्योंकि हमें उन दिनों एक साप्ताहिक अख़बार मिला करता था) तो अपनी कमज़ोर बूढ़ी मां के ख़ून से लथपथ धूल-भरी सड़क पर पड़े रहने का ख़याल मुझे रह-रहकर सताने लगा। मैं यह सोचने लगा कि अगर मैं वहां होता तो क्या करता? मेरी अहिंसा कहां तक मेरा साथ देती? मुझे डर है कि वह ज़्यादा हद तक मेरा साथ नहीं देती। क्योंकि वह दृश्य शायद मुझे उस पाठ को बिल्कुल भुला देता जिसे सीखने की कोशिश मैंने बारह बरस से भी ज़्यादा समय से की थी और उसका मुझपर या मेरे राष्ट्र पर क्या असर होता, इसकी रत्तीभर भी परवा न करता।

धीरे-धीरे वह चंगी हो गईं और जब वह दूसरे महीने बरेली-जेल में मुझसे मिलने आईं तब उनके सिर पर पट्टी बंधी थी। लेकिन उन्हें इस बात की बड़ी भारी ख़ुशी और महान् गर्व था कि वह हमारे स्वयंसेवकों और स्वयंसेविकाओं के साथ बेंतों और लाठियों की मार खाने के सम्मान से वंचित न रहीं। लेकिन उनका स्वास्थ्य-लाभ उतना वास्तविक नहीं था जितना दिखावटी; और ऐसा मालूम होता है कि इतनी बड़ी उमर में उन्हें जो भारी धक्के सहने पड़े, उनसे उनका शरीर जर्जर हो गया और उन गहरी तकलीफ़ों को उभाड़ दिया जिन्होंने एक साल बाद भीषण रूप धारण कर लिया।

: ४३ :

बरेली और देहरादून-जेलों में

छह हफ़्ते नैनी-जेल में रहने के बाद मेरा तबादला बरेली ज़िला-जेल में कर दिया गया। मेरी तन्दुरुस्ती फिर गड़बड़ रहने लगी। मुझे रोज़ बुख़ार हो आता था, जो मुझे बहुत नागवार मालूम होता था। चार महीने बरेली-जेल में बिताने के बाद, जब गरमी बहुत सख़्त हुई तब फिर मेरा तबादला कर दिया गया। लेकिन इस मर्तबा मुझे बरेली की अपेक्षा एक ठंडी जगह, हिमालय की छाया में, देहरादून-जेल में भेजा गया। मैं वहां लगातार कोई साढ़े चौदह महीने, लगभग अपनी दो साल की सज़ा के अख़ीर तक रहा। इस बीच मेरा तबादला किसी और दूसरी जगह नहीं हुआ। इसमें कोई शक नहीं कि जो लोग मुझसे मिलने आते थे उनसे और ख़तों तथा उन गिने-चुने अख़बारों के ज़रिये, जो मुझे पढ़ने को दिये जाते थे, मेरे पास ख़बरें पहुंच जाती थीं, फिर भी बाहर जो कुछ हो रहा था उससे ज़्यादातर मैं अपरिचित ही रहा और ख़ास-ख़ास घटनाओं के बारे में मेरी धारणा बहुत धुंधली थी।

इसके बाद जब मैं छूटा तब अपने निजी कामों में और उस समय जो राजनतिक परिस्थिति थी उसे ठीक करने में लगा रहा। कोई पांच महीने से कुछ ज़्यादा की आज़ादी के बाद मैं फिर जेल में बन्द कर दिया गया और अबतक यहीं हूं। इस तरह पिछले तीन सालों में मै ज़्यादातर जेल में ही—और इसीलिए घटनाओं से बिल्कुल दूर, अलग—रहा हूं। इस बीच में जो कुछ हुआ उस सबका ब्यौरेवार परिचय प्राप्त करने का मुझे बहुत ही कम, नहीं के बराबर, मौक़ा मिला है। जिस दूसरी गोलमेज़-कान्फ्रेंस में गांधीजी शरीक हुए थे उसमें परदे के पीछे क्या-क्या हुआ, इसकी बाबत मेरी जानकारी अबतक बहुत ही धुंधली है। इस मामले पर गांधीजी से बातचीत करने का अबतक मुझे कोई मौक़ा ही नहीं मिला और न इसी बात का मौक़ा मिला कि अबतक जो-कुछ हुआ है उसके बारे में उनके या दूसरे साथियों के साथ बैठकर विचार कर सकूं।

१९३२ और १९३३ के सालों के बारे में मेरी जानकारी इतनी काफ़ी नहीं है कि मैं अपने राष्ट्रीय संग्राम के विकास का इतिहास लिख सकूं। लेकिन चूंकि मैं रंगमंच को, उसकी पृष्ठभूमि को और अभिनेताओं को अच्छी तरह जानता था, इसलिए जो बहुत-सी छोटी-छोटी बातें भी हुई उनको मैं अपने सहज ज्ञान से अच्छी तरह समझ सका। इस तरह मैं उस संग्राम की साधारण प्रगति के विषय में ठीक राय कायम कर सकता हूं। पहले चार महीने के क़रीब तो सत्याग्रह की लड़ाई काफ़ी ज़ोर और हल्ले के साथ चली, लेकिन उसके बाद धीरे-धीरे वह गिरती गई। बीच-बीच में वह फिर भड़क उठती थी। सीधी मार की लड़ाई क्रान्तिकारी पराकाष्ठा पर तो थोड़ी देर के लिए ही ठहर सकती है। वह एक जगह स्थिर नहीं रह सकती, वह या तो तेज़ होगी या नीचे गिरेगी। पहले आवेश के बाद सत्याग्रह-संग्राम धीरे-धीरे ढीला पड़ता गया, लेकिन उस हालत में भी वह बहुत काल तक चलता रहा। यद्यपि कांग्रेस ग़ैर-कानूनी क़रार दे दी गई थी, फिर भी अखिल भारतीय कांग्रेस का संगठन काफ़ी सफलता के साथ अपना काम करता रहा। अपने-अपने प्रान्त के कार्यकर्त्ताओं के साथ उसका नाता बना रहा। वह अपनी सूचनाएं भेजता रहा, सूबों से रिपोर्ट हासिल करता रहा और कभी-कभी उसने सूबों को आर्थिक मदद भी दी।

सूबे के संगठन भी कम-ज़्यादा कामयाबी के साथ अपना काम चलाते रहे। जिन सालों में मैं जेल में बन्द था उनमें दूसरे सूबों में क्या हुआ, इस बात का मुझे ज़्यादा पता नहीं; लेकिन अपने छूटने के बाद मुझे संयुक्तप्रान्त के काम की बाबत बहुत-सी बातें मालूम हो गई। युक्तप्रान्तीय कांग्रेस-कमेटी का दफ़्तर १९३२ में पूरे साल-भर और १९३३ के बीच तक नियमित रूप से अपना काम करता रहा। यानी वह उस वक़्त तक अपना काम चलाता रहा जब गांधीजी की सलाह मानकर कांग्रस के तत्कालीन कार्यवाहक सभापति ने पहली बार सत्याग्रह को स्थगित किया। इस डेढ़ साल में ज़िलों को अक्सर हिदायतें भेजी जाती रहीं। छपी हुई या साइक्लोस्टाइल से लिखी हुई पत्रिकाएं नियम से जारी होती रहीं। समय-समय पर ज़िलों के काम की निगरानी होती रही और राष्ट्रीय सेवा-संघ के कार्य-कर्त्ताओं को भत्ता मिलता रहा। इसमें से अधिकांश काम अनिवार्यतया गुप्त रूप से किया गया था। लेकिन प्रान्तीय कांग्रस-कमेटी के जो सैक्रेटरी दफ़्तर आदि को संभाले हुए थे, वह खुलेआम सैक्रेटरी की हैसियत से उस वक़्त तक काम करते

करने से मुसीबत और आपसी रंजिश खड़ी हो जाती। इसलिए हम लोगों ने यही तय किया कि हम किसीको रुपये-पैसे की मदद न दें। हमने आन्दोलन के शुरू में ही यह बात सबको बता दी थी और किसान लोग हमारी बात के महत्त्व को अच्छी तरह समझते थे। किसी प्रकार की शिकायत या आपत्ति किये बिना उन्होंने जितनी तकलीफ़ें सहीं, उन्हें देखकर आश्चर्य होता था। जहांतक हमसे हो सका वहांतक हमने कुछ व्यक्तियों की अलबत्ते मदद करने की कोशिश की—खास तौर पर उन कार्यकर्त्ताओं की पत्नियों और बच्चों की, जो जेल गए थे। इस दुःखी देश की दरिद्रता का यह हाल है कि एक रुपये महीने की मदद भी इन लोगों के लिए ईश्वरीय देन थी।

इस लड़ाई के दौरान में युक्तप्रान्तीय कांग्रेस-कमेटी, यद्यपि वह ग़ैर-कानूनी क़रार दे दी गई थी फिर भी, अपने वैतनिक कार्यकर्त्ताओं को जो थोड़ी-बहुत वृत्ति देती थी बराबर देती रही; और जब वे जेल चले गए—जेल तो अपनी-अपनी बारी आने पर सभी गए थे—तब उनके परिवारों की मदद करती रही। हमारे बजट में इस मद का ख़र्च बहुत बड़ा था। इसके बाद परचों और पत्रिकाओं को छापने और उनकी कई हज़ार कापियां निकालने का ख़र्च था। यह ख़र्च भी बहुत बड़ा था। सफ़रख़र्च भी ख़र्च की एक ख़ास मद थी। इसके अलावा जो ज़िले ज्यादा ग़रीब थे उन्हें भी कुछ मदद दी जाती थी। एक ज़बरदस्त और सब तरह से मोर्चाबन्द सरकार के ख़िलाफ़ जनता की घमासान लड़ाई के इस काल में इन सब ख़र्चों के और दूसरे ख़र्चों के होते हुए युक्तप्रान्त की कांग्रेस-कमेटी का जनवरी १९३२ से लेकर १९३३ के अगस्त के अख़ीर तक का यानी बीस महीने का कुल ख़र्च सिर्फ़ ६३००० रुपया था; यानी क़रीब-क़रीब ३१५० रुपया महीना। इस रक़म में वह ख़र्च शामिल नहीं है जो इलाहाबाद, आगरा, कानपुर, लखनऊ जैसी ज्यादा साधन-सम्पन्न और ज्यादा मज़बूत ज़िलों की कमेटियों ने अलग किया। प्रान्त की हैसियत से १९३२ और १९३३ भर युक्तप्रान्त लड़ाई के मैदान में आगे ही रहा और मेरे विचार से हमने जो-कुछ कर दिखाया उसे देखते हुए यह बात विशेषरूप से ध्यान देने योग्य है कि उसने बहुत कम ख़र्च किया। इस छोटी-सी रक़म की तुलना उस रक़म से करना बड़ा दिलचस्प होगा जो सूबे की सरकार ने सत्याग्रह को कुचलने के लिए ख़ास तौर पर ख़र्च की! यद्यपि मुझे ठीक-ठीक तो नहीं मालूम है फिर भी मेरा ख़याल है कि कांग्रेस के कुछ दूसरे बड़े-बड़े सूबों ने

हमारे सूबे से कहीं ज़्यादा ख़र्च किया। लेकिन बिहार तो, कांग्रेस की दृष्टि में, अपने पड़ोसी युक्तप्रान्त से भी ज्यादा ग़रीब सूबा था, फिर भी लड़ाई में उसने जो हिस्सा लिया वह बहुत ही शानदार था।

अस्तु, धीरे-धीरे सत्याग्रह-आन्दोलन कमज़ोर पड़ता गया, फिर भी वह चलता रहा और वह भी बिना विशेषताओं के नहीं। ज्यों-ज्यों दिन बीतते गए, त्यों-त्यों वह सर्वसाधारण का आन्दोलन नहीं रहा। सरकारी दमन की सख्ती के अलावा इस आन्दोलन पर सबसे पहला ज़बरदस्त प्रहार उस वक़्त हुआ जब सितम्बर १९३२ में गांधीजी ने पहले-पहल हरिजनों की समस्या पर अनशन किया। इस अनशन ने जनता में जागृति ज़रूर पैदा की, लेकिन उसने उसे दूसरी तरफ़ मोड़ दिया। जब मई १९३३ में सत्याग्रह की लड़ाई स्थगित की गई, तब तो व्यावहारिक रूप में आख़िरी तौर पर उसका अन्त ही हो गया। यों उसके बाद वह जारी तो रही लेकिन प्रायः विचार में ही, आचार में नहीं। इसमें कोई शक नहीं कि अगर वह स्थगित न की जाती तो भी वह धीरे-धीरे समाप्त हो जाती। हिन्दुस्तान दमन की उग्रता और कठोरता के कारण सुन्न हो गया था। कम-से-कम उस वक़्त तो तमाम राष्ट्र का धैर्य चला गया था और नये उत्साह का संचार नहीं हो रहा था। व्यक्तिगत रूप में तो अब भी ऐसे बहुत से लोग थे जो सत्याग्रह करते रह सकते थे। लेकिन उन लोगों को कुछ-कुछ बनावटी वातावरण मे काम करना पड़ता था।

हम लोगों को जेल में रहते हुए यह बात रुचिकर नहीं लगती थी कि हमारा महान् आन्दोलन इस तरह धीरे-धीरे गिरता जाय। फिर भी हममें से शायद ही कोई यह समझता हो कि हमें झट कामयाबी हो जायगी। यह ज़रूर है कि इस बात का कुछ-न-कुछ अवसर हमेशा ही था कि अगर आम लोग इस तरह उठ खड़े हों कि उन्हें कोई दबा ही न सके, तो चमत्कारिक विजय हो जाती। लेकिन हम ऐसे दैवयोग पर भरोसा नहीं कर सकते थे। इसलिए हम लोग तो एक ऐसी लम्बी लड़ाई के लिए ही तैयार थे जो कभी तेज़ होती, कभी धीमी पड़ती और बीच-बीच में ज़िच में पड़ जाती। इस लड़ाई से जनता को अनुशासन का पाठ पढ़ाने तथा उसमें एक विचारधारा का लगातार प्रचार करने में ज़्यादा सफलता हुई। १९३२ के उन शुरू के दिनों में तो मैं कभी-कभी इस विचार से डर जाता था कि कहीं हमें फ़ौरन ही दिखावटी सफलता न मिल जाय; क्योंकि अगर

ऐसा होता तो उसमें अनिवार्यतः कोई राज़ीनामा होता जिससे राज की बागडोर सरकार-पक्षी और अवसरवादी (मौक़ापरस्त) लोगों के हाथ में पहुंच जाती। १९३१ के अनुभव ने हमारी आंखें खोल दी थीं। कामयाबी तो तभी काम की हो सकती है जब वह ऐसे वक़्त पर आये जबकि लोग प्रायः काफ़ी समर्थ हों और उसके बारे में उनके विचार स्पष्ट हों, जिससे वे उस विजय का लाभ उठा सकें। यदि ऐसा न होगा तो सर्वसाधारण तो लड़ेंगे और क़ुर्बानी करेंगे, और जब कामयाबी का वक़्त आयेगा तब ऐन मौक़े पर दूसरे लोग बड़ी ख़ूबी से आकर जीत के लाभ हड़प लेंगे। इस बात का भारी ख़तरा था, क्योंकि ख़ुद कांग्रेस के इस बारे में निश्चित विचार नहीं थे कि हम लोगों को किस तरह की सरकार या समाज स्थापित करना चाहिए। न इस बारे में लोगों को साफ़-साफ़ कुछ सूझता ही था। सचमुच कुछ कांग्रेसी तो कभी यह सोचते ही न थे कि सरकार की मौजूदा प्रणाली में कोई ज़्यादा हेर-फेर किया जाय। वे तो केवल यह चाहते थे कि मौजूदा सरकार में ब्रिटिश या विदेशी अंश को निकालकर उसकी जगह 'स्वदेशी' छाप दे दी जाय।

एकदम 'सरकारपरस्त' लोगों से तो हमें कोई डर नहीं था; क्योंकि उनके धर्म की सबसे पहली बात यह थी कि राजशक्ति जिस किसीके हाथ में हो उसीके सामने सिर झुकाया जाय। लेकिन यहां तो लिबरलों (मध्यमार्गियों) और प्रतिसहयोगियों तक ने ब्रिटिश सरकार की विचारधारा को लगभग सोलहों-आने मंज़ूर कर लिया था। समय-समय पर वे जो थोड़ा-बहुत छिद्रान्वेषण कर देते थे, वह इसीलिए बिल्कुल बेकार और दो कौड़ी का होता था। यह बात सबको अच्छी तरह मालूम थी कि ये लोग तो हर हालत में क़ानून के पोषक थे और उसकी वजह से वे कभी सत्याग्रह का स्वागत नहीं कर सकते थे। लेकिन वे तो इससे कहीं ज़्यादा आगे बढ़ गए और बहुत-कुछ सरकार की ओर जा खड़े हुए। हिन्दुस्तान में सब प्रकार की नागरिक स्वतन्त्रता का जो दमन हो रहा था उसे प्रायः चुप-चाप खड़े हुए, या यों कहिये कुछ-कुछ डरे हुए दर्शकों की तरह, दूर से ही देख रहे थे। असल में दमन का यह सवाल महज़ सरकार द्वारा सत्याग्रह का मुकाबला किया जाने और उसके कुचले जाने का ही सवाल नहीं था, वह तो तमाम राजनैतिक जीवन और सार्वजनिक हलचलों को बन्द करने का सवाल था। लेकिन उमके ख़िलाफ़ शायद ही किसीने कोई आवाज़ उठाई हो। जो लोग मामूली तौर पर

इन आज़ादियों के हामी थे, वे सब-के-सब लड़ाई में जुटे हुए थे और उन लोगों ने राज की ज़बरदस्ती के सामने सिर झुकाने से इन्कार करके उसकी सज़ा भोगी। लेकिन बाक़ी लोग तो बुरी तरह दब गए। उन्होंने सरकार की नुक्ताचीनी में चू तक नहीं की। जब कभी उन्होंने बहुत ही नरम टीका-टिप्पणी की भी तो ऐसे लहज़े से मानो अपने क़ुसूर की माफ़ी मांग रहे हों, और उसके साथ-साथ वे कांग्रेस की और उन लोगों की जो सत्याग्रह की लड़ाई लड़ रहे थे, कड़ी निन्दा कर देते थे।

पश्चिमी देशों में नागरिक स्वतन्त्रता के पक्ष में मज़बूत लोकमत बन गया है। इसलिए वहां ज्योंही इनमें कमी की जाती है त्योंही लोग बिगड़कर उसका विरोध करने लगते हैं। (शायद अब वहां भी यह इतिहास की पुरानी बात हो गई है।) उन देशों में ऐसे लोगों की तादाद बहुत काफ़ी है जो ख़ुद तो बड़ी और सीधी लड़ाई में हिस्सा लेने को तैयार नहीं होते, लेकिन इस बात का बहुत काफ़ी ध्यान रखते हैं कि बोलने और लिखने की स्वतन्त्रता में, सभा और संगठन स्थापित करने की स्वतन्त्रता में, तथा व्यक्तिगत और छापेख़ाने की स्वतन्त्रता में किसी तरह की कमी न होने पाये। इनके लिए वे निरन्तर आन्दोलन करते रहते हैं और इस तरह सरकार द्वारा उनके भंग किये जाने की कोशिशों को रोकने में सहायक होते हैं। हिन्दुस्तान के लिबरलों का दावा है कि वे लोग कुछ हद तक ब्रिटिश लिबरलों की परम्परा पर चल रहे है (हालांकि इन दोनों में नाम के अलावा और किसी बात में समानता नहीं है)। फिर भी उनसे यह उम्मीद की जा सकती थी कि इन आज़ादियों के इस तरह दबाये जाने पर वे कम-से-कम कुछ बौद्धिक विरोध तो ज़रूर करेंगे, क्योंकि दमन का असर उनपर भी पड़ता था। लेकिन उन्होंने ऐसी कोई बात नहीं की। उन्होंने वॉल्टेयर की तरह यह नहीं कहा कि "आप जो कुछ कहते हैं उससे मैं बिल्कुल सहमत नहीं हूं; लेकिन आपको अपनी बात कहने का हक़ है और आपके इस हक को मैं अपनी जान पर खेलकर बचाऊंगा।"

शायद उनको इस बात के लिए दोष देना भी मुनासिब नहीं है, क्योंकि उन लोगों ने लोकतन्त्र या आज़ादी के रक्षक होने का दावा कभी नहीं किया और उन्हें एक ऐसी हालत का सामना करना पड़ा जिसमें एक शब्द ऐसा-वैसा कहने पर वे मुसीबत में फंस सकते थे। हिन्दुस्तान में होनेवाले दमन का स्वतन्त्रता के उन पुराने प्रेमियों यानी ब्रिटिश लिबरलों और ब्रिटिश मज़दूर-दल के नये साम्यवादियों पर जो असर पड़ा, उसे देखना ज़्यादा मुनासिब मालूम होता है। हिन्दुस्तान

में जो कुछ हो रहा था वह काफी तकलीफ़देह था। लेकिन वे उस सबको काफ़ी मज़े के साथ देखते रहे और कभी-कभी तो 'मैंचेस्टर गार्जियन' के संवाददाता के शब्दों में हिन्दुस्तान में 'दमन के वैज्ञानिक प्रयोग' की कामयाबी पर उनकी खुशी ज़ाहिर हो जाती। हाल में ही ग्रेट ब्रिटेन की राष्ट्रीय सरकार ने एक राज-द्रोह-बिल पास करने की कोशिश की है। खास तौर पर लिबरलों और मज़दूर दलवालों ने इस बिल के ख़िलाफ़ और बातों के साथ इस आधार पर बहुत बावेला मचाया है कि वह बोलने की आज़ादी को नष्ट करता है और मैजिस्ट्रेटों को यह अधिकार देता है कि वे तलाशी के वारण्ट निकालें। जब-जब मैं इन टीका-टिप्पणियों को पढ़ता तो मैं उनके साथ सहानुभूति करता था; लेकिन साथ ही मेरी आंखों के सामने हिन्दुस्तान की तस्वीर नाच उठती और मुझे यह दिखाई देता कि यहां तो जो क़ानून जारी हैं वे क़रीब-क़रीब उस क़ानून से सौ-गुने ज्यादा बुरे हैं, जिसे 'ब्रिटिश राजद्रोह-बिल' बनाने की कोशिश कर रहा है। मुझे इस बात पर बड़ा आश्चर्य होता था कि जिन अंग्रेज़ों के गले में इंग्लैण्ड में पतिंगा भी अटक जाता है वे हिन्दुस्तान में बिना चीं-चपड़ किये ऊंट को किस तरह निगल जाते हैं। सचमुच मुझे ब्रिटिश लोगों की इस अद्भुत खूबी पर हमेशा आश्चर्य हुआ है कि किस प्रकार वे अपने नैतिक पैमाने को अपने भौतिक स्वार्थों के अनुकूल बना लेते हैं और जिन कामों से उनके साम्राज्य बढ़ाने के इरादों को मदद मिलती है उन सबमें उन्हें गुण-ही-गुण दिखाई देता है। आज़ादी और लोकतन्त्र के ऊपर मुसोलिनी और हिटलर जो कुछ हमला कर रहे हैं उस पर उन्हें बड़ा क्रोध आता है और वे निहायत ईमानदारी के साथ उसकी निन्दा करते हैं; लेकिन उतनी ही ईमानदारी के साथ वे हिन्दुस्तान में आज़ादी का छीना जाना ज़रूरी समझते हैं और इस बात के लिए ऊंचे-से-ऊंचे नैतिक कारण पेश करते हैं कि इस आज़ादी के छीनने के काम में उनका अपना कोई स्वार्थ नहीं है।

जब हिन्दुस्तान में चारों तरफ़ आग लग रही थी और पुरुषों तथा स्त्रियों की अग्नि-परीक्षा हो रही थी, तब यहां से बहुत दूर लन्दन में छंटे-चुने हज़रात हिन्दुस्तान के लिए एक शासन-विधान बनाने को इकट्ठे हुए। १९३३ में तीसरी गोलमेज़-कान्फ्रेंस हुई और उसके साथ-साथ कई कमेटियां बनीं। यहां असेम्बली के बहुत से मेम्बरों ने इन कमेटियों की मेम्बरी के लिए डोरे डाले, जिससे वे निजी तौर पर आनन्द मनाने के साथ-साथ सार्वजनिक कर्त्तव्य का भी पालन कर सकें।

सार्वजनिक ख़र्चे से हिन्दुस्तान से लन्दन को काफ़ी बड़ी भीड़ गई। बाद को १९३३ में संयुक्त पार्लमेण्टरी कमेटी बैठी जिसमें हिन्दुस्तानियों ने असेसरों की तरह काम किया। इस बार भी जो लोग गवाह बनकर गये, उनको दयालु सरकार ने सफ़र-ख़र्च अपने ख़ज़ाने से दिया। बहुत से लोग फिर, हिन्दुस्तान की सेवा करने के सच्चे भावों से प्रेरित होकर सार्वजनिक ख़र्च पर समुद्र-पार गये और कहा जाता है कि इनमें से कुछ ने तो ज्यादा सफ़र-खर्च मिलने के लिए कोशिश भी की !

हिन्दुस्तान के जन-आन्दोलन का क्रियात्मक स्वरूप देखकर डरे हुए स्थापित स्वार्थों के इन प्रतिनिधियों को, साम्राज्यवाद की छत्र-छाया में, लन्दन में इकट्ठा देखकर कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए। लेकिन हमारे अन्दर जो राष्ट्रीयता है, उसको यह देखकर ज़रूर वेदना हुई कि जब मातृभूमि इस तरह के जीवन और मरण के संघर्ष में लगी हुई हो, तब कोई हिन्दुस्तानी इस तरह की हरकत करे। लेकिन एक दृष्टि से हममें से बहुतों को यह जान पड़ा कि यह अच्छा ही हुआ; क्योंकि उसने हिन्दुस्तान में प्रगति-विरोधी लोगों को हमेशा के लिए प्रगतिशील लोगों से अलग कर दिया। (उस समय हम यही सोचते थे, लेकिन अब मालूम पड़ता है कि हमारा यह ख़याल ग़लत था।) इस छंटनी से जनता को राजनैतिक शिक्षा देने में मदद मिलेगी और सब लोगों के लिए यह बात और भी स्पष्ट हो जायगी कि सिर्फ़ आज़ादी के द्वारा ही हम सामाजिक समस्याओं को हल कर सकते हैं और जनता के सिर का बोझ हटा सकते हैं।

लेकिन इस बात को देखकर अचरज होता था कि इन लोगों ने अपनी रोज़मर्रा की ज़िन्दगी में ही नहीं, बल्कि नैतिक और बौद्धिक दृष्टि से भी अपनेको हिन्दुस्तान की जनता से कितना अलग कर दिया है ! ऐसी कोई कड़ी न थी जो इनको जनता से जोड़ती। ये न तो जनता को ही समझते थे न उसकी उस भीतरी प्रेरणा को ही, जो उसे क़ुर्बानी करने और तकलीफ़ें झेलने के लिए स्फूर्ति दे रही थी। इन नामी राजनीतिज्ञों की राय में असलियत सिर्फ़ एक बात में थी। वह थी ब्रिटिश साम्राज्य की वह ताक़त, जिससे लड़कर उसे हराना ग़ैर-मुमकिन है और इसलिए, उसके सामने हमें खुशी से या बेबसी से अपना सिर झुका देना चाहिए। इन लोगों को यह बात सूझती ही न थी कि भारत की जनता के सद्भाव के बिना हिन्दुस्तान के प्रश्न को हल करना या उसके लिए कोई वास्तविक जीवित विधान बनाना बिल्कुल असम्भव था। जे० ए० स्पेंडर ने हाल ही में 'हमारे समय का संक्षिप्त

इतिहास' (Short History of Our Times) नामक जो किताब लिखी है उसमें १९१० की उस आयरिश ज्वाइण्ट कान्फ्रेंस की असफलता की चर्चा की गई है जिसने वैधानिक संकट को मिटाने की कोशिश की थी। उनका कहना है कि जो राजनैतिक नेता संकट-काल के बीच में विधान तलाश करने की कोशिश करते हैं, उनकी दशा उन लोगों की-सी होती है जो, जब मकान में आग लगी हुई है तब, उसका बीमा कराने की कोशिश करते हैं। १९३२ और १९३३ में हिन्दुस्तान में जो आग लगी हुई थी वह उस आग से कहीं ज़्यादा बड़ी थी जो आयर्लैण्ड में १९१०में लगी हुई थी और यद्यपि उस आग की ज्वालाएं भले ही बुझ जायें, फिर भी उसके धधकते हुए अंगारे बहुत दिनों तक रहेंगे और वे हिन्दुस्तान में स्वाधीनता के संकल्प की तरह गरम और कभी न बुझनेवाले होंगे।

हिन्दुस्तान के शासक-वर्ग में हिंसा-भाव की जो बढ़ती हो रही थी उसे देखकर आश्चर्य होता था। इस हिंसा की परम्परा पुरानी थी, क्योंकि ब्रिटिश लोगों ने हिन्दुस्तान पर राज ज़्यादातर पुलिस-राज की तरह किया है। सिविल हाकिमों का भी खास दृष्टिकोण फ़ौजी ही रहा है। उनकी हुकूमत में वह प्रवृत्ति प्रायः हमेशा रही है जो विजित देश पर क़ब्ज़ा करके पड़ी हुई शत्रु की फ़ौज की हुकूमत में रहती है। अपनी मौजूदा व्यवस्था को गम्भीर चुनौती मिलते ही उनकी यह मनोवृत्ति और भी ज़्यादा बढ़ गई। बंगाल में और दूसरी जगह आतंकवादियों ने जो काण्ड किये उनसे इस हिंसा को और भी खुराक मिली और शासकों को अपने हिंसात्मक कार्यों के लिए थोड़ा-बहुत बहाना मिल गया। सरकार की नीति ने और तरह-तरह के आर्डिनेंसों ने सरकारी अफ़सरों और पुलिस को इतने असीम अधिकार दे दिये कि हिन्दुस्तान में एक तरह का 'पुलिस-राज' ही हो गया, जिसमें पुलिस के लिए किसी प्रकार की रोक-टोक नहीं थी।

थोड़ी-बहुत मात्रा में हिन्दुस्तान के सभी प्रान्तों को इस भीषण दमन की आग में होकर निकलना पड़ा, लेकिन सीमाप्रान्त और बंगाल को सबसे ज्यादा तकलीफ़ें झेलनी पड़ीं। सीमाप्रान्त तो हमेशा से खास फ़ौजी सूबा रहा है। उसका इन्तज़ाम अर्ध-फ़ौजी क़ायदों के मुताबिक होता है। युद्ध-कार्य की दृष्टि से उसका बहुत महत्त्व पहले ही से था। अब लालकुर्त्ती-आन्दोलन से तो सरकार एकदम घबरा गई। इस सूबे में 'शान्ति-स्थापन करने के लिए' और 'तूफ़ानी गांवों को' ठीक करने के लिए फ़ौज की टुकड़ियां भेजी गई थीं। हिन्दुस्तान-भर

में यह आम रिवाज़ हो गया था कि सरकार गांव-के-गांवों पर जुर्माना ठोंक देती थी और कभी-कभी (खास तौर पर बंगाल में) नगरों पर भी सज़ा के तौर पर पुलिस बैठा दी जाती थी। और जब पुलिस को अनाप-शनाप अधिकार मिले हुए थे और उन्हें रोकनेवाला कोई था नहीं, तब पुलिस की ओर से ज्यादतियां होना लाज़िमी था। हम लोगों को क़ानून और व्यवस्था के नाम पर, अनियमितता और अव्यवस्था के आदर्श उदाहरण, खूब देखने को मिले।

बंगाल के कुछ हिस्सों में तो बहुत ही असाधारण बातें दिखाई देती थीं। सरकार तमाम आबादी के—सही बात तो यह है कि हिन्दुओं की आबादी के—साथ दुश्मनों का-सा बर्ताव करती और बारह से लेकर पचीस बरस तक के हर शख्स को, फिर चाहे वह मर्द हो या औरत, लड़का हो या लड़की, 'शनाख्त' का कार्ड लेकर चलना पड़ता था। लोगों के झुंड-के-झुंड को देश-निकाला दिया जाता था या नज़रबन्द कर दिया जाता था। उनकी पोशाक पर बन्धन था और उनके स्कूलों का नियमन सरकार करती थी या जब चाहती स्कूलों को बन्द कर देती थी। साइकिलों पर चढ़ने की मनाही थी और कहीं आने-जाने के लिए पुलिस को अपने आने-जाने की इत्तिला देनी पड़ती थी। इसके अलावा दिन-छिपे बाद घर से न निकलने के लिए और रात के लिए तथा दूसरी बातों के लिए क़ायदे और कानूनों की भरमार थी। फ़ौजें गश्त लगाती थीं। ताज़ीरी पुलिस तैनात कर दी जाती थी और पूरे गांव पर जुर्माने होते थे। बड़े-बड़े क्षेत्र ऐसे मालूम पड़ते थे मानो उनपर हमेशा के लिए घेरा डाल दिया गया हो। इन क़सबों में रहनेवाले स्त्री-पुरुषों की ऐसी कड़ी निगरानी होती थी कि उनकी हालत उन लोगों से बेहतर न थी, जो छुट्टी के टिकिट लिये बिना आ-जा नहीं सकते। इस बात का निर्णय देना मेरा काम नहीं है कि आया ब्रिटिश सरकार के दृष्टिकोण से यह सब अद्भुत क़ायदे-क़ानून ज़रूरी थे या नहीं। अगर वे ज़रूरी नहीं थे तो सरकार पर यह भारी इल्ज़ाम आता है कि उसने सारे प्रदेश की स्वतन्त्रता को अपमानित करने, उसपर जुल्म करने और उसे भारी नुकसान पहुंचाने का महान् अपराध किया है। अगर वे ज़रूरी थे तो निस्सन्देह हिन्दुस्तान में ब्रिटिश शासन की बाबत यह अन्तिम फ़ैसला है, जिससे उसकी नींव का पता लग जाता है।

सरकार की इस हिंसावृत्ति ने जेलों में भी हम लोगों का पीछा किया। क़ैदियों का अलग-अलग श्रेणियों में बंटवारा एक मज़ाक-सा था और अक्सर उन

लोगों को बड़ी तकलीफ़ होती थी जो ऊंचे दरजे में रक्खे जाते थे। ये ऊंचे दरजे बहुत ही कम लोगों को मिले और बहुत से मानी तथा मृदुल स्वभाव के पुरुषों और स्त्रियों को ऐसी हालत में रहना पड़ा जो लगातार एक यन्त्रणा थी। ऐसा मालूम पड़ता है कि सरकार की यह निश्चित नीति थी कि वह राजनैतिक क़ैदियों को मामूली क़ैदियों से भी ज़्यादा बुरी तरह रक्खे। जेलों के इन्सपेक्टर जनरल ने तो यहां तक किया कि सब जेलों के नाम एक गुप्त गश्ती चिट्ठी जारी की जिसमें यह कहा गया कि सत्याग्रही क़ैदियों के साथ 'कड़ाई का बर्ताव' होना चाहिए।[1]

बेंतों की सज़ा जेल की आम सज़ा हो गई। २७ अप्रैल १९३३ को भारत के उप-सचिव ने कामन-सभा में कहा कि "सर सेम्युअल होर को यह बात मालूम है कि हिन्दुस्तान में १९३२ के सत्याग्रह से सम्बन्धित जुर्मों के सिलसिले में कोई पाँच सौ व्यक्तियों के बेंत लगे हैं।" इसमें यह बात साफ़ नहीं है कि उसमें वे लोग भी शामिल हैं या नहीं जिनको जेलों में जेल के क़ायदे तोड़ने के लिए बेंतों की सज़ा दी गई। १९३२ में जेलों में बेंत लगाने की ख़बरें जब हमारे पास अक्सर आने लगीं, तब मुझे याद आया कि हम लोगों ने दिसम्बर १९३० में बेंतों की सज़ा की एक या दो फुटकर मिसालों के विरोध में तीन दिन तक उपवास किया था। उस वक़्त इस सज़ा की पाशविकता से मुझे भारी चोट पहुंची थी और इस वक़्त भी मुझे बार-बार चोट पहुंचती थी और मेरे दिल में बड़ी टीस उटती थी, लेकिन मुझे यह नहीं सूझा कि इस बार फिर उसके विरोध में अनशन करना चाहिए, क्योंकि मैंने इस बार इस मामले में अपने को पहले से ही कहीं ज्यादा बेबस पाया। कुछ समय के बाद मन पाशविकता के प्रति जड़-सा हो जाता है। किसी बुरी बात को आप ज़्यादा देर तक जारी रखिये और दुनिया उसकी आदी हो जायगी।

हमारे आदमियों को जेल में कड़ी-से-कड़ी मशक़्कत दी गई—जैसे चक्की,

---

[1] इस गश्ती-चिट्ठी पर ३० जून १९३३ की तारीख पड़ी थी और उसमें यह लिखा हुआ था—"जेल सुपरिण्टेण्डेण्टों और उसके मातहत कर्मचारियों के लिए इन्स्पेक्टर जनरल इस बात पर जोर देते हैं कि सत्याग्रही क़ैदियों के साथ उनके महज़ सत्याग्रही होने की वजह से रिआयती बर्ताव करने की कोई वजह नहीं है। इस दर्जे के क़ैदियों को अपनी-अपनी जगहों में रखना चाहिए और उनके साथ ख़ूब सख़्ती से पेश आना चाहिए।"

कोल्हू वग़ैरा, और उनसे माफ़ी मंगवाकर तथा सरकार के सामने यह प्रण कराकर कि हम आगे ऐसा नहीं करेंगे, उन्हें छूटने को प्रेरित करने के लिए, जहांतक हो सका वहांतक उनकी ज़िन्दगी भाररूप करने की कोशिश की गई। क़ैदियों से इस तरह माफ़ी मंगवाना जेल के हाकिमों के लिए बड़े गौरव की बात मानी जाती थी। जेल में ज़्यादातर सज़ाएं उन लड़कों और नौजवानों को भोगनी पड़ीं जो धौंस, दबाव और बेइज़्ज़ती बरदाश्त करने को तैयार न थे। ये लड़के निहायत अच्छे और जीवटवाले थे। स्वाभिमान, ज़िन्दादिली तथा साहसीवृत्ति से भरे हुए इंग्लैंड के पब्लिक स्कूलों में इस तरह के लड़कों की बेहद तारीफ़ें होतीं, उन्हें हर तरह की शाबाशी दी जाती; लेकिन यहां हिन्दुस्तान में उनकी युवकोचित आदर्श-वादिता और उनके स्वाभिमान के कारण उनको हथकड़ियां पहनाई गई, उन्हें काल-कोठरियों में बन्द किया गया और बेंत लगवाये गए।

जेलों में हमारी महिलाओं की ज़िन्दगी तो ख़ासतौर पर दुःखमय थी—ऐसी दुःखमय कि उसका ख़याल करने में भी तकलीफ़ होती है। ये स्त्रियां ज़्यादातर मध्य-श्रेणी की थीं जो रक्षित जीवन बिताने की आदी थीं और पुरुषों द्वारा अपने आधिपत्यवाले समाज में अपने फ़ायदे के लिए बनाये गए नीति-नियमों और रिवाज़ों द्वारा सताई हुई थीं। इन स्त्रियों के लिए आज़ादी की पुकार हमेशा दुहरे मानी रखती थी और इस बात में कोई शक नहीं कि जिस जोश और जिस दृढ़ता के साथ वे आज़ादी की लड़ाई में कूदीं उनका मूल उस धुंधली और लगभग अज्ञात, लेकिन फिर भी उत्कट आकांक्षा में था जो उनके मन में घर की ग़ुलामी से अपनेको मुक्त करने के लिए बसी हुई थी। इनमें से बहुत कम को छोड़कर बाक़ी सबको मामूली क़ैदियों के दरजे में रखा गया और उनको बहुत ही पतित स्त्रियों के साथ और अक्सर उन्हीं-की-सी भयानक हालत में रखा गया। एक बार मैं एक ऐसी बैरक में रखा गया जो औरतों की बैरक से सटी हुई थी। दोनों के बीच में एक दीवार ही थी। औरतों के अहाते में, दूसरी क़ैदिनों के साथ-साथ कुछ राजनैतिक क़ैदिनें भी थीं और इनमें एक महिला ऐसी भी थी जिसके घर में मैं एक बार ठहरा था और जिसने मेरा आतिथ्य-सत्कार किया था। यद्यपि एक ऊंची दीवार हमें एक-दूसरे से अलग कर रही थी, तो भी वह उन बातों और गालियों को सुनने से नहीं रोक पाती थी, जो हमारी बहिनों को क़ैदी-नम्बरदारिनों से सुननी पड़ती थीं। इन्हें सुनकर मुझे बड़ा रंज होता था।

यह बात ख़ास तौर पर ध्यान देने लायक़ है कि १९३२ और १९३३ के राजनैतिक क़ैदियों के साथ जो बर्ताव किया गया वह उससे कहीं ज़्यादा बुरा था, जो दो बरस पहले सन् १९३० में किया गया था। यह बात केवल जेल-हाकिमों की धुन की वजह से ही नहीं हो सकती थी। इसलिए इसके सम्बन्ध में एकमात्र उचित परिणाम यही निकलता है कि यह सब सरकार की निश्चित नीति की वजह से हुआ। राजनैतिक क़ैदियों के प्रश्न को छोड़कर भी युक्तप्रान्तीय सरकार के जेल के महकमे की यह तारीफ़ थी कि वह क़ैदियों के साथ मनुष्यों का-सा बर्ताव करने की हर बात के सख़्त ख़िलाफ़ होने के लिए प्रसिद्ध था। इस बात की हमें एक ऐसी मिसाल मिली जिसके बारे में कोई शक हो ही नहीं सकता। एक मर्तबा एक बहुत नामी जेल-निरीक्षक हम लोगों के पास जेल में आये। यह महाशय बाग़ी या हम लोगों की तरह राजद्रोह फैलानेवाले न थे, बल्कि 'सर' थे। उनको सरकार ने ख़ुश होकर ख़िताब बख़्शा था। उन्होंने हमसे कहा कि "कुछ महीने पहले मैंने एक दूसरी जेल का निरीक्षण किया था; और अपने निरीक्षण के नोट में यह लिख दिया था कि जेलर हुकूमत रखते हुए भी इन्सानियत से काम लेता है। उस जेलर ने मुझसे प्रार्थना की कि मेरी इन्सानियत की बाबत कुछ न लिखिए, क्योंकि सरकार की मण्डली में 'इन्सानियत' अच्छी निगाह से नहीं देखी जाती। लेकिन मैं अपनी बात पर अड़ा रहा, क्योंकि मैं कभी यह ख़याल ही नहीं कर सकता था कि इस बात के पीछे जेलर को कुछ नुक़सान पहुंच सकता है। नतीजा क्या हुआ? फ़ौरन ही एक बहुत दूर कहीं कोने में पड़ी हुई एक जेल में उस जेलर का तबादला कर दिया गया, जो उसके लिए एक क़िस्म की सज़ा ही थी।"

कुल जेलर ख़ास तौर पर ख़ूंख़्वार थे और न्यायनीति की परवा न करते थे। उनको ख़िताब दिये गए तथा उनकी तरक़्क़ी की गई। जेलों में बेईमानी और रिश्वतख़ोरी तो इतनी चलती है कि शायद ही कोई उससे पाक-साफ़ रहता हो। लेकिन मेरा अपना और मेरे बहुत से दोस्तों का तजुर्बा है कि जेल के कर्मचारियों में वही लोग सबसे ज़्यादा बईमान और रिश्वतख़ोर होते हैं जो आमतौर पर अनुशासन के बहुत ज़बरदस्त और सख़्त हामी बनते हैं।

मैं ख़ुशक़िस्मत रहा हूं कि जेल में और जेल से बाहर और जितने लोगों से मेरा वास्ता पड़ा उन सबने मेरे साथ इज़्ज़त व शराफ़त का बर्ताव किया, उस हालत

में भी जब कि शायद मैं उसका पात्र न था। लेकिन जेल की एक घटना से मुझे और मेरे स्वजनों को बहुत दुःख हुआ। मेरी मां, कमला और मेरी लड़की इंदिरा इलाहाबाद ज़िला-जेल में मेरे बहनोई रणजित पण्डित से मिलने के लिए गईं और वहां बिना क़ुसूर ही जेलर ने उनका अपमान किया और उन्हें जेल से बाहर धकेल दिया। जब मैंने यह बात सुनी तो मुझे बड़ा रंज हुआ और जब मुझे यह मालूम हुआ कि प्रान्तीय सरकार का रुख भी इस मामले में अच्छा नहीं है तब मुझे भारी धक्का लगा। अपनी मां को जेल-अधिकारियों द्वारा अपमानित किये जाने की सम्भावना से बचाने के लिए मैंने तय कर लिया था कि किसीसे मुलाक़ात नहीं करूंगा। और क़रीब सात महीने तक, जबतक मैं देहरादून जेल में रहा, मैंने किसीसे मुलाक़ात नहीं की।

: ४४ :

जेल में मानसिक उतार-चढ़ाव

हममें से दो का, मेरा और गोविन्दवल्लभ पन्त का, तबादला बरेली-जेल से देहरादून को साथ-साथ किया गया। कोई प्रदर्शन न होने पाये, इस बात का ध्यान रखने के लिए हम लोगों को बरेली में गाड़ी पर नहीं बिठाया गया, बल्कि वहां से ५० मील की दूरी पर एक छोटे-से स्टेशन पर ले जाकर वहां गाड़ी में बिठाया गया। हम लोग रात को चुपचाप मोटर में ले जाये गए। कई महीने तक अलग जेल में बन्द रहने के बाद रात को उस ठंडी हवा में मोटर के सफ़र से हमें अनोखा आनन्द आया।

बरेली-जेल से जाने के पहले एक छोटी-सी घटना हुई, जिसने उस वक़्त तो मेरे हृदय पर असर डाला ही था लेकिन अबतक भी वह मेरी याद में तरोताज़ा है। बरेली-पुलिस का सुपरिण्टेण्डेण्ट, जो कि एक अंग्रेज़ था, वहां मौजूद था और ज्योंही मैं कार में बैठा, त्योंही उसने कुछ-कुछ सकुचाते हुए मुझे एक पैकेट दिया जिसमें, उसने मुझे बताया कि, वे जर्मनी के पुराने सचित्र मासिक पत्रों की कापियां थीं। उसने कहा कि मैंने सुना है कि आप जर्मन सीख रहे हैं, इसलिए मैं कुछ मासिक पत्र आपके लिए ले आया हूं। इससे पहले मेरी उसकी मुलाक़ात कभी नहीं हुई थी और न उस दिन के बाद मैं आजतक उससे कभी मिला। मैं उसका नाम भी नहीं जानता। लेकिन मेरे दिल पर उसके स्वेच्छा-प्रेरित सौजन्य का और उस कृपा-भाव का, जिसने उसे इसकी प्रेरणा दी, बहुत असर पड़ा और अपने मन में मैं उसके प्रति बहुत ही कृतज्ञ हुआ।

आधी रात के उस लम्बे सफ़र में मैं अंग्रेज़ों और हिन्दुस्तानियों के, शासकों और शासितों के, सरकारी और ग़ैर-सरकारी लोगों के, तथा सत्ताधारियों और उनकी आज्ञाओं का पालन करनेवालों के आपसी सम्बन्धों के बारे में तरह-तरह की बातें सोचता रहा। इन दोनों वर्गों के बीच में कैसी गहरी खाई है, और ये दोनों एक-दूसरे पर कितना शक करते हैं, तथा एक-दूसरे को कितना नापसन्द करते

हैं ! लेकिन इस अविश्वास और अरुचि से भी ज़्यादा बड़ी बात एक-दूसरे की बाबत अज्ञान है। इसी अज्ञान की वजह से दोनों एक दूसरे से डरते हैं और एक-दूसरे की मौजूदगी में हर वक़्त चौकन्ने रहते हैं। हरेक को दूसरा शख़्स कुछ अनमना, खिंचा हुआ और मित्र-भाव से हीन मालूम होता है और दोनों में से एक भी यह नहीं अनुभव करता कि इस आवरण के अन्दर शिष्टता और सौजन्य भी है। अंग्रेज़ हिन्दुतान पर राज करते हैं और लोगों को सहायता तथा सहारा देने के साधनों की उन्हें कमी नहीं है। इसलिए उनके पास अवसरवादी और नौकरियों की तलाश में गिड़गिड़ाते फिरनेवाले लोगों की भीड़ पहुंचा करती है। हिन्दुस्तान के बारे में अपनी राय वे इन्हीं भद्दे नमूनों को लेकर बनाते हैं। हिन्दुस्तानियों ने अंग्रेज़ों को सिर्फ़ हाकिमों की ही हैसियत से काम करते देखा है और इस हैसियत से काम करते हुए उनमें सोलहों-आने मशीन की-सी हृदयहीनता होती है और वे सब मनोविकार होते हैं जो स्थापित स्वार्थ रखनेवालों में अपनी रक्षा करने की कोशिश करते समय होते हैं। एक व्यक्ति की हैसियत से और अपनी इच्छा के मुताबिक काम करनेवाले व्यक्ति के बरताव में और उस बरताव में, जिसे एक शख़्स, हाकिम की या सेना की एक इकाई की हैसियत से, करता है, कितना फ़र्क़ होता है ! फ़ौजी जवान तो अकड़कर अटेंशन होते ही अपनी मनुष्यता को दूर धर देता है और एक मशीन की तरह काम करते हुए उन लोगों पर निशाना ताककर उन्हें मार गिराता है, जिन्होंने उसका कभी कोई नुक़सान नहीं किया। मैंने सोचा कि यही हाल उस पुलिस-अफ़सर का है, जो एक शख़्स की हैसियत से बेरहमी का कोई काम करते हुए झिझकेगा, लेकिन दूसरे ही क्षण निरपराध लोगों पर लाठी-चार्ज करा देगा। उस वक़्त वह अपने को एक व्यक्ति के रूप में नहीं देखता और न वह उस भीड़ को ही व्यक्तियों की शक्ल में देखता है, जिन्हें वह डंडों से मारता है या जिनपर वह गोली चलाता है।

ज्योंही कोई व्यक्ति दूसरे पक्ष को भीड़ या समूह के रूप में देखने लगता है, त्योंही दोनों को जोड़नेवाली मनुष्यता की कड़ी ग़ायब हो जाती है। हम लोग यह भूल जाते हैं कि भीड़ में वही शख़्स, मर्द और औरत और बच्चे होते हैं, जिनमें प्रेम और नफ़रत के भाव होते हैं, तथा जो कष्ट अनुभव करते हैं। एक औसत अंग्रेज़ अगर साफ़-साफ़ बात कहे तो यह मंजूर करेगा कि हिन्दुस्तानियों में कुछ आदमी काफ़ी भले भी हैं; लेकिन वे लोग तो अपवाद-स्वरूप हैं, और कुल मिलाकर

तो हिन्दुस्तानी एक घृणास्पद लोगों की भीड़-भर हैं। औसत हिन्दुस्तानी भी यह मंजूर करेगा कि कुछ अंग्रेज़, जिन्हें वह जानता है तारीफ़ के क़ाबिल हैं, लेकिन इन थोड़े से लोगों को छोड़कर बाक़ी अंग्रेज़ बड़े ही घमंडी, पाशविक और सोलहों आने बुरे आदमी हैं। यह बात कैसी अजीब है कि हर शख़्स दूसरी क़ौम की बाबत अपनी राय किस तरह बनाता है! उन लोगों के आधार पर नहीं, जिनके वह संसर्ग में आता है, बल्कि उन दूसरे लोगों के आधार पर जिनके बारे में या तो वह कुछ नहीं जानता या 'कुछ नहीं' के बराबर ही जानता है।

व्यक्तिगत रूप से तो मैं बड़ा सौभाग्यशाली रहा हूं और लगभग हमेशा ही मेरे प्रति सब लोग सौजन्य दिखाते रहे हैं, फिर चाहे वे अंग्रेज़ हों या मेरे अपने ही देश-भाई। मेरे जेलरों और पुलिस के उन सिपाहियों ने भी, जिन्होंने मुझे गिरफ़्तार किया, या जो मुझे क़ैदी के रूप में एक जगह से दूसरी जगह ले गए, मेरे साथ मेहरबानी का बर्ताव किया और इस इन्सानियत की वजह से मेरे जेल-जीवन के संघर्ष की कटुता और तीव्रता बहुत कुछ कम हो गई थी। यह कोई अचरज की बात नहीं है कि मेरे अपने देश-भाइयों ने मेरे साथ अच्छा बर्ताव किया, क्योंकि उनमे तो एक हद तक मेरा नाम हो गया था और मै उनमें लोकप्रिय था। पर अंग्रेज़ों के लिए भी मैं एक व्यक्ति था, भीड़ में से एक इकाई नहीं। मेरा ख़याल है कि इस बात ने कि मैंने अपनी शिक्षा इंगलैण्ड में पाई और ख़ास तौर पर इस बात ने, कि मैं इंग्लैण्ड के एक पब्लिक स्कूल में रहा, मुझे उनके नज़दीक ला दिया और इन कारणों से वे मुझे कम-बढ़ अपने ही नमूने का सभ्य आदमी समझे बिना नहीं रह सकते थे, फिर चाहे उन्हें मेरे सार्वजनिक काम कैसे ही उलटे क्यों न मालूम पड़ें। जब मैं अपने इस बर्ताव की तुलना उस ज़िन्दगी से करता हूं जो मेरे ज़्यादातर साथियों को भोगनी पड़ती थी, तब मुझे अपने साथ होनेवाले इस विशेष अच्छे बर्ताव पर कुछ शर्म और ज़िल्लत-सी मालूम होती है।

ये जितने सुभीते मुझे मिले हुए थे उन सबके होते हुए भी जेल तो आखिर जेल ही थी, और कभी-कभी तो उसका दुःखद वातावरण प्रायः असह्य हो उठता था। उसका वातावरण ख़ुद हिंसा, कमीनेपन, रिश्वतख़ोरी और झूठ से भरा हुआ था। वहां कोई गालियां देता था तो कोई गिड़गिड़ाता था। नाज़ुक मिज़ाज-वाले हर शख़्स को वहां लगातार मानसिक सन्ताप में रहना पड़ता था, कभी-कभी ज़रा-ज़रा सी बातों से ही लोग उखड़ जाते। चिट्ठी में कोई ख़राब ख़बर आ-

जाती या अखबार में ही कोई बुरी खबर निकलती तो हम लोग देर कुछ के लिए गुस्से या फ़िक्र से बड़े परेशान हो जाते थे। बाहर तो हम लोग हमेशा काम में लगकर अपने दुःखों को भूल जाते थे। वहां तो तरह-तरह की दिलचस्प बातों और कामों की वजह से शरीर और मन का साम्य बना रहता था। जेल में ऐसा कोई रास्ता नहीं था। हम लोग ऐसा महसूस करते थे मानो हम बोतल में बन्द कर दिये गए हों और दबाकर रख दिये गए हों, और इसलिए जो-कुछ होता उसकी बाबत लाज़िमी तौर पर हमारी राय एकांगी और कुछ हद तक तोड़ी-मरोड़ी हुई होती थी। जेल में बीमारी खासतौर से दुःखदायी होती है।

फिर भी मैंने अपने को जेल-जीवन की दिनचर्य्या का आदी बना लिया, और शारीरिक कसरत तथा कड़ा मानसिक काम करके मैंने अपने को ठीक-ठीक रक्खा। काम और कसरत की बाहर कुछ भी क़ीमत हो, जेल में तो वे लाज़िमी थे; क्योंकि उनके बिना वहां कोई अपने मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य को क़ायम नहीं रख सकता। मैंने अपना एक कार्यक्रम बना लिया था, जिसका मै कड़ाई के साथ पालन करता था। मिसाल के लिए, अपने को बिल्कुल ठीक रखने के लिए, मैं रोज़ हजामत बनाता था (हजामत के लिए मुझे सेफ़्टी रेज़र मिला हुआ था)। मैंने इस छोटी-सी बात का ज़िक्र इसलिए किया है कि आमतौर पर लोगों ने इन आदतों को छोड़ दिया और वे कई बातों में ढीले पड़ गए थे। दिन-भर का कड़ा काम करने के बाद शाम को मैं खूब थक जाता और मज़े से नींद का स्वागत करता।

इस तरह दिन-पर-दिन, हफ़्ते-पर-हफ़्ते और महीने-पर-महीने निकल गए। कभी-कभी ऐसा मालूम पड़ता था कि महीना बुरी तरह चिपक गया है और वह खत्म ही नहीं होना चाहता। और कभी-कभी तो मैं हर चीज़ और हर शख्स से ऊब जाता, सबपर गुस्सा करता, सबसे खीझ उठता, फिर वे चाहे जेल के मेरे साथी हों और चाहे जेल के कर्मचारी। ऐसे वक़्त पर मैं बाहर लोगों पर भी इसलिए खीझ उठता था कि उन्होंने यह काम क्यों किया या, यह काम क्यों नहीं किया। ब्रिटिश सल्तनत से तो हमेशा ही खीझा रहता था। लेकिन ऐसे वक़्त पर औरों के साथ-साथ, और सबसे ज़्यादा, मैं अपने ऊपर भी खीझ उठता था। इन दिनों मैं बहुत चिड़चिड़ा भी हो जाता, और जेल की ज़िन्दगी में होनेवाली ज़रा-ज़रा-सी बातों पर बिगड़ उठता था—खुशक़िस्मती यह थी कि मेरा मिज़ाज ज़्यादा दिनों तक ऐसा नहीं रहता था।

जेल में मुलाक़ात का दिन बड़े उल्लास का दिन होता था। हम लोग मुलाक़ात के दिनों के लिए कैसे तरसते थे ! उनके लिए कैसी प्रतीक्षा करते थे तथा दिन गिना करते थे ! लेकिन मुलाक़ात की ख़ुशी के बाद उसकी लाज़िमी प्रतिक्रिया भी होती और फिर सूनेपन और अकेलेपन का राज हमारे दिलों पर छा जाता। अगर, जैसा कि कभी-कभी होता था, मुलाक़ात कामयाब नहीं हुई, इसलिए कि मुझे कोई ऐसी ख़बर मिली जिससे मैं बिगड़ गया या और ऐसी ही कोई दूसरी बात हुई, तो मैं बाद को बहुत ही दुःखी हो जाता था। मुलाक़ात के वक़्त जेल के कर्मचारी तो मौजूद रहते ही थे। लेकिन बरेली में तो दो या तीन मर्तबा उनके साथ-साथ सी० आई० डी० का आदमी भी हाथ में काग़ज़ और पेन्सिल लिये मौजूद रहा, जो हमारी बातचीत के क़रीब-क़रीब हरेक हर्फ़ को बड़े उत्साह से लिख रहा था। इस बात से मुझे बहुत ही चिढ़ होती थी और ऐसी मुलाक़ातें बिल्कुल बेकार जातीं।

पहले इलाहाबाद-जेल में मुलाक़ात करते हुए, और उसके बाद सरकार की तरफ़ से मेरी मां और पत्नी के साथ जो दुर्व्यवहार हुआ था उसकी वजह से, मैंने मुलाक़ातें करना बन्द कर दिया था। क़रीब-क़रीब सात महीने तक मैंने किसीसे मुलाक़ात नहीं की। मेरे लिए यह वक़्त बहुत ही मनहूस रहा, और जब इस वक़्त के बाद मैंने यह तय किया कि मुझे मुलाक़ात करना शुरू कर देना चाहिए और उसके फलस्वरूप जब लोग मुझसे मिलने आये, तब मैं आनन्द से झूमने लगा था। मेरी बहिन के छोटे-छोटे बच्चे भी मुझसे मिलने को आये थे। उनमें से एक छोटे-से बच्चे को मेरे कन्धे पर चढ़ने की आदत थी। यहां भी जब उसने मेरे कन्धे पर चढ़ना चाहा तो मेरे भावों का बांध टूट गया। मानवी संसर्ग के लिए एक लम्बी चाह के बाद गृह-जीवन के इस स्पर्श से मैं अपने को संभहाल न सका।

जब मैंने मुलाक़ात करना बन्द कर दिया था तब घर से या दूसरी जेलों से आनेवाले ख़त (क्योंकि मेरी दोनों बहिनें जेल में थीं) जो हमें हर पन्द्रहवें दिन मिलते थे, और भी क़ीमती हो गए, और मैं उनकी बाट बड़ी उत्सुकता से देखा करता था। निश्चित तारीख़ को कोई ख़त न आता तो मुझे बड़ी चिन्ता हो जाती। लेकिन साथ ही जब ख़त आते तब मुझे उन्हें खोलते हुए डर-सा लगता था। मैं उनके साथ उसी तरह खिलवाड़ करता जिस तरह कोई इत्मीनान के साथ आनन्द

की चीज़ से करता है। साथ ही मेरे मन में कुछ-कुछ यह डर भी रहता था कि कहीं ख़त में कोई ऐसी ख़बर या बात न हो कि मुझे दुःख हो। जेल में ख़तों का आना या जेल में ख़त लिखना दोनों ही वहां के शान्तिमय और स्थिर जीवन में बाधा डालते थे। वे मन में भावों को जगाकर बेचैनी पैदा करते थे और उसके बाद एक या दो दिन तक मन अस्तव्यस्त होकर भटकने लग जाता और उसे रोज़मर्रा के काम में जुटाना मुश्किल हो जाता था।

नैनी और बरेली-जेल में तो मेरे बहुत-से साथी थे। देहरादून में शुरू-शुरू में हम सिर्फ़ तीन ही थे। मैं, गोविन्दवल्लभ पन्त और काशीपुर के कुंवर आनन्द-सिंह। लेकिन पन्तजी तो कोई दो महीने बाद छोड़ दिये गए, क्योंकि उनकी छः महीने की सज़ा ख़त्म हो गई थी। इसके बाद हमारे दो और साथी हमसे आ मिले थे। लेकिन जनवरी १९३३ के शुरू में मेरे सब साथी चले गए और मैं अकेला ही रह गया। अगस्त के अख़ीर में जेल से छूटने तक, क़रीब-क़रीब आठ महीने तक, देहरादून-जेल में मैं बिल्कुल अकेला रहा था। हर रोज़ कुछ मिनट तक किसी जेल-कर्मचारी के अलावा और कोई ऐसा न था जिससे मैं बातचीत भी कर सकता। क़ानून के अनुसार तो यह एकान्त की सज़ा न थी, लेकिन उससे मिलती-जुलती ही थी। इसलिए ये बड़ी मनहूसी के दिन रहे। सौभाग्य से इन दिनों मैंने मुलाकात करना शुरू कर दिया था। उनसे मेरा दुःख कुछ हलका हो गया था। मेरा खयाल है कि मेरे साथ यह ख़ास रिआयत की गई थी कि मुझे बाहर से भेजे हुए ताज़े फूल लेने की और कुछ फ़ोटो रखने की इजाज़त थी। इन बातों से मुझे काफ़ी तसल्ली मिलती थी। मामूली तौर पर क़ैदियों को फूल या फ़ोटो रखने की इजाज़त नहीं है। कई मौकों पर मुझे वे फूल नहीं दिये गए जो बाहर से मेरे लिए लाये गए थे। अपनी कोठरियों को ख़ुशनुमा बनाने की हमारी कोशिशें रोकी जाती थीं। मुझे याद है कि मेरे एक साथी ने, जो मेरे पड़ोस की कोठरी में रहता था, अपने शीशे-कंघे वग़ैरा चीजों को जिस तरह सजाकर रक्खा था उस-पर जेल के सुपरिण्टेण्डेण्ट ने ऐतराज़ किया था। उनसे कहा गया कि वह अपनी कोठरी को आकर्षक और 'विलासतापूर्ण' नहीं बना सकते। और वे विलासिता की चीज़ें क्या थीं ?—दांतों का एक ब्रश, दांतों का एक पेस्ट, फाउण्टेनपेन की स्याही, सिर में लगाने के तेल की शीशी, एक ब्रुश और कंघी, शायद एक या दो छोटी-मोटी चीज़ें और।

जेल में हम लोग ज़िन्दगी की छोटी-छोटी चीज़ों की क़ीमत समझने लगे थे। वहां हमारा सामान इतना कम होता था और उसे हम न तो आसानी से बढ़ा ही सकते थे, न उसकी जगह दूसरी चीजें ही मंगा सकते थे, इसलिए हम उसे बड़ी होशियारी से रखते थे; कभी ऐसी इक्की-दुक्की छोटी-छोटी चीज़ों को बटोर-कर रखते थे जिन्हें जेल से बाहर की दुनिया में हम रद्दी की टोकरी में फेंका करते थे। इस प्रकार जब हमारे पास सम्पत्ति के नाम पर रखने की कोई चीज़ नहीं होती तब भी सम्पत्ति जोड़ने की भावना तो हमारा पीछा नहीं छोड़ती थी !

कभी-कभी ज़िन्दगी की कोमल वस्तुओं के लिए शरीर अकुला उठता, शारी-रिक सुख-भोग, आनन्दप्रद वातावरण, मित्रों के साथ दिलचस्प बातचीत और बच्चों के साथ खेलने की इच्छा ज़ोर पकड़ उठती थी। किसी अख़बार में किसी तस्वीर या फ़ोटो को देखकर पुराना ज़माना सामने आ खड़ा होता—उन दिनों की बातें सामने आ जातीं, जब जवानी में किसी बात की फ़िकर न थी। ऐसे वक़्त पर घर की याद की बीमारी बुरी तरह जकड़ लेती और वह दिन बड़ी बेचैनी के साथ कटता।

मैं हर रोज़ थोड़ा-बहुत सूत काता करता था, क्योंकि मुझे हाथ का कुछ काम करने से तसल्ली मिलने के साथ-साथ बहुत ज्यादा दिमाग़ी काम से कुछ छुट्टी भी मिल जाती थी। लेकिन मेरा ख़ास काम लिखना और पढ़ना ही था। मैं जिन-जिन किताबों को पढ़ना चाहता था वे सब तो मुझे मिल नहीं पाती थीं, क्योंकि उनपर रोक थी और वे सेंसर होती थीं। किताबों को सेंसर करनेवाले लोग हमेशा अपने काम के योग्य नहीं होते थे। स्पैंगलर की Decline of the West (पश्चिम का पतन) नामक किताब इसलिए रोक ली गई थी कि उसका नाम ख़तरनाक और राजद्रोहात्मक मालूम हुआ था। लेकिन मुझे इस सम्बन्ध में किसी प्रकार की शिकायत नहीं करनी चाहिए; क्योंकि कुल मिलाकर मुझे तो सभी क़िस्म की किताबें मिल जाती थीं। ऐसा मालूम पड़ता है कि इस मामले में भी मेरे साथ खास रिआयत होती थी; क्योंकि मेरे बहुत से साथियों को, जो 'ए' क्लास में रखे गए थे, सामयिक विषयों पर किताबें मंगाने में बड़ी मुश्किलों का सामना करना पड़ता था। मुझसे कहा गया है कि बनारस की जेल में तो सरकार का श्वेत-पत्र (White paper) भी नहीं दिया गया, जिसमें ख़ुद सरकार की विधान-सम्बन्धी योजनाएं थीं, क्योंकि उसमें राजनैतिक बातें

थीं। ब्रिटिश अधिकारी धार्मिक पुस्तकों और उपन्यास की तहेदिल से सिफ़ारिश करते थे। यह बात आश्चर्यजनक है कि धर्म का विषय ब्रिटिश सरकार को कितना प्यारा लगता है और वह हर तरह से मज़हब को कितनी निष्पक्षता के साथ आगे बढ़ाती है!

हिन्दुस्तान में जब कि मामूली-से-मामूली नागरिक स्वतन्त्रता भी छीन ली गई हो तब क़ैदियों के हक़ों की बात करना बिल्कुल अनुचित मालूम होता है। फिर भी यह मामला ऐसा है जिसपर ग़ौर किया जाना चाहिए। अगर कोई अदालत किसी आदमी को क़ैद की सज़ा दे देती है तो क्या उसके मानी यह हैं कि उसका शरीर ही नहीं, उसका मन भी जेल में ठूंस दिया जाय? चाहे क़ैदियों के शरीर भले ही आज़ाद न रहें, पर क्या वजह है कि उनका दिमाग़ भी आज़ाद न रहे? हिन्दुस्तान की जेलों का इन्तज़ाम जिन लोगों के हाथ में है, वे तो अवश्य ही इस बात को सुनकर घबरा जायेंगे; क्योंकि नये विचारों को जानने और लगातार विचार करने की उनकी शक्ति साधारणतया सीमित हो जाती है। यों तो सेंसर का काम हर वक़्त बुरा होता है और साथ ही पक्षपातपूर्ण तथा बेहूदा भी; लेकिन हिन्दुस्तान में तो वह बहुत-से आधुनिक साहित्य और आगे बढ़ी हुई पत्र-पत्रिकाओं से हमें वंचित रखता है। ज़ब्त की हुई किताबों की सूची बहुत बड़ी है और वह दिन-पर-दिन बढ़ती ही जा रही है। इन सबके अलावा क़ैदी को तो एक और सेंसरशिप का भी सामना करना पड़ता है। और इस तरह उसके पास वे बहुत-सी किताबें तथा अख़बार भी नहीं पहुंच पाते, जिन्हें वह क़ानून के मुताबिक़ बाहर ख़रीदकर पढ़ सकता है।

कुछ दिनों पहले यह प्रश्न संयुक्तराज्य अमेरिका के न्यूयार्क नगर की मशहूर सिंगसिंग-जेल के सिलसिले में उठा था। वहां कुछ कम्युनिस्ट अख़बार रोक दिये गए थे। अमेरिका के शासनवर्ग में कम्युनिस्टों के ख़िलाफ़ बहुत ज़ोर के भाव हैं; लेकिन यह सब होते हुए भी वहां के जेल के अधिकारी इस बात के लिए राज़ी हो गए कि जेल-निवासी जिस किताब व अख़बार को चाहें मंगाकर पढ़ सकते हैं, चाहे ये अख़बार व पत्रिकाएं कम्युनिस्ट मत की ही क्यों न हों! वहां के जेल के वार्डन ने सिर्फ़ व्यंगचित्रों को रोका, जिन्हें वह भड़कानेवाला समझता था।

हिन्दुस्तान की जेलों में मानसिक स्वतन्त्रता पर ग़ौर करने का यह सवाल कुछ हद तक बेहूदा मालूम होता है, जबकि, जैसा कि हो रहा है, ज़्यादातर कैदियों

को कोई भी अखबार या लिखने की सामग्री नहीं दी जाती। यहां तो सवाल सेंसरशिप या देख-भाल का नहीं है बल्कि बिल्कुल इनकारी का है। क़ायदों के मुताबिक़ तो सिर्फ़ 'ए' क्लास के और बंगाल में पहले डिवीज़न के क़ैदियों को ही लिखने की सामग्री दी जाती है। इनमें से भी सबको रोज़ाना अखबार नहीं दिया जाता। जो रोज़ाना अखबार दिया जाता है वह भी सरकार की पसन्द का। 'बी' और 'सी' क्लास के क़ैदियों के लिए लिखने के सामान की कोई ज़रूरत नहीं समझी जाती, चाहे वे राजनैतिक हों या ग़ैर-राजनैतिक। 'बी' क्लासवालों को कभी-कभी बहुत ख़ास रिआयत दिखाकर लिखने का सामान दे दिया जाता है; और यह रिआयत अक्सर वापस ले ली जाती है। शायद दूसरे क़ैदियों की तुलना में 'ए' क्लास के कैदियों की तादाद हज़ार-पीछे एक बैठेगी। इसलिए हिन्दुस्तान में क़ैदियों की तकलीफ़ों पर ग़ौर करते हुए उनका ख़याल न किया जाय, तब भी कोई हर्ज़ नहीं। लेकिन यह बात याद रखनी चाहिए कि इन ख़ास रिआयत-वाले 'ए' क्लास के क़ैदियों को भी किताबों और अखबारों के मामले में उतने हक़ नहीं मिले हुए हैं जितने कि ज़्यादातर सभ्य देशों में मामूली कैदियों को प्राप्त हैं।

बाक़ी लोगों को, १००० में ९९९ को, एक वक़्त दो या तीन किताबें ही दी जाती हैं, लेकिन हालत ऐसी है कि वे इस रिआयत से भी पूरा-पूरा फ़ायदा नहीं उठा पाते। कुछ लिखना या जो-कुछ किताब पढ़ी जाय उसके नोट लेना तो ऐसा ख़तरनाक मन-बहलाव समझा जाता है, जो उन्हें हरगिज़ नहीं करना चाहिए। मानसिक उन्नति का इस तरह जान-बूझकर रोका जाना एक अजीब और मज़ेदार बात है। किसी क़ैदी को सुधारने और योग्य नागरिक बनाने के ख़याल से तो उसके दिमाग़ पर ध्यान देकर उसे दूसरी तरफ़ लगाना उचित है। पढ़ा-लिखाकर उसे कोई धन्धा सिखा देना चाहिए। लेकिन शायद हिन्दुस्तान में जेल के हाकिमों को यह बात सूझी ही नहीं और युक्तप्रान्त में तो उसका ख़ास तौर पर अभाव ही दिखाई देता है। हाल में जेलों में लड़कों और नौजवानों को थोड़ा लिखना-पढ़ना सिखाने की कुछ कोशिशें की गई हैं। लेकिन वे बिल्कुल व्यर्थ हैं और जिन लोगों के सुपुर्द यह काम किया गया है वे उसे पूरा करने के बिल्कुल अयोग्य हैं। कभी-कभी यह कहा जाता है कि क़ैदी लोग लिखना-पढ़ना पसन्द नहीं करते; लेकिन मेरा अपना अनुभव इसके बिल्कुल खिलाफ़ है और कई लोग, जो मेरे पास लिखने-पढ़ने की ग़रज़ से आते हैं थे, उनमें मैंने पढ़ने-लिखने का पूरा-पूरा चाव देखा।

जो क़ैदी हमारे पास आ पाते थे उन्हें हम पढ़ाते थे। वे लोग बड़ी मेहनत से पढ़ते थे, और जब कभी मैं रात में जाग पड़ता तो यह देखकर आश्चर्य करता कि उनमें से एक या दो अपनी बैरक की धुंधली लालटेन के पास बैठे हुए अगले दिन के अपने पाठ को याद कर रहे हैं।

मैं अपनी किताबों में ही जुटा रहा। कभी एक प्रकार की किताबें पढ़ता तो कभी दूसरे क़िस्म की। लेकिन आमतौर पर मैं ठोस विषय की किताबें पढ़ता था। उपन्यास पढ़ने से दिमाग़ में एक ढीलापन-सा मालूम होने लगता है। इसलिए मैंने ज़्यादातर उपन्यास नहीं पढ़े। जब कभी पढ़ते-पढ़ते मेरा जी ऊब उठता तब मैं लिखने बैठ जाता। अपनी सज़ा के दो सालों में तो मैं उस 'ऐतिहासिक पत्रमाला'[1] (ग्लिम्सेज़ आव् वर्ल्ड हिस्ट्री) में लगा रहा, जो मैंने अपनी पुत्री (इन्दिरा) के नाम लिखी। उन्होंने मुझे अपने दिमाग़ को ठीक-ठीक रखने में बहुत मदद दी। कुछ हद तक तो मैं उस पुराने ज़माने में रहने लगा, जिसकी बाबत मैं लिख रहा था और इसलिए इन दिनों क़रीब-क़रीब यह भूल-सा गया कि मैं जेल के भीतर रह रहा हूं।

यात्रा-सम्बन्धी पुस्तकों का मैं हमेशा स्वागत करता था, ख़ासतौर पर पुराने यात्रियों के यात्रा-वर्णन का—जैसे ह्यूएनत्सांग, मार्कोपोलो और इब्नबतूता वग़ैरा। आजकल के यात्रियों की यात्राओं का वर्णन भी अच्छा मालूम होता था—जैसे स्वेन हेडन ने मध्य-एशिया के जंगलों में जो सफ़र किया उसका, और रोरिक को तिब्बत में जो अजीब बातें मिलीं, उनका वर्णन। चित्रों की पुस्तकें भी—ख़ासकर पहाड़ों, हिम-प्रपातों और मरुस्थलों की तस्वीरें—अच्छी लगती थीं; क्योंकि जेल में विशाल मैदानों और समुद्र और पहाड़ों को देखने की चाह बढ़ जाती है। मेरे पास माउण्ट ब्लेंक, आल्टस पर्वत और हिमालय की कुछ सुन्दर चित्रोंवाली पुस्तकें थीं और अक्सर मैं उन्हें देखा करता था। जब मेरी कोठरी या बैरक की गरमी एक सौ पन्द्रह डिग्री या उससे भी ज़्यादा होती थी, तब मैं हिम-प्रपातों को एकटक होकर देखता। ऐटलस को देखकर तो बड़ा जोश पैदा होता था। उसे देखकर सब तरह की पुरानी बातों की याद आ जाती थी—उन जगहों की याद जहां हम हो आये हैं और उन जगहों की भी जहां हम जाना

[1] **हिन्दी में 'विश्व-इतिहास की झलक' के नाम से यह पुस्तक 'सस्ता साहित्य मंडल' से प्रकाशित हो चुकी है। —अनु०**

चाहते थे। और कभी-कभी मन में यह उत्कण्ठा पैदा होती कि पिछले दिनों जिन जगहों को हम देख आये हैं उन्हें फिर देखें। ऐटलस में बड़े-बड़े शहरों को बताने वाले जितने निशान हैं वे ऐसे लगते मानो हमको बुला रहे हों और हमें वहां जाने की स्वाभाविक इच्छा होती थी। ऐटलस में पहाड़ों को और समुद्र के नीले रंग को देखकर भी उनपर चढ़ने और उन्हें पार करने की इच्छा होती। दुनिया के सौन्दर्य को देखने की, परिवर्तनशील मनुष्य-जाति के संघर्षों और संग्रामों को देखने की, और ख़ुद भी इन सब कामों को करने की उमंगें हमको तंग करतीं और हमारा पल्ला पकड़ लेतीं, और हम बड़े दुःख के साथ झटपट ऐटलस को उठाकर रख देते और अच्छी तरह जानी-पहचानी हुई उन दीवारों को देखने लग जाते, जो हमें घेरे हुए थीं, और रोज़मर्रा के नीरस ढर्रे में जुट जाते।

*

: ४५ :

जेल में जीव-जन्तु

कोई साढ़े चौदह महीने तक मैं देहरादून-जेल की अपनी छोटी-सी कोठरी में रहा और मुझे ऐसा लगने लगा जैसे मैं उसीका एक हिस्सा हूं । उसके प्रत्येक अंश से मैं परिचित हो गया । उसकी सफ़ेद दीवारों और खुरदरी फ़र्श पर हरेक निशान और गड्ढे और उसके शहतीरों पर लगे घुन के छेदों से मैं परिचित हो गया था । बाहर के छोटे-से आंगन में उगे घास के छोटे-छोटे गुच्छे और पत्थर के टेढ़े-मेढ़े टुकड़े मेरे पुराने दोस्त-से लगते थे । मैं अपनी कोठरी में अकेला था; ऐसी बात नहीं; क्योंकि वहां कितने हीततैयों और बर्रों के छत्ते थे और कितनी ही छिपकलियों ने शहतीरों के पीछे अपना घर बना लिया था, जो शाम को अपने शिकार की तलाश में बाहर निकला करती थीं । यदि विचार और भावनाएं भौतिक चीज़ों पर अपने चिह्न छोड़ सकती हैं, तो इस कोठरी की हवा का एक-एक कण उनसे ज़रूर भरा हुआ था और उस संकरी जगह में, जो-जो भी चीज़ें थीं, उन सब पर वे अंकित हुए बिना न रहे होंगे ।

कोठरियां तो मुझे दूसरे जेलों में इससे अच्छी मिली थीं, मगर देहरादून में मुझे एक विशेष लाभ मिला था, जो मेरे लिए बेशक़ीमत था । असली जेल एक बहुत छोटी जगह थी और हम जेल की दीवारों के बाहर एक पुरानी हवालात में रखे गए थे । लेकिन थी यह अहाते में ही । यह इतनी छोटी थी कि उसमें आस-पास घूमने की कोई जगह न थी और इसलिए हमको सुबह-शाम फाटक के सामने कई सौ गज़ तक घूमने की छुट्टी थी । हम रहते तो थे जेल के अहाते में ही, लेकिन उन दीवारों के बाहर आ जाने से पर्वतमालाओं, खेतों और कुछ दूर पर आम सड़क के दृश्य दिखाई पड़ जाते थे । यह विशेष लाभ खास मुझे अकेले ही को नहीं मिला था, बल्कि देहरादून के हरेक 'ए' क्लास के क़ैदी को मिलता था । इसी तरह जेल की दीवार के बाहर, लेकिन अहाते के अन्दर, एक और छोटी इमारत थी जिसे यूरोपियन हवालात कहते थे । इसके चारों ओर

कोई दीवार न थी जिससे कोठरी के अन्दर का आदमी पर्वत-श्रेणियां और बाहरी जीवन के सुन्दर दृश्य देख सकता था। इसमें जो यूरोपियन क़ैदी या दूसरे लोग रखे जाते थे उन्हें भी जेल के फाटक के पास सुबह-शाम घूमने की इजाज़त थी।

केवल एक क़ैदी ही, जो लम्बे अरसे तक ऊंची-ऊंची दीवारों के अन्दर क़ैद रहा हो, बाहर सैर करने और इन मुक्त दृश्यों के देखने के असाधारण मानसिक मूल्य को समझ सकता है। मैं इस तरह बाहर घूमने का बड़ा शौक़ रखता था और बारिश में भी मैंने इस सिलसिले को नहीं छोड़ा था, जबकि ज़ोर से पानी की झड़ी लगती थी और मुझे टख़ने-टख़ने तक पानी में चलना पड़ता था। यों तो किसी भी जगह बाहर सैर करने का मैंने सदा ही स्वागत किया होता; लेकिन यहां तो अपने पड़ोसी गगनचुम्बी हिमालय का मनोहर दृश्य और भी ख़ुशी को बढ़ानेवाला था, जिससे कि जेल की उदासी बहुत-कुछ दूर हो जाती थी। यह मेरी बहुत बड़ी ख़ुशक़िस्मती थी कि जब लम्बे अरसे तक मैंने कोई मुलाक़ात नहीं की थी और जब कितने ही महीने तक अकेला रहा, तब मैं इन प्यारे सुहावने पहाड़ों को एक-टक निहार सकता था। अपनी कोठरी से तो मैं गिरिराज के दर्शन नहीं कर सकता था, मगर मेरे मन में सदैव ही उसका ध्यान रहता था और वह हमेशा समीप ही मालूम होता था और जान पड़ता था कि मानो अन्दर-ही-अन्दर हम दोनों के बीच एक घनिष्ठता बढ़ रही थी।

> पक्षी-गण ये उड़-उड़ ऊंचे निकल गए हैं कितनी दूर !
> जलद-खंड भी इसी तरह वह नभ-पथ से हो गया विलीन;
> एकाकी मैं, सम्मुख मेरे पर्वतशृंग खड़ा है शान्त—
> मैं उसको, वह मुझे देखता दोनों ही हम थके कभी न।'[1]

मैं समझता हूं कि इस कविता के रचयिता कवि ली ताई पो की तरह मैं यह तो नहीं कह सकता कि मैं पर्वतराज को देखते हुए कभी नहीं थकता था। फिर भी यह एक असाधारण दृश्य था, और साधारणतया तो मैं उसकी निकटता से सदा बहुत सुख अनुभव करता था। पर्वतराज की दृढ़ता और स्थिरता मानो लाखों वर्षों के ज्ञान और अनुभव के साथ मुझे तुच्छ दृष्टि से देखती थी और

---

[1]अंग्रेजी पद्य का भावानुवाद।

मेरे मन के तरह-तरह के उतार-चढ़ाव की दिल्लगी उड़ाती थी और मेरे अशान्त मन को सान्त्वना देती थी।

देहरादून में वसंतऋतु बड़ी सुहावनी लगी और नीचे के मैदानों की बनिस्बत ज़्यादा समय तक रही। जाड़े ने प्रायः सब पेड़ों के पत्ते झाड़ दिये थे और वे बिलकुल नंग-धड़ंग हो गए थे। जेल के फाटक के सामने जो चार बड़े पीपल के पेड़ थे, उन्होंने भी, आश्चर्य तो देखिए, अपने क़रीब-क़रीब सब पत्ते गिरा दिये थे और पत्र-विहीन तथा उदास होकर खड़े थे। परन्तु अब वसंत-ऋतु आई और उसकी जीवनदायिनी वायु ने उन्हें अनुप्राणित कर दिया, उनके एक-एक परमाणु को जीवन-सन्देश दिया। क्या पीपल और क्या दूसरे पेड़ों में, एक हलचल मच गई और उनके आसपास एक रहस्यमय वातावरण छा गया, जैसे परदे के अन्दर छिपे-छिपे कोई प्रक्रिया हो रही हो, और एक दिन सहसा मैं तमाम पेड़ों पर हरे-हरे अंकुरों और कोंपलों को उझक-उझककर झांकते हुए देखकर चकित रह गया। वह बड़ा ही उल्लासमय और आनन्दप्रद दृश्य था! फिर बड़ी तेज़ी के साथ उन पेड़ों में लाखों पत्ते निकल आये और वे सूर्य की किरणों में चमकने और हवा के साथ अठखेलियां करने लगे। एक अंखुए से लेकर पत्ते तक का यह रूपान्तर कितना जल्दी और कितना आश्चर्यजनक होता है!

मैंने इससे पहले कभी नहीं देखा था कि आम के कोमल पत्ते पहले सुर्ख़ी लिये गेहुंएं रंग के होते हैं; ठीक वैसे ही जैसे कश्मीर के पहाड़ों पर शरद्ऋतु में हलके रंग की छाया छा जाती है; लेकिन जल्दी ही वे अपना रंग बदलकर हरे हो जाते हैं।

बारिश का वहां हमेशा ही स्वागत होता था, क्योंकि उससे ग्रीष्मकाल की गर्मी का अन्त आ जाता था। लेकिन अच्छी चीज़ की भी आख़िर हद होती है। बाद में वह भी अखरने लगती है। और देहरादून को तो मानो इन्द्र देवता की प्रिय लीला-भूमि ही समझिए। बरसात शुरू होते ही पांच हफ़्तों तक ऐसी झड़ी लगती कि कोई पचास-साठ इंच पानी बरस जाता और उस छोटी-सी तंग जगह में खिड़कियों से आती हुई बौछार से अपनेको बचाते हुए सिकुड़-मुकुड़कर बैठे रहना अच्छा नहीं लगता था।

हां, शरद्ऋतु में फिर आनन्द उमड़ने लगता है और इसी तरह शिशिर में भी, उन दिनों को छोड़कर जबकि मेंह बरसता हो। एक तरफ़ बिजली कड़क रही है, दूसरी तरफ़ वर्षा हो रही है और तीसरी तरफ़ चुभती हुई ठण्डी हवा बह रही

है। ऐसी हालत में हर आदमी को उत्कण्ठा होती है कि रहने को एक अच्छी जगह हो, जिसमें सर्दी से बचाव हो सके और ज़रा आराम मिले। कभी-कभी बरफ़ का तूफ़ान आता और बड़े-बड़े ओले गिरते और वे टीन की छतों पर गिरते हुए बड़े ज़ोर की आवाज़ करते, मानो दनादन तोपें छूट रही हों।

एक दिन—मुझे ख़ास तौर पर याद है वह २४ दिसम्बर १९३२ का दिन था—बड़े ज़ोर की बिजली कड़क रही थी और दिन-भर पानी बरसता रहा था। जाड़ा इतना सख़्त कि कुछ पूछिए मत। शारीरिक कष्ट की दृष्टि से अपने सारे जेल-जीवन में मुझे बहुत कम ऐसे बुरे दिन देखने पड़े हैं। लेकिन शाम को बादल एकाएक बिखर गए और जब मैंने देखा कि पर्वत-श्रेणियों पर और पहाड़ियों पर बरफ़-ही-बरफ़ जमी हुई है तो मेरा सारा कष्ट न जाने कहां चला गया। दूसरा दिन—बड़ा दिन—बहुत मनोरम और स्वच्छ था और बरफ़ के आवरण में पर्वत-श्रेणियां बहुत ही सुन्दर दिखाई देती थीं।

जब साधारण रोज़मर्रा के कामों से हम रोक दिये गए तो हमारा ध्यान प्राकृतिक लीला के दर्शन की ओर ज़्यादा गया। जो-जो जीवधारी या कीड़े-मकोड़े हमारे सामने आते उनको हम ध्यान से देखते थे। अधिक ध्यान जाने पर मैंने देखा कि मेरी कोठरी में और बाहर के छोटे-से आंगन में हर तरह के जीव-जन्तु रहते हैं। मैंने मन में कहा कि एक ओर मुझे देखो जिसे अकेलेपन की शिकायत है, और दूसरी ओर उस आंगन को देखो जो ख़ाली और सुनसान मालूम होता है, लेकिन जिसमें जीवन उमड़ा पड़ता है। ये तमाम क़िस्म के रेंगनेवाले, सरकनेवाले और उड़नेवाले जीवधारी मेरे काम में ज़रा भी दख़ल दिये बिना अपना जीवन बिताते थे, तो मुझे क्या पड़ी थी कि मैं उनके जीवन में बाधा पहुंचाता! लेकिन हां, खटमलों, मच्छरों और कुछ-कुछ मक्खियों से मेरी लड़ाई बराबर रहती थी। ततैयों और बर्रों को तो मैं सह लेता था। मेरी कोठरी में वे हज़ारों की तादाद में थे। हां, एक बार उनकी-मेरी झड़प हो गई थी, जब कि एक ततैये ने, शायद अनजान में, मुझे काट खाया था। मैंने ग़ुस्सा होकर उन सबको निकाल देना चाहा, कोशिश भी की, लेकिन अपने चन्दरोज़ा घरों को भी बचाने के लिए उन्होंने ख़ूब डट कर सामना किया। छत्तों में शायद उनके अंडे थे। आख़िर को मैंने अपना इरादा छोड़ दिया और तय किया कि अगर वे मुझे न छेड़े तो मैं भी उन्हें आराम से रहने दूंगा। कोई एक साल तक उसके बाद मैं उन बर्रों और ततैयों

के बीच रहा। मगर उन्होंने फिर कभी मुझपर हमला नहीं किया और हम दोनों एक-दूसरे का आदर करते रहे।

हां, चमगादड़ों को मैं पसन्द नहीं करता था; लेकिन उन्हें मैं मन मसोसकर बर्दाश्त करता था। वे सन्ध्या के अन्धकार में चुपचाप उड़ जाते और आसमान की अंधेरी नीलिमा में उड़ते दिखाई पड़ते। वे बड़े मनहूस जीव लगते थे और मुझे उनसे बड़ी नफ़रत और कुछ भय-सा मालूम होता था। वे मेरे चेहरे से एक इंच की दूरी से उड़ते और हमेशा मुझे डर मालूम होता कि कहीं मुझे झपट्टा न मार दें।

मैं चींटियों, दीमकों और दूसरे कीड़ों को घंटों देखता रहता था। और छिपकलियों को भी। वे शाम को अपने शिकार चुपके-से पकड़ लेतीं और अपनी दुम एक अजीब हँसी आने लायक़ ढंग से हिलाती हुई एक-दूसरे से लपेटती। मामूली तौर पर वे ततैयों को नहीं पकड़ती थीं; लेकिन दो बार मैंने देखा कि उन्होंने निहायत होशियारी और सावधानी से मुंह की तरफ़ से उनको चुपके से झपटकर पकड़ा। मै नहीं कह सकता कि उन्होंने जान-बूझकर उनके डंक को बचाया था या वह एक दैवयोग था।

इसके बाद, अगर कहीं आसपास पेड़ हों तो, झुण्ड-की-झुण्ड गिलहरियां होती थीं; वे बहुत ढीठ और निःशंक होकर हमारे बहुत पास आ जातीं। लखनऊ-जेल में मैं बहुत देर तक एक आसन बैठे-बैठे पढ़ा करता था। कभी-कभी कोई गिल-हरी मेरे पैर पर चढ़कर मेरे घुटने पर बैठ जाती और चारों तरफ़ देखती। फिर वह मेरी आंखों की ओर देखती, तब समझती कि मै पेड़ या जो कुछ उसने समझा हो, वह नहीं हूं। एक क्षण के लिए तो वह सहम जाती, फिर दुबककर भाग जाती। कभी-कभी गिलहरियों के बच्चे पेड़ से नीचे गिर पड़ते। उनकी मां उनके पीछे-पीछे आती, लपेटकर उनका एक गोला बनाती और उनको ले जाकर सुरक्षित जगह में रख देती। कभी-कभी बच्चे खो जाते। मेरे एक साथी ने ऐसे तीन खोये हुए बच्चे सम्हालकर रक्खे थे। वे इतने नन्हें-नन्हें थे कि यह एक सवाल हो गया था कि उन्हें दाना कैसे दें। लेकिन यह सवाल बड़ी तरकीब से हल किया गया। फ़ाउण्टेनपेन के फ़िलर में ज़रा-सी रुई लगा दी। यह उनके लिए बढ़िया 'फीडिंग बोतल' हो गई।

अलमोड़ा की पहाड़ी जेल को छोड़कर और सब जेलों में जहां-जहां मैं गया, कबूतर खूब मिले। और हज़ारों को तादाद में वे शाम को उड़कर आकाश में छा

जाते थे कभी-कभी जेल के कर्मचारी उनका शिकार करके उनसे अपना पेट भी भरते थे। और हां, मैनाएं भी थीं। वे तो सब जगह मिलती हैं। देहरादून में उनके एक जोड़े ने मेरी कोठरी के दरवाज़े के ऊपर ही अपना घोंसला बनाया था। मैं उन्हें दाना दिया करता। वे बहुत पालतू हो गई थीं और जब कभी उनके सुबह या शाम के दाने में देर हो जाती तो वे मेरे नज़दीक आकर बैठ जातीं और ज़ोर-ज़ोर से चीं-चीं करके खाना मांगतीं। उनके वे इशारे और उनकी वह अधीर पुकार देखते और सुनते ही बनती थी।

नैनी में हज़ारों तोते थे। उनमें से बहुतेरे तो मेरी बैरक की दीवार की दरारों में रहते थे। उनकी प्रणय-लीला आकर्षक वस्तु होती थी। वह देखने-वाले को मोहित कर लेती थी। कभी-कभी दो तोतों में एक तोती के लिए ज़ोर की लड़ाई होती। तोती शान्ति के साथ उनके झगड़े के नतीजे का इन्तज़ार करती और विजेता पर अपनी प्रणयवृष्टि करने के लिए प्रस्तुत रहती थी।

देहरादून में तरह-तरह के पक्षी थे और उनके कलरव, जोर-जोर से चिंचियाने, चहचहाने और टें-टें करने से एक अजीब समां बंध जाता था। और सबसे बढ़कर कोयल की दर्दभरी कूक का तो पूछना ही क्या! बारिश में और उसके ठीक पहले पपीहा आता। सचमुच उसका लगातार 'पियू-पियू' रटना सुनकर चकित रह जाना पड़ता था। चाहे दिन हो चाहे रात, चाहे धूप हो चाहे मेंह, उसकी रटन नहीं टूटती थी। इनमें से बहुतेरे पक्षियों को हम देख नहीं पाते थे; सिर्फ़ उनकी आवाज़ सुनाई पड़ती थी, क्योंकि हमारे छोटे-से आंगन में कोई पेड़ नहीं था। लेकिन गिद्ध और चीलें बड़ी शान के साथ आसमान में ऊंची उड़तीं और उन्हें मैं देख सकता था। वे कभी एकदम झपट्टा मारकर नीचे उतर आतीं और फिर हवा के झोंके के साथ ऊपर चढ़ जातीं। कभी-कभी जंगली बतख़ भी हमारे सिर पर मंडराया करते थे।

बरेली-जेल में बन्दरों की आबादी ख़ासी थी। उनकी कूद-फांद, मुंह बनाना आदि हरकतें देखने लायक़ होती थीं। एक घटना का असर मेरे दिल पर रह गया है। एक बन्दर का बच्चा किसी तरह हमारी बैरक के घेरे के अन्दर आ गया। वह दीवार की ऊंचाई तक उछल नहीं सकता था। वार्डर, कुछ नम्बरदारों और दूसरे कैदियों ने मिलकर उसे पकड़ा और उसके गले में एक छोटी-सी रस्सी बांध दी। दीवार पर से उसके, मेरा ख़याल है, मां-बाप ने यह देखा और वे ग़ुस्से से

लाल हो गए। अचानक उनमें से एक बड़ा बन्दर नीचे कूदा और सीधा भीड़ में उस जगह गिरा जहां कि वह बच्चा था। निस्सन्देह यह बड़ी बहादुरी का काम था; क्योंकि वार्डर वग़ैरा सबके पास डण्डे और लाठियां थीं, और वे उन्हें चारों तरफ़ घुमा रहे थे और उनकी संख्या भी काफ़ी थी। लेकिन साहस की विजय हुई और मनुष्यों की वह भीड़ मारे डर के भाग निकली। उनके डण्डे और लाठियां वहीं पड़ी रह गईं और बन्दर अपना बच्चा छुड़ाकर ले गया।

अक्सर ऐसे जीव-जन्तु भी दर्शन दे जाते थे जिनसे हम दूर रहना चाहते थे। बिच्छू हमारी कोठरियों में बहुत आया-जाया करते थे। ख़ासकर तब, जब बिजली जोरों से कड़का करती। ताज्जुब है कि मुझे किसीने भी नहीं काटा; क्योंकि वे अक्सर बेढब जगह मिल जाया करते थे—मेरे बिछौने पर या कोई किताब उठाई तो उसपर भी। मैंने ख़ास तौर पर एक काले और ज़हरीले-से बिच्छू को कुछ दिन तक एक बोतल में रख छोड़ा था और मक्खियां वगैरा उसको खिलाया करता था। फिर मैंने उसे एक डोरे से बाधकर दीवार पर लटका दिया। लेकिन वह किसी तरह भाग निकला। मुझे यह ख्वाहिश नहीं थी कि वह फिर कहीं घूमता-फिरता मुझसे मिलने आ जाय, इसलिए मैंने अपनी कोठरी को ख़ूब साफ़ किया और चारों ओर उसे ढूंढ़ा, मगर कुछ पता न चला।

तीन-चार सांप भी मेरी कोठरी में या उसके आस-पास निकले थे। एक की ख़बर जेल के बाहर भी चली गई और अखबारों में मोटी-मोटी लाइनों में छापी गई। मगर सच पूछिये तो मैंने उस घटना को पसन्द किया था। जेल-जीवन यों ही काफी रूखा और नीरस होता ह और जब भी किसी तरह उसकी नीरसता को कोई चीज़ भंग करती है तो वह अच्छी ही लगती है। यह बात नहीं कि मैं सांपों को अच्छा समझता हूं या उनका स्वागत करता हूं। मगर हां, औरों की तरह मुझे उनसे डर नहीं लगता; बेशक, उनके काटने का तो मुझे डर रहता है। और यदि किसी सांप को देखू तो उससे अपनेको बचाऊं भी; लेकिन उन्हें देखकर मुझे अरुचि नहीं होती और न उनसे डरकर भागता ही हूं। हां, कनखजूरे से मुझे बहुत नफ़रत और डर लगता है। डर तो इतना नहीं, मगर उसे देखकर स्वाभाविक नफ़रत होती है। कलकत्ते के अलीपुर-जेल में कोई आधी रात को मैं सहसा जग पड़ा। ऐसा जान पड़ा कि कोई चीज़ मेरे पांव पर रेंग रही है। मैंने अपनी टार्च दबाई तो क्या देखा कि एक कनखजूरा बिस्तर पर है।

एकाएक और बड़ी तेज़ी से बिना आगा-पीछा सोचे मैंने बिस्तर से ऐसे ज़ोर की छलांग मारी कि कोठरी की दीवार से टकराते-टकराते बचा। उस समय मैंने अच्छी तरह जाना कि रूस के प्रसिद्ध जीव-शास्त्री पेवलोव के 'रिफ़्लेक्सेस'—स्वयं-स्फूर्त क्रियाएं—क्या होती हैं।

देहरादून में एक नया जन्तु देखा; या यों कहूं कि ऐसा जन्तु देखा जो मेरे लिए अपरिचित था। मैं जेल के फ़ाटक पर खड़ा हुआ जेलर से बातचीत कर रहा था कि इतने में बाहर से एक आदमी आया जो एक अजीब तरह का जन्तु लिये हुए था। जेलर ने उसे बुलवाया। मैंने देखा कि वह एक गोह और मगर के बीच का कोई जानवर है जो दो फ़ीट लम्बा था। उसके पंजे थे और छिलकेदार चमड़ी। वह भद्दा और कुडौल था और बहुत-कुछ जीवित था। वह एक अजीब तरह से कुंडलाकार बना हुआ था और लानेवाला उसे एक बांस में पिरोकर बड़ी खुशी से उठाता हुआ लाया था। वह उसे 'बो' कहता था। जब जेलर ने उससे पूछा कि इसका क्या करोगे ? तो उसने जोर से हँसकर कहा, भुज्जी—सालन—बनायेंगे। वह जंगली आदमी था। बाद को एफ़० डब्ल्यू० चेंपियन की 'दि जंगल इन सनलाइट एण्ड शैडो' (धूप-छांह में जंगल) पढ़ने से मुझे पता लगा कि वह पेंगोलिन था।

क़ैदियों की, ख़ासकर लम्बी सज़ावाले क़ैदियों की, भावनाओं को जेल में कोई भोजन नहीं मिलता। कभी-कभी वे जानवरों को पाल-पोसकर अपनी भावनाओं को तृप्त किया करते हैं। मामूली क़ैदी कोई जानवर नहीं रख सकता। नम्बरदारों को उनसे ज़्यादा आज़ादी रहती है और जेल के कर्मचारी उनके लिए ऐतराज़ नहीं करते। आमतौर पर वे गिलहरियां पालते हैं और, सुनकर ताज्जुब होगा कि, नेवले भी। कुत्ते जेल में नहीं आने दिये जाते, मगर बिल्ली को, जान पड़ता है, उत्साहित किया जाता है। एक छोटी पूसी ने मुझसे दोस्ती कर ली थी। वह एक जेल-अफसर की थी और जब उसका तबादला हुआ तो वह उसे अपने साथ ले गया। मुझे उसका अभाव कुछ दिनों खलता रहा। हालांकि जेल में कुत्तों की इजाज़त नहीं है, लेकिन देहरादून में इत्तिफ़ाक से कुत्तों के साथ भी मेरा नाता हो गया था। एक जेल-अफ़सर एक कुतिया लाये थे। बाद को उनका भी तबादला हो गया पर वह उसे वहीं छोड़ गए। बेचारी बे-घर की होकर इधर-उधर घूमती रही और पुलों और मोरियों में रहती हुई वार्डरों के दिये टुकड़े खाकर अपने दिन काटती

रही। वह प्राय: भूखों मरती थी। मैं जेल के बाहर हवालात में रहता था। वह मेरे पास रोटी के लिए आया करती। मैं उसे रोज खाना खिलाने लगा। उसने एक मोरी में बच्चे दिये। कुछ तो और लोग ले गए मगर तीन बच गए और मैं उन्हें खाना देता रहा। इसमें से एक पिल्ली बीमार हो गई। बुरी तरह छटपटाती थी। उसे देखकर मुझे बड़ी तकलीफ़ होती थी। मैंने बड़ी चिन्ता के साथ उसकी शुश्रूषा की और रात को कभी-कभी तो १०-१२ बार उठकर मुझे उसको सम्हालना पड़ता था। वह बच गई और मुझे इस बात पर ख़ुशी हुई कि मेरी तीमारदारी काम आगई।

बाहर की अपेक्षा जल में जानवरों से मेरा-ज्यादा साबका पड़ा। मुझे कुत्तों का बड़ा शौक़ रहा है और घर पर कुछ कुत्ते पाले भी थे; मगर दूसरे कामों में लगे रहने की वजह से उनकी अच्छी तरह सम्हाल न कर सका। जेल में मैं उनके साथ के लिए उनका कृतज्ञ था। हिन्दुस्तानी आमतौर पर घर में जानवर नहीं पालते। यह ध्यान देने लायक़ बात है कि जीव-दया के सिद्धान्त के अनुयायी होते हुए भी वे अक्सर उनकी अवहेलना करते हैं। यहां तक कि गाय के साथ भी, जो हिन्दुओं को बहुत प्रिय और पूज्य है और जो अक्सर दंगों का कारण बनती है, दया का बर्ताव नहीं होता। मानो पूजा-भाव और दया-भाव दोनों का साथ नहीं हो सकता।

भिन्न-भिन्न देशवालों ने भिन्न-भिन्न पशु-पक्षियों को अपनी महत्वाकांक्षा या अपने चारित्र्य का प्रतीक बनाया है। उक़ाब संयुक्तराज्य अमेरिका और जर्मनी का, सिंह और 'बुलडॉग' इंग्लैंड का, लड़ते हुए मुर्ग़े फ्रांस का और भालू पुराने रूस का प्रतीक है। सवाल यह है कि ये संरक्षक पशु-पक्षी राष्ट्रीय चारित्र्य को किस तरफ़ ले जायंगे ? इनमें से ज़्यादातर तो आक्रमणकारी, लड़ाकू और शिकारी जानवर हैं। ऐसी दशा में यह कोई ताज्जुब की बात नहीं है कि जो लोग इन नमूनों को सामने रखकर अपना जीवन-निर्माण करते है वे, जान-बूझकर अपना स्वभाव वैसा ही बनाते हैं, आक्रामक रुख़ इख़्तियार करते है, दूसरों पर गुर्राते हैं, गरजते हैं और झपट पड़ते हैं। और यह भी आश्चर्य की बात नहीं है कि हिन्दू नरम और अहिंसक हैं, क्योंकि उनका आदर्श पशु है गाय।

: ४६ :

संघर्ष

बाहर संघर्ष चलता रहा, और वीर पुरुष और स्त्रियां यह जानते हुए भी, कि वर्तमान में या निकट-भविष्य में सफलता पाना उनके भाग्य मे नहीं है, एक ताक़तवर और सुसज्जित सरकार का शान्ति के साथ मुक़ाबला करते रहे। निरन्तर तथा अधिकाधिक तीव्र होता हुआ दमन हिन्दुस्तान में अंग्रेज़ी शासन के आधार का प्रदर्शन कर रहा था। अब इसमे कोई धोखा-धड़ी नहीं थी, और कम-से-कम यही हमारे लिए कुछ सन्तोष की बात थी। संगीनें कामयाब हुईं, लेकिन एक बड़े योद्धा ने एक बार कहा था कि—"तुम संगीनों से सब-कुछ कर सकते हो, लेकिन उन्हींके ऊपर (आधार पर) बैठ नहीं सकते।" हमने सोचा कि इसके बजाय कि हम अपनी आत्माओं को बेचें और आत्मिक व्यभिचार करें, यही अच्छा है कि हम इसी तरह शासित होना पसन्द करें। जेल में हमारा शरीर बेबस था; लेकिन हम समझते थे कि वहां रहकर भी हम अपने कार्य से सेवा ही कर रहे हैं और बाहर रहनेवाले कई लोगों से ज्यादा अच्छी सेवा कर रहे हैं। तो क्या हमें, अपनी कमजोरी के कारण, भारत के भविष्य का बलिदान कर देना चाहिए—इसलिए कि हमारी जान बची रहे! यह तो सच था कि इन्सान की ताक़त और सहन-शक्ति की भी हद होती है, और कई व्यक्ति शरीर से बेकार हो गए, या मर गए, या काम से अलग हो गए, ग़द्दारी तक कर गए; मगर इन बाधाओं के होते हुए भी कार्य आगे बढ़ता ही गया। लेकिन अगर आदर्श स्पष्ट दीखता रहता और हिम्मत ज्यों-की-त्यों बनी रहती तो हार हो नहीं सकती थी। असली असफलता तो है अपने सिद्धान्तों को छोड़ देना, अपने हक़ से इन्कार कर देना, और बेइज़्ज़ती के साथ अन्याय के आगे झुक जाना। अपने-आप लगाये हुए जख्म दुश्मन के लगाये हुए जख्मों से ज़्यादा देर में अच्छे होते हैं!

कभी-कभी अपनी कमजोरियों पर और भटक जानेवाली दुनिया पर हमारा मन उदास हो जाया करता था; मगर फिर भी हमें जितनी सफलता मिली थी

उसीपर हमें कुछ अभिमान था। क्योंकि हमारे लोगोंने बहुत ही वीरतापूर्ण काम किया था, और उस बहादुर सेना में हम भी शामिल हैं, इस खयाल से मन में आनन्द होता था।

सविनय-भंग के उन बरसों में कांग्रेस के खुले अधिवेशन करने की दो बार कोशिश की गई; एक दिल्ली में और दूसरी कलकत्ते में। यह ज़ाहिर था कि ग़ैरकानूनी संस्था मामूली ढंग और शान्ति से अधिवेशन नहीं कर सकती थी, और खुला अधिवेशन करने की कोशिश का अर्थ था पुलिस के संघर्ष में आना। वस्तुतः दोनों सम्मेलनों को पुलिस ने लाठियों के बल, ज़बरदस्ती, तितर-बितर कर दिया, और बहुत-से लोग गिरफ़्तार कर लिये गए। इन सम्मेलनों की विशेषता यह थी कि इन कानून-विरुद्ध सम्मेलनों में प्रतिनिधि बनकर शामिल होने के लिए हिन्दुस्तान के तमाम हिस्सों से हज़ारों की गिनती में लोग आये थे। मुझे यह जानकर बड़ी खुशी हुई कि इन दोनों अधिवेशनों में युक्तप्रान्त के लोगों ने एक प्रमुख भाग लिया था। मेरी मां ने भी मार्च १९३३ के कलकत्ता-अधिवेशन में जाने का आग्रह किया। लेकिन वह कलकत्ता जाते हुए, रास्ते में मालवीयजी और दूसरे लोगों के साथ, गिरफ़्तार कर ली गई और आसनसोल-जेल में कुछ दिनों तक बन्द रक्खी गई। उन्होंने जो आन्तरिक उत्साह और जीवन-शक्ति दिखलाई, उसे देखकर मैं दंग रह गया, क्योंकि वह कमज़ोर और बीमार थीं। वह जेल की परवा नहीं करती थीं; वह तो उससे भी ज्यादा कड़ी अग्नि-परीक्षा में से गुज़र चुकी थीं। उनका लड़का, उनकी दोनों लड़कियां, और दूसरे भी कई लोग जिन्हें वह बहुत चाहती थीं, जेल में लम्बे-लम्बे अरसे तक रह चुके थे; और वह सूना घर जिसमें वह रह रही थीं, उनके लिए एक डरावनी जगह हो गई थी।

जैसे-जैसे हमारी लड़ाई धीमी पड़ने लगी, और उसकी रफ़्तार हलकी हो गई, वैसे-वैसे उसमें जोश और उत्साह की कमी आती गई—हां, बीच-बीच में लम्बे अरसे के बाद कुछ उत्तेजना हो जाया करती थी। मेरे ख़यालात दूसरे मुल्कों की तरफ़ ज्यादा जाने लगे, और जेल में जितना भी हो सका, मैं विश्व-व्यापी मन्दी से ग्रस्त दुनिया की हालत का निरीक्षण और अध्ययन करने लगा। इस विषय की जितनी भी किताबें मुझे मिलीं उन्हें मैं पढ़ता गया और मैं जितना ही पढ़ता जाता था, उतना ही उसकी तरफ़ आकर्षित होता जाता था। मुझे दिखाई दिया कि हिन्दुस्तान अपनी ख़ास समस्याओं और संघर्षों को लेकर भी इस ज़बरदस्त

विश्व-नाटक का, राजनैतिक और आर्थिक शक्तियों की उस लड़ाई का, जो कि आज सब राष्ट्रों के अन्दर और सब राष्ट्रों में परस्पर हो रही है, सिर्फ़ एक हिस्सा ही है। उस लड़ाई में मेरी अपनी सहानुभूति कम्युनिज़म (साम्यवाद) की तरफ़ ही ज़्यादा-ज़्यादा होती गई।

समाजवाद और कम्युनिज़्म की तरफ़ मेरा बहुत समय से आकर्षण था, और रूस मुझे बहुत पसन्द आता था। रूस की बहुत-सी बातें मुझे नापसन्द भी हैं— जैसे सब तरह की विरोधी राय का निरंकुशता से दमन कर देना, सबको सैनिक बना डालना, और अपनी कई व्यवस्थाओं को अमल में लाने के लिए (मेरे मतानुसार) अनावश्यक बल-प्रयोग करना, वग़ैरा। मगर पूंजीवादी दुनिया में भी तो बल-प्रयोग और दमन कम नहीं है! और मुझे ज़्यादा-ज़्यादा यह अनुभव होने लगा कि हमारे संग्रहशील समाज का और हमारी सम्पत्ति का तो आधार और बुनियाद ही बल-प्रयोग है। बल-प्रयोग के बिना वह ज्यादा दिन टिक नहीं सकता। जबतक भूखों मरने का डर सब जगह अधिकांश जनता को, थोड़े लोगों की इच्छा के अधीन होने के लिए, हमेशा मजबूर कर रहा है, जिसके फलस्वरूप उन थोड़े लोगों का ही धन-मान बढ़ता जाता है, तबतक राजनैतिक स्वतन्त्रता होने का भी वास्तव में कुछ अर्थ नही है।

दोनों व्यवस्थाओं में बल-प्रयोग मौजूद है। पूंजीवादी व्यवस्था का बल-प्रयोग तो उसका अनिवार्य अंग ही मालूम होता है। लेकिन रूस के बल-प्रयोग का, यद्यपि वह बुरा ही है, लक्ष्य यह है कि शान्ति और सहयोग पर अवलम्बित जनता को असली स्वतन्त्रता देनेवाली नई व्यवस्था क़ायम हो जाय। सोवियत रूस ने जितनी भी भयंकर भूलें की हों, तो भी वह भारी-भारी कठिनाइयों पर विजय पा चुका है और इस नई व्यवस्था की तरफ लम्बे-लम्बे डग रखता हुआ बहुत आगे बढ़ गया है। जब संसार के दूसरे मुल्क मन्दी में जकड़े हुए थे, कई दशाओं में पीछे की तरफ़ जा रहे थे, तब सोवियत देश में, हमारी आंखों के सामने, एक नई ही दुनिया बनाई जा रही थी। महान् लेनिन के पदचिह्नों पर चलते हुए रूस की निगाह भविष्य पर थी, और उसे केवल इसी बात का विचार था कि आगे क्या होना है। लेकिन संसार के दूसरे देश तो भूतकाल के प्रहार मे सुन्न हुए पड़े थे, और बीते हुए युग के निरर्थक स्मृति-चिह्नों को अक्षुण्ण रखने में ही अपनी ताक़त लगा रहे थे। अपने अध्ययन में मुझपर उन विवरणों का बड़ा असर पड़ा,

जिनमें सोवियत शासन के पिछड़े हुए मध्य-एशियाई प्रदेशों की बड़ी भारी तरक़्क़ी का हाल दिया गया था। इसलिए कुल मिलाकर मेरी राय तो सब तरह से रूस के पक्ष में ही रही; और मुझे सोवियत-तन्त्र की मौजूदगी और मिसाल अंधेरी और दुःखपूर्ण दुनिया में, एक प्रकाशमय और उत्साह देनेवाली चीज़ मालूम हुई।

हालांकि कम्युनिस्ट राज्य स्थापित करने के व्यावहारिक प्रयोग के रूप में सोवियत रूस की सफलता या असफलता का बहुत बड़ा महत्त्व है; फिर भी उससे कम्युनिज़म के सिद्धान्त के ठीक होने या न होने पर कोई असर नहीं पड़ता। राष्ट्रीय या अन्तर्राष्ट्रीय कारणों से बोलशेविक लोग बड़ी-बड़ी गलतियां कर सकते हैं, या असफल भी हो सकते हैं; लेकिन फिर भी कम्युनिज़म का सिद्धान्त सही हो सकता है। उस सिद्धान्त के आधार पर रूस में जो-कुछ हुआ है उसकी अन्धे की तरह नकल करना भी मूर्खता ही होगी; क्योंकि उसका प्रयोग तो प्रत्येक देश में उसकी ख़ास परिस्थितियों और उसके ऐतिहासिक विकास की अवस्था पर निर्भर है। इसके अलावा, हिन्दुस्तान या दूसरा कोई देश, बोलशेविकों की सफलताओं से और अनिवार्य गलतियों से सबक भी ले सकता है। शायद बोलशेविकों ने ज़रूरत से ज़्यादा तीव्र गति से जाने की कोशिश की; क्योंकि उनके चारों तरफ दुश्मन-ही-दुश्मन थे, और उन्हें बाहरी आक्रमण का भी डर था। शायद इससे धीमी चाल से चला जाता तो गांवों में हुई बहुत-सी तकलीफ़ें नहीं आतीं। लेकिन प्रश्न यह उठता था, कि क्या परिवर्तन की गति कम कर देने से वास्तव में मौलिक परिणाम निकल भी सकते थे या नहीं ? किसी नाज़ुक वक्त पर, जबकि आधार-भूत बुनियादी ढांचा ही बदलना हो, किसी आवश्यक समस्या को सुधारवाद से हल करना असम्भव होता है, और बाद में रफ्तार चाहे कितनी ही धीमी रहे, लेकिन पहला क़दम तो ऐसा उठाना ही चाहिए जिससे कि तत्कालीन व्यवस्था से, जो अपना उद्देश्य पूरा कर चुकी हो और अब भविष्य की प्रगति के लिए बाधक बन रही हो, कोई नाता न रह जाय।

हिन्दुस्तान में भूमि और कल-कारखाने दोनों से सम्बन्ध रखनेवाले प्रश्नों का और देश की हर बड़ी समस्या का हल सिर्फ किसी क्रान्तिकारी योजना से ही हो सकता है। जैसा कि 'युद्ध के संस्मरणों' में श्री लॉयड जार्ज कहते हैं— "किसी खाई को दो छलांगों में कूदने से बढ़कर कोई ग़लती नहीं हो सकती।"

रूस को छोड़ भी दें तो मार्क्सवाद के सिद्धान्त और तत्त्वज्ञान ने मेरे दिमाग़

के कई अंधेरे कोनों को प्रकाशित कर दिया। मुझे इतिहास में बिलकुल नया ही अर्थ दिखाई पड़ने लगा। मार्क्सवाद की अर्थ-शैली ने उसपर बड़ी रोशनी डाली, और वह मेरे लिए एक के बाद दूसरा दृश्य प्रस्तुत करनेवाला एक नाटक हो गया, जिसके घटनाचक्र की बुनियाद में कुछ-न-कुछ व्यवस्था और उद्देश्य मालूम हुआ; फिर चाहे वह कितना ही अज्ञात क्यों न हो। यद्यपि भूतकाल में और वर्त-मान समय में समय और शक्ति की भयंकर बरबादी और तकलीफ़ें रही हैं और हैं; लेकिन भविष्य तो आशापूर्ण ही है, चाहे उनके बीच में कितने ही ख़तरे आते रहें। मार्क्सवाद में मौलिक रूप से किसी रूढ़-मत का न होना और उसका वैज्ञानिक दृष्टिकोण ही मुझे पसन्द आया। लेकिन यह सही है कि रूस में और दूसरे देशों में प्रचलित कम्युनिज़्म में बहुत-से रूढ़-मत हैं, और अक्सर 'काफ़िरों', यानी मिथ्या-मतवादियों, पर संगठित रूप से धावा बोला जाता है। मुझे यह निन्दनीय मालूम हुआ; हालांकि सोवियत प्रदेशों में जब भारी-भारी परिवर्तन बड़ी तेज़ी से हो रहे हों और विरोधी लोगों के कारण बड़ी मुसीबतों और असफलताओं के हो जाने की आशंका हो तब ऐसी बात का होना आसानी से समझ में आ सकता है।

संसारव्यापी महान् संकट और मन्दी से भी मुझे मार्क्सवादी विश्लेषण सही मालूम हुआ। जबकि दूसरी सब व्यवस्थाएं और सिद्धान्त सिर्फ़ अपनी अट-कल लगा रहे थे, तब अकेले मार्क्सवाद ने ही बहुत-कुछ सन्तोषजनक रूप से उसका कारण बताया और उसका असली हल सामने रखा।

जैसे-जैसे मुझमें यह विश्वास जमता गया, वैसे-वैसे मुझमें नया उत्साह भरता गया, और सविनय-भंग की असफलता से पैदा हुई मेरी उदासी बहुत कम हो गई। क्या दुनिया तेज़ी से इस वांछनीय लक्ष्य की तरफ़ नहीं जा रही है? हां, महायुद्ध और घोर आपत्ति के बड़े-बड़े ख़तरे मौजूद हैं; लेकिन हर हालत में हम आगे ही बढ़ रहे हैं। हम एक ही जगह में पड़े हुए सड़ नहीं रहे हैं। मुझे मालूम हुआ कि हमारे इस बड़े सफ़र के रास्ते में हमारी राष्ट्रीय लड़ाई तो एक पड़ाव-मात्र है, और यह अच्छा है कि दमन और कष्ट-सहन से हमारे लोग आगामी लड़ाइयों के लिए तैयार हो रहे हैं और उन विचारों पर ग़ौर करने के लिए मजबूर हो रहे हैं जिनसे दुनिया में खलबली मची हुई है। कमज़ोर लोगों के निकल जाने से हम और भी ज़्यादा मज़बूत, ज़्यादा अनुशासनयुक्त और ज़्यादा ठोस बन जायंगे। ज़माना हमारे पक्ष में है।

फिर भी, कम्युनिज़्म के जीवन-सम्बन्धी तत्त्वज्ञान से मुझे शान्ति और आशा मिली। तो इसका हिन्दुस्तान में कैसे प्रयोग हो सकता है? हम तो अभीतक राजनैतिक स्वतन्त्रता की समस्या को भी हल नहीं कर पाये है, और हमारे दिमागों में राष्ट्रवाद ही बैठा हुआ है। क्या हम इसके साथ-ही-साथ आर्थिक स्वतन्त्रता की तरफ़ भी कूद पड़ें, या इन दोनों को बारी-बारी से हाथ मे लें, फिर चाहे इनके बीच में अन्तर कितने ही थोड़े समय का क्यों न हो? संसार की घटनाएं और हिन्दुस्तान के भी वाक़यात सामाजिक समस्या को सामने ला रहे है, और मुझे लगा कि अब राजनैतिक आजादी उससे अलग नहीं रखी जा सकती।

हिन्दुस्तान में ब्रिटिश सरकार की नीति का यह नतीजा हुआ है कि राजनैतिक आज़ादी के विरोध में सामाजिक प्रतिगामी-वर्ग खड़े हो गए हैं। यह अनिवार्य ही था, और हिन्दुस्तान में भिन्न-भिन्न वर्गो और समुदायों के ज़्यादा साफ़ तौर पर अलग-अलग दिखाई दे जाने को मैंने पसन्द किया। लेकिन मै सोचता था कि क्या इसको दूसरे लोग भी अच्छा समझते है! स्पष्ट है कि बहुत लोग नहीं समझते। यह सही है कि कई बड़े शहरों में मुट्ठीभर कट्टर कम्युनिस्ट लोग हैं, और वे राष्ट्रीय आन्दोलन के विरोधी है और उसकी कड़ी आलोचना करते हैं। खासकर बम्बई में, और कुछ हदतक कलकत्ते में, संगठित मज़दूर भी समाजवादी थे; मगर ढीले-ढाले ढग के। उनमें भी फूट पड़ी हुई थी, और वे मन्दी से दुःखी थे। कम्युनिज़्म के और समाजवाद के धुधले-से विचार पढ़े-लिखे लोगों में, और समझदार सरकारी अफ़सरों तक में, फैल चुके हैं। कांग्रेस के नौजवान स्त्री और पुरुष, जो पहले लोकतन्त्र पर ब्राइस और मॉरले, कीथ और मैज़िनी के विचार पढ़ा करते थे, अब अगर उन्हें किताबें मिल जाती हैं तो कम्युनिज़्म और रूस पर लिखा साहित्य पढ़ते हैं। मेरठ-षड्यन्त्र केस ने लोगों का ध्यान इन नये विचारों की तरफ़ फेरने में बड़ी मदद दी, और संसारव्यापी संकट-काल ने इस तरफ़ ध्यान देने की मजबूरी पैदा कर दी। हर जगह प्रचलित संस्थाओं के प्रति शंका, जिज्ञासा और चुनौती की नई भावना दिखाई देती हैं। इनसे साधारण मनो-दिशा तो साफ़ प्रकट हो रही है; लेकिन फिर भी हलका-सा झोंका ही है जिसको अपने-आप पर कभी कोई विश्वास नहीं है। कुछ लोग फ़ासिस्ट विचारों के आसपास मंडराते है। लेकिन कोई भी साफ़ और निश्चित आदर्श नहीं है। अभीतक तो राष्ट्रीयता ही यहां की प्रमुख विचारधारा है।

मुझे यह तो साफ़ मालूम हुआ, कि जबतक, किसी अंश में भी, राजनैतिक आज़ादी नहीं मिल जायगी तबतक राष्ट्रीयता ही सबसे बड़ी प्रेरक भावना रहेगी। इसी कारण कांग्रेस हिन्दुस्तान में सबसे ज़्यादा शक्तिशाली संस्था होने के साथ ही सबसे आगे बढ़ी हुई संस्था भी रही है, और अब भी (कुछ खास मज़दूर-क्षेत्रों को छोड़कर) है। पिछले तेरह बरसों में, गांधीजी के नेतृत्व में इसने जनता में आश्चर्यजनक जाग्रति पैदा कर दी है और इससे अस्पष्ट मध्यम-वर्गी आदर्श के होते हुए भी इसने एक क्रान्तिकारी काम किया है। अबतक भी इसकी उपयोगिता नष्ट नहीं हुई है, और हो भी नहीं सकती, जबतक कि राष्ट्रवादी प्रेरणा की जगह समाजवादी प्रेरणा न आ जाय। भविष्य की प्रगति—आदर्श-सम्बन्धी भी और कार्य-सम्बन्धी भी—अब भी कांग्रेस के द्वारा ही होगी, हालांकि दूसरे मार्गों से भी काम लिया जा सकेगा।

इस तरह मुझे कांग्रेस को छोड़ देना, राष्ट्र की आवश्यक प्रेरक शक्ति से अलग हो जाना, अपने पास के सबसे ज़बरदस्त हथियार को कुन्द कर देना और एक निरर्थक साहस में अपनी शक्ति बरबाद करना मालूम हुआ। लेकिन फिर भी, क्या कांग्रेस, अपनी मौजूदा स्थिति को रखते हुए, कभी भी वास्तव में मौलिक सामाजिक हल को अपना सकेगी? अगर उसके सामने ऐसा सवाल रख दिया जाय, तो उसका नतीजा यही होगा कि उसके दो या ज्यादा टुकड़े हो जायंगे, या कम-से-कम बहुत लोग उससे अलग हो जायेंगे। ऐसा हो जाना भी अवांछनीय या बुरा न होगा, अगर समस्याएं ज्यादा साफ़ हो जायं, और कांग्रेस में एक मजबूत संगठित दल, चाहे वह बहुमत में हो या अल्पमत में हो, एक मौलिक समाजवादी कार्यक्रम को लेकर खड़ा हो जाय।

लेकिन इस समय तो कांग्रेस का अर्थ है गांधीजी। वह क्या करना चाहेंगे? विचारधारा की दृष्टि से कभी-कभी वह आश्चर्यजनक रूप से पिछड़े हुए रहे हैं; लेकिन फिर भी व्यवहार में वह हिन्दुस्तान में इस वक्त के सबसे बड़े क्रान्तिकारी रहे हैं। वह एक अनोखे व्यक्ति हैं, और उन्हें मामूली पैमानों से नापना या उनपर तर्कशास्त्र के मामूली नियम लगाना भी मुमकिन नहीं है। लेकिन चूंकि वह हृदय में क्रान्तिकारी हैं और हिन्दुस्तान की राजनैतिक स्वतन्त्रता की प्रतिज्ञा किये हुए हैं, इसलिए जबतक वह स्वतन्त्रता मिल नहीं जाती, तबतक तो वह इसपर अटल रहकर ही अपना काम करेंगे और इसी तरह कार्य करते हुए वह जनता की प्रचण्ड

कार्य-शक्ति को जगा देंगे, और, मुझे आधी उम्मीद है कि वह खुद भी सामाजिक ध्येय की तरफ़ एक-एक क़दम आगे बढ़ते चलेंगे।

हिन्दुस्तान के और बाहर के कट्टर कम्युनिस्ट पिछले कई बरसों से गांधीजी और कांग्रेस पर भयंकर हमले करते रहे हैं, और उन्होंने कांग्रेस-नेताओं पर सब तरह की दुर्भावनाओं के आरोप लगाये हैं। कांग्रेस की विचारधारा पर उनकी बहुत-सी सैद्धान्तिक समालोचना योग्यतापूर्ण और स्पष्ट थी और बाद की घटनाओं से वह किसी अंश तक सही भी साबित हुई। हिन्दुस्तान की साधारण राजनैतिक हालत के बारे में कम्युनिस्टों के शुरू के कुछ विश्लेषण बहुत-कुछ सही निकले। मगर जब वे साधारण सिद्धान्तों को छोड़कर तफ़सीलों में आते हैं, और खासकर जब वे देश में कांग्रेस के महत्त्व पर विचार करते हैं, तो वे बुरी तरह भटक जाते हैं। हिन्दुस्तान में कम्युनिस्टों की संख्या और असर कम होने का एक कारण यह भी है कि कम्युनिज़्म का वैज्ञानिक ज्ञान फैलाने और लोगों के दिमाग़ में उसका विश्वास जमाने की कोशिश करने के बदले उन्होने दूसरों को गालियां देने में ही ज़्यादातर अपनी ताक़त लगाई है। इसका उन्हीं पर उलटा असर पड़ा है, और उन्हें नुक़सान पहुंचा है। इनमें से अधिकांश लोग मज़दूरों के हलक़ों में काम करने के आदी हैं, जहां मज़दूरों को अपनी तरफ़ मिला लेने के लिए सिर्फ़ थोड़े-से नारे ही काफ़ी होते हैं। लेकिन बुद्धिमान लोगों के लिए तो सिर्फ़ नारे ही काफ़ी नहीं हो सकते और उन्होंने इस बात को अनुभव नहीं किया है कि आज हिन्दुस्तान में मध्यम-वर्ग का पढ़ा-लिखा दल ही सबसे ज्यादा क्रान्तिकारी दल है। कट्टर कम्युनिस्टों के इच्छा न करने पर भी कई पढ़े-लिखे लोग कम्युनिज़्म की तरफ़ खिंच आये हैं, लेकिन फिर भी उनके बीच में एक खाई है।

कम्युनिस्टों की राय के मुताबिक, कांग्रेस के नेताओं का मक़सद रहा है, सरकार पर जनता का दबाव डालना और हिन्दुस्तान के पूंजीवादियों और ज़मींदारों के हित के लिए कुछ औद्योगिक और व्यापारिक सुविधाएं पा लेना। उनका मत है कि कांग्रेस का काम है—"किसानों, निम्न मध्यम-वर्ग और कारखानों के मज़दूर-वर्ग के आर्थिक और राजनैतिक असन्तोष को उभाड़कर बम्बई, अहमदाबाद और कलकत्ते के मिल-मालिकों और लखपतियों को लाभ पहुंचाना।" यह खयाल किया जाता है कि हिन्दुस्तानी पूंजीपति टट्टी की ओट में कांग्रेस-कार्य-समिति को हुक्म देते हैं कि पहले तो वह सार्वजनिक आन्दोलन चलाये और जब वह

बहुत व्यापक और भयंकर हो जाय तब उसे स्थगित कर दे, या किसी छोटी-मोटी बात पर बन्द कर दे। और, कांग्रेस के नेता सचमुच अंग्रेज़ों का चला जाना पसन्द नहीं करते; क्योंकि भूखी जनता का शोषण करने के लिए आवश्यक नियन्त्रण करने को उनकी ज़रूरत है, और मध्यम-वर्ग अपने में यह काम करने की ताक़त नहीं मानता।

· यह अचरज की बात है कि कम्युनिस्ट इस अजीब विश्लेषण पर भरोसा रखते हैं। लेकिन चूंकि प्रकट रूप से उनका विश्वास इसी पर है, इसीलिए आश्चर्य नहीं कि, वे हिन्दुस्तान में इतनी बुरी तरह से असफल हुए हैं। उनकी बुनियादी ग़लती यह मालूम होती है कि वे हिन्दुस्तान के राष्ट्रीय आन्दोलन को यूरोपियन मज़दूरों के पैमाने से नापते हैं; और चूंकि उन्हें यह देखने का अभ्यास है कि बार-बार मज़दूर-नेता मज़दूर-आन्दोलन के साथ विश्वासघात करते रहे हैं, इसलिए वे उसी मिसाल को हिन्दुस्तान पर लगाते हैं। यह तो स्पष्ट है कि हिन्दुस्तान का राष्ट्रीय आन्दोलन कोई मज़दूरों या श्रमिकों का आन्दोलन नहीं है। जैसा कि उसके नाम ही से ज़ाहिर होता है, वह एक मध्यमवर्गी जनता का आन्दोलन है और अभीतक उसका उद्देश्य समाज-व्यवस्था को बदलना नहीं, बल्कि राजनैतिक स्वतन्त्रता प्राप्त करना ही रहा है। इसपर कहा जा सकता है कि यह ध्येय काफ़ी दूरगामी नहीं है, और राष्ट्रीयता भी आजकल के जमाने की चीज़ कहला सकती है। लेकिन आन्दोलन के मौलिक आधार को मानते हुए, यह नहीं कहा जा सकता कि नेता लोग भूमि-प्रणाली या पूंजीवादी प्रणाली को उलट देने की कोशिश ही नहीं करते, इसलिए वे जनता के साथ विश्वासघात करते हैं, क्योंकि उन्होंने ऐसा करने का कभी दावा ही नहीं किया। हां, कांग्रेस में कुछ लोग ऐसे जरूर हैं, और उनकी गिनती बढ़ती जा रही है, जो भूमि-प्रणाली और पूजीवादी व्यवस्था को बदल देना चाहते हैं, लेकिन वे कांग्रेस के नाम पर नहीं बोल सकते।

यह सच है कि हिन्दुस्तान के पूजीवादी वर्गों ने (बड़े-बड़े जमीदारों या ताल्लुकेदारों ने नहीं) ब्रिटिश और दूसरे विदेशी माल के बहिष्कार और स्वदेशी के प्रचार के कारण राष्ट्रीय आन्दोलन से बड़ा फ़ायदा उठाया है। लेकिन, यह तो लाज़िमी ही था; क्योंकि हर राष्ट्रीय आन्दोलन देश के उद्योग-धन्धों को बढ़ावा देता है, और दूसरों का बहिष्कार कराता है। लेकिन, असल मे, बम्बई के मिल-मालिकों ने तो सविनय भंग चालू रहने के वक्त ही और जब कि हम

ब्रिटिश माल के बहिष्कार का प्रचार करते रहे थे, तभी एक गैरवाजिब तरीके से लंकाशायर से एक समझौता करने का भी दु.साहस कर डाला था ! कांग्रेस की निगाह में, यह राष्ट्र के साथ भारी विश्वासघात था, और यही नाम उसको दिया भी गया था । बड़ी धारा-सभा में बम्बई के मिल-मालिकों के प्रतिनिधियों ने, जबकि हममें से ज़्यादातर लोग जेल में थे, लगातार कांग्रेस और गरम दल के लोगों की निन्दा की थी ।

पिछले कुछ बरसों में कई पूंजीपति दलों ने हिन्दुस्तान में जो-जो काम किये हैं वे कांग्रेस की और राष्ट्रीय दृष्टि से भी कलंक-रूप हैं । ओटावा के समझौते से शायद कुछ लोगों को फ़ायदा हो गया होगा, लेकिन हिन्दुस्तान के सारे उद्योग-धन्धों की दृष्टि से वह बुरा था, और उससे वे ब्रिटिश पूजी और कारखानों की ज़्यादा अधीनता में आ गए । वह समझौता जनता के लिए हानिकर था, और तब किया गया था जबकि हमारी लड़ाई चालू थी और कई हज़ार लोग जेलों में थे । हर उपनिवेश ने इंग्लैंड से अपनी कड़ी-से-कड़ी शर्तें मनवा लीं, लेकिन हिन्दुस्तान को तो मानो उसमें अपनेको क़रीब-क़रीब लुटा देने का सौभाग्य ही मिल गया । पिछले कुछ बरसों में कुछ बड़े धनिकों ने हिन्दुस्तान को नुक़सान में डालकर भी सोने और चांदी का व्यापार किया है ।

और बड़े-बड़े ज़मीदार-ताल्लुक़ेदार तो गोलमेज़-कांन्फ्रेंस में कांग्रेस के बिलकुल खिलाफ ही खड़े हो गए थे, और ठीक सविनय भंग के बीचोंबीच उन्होंने खुले तौर पर और आगे बढ़कर अपने आपको सरकार के पक्ष का घोषित कर दिया था । इन्हीं लोगों की मदद से सरकार ने भिन्न-भिन्न प्रान्तो में उन दमनकारी कानूनों को पास किया, जो आर्डिनेंसों मे आ जाते थे और युक्तप्रान्त की कौंसिल में ज़्यादातर ज़मीदार मेम्बरों ने सविनय-भंग के क़ैदियों की रिहाई के विरोध में राय दी थी ।

यह ख़याल भी विलकुल ग़लत है कि गांधीजी ने १९२१ और १९३० में तीव्र दीखनेवाले आन्दोलन जनता के आग्रह से मजबूर होकर ही शुरू किये थे । आम जनता में हलचल बेशक़ थी; लेकिन दोनों आन्दोलनों में क़दम गांधीजी ने ही आगे बढ़ाया था । १९२१ में तो उन्होंने क़रीब-क़रीब अकेले ही सारी कांग्रेस को अपने साथ कर लिया और उसे असहयोग के पथ पर ले गए । १९३० में भी अगर उन्होंने किसी तरह भी विरोध किया होता, तो कोई भी आक्रामक और

प्रभावशाली आन्दोलन कभी नहीं उठ सकता था ।

यह बड़े दुर्भाग्य की बात है कि मूर्खतापूर्ण और बिना जानकारी के व्यक्तिगत नुक़्ताचीनी की जाती है, क्योंकि उससे ध्यान असली सवालों से दूसरी तरफ़ हट जाता है । गांधीजी की ईमानदारी पर हमला करने से तो अपने-आपका और अपने काम का ही नुक़सान होता है, क्योंकि हिन्दुस्तान के करोड़ों आदमियों के लिए तो वह सत्य के ही मूर्त रूप हैं, और उन्हें जो भी पहचानते हैं वे जानते हैं कि वह हमेशा सत्य के मार्ग पर चलने के लिए कितने व्याकुल रहते हैं ।

हिन्दुस्तान में कम्युनिस्टों का ताल्लुक़ बड़े शहरों के कारखानों के मज़दूरों के साथ ही रहा है । देहाती हलक़ों की जानकारी या सम्पर्क उनके पास नहीं है । हालांकि कारखानों के मज़दूरों का भी एक महत्त्व है, और भविष्य में उनका और भी ज़्यादा महत्त्व होगा, लेकिन उनका किसानों के सामने दूसरा ही दर्जा रहेगा, क्योंकि हिन्दुस्तान में आज तो किसानों की समस्या ही मुख्य है । इधर कांग्रेसी कार्यकर्त्ता इन देहाती हलक़ों में सर्वत्र फैल चुके हैं, और समय पर अपने-आप कांग्रेस किसानों का एक बड़ा संगठन बन जायगी । अपना निकट-लक्ष्य प्राप्त करने के बाद किसान कभी भी क्रान्तिकारी नहीं रह जाते और यह मुमकिन है कि भविष्य में किसी समय 'शहर बनाम देहात' और 'मजदूर बनाम किसान' का आम मसला हिन्दुस्तान में भी खड़ा हो जाय ।

मुझे कांग्रेस के बहुत-से नेताओं और कार्यकर्त्ताओं के गहरे सम्पर्क में आने का मौक़ा मिला है, और इनसे ज़्यादा अच्छी श्रेणी के स्त्री-पुरुष मुझे और कहीं नहीं मिल सकते थे । लेकिन फिर भी जीवित समस्याओं के सम्बन्ध में मेरा उनसे मतभेद रहा है, और कई बार मैं यह देखकर उकता गया हूं कि जो बात मुझे साफ़-सी दिखाई देती है उसकी वे क़दर भी नहीं कर सकते या उसे समझ भी नहीं सकते। इसका कारण समझ की कमी नहीं है, बल्कि इसका मतलब यह है कि हम विचारों की अलग-अलग पगडण्डियों पर चल रहे हैं । मैंने महसूस किया कि इन सीमाओं को अचानक पार कर जाना कितना मुश्किल है । इन विभेदों का कारण जीवन-सम्बन्धी तत्त्वज्ञान में विभेद होना है, जिन्हें हम धीरे-धीरे और अनजान में ग्रहण कर लेते हैं । परस्पर एक-दूसरे दल को दोष देना बेकार है । समाजवाद के लिए जीवन और उसकी समस्याओं पर एक ख़ास मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण होने की ज़रूरत है । वह केवल युक्तिवाद से कुछ अधिक है । इसी तरह, दूसरे दृष्टि-

कोण भी परस्पर शिक्षण और भूत और वर्तमान परिस्थितियों के अज्ञात प्रभाव पर निर्भर हैं। जीवन की कठिनाइयों और उसके कड़वे अनुभव ही हमें नये रास्तों से चलने को मजबूर करते हैं; और अन्त में, यद्यपि यह बहुत कठिन काम है, हमारा दृष्टिकोण बदल देते हैं। सम्भव है इस प्रक्रिया में हम भी थोड़े सहायक हो सकें और शायद मशहूर फ्रेंच लेखक ला फोंतेन के शब्दों में—

"मनुष्य अपने भवितव्य पर उसी रास्ते से पहुंच जाता है जिस पर वह उससे बचने के लिए चलता है।"

: ४७ :

धर्म क्या है ?

हमारे शान्त और एक-ढर्रे के जेल-जीवन में सितम्बर १९३२ के बीच में मानो अचानक एक वज्र-सा गिरा। एक खलबली मच गई। ख़बर मिली कि मि० रेम्ज़ मैकडानल्ड के साम्प्रदायिक 'निर्णय' में यहां की दलित जातियों को अलग चुनाव के अधिकार दिये जाने के विरोध में गांधीजी ने 'आमरण अनशन' करना तय किया है। लोगों पर अचानक चोट पहुंचाने की उनमें कितनी अद्‌भुत क्षमता है ! सहसा सभी तरह के विचार मेरे दिमाग़ में उत्पन्न होने लगे; सब तरह की भावी सम्भावनाओं के चित्र मेरे सामने आने लगे, और उन्होंने मेरे स्थिर चित्त को बिलकुल उद्विग्न कर दिया। दो दिन तक मुझे बिलकुल अंधेरा-ही-अंधेरा दिखाई दिया, और कोई रास्ता नहीं सूझा। जब मैं गांधीजी के इस काम के कुछ नतीजों का ख़याल करता तो मेरा दिल बैठ जाता था। उनके प्रति मेरा व्यक्तिगत प्रेम काफ़ी प्रबल था, और मुझे ऐसा लगता था कि अब शायद मैं उन्हें नहीं देख सकूंगा। इस ख़याल से मुझे बहुत ही पीड़ा होती थी। पिछली बार लगभग एक साल से कुछ ज्यादा हुए मैंने उन्हें इंग्लैंड जाते समय जहाज़ पर देखा था। क्या वही मेरा उनका अतिम दर्शन रहेगा ?

और फिर मुझे उनपर झुंझलाहट भी आई कि उन्होंने अपने अंतिम बलि-दान के लिए एक छोटा-सा, सिर्फ चुनाव का, मामला लिया है। हमारे आजादी के आन्दोलन का क्या होगा ? क्या अब, कम-से-कम थोड़े वक़्त के लिए ही सही, बड़े सवाल पीछे नहीं पड़ जायंगे ? और, अगर वह अपनी अभी की बात पर कामयाब भी हो जायेंगे, और दलित जातियों के लिए सम्मिलित चुनाव प्राप्त भी कर लेंगे, तो क्या इससे एक प्रतिक्रिया न होगी, और यह भावना न फैल जायगी कि कुछ-न-कुछ तो प्राप्त कर ही लिया गया है, और कुछ दिन तक अब कुछ भी नहीं करना चाहिए ? और क्या उनके इस काम का यह अर्थ नहीं हुआ कि वह साम्प्रदायिक 'निर्णय' को मानते हैं और सरकार की तैयार की हुई आम तजवीज़ों

को किसी अंश तक मंज़ूर करते हैं ? क्या यह असहयोग और सविनय-भंग से मेल खाता है ? इतने बलिदान और साहसपूर्ण प्रयत्न के बाद क्या हमारा आन्दोलन इस नगण्य प्रश्न पर आकर अटक जायगा ?

वह राजनैतिक समस्या को धार्मिक और भावुकतापूर्ण दृष्टि से देखते हैं और समय-समय पर ईश्वर को बीच में लाते हैं, यह देखकर मुझे उनपर गुस्सा भी आया। उनके वक्तव्य से तो ऐसी ध्वनि निकलती थी कि शायद ईश्वर ने उन्हें अनशन की तारीख़ तक सुझा दी थी। ऐसी मिसाल पेश करना कितना भयंकर होगा !

और अगर बापू मर गए तो हिन्दुस्तान की क्या हालत हो जायगी ! और उसकी राजनैतिक प्रगति का क्या होगा ? मुझे भविष्य सूना और भयंकर दीखने लगा, और जब मैं उसपर विचार करता था तो मेरे दिल में एक निराशा-सी छा जाती थी।

इस तरह मैं लगातार इन विचारों में डूबता-उतराता रहा। मेरे दिमाग में गड़बड़ी मच गई और गुस्सा, निराशा और जिस व्यक्ति ने इतनी बड़ी उथल-पुथल पैदा कर दी उसके प्रति प्रेम से वह सराबोर हो गया। मुझे नहीं सूझता था कि मैं क्या करूं, और सबसे ज़्यादा अपने प्रति मैं चिड़चिड़ा और बद-मिज़ाज हो गया।

और फिर मुझमें एक अजीब तब्दीली हुई। मैं शुरू-शुरू में भावनाओं के एक तूफान में बह गया था, पर अन्त में मुझे कुछ शान्ति मालूम हुई, और भविष्य भी इतना अन्धकारपूर्ण दिखाई नहीं दिया। बापू में ऐन मौक़े पर ठीक काम कर डालने की अजीब सूझ है, और मुमकिन है कि उनके इस काम के भी––जो मेरे दृष्टि-बिन्दु से बिलकुल अयोग्य ठहरता था––कोई बड़े नतीजे निकलें; केवल उसी काम के छोटे-से सीमित क्षेत्र में नहीं, बल्कि हमारी राष्ट्रीय लड़ाई के व्यापक स्वरूपों में भी। और अगर बापू मर भी गए, तो हमारी स्वतन्त्रता की लड़ाई चलती रहेगी। इसलिए, कुछ भी नतीजा हो, इन्सान को हर हालत के लिए तैयार और मुस्तैद रहना चाहिए। गांधीजी की मृत्यु तक को बिना हिचकिचाहट के सह लेने का संकल्प करके मैंने शान्ति और धीरज धारण किया, और दुनिया की हर घटना का सामना करने को तैयार हो गया।

इसके बाद सारे देश में एक भयंकर उथल-पुथल मचने और हिन्दू-समाज

में उत्साह की एक जादू-भरी लहर आजाने की खबरें आई, और मालूम होने लगा कि छुआछूत का अब अन्त ही होनेवाला है। मैं सोचने लगा कि यरवदा-जेल में बैठा हुआ यह छोटा-सा आदमी कितना बड़ा जादूगर है ! और लोगों के हृदयों के तारों को झंकृत करना वह कितनी अच्छी तरह जानता है !

उनका एक तार मुझे मिला। मेरे जेल आने के बाद यह उनका पहला ही संदेश था, और इतने लम्बे अरसे के बाद उनका संदेश पाना मुझे बहुत अच्छा लगा। इस तार में उन्होंने लिखा—

"इन वेदना के दिनों में मुझे हमेशा तुम्हारा ध्यान रहा है। तुम्हारी राय जानने को मैं बहुत ज्यादा उत्सुक हूं। तुम्हें मालूम है, मैं तुम्हारी राय की कितनी क़दर करता हूं। इन्दु और सरूप के बच्चे मिले। इन्दु खुश और कुछ तगड़ी दीखती थी। तबीयत बहुत ठीक है। तार से जवाब दो ! स्नेह !"

यह एक असाधारण बात थी, लेकिन उनके स्वभाव के अनुसार ही थी, कि उन्होंने अपने अनशन की पीड़ा और अपने काम-काज के बीच भी मेरी लड़की और मेरी बहिन के बच्चों के आने का जिक्र किया, और यह भी लिखा इन्दिरा तगड़ी हो गई है। उस समय मेरी बहिन भी पूना के जेल में थी और ये सब बच्चे पूना के स्कूल में पढ़ते थे। वह जीवन में छोटी दीखनेवाली बातों को भी कभी नहीं भूलते, जिनका असल में बड़ा महत्त्व भी होता है।

ठीक उसी वक्त मुझे यह खबर भी मिली कि चुनाव के मामले पर कोई समझौता भी हो गया है। जेल के सुपरिण्टेण्डेण्ट ने कृपा करके मुझे गांधीजी को जवाब देने की इजाज़त दे दी, और मैंने उन्हें यह तार भेजा:—

"आपके तार और यह संक्षिप्त समाचार मिलने से कि कोई समझौता हो गया है, मुझे बड़ी राहत और खुशी हुई। पहले तो आपके अनशन के निश्चय से मानसिक क्लेश और बड़ी दुविधा पैदा हुई, पर आखिर में आशावाद की विजय हुई और मुझे मानसिक शान्ति मिली। दलित वर्ग के लिए बड़े-से-बड़ा बलिदान भी कम ही है। स्वतन्त्रता की कसौटी सबसे छोटे की स्वतन्त्रता से करनी चाहिए; लेकिन भय है कि कहीं हमारे एकमात्र लक्ष्य को दूसरी समस्याएं ढक न लें। मैं धार्मिक दृष्टिकोण से निर्णय करने में असमर्थ हूं। यह भी भय है कि दूसरे लोग आपके तरीक़ों का दुरुपयोग करेंगे। लेकिन एक जादूगर को मैं कैसे सलाह दे सकता हूं ! सप्रेम !"

पुत्री
(इन्दिरा गांधी)

पूना में जमा हुए भिन्न-भिन्न लोगों ने एक समझौते पर दस्तख़त किये और ब्रिटिश प्रधानमन्त्री ने उसे चटपट मंज़ूर कर लिया और उसके अनुसार अपना पिछला 'निर्णय' बदल दिया। अनशन भी तोड़ दिया गया। मैं ऐसे समझौतों और इक़रारनामों को बहुत नापसन्द करता हूं; लेकिन पूना के समझौते में क्या-क्या तय हुआ, इसका ख़याल न करते हुए भी मैंने उसका स्वागत किया।

उत्तेजना ख़त्म हो चुकी थी, और हम जेल के अपने मामूली कार्यक्रम में लग गए। हरिजन-आन्दोलन और जेल में से गांधीजी की प्रवृत्तियों की खबरें हमें मिलती रहती थीं। लेकिन उनसे मुझे ख़ुशी नही होती थी। इसमें शक नहीं कि छुआछूत के भाव को मिटाने और दुःखी-दलित जातियों को उठाने के आन्दोलन को उससे बड़े ग़ज़ब का बढ़ावा मिला; लेकिन वह समझौते के कारण नहीं, बल्कि देश-भर में जो एक जिहादी जोश फैल गया था उसके कारण। यह तो अच्छी बात थी। लेकिन इसीके साथ-साथ यह भी स्पष्ट था कि इससे सविनय भंग-आन्दोलन को नुक़सान पहुंचा। देश का ध्यान दूसरे सवालों पर चला गया, और कांग्रेस के कई कार्यकर्त्ता हरिजन-कार्य में लग गए। शायद उनमें से ज़्यादातर तो कम ख़तरे के कामों में लगने का बहाना चाहते ही थे, जिनमे जेल जाने, या इससे भी ज़्यादा लाठी खाने और सम्पत्ति ज़ब्त कराने का डर न हो। यह स्वाभाविक ही था, और हमारे हज़ारों कार्यकर्त्ताओं में से हरेक से यह उम्मीद करना ठीक भी न था कि वह घोर कष्ट सहने और अपने परिवार के भंग और नाश के लिए हमेशा तैयार रहे। लेकिन फिर भी हमारे बड़े आन्दोलन का इस तरह धीरे-धीरे पतन होना देखकर दिल में दर्द होता था। फिर भी, सविनय-भंग तो चलता ही रहा, और मौक़े-मौके पर, मार्च-अप्रैल १९३३ की कलकत्ता-कांग्रेस जैसे बड़े-बड़े प्रदर्शन हो ही जाते थे। गांधीजी यरवदा-जेल में थे, मगर उन्हें लोगों से मिलने और हरिजन-आन्दोलन के लिए हिदायतें भेजने की कुछ सुविधाएं मिल गई थीं। कुछ भी हो, इससे उनके जेल में रहने के कारण लोगों के मन में हुई टीस का तीखापन कम हो गया था। इन सब बातों से मुझे बड़ी निराशा हुई।

कई महीने बाद, मई १९३३ में, गांधीजी ने फिर अपना इक्कीस दिन का उपवास शुरू किया। पहले तो इसकी खबर से भी मुझे फिर बड़ा धक्का लगा; लेकिन होनहार ऐसा ही था, यह समझकर मैंने उसे मंज़ूर कर लिया और अपने दिल को समझा लिया। वास्तव में मुझे उन लोगों पर ही झुंझलाहट हुई, जो

उनके उपवास का संकल्प कर लेने और घोषित कर देने के बाद उसे छोड़ देने का ज़ोर उनपर डाल रहे थे। उपवास मेरी तो समझ के बाहर था और निश्चय कर लेने के पहले अगर मुझसे पूछा जाता तो मैं उसके विरोध में ज़ोर की राय देता। लेकिन मैं गांधीजी की प्रतिज्ञा का बड़ा महत्व समझता था; और किसी भी व्यक्ति के लिए मुझे यह ग़लत मालूम होता था कि वह किसी भी व्यक्तिगत मामले में, जिसे वह सबसे ज्यादा महत्त्वपूर्ण समझते थे, उनकी प्रतिज्ञा को तुड़वाने की कोशिश करे। इस तरह यद्यपि मै खिन्न था, फिर भी मैंने उसे सहन कर लिया।

अपना उपवास शुरू करने से कुछ दिन पहले उन्होंने मुझे अपने ख़ास ढंग का एक पत्र भेजा, जिससे मेरा दिल बहुत हिल गया। चूंकि उन्होंने जवाब मांगा था, इसलिए मैंने नीचे लिखा तार भेजा :—

> **"आपका पत्र मिला। जिन मामलों को मैं नहीं समझता, उनके बारे में मैं क्या कह सकता हूं! मैं तो एक विचित्र देश में अपने को खोया हुआ-सा अनुभव करता हूं जहां आप ही एकमात्र दीपस्तम्भ हैं; अंधेरे में मै अपना रास्ता टटोलता हूं, लेकिन ठोकर खाकर गिर जाता हूं। नतीजा जो कुछ हो, मेरा स्नेह और मेरे विचार हमेशा आपके साथ होंगे।"**

एक ओर तो मै उनके कार्य को बिलकुल नापसन्द करता था, और दूसरी ओर उन्हें चोट न पहुंचाने की भी मेरी इच्छा बलवती थी। मैं इस संघर्ष में पड़ा हुआ था। मैंने अनुभव किया कि मैंने उन्हें प्रसन्नता का सन्देश नहीं भेजा है, और अब जबकि वह अपनी भयंकर अग्नि-परीक्षा मे से, जिसमें उनकी मृत्यु भी हो सकती थी, पार होने का निश्चय ही कर चुके हैं, तो मुझे चाहिए कि मुझसे जितना बन सके उतना मैं उन्हें प्रसन्न रखू। छोटी-छोटी बातों का भी मन पर बड़ा असर होता है, और उन्हें अपना जीवन-दीप बुझने न देने के लिए अपना सारा मनोबल लगा देना पड़ेगा। मुझे ऐसा भी लगा कि अब जो कुछ भी हो, चाहे दुर्भाग्य से उनकी मृत्यु भी हो जाय, तो भी उसे दृढ़ हृदय से सह लेना चाहिए। इसलिए मैंने उन्हें दूसरा तार भेजा :—

> **"अब तो जब आपने अपना महान् तप शुरू कर ही दिया है, मै फिर अपना स्नेह और अभिनन्दन आपको भेजता हूं, और मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि अब मुझे यह ज्यादा स्पष्ट दिखाई देता है कि जो कुछ होता**

है अच्छा ही होता है, और परिणाम कुछ भी हो आपकी विजय ही है ।"

उनका उपवास सकुशल पूरा हुआ । उपवास के पहले ही दिन वह जेल से रिहा कर दिये गए, और उनके कहने से छह हफ़्तों के लिए सविनय-भंग स्थगित कर दिया गया ।

मैंने देखा कि उपवास के बीच में देश की भावना में फिर एक ज्वार आया। मैं अधिकाधिक सोचने लगा कि क्या राजनीति में यह उचित मार्ग है ? मुझे तो लगने लगा कि यह केवल पुनरुद्धार-वाद है और इसके सामने स्पष्ट विचार करने का तरीक़ा बिलकुल नहीं ठहर सकता । सारा हिन्दुस्तान, या उसका अधिकांश श्रद्धा से महात्माजी की तरफ़ निगाह गड़ाये हुए था, और उनसे उम्मीद करता था कि वह चमत्कार-पर-चमत्कार करते चले जायं, अस्पृश्यता का नाश कर दें और स्वराज्य हासिल कर लें इत्यादि, और ख़ुद कुछ भी न करें । गांधीजी भी दूसरों को विचार करने के लिए बढ़ावा नही देते थे, उनका आग्रह पवित्रता और बलिदान पर था । मुझे लगा कि हालांकि मै गांधीजी पर बड़ी आसक्ति रखता हूं फिर भी मानसिक दृष्टि से मैं उनसे दूर होता जा रहा हूं । अक्सर वह अपनी राजनैतिक हलचलों में अपनी कभी न चूकनेवाली सहज आत्मप्रेरणा से काम लेते थे । श्रेयस्कर और लाभप्रद काम करने का उनमें स्वभावसिद्ध गुण है; लेकिन क्या राष्ट्र को तैयार करने का रास्ता श्रद्धा का ही है ! कुछ वक़्त के लिए तो यह लाभदायक हो सकता है, मगर अन्त में क्या होगा !

मेरी समझ में नहीं आता था कि वर्तमान सामाजिक व्यवस्था को, जिसकी नींव हिंसा और संघर्ष पर है, वह कैसे स्वीकार कर लेते हैं, जैसा कि ऊपर से मालूम पड़ता था । मुझमें ज़ोर से संघर्ष चलने लगा, और मै दो प्रतिस्पर्द्धी निष्ठाओं (व्यक्ति-निष्ठा और तत्त्व-निष्ठा) की चक्की में पिसने लगा । मैंने जान लिया कि जब मैं जेल की चहारदीवारी से बाहर निकलूंगा, तब भविष्य में मेरे सामने मुसीबत ही खड़ी मिलेगी । मुझे प्रतीत होने लगा कि मैं अकेला और निराश्रय हूं, और हिन्दुस्तान, जिसे मैंने प्यार किया और जिसके लिए मैंने इतना परिश्रम किया, मुझे एक पराया और किंकर्त्तव्यविमूढ़ कर देनेवाला देश मालूम होने लगा । क्या यह मेरा दोष था कि मैं अपने देशवासियों की भावना और विचार-प्रणाली से अपना मेल न बैठा सका ? मुझे मालूम हुआ कि अपने अंतरंग साथियों और मेरे बीच एक अप्रत्यक्ष दीवार खड़ी हो गई है, और उसको पार

करने में अपने-आपको असमर्थ पाकर मैं दुःखी हो गया और मन मसोसकर बैठ गया। उन सबको मानो पुरानी दुनिया ने, पुरानी विचारधाराओं, पुरानी आशाओं और पुरानी इच्छाओं की दुनिया ने घेर रक्खा था। नई दुनिया तो अभी बहुत दूर थी।

दो लोकों के बीच भटकता
आश्रय की कुछ आस नहीं;
मरी पड़ी है एक, दूसरे में,
उठने की शक्ति नहीं।[1]

हिन्दुस्तान, सब बातों से ज़्यादा, धार्मिक देश समझा जाता है, और हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख तथा दूसरे-दूसरे लोग अपने-अपने मतों का अभिमान रखते हैं, और एक-दूसरे के सिर फोड़कर उनकी सच्चाई का सुबूत देते हैं। हिन्दुस्तान में और दूसरे देशों में मज़हब के, और कम-से-कम मौजूदा रूप में संगठित मज़हब के, दृश्य ने मुझे भयभीत कर दिया है, मैंने उसकी कई बार निन्दा की है, और उसको जड़-मूल से मिटा देने की इच्छा की है। मुझे तो लगभग हमेशा यही मालूम हुआ कि अन्धविश्वास और प्रगतिविरोध, जड़ (प्रमाण-रहित) सिद्धांत और कट्टरपन, अन्ध श्रद्धा और शोषणनीति और (न्याय अथवा अन्याय से) स्थापित स्वार्थों के संरक्षण का ही नाम 'धर्म' है। मगर यह भी मुझे अच्छी तरह मालूम है कि धर्म में और भी कुछ है, उसमें कुछ ऐसी चीज़ भी है, जो मनुष्यों की गहरी आन्तरिक आकांक्षा भी पूरा करती है। नहीं तो उसका इतनी ज़बरदस्त शक्ति बनना, जैसा कि बना हुआ है, कैसे सम्भव था? और उससे अनगिनती पीड़ित आत्माओं को सुख और शांति कैसे मिल सकती थी? क्या वह शान्ति केवल अन्धविश्वास को शरण देने और शंकाओं पर परदा डालनेवाली ही थी? क्या वह वैसी ही शान्ति थी जैसी खुले समुद्र के तूफ़ानों से बचकर किसी बन्दरगाह में मिलती है, या उससे कुछ ज्यादा थी? कुछ बातों में तो सचमुच वह इससे कुछ ज्यादा ही थी।

लेकिन इसका भूतकाल कैसा भी रहा हो, आजकल का संगठित धर्म तो ज्यादा-तर एक खाली ढोल ही रह गया है, जिसके अन्दर कोई तथ्य और तत्त्व नहीं है।

---

[1] अंग्रेजी पद्य का भावानवाद।

श्री जी० के० चेस्टरटन[1] ने इसकी (स्वयं अपने विशेष धर्म की नहीं, मगर दूसरों के धर्म की) उपमा भूगर्भ में पाये जानेवाले किसी ऐसे जानवर या प्राणी के पाषाण-खचित ढांचे से दी है जिसके अन्दर से उसका अपना जीवन-तत्त्व तो पूरी तरह से निकल चुका है, लेकिन ऊपरी पंजर इसलिए रह गया है कि उसके अन्दर कोई बिलकुल दूसरी ही चीज़ भर दी गई थी। और, अगर किसी धर्म में कोई महत्त्वपूर्ण चीज़ रह भी गई है तो, उसपर दूसरी अन्य हानिकर चीज़ों का लेप चढ़ गया है।

मालूम होता है कि यही बात हमारे पूर्वीय धर्मा में, और पश्चिमी धर्मों में भी, हुई है। चर्च आफ़ इंग्लैंड ऐसे धर्मों का एक स्पष्ट उदाहरण है, जो किसी भी अर्थ में मज़हब नहीं है। किसी हद तक, यही बात सारे संगठित प्रोटेस्टेण्ट धर्मों के बारे में सही है; लेकिन इसमें सबसे आगे बढ़ा हुआ चर्च आफ़ इंग्लैंड ही है, क्योंकि वह बहुत अर्से से एक सरकारी राजनैतिक महकमा बन चुका है।[2]

---

[1] यह कैथलिक सम्प्रदाय का था। —अनु०

[2] हिन्दुस्तान में चर्च आफ़ इंग्लैंड तो प्रायः सरकार से अलग मालूम ही नहीं होता है। जिस तरह ऊंचे सरकारी नौकर साम्राज्यवादी सत्ता के प्रतीक हैं, उसी तरह (हिन्दुस्तान के खजाने से) सरकार की तरफ़ से तनख्वाह पानेवाले पादरी और चेपलेन भी हैं। हिन्दुस्तान की राजनीति में चर्च कुल मिलाकर एक रूढ़िवादी और प्रतिगामी शक्ति रहा है और आमतौर पर सुधार या प्रगति के विरुद्ध रहा है। सामान्य ईसाई मिशनरी हिन्दुस्तान के पुराने इतिहास और संस्कृति से आमतौर पर बिलकुल नावाकिफ़ होते हैं और वे यह जानने की जरा भी तकलीफ़ नहीं उठाते कि वह कैसी थी या कैसी है। वे ग़ैरईसाइयों के पापों और कमजोरियों को दिखाते रहने में ज्यादा दिलचस्पी लेते हैं। बेशक, कई लोग इनमें बहुत ऊंचे और अपवाद-रूप हुए हैं। चार्ली एण्डरूज़ से बढ़कर हिन्दुस्तान का दूसरा सच्चा मित्र नहीं हुआ, जिनमें प्रेम और सेवा की भावना और उमड़ती हुई मैत्री खूब लबालब भरी हुई थी। पूना के क्राइस्ट सेवा-संघ में भी कुछ अच्छे अंग्रेज़ हैं जिनके मज़हब ने उन्हें दूसरों को समझना और उनकी सेवा करना, न कि अपना बड़प्पन दिखाना, सिखलाया है और वे अपनी सारी योग्यताओं के साथ हिन्दुस्तान की जनता की सेवा में लग गए हैं। दूसरे भी कई अंग्रेज़ पादरी हुए हैं, जिनको हिन्दुस्तान याद करता है।

उसके बहुत-से अनुयायियों का चारित्र्य बेशक ऊंचे-से-ऊंचा है मगर यह मार्के की बात है कि किस तरह इस चर्च ने ब्रिटिश साम्राज्यवाद के उद्देश्य को पूरा किया है, और पूंजीवाद और साम्राज्यवाद दोनों को किस तरह नैतिक और ईसाई जामा पहना दिया है। इस धर्म ने एशिया और अफ्रीका में अंग्रेज़ों की लुटेरी नीति का समर्थन करने की कोशिश की है, और अंग्रेज़ों मे एक असाधारण और ईर्ष्या करने योग्य भावना भर दी है कि हम हमेशा ठीक और सही काम करते हैं। इस बड़प्पन-भरी सत्कार्य-भावना को इस चर्च ने पैदा किया है या वह ख़ुद उससे पैदा हुई है, यह मै नहीं जानता। यूरोपियन महाद्वीप के और अमेरिका के दूसरे देश, जो इंग्लैंड के बराबर भाग्यशाली नहीं हुए हैं, अक्सर कहते हैं कि अंग्रेज़ मक्कार हैं। 'विश्वासघाती इंग्लैड' यह एक पुराना ताना है। लेकिन शायद यह इलज़ाम तो अंग्रेज़ों की कामयाबी से उत्पन्न हुई ईर्ष्या से लगाया जाता है। और निश्चय ही कोई दूसरा देश भी इंग्लैड के दोष नही निकाल सकता; क्योंकि उसके भी कारनामे इतने ही ख़राब है। जो राष्ट्र जान-बूझकर मक्कारी करता है, उसके पास हमेशा इतना शक्ति-संग्रह नहीं रह सकता, जैसा कि अंग्रेज़ों ने

---

१२ दिसम्बर १९३४ को लार्ड-सभा में बोलते हुए केण्टरबरी के धर्माध्यक्ष ने १९१९ के माण्टेगु-चेम्सफ़ोर्ड सुधारों की प्रस्तावना का जिक्र किया था और कहा था कि "कभी-कभी मुझे ख़याल होता है कि यह महान् घोषणा कुछ जल्दबाजी में कर दी गई है, और मेरा अनुमान है कि महायुद्ध के बाद एक उतावलेपन का और उदारता का प्रदर्शन कर दिया गया है; लेकिन जो ध्येय निश्चित कर दिया गया है उसे वापस नहीं लिया जा सकता।" यह ग़ौर करने लायक बात है कि इंग्लिश चर्च का धर्माध्यक्ष हिन्दुस्तान की राजनीति के बारे में ऐसा अनुदार दृष्टिकोण रखता है। जो चीज भारतीय लोकमत के अनुसार बिलकुल ही नाकाफ़ी समझी गई, और इसी कारण जिसके लिए असहयोग और बाद की तमाम घटनाएं हुईं, उसको धर्माध्यक्ष साहब 'उतावलेपन का और उदारता का प्रदर्शन' कहते हैं। इंग्लैंड के शासकवर्ग के दृष्टिकोण से यह एक सन्तोषप्रद सिद्धान्त है, और इसमें शक नहीं कि अपनी उदारता के सम्बन्ध में उनका यह विश्वास, जो कि अविवेक की हद तक पहुँच जाता है, उनके अन्दर सन्तोष की एक सात्त्विक ज्योति जगाये बिना न रहता होगा।

बार-बार कर दिखलाया है; और इसमें उनके ख़ास तरह के 'धर्म' ने, स्वार्थ-साधन के समय नीति-अनीति की चिन्ता करने की भावना कुंठित करके, मदद पहुंचाई है। दूसरी जातियों और राष्ट्रों ने अक्सर अंग्रेज़ों से भी बहुत ख़राब काम किये हैं, लेकिन अंग्रेज़ों के बराबर वे अपना स्वार्थ साधनेवाले कार्यों को सत्कार्य समझने मे सफल नहीं हुए है। हम सभी के लिए यह बहुत आसान है कि हम दूसरों के 'तिल' के बराबर दोप को 'पहाड़' के बराबर बता दें और ख़ुद अपने 'पहाड़' के बराबर दोप को 'तिल' के बराबर समझें; लेकिन शायद इस करतव में भी अंग्रेज़ ही सबसे ज्यादा बढ़कर हैं।[1]

प्रोटेस्टेण्ट-मत ने नई परिस्थिति के अनुकूल बन जाने की कोशिश की, और लोक-परलोक दोनों का ही ज्यादा-से-ज्यादा फ़ायदा उठाना चाहा। जहांतक इस दुनिया का सम्बन्ध था वहांतक तो वह ख़ूब ही सफल रहा, लेकिन धार्मिक दृष्टि से वह संगठित धर्म के रूप में 'न घर का रहा न घाट का।' और धीरे-धीरे धर्म की जगह भावुकता और व्यवसाय आ गया। रोमन कैथलिक मत इस दुष्परिणाम से बच गया। क्योंकि वह पुरानी जड़ को ही पकड़े रहा, और जबतक वह जड़ कायम रहेगी तबतक वह भी फूलता-फलता रहेगा। पश्चिम में आज वही एक अपने सीमित अर्थ मे 'जीवित धर्म' रह गया है। एक रोमन कैथलिक मित्र ने जेल मे मेरे पास कैथलिक-मत पर कई पुस्तकें और धार्मिक पत्र भेज दिये थे, और मैने उन्हे बड़ी दिलचस्पी से पढ़ा था। उन्हें पढ़ने पर मुझे मालूम हुआ, कि लोगों पर उसका कितना बड़ा प्रभाव है। इस्लाम और प्रचलित हिन्दू-धर्म

---

[1] चर्च आफ़ इंग्लैड हिन्दुस्तान की राजनीति पर किस तरह अपना अप्रत्यक्ष असर डालता है, इसकी एक मिसाल हाल ही में मेरे देखने में आई है। ७ नवम्बर १९३४ को कानपुर में युक्तप्रान्तीय हिन्दुस्तानी ईसाई कान्फ्रेंस में स्वागताध्यक्ष श्री ई० डी० डैविड ने कहा था कि "ईसाई की हैसियत से, हमारा यह धार्मिक कर्तव्य है कि हम सम्राट् के राजभक्त रहें, जो कि हमारे धर्म के 'संरक्षक' हैं।" लाज़मी तौर पर इसका अर्थ हुआ, हिन्दुस्तान में ब्रिटिश साम्राज्यवाद का समर्थन। श्री डेविड ने आई० सी० एस०, पुलिस, और समस्त प्रस्तावित विधान के बारे में, इंग्लैड के 'कट्टर' अनुदार लोगों की इस राय के साथ भी अपनी सहानुभूति प्रकट की थी कि इससे हिन्दुस्तान के ईसाई मिशन ख़तरे में पड़ सकते हैं।

की तरह ही उससे भी सन्देह और मानसिक द्वन्द्व से राहत मिल जाती है और भावी जीवन के बारे में एक आश्वासन मिल जाता है, जिससे इस जीवन की कसर पूरी हो जाती है।

मगर, मेरी समझ में इस तरह की सुरक्षा चाहना मेरे लिए तो असम्भव है। मैं खुले समुद्र को ही ज्यादा चाहता हूं, जिसमें चाहे जितनी आंधियां और तूफ़ान हों। मुझे परलोक, या मृत्यु के बाद क्या होता है, इसके बारे में कोई दिलचस्पी नहीं है। इस जीवन की समस्याएं ही मेरे दिमाग़ को व्यस्त करने के लिए काफ़ी मालूम होती है। मुझे तो चीनियों की परम्परा से चली आई जीवन-दृष्टि, जो कि मूल में नैतिक है लेकिन फिर भी अधार्मिकता या नास्तिकता का रंग लिये हुए है, पसन्द आती है; हालांकि जिस तरह वह व्यवहार में लाई जा रही है, वह मुझे पसन्द नहीं है। मुझे तो 'ताओ' यानी जिस मार्ग पर चलना चाहिए और जीवन की जो पद्धति होनी चाहिए उसमें रुचि है। मैं चाहता हूं कि जीवन को समझा जाय; उसको त्यागा नही, बल्कि उसको अंगीकार किया जाय, उसके अनुमार चला जाय, और उसको उन्नत बनाया जाय। मगर आम धार्मिक दृष्टिकोण इस लोक से नाता नहीं रखता। मुझे वह स्पष्ट विचार का दुश्मन मालूम होता है; क्योंकि वह सिर्फ़ कुछ स्थिर और न बदलने वाले मतों और सिद्धान्तों को बिना चूं-चपड़ किये स्वीकार कर लेने पर ही नहीं, बल्कि भावुकता और मनोवेग पर भी आधारित है। मैं जिन्हें आध्यात्मिकता और आत्मा-सम्बन्धी बातें समझता हूं, उनसे वह बहुत दूर है; और वह, जान-बूझकर या अनजान में इस डर से, शायद वास्तविकता पूर्व-निश्चित विचारों से मेल न खाय, वास्तविकता से भी आंखें बन्द कर लेता है। वह संकीर्ण है, और अपने से भिन्न रायों या विचारों को सहन नहीं करता। वह स्वार्थपरता और अहंकार से पूर्ण है, और अक्सर स्वार्थी और अवसरवादी लोगों को अपने से अनुचित फ़ायदा उठाने देता है।

इसका अर्थ यह नहीं है कि धर्मभीरु व्यक्ति अक्सर ऊंचे-से-ऊंचे नैतिक और आध्यात्मिक कोटि के लोग नहीं हुए हैं, या अभी भी नहीं है। लेकिन इसका यह अर्थ ज़रूर है कि अगर नैतिकता और आध्यात्मिकता को दूसरे लोक के पैमाने से न नापकर इसी लोक के पैमाने से नापना हो तो धार्मिक दृष्टिकोण अवश्य ही राष्ट्रों की नैतिक और आध्यात्मिक प्रगति में सहायता नहीं देता, बल्कि अड़चन तक डालता है। आमतौर पर, धर्म ईश्वर या परमतत्त्व की अ-सामाजिक या

व्यक्तिगत खोज का विषय बन जाता है, और धर्मभीरु व्यक्ति समाज की भलाई की अपेक्षा अपनी मुक्ति को ज़्यादा फ़िक्र करने लगता है। रहस्यवादी अपने अहं-कार से छुटकारा पाने की कोशिश करता है, और इस कोशिश में अक्सर अहंकार की ही बीमारी उसके पीछे लग जाती है। नैतिक पैमानों का सम्बन्ध समाज की आवश्यकता से नहीं रहता, बल्कि पाप के अत्यन्त गूढ़ आध्यात्मिक सिद्धान्तों पर वे आधारित रहते है। और, संगठित धर्म तो हमेशा स्थापित स्वार्थ ही बन जाता है, और इस तरह लाज़मी तौर पर वह परिवर्तन और प्रगति के लिए एक विरोधी (प्रतिगामी) शक्ति होता है।

यह सुप्रसिद्ध है कि शुरू के दिनों मे ईसाई मज़हब ने ग़ुलाम लोगों को अपना सामाजिक दर्जा उठाने मे मदद नहीं दी थी। ये गुलाम ही यूरोप के मध्यकालीन युग में, आर्थिक परिस्थितियों के कारण भू-स्वामियो के क्रीत दास बन गए। मज़-हब का रुख दो सौ वर्ष पहले तक (१७२७ तक) क्या रहा था, यह अमेरिका के दक्षिणी उपनिवेशों के दास-स्वामियो को लिखे हुए बिशप आफ़ लन्दन के एक पत्र से मालूम पड़ सकता है।[1]

बिशप ने लिखा था कि, "ईसाई-धर्म और बाइबिल को मान लेने से नागरिक सम्पत्ति या नागरिक सम्बन्धों से उत्पन्न हुए कर्त्तव्यों मे ज़रा भी तब्दीली नहीं आती; वरन् इन मामलों मे 'व्यक्ति' उसी 'अवस्था' में रहते है जिस अवस्था में वह पहले थे। ईसाई-धर्म जो मुक्ति देता है, वह मुक्ति 'पाप' और 'शैतान के बन्धन से' और मनुष्यों के 'काम', 'विचार' और तीव्र 'वासना' के बन्धन से है। मगर, उनकी बाहरी हालत, बपतिस्मा—'ईसाई-धर्म की दीक्षा'—दिये जाने और ईसाई बनाने से पहले, जैसी ग़ुलामी या आज़ादी की थी, उसमें वह किसी भी तरह का परिवर्तन नहीं करता।"

आज कोई भी संगठित धर्म इतने साफ़ ढंग से अपने ख़यालात ज़ाहिर नहीं करेगा, लेकिन सम्पत्ति और मौजूदा समाज-व्यवस्था की तरफ़ उसका रुख़ ख़ास-कर यही होगा।

---

[1] **यह पत्र रेनॉल्ड नाईबर की लिखी हुई पुस्तक 'मॉरल मैन एण्ड इम्मॉरल सोसायटी' (पृष्ठ ७८) में उद्धृत हुआ है। यह किताब बड़ी ही रोचक और विचार-प्रेरक है।**

यह सभी जानते है कि शब्द तो अर्थ-बोध कराने के बहुत ही अपूर्ण साधन हैं, और उनके कई तरह से अर्थ लगाये जाते हैं। किसी भी भाषा मे 'धर्म' शब्द का (या दूसरी भाषाओं के इसी अर्थवाले शब्दों का) जितने भिन्न-भिन्न अर्थ भिन्न-भिन्न लोग लगाते है, उतना शायद ही किसी दूसरे शब्द का अर्थ लगाया जाता हो। 'मजहब' शब्द को पढ़ने या सुनने से शायद किन्हीं भी दो मनुष्यों के मन में एक ही से विचार या कल्पनाएं पैदा नही होंगी। इन विचारों या कल्पनाओं में, कर्म-काण्डों और रस्म-रिवाजों के, धर्म-ग्रन्थों के, मनुष्यों के एक समुदाय-विशेष के, कुछ निश्चित सिद्धान्तों के और नीति-नियमों, श्रद्धा, भक्ति, भय, घृणा, दया, बलिदान, तपस्या, उपवास, भोज, प्रार्थना, पुराने इतिहास, शादी, ग़मी, परलोक, दंगों और सिर-फुटौवल इत्यादि अनेक बातों के विचार और भाव शामिल हैं। इन असंख्य प्रकार की कल्पनाओं और अर्थों के कारण दिमाग़ में ज़बरदस्त गड़बड़ी तो पैदा हो ही जायगी, लेकिन हमेशा एक तेज़ भावुकता भी उमड़ पड़ेगी, जिससे अलिप्त और अनासक्त रूप से विचार करना नामुमकिन हो जायगा। जब 'धर्म' शब्द का ठीक और निश्चित अर्थ (अगर कभी था तो) बिलकुल नही रहा है, और अक्सर बिलकुल ही भिन्न-भिन्न अर्थों में उसका प्रयोग होता है तब तो वह सिर्फ़ गड़बड़ी ही उत्पन्न करता है और उससे वाद-विवाद और तर्क का कभी अन्त ही नहीं हो सकता। बहुत ज़्यादा अच्छा यह हो कि इस शब्द का प्रयोग ही बिलकुल बन्द कर दिया जाय, और उसके स्थान पर ज़्यादा सीमित अर्थ वाले शब्द इस्तेमाल किये जायं; जैसे ईश्वर-विज्ञान, दर्शन-विज्ञान, आचार-शास्त्र, नीति-शास्त्र, आत्म-वाद, आध्यात्मिक शास्त्र, कर्त्तव्य, लोकाचार आदि-आदि। यों तो ये शब्द भी काफ़ी अस्पष्ट है, लेकिन ये 'धर्म' की अपेक्षा बहुत परिमित अर्थ रखते हैं। इससे बड़ा लाभ होगा। क्योंकि अभी तक इन शब्दों के साथ उतनी भावुकता नहीं जुड़ पाई है जितनी कि 'धर्म' के साथ जुड़ चुकी है।

तो, 'धर्म' (इस शब्द से स्पष्ट हानि होने पर भी इसीका प्रयोग कर रहा हूं) चीज़ क्या है? शायद वह है व्यक्ति की आन्तरिक उन्नति, एक खास दिशा में, जो अच्छी समझी जाती है, उसकी चेतना का विकास। वह दिशा कौन-सी होनी चाहिए, यह भी एक बहस की बात ही होगी। लेकिन जहांतक मैं समझता हूं, धर्म इसी भीतरी परिवर्तन पर ज़ोर देता है, और बाहरी परिवर्तन को इस भीतरी विकास का ही एक अंग या रूप-मात्र मानता है। इसमें शक नहीं हो सकता कि

इस आन्तरिक उन्नति का बाहरी हालत पर बड़ा ज़बरदस्त असर पड़ता है। मगर, इसके साथ ही यह भी साफ़ है कि बाहरी हालत का आन्तरिक प्रगति पर भी भारी असर पड़ता है। दोनों का एक-दूसरे पर प्रभाव पड़ता है और प्रतिक्रिया भी होती रहती है। यह सब जानते हैं कि पश्चिम के आधुनिक औद्योगिक देशों में आन्तरिक विकास की अपेक्षा बाहरी विकास बहुत ज़्यादा हुआ है; लेकिन इससे यह नतीजा नहीं निकलता, जैसा कि पूर्वीय देशों के कई लोग शायद समझते हैं, कि चूंकि हम कल-कारखानों के उद्योगों में पीछे हैं और हमारा बाहरी विकास धीमा रहा है, इसलिए हमारा आन्तरिक विकास उनसे ज़्यादा हो गया है। यह एक भ्रम है, जिससे हम अपने को तसल्ली दे लेते हैं और अपनी हीनता की भावना को दबाने की कोशिश करते हैं। यह हो सकता है कि कुछ व्यक्ति अपनी परिस्थितियों और हालतों से ऊपर उठ सकें और ऊंचे आन्तरिक विकास पर पहुंच सकें; लेकिन बड़े-बड़े दलों और राष्ट्रों के लिए तो, आन्तरिक विकास हो सकने से पहले किसी अंश तक बाहरी विकास का होना आवश्यक है। जो आदमी आर्थिक परिस्थितियों का शिकार है, और जीवन-संघर्ष के बन्धनों और बाधाओं से घिरा हुआ है, वह शायद ही किसी ऊंची कोटि की आत्म-चेतना प्राप्त कर सके। जो वर्ग पद-दलित और शोषित होता है, वह आन्तरिक रूप से कभी प्रगति नहीं कर सकता। जो राष्ट्र राजनैतिक और आर्थिक रूप से पराधीन है और बन्धनों में पड़ा परिस्थितियों से मजबूर और शोषित हो रहा है, वह कभी आन्तरिक उन्नति में सफल नहीं हो सकता। इस तरह आन्तरिक उन्नति के लिए भी बाहरी आज़ादी और अनुकूल परिस्थिति की जरूरत होती है। इस बाहरी आज़ादी को पाने, और परिस्थिति ऐसी बनाने के लिए, कि जिससे आन्तरिक प्रगति की सब रुकावटें दूर हो जायं, यह आवश्यक है कि साधन ऐसे मिलें जिनसे असली उद्देश्य ही न मिट जाय। मैं समझता हूं कि जब गांधीजी कहते हैं कि उद्देश्य से साधन ज़्यादा महत्त्वपूर्ण है, तो उनका भाव कुछ ऐसा ही जान पड़ता है। मगर साधन ऐसे ज़रूर होने चाहिए जो उस उद्देश्य तक पहुंचा दें, नहीं तो सारा प्रयत्न व्यर्थ होगा, और उसके फलस्वरूप शायद, भीतरी और बाहरी दोनों दृष्टियों से, और अधिक पतन हो जाय।

गांधीजी ने कहीं लिखा है—"कोई भी आदमी धर्म के बिना जीवित नहीं रह सकता। कुछ ऐसे लोग हैं जो अपनी बुद्धि के घमंड में कहते हैं कि हमें धर्म से

कोई सम्बन्ध नहीं है। मगर यह ऐसी बात हुई कि कोई आदमी सांस तो लेता हो, लेकिन कहता हो कि मेरे नाक नहीं है।" एक दूसरी जगह कहते हैं—"सत्य के प्रति मेरी आस्था ने मुझे राजनीति के मैदान में ला खींचा है। और मैं बिना किसी हिचकिचाहट के, लेकिन पूरी नम्रता के साथ, कह सकता हूं कि वे लोग जो यह कहते हैं कि 'धर्म' का राजनीति से कोई नाता नहीं है, यह समझते ही नहीं कि 'धर्म' का क्या अर्थ है।" यदि वह यों कहते कि वे लोग जो जीवन और राजनीति में से 'धर्म' को निकाल डालना चाहते हैं, 'धर्म' शब्द का मेरे आशय से बहुत भिन्न कोई दूसरा ही आशय समझते हैं, तो शायद यह अधिक सही होता। यह स्पष्ट है कि गांधीजी 'धर्म' शब्द को उसके भाष्यकारों से भिन्न अर्थ में, शायद और किसी अर्थ की अपेक्षा नैतिक अर्थ में अधिक ले रहे हैं। एक ही शब्द को भिन्न-भिन्न अर्थों में इस तरह प्रयोग करने से एक-दूसरे को समझना और भी मुश्किल हो जाता है।

धर्म की एक बहुत ही आधुनिक परिभाषा, जिससे कि धर्मभीरु व्यक्ति सहमत न होंगे, प्रोफेसर जॉन डेवी ने की है। उनकी राय में धर्म "वह चीज है जो लोक-जीवन के खण्ड-खण्ड और परिवर्तनशील दृश्यों को समझने की शुद्ध दृष्टि देता है"; या फिर "जो प्रवृत्ति व्यक्तिगत हानि होने की आशंका होने पर भी, और बाधाओं के विरोध में भी, किसी आदर्श लक्ष्य को पाने के लिए जारी रक्खी जाती है, और जिसके पीछे यह विश्वास हो कि वह सामान्य और स्थायी उपयोगिता वाली है वही स्वरूप में धार्मिक है।" अगर धर्म यही चीज़ है, तब तो निश्चय ही उसपर किसी को भी कुछ ऐतराज़ नहीं हो सकता।

रोम्यां रोलां ने भी धर्म का ऐसा अर्थ निकाला है जिससे शायद संगठित मज़हब के कट्टर लोग भयभीत हो जायंगे। अपने 'रामकृष्ण परमहंस' के जीवन-चरित्र में वह लिखते हैं—

". . . . .बहुत-से व्यक्ति ऐसे हैं जो सभी तरह के धार्मिक विश्वासों से दूर हैं, या उनका ख़याल है कि वे दूर हैं, लेकिन वास्तव में उनमें एक अति-बौद्धिक चेतना व्याप्त रहती है, जिसे वे समाजवाद, साम्यवाद, मानवहितवाद, राष्ट्रवाद या बुद्धिवाद भी कहते हैं। विचार का लक्ष्य क्या है, इसकी अपेक्षा विचार किस कोटि का है, यह देखकर हम निर्णय कर सकते हैं कि वह धर्म-प्रसू है या नहीं। अगर वह विचार हर तरह की कठिनाई सहकर एकनिष्ठ लगन और हर तरह के बलिदान की

तैयारी के साथ, सत्य की खोज की तरफ़ निर्भयतापूर्वक ले जाता है, तो मैं उसे धर्म ही कहूंगा । क्योंकि धर्म के अन्दर यह विश्वास शामिल है कि मानवीय पुरुषार्थ का ध्येय मौजूदा समाज के जीवन से ऊंचा, बल्कि सारे मानव-समाज के जीवन से भी ऊंचा है । नास्तिकता भी, जब वह सर्वाशतः सच्ची बलवती प्रकृतियों से निकलती है, और जब वह निर्बलता की नहीं, बल्कि शक्ति की एक मूर्तरूप होती है, तो वह भी धार्मिक आत्मा की महान् सेना के प्रयाण में शामिल हो जाती है ।"

मैं नहीं कह सकता कि मैं रोम्या रोलां की इन शर्तों को पूरा करता ही हूं; लेकिन इन शर्तों पर तो इस महान् सेना का एक तुच्छ सैनिक बनने को मैं तैयार हूं ।

: ४८ :

ब्रिटिश सरकार की 'दो-रुखी' नीति

यरवदा-जेल मे, और बाद मे बाहर मे, गांधीजी के नेतृत्व मे हरिजन-आन्दोलन चल रहा था। मन्दिर-प्रवेश का प्रतिबन्ध दूर करने के लिए बडा भारी आन्दोलन खड़ा हो गया था, और इसी उद्देश्य का एक बिल असेम्बली (बड़ी धारा-सभा) में भी पेश किया गया था। और फिर एक अनोखा दृश्य दिखाई दिया कि कांग्रेस के एक बड़े नेता दिल्ली में असेम्बली के मेम्बरों के घर-घर जाकर मन्दिर-प्रवेश बिल के पक्ष में मत दिलाने का प्रयत्न कर रहे थे। खुद गांधीजी ने भी उनके द्वारा असेम्बली के मेम्बरों के नाम एक अपील भेजी थी। फिर भी सविनय-भग तो चल ही रहा था और लोग जेल जा रहे थे। कांग्रेस ने असेम्बली का बहिष्कार कर रक्खा था और हमारे मेम्बर उसमें से निकलकर चले आए थे। जो मेम्बर वहां बच गए थे, उन्होंने और उन लोगों ने जो खाली हुई जगहों मे आगए थे, इस संकट-काल मे कांग्रेस का विरोध करके और सरकार का साथ देकर नाम कमा लिया था। आर्डिनेंसों की असाधारण धाराओं को कुछ काल के लिए स्थायी दमनकारी क़ानून के रूप मे पास कर देने मे इन लोगों के बहुमत ने सरकार को मदद दी थी। उन्होंने ओटावा का समझौता पचा लिया था तथा दिल्ली, शिमला और लन्दन मे महाप्रभुओं के साथ दावतें उड़ाई थी। वे हिन्दुस्तान मे अंग्रेज़ों की हुकूमत की प्रशंसा करने मे शामिल हो गए थे, और हिन्दुस्तान मे 'दो-रुखी' नीति की विजय की उन्होंने प्रार्थना की थी।

उस समय की परिस्थिति मे गांधीजी के अपील निकालने पर मै अचम्भे में पड़ गया। और इससे भी ज़्यादा मै राजगोपालाचार्य की भारी कोशिशों से चकित हुआ, जो कि कुछ ही हफ़्ते पहले कांग्रेस के स्थानापन्न प्रेसीडेण्ट थे। निश्चय ही इन कामों से सविनय-भंग को धक्का पहुंचा, लेकिन मुझे तो नैतिक दृष्टि से ज़्यादा चोट पहुंची। मेरी निगाह मे गांधीजी या किसी भी कांग्रेस के नेता का ऐसी कार्रवाई करना अनैतिक था, और जो बहुत-से लोग जेल में थे या

लड़ाई चला रहे थे, उनके साथ क़रीब-क़रीब विश्वासघात ही था। लेकिन मैं जानता था कि उनका दृष्टिकोण दूसरा है।

उस समय और बाद में मन्दिर-प्रवेश बिल के साथ सरकार का रुख़ आंखें खोल देनेवाला था। उसने उसके समर्थकों के रास्ते मे हर तरह की कठिनाइयां डाली। वह उसको स्थगित करती चली गई और उसके विरोधियों को प्रोत्साहन देती गई, और अख़ीर मे उसपर अपना विरोध ज़ाहिर करके उसका खात्मा कर दिया। हिन्दुस्तान में सामाजिक सुधार के सभी प्रयत्नों की तरफ़ किसी-न-किसी अंश मे उसका यही रुख़ रहा है, और धर्म मे हस्तक्षेप न करने के बहाने उसने सामाजिक उन्नति को रोका है। मगर यह कहने की ज़रूरत नहीं कि इससे वह हमारी सामाजिक बुराइयों की नुक्ताचीनी करने या इसके लिए दूसरों को बढ़ावा देने से बाज़ नही आई। एक इत्तफ़ाक से ही 'शारदा-बाल-विवाह-निरोधक बिल' कानून बन गया था; लेकिन इस अभागे कानून के बाद के इतिहास से ही सबसे ज़्यादा यह मालूम हो गया कि इस तरह के क़ानूनों की पाबन्दी कराने मे सरकार कितनी अनिच्छा रखती है। जो सरकार रातों-रात आर्डिनेंस पैदा कर सकती थी, जिनमे अजीब-अजीब अपराध ईजाद किये गए थे और एक के क़ुसूरों के लिए दूसरों को सज़ाएं दी जा सकती थी और उन आर्डिनेंसों को भंग करने के कारण वह हज़ारों लोगों को जेल भेज सकती थी, वही सरकार 'शारदा-ऐक्ट' सरीखे अपने क़ायदे के क़ानून की पाबन्दी कराने से स्पष्टतः दुबकने लगी। इस क़ानून का नतीजा पहले तो यह हुआ कि वह जिस बुराई की रोक के लिए बनाया गया था, वही बुराई बेहद बढ़ गई। क्योंकि लोगों ने छह महीने की मिली हुई मोहलत से, जो कि क़ानून में बहुत ही बेवकूफ़ी से रख दी गई थी, फ़ायदा उठाने की एकदम जल्दी की। और फिर तो यह मालूम हो गया कि क़ानून तो बहुत-कुछ एक मज़ाक ही है, और आसानी से उसका भंग हो सकता है और सरकार उसमे कोई भी कार्रवाई न करेगी। सरकार की तरफ़ से उसके प्रचार की ज़रा भी कोशिश नही की गई, और देहात के ज़्यादातर लोगों को यह भी पता न लगा कि यह क़ानून क्या है? उन्होंने हिन्दू और मुसलमान प्रचारकों से, जो ख़ुद भी हक़ीक़त शायद ही जानते हों, उसका तोड़ा-मरोड़ा हुआ हाल सुना।

स्पष्ट है कि हिन्दुस्तान में सामाजिक बुराइयों के प्रति सहिष्णुता की जो यह असाधारण प्रवृत्ति ब्रिटिश सरकार ने दिखाई है, वह उन बुराइयों के लिए

किसी पक्षपात के कारण नहीं है। यह तो सही है कि बुराइयों को दूर करने की ज़्यादा चिन्ता नहीं करती, क्योंकि ये बुराइयां उसके हिन्दुस्तान पर हुकूमत करने और सब तरह शोषण करने के कार्य में रुकावट नहीं डालतीं। लेकिन सुधारों की योजना करने से भिन्न-भिन्न समुदाय के नाराज़ हो जाने का भी डर रहता है, और राजनैतिक क्षेत्र में काफ़ी रोष और क्रोध का सामना होते रहने के कारण ब्रिटिश सरकार की यह इच्छा नहीं है कि वह अपनी मुसीबतों को और बढ़ा ले। मगर इधर समाज-सुधारकों की दृष्टि से स्थिति और भी खराब होती जा रही है; क्योंकि अंग्रेज लोग इन बुराइयों के अधिक-से-अधिक मौन आश्रयदाता होते जा रहे हैं। यह उनके हिन्दुस्तान के सबसे प्रतिगामी लोगों के गहरे सम्बन्ध में आने के कारण हो रहा है। ज्यों-ज्यों उनकी हुकूमत के प्रति विरोध बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों उन्हें अजीब-अजीब साथी ढूँढ़ने पड़ते है। आज हिन्दुस्तान में अंग्रेज़ी शासन के सबसे जबरदस्त हिमायती उग्र सम्प्रदायवादी और मज़हबी प्रतिगामी और जागृति-विरोधी लोग है। मुस्लिम साम्प्रदायिक संगठन तो राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक, हर दृष्टि से प्रतिगामी मशहूर ही है। उसकी बराबरी हिन्दू-महासभा करती है; लेकिन इस पीछे की तरफ़ दौड़ लगाने में हिन्दू-महासभा को मात करनेवाले सनातनी है, जिनमें बहुत तेज़ मज़हबी दकियानूसीपन है, और उसके साथ-ही-साथ तीव्र हुई या कम-से-कम बुलन्द आवाज़ में प्रकट की जाने वाली ब्रिटिश-राजभक्ति भी है।

अगर ब्रिटिश सरकार बैठी रही, और उसने शारदा क़ानून को लोक-प्रिय करने और उसकी पाबन्दी कराने की कोई कार्रवाई नहीं की, तो कांग्रेस या दूसरी ग़ैरसरकारी संस्थाओं ने उसके पक्ष में प्रचार क्यों नहीं किया? अंग्रेज़ और दूसरे विदेशी समालोचकों ने बार-बार यह सवाल किया है। जहांतक कांग्रेस का सम्बन्ध है, वह तो पिछले पन्द्रह साल से, खासकर १९३० से, ब्रिटिश हुकूमत से राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिए जीवन-मरण की भीषण लड़ाई लड़ रही है। दूसरी संस्थाओं में असली ताक़त या जनता तक पहुंच नहीं है। आदर्श, चरित्रबल और जनता पर असर रखने वाले स्त्री-पुरुष तो कांग्रेस में खिंच आए थे और ब्रिटिश जेलखानों में जीवन बिता रहे थे।

दूसरी संस्थाएं कुछ चुने हुए लोगों द्वारा, जो जनता के सम्पर्क से डरते थे, प्रस्ताव पास कर देने से आगे प्रायः बढ़ी नहीं। वे शरीफ़ाना तरीक़े से, या अखिल-

भारतीय महिला-संघ की तरह ज़नाने तरीक़े से ही, काम करती थी, और उनमें उग्र प्रचार की वृत्ति नहीं थी। इसके अलावा, वे भी आर्डिनेंसों और उनके बाद के क़ानूनों द्वारा सब तरह की सार्वजनिक प्रवृत्तियों के भयंकर दमन के कारण निष्प्राण होकर कुछ भी नहीं कर सकती थीं। फ़ौजी कानून क्रान्तिकारी प्रवृत्ति को कुचल सकता है, लेकिन उसके साथ ही वह सहृदयता को और अत्यन्त सभ्य प्रवृत्तियों को भी निर्जीव-सा कर देता है।

मगर कांग्रेस और दूसरे ग़ैर-सरकारी संगठन क्यों ज़्यादा सामाजिक सुधार नहीं कर सकते, इसका मूल कारण और भी गहरा है। हमारे अन्दर राष्ट्रीयता की बीमारी हो गई है, और उसीमे हमारा सारा ध्यान लग जाता है, और जबतक हमें राजनैतिक आज़ादी न मिलेगी तबतक वह उसीमे लगता भी रहेगा। जैसा कि बर्नार्ड शॉ ने कहा है—"पराजित राष्ट्र नासूर के रोगी की तरह होता है; वह और किसी बात का ख़याल नहीं कर सकता.....। वास्तव मे किसी भी राष्ट्र मे राष्ट्रीय आंदोलन से बढ़कर कोई अभिशाप नहीं होता, जोकि स्वाभाविक प्रवृत्ति के दमन का एक दुःखदायी लक्षण-मात्र होता है। पराजित राष्ट्र दुनिया की दौड़ मे पीछे रह जाते हैं; क्योंकि वे इसके सिवा और कुछ नहीं कर सकते कि अपनी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता को प्राप्त करके अपने राष्ट्रीय आन्दोलनों से छुटकारा पाने की कोशिश करें।"

पिछला अनुभव हमें बताता है कि चुने हुए मिनिस्टरों के हाथ में ज़ाहिरा तौर पर कुछ महकमों के दे दिये जाने पर भी वर्तमान परिस्थिति मे प्रायः हम कुछ भी सामाजिक प्रगति नहीं कर सकते। सरकार की ज़बरदस्त अकर्मण्यता रूढ़ि-प्रेमियों के लिए हमेशा मददगार होती है, और पिछली पीढ़ियों से ब्रिटिश सरकार ने लोगों के नये काम शुरू करने की शक्ति को कुचल दिया है, और वह सर्वाधिकारी की तरह, या जैसा कि वह अपने-आप कहती है, मां-बाप की तरह हुकूमत करती है। गैर-सरकारी व्यक्तियों द्वारा किसी भी बड़े व्यवस्थित काम का किया जाना वह पसन्द नहीं करती, और उसमें छिपे इरादों का शक करती है। हरिजन-आन्दोलन के संगठनकर्ता, यद्यपि उन्होंने हर तरह सावधानी से काम लिया है, समय-समय पर सरकारी कर्मचारियों के संघर्ष में आ ही गए हैं। मुझे तो यक़ीन है कि अगर कांग्रेस साबुन ज़्यादा इस्तेमाल करने का भी राष्ट्र-व्यापी आन्दोलन उठाये, तो वह भी कई जगहों पर सरकार के संघर्ष में आ जायगा।

मेरी समझ में अगर सरकार सामाजिक सुधार के प्रश्न को हाथ में ले ले, तो जनता के मत को उसके मुआफ़िक़ बना लेना मुश्किल नहीं है । मगर विदेशी हाकिमों पर हमेशा ही शक किया जाता है, और दूसरों को अपनी राय का बनाने मे वे ज्यादा सफल नहीं हो सकते । अगर विदेशी तत्त्व दूर कर दिया जाय, और आर्थिक परिवर्तन पहले कर दिये जायं, तो एक उत्साही और क्रियाशील शासन आसानी से बड़े-बड़े सामाजिक सुधार जारी कर सकता है ।

लेकिन जेल में हमारे दिमाग़ों में सामाजिक सुधार और शारदा-क़ानून और हरिजन-आन्दोलन के विचार नही भरे हुए थे, सिवा इसी हदतक कि मैं हरिजन-आन्दोलन के सविनय-भंग के रास्ते मे आ जाने के कारण उससे कुछ चिढ़ गया था। मई १९३३ के शुरू मे सविनय-भंग छह हफ़्तों के लिए स्थगित कर दिया गया था, और आगे क्या होता है, यह देखने की उत्सुकता में हम थे। इसके स्थगित होने से तो आन्दोलन पर आख़िरी प्रहार ही हो गया, क्योंकि राष्ट्रीय लड़ाई के साथ आंखमिचौनी का खेल नही खेला जा सकता, न वह जब मन आवे तब चालू और जब मन आवे तब बन्द ही की जा सकती है । स्थगित होने से पहले भी आन्दोलन के नेतृत्व में बहुत ही कमज़ोरी और प्रभावहीनता आ गई थी । कई छोटी-छोटी कान्फ्रेंसें हो रही थीं और तरह-तरह की अफ़वाहें फैल रही थीं, जिनसे सक्रिय कार्य होने में रुकावट पड़ती थी । कांग्रेस के कई स्थानापन्न प्रेसीडेंट बड़े सम्मानित लोग थे, लेकिन उनको सक्रिय लड़ाई के सेनापति बनाना उनके साथ ज़्यादती करना था । उनके लिए बार-बार इस बात का इशारा किया जाता था कि वे थक गए हैं और इस कठिन स्थिति से निकलना चाहते हैं । इस अस्थिरता और अनिश्चय के ख़िलाफ़ ऊंचे हलक़ों मे कुछ असन्तोष था, लेकिन उसको संगठित रूप से ज़ाहिर नहीं किया जा सकता था, क्योंकि सभी कांग्रेमी संस्थाएं ग़ैर-क़ानूनी थी ।

इसके बाद गांधीजी का इक्कीस दिन का उपवास करना, उनका जेल से छूटना, और छह हफ़्ते तक सविनय-भंग का रोक लेना, यह सब हुआ । उपवास समाप्त हो गया, और बहुत धीरे-धीरे वह फिर अच्छे हुए। जून के मध्य में सविनय-भंग के स्थगित होने की अवधि छह हफ़्ते के लिए और बढ़ा दी गई । इस बीच सरकार ने अपना दमन कुछ भी कम न किया । अण्डमान के टापुओं में राजनैतिक क़ैदी (बंगाल में जिन्हें क्रांतिकारी हिंसा के लिए सज़ा दी गई थी, वे वहां भेजे गए थे) जेल-बर्ताव के प्रश्न पर भूख-हड़ताल कर रहे थे, और उनमें से एक या दो

तो भूखे रह-रहकर मर भी गए थे। कई मृत्यु-शय्या पर थे। हिन्दुस्तान में जिन लोगों ने, अण्डमान में जो कुछ हो रहा था उसके विरुद्ध सभाओं में भाषण दिये थे, वे भी ख़ुद गिरफ़्तार कर लिये गए और उन्हें सज़ाएं दे दी गई। हम (क़ैदी) केवल कठिनाइयां ही नहीं सहें, लेकिन हम शिकायत भी न करें; चाहे हम भूख-हड़ताल को छोड़कर विरोध बतलाने का दूसरा उपाय न मिलने पर भूख की भयंकर अग्नि-परीक्षा में मर भी जायं! कुछ महीने बाद, सितम्बर १९३३ मे (जबकि मैं जेल से बाहर था), एक अपील निकली थी, जिसमें अण्डमान के क़ैदियों के साथ ज़्यादा मनोष्योचित बर्ताव करने और उसको हिन्दुस्तान की जेलों में बदल दिये जाने की प्रार्थना की गई थी, और जिसमें रवीन्द्रनाथ ठाकुर, सी० एफ० एण्डरूज़ और दूसरे कई मशहूर लोगों के भी दस्तख़त थे, जिनमें अधिकांश कांग्रेस से कुछ भी सम्बन्ध न रखनेवाले लोग ही थे। इस वक्तव्य पर भारत-सरकार के होम मेम्बर ने बड़ी नाराज़गी ज़ाहिर की, और क़ैदियों के साथ सहानुभूति बतलाने के लिए उसपर दस्तख़त करनेवालों की बड़ी कड़ी समालोचना की। बाद में, जहांतक मुझे याद आता है, बंगाल में ऐसी हमदर्दी ज़ाहिर करना भी एक जुर्म क़रार दे दिया गया।

सविनय-भंग छह हफ़्ते स्थगित करने की दूसरी अवधि पूरी होने से पहले, देहरादून-जेल में, हमें खबर मिली की गांधीजी ने पूना में एक अनियमित कान्फ्रेंस बुलाई है। वहां दो-तीन सौ व्यक्ति इकट्ठा हुए, और गांधीजी की सलाह से सामूहिक सविनय-भंग बिलकुल स्थगित कर दिया गया, किन्तु व्यक्तिगत सविनय-भंग की छूट दी गई, और सब तरह की गुप्त प्रवृत्तियां बन्द कर दी गई। ये निश्चय कोई बहुत स्फूर्तिदायक नहीं थे, लेकिन इनके स्वरूप को देखते हुए मुझे उनपर खास ऐतराज़ नहीं हुआ। सामूहिक सविनय-भंग को बन्द करना तो मौजूदा हालत को स्वीकार कर लेना और स्थिर कर देना ही था; क्योंकि वास्तव में उन दिनों सामूहिक सविनय-भंग था ही नहीं। और, गुप्त काम भी इस बात का एक बहाना-मात्र था कि हम अपना काम जारी रख रहे हैं, और अक्सर उससे अपने आन्दोलन के रूप को देखते हुए साहसहीनता भी पैदा होती थी। किसी हदतक तो, हिदायतें भेजने और सम्पर्क बनाये रखने के लिए वह ज़रूरी भी था, लेकिन ख़ुद सविनय-भंग को गुप्त कैसे रक्खा जा सकता था?

मुझे जिस बात से अचरज और दुःख हुआ, वह यह थी, कि पूना में मौजूदा

परिस्थिति और हमारे लक्ष्य के बारे में कोई असली चर्चा नहीं हुई । कांग्रेसवाले करीब दो साल की भीषण लड़ाई और दमन के बाद एक जगह इकट्ठे हुए थे, और इस बीच सारी दुनिया में और हिन्दुस्तान में बहुत-सी घटनाएं हुई थी, जिनमे 'श्वेत-पत्र' (व्हाइट पेपर) का प्रकाशित होना भी शामिल था, जिसमें ब्रिटिश सरकार की वैधानिक सुधार-सम्बन्धी योजना थी । इस अरसे में हमें तो मजबूरन चुप रहना पड़ा था, और दूसरी तरफ़ असली सवालों को छिपाने के लिए लगातार झूठा प्रचार होता रहा था । न सिर्फ सरकार के हिमायतियों ने ही, बल्कि लिबरलों और दूसरे लोगों ने भी, कई बार यह कहा था कि कांग्रेस ने अपना स्वाधीनता का लक्ष्य छोड़ दिया है । मेरी समझ मे हमें कम-से-कम इतना तो करना ही चाहिए था कि हम अपने राजनैतिक ध्येय पर ज़ोर देते, उसे फिर स्पष्ट कर देते, और अगर हो सकता तो उसके साथ सामाजिक और आर्थिक लक्ष्य भी जोड़ देते । इसके बदले बहस शायद सिर्फ़ इसी बात पर होती रही कि सामूहिक सविनय-भंग अच्छा है या व्यक्तिगत, गुप्तता रखना ठीक है या नही । सरकार से 'सुलह' करने की भी कुछ विचित्र चर्चा हुई थी । जहांतक मुझे याद है, गांधीजी ने वाइस-राय से मुलाकात करने के लिए एक तार भेजा, जिसके जवाब मे वाइसराय की तरफ से 'नहीं' आया, और फिर गांधीजी ने एक दूसरा तार भेजा जिसमें 'सम्मान-युक्त सुलह' की कोई बात कही गई थी । लेकिन जिस मायाविनी सुलह को लोग चाहते थे वह थी कहां, जबकि सरकार राष्ट्र को कुचलने में विजयिनी हो रही थी और अण्डमान मे लोग भूखे रहकर अपनी जाने दे रहे थे ? लेकिन मै जानता था, कि नतीजा कुछ भी हो, गांधीजी का यह तरीका रहा है कि वह हमेशा अपनी ओर से समझौते का पूरा मौक़ा देते हैं ।

दमन पूरे ज़ोरों पर चल रहा था, और सार्वजनिक प्रवृत्तियों को दबानेवाले सारे विशेष क़ानून लागू थे । फरवरी १९३३ मे मेरे पिताजी की सालाना याद-गार में की जानेवाली एक सभा पुलिस ने रोक दी, हालांकि वह गैर-कांग्रेसी मीटिंग थी और उसका सभापतित्व करनेवाले थे सर तेजबहादुर सप्रू-जैसे सुप्र-सिद्ध मॉडरेट । और मानो भविष्य में मिलनेवाले उपहारों की झांकी हमें श्वेत-पत्र मे दी जा रही थी ।

यह एक अनोखा 'पत्र' था, जिसको पढ़कर चकित रह जाना पड़ता था । इसके अनुसार हिन्दुस्तान एक बढ़ी-चढ़ी हिन्दुस्तानी रियासत बना दी जायगी

और 'संघ' में देशी राज्यों के प्रतिनिधियों का ही ज्यादा बोलबाला रहेगा, लेकिन खुद रियासतों में कोई भी बाहरी हस्तक्षेप बरदाश्त नहीं किया जायगा, और पूरी तरह से एकतन्त्री सत्ता वहां जारी रहेगी। साम्राज्य की असली कड़ियां, क़र्ज़े की जंजीरें, हमें हमेशा लन्दन शहर के साथ बांधे रहेंगी, और एक रिज़र्व बैंक के मार्फत मुद्रा-सम्बन्धी एवं आर्थिक नीति भी बैंक आफ़ इंग्लैंड के नियन्त्रण मे रहेगी। सब स्थापित स्वार्थों की रक्षा के लिए अटूट दीवारें खड़ी हो जायंगी, और भी नये स्थापित स्वार्थों की सृष्टि हो जायगी। इन स्थापित स्वार्थों के लाभ के लिए हमारी सारी-की-सारी राष्ट्रीय आय पूरी तरह से रेहन रक्खी जायगी। हमें स्व-शासन की अगली किश्तों के योग्य बनाने के लिए साम्राज्य के ऊंचे पदों पर, जिनको हम इतना चाहते हैं, हमारा कोई नियन्त्रण न रहेगा, उन्हें हम छू भी न सकेंगे। प्रान्तीय स्वाधीनता तो मिलेगी, लेकिन गवर्नर हमको व्यवस्था में रखनेवाला एक दयालु और सर्व-शक्तिमान डिक्टेटर रहेगा। और सबसे ऊपर रहेगा सबसे बड़ा डिक्टेटर वाइसराय, जिसको, जो मन मे आवे सो करने और जिस बात को चाहे उसे रोकने की, पूरी-पूरी सत्ता होगी। सच है, उपनिवेशों की हुकूमत के लिए अंग्रेज़ शासक-वर्ग ने इतनी प्रतिभा का परिचय कभी नहीं दिया था। अब तो हिटलर और मुसोलिनी-जैसे लोग उनकी भी खूब तारीफ़ कर सकते है, और हिन्दुस्तान के वाइसराय को भी हसरत की निगाह से देख सकते हैं।

ऐसा विधान उपजाकर भी, जिसमें हिन्दुस्तान के हाथ-पांव अच्छी तरह से बांध दिये गए थे, उसमें 'ख़ास ज़िम्मेदारियां' और 'संरक्षण' के रूप में कुछ और जंज़ीरें बांध दी गई थीं, जिससे यह अभागा राष्ट्र एक ऐसा कैदी हो गया जो ज़रा भी हिल-डुल न सके। जैसा कि श्री० नेवाइल चेम्बरलेन ने कहा था, "उन्होंने सारी ताक़त लगाकर योजना मे ऐसे सब 'संरक्षण' रख दिये थे जिनकी कल्पना मनुष्य के दिमाग़ मे आ सकती थी।"

इसके बाद, हमे यह भी बतलाया गया कि इन उपहारों के लिए हमें भारी खर्चा देना पड़ेगा—शुरू में एकदम कुछ करोड़ और फिर सालाना कुछ रक़म। हमें स्वराज्य का तोहफ़ा काफ़ी रक़म दिये बिना कैसे मिल सकता था? हम तो इस धोखे में ही पड़े हुए थे कि हिन्दुस्तान एक दरिद्र देश है और अब भी उसपर बहुत भारी बोझा रक्खा हुआ है और उसे कम करने के लिए ही हम आज़ादी की तलाश में थे। आज़ादी के लिए जनता इसी प्रेरणा

से तैयार हुई थी। लेकिन अब मालूम हुआ कि वह बोझा तो और भारी होने को है।

हिन्दुस्तानी समस्या का यह अंटशंट हल हमें सच्ची अंग्रेजों-जैसी शालीनता के साथ दिया गया, और हमसे कहा गया कि हमारे शासक कितने उदार-हृदय हैं ! किसी भी साम्राज्यवादी हुकूमत ने इससे पहले अपनी प्रजा के लिए अपनी ख़ुशी से ऐसे अधिकार और अवसर नहीं दिये हैं। और इंग्लैंड में इसके देनेवालों में और इसपर आपत्ति उठानेवालों में, जो इस भारी उदारता से डर रहे थे, बड़ा भारी वाद-विवाद हुआ। तीन साल तक हिन्दुस्तान और इंग्लैंड के बीच बार-बार बहुत लोगों के आने और जाने का, तीन गोलमेज़-कान्फ्रेंसों का, और अनगिनती कमेटियों और मशविरों का यह नतीजा हुआ !

मगर, इंग्लैंड की यात्राएं तो अब भी खत्म नहीं हुई थीं। ब्रिटिश पार्लमेण्ट की ज्वाइण्ट सिलेक्ट कमेटी श्वेतपत्र पर फैसला देने के लिए बैठी हुई थी, और हिन्दुस्तानी उसमें असेसर या गवाह बनकर गए। लन्दन में और भी कई तरह की कमेटियां बैठ रही थीं, और इन कमेटियों की मेम्बरी, जिसका अर्थ था इंग्लैंड जाने और साम्राज्य के हृदय (लन्दन) में ठहरने का मुफ़्त ख़र्चा, जिसके लिए भीतर-ही-भीतर बड़ी भद्दी छीना-झपटी हुई थी ! बड़े-बड़े पराक्रमी लोगों ने, जिनके हौसले श्वेतपत्र की निराशापूर्ण तजवीज़ों से भी ठंडे नहीं पड़े थे, अपनी सारी वक्तृत्व-कला और लोगों को लुभा लेने की शक्ति से श्वेतपत्र की तजवीज़ों को बदलवाने की कोशिश करने के लिए, समुद्र-यात्रा या आकाश-यात्रा के संकटों को और लन्दन शहर में ठहरने के और भी ज्यादा जोखिमों को सहने के लिए कमर कस ली। वे जानते थे कि प्रयत्न में कुछ दम तो दिखाई नहीं देता, लेकिन वे हिम्मत हारनेवाले नहीं थे; और चाहे हमारी कोई न सुने तो भी हम अपनी बात तो बराबर कहते ही रहेंगे, इसमें वे विश्वास करनेवाले थे। उनमें से एक व्यक्ति, जो कि प्रति-सहयोगियों के एक नेता थे, सबके चले आने पर भी ठेठ अन्त तक वहां टिके ही रहे, और शायद यह असर डालने के लिए कि वह क्या-क्या राजनैतिक परिवर्तन चाहते हैं, वह लन्दन के सत्ताधीशों से मुलाकात-पर-मुलाकात करते रहे, और उनके साथ दावत-पर-दावत उड़ाते रहे। और आखिरकार जब वह अपने देश में लौटे, तब प्रतीक्षा करने वाले लोगों से उन्होंने कहा कि "मराठों की सुप्रसिद्ध दृढ़ता के साथ मैंने अपना काम-धंधा

छोड़ा नहीं और बिलकुल अन्त तक अपनी बात कह लेने के लिए मैं लन्दन में डटा रहा।"

मुझे याद है कि मेरे पिताजी अक्सर शिकायत करते थे कि उनके प्रति-सहयोगी मित्रों में मज़ाक का माद्दा नहीं है। अपनी कुछ विनोद-भरी बातों पर, जो प्रति-सहयोगियों को बिलकुल पसन्द नहीं आती थीं, उनका उनसे (प्रति-सहयोगियों से) अक्सर झगड़ा हो जाता था, और फिर उन्हें उनको समझाना पड़ता था और तसल्ली देनी पड़ती थी। यह बड़ा थका देनेवाला काम था। मैंने सोचा कि मराठों में लड़ने की कितनी तीव्र भावना रही है, जो सिर्फ भूतकाल में ही नहीं, बल्कि वर्तमान में भी हमारी राष्ट्रीय लड़ाइयों में प्रकट हो रही है; और महान् तथा निर्भीक तिलक की भी मुझे याद आई, जो टुकड़े-टुकड़े भले ही हो जायं लेकिन झुकना न जानते थे।

लिबरल श्वेतपत्र को बिलकुल नापसन्द करते थे। हिन्दुस्तान में दिन-पर-दिन जो दमन हो रहा था उसे भी वे पसन्द नहीं करते थे; और कभी-कभी हालांकि बहुत कम बार, उन्होंने इसका विरोध भी किया था, लेकिन साथ-साथ वे यह भी स्पष्ट कर देते थे कि हम कांग्रेस और उसके सारे कार्य की भी निन्दा करते हैं। सरकार को मौक़े-बेमौक़े वे यह भी सुझाते रहते थे कि वह अमुक कांग्रेसी नेता को जेल से रिहा कर दे। वे तो जिन-जिन व्यक्तियों को जानते थे उन्हीके विषय में सोच सकते थे। लिबरलों और प्रति-सहयोगी लोगों की दलील यह होती थी कि चूंकि अब सार्वजनिक शान्ति के लिए कोई खतरा नहीं है, इसलिए अब अमुक-अमुक व्यक्ति को छोड़ देना चाहिए और अगर फिर भी यह व्यक्ति अनुचित काम करे तो सरकार उसको गिरफ़्तार कर ही सकती है, और फिर सरकार का उसे गिरफ्तार करना अधिक उचित माना जायगा। इंग्लैंड में भी कुछ भले लोग इसी दलील पर कार्य-समिति के कुछ मेम्बरों या खास व्यक्तियों की रिहाई की पैरवी करते थे। जब हम जेलों में पड़े हुए थे तब हमारे मामलों में जिन्होंने दिलचस्पी ली, उनके प्रति हम अहसानमन्द हुए बिना नहीं रह सकते। लेकिन कभी-कभी हमें यह भी महसूस होता था कि अगर इन भले आदमियों से हम बचे ही रहें तो अच्छा हो। उनकी सद्भावना में हमें शक न था, लेकिन यह ज़ाहिर था कि उन्होंने ब्रिटिश सरकार की विचारधारा ही ग्रहण कर रक्खी थी और उनके और हमारे बीच बहुत चौड़ी खाई थी।

हिन्दुस्तान में जो कुछ हो रहा था वह लिबरलों को ज़्यादा पसन्द न था। उससे उन्हें दुःख होता था, लेकिन फिर भी वे क्या कर सकते थे ! सरकार के खिलाफ़ कोई भी कारगर क़दम उठाने की तो वे कल्पना-तक नहीं कर सकते थे। सिर्फ़ अपने समुदाय को अलग बनाये रखने के लिए उन्हें जनता से और उसके बीच काम करनेवाले लोगों से दूर-ही-दूर हटना पड़ा; उन्हें नरम बनते-बनते इतना पोछे हटना पड़ा कि उनकी और सरकार की विचारधारा मे फ़र्क जानना मुश्किल हो गया। तादाद में कम और जनता पर असर न होने के कारण, उनकी वजह से आम लड़ाई में कोई फ़र्क नहीं पड़ सका। मगर उनमे कुछ प्रतिष्ठित और प्रसिद्ध लोग भी थे, जिनकी व्यक्तिगत रूप से इज़्ज़त होती थी। लेकिन इन्हीं नेताओं और लिबरल और प्रति-सहयोगी दलों ने भी सामूहिक रूप से सरकारी नीति को नैतिक समर्थन देकर एक कठिन संकट के समय में ब्रिटिश सरकार की अमूल्य सेवा की। प्रभावकारी आलोचनाएं न होने और समय-समय पर लिबरलों के द्वारा दी गई मान्यता और समर्थन से सरकार को दमन और अनीति में प्रोत्साहन मिला। इस तरह ऐसे समय में, जबकि सरकार को अपने भीषण और अभूत-पूर्व दमन को मुनासिब बताना मुश्किल मालूम हो रहा था, उसको लिबरलों और प्रति-सहयोगियों ने नैतिक बल दे दिया।

लिबरल नेतागण कहते थे कि श्वेतपत्र खराब है—बहुत ही खराब है; लेकिन अब उसके लिए करें क्या ! अप्रैल १९३३ में कलकत्ता मे लिबरल फ़ेड-रेशन का जो जलसा हुआ उसमें श्री० श्रीनिवास शास्त्री ने, जो कि लिबरलों के सबसे प्रमुख नेता हैं, समझाया कि वैधानिक परिवर्तन कितने भी असन्तोष-जनक क्यों न हों, हमें उनको काम में लाना ही चाहिए। उन्होंने कहा कि "यह ऐसा वक्त नहीं है जबकि हम एक ओर खड़े रहें और अपने सामने सब-कुछ यों ही हो जाने दें।" ज़ाहिर है कि, उनके ख़याल में सिर्फ़ यही 'कार्य' आ सकता था कि जो कुछ भी मिले, उसे ले लिया जाय और उसीको काम में लाया जाय। अगर यह न हो तो, दूसरा कार्य था चुपचाप बैठे रहना। आगे उन्होंने कहा—"अगर हममें समझदारी, अनुभव, नरमी, दूसरे को क़ायल करने और चुपचाप असर डालने की शक्ति और वास्तविक कार्यदक्षता है—अगर हममें ये गुण हैं, तो उन्हें पूरी तरह दिखलाने का यही अवसर है।" इस भावपूर्ण अपील पर कलकत्ता के 'स्टेट्समैन' की राय थी कि ये बड़े 'सुन्दर शब्द' थे।

श्री० शास्त्री हमेशा भावपूर्ण भाषण देते हैं, और वक्ताओं की तरह सुन्दर शब्दों और उनके अलंकारपूर्ण उपयोग का उन्हें शौक है। मगर वह अपने उत्साह में बह भी जाते हैं और शब्दों का जो मोहक जाल वह खड़ा करते हैं उससे उनका मतलब दूसरों के लिए और शायद ख़ुद उनके लिए भी धुंधला हो जाता है। उन्होंने अप्रैल १९३३ में, कलकत्ता में सविनय-भंग के चालू रहते हुए, यह जो अपील की थी, उस पर विचार कर लेना सार्थक होगा। मौलिक सिद्धान्त और लक्ष्य की बात जाने भी दें, तो भी उसमें दो बातें ध्यान देने योग्य दिखाई देती हैं। पहली बात तो यह कि कुछ भी क्यों न हो, ब्रिटिश सरकार के द्वारा हमारा कितना भी अपमान, दमन और शोषण क्यों न होता हो, हमें उसको सह लेना ही चाहिए। ऐसी कोई मर्यादा नहीं बनाई जा सकती जिसके बाहर हम हरग़िज न जायें। एक जरा-सा कीड़ा भले ही एक बार मुक़ाबला करने पर उतारू हो जाय; लेकिन श्री० शास्त्री की सलाह पर चलें तो हिन्दुस्तानी ऐसा कभी नहीं कर सकते। उनकी राय के मुताबिक इसके सिवा कोई रास्ता ही नहीं है। इसका मतलब यह है कि जहां तक उनका ताल्लुक है ब्रिटिश सरकार के फ़ैसले के सामने झुक जाना और उसे मंजूर कर लेना उनका धर्म (अगर मैं इस अभागे शब्द का प्रयोग कर सकूं) हो गया है। यही हमारी क़िस्मत में बदा है और उसे हम चाहें या न चाहें, लेकिन उसके सामने हमें सिर झुकाना ही चाहिए।

यह ग़ौर करने की बात है कि वह किसी निश्चय और ज्ञात परिस्थिति पर अपनी राय नहीं दे रहे थे। 'वैधानिक परिवर्तन' तो अभी बन ही रहे थे; हालांकि सबको यह स्पष्ट मालूम था कि वे बहुत बुरे होंगे। अगर उन्होंने यह कहा होता कि, "यद्यपि श्वेतपत्र की तजवीज़ें ख़राब हैं, लेकिन सारी परिस्थिति को देखते हुए अगर इन्हींको क़ानून का रूप दे दिया जाय तो मैं उनको काम में लाने के हक में हूं", तो उनकी सलाह चाहे अच्छी होती या बुरी, पर मौजूदा घटनाओं से सम्बद्ध तो होती। लेकिन श्री० शास्त्री तो बहुत आगे बढ़ गए और उन्होंने कहा कि भावी वैधानिक परिवर्तन चाहे कितने भी असन्तोषजनक हों, फिर भी मेरी सलाह तो यही होगी। राष्ट्र की दृष्टि में जो सबसे ज्यादा महत्त्व की बात थी, उसके बारे में वह ब्रिटिश सरकार को बिलकुल कोरा चेक देने को तैयार थे। मेरे लिए यह समझना ज़रा मुश्किल है कि कोई भी व्यक्ति या पार्टी या दल, जबतक कि वह किसी भी सिद्धान्त या नैतिकता या राजनैतिक आदर्श से बिलकुल

प्रभाव हट जाय, तो यह खतरा हो सकता है कि राजनैतिक आंदोलन में एक पार्टी दूसरी पार्टी के प्रति तीव्र घृणा रक्खे, उसे सतावे और उसपर जुल्म करे। इसके विपरीत ब्रिटिश राजनैतिक जीवन में सदा से सहिष्णुता की विशेषता रही है, इसलिए हिन्दुस्तान का भविष्य, जितना ही अधिक ब्रिटेन के साथ सहयोग से बनाया जायगा, उतनी ही अधिक हिन्दुस्तान में सहिष्णुता बनी रहने की सम्भावना रहेगी। जेल मे रहने के कारण श्री० शास्त्री के भाषण का जो सारांश कलकत्ता के 'स्टेट्समैन' द्वारा मिला है मुझे तो उसीको मानना पड़ता है। 'स्टेट्समैन' ने उसपर आगे लिखा है, कि 'यह सुन्दर सिद्धान्त है, और हम देखते है कि डाक्टर मुंजे के भाषणों में भी यही भाव रहा है।' कहा जाता है कि श्री० शास्त्री ने बताया कि रूस, इटली और जर्मनी में भी स्वतन्त्रता का दमन हो रहा है, और वहां बड़ी अमानुषिकता और जंगलीपन से काम लिया जाता है।

जब मैंने यह भाषण पढ़ा तो मुझे ध्यान आया कि ब्रिटेन और हिन्दुस्तान के सम्बन्ध मे ब्रिटेन के किसी 'कट्टर' अनुदार व्यक्ति से श्री० शास्त्री का दृष्टिकोण कितना मिलता-जुलता है! दोनों में तफ़सील के बारे में बेशक फ़र्क है, लेकिन मूलतः विचारधारा एक ही है। श्री० विंस्टन चर्चिल भी, अपने विश्वासों का किसी प्रकार अतिक्रमण न करते हुए, ठीक ऐसी ही भाषा में अपने विचार प्रकट कर सकते थे। फिर भी, श्री० शास्त्री लिबरल-पार्टी में उग्र विचार के समझे जाते हैं, और उसके सबसे ज़्यादा योग्य नेता हैं।

श्री० शास्त्री के इतिहास के अध्ययन या संसार के प्रश्नों पर उनकी राय से मै सहमत नहीं हूं, ख़ासकर ब्रिटेन और हिन्दुस्तान-विषयक उनकी सम्मति को मानने में मै बिलकुल असमर्थ हूं। शायद कोई विदेशी भी, अगर वह अंग्रेज़ नहीं है, तो उससे सहमत न होगा। और शायद उन्नत विचारों के कई अंग्रेज भी उनकी राय को न मानेंगे। अंग्रेज़ी शासकों के रंगीन चश्मों से दुनिया और अपने देश को देखना, उनकी एक विशेषता है। फिर भी यह ध्यान देने योग्य बात है कि पिछले अठारह महीनों से जो असाधारण घटनाएं हिन्दुस्तान में रोज़ाना हो रही थीं, और जो उनके भाषण के वक्त भी हो रही थीं, उनका उन्होंने इसमें ज़िक्र तक नहीं किया। उन्होंने रूस, इटली, जर्मनी का नाम तो लिया, लेकिन उनके देश में ही जो भयंकर दमन और स्वतन्त्रता का अपहरण हो रहा था, उसको वह एकदम नज़र-अन्दाज़ कर गए। मुमकिन है उन्हें वे सारी भयानक घटनाएं मालूम न हुई

हों जो सीमा-प्रान्त में और बंगाल में हुई थीं—जिनको राजेन्द्रबाबू ने हाल में कांग्रेस के अपने अध्यक्ष-पद से दिये गए भाषण में 'बंग-भूमि पर बलात्कार' कहा है—क्योंकि सेन्सर के घने परदे ने सब घटनाओं को छिपा रक्खा था। लेकिन क्या उन्हें भारत-भूमि का दुःख, और ज़बरदस्त प्रतिद्वन्द्वी के मुक़ाबले में हिन्दुस्तान के लोग जीवन और स्वतन्त्रता की जो लड़ाई लड़ रहे थे, वह भी याद न रही? क्या उन्हें पुलिस-राज का, जो बड़े-बड़े हिस्सों में छाया हुआ था, फ़ौजी कानून-जैसी परिस्थिति का, आर्डिनेंसों, भूख-हड़तालों और जेल के दूसरे कष्टों का हाल मालूम न था? क्या वह यह महसूस नहीं करते थे कि जिस सहिष्णुता और स्वतन्त्रता के लिए वह ब्रिटेन की तारीफ़ करते थे, उसीको ब्रिटेन ने हिन्दुस्तान में कुचल डाला है?

वह कांग्रेस से सहमत थे या नहीं, इसकी चिन्ता नहीं। उन्हें कांग्रेस की नीति की समालोचना और निन्दा करने का पूरा इख़्तियार था। लेकिन एक हिन्दुस्तानी के नाते, एक स्वाधीनता-प्रेमी के नाते, एक भावुक व्यक्ति के नाते, उनके देश-वासी स्त्री और पुरुष जो अद्भुत साहस और बलिदान का भाव दिखा रहे थे, उसके प्रति उनके क्या विचार थे? जब हमारे शासक हिन्दुस्तान के कलेजे पर छुरी चला रहे थे, तब क्या उन्हें वेदना और कष्ट नहीं मालूम होता था? लाखों आदमी एक घमण्डी साम्राज्य की पाशविक शक्ति के सामने झुकने से इन्कार कर रहे थे, और अपनी आत्मा के कुचले जाने के बदले अपने शरीरों का कुचला जाना, अपने घर-बार का बरबाद हो जाना और अपने प्रियजनों का कष्ट उठाना ज़्यादा पसन्द कर रहे थे। क्या वह इसका महत्त्व कुछ भी नहीं समझते थे? हम जेलों में और बाहर हिम्मत न हारे थे, हम मुस्कराते थे और हँसते थे, लेकिन अक्सर हमारी मुस्कराहट तो आंसुओं में झलकती थी और हमारा हँसना कभी-कभी रोने के बराबर था।

एक बहादुर और उदार अंग्रेज़ श्री० वेरियर एलविन हमें बताते हैं कि उनके दिल पर इसका क्या असर हुआ। १९३० के बारे में वह कहते हैं कि "वह एक अद्भुत दृश्य था जब सारा राष्ट्र गुलामी के दिमाग़ी बन्धनों को दूर कर रहा था, और अपनी सच्ची शान से निडर निश्चय प्रकट करता हुआ उठ रहा था।" और फिर "सत्याग्रह की लड़ाई में ज़्यादातर कांग्रेसी स्वयंसेवकों ने आश्चर्यजनक अनुशासन दिखाया था, ऐसा अनुशासन कि जिसकी एक प्रान्तीय गवर्नर ने भी उदारता के साथ तारीफ़ की है. . . . .।"

श्री० श्रीनिवास शास्त्री एक योग्य और सहृदय आदमी हैं। उनकी देश में बड़ी इज़्ज़त है; और यह नामुमकिन मालूम होता है कि ऐसी लड़ाई में उनके भी ऐसे ही विचार न हों और उन्हें भी अपने देशवासियों से सहानुभूति न हो। उनसे यह उम्मीद हो सकती थी कि वह सरकार द्वारा सब तरह की नागरिक स्वतन्त्रता और सार्वजनिक प्रवृत्तियों के दमन की निन्दा में अपनी आवाज़ उठाते। उनसे यह भी उम्मीद हो सकती थी कि वह और उनके साथी सबसे ज़्यादा दबाये गए प्रान्तों—बंगाल और सीमा-प्रान्त—में खुद जाते; इसलिए नहीं कि किसी भी तरह कांग्रेस या सविनय-भंग में मदद दें, बल्कि अधिकारियों और पुलिस की ज़्यादतियों को ज़ाहिर करने और इस तरह उन्हें रोकने के लिए। दूसरे देशों में आज़ादी और नागरिक स्वतन्त्रता के प्रेमी अक्सर ऐसा करते हैं। लेकिन, ऐसा करने के बजाय, सरकार जब हिन्दुस्तान के नर-नारियों को पैरों-तले रौंद रही थी, और जब उसने रोज़मर्रा की आज़ादी को भी कुचल दिया था, तब उसको रोकने के बजाय, और क्या घटनाएं घट रही हैं, कम-से-कम यही छान-बीन करने के बजाय, उन्होंने ठीक ऐसे वक़्त में अंग्रेज़ों को सहिष्णुता और आज़ादी का प्रमाण-पत्र दे दिया जबकि हिन्दुस्तान के अंग्रेज़ी शासन में ये दोनों गुण बिलकुल ही नहीं रह गए थे। उन्होंने सरकार को अपना नैतिक सहारा दे दिया, और दमन के कार्य में उसका हौसला बढ़ाया और प्रोत्साहन दिया।

मुझे पूरा यक़ीन है कि उनका यह तात्पर्य नहीं रहा होगा, या उन्हें यह खयाल नहीं रहा होगा कि इसका क्या परिणाम हो सकता है। मगर उनके भाषण का यही असर हुआ होगा, इसमें तो शक नहीं हो सकता। तो, उन्हें इस तरह से विचार और कार्य क्यों करना चाहिए था?

मुझे इस सवाल का ठीक जवाब सिवा इसके और नहीं मिला है कि लिबरल नेताओं ने अपने-आपको अपने देशवासियों और समस्त आधुनिक विचारों से बिलकुल दूर कर लिया है। जिन पुराने ढंग की किताबों को वे पढ़ते हैं उन्होंने उनकी निगाह से हिन्दुस्तान की जनता को ओझल कर दिया है और उनमें एक तरह से अपनी ही खूबियों पर फ़िदा होने की आदत पैदा हो गई है। हम लोग जेलों में गये और हमारे शरीर कोठरियों में बन्द रहे, लेकिन हमारे दिमाग़ आज़ाद फिरते थे। और हमारा हौसला दबा नहीं था। लेकिन उन्होंने तो अपने ढंग का दिमाग़ी क़ैदखाना खुद ही बना लिया था, जहां वे अन्दर-ही-अन्दर चक्कर काटा

करते थे और उससे निकल नहीं सकते थे। वे 'मौजूदा हालात' की रट लगाया करते थे; और जब मौजूदा हालात बदल गए, जैसा कि इस परिवर्तनशील दुनिया में होता ही रहता है, तो उनके पास न पतवार रहा न कम्पास; उनके दिमाग़ और शरीर दोनों ही बेकार हो गए; उनके पास न आदर्श रहे, न नैतिक नाप ! इन्सान को या तो आगे जाना पड़ेगा या पीछे हटना पड़ेगा। हम इस प्रगतिशील संसार में एक ही जगह खड़े नहीं रह सकते। परिवर्तन और प्रगति से डरने के कारण, लिबरल अपने आस-पास के तूफ़ानों को देखकर, भयभीत हो गए; हाथ-पैरों से कमज़ोर होने के कारण आगे न बढ़ सके; और इसलिए वे लहरों में इधर-उधर उछलते रहे, और जो भी तिनका उन्हें मिल जाता था उसीका सहारा लेने की वे कोशिश करते रहे। वे हिन्दुस्तान की राजनीति के हेमलेट बन गए; तरह-तरह के विचारों की चिन्ता से पीले और बीमार-से पड़ गए; हमेशा सन्देह, हिचकिचाहट और अनिश्चय में पड़े रहे।

ओ ईर्ष्यारत दुष्ट ! मेल का समय कहां अब;
लगा सदा मैं रहा ठीक ही करने में सब ![1]

'सर्वेण्ट आफ़ इण्डिया' नामक एक लिबरल अख़बार ने सविनय-भंग आन्दोलन के बाद के दिनों में कांग्रेसी लोगों पर यह आरोप लगाया था कि वे पहले तो जेल जाना चाहते हैं, और जब वहां पहुंच जाते हैं तब फिर बाहर आना चाहते हैं। उसने कुछ चिढ़ते हुए कहा था कि एकमात्र यही कांग्रेस की नीति है। स्पष्ट ही इसके बदले में लिबरलों का रास्ता होता ब्रिटिश मन्त्रियों की सेवा में इंग्लैंड डेपुटेशन भेजना, या इंग्लैंड में शासकदलों के परिवर्तन का इन्तज़ार करना और उनके लिए दुआएं मांगना।

---

[1] **शेक्सपियर के 'हेमलेट' नाटक की मूल अंग्रेजी की इन पंक्तियों का यह अनुवाद है—**

"The time is out of joint O cursed spite !
That ever I was born to set it right."

निरन्तर तर्कग्रस्त, कार्य में असमर्थ हेमलेट की मध्यम-मार्गियों से तुलना की गई है ! स्वयं हेमलेट कहता है कि—मुझ-जैसे कुकर्मी को सुधारने में इसे कैसे सफलता मिली ? —अनु०

किसी हद तक यह सच था कि उन दिनों कांग्रेस की नीति ख़ासकर यही थी कि आर्डिनेन्स और दूसरे दमनकारी कानूनों को तोड़ा जाय, और इसकी सज़ा जेल थी। यह भी सच था कि कांग्रेस और राष्ट्र, लम्बी लड़ाई के बाद थक गए थे, और सरकार पर कोई कारगर दबाव नहीं डाल सकते थे। लेकिन हमारे सामने एक व्यावहारिक और नैतिक दृष्टि थी।

नग्न बल-प्रयोग, जैसा कि हिन्दुस्तान में किया जा रहा था, शासकों के लिए बड़ा ख़र्चीला मामला होता है। उनके लिए भी यह एक दुःखदायी और घबरा देनेवाली अग्नि-परीक्षा होती है, और वे अच्छी तरह जानते हैं कि अन्त में इससे उनकी नींव कमजोर पड़ जाती है। इससे जनता के सामने और सारी दुनिया के सामने उनकी हुकूमत का असली रूप बराबर प्रकट होता रहता है। इसकी बनिस्बत वह यह बहुत ज़्यादा पसन्द करते हैं कि अपने फ़ौलादी पंजे को छिपाने के लिए हाथ पर मख़मली दस्ताना पहने रहें। जो लोग सरकार की इच्छाओं के सामने झुकना नहीं चाहते, फिर चाहे उसका परिणाम कुछ भी हो, उनसे मुक़ाबला करने से बढ़कर रोषोत्पादक और अन्त में हानिकर बात किसी भी शासन के लिए दूसरी नहीं है। इसलिए दमनकारी क़ानूनों का कभी-कभी भंग होते रहना भी एक महत्त्व रखता था। उससे जनता की ताक़त बढ़ती थी, और सरकार के नैतिक बल की बुनियाद ढहती थी।

नैतिक दृष्टि तो इससे भी ज़्यादा महत्त्वपूर्ण थी। एक प्रसिद्ध स्थान पर 'थोरो' ने लिखा है कि, "ऐसे समय में, जबकि स्त्री और पुरुष अन्यायपूर्वक जेल में डाले जाते हों, न्यायी स्त्री-पुरुषों का स्थान भी जेल में ही है।" यह सलाह शायद लिबरल और दूसरे लोगों को न जंचे; लेकिन हममें से कई लोग ऐसा महसूस करते हैं कि मौजूदा हालत में, जबकि सविनय भंग के अलावा भी, हमारे कितने साथी हमेशा जेल में रक्खे जाते हैं, और जबकि सरकार का दमन-यन्त्र निरन्तर हमारा दमन और अपमान कर रहा है और हमारे लोगों के शोषण में मदद दे रहा है, तब किसीके लिए नैतिक जीवन बिताना सम्भव नहीं है। अपने ही देश में हम संदिग्ध की भांति आते-जाते हैं। हम पर निगरानी रक्खी जाती है और हमारा पीछा किया जाता है। हमारे शब्दों को नोट किया जाता है कि वे कहीं राजद्रोह के व्यापक क़ानून को तो नहीं तोड़ते हैं, हमारा पत्र-व्यवहार खोला और पढ़ा जाता है, और हमेशा यह संभावना बनी रहती है कि सरकार हम पर किसी तरह

का बन्धन लगा देगी या हमें गिरफ़्तार कर लेगी। ऐसी हालत में हमारे सामने दो ही रास्ते हैं—या तो सरकारी ताक़त के आगे हमारे सिर बिलकुल झुक जायं, हमारा आत्मिक पतन हो जाय, हमारे अन्दर जो सचाई है उसकी उपेक्षा कर दी जाय, और जिन प्रयोजनों को हम बुरा समझते हैं उनके लिए हमारा नैतिक दुरुपयोग हो; या फिर उसका मुक़ाबला किया जाय, और उसका जो कुछ नतीजा हो वह बरदाश्त किया जाय। कोई भी शख़्स यों ही जेल जाना या मुसीबत बुलाना नहीं चाहता; मगर, अक्सर दूसरे रास्तों की बनिस्बत जेल जाना ही ज़्यादा अच्छा होता है। जैसा कि बर्नार्ड शॉ ने लिखा है—

"जीवन में सबसे दुःखदायी बात तो सिर्फ़ यही है कि जिन उद्देश्यों को हम सब निन्दनीय समझते हैं उन्हींके लिए स्वार्थी लोगों द्वारा मनुष्य का उपयोग किया जाता है। इसके सिवा और जो कुछ है वह अधिक-से-अधिक बदक़िस्मती या मृत्यु है। यही तो मुसीबत, ग़ुलामी और दुनिया का नरक है।"

४९ :

लम्बी सजा का अंत

मेरी रिहाई का वक़्त नज़दीक आ रहा था। साधारणतः मुझे 'नेकचलनी' की जितनी छूट मिलनी चाहिए थी उतनी मिल गई और इससे मेरी दो साल की मियाद में से साढ़े तीन महीने कम हो गए थे। मेरी मानसिक शान्ति, या यों कहिये कि जेल-जीवन से जो मानसिक जड़ता पैदा हो जाती है, उसमें रिहाई का ख़याल ख़लल डाल रहा था। बाहर जाकर मुझे क्या करना चाहिए, यह एक मुश्किल सवाल था। और इसके जवाब की हिचकिचाहट ने बाहर जाने की मेरी ख़ुशी कम कर दी। लेकिन वह भी एक क्षणिक भाव था, और लम्बे अरसे से दबी हुई क्रियाशीलता मेरे अन्दर फिर उमड़ने लगी और मैं बाहर निकलने को उत्सुक हो गया।

जुलाई १९३३ के अन्त में एक बहुत ही दुःखद और बेचैनी पैदा करनेवाली ख़बर मिली—जे० एम० सेनगुप्त की अचानक मृत्यु हो गई! हम दोनों कई साल तक कार्य-समिति में सिर्फ़ अन्तरंग साथी ही नहीं रहे थे, उनसे मेरा सम्बन्ध मेरे कैम्ब्रिज में पढ़ने के शुरू के दिनों से ही था। दोनों सबसे पहले कैम्ब्रिज में ही मिले थे—मैं तो नया दाख़िल हुआ था और उन्होंने उसी समय अपनी डिग्री पाई थी।

सेनगुप्त का देहान्त उनकी नज़रबन्दी की हालत में हुआ। १९३२ के शुरू में जब वह यूरोप से लौटे थे, तो बम्बई में जहाज़ पर ही वह राजबन्दी बना लिये गए थे। तभी से वह नज़रबन्द रहे, और उनकी तन्दुरुस्ती ख़राब हो गई। सरकार ने उन्हें कई तरह की सहूलियतें दीं, लेकिन वह बीमारी की रफ़्तार को न रोक सकी। कलकत्ता में उनकी अंत्येष्टि के समय जनता ने ख़ूब प्रदर्शन किया और उनके प्रति सम्मान प्रकट किया; ऐसा दिखाई देता था कि बंगाल की एक लम्बे अरसे से क़ैद और कष्ट पाती हुई आत्मा को, कम-से-कम थोड़ी देर के लिए, अपने को व्यक्त करने का मार्ग मिल गया है।

इस तरह सेनगुप्त चल बसे। दूसरे राजबन्दी सुभाष बोस को, जिनकी तन्दुरुस्ती भी बरसों की नज़रबन्दी से बरबाद हो गई थी, आखिरकार सरकार ने इलाज के लिए यूरोप जाने की इजाज़त दे दी। विट्ठलभाई पटेल भी यूरोप में रोग-शय्या पर थे। और भी कितने ही लोग जेल-जीवन और बाहर की लगातार हलचलों के फलस्वरूप शारीरिक थकावट को सहन न कर सकने के कारण तन्दुरुस्ती खो बैठे थे, या मर चुके थे। और कितने लोगों में, हालांकि ऊपर से बड़ी तब्दीली दिखाई नहीं देती थी, लेकिन जेलों में उन्हें जो असाधारण जीवन बिताना पड़ा था, उसके फलस्वरूप उनके दिमाग़ गड़बड़ा गए थे, और उनमें अनेक मानसिक अव्यवस्था और विषमताएं पैदा हो गई थीं।

सेनगुप्त की मृत्यु ने बहुत साफ़तौर पर दिखा दिया कि सारे देश में कितना भयंकर और मौन कष्ट-सहन हो रहा है, और मैं निराश और उदास-सा हो गया। यह सब किसलिए हो रहा है ? आख़िर किसलिए ?

अपनी तन्दुरुस्ती के बारे में मैं ख़ुशक़िस्मत था, और कांग्रेस के कार्य में भारी मेहनत पड़ने और अनियमित जीवन बिताने पर भी मैं कुल मिलाकर अच्छा ही रहा। मेरे ख़याल से, इसका कुछ कारण तो यह भी था कि जन्म से ही मैं हृष्ट-पुष्ट था, और दूसरे मैं अपने शरीर की सम्हाल रखता था। एक तरफ़ बीमारी और कमज़ोरी और दूसरी तरफ़ ज्यादा मुटापे से भी मुझे नफ़रत थी, और काफ़ी कसरत, ताज़ी हवा और सादे भोजन की आदत रहने से मैं दोनों बातों से बचा रहा। मेरा अपना तजुरबा यह है कि हिन्दुस्तान के मध्यम वर्गों की बहुत-सी बीमारियां तो ग़लत भोजन से होती हैं। वे तरह-तरह के पक्वान्न, और सो भी अधिक मात्रा में, खाते हैं। (यह बात उन्हीं पर लागू होती है जिनकी ऐसी फ़ज़ूल-खर्च आदतें रखने की हैसियत होती है।) लाड़-प्यार करनेवाली माताएं बच्चों को मिठाइयां और दूसरी बढ़िया कही जानेवाली चीज़ें ज्यादा खिला-खिलाकर ज़िन्दगी-भर के लिए उनकी बदहज़मी की पक्की नींव डाल देती हैं। बच्चों पर कपड़े भी बहुत से लाद दिये जाते हैं। हिन्दुस्तान में अंग्रेज़ लोग भी बहुत ज्यादा खाते हैं हालांकि उनके खाने में इतने पक्वान्न नहीं होते। शायद उन्होंने पिछली पीढ़ी की अपेक्षा, जो गरम-गरम और गरिष्ठ भोजन अधिक मात्रा में किया करती थी, अब कुछ सुधार कर लिया है।

मैंने भोजन-सम्बन्धी शौकिया प्रयोग करनेवाले लोगों की तरफ़ कोई ध्यान

नहीं दिया है, और सिर्फ़ अधिक परिमाण में भोजन करने और पक्वान्नों से बचता रहा हूं। क़रीब-क़रीब सभी कश्मीरी ब्राह्मणों की तरह हमारा परिवार भी मांसाहारी परिवार था, और बचपन में मैं हमेशा मांस खाता रहा था, हालांकि मुझे उसका बहुत शौक़ कभी नहीं रहा। पर १९२० में असहयोग के समय से मैंने मांस छोड़ दिया, और मैं शाकाहारी बन गया। इसके छह साल बाद यूरोप जाने पर मैं फिर मांस खाने लगा था, पर हिन्दुस्तान आने पर फिर शाकाहारी हो गया, और तब से मैं बहुत-कुछ शाकाहारी ही रहा हूं। मांसाहार मुझे ठीक-ठीक मुआफ़िक़ पड़ता है, लेकिन मुझे उससे अरुचि हो गई है, और उसे खाने में कुछ कठोरता की भावना मन में पैदा होती है।

अपनी बीमारियों के समय में, ख़ासकर १९३२ में जेल में, जबकि कई महीनों तक रोज़ाना मुझे हरारत हो जाया करती थी, मैं झुंझला उठता था; क्योंकि उससे मेरी अच्छी तन्दुरुस्ती के गर्व को ठेस पहुंचती थी। मुझमें असीम जीवन-शक्ति और स्फूर्ति है, अपनी इस सदा की धारणा के विरुद्ध, मैं पहली बार सोचने लगा कि मेरी तन्दुरुस्ती धीरे-धीरे गिरती जा रही है और मैं घुलता जा रहा हूं। इससे मैं भयभीत हो गया। मेरा ख़याल है कि मैं मौत से डरता नहीं हूं। लेकिन शरीर और मस्तिष्क का धीरे-धीरे घुलते जाना तो दूसरी ही बात थी। मगर मेरा डर ज़रूरत से ज़्यादा था और मैं नीरोग होने और अपने शरीर पर अधिकार कर लेने में सफल हो गया। जाड़े में बड़ी देर तक धूप में बैठे रहने से मैं फिर अपनेको तन्दुरुस्त महसूस करने लगा। जबकि जेल के मेरे साथी कोट और दुशाले में लिपटे हुए कांपा करते थे, मैं खुले बदन धूप में बैठकर गरमी का आनन्द लिया करता था। ऐसा जाड़े के दिनों में सिर्फ़ उत्तर हिन्दुस्तान में ही हो सकता था, क्योंकि दूसरी जगहों पर तो धूप अक्सर बहुत तेज़ होती है।

अपनी कसरतों में मुझे ख़ासकर शीर्षासन करने में बहुत आनन्द आता था। मेरी समझ में शारीरिक दृष्टि से यह कसरत बड़ी अच्छी है, और इसका मानसिक प्रभाव भी मेरे ऊपर अच्छा पड़ता था, जिससे मैं इसे और पसन्द करता था। इस कुछ-कुछ विनोदपूर्ण आसन से मेरी तबीयत ख़ुश हो जाती, और इसने जीवन की विचित्रताओं के प्रति मुझे अधिक सहनशील बना दिया।

उदासी के क्षणों को, जो कि जेल-जीवन में लाज़मी तौर पर होते ही हैं,

दूर करने में मेरी आमतौर पर अच्छी तन्दुरुस्ती ने और तन्दुरुस्त होने की शारीरिक अनुभूति ने, मेरी बड़ी सहायता की। इन दोनों बातों से मुझे जेल की या बाहर की बदलती हुई हालतों के मुताबिक़ अपने-आपको बना लेने में भी मदद मिली। मेरे दिल को कई बार धक्के लगे हैं, जिनसे उस वक़्त तो मैं बहुत ही बेहाल हो जाता था; लेकिन मुझे ताज्जुब हुआ कि मैं अपनी उम्मीद से भी जल्दी प्रकृतिस्थ हो जाता था। मेरी राय में, मेरी मूलभूत संयत तथा स्वस्थ प्रकृति का एक सबूत यह है कि मुझे कभी तेज़ सिर-दर्द नहीं हुआ और न मुझे कभी नींद न आने की शिकायत हुई। मैं सभ्यता की इन आम बीमारियों से और आंख की कमज़ोरी से भी बच गया हूं, हालांकि मैं पढ़ने और लिखने में और कभी-कभी तो जेल की ख़राब रोशनी में भी आंखों से बहुत ज़्यादा काम लेता रहा। पिछले साल एक आंख के डाक्टर ने मेरी अच्छी दृष्टि-शक्ति पर बड़ा आश्चर्य प्रकट किया था। आठ साल पहले उसने भविष्यवाणी की थी कि मुझे एक या दो साल में ही चश्मा लगाना पड़ेगा। उसका कहना बहुत ग़लत निकला, और मैं अब भी बग़ैर ऐनक के अच्छी तरह काम चला रहा हूं। हालांकि इन बातों से मैं संयमी और स्वस्थ होने की नामवरी पा सकता हूं; लेकिन मैं यह भी कह देना चाहता हूं कि मैं उन लोगों से बहुत ख़ौफ़ खाता हूं जो जब देखो तब हमेशा ही गम्भीर बने रहते हैं और उनकी मुख-मुद्रा पर कभी कोई परिवर्तन लक्षित नहीं होता।

जब मैं जेल से अपनी रिहाई का इन्तज़ार कर रहा था, उस समय बाहर व्यक्तिगत सविनय-भंग का नया स्वरूप शुरू हो रहा था। गांधीजी ने इसमें सबसे पहले मिसाल पेश करने का फ़ैसला किया, और अधिकारियों को पूरी तरह नोटिस देने के बाद वह एक अगस्त को गुजरात के किसानों में सविनय-भंग का प्रचार करने के लिए रवाना हुए। वह फ़ौरन गिरफ़्तार कर लिये गए, उन्हें एक साल की सज़ा दे दी गई और वह यरवदा की अपनी कोठरी में फिर भेज दिये गए। मुझे ख़ुशी हुई कि वह वापस वहां चले गए। लेकिन जल्दी ही एक नई पेचीदगी पैदा हो गई। गांधीजी ने जेल से हरिजन-कार्य करने की वही सहूलियतें मांगीं जो उन्हें पहले मिली थीं। सरकार ने उन्हें देने से इन्कार कर दिया। अचानक हमने सुना कि गांधीजी ने फिर इसी बात पर उपवास शुरू कर दिया है। ऐसी जबरदस्त कार्रवाई के लिए हमें वह बहुत ही छोटा कारण मालूम हुआ। उनके निर्णय के रहस्य को समझना मेरे लिए बिलकुल नामुमकिन था,

चाहे सरकार के सामने उनकी दलील बिलकुल सही भी हो। मगर हम कुछ नहीं कर सकते थे। असमंजस में पड़े हुए हम यह सब देखते रहे।

उपवास के एक हफ्ते बाद उनकी हालत तेज़ी से गिरने लगी। वह एक अस्पताल में पहुंचा दिये गए, लेकिन वह क़ैदी ही रहे और सरकार हरिजन-कार्य के लिए सहूलियतें देने के मामले में न झुकी। उन्होंने अपने जीवन की आशा (जोकि पिछले उपवासों में कायम रही थी) छोड़ दी, और अपनी तन्दुरुस्ती को गिरने दिया। उनका अन्त नज़दीक दीखने लगा। उन्होंने आसपास के लोगों से विदाई ले ली, और अपने पास पड़ी हुई अपनी थोड़ी-सी चीज़ों को भी इस-उसको बांट देने का इन्तज़ाम कर लिया, जिनमें से कुछ तो नर्सों को दे भी दीं। लेकिन सरकार यह नहीं चाहती थी कि उनकी मौत की ज़िम्मेदारी अपने ऊपर ले, इसलिए उसी शाम को अचानक वह रिहा कर दिये गए। इससे वह मरते-मरते बच गए। एक दिन और बीत जाता, तो फिर उनका बचना मुश्किल था। इस प्रकार उन्हें बचाने का बहुत कुछ श्रेय सम्भवतः श्री० सी० एफ़० एण्डरूज़ को है जो गांधीजी के मना करने पर भी जल्दी से हिन्दुस्तान आगये थे।

इसी बीच (२३ अगस्त को) मैं देहरादून-जेल बदल दिया गया, और दूसरे जेलों में क़रीब-क़रीब डेढ़ साल रहने के बाद फिर नैनी-जेल में आ गया। ठीक उसी वक़्त मेरी माताजी के अचानक बीमार हो जाने और अस्पताल ले जाये जाने की खबर मिली। ३० अगस्त १९३३ को मैं नैनी से रिहा कर दिया गया, क्योंकि मेरी मां की हालत गम्भीर समझी गई। मामूली तौर पर मैं अपनी मियाद खतम होने पर ज़्यादा-से-ज़्यादा १२ सितम्बर को रिहा हो जाता। इस तरह मुझे प्रान्तीय सरकार ने तेरह दिन की छूट और दे दी।

: ५० :

गांधीजी से मुलाकात

जेल से रिहा होते ही मैं अपनी मां की रोगशय्या के पास लखनऊ पहुंचा और कुछ दिन उनके पास रहा। मैं काफ़ी लम्बे अरसे के बाद जेल से बाहर आया था और मुझे लगा कि मैं आस-पास के हालात से बिलकुल अपरिचित और अलग-सा हो गया हूं। मैंने यह अनुभव किया और उससे मेरे दिल को कुछ धक्का भी लगा, जैसा कि आमतौर पर होता है, कि जब मैं जेल में पड़ा हुआ था, तो दुनिया आगे बढ़ती जा रही थी और बदलती जा रही थी; बच्चे और लड़कियां और लड़के बड़े होते जा रहे थे; शादियां, पैदाइशें और मौतें हो रही थीं। प्रेम और घृणा, काम और खेल, दुःख और सुख सब चल रहा था। जीवन में दिलचस्पी पैदा करनेवाली नई-नई बातें हो गई थीं, बातचीत के विषय नये हो गए थे; मैं जो कुछ देखता और सुनता था, सब पर मुझे कुछ-न-कुछ आश्चर्य होता था। मुझे लगा कि मुझे एक खाड़ी में छोड़कर ज़िन्दगी का जहाज़ कितना आगे बढ़ गया था! यह भावना कुछ ख़ुश करनेवाली नहीं थी। जल्दी ही इस स्थिति के अनुकूल मैं अपनेको बना सकता था, लेकिन ऐसा करने की मुझे प्रेरणा नहीं होती थी। मेरे दिल ने कहा कि "जेल के बाहर सैर करने का तुम्हें यह थोड़ा-सा मौक़ा मिला है और जल्दी ही फिर तुम्हें जेल में जाना पड़ेगा; इसलिए जिस जगह से जल्दी ही चल देना है, उसके अनुकूल अपने को बनाने की झंझट क्यों मोल ली जाय!"

राजनैतिक दृष्टि से हिन्दुस्तान कुछ शान्त था। सार्वजनिक प्रवृत्तियों का ज़्यादातर सरकार ने नियन्त्रण और दमन कर रक्खा था और गिरफ़्तारियां कभी-कभी हो जाया करती थीं। मगर हिन्दुस्तान की उस वक़्त की ख़ामोशी बहुत महत्त्व रखती थी। वह वैसी ही मनहूस ख़ामोशी थी जैसी कि भयंकर दमन के अनुभव के बाद थक जाने से आ जाती है; वह ख़ामोशी अक्सर बहुत वाचाल होती है, लेकिन उसे दमन करनेवाली सरकार उसे नहीं सुन सकती। सारा हिन्दुस्तान एक आदर्श पुलिस-राज्य बन गया था और शासन के सब कामों में

पुलिस-मनोवृत्ति व्याप्त हो गई थी। ज़ाहिरा तौर पर हर तरह की कार्रवाई, जो सरकार की इच्छा के मुआफ़िक न हो, दबा दी जाती थी और देश-भर में खुफ़िया और छिपे कारिन्दों की बड़ी भारी फ़ौज फैली हुई थी। लोगों में आमतौर पर पस्तहिम्मती आ गई थी और चारों ओर आतंक छा गया था। कोई भी राजनैतिक कार्य, ख़ासकर गांवों में, फ़ौरन कुचल दिया जाता था। भिन्न-भिन्न प्रान्तीय सरकारें म्युनिसिपैलिटियों और लोकल बोर्डों में से ढूंढ़-ढूंढ़कर कांग्रेस-वालों को निकालने की कोशिश कर रही थीं। हर शख़्स, जो सविनय क़ानून-भंग करके जेल गया था, सरकार की राय में म्युनिसिपल स्कूलों में पढ़ाने या म्युनिसिपैलिटी में और भी कोई काम करने के अयोग्य था। म्युनिसिपैलिटी आदि पर बड़ा भारी दबाव डाला गया और धमकियां दी गईं कि अगर कांग्रेसवाले निकाले नहीं जायंगे तो सरकारी मदद बन्द कर दी जायगी। इस बल-प्रयोग की सबसे बदनाम मिसाल कलकत्ता-कारपोरेशन में देखने में आई। मेरा ख़याल है कि आख़िरकार सरकार ने एक क़ानून ही बना दिया कि कारपोरेशन ऐसे व्यक्तियों को नौकर नहीं रख सकता जो राजनैतिक अपराधों में सज़ा पा चुके हों।

जर्मनी में नाज़ियों की ज़्यादतियों की ख़बरों का हिन्दुस्तान के ब्रिटिश अफ़सरों और उनके अख़बारों पर एक विचित्र प्रभाव पड़ा। उन्हें उन ज़्यादतियों से हिन्दुस्तान में उन्होंने जो कुछ किया था, उस सबका उचित बताने का कारण मिल गया और उन्होंने मानो अपनी इस भलाई के अभिमान के साथ हमें बताया, कि अगर यहां नाज़ियों की हुकूमत होती तो हमारा हाल कितना ज़्यादा ख़राब हुआ होता। नाज़ियों ने तो बिलकुल नये पैमाने क़ायम कर दिये हैं, और नये कारनामे कर दिखाये हैं और उनका मुक़ाबला करना निश्चय ही आसान नहीं था। सम्भव है कि हमारा हाल ज़्यादा ख़राब हुआ होता; लेकिन इसका निर्णय करना मेरे लिए मुश्किल है, क्योंकि पिछले पांच वर्षों में हिन्दुस्तान में क्या-क्या हुआ, इसके सारे हालात मेरे पास नहीं हैं। हिन्दुस्तान की ब्रिटिश सरकार इस नीति में विश्वास रखती है कि बायें हाथ से जो पुण्य-काम किया जाय उसका पता दाहिने हाथ को भी न लगना चाहिए, और इसलिए उसने निष्पक्ष जांच कराने की हर तजवीज़ को नामंज़ूर कर दिया, हालांकि ऐसी जांचों का पलड़ा हमेशा सरकारी पक्ष की तरफ़ झुका रहता है। मेरे ख़याल से, यह सच है कि औसत अंग्रेज़ बर्बरता

से नफ़रत करता हूँ और मैं कल्पना नहीं कर सकता कि अंग्रेज़ लोग नाज़ियों की तरह 'ब्रूतैलितात' (बर्बरता) शब्द को खुले तौर से गौरवपूर्ण मानकर उसे प्रेम से दोहरा सकते हैं। जब वे कोई बर्बर काम कर भी डालते हैं, तो उससे कुछ-कुछ शर्मिन्दा होते हैं। लेकिन चाहे जर्मन हों, अंग्रेज़ हों या हिन्दुस्तानी हों, मेरा ख़याल है कि सभ्यतापूर्ण व्यवहार का हमारा आवरण इतना पतला है कि जब हमें रोष चढ़ आता है तो वह भंग हो जाता है और उसके भीतर से हमारा वह स्वरूप प्रकट होता है जिसे देखना अच्छा नहीं लगता। महायुद्ध ने मनुष्य-जाति को भयंकर रूप से पाशविक बना दिया है, और उसके बाद ही हमने यह दृश्य देखा कि सन्धि हो जाने के बाद भी जर्मनी का भयंकर घेरा डाला जाकर उसे भूखों मारा गया। एक अंग्रेज़ लेखक ने लिखा है कि "यह एक सबसे अधिक निरर्थक, पाशविक और घृणित अत्याचार था, जैसा कि शायद ही किसी राष्ट्र ने कभी किया हो।" १८५७ और १८५८ की घटनाएं हिन्दुस्तान भूला नहीं है। जब हमारे स्वार्थ ख़तरे में पड़ जाते हैं, तब हम अपना सारा सभ्य व्यवहार और सारी शराफ़त भूल जाते हैं और 'झूठ' ही 'प्रचार' का रूप धारण कर लेता है, बर्बरता ही 'वैज्ञानिक दमन' और 'क़ानून तथा व्यवस्था' की स्थापना बन जाती है।

यह किन्ही व्यक्तियों या किसी ख़ास जाति का दोष नहीं है; वैसी ही परिस्थितियों में थोड़ा-बहुत हर कोई वैसा ही बर्ताव करता है। हिन्दुस्तान में, और विदेशी शासन के अधीन हर देश में, शासन करनेवाली शक्ति के ख़िलाफ़ हमेशा एक गुप्त चुनौती रहती है और समय-समय पर वह अधिक प्रकट और तेज़ होती रहती है। इस चुनौती से शासकवर्ग में हमेशा फौजी गुण और दोष पैदा हो जाया करते हैं। पिछले कुछ सालों में हिन्दुस्तान में हमें इन फौजी गुण-दोषों का दृश्य बहुत ही ज़्यादा अंश में देखने को मिला, क्योंकि हमारी चुनौती ज़ोरदार और कारगर हो गई थी। लेकिन हिन्दुस्तान में हमें तो हमेशा ही फौजी मनोवृत्ति (या उसके अभाव) को सहन करना पड़ता है। साम्राज्य की स्थापना का यह एक नतीजा है और इससे दोनों पक्षों का पतन होता है। हिन्दुस्तान का पतन तो साफ़ दीखता ही है, लेकिन दूसरे पक्ष का ज़्यादा सूक्ष्म है; संकट-काल में वह प्रकट हो जाता है। और एक तीसरा पक्ष भी है, जिसे बदक़िस्मती से दोनों तरह का पतन भोगना पड़ता है।

जेल में मुझे ऊंचे-ऊंचे अफ़सरों के भाषण, असेम्बली और कौंसिलों में उनके

जवाब और सरकारी बयान पढ़ने की काफ़ी फ़ुरसत मिली। पिछले तीन सालों में, मैंने देखा कि उनमें एक स्पष्ट तब्दीली हो रही है, और यह तब्दीली अधिकाधिक प्रकट होती गई है। उनमें डराने और धमकाने का रुख़ ज़्यादा-से-ज़्यादा बढ़ता गया है और वह रुख ऐसा हो गया था मानों कोई सार्जेण्ट-मेजर अपने मातहतों से बोल रहा हो। इसकी एक ध्यान देने योग्य मिसाल थी, नवम्बर या दिसम्बर १९३३ में, शायद बंगाल के मिदनापुर डिवीज़न के कमिश्नर का भाषण। इन सारे भाषणों में "पराजितों का सत्यानाश हो! हम विजयी हैं, हम जो चाहें सो करेंगे" की भावना लगातार रहती थी। ग़ैर-सरकारी यूरोपियन तो, ख़ासकर बंगाल में, सरकारी लोगों से भी आगे बढ़ जाते हैं और अपने भाषणों और कार्यों, दोनों में उन्होंने बहुत निश्चित फ़ासिस्ट मनोवृत्ति दिखलाई है।

इसके भी अलावा, पाशविकता की एक और नंगी मिसाल थी, हाल में ही सिन्ध में कुछ अपराधी पाये गए व्यक्तियों को खुले तौर पर फांसी देना। क्योंकि सिन्ध में जुर्म बढ़ रहे थे, इसलिए अधिकारियों ने तय किया कि इन मुज़रिमों को सबके सामने फांसी दी जाय, ताकि दूसरों पर भी इसका आतंक छा जाय। इस भयंकर दृश्य को आकर देखने के लिए पब्लिक को हर तरह की सहूलियतें दी गईं और, कहा जाता है कि, इसे देखने कई हज़ार लोग गए भी थे।

तो जेल से रिहा होने के बाद, मैंने हिन्दुस्तान की राजनैतिक और आर्थिक परिस्थितियों का अध्ययन किया और मुझे उन्हें देखकर ज़रा भी उत्साह नहीं मालूम हुआ। मेरे कई साथी जेल में थे, नई गिरफ़्तारियां जारी थीं, सारे आर्डिनेंस अमल में आ रहे थे, सेंसर से अख़बारों का गला घुटा हुआ था और हमारे पत्र-व्यवहार की व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो गई थी। मेरे एक साथी रफ़ी अहमद किदवई को अपने पत्रों के बुरी तरह सेंसर किये जाने पर बड़ा गुस्सा आया। उनके ख़त रोक लिये जाते थे, देर से आते थे या गुम हो जाते थे और इससे उनके काम-काज में बड़ी रुकावट हो जाती थी। वह सेंसर से अपने पत्रों के बारे में ज़्यादा अहतियात से काम लेने की अपील करना चाहते थे, लेकिन वह लिखते किसको? सेंसर करनेवाला कोई सार्वजनिक अधिकारी नहीं था। शायद वह कोई सी० आई० डी० अफ़सर था, जो अपना काम गुप्तरूप से करता था, जिसका अस्तित्व और कार्य प्रकट रूप से मंजूर भी नहीं किया गया था। रफ़ी अहमद ने इस मुश्किल को ख़ास तरह हल किया। उन्होंने 'सेंसर' के नाम एक ख़त लिखा, लेकिन उस पर

ख़ुद अपना पता लिखकर डाक में डाल दिया। निश्चय ही ख़त अपने ठीक मुकाम पर पहुंच गया और बाद में रफ़ी अहमद के पत्र-व्यवहार के बारे में कुछ सुधार हो गया।

मैं फिर जेल नहीं जाना चाहता था। उससे मेरा मन काफ़ी भर गया था। लेकिन मुझे यह नहीं सूझता था कि मै उससे कैसे बच सकता था, जबतक कि मैं सब तरह की राजनैतिक प्रवृत्तियां ही न छोड़ दूं। ऐसा करने का तो मेरा इरादा नहीं था, इसलिए मुझे लगा कि मुझे सरकार के संघर्ष में आना ही पड़ेगा। किसी वक़्त भी मुझको ऐसा हुक्म मिल सकता था कि मैं कोई ख़ास काम न करूं, और मेरी सारी प्रकृति किसी ख़ास काम के लिए मजबूर किये जाने के ख़िलाफ़ बग़ावत किया करती है। हिंदुस्तान के लोगों को डराने और दबाने की कोशिश की जा रही थी। मैं लाचार था और बड़े क्षेत्र में कुछ नहीं कर सकता था, लेकिन कम-से-कम मैं व्यक्तिगत रूप से डराये और दबाये जाने से इन्कार तो कर ही सकता था।

वापस जेल जाने से पहले मैं कुछ कामों को निपटा डालना भी चाहता था। सबसे पहले तो मुझे अपनी मां की बीमारी की तरफ़ ध्यान देना था। उनकी हालत बहुत धीरे-धीरे सुधर रही थी; इतनी धीरे कि कोई एक साल तक वह चारपाई पर ही रहीं। मै गांधीजी से भी मिलने को उत्सुक था, जो कि पूना में अपने हाल के ही उपवास से स्वास्थ्य-लाभ कर रहे थे। दो साल से ज्यादा हुए, मैं उनसे नहीं मिला था। मैं अपने सूबे के अधिक-से-अधिक साथियों से भी मिलना चाहता था, ताकि उनसे न सिर्फ़ हिन्दुस्तान की मौजूदा राजनैतिक स्थिति पर ही, बल्कि संसार की परिस्थिति पर, और उन सब विचारों पर भी बातचीत करूं, जो मेरे दिमाग़ में भरे हुए थे। उस वक़्त मेरा ख़याल था कि दुनिया बड़ी तेज़ी से एक महान् राजनैतिक और आर्थिक विपत्ति की तरफ़ जा रही है और अपने राष्ट्रीय कार्यक्रमों को बनाते वक़्त हमें इसका ध्यान रखना चाहिए।

अपने घरू मामलों की तरफ़ भी मुझे ध्यान देना था। अभी तक मैंने उनकी तरफ़ बिलकुल ध्यान नहीं दिया था और पिताजी की मृत्यु के बाद मैंने उनके काग़ज़-पत्रों की देख-भाल भी नहीं की थी। हमने अपना ख़र्च बहुत कम कर दिया था, फिर भी वह हमारी शक्ति से बहुत अधिक था। लेकिन हम जबतक उस मकान में रहते हैं, तबतक उसे और कम करना मुश्किल था। हम मोटर नहीं रख रहे थे, क्योंकि उसका ख़र्च हम उठा नहीं सकते थे, और एक सबब

यह भी कि सरकार उसे कभी भी ज़ब्त कर सकती थी। इन आर्थिक कठिनाइयों के बीच, मेरे पास आर्थिक सहायता मांगनेवाले बहुत पत्र आते थे, जिनसे मेरा ध्यान उधर भी खिच जाता था। (सेंसर इन पत्रों का ढेर-का-ढेर मेरे पास भेज देता था।) एक बड़ा आम और ग़लत ख़याल, ख़ासकर दक्षिण भारत में, यह फैला हुआ था कि मैं कोई बड़ा धनी आदमी हूं।

मेरी रिहाई के बाद फ़ौरन ही मेरी छोटी बहिन कृष्णा की सगाई हो गई, और मै चिन्तित था कि जल्दी ही शादी हो जाय—मुझे फिर कहीं जेल न चला जाना पड़े, इस ख़याल से। कृष्णा ख़ुद भी एक साल तक जेल काटकर कुछ महीने पहले छूटी थी।

जैसे ही मां की बीमारी से मैंने छुट्टी पाई, मै गांधीजी से मिलने पूना चला गया। उनसे मिलकर और यह देखकर मुझे ख़ुशी हुई, कि हालांकि वह कमज़ोर थे, लेकिन वह अच्छी रफ़्तार से स्वास्थ्य-लाभ कर रहे थे। हमारे बीच लम्बी-लम्बी बातचीतें हुईं। यह साफ़ ज़ाहिर था कि जीवन, राजनीति और अर्थशास्त्र के हमारे दृष्टिकोणों में काफ़ी फ़र्क़ था; लेकिन मैं उनका कृतज्ञ हूं कि उनसे जहांतक बना, उन्होंने उदारतापूर्वक मेरे दृष्टिकोण के अधिक-से-अधिक नज़दीक आने की कोशिश की। हमारे पत्र-व्यवहार में, जो बाद में प्रकाशित भी हो गया था, मेरे दिमाग़ में भरे हुए कुछ अधिक व्यापक प्रश्नों पर विचार किया गया था, और हालांकि उनका ज़िक्र कुछ गोलमोल भाषा में हुआ था, लेकिन दृष्टिकोण का सामान्य भेद साफ़ दीखता था। मुझे ख़ुशी हुई कि गांधीजी ने यह घोषित कर दिया कि स्थापित स्वार्थों को हटा देना चाहिए, हालांकि उन्होंने इस बात पर ज़ोर दिया कि यह काम बल-प्रयोग से नहीं, बल्कि हृदय-परिवर्तन से होना चाहिए। चूंकि मेरे ख़याल से, उनके हृदय-परिवर्तन के कुछ तरीक़े नम्रता और विचार-पूर्ण बल-प्रयोग से अधिक भिन्न नहीं है, इसलिए मुझे मतभेद ज्यादा न लगा। उस वक़्त पहले की ही तरह, मेरी उनके विषय में यह धारणा थी कि यद्यपि वह गोलमोल सिद्धान्तों पर विचार नहीं किया करते, तो भी घटनाओं के तर्कपूर्ण परिणामों को देखकर, धीरे-धीरे वह आमूल सामाजिक परिवर्तन की अनिवार्यता को मान लेंगे। वह एक विचित्र व्यक्ति हैं। श्री० वेरियर एलविन के शब्दों में वह 'मध्यकालीन कैथलिक साधुओं के ढंग के आदमी हैं'—लेकिन साथ ही, वह एक व्यावहारिक नेता भी हैं और हिन्दुस्तान के किसानों की नब्ज़ हमेशा

उनके हाथ में रहती है। संकट-काल में वह किस दिशा में मुड़ जायंगे, यह कहना मुश्किल है; लेकिन दिशा कोई भी हो, उसका परिणाम ज़बरदस्त होगा। सम्भव है कि हमारे विचार से वह ग़लत रास्ते जायं, लेकिन हमेशा वह रास्ता सीधा ही होगा। उनके साथ काम करना तो अच्छा ही था, लेकिन अगर आवश्यकता हो, तो अलग-अलग रास्तों से भी जाना पड़ेगा।

उस वक़्त मेरा ख़याल था कि अभी तो यह सवाल नहीं उठता। हम अपनी राष्ट्रीय लड़ाई के बीच थे। अभीतक सविनय-भंग ही सिद्धान्ततः कांग्रेस का कार्यक्रम था, हालांकि व्यक्तियों तक ही उसकी सीमा बांध दी गई थी। हम अपना काम जारी रखें और साथ ही समाजवादी विचार लोगों में और ख़ासकर राजनैतिक दृष्टि से अधिक जाग्रत कांग्रेसी कार्यकर्ताओं में फैलाने की कोशिश करें, ताकि जब नीति की घोषणा का दूसरा मौक़ा आवे तो हम काफ़ी आगे कदम बढ़ाने को तैयार मिलें। इस बीच कांग्रेस तो ग़ैर-क़ानूनी संगठन थी ही, और ब्रिटिश सरकार उसे कुचलने की कोशिश कर रही थी। हमें उस हमले का सामना करना था।

गांधीजी के सामने जो ख़ास समस्या थी वह थी व्यक्तिगत। उन्हें ख़ुद क्या करना चाहिए! वह बड़ी उलझन में थे। अगर वह फिर जेल गए, तो हरिजन-कार्य की सहूलियतों का वही सवाल फिर उठेगा, और बहुत मुमकिन था कि सरकार न झुके और वह फिर उपवास करें। तो क्या वही सारा क्रम फिर दोहराया जायगा ? ऐसी चूहे-बिल्ली वाली नीति के सामने उन्होंने झुकने से इन्कार कर दिया, और कहा "अगर मुझे उन सहूलियतों के लिए उपवास करना पड़ा, तो रिहा कर दिये जाने पर भी मैं उपवास जारी रक्खूंगा।" इसका अर्थ था आमरण उपवास।

दूसरा रास्ता उनके सामने यह था कि वह अपनी सज़ा की मियाद तक (जिसमें से अभी साढ़े दस महीने बाक़ी थे) अपनी गिरफ़्तारी न करवायें और सिर्फ़ हरिजन-कार्य में ही अपने-आपको लगा दें; लेकिन साथ ही, उनका कांग्रेस-कार्यकर्त्ताओं से मिलते रहना, और जब ज़रूरत हो तब उन्हें सलाह भी देना, ज़रूरी ही था।

उन्होंने मुझे एक तीसरा रास्ता भी सुझाया कि वह कुछ अरसे के लिए कांग्रेस से बिलकुल अलग हो जायं और उसे (उनके ही शब्दों में) 'नई पीढ़ी' के हाथों में छोड़ दें।

पहले रास्ते की, जिसका अन्त उपवास-द्वारा प्राणान्त कर देना मालूम होता था, हममें से कोई भी सिफारिश नहीं कर सकता था। तीसरा रास्ता भी, जबकि कांग्रेस एक ग़ैरक़ानूनी संस्था थी, ठीक मालूम नहीं हुआ। इस रास्ते का नतीजा यह होता कि सविनय-भंग और सब तरह की 'सीधी लड़ाई' फ़ौरन वापस ले ली जाती और फिर क़ानूनी और वैध प्रवृत्ति पर लौटना पड़ता या कांग्रेस ग़ैर-क़ानूनी होकर और सबसे, अब तो गांधीजी तक से, विलग होकर सरकार-द्वारा और भी ज्यादा कुचली जाती। इसके अलावा, एक ग़ैर-क़ानूनी संस्था पर, जो मीटिंग करके किसी नीति पर विचार नहीं कर सकती थी, किसी दल का क़ब्ज़ा कर लेने का कोई सवाल ही नहीं उठता था। इस तरह और रास्तों को छोड़ते हुए हम उनके सुझाये दूसरे उपाय पर आ गए। हममें से ज्यादातर लोग उसे नापसन्द करते थे और हम जानते थे कि उससे बचे-खुचे सविनय-भंग को एक भारी आघात पहुंचेगा। अगर नेता ही लड़ाई में से हट जायगा, तो यह सम्भव नहीं था कि उत्साही कांग्रेसी कार्यकर्ता लोग आग में कूद पड़ेंगे; लेकिन उलझन में से निकलने का और कोई रास्ता ही न था, और इसीके अनुसार गांधीजी ने अपनी घोषणा कर दी।

गांधीजी और मैं, दोनों इस बात पर सहमत थे, हालांकि हमारे कारण अलग-अलग थे, कि सविनय-भंग को वापस लेने का अभी वक्त नहीं आया है और चाहे आन्दोलन धीरे-धीरे चले, लेकिन उसे जारी रखना ही चाहिए। और, कुछ भी हो, मैं लोगों का ध्यान समाजवादी सिद्धान्तों और संसार की परिस्थिति की ओर भी खींचना चाहता था।

लौटते हुए मैंने कुछ दिन बम्बई में बिताये। ख़ुशक़िस्मती से उदयशंकर उन दिनों वहीं थे। मैंने उनका नृत्य देखा। मैंने इस मनोरंजन से, जिसका पहले से कोई खयाल नहीं था, बड़ा आनन्द उठाया। नाटक, संगीत, सिनेमा, टॉकी, रेडियो, ब्राडकास्टिंग—यह सब पिछले कई वर्षों से मेरी पहुंच के बाहर थे; क्योंकि स्वतन्त्र रहने के वक्त भी मैं दूसरे कार्यों में बहुत ज्यादा लगा रहता था। अभी तक मैं सिर्फ़ एक बार ही टॉकी देख पाया हूं, और बड़े-बड़े अभिनेताओं के मैं सिर्फ़ नाम ही सुनता हूं। मुझे नाटक देखने का अभाव खास तौर पर अखरता है और विदेशों में नये-नये खेलों के तैयार होने का वर्णन मैं बड़े रश्क से पढ़ता रहता हूं। उत्तर हिन्दुस्तान में, जेल से बाहर होने की हालत में भी, अच्छे खेल देखने का कोई मौक़ा न था; क्योंकि मै मुश्किल से उनतक पहुंच पाता था। मेरा खयाल है

कि बंगाली, गुजराती और मराठी नाटक-साहित्य ने कुछ प्रगति की है, लेकिन हिन्दुस्तानी रंगमंच ने—जो कि निहायत भद्दा और कलाहीन है, या था—क्योंकि मुझे हाल की प्रगति का हाल नहीं मालूम—कुछ भी प्रगति नहीं की। मैंने यह भी सुना है कि हिन्दुस्तानी फ़िल्म, मूक और सवाक, दोनों में कला का प्रायः अभाव ही रहता है। उनमें आम तौर पर सुरीले गानों या ग़ज़लों की ही प्रधानता रहती है और उनका कथा-भाग हिन्दुस्तान के पुराने इतिहास या पुराणों में से लिया होता है।

मेरे खयाल से, उनमें वह सब चीज़ मिल जाती है जिसकी शहर के लोग क़द्र करते हैं। इन भद्दे और दुःखदायी प्रदर्शनों में और देश में अब भी बचे-खुचे लोक-गीतों, नृत्यों और देहाती नाटकों तक की कला में अन्तर साफ़ दिखाई देता है। बंगाल में, गुजरात में और दक्षिण में कभी-कभी यह देखकर बड़ा आश्चर्य और आनन्द होता है, कि मूलतः, लेकिन अनजान में, देहात के लोग कितने कलामय हैं! लेकिन मध्यमवर्ग वालों का हाल ऐसा नहीं है। वे मानो अपनी जड़ों से टूट गए हैं, और उनके पास सौन्दर्य या कला की कोई परम्परा नहीं रही है, जिससे वे चिपके रहें। वे जर्मनी और आस्ट्रिया में बहुतायत से बने हुए सस्ते और बीभत्स चित्रों को रखने में ही अपनी शान समझते हैं, और ज्यादा किया तो कभी-कभी रविवर्मा के चित्र रख लेते हैं। संगीत में उनका प्यारा बाजा हारमोनियम है। (मुझे आशा है कि स्वराज-सरकार के प्रारम्भिक कामों में एक यह भी होगा कि वह इस भयानक वाद्य पर प्रतिबन्ध लगा दे।) लेकिन दुःखदायी भद्देपन और कला के सब सिद्धान्तों की अवहेलना की पराकाष्ठा तो शायद लखनऊ और दूसरी जगह के बड़े-बड़े ताल्लुक़ेदारों के घरों में दिखाई देती है। उनके पास खर्च करने को पैसा होता है और दिखावे की इच्छा; और वे ऐसा ही करते भी हैं। जो लोग उनके यहां जाते हैं, उन्हें उनकी इस इच्छा-पूर्ति का दुःखी गवाह बनना पड़ता है।

हाल में ही प्रतिभाशाली ठाकुर-परिवार के नेतृत्व में कुछ कला-जागृति हुई है और उसका प्रभाव सारे हिन्दुस्तान पर दिखाई देता है; लेकिन जबकि देश के लोगों पर तरह-तरह की रुकावटें और बन्धन हैं, उन्हें दबाया जाता है और वे आतंक के वातावरण में रहते हैं, तब कोई भी कला किसी बड़े पैमाने पर कैसे फल-फूल सकती है!

बम्बई में मैं कई दोस्तों और साथियों से मिला, जिनमें से कुछ तो हाल में ही जेल से निकले थे। समाजवादी लोगों की तादाद वहां ज़्यादा थी और कांग्रेस के ऊंचे हल्कों में जो हाल में घटनाएं घटी थीं उनपर उन्हें बड़ा रोष था। गांधीजी राजनीति में जो आध्यात्मिक दृष्टिकोण लगाया करते थे, उसकी सख़्त आलोचना हो रही थी। अधिकांश आलोचना से मैं सहमत था, लेकिन मेरी साफ़ राय थी कि हमारी उस वक्त की परिस्थिति में और कोई चारा न था और हमें अपना काम जारी ही रखना था। सविनय-भंग को वापस लेने की कोशिश भी की जाती, तो उसमें भी कोई राहत न मिलती; क्योंकि सरकार का आक्रमण तो जारी रहता और कुछ भी कारगर काम किया जाता तो उसका नतीजा जेलख़ाना ही होता। हमारा राष्ट्रीय आन्दोलन ऐसी हालत में पहुंच गया था कि सरकार को उसे दबा ही देना पड़ता; वरना ब्रिटिश सरकार को हमारी इच्छा माननी पड़ती। इसके मानी यह थे कि वह ऐसी हालत में आ गया था कि जब उसका हमेशा ही ग़ैर-क़ानूनी क़रार दिया जाना मुमकिन था और आन्दोलन, चाहे सविनय-भंग भी बन्द कर दिया जाय तो भी, अब पीछे नहीं जा सकता था। असल में, सविनय-भंग के जारी रहने से कोई फ़र्क नहीं पड़ता था, असली महत्त्व नैतिक विरोध का था। लड़ाई के बीच नये विचारों का फैलाना उस वक्त की बनिस्बत आसान था, जबकि लड़ाई बन्द कर दी गई हो और लोगों का हौसला पस्त पड़ने लगा हो। लड़ाई के अलावा दूसरा रास्ता सिर्फ यही था कि ब्रिटिश ताक़त के साथ समझौते की मनोवृत्ति रक्खी जाय और कौंसिलों में जाकर वैध काम किया जाय।

वह एक कठिन स्थिति थी, लेकिन कोई भी रास्ता ढूंढ़ना आसान न था। अपने साथियों के मानसिक संघर्ष को मैं समझ सकता था, क्योंकि ख़ुद मुझे भी उसका सामना करना पड़ा था। लेकिन, जैसा कि हिन्दुस्तान में दूसरी जगह भी पाया गया है, वहां मुझे ऐसे भी लोग दिखाई दिये, जो ऊंचे समाजवादी सिद्धान्त के बहाने कुछ भी नहीं करना चाहते थे। इस बात से मुझे कुछ चिढ़ होती थी कि जो लोग ख़ुद कुछ न करें, वे उन दूसरे लोगों को, जिन्होंने सब प्रकार के कष्ट सहते हुए लड़ाई का सारा भार उठाया, प्रतिगामी बताकर उनकी आलोचना करें। ये आरामकुरसी वाले समाजवादी लोग गांधीजी पर ख़ास तौर पर जोर का वार करते हुए उन्हें प्रतिगामियों का सिरताज बताते हैं और ऐसी-ऐसी दलीलें देते हैं, जिनमें तर्क की दृष्टि से कोई कसर नहीं रहती है; लेकिन सीधी सी बात तो यह

है कि यह 'प्रतिगामी' व्यक्ति हिन्दुस्तान को जानता और समझता है और किसान-हिन्दुस्तान का क़रीब-क़रीब मूर्तिमान् स्वरूप बन गया है और इसने इस तरह हिन्दुस्तान को हिला दिया है जैसा क्रान्तिकारी कहे जानेवाले किसी भी व्यक्ति ने नहीं किया है। उनके सबसे ताज़े हरिजन-सम्बन्धी कार्यों ने भी, हलके-हलके, लेकिन अबाध रूप से, हिन्दू कट्टरता कम कर दी है और उसकी बुनियाद हिला दी है। सारे कट्टर-पंथी लोग उनके ख़िलाफ़ उठ खड़े हुए हैं और उन्हें सबसे ख़तरनाक दुश्मन समझते हैं, हालांकि वह उनके साथ सोलहों आना शिष्टता और सौजन्य का ही व्यवहार करते हैं। अपने ख़ास ढंग से ज़बरदस्त ताक़तों को जागृत कर देने का उनमें स्वाभावसिद्ध गुण है, जो कि पानी की लहरों की तरह चारों ओर फैल जाती हैं और लाखों आदमियों पर अपना असर डालती हैं। चाहे वह प्रति-गामी हों या क्रांतिकारी, उन्होंने हिन्दुस्तान का स्वरूप बदल दिया है। उस जनता में, जो हमेशा हाथ जोड़ती और डरती रहती थी, स्वाभिमान और चरित्र-बल भर दिया है। उन्होंने आम लोगों में शक्ति और चेतना पैदा की है और हिन्दुस्तान की समस्या संसार की समस्या बना दी है। इस बात को दूर रखते हुए कि अहिंसा-त्मक असहयोग या सविनय-भंग के आध्यात्मिक परिणाम क्या-क्या हैं, यह सही है कि वह हिन्दुस्तान और संसार के लिए उनकी एक अद्वितीय और शक्तिशाली देन है; और इसमें कोई शक नहीं हो सकता कि वह हिन्दुस्तान की परिस्थिति के लिए ख़ास तौर पर उपयुक्त सिद्ध हुआ है।

मेरे ख़याल से यह ठीक है कि हम सच्ची आलोचना को प्रोत्साहित करें और अपनी समस्याओं पर जितना भी सार्वजनिक वाद-विवाद कर सकें, करें। दुर्भाग्य से गांधीजी की सर्वोपरि स्थिति के कारण भी किसी हद तक इस प्रकार के वाद-विवाद में रुकावट पड़ गई है। उनके ऊपर अवलम्बित रहने और निर्णय का काम उन्हीं पर छोड़ देने की प्रवृत्ति हमेशा रही है। स्पष्टतः यह ग़लत बात है; राष्ट्र तो उद्देश्यों और साधनों को बुद्धिपूर्वक ग्रहण करके ही आगे बढ़ सकता है; और जब इन्हींके आधार पर, न कि अन्ध-आज्ञा-पालन पर, सहयोग और अनुशासन स्थापित होगा, तभी देश की प्रगति होगी। कोई व्यक्ति कितना भी बड़ा क्यों न हो, आलो-चना से परे नहीं होना चाहिए; लेकिन जब आलोचना निष्क्रियता का आश्रय-रूप बन जाती है, तो उसमें कुछ-न-कुछ बिगाड़ समझना चाहिए। इस प्रकार की आलोचनाएं करने पर समाजवादी लोग जनता की निन्दा के पात्र बन जायंगे,

क्योंकि जनता तो काम से आदमी की परख करती है। लेनिन ने कहा है कि "जो आदमी भविष्य के आसान कामों के स्वप्नों के ऊपर वर्तमान के कठिन कामों को करना छोड़ देता है, वह अवसरवादी बन जाता है। सिद्धान्त-रूप से इसका तात्पर्य है असली वास्तविक जीवन में इस समय होनेवाली घटनाओं पर अपना आधार रखने में विफल होना, और स्वप्नों के नाम पर उनसे अलग पड़ जाना।"

हिन्दुस्तान के समाजवादी और कम्युनिस्ट लोग अपने विचार अधिकतर औद्योगिक मज़दूर-वर्ग-सम्बन्धी साहित्य से बनाते हैं। कुछ ख़ास हलकों में, जैसे बम्बई या कलकत्ते के पास, कारख़ानों के मज़दूर बड़ी तादाद में हैं, लेकिन हिन्दुस्तान का बाक़ी हिस्सा तो किसानों का ही है और कारख़ानों के मज़दूरों के दृष्टिकोण से हिन्दुस्तान की समस्या का कारगर हल नहीं मिल सकता। यहां तो राष्ट्रीयता और ग्रामीण सुव्यवस्था ही सबसे बड़े सवाल हैं और यूरोप के समाजवाद का इनसे शायद ही कुछ सम्बन्ध हो। रूस में महायुद्ध से पहले की हालत हिन्दुस्तान से बहुत-कुछ मिलती-जुलती थी; मगर वहां तो बहुत ही असाधारण घटनाएं हो गईं, और वैसी ही घटनाएं फिर दूसरी जगह होंगी; यह उम्मीद करना बेवक़ूफ़ी होगी। लेकिन इतना मैं ज़रूर जानता हूं कि कम्युनिज़म के तत्त्वज्ञान से किसी भी देश की मौजूदा परिस्थिति को समझने और उसका विश्लेषण करने में मदद मिलती है और आगे प्रगति का रास्ता मालूम होता है; लेकिन उस तत्त्वज्ञान के साथ यह ज़बरदस्ती और बेइन्साफ़ी होगी कि उसे वस्तुस्थिति और परिस्थिति का मुनासिब ख़याल न रखते हुए आंख मूंदकर हर जगह लागू कर दिया जाय।

कुछ भी हो, जीवन एक बड़ी जटिल समस्या है और जीवन के संघर्षों और विरोधों से कभी-कभी आदमी निराश-सा हो जाता है। इसमे कोई ताज्जुब की बात नहीं कि लोगों में मतभेद पैदा हो जाय या वे साथी, जो समस्याओं को एक ही दृष्टिकोण से देखते हैं, अलग-अलग नतीजों पर पहुंचें; लेकिन वह आदमी, जो अपनी कमज़ोरी को बड़े-बड़े वाक्यों और ऊंचे-ऊंचे उसूलों के पर्दे में छिपाता है, ज़रूर सन्देह का पात्र बन सकता है। जो शख़्स सरकार को इक़रारनामे और वादे लिखकर या और किसी सन्देहास्पद व्यवहार से जेल जाने से अपने-आपको बचाता है और फिर दूसरों की आलोचना करने का दुःसाहस करता है, वह अपने कार्य को नुकसान पहुंचाने की सम्भावना पैदा करता है।

बम्बई बड़ा शहर है और उसमें सब जगह के और सब तरह के लोग रहते हैं।

लेकिन एक प्रमुख नागरिक ने तो अपने राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक और धार्मिक दृष्टिकोण में बड़ी मार्के की सर्वग्रहणशीलता दिखाई। मज़दूर की हैसियत से वह समाजवादी थे; राजनीति में वह आमतौर पर अपने को डिमोक्रेट (लोकतन्त्र-वादी) कहते थे; हिन्दू-सभा भी उन्हें बहुत चाहती थी। उन्होंने वादा किया कि मैं पुराने धार्मिक और सामाजिक रीति-रिवाजों की रक्षा करूंगा और उनमें कौंसिल को दखल न देने दूंगा; मगर चुनाव के वक्त वह सनातनियों की तरफ़ से उम्मीद-वार हुए, जो कि प्राचीनता के महान् पुजारी हैं। इस विविध और सतत परिवर्तन-शील प्रवृत्तियों से भी जब वह न थके, तो उन्होंने अपनी शेष शक्ति कांग्रेस की आलोचना करने और गांधीजी को प्रतिगामी बताने में लगाई। कुछ और लोगों के सहयोग से उन्होंने कांग्रेस डिमोक्रेटिक (लोकतन्त्रात्मक) पार्टी खड़ी की, जिसका लोकतन्त्रवाद से कोई भी ताल्लुक़ न था और जो कांग्रेस से इतना ही सम्बन्ध रखती थी कि उस महान संस्था पर दोषारोपण करे। और भी नये-नये क्षेत्रों में विजयी होने की आकांक्षा से, वह मजदूरों के प्रतिनिधि बनकर जेनेवा मज़दूर-कान्फ्रेंस में भी शरीक हुए। इससे किसीके मन में यह ख़याल हो सकता है कि शायद वह इंग्लैंड की परम्परा पर हिन्दुस्तान की 'राष्ट्रीय' सरकार के प्रधान मन्त्री बनने की योग्यता प्राप्त कर रहे हैं।

इतने भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों और कार्यों का अनुभव बहुत ही थोड़े लोगों को होगा। फिर भी कांग्रेस के समालोचकों में ऐसे कई लोग थे, जिन्होंने भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में प्रयोग किया था, और जो हर जगह अपनी टांग अड़ाते थे। इनमें से कुछ लोग अपने-आपको समाजवादी कहते थे; उनके कारण समाजवाद उलटा बदनाम होता था।

: ५१ :

लिबरल दृष्टिकोण

गांधीजी से मिलने जब मैं पूना गया था, तो एक दिन शाम को मैं उनके साथ 'सर्वेण्ट्स आफ़ इण्डिया सोसाइटी' के भवन में चला गया। क़रीब एक घण्टे तक सोसाइटी के कुछ सदस्य उनसे राजनैतिक मामलों पर सवाल करते रहे और वह उनका जवाब देते रहे। न तो उस वक्त वहां श्री श्रीनिवास शास्त्री थे और न पण्डित हृदयनाथ कुंजरू ही, जो शायद बाक़ी के सदस्यों में सबसे ज़्यादा क़ाबिल हैं; लेकिन दूसरे कुछ सीनियर मेम्बर मौजूद थे। हममें से कुछ लोग, जो उस वक्त वहां उपस्थित थे, बड़े अचरज से सब-कुछ सुनते रहे; क्योंकि सवाल बिलकुल ही छोटी-छोटी घटनाओं के बारे में पूछे जा रहे थे। वे ज़्यादातर गांधीजी की वाइसराय से मुलाक़ात की पुरानी दरख्वास्त और वाइसराय के इन्कार के बारे में थे। क्या ऐसे समय में जबकि ख़ुद उनका ही देश आज़ादी की अच्छी करारी लड़ाई लड़ रहा था और सैकड़ों संस्थाएं ग़ैर-कानूनी क़रार दी जा रही थीं, अनेक समस्याओं से भरी हुई दुनिया में यही एक विषय उनकी चर्चा के लिए रह गया था? किसान नाज़ुक वक्त से गुज़र रहे थे और औद्योगिक मन्दी चल रही थी, जिससे कि व्यापक बेकारी फैल रही थी; बंगाल, सीमा-प्रान्त और हिन्दुस्तान के दूसरे हिस्सों में भयंकर घटनाएं घट रही थीं; विचार, भाषण, लेखन और सभाओं की स्वतन्त्रता दबाई जा रही थी और दूसरी भी कई राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याएं मौजूद थीं। लेकिन सवाल सिर्फ़ महत्त्वशून्य घटनाओं तथा, यदि गांधीजी वाइसराय से मिलना चाहें तो वाइसराय और भारत-सरकार पर इसकी क्या प्रतिक्रिया होगी, तक सीमित रहे।

मुझे बड़े जोरों से कुछ ऐसा महसूस होने लगा मानो मैं किसी धर्म-मठ में आ घुसा हूं, जिसके निवासियों का अरसे से बाहरी दुनिया के साथ किसी तरह का कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं रहा है। फिर भी हमारे वे दोस्त क्रियाशील राजनीतिज्ञ थे, और उनके साथ सार्वजनिक सेवा और कुर्बानी की लम्बी सूची जुड़ी थी। वे तथा

कुछ और लोग लिबरल पार्टी के मेरुदंड थे। पार्टी के बाक़ी लोग तो अस्पष्ट विचारों वाले चित्र-विचित्र आदमी थे, जो राजनीतिक हलचल में भाग लेने की अनुभूति का कभी-कदास उपभोग कर लेना चाहते थे। इनमें से कुछ लोग तो ख़ासकर बम्बई और मद्रास में—ऐसे थे, जिनमें और सरकारी अधिकारियों में फ़र्क़ ही नज़र नहीं आता था।

जिस तरह का प्रश्न एक देश पूछा करता है, उसी हद तक उसकी राजनैतिक प्रगति मालूम होती है। अक्सर उस देश की नाकामयाबी का कारण भी यही होता है कि उसने अपने-आपसे ठीक तरह का सवाल नहीं पूछा। जिस हदतक हम कौंसिलों की सीटों के बंटवारे पर अपना वक़्त, अपनी ताक़त और अपना मिज़ाज बिगाड़ा करते हैं, या जिस हदतक हम साम्प्रदायिक निर्णय पर पार्टियां बनाया करते हैं और उसपर फ़िज़ूल का इतना वाद-विवाद करते हैं कि उससे ज़रूरी सवाल ही छूट जाते हैं, उसी हदतक हमारी पिछड़ी हुई राजनैतिक हालत मालूम हो जाती है। इसी तरह उस दिन गांधीजी से 'सवण्ट्स आफ़ इण्डिया सोसाइटी' के भवन में जो-जो सवाल पूछे गए थे, उनमें उस सोसायटी और लिबरल-पार्टी की अजीब मनोदशा प्रतिबिम्बित होती थी। ऐसा मालूम होता था कि उनके न तो कोई राजनैतिक या आर्थिक सिद्धान्त हैं, न कोई व्यापक दृष्टि है। उनकी राजनीति तो रईसों के दीवानखानों या दरबारों की-सी चीज़ दिखाई देती थी। मानो उनकी यही जानने की इच्छा रहा करती थी कि हमारे उच्च अधिकारी क्या करेंगे, या क्या नहीं करेंगे।

'लिबरल-पार्टी' नाम से धोखा हो सकता है। दूसरे मुल्कों में और ख़ास-कर इंग्लैंड में, इस शब्द से एक खास आर्थिक नीति का—मुक्त व्यापार आदि—और व्यक्तिगत आज़ादी तथा नागरिक स्वतन्त्रताओं के एक ख़ास आदर्शवाद का मतलब समझा जाता था। इंग्लैंड की लिबरल-परम्परा की बुनियाद आर्थिक थी। व्यापार में आज़ादी और राजा के एकाधिकारों और मनमाने टैक्सों से छुटकारा मिलने की इच्छा से ही राजनैतिक स्वतन्त्रता की ख़्वाहिश पैदा हुई। मगर हमारे हिन्दुस्तान के लिबरलों का ऐसा कोई आधार नहीं है। मुक्त व्यापार में उनका विश्वास नहीं; क्योंकि वे क़रीब-क़रीब सभी संरक्षणवादी हैं और जैसा कि हाल की घटनाओं ने बता दिया है, वे नागरिक स्वतन्त्रताओं का भी कोई महत्त्व नहीं समझते। अर्ध-मांडलिक और एकतन्त्री देशी रियासतों से उनका

गहरा सम्बन्ध और सामान्य-रूप से समर्थन साबित करता है कि वे यूरोपियन ढंग के लिबरलों से बहुत भिन्न हैं। सचमुच हिन्दुस्तान के लिबरल किसी मानी में भी लिबरल नहीं हैं, या वे सिर्फ़ दिखावे के लिबरल हैं। वे ठीक-ठीक क्या हैं, यह कहना मुश्किल है। उनके विचारों का कोई एक दृढ़ निश्चित आधार नहीं है; और हालांकि उनकी तादाद थोड़ी ही है, लेकिन आपस में भी उनके विचार जुदा-जुदा हैं। वे नकारात्मक रूप में ही दृढ़ता दिखाते हैं। हर जगह उन्हें ग़लती-ही-ग़लती दिखाई देती है। उससे बचने की वे कोशिश करते रहते हैं और आशा यह करते हैं कि इसी तरह वे सचाई को हासिल कर लेंगे। उनकी निगाह में सचाई सिर्फ़ दो पराकाष्ठाओं के बीच ही हुआ करती है। हर ऐसी चीज़ की निन्दा करके, जिसे वे पराकाष्ठा मानते हैं, वे समझते हैं कि वे निष्ठावान, मध्यम-मार्गी और नेक आदमी हैं। इस तरीके से वे विचार करने के कष्ट-प्रद और कठिन कार्य से तथा रचनात्मक विचारों को पेश करने की आफ़त से बच जाते हैं। उनमें से कुछ लोग अस्पष्ट रूप से महसूस करते हैं कि पूंजीवाद यूरोप में पूरी तरह कामयाब नहीं हुआ है और संकट में पड़ा हुआ है, और दूसरी तरफ़, समाजवाद तो ज़ाहिरा तौर पर ही खराब है, क्योंकि उससे स्थापित स्वार्थों पर हमला होता है। शायद भविष्य में कोई रहस्यवादी हल, कोई मध्यम मार्ग मिल ही जायगा; इस बीच, स्थापित स्वार्थों की रक्षा होनी चाहिए। अगर इस बाबत बातचीत की जाय कि धरती चपटी है या गोल, तो शायद वह इन दोनों ही पराकाष्ठाओं के विचारों की निन्दा करेंगे और थोड़ी देर को यही सुझायेंगे कि वह शायद चौकोर या अण्डाकार होगी।

बहुत छोटे-छोटे और महत्त्वशून्य मामलों पर भी वे बहुत भड़क जाते हैं और इतना हो-हल्ला और शोर-गुल मचा देते हैं कि कुछ पूछिए नहीं। जान में या अनजान में वे मौलिक सवालों को हाथ नहीं लगाते; क्योंकि ऐसे सवालों के लिए तो मौलिक उपायों की, और साहसपूर्ण विचारों तथा कार्यक्रम की ज़रूरत होती है। इसलिए लिबरलों की विजय या पराजय का कोई नतीजा नहीं होता। उनका किसी सिद्धान्त से सम्बन्ध नहीं होता। इस पार्टी की बड़ी विशेषता और खास लक्षण, अगर उसे लक्षण कहा जा सके, यह है कि हर अच्छी और बुरी बात में नरम रहना। यही इनके जीवन का दृष्टिकोण है और इनका पुराना नाम—मॉडरेट—ही शायद सबसे ठीक था।

"मॉडरेट होने में ही हम फूले नहीं समाते हैं,
नरम गरम हमको कहते, औ' गरम नरम बतलाते है !"[1]

लेकिन मॉडरेट-वृत्ति कितनी भी प्रशंसनीय क्यों न हो, वह कोई तेजोमय गुण नहीं है। यह वृत्ति तेजहीनता पैदा करती है और इसलिए हिन्दुस्तान के लिबरल बदक़िस्मती से एक 'तेजहीन दल' बन गए हैं—वे चेहरे से गुरु-गम्भीर, लेखों और बातचीत में तेजोहीन और विनोदप्रियता से ख़ाली होते हैं। निश्चय ही इनमें कुछ अपवाद भी है और एक सबसे बड़े अपवाद हैं सर तेजबहादुर सप्रू; जिनका व्यक्तिगत जीवन निश्चय ही नीरस और विनोदरहित नहीं है, बल्कि वे अपने विरुद्ध किये गए मज़ाक में भी रस लेते हैं। लेकिन कुल मिलाकर लिबरल-दल मध्यम-वर्गशाही का साकार रूप है। इलाहाबाद के 'लीडर' ने, जो प्रमुख लिबरल अख़बार है, पिछले साल अपने एक अग्रलेख में लिबरल मनोवृत्ति को बहुत स्पष्टता से प्रकट कर दिया था। उसने बताया था कि बड़े और असाधारण लोगों ने दुनिया को हमेशा ही मुसीबतों में डाला है। इसलिए उसकी राय थी कि मामूली मध्यम दरजे के लोग ही ज्यादा अच्छे होते हैं। बड़े सुन्दर और साफ़ ढंग से इस अख़बार ने मध्यता के ऊपर अपना झंडा गाड़ दिया है।

'नरमी', रूढ़ि-प्रियता और ख़तरों तथा अचानक परिवर्तनों से बचने की इच्छा बुढ़ापे के अनिवार्य साथी हैं। ये बातें नौजवानों को बिलकुल शोभा नहीं देतीं। लेकिन हमारा तो देश भी पुरातन और बूढ़ा है; कभी-कभी इसके बच्चे भी कमज़ोर और थके हुए पैदा होते मालूम होते है और उनमें तेजहीनता और बुढ़ापे के चिह्न होते हैं। लेकिन परिवर्तन की शक्तियों से यह बूढ़ा देश भी अब हिल उठा है और नरम दृष्टिकोण रखनेवाले लोग घबरा-से गए हैं। पुरानी दुनिया गुज़र रही है, और लिबरल लोग कितनी भी योग्यता से बुद्धिमत्तापूर्ण काम करने की मीठी सलाह दें, उससे कोई फ़र्क नहीं पड़ता। तूफ़ान या बाढ़ या भूकम्प को समझा-बुझाकर कहीं रोका जा सकता है ! उनकी पुरानी धारणाएं काम नहीं देतीं और नये-नये तरह के विचार और काम करने की उनमें हिम्मत नहीं। यूरोपियन परम्परा के बारे में डाक्टर ए० एन० ह्वाइटहेड कहते हैं—"यह सारी परम्परा इस दूषित धारणा में पड़ी है कि हर पीढ़ी बहुत-कुछ उन्हीं परिस्थितियों

[1] अलैक्ज़ेण्डर पोप के अंग्रेजी पद्य का भावानुवाद।

में जीवन बितायेगी, जिनमें उनके पुरखों के जीवन का निर्माण हुआ था, और वही परिस्थितियां आगे भी उतने ही बल से उनकी सन्तानों का जीवन-निर्माण करेंगी। हम मनुष्य-जाति के इतिहास में ऐसे प्रथम युग में रह रहे हैं, जिसके लिए यह धारणा बिलकुल ग़लत है।" डा० ह्वाइटहेड ने भी अपने इस विश्लेषण में थोड़ी नरमी दिखलाने की ग़लती की है, क्योंकि शायद वह धारणा हमेशा ही ग़लत रही है। अगर यूरोप की परम्परा रूढ़िवादी रही है, तो हमारी परम्परा तो और भी अधिक रही है। लेकिन जब परिवर्तन का युग आता है तब इतिहास इन परम्पराओं की तरफ़ ज़रा भी ध्यान नहीं देता। हम लाचारी से देखते रह जाते हैं और अपनी योजनाओं की असफलताओं का दोष दूसरों के मत्थे मढ़ देते हैं। और जैसा कि श्री जेराल्ड हर्ड बतलाते है, "सबसे विनाशकारी भ्रम यही है, कि मनुष्य दिल में यह मान बैठे कि उसकी योजना उसकी विचार-पद्धति की ग़लती से नहीं, बल्कि किसी दूसरे के जानबूझकर बाधा डालने से असफल हुई है।"

इस भयंकर भ्रम के शिकार हम सभी है। मैं कभी-कभी सोचता हूं कि गांधीजी भी इससे बरी नहीं है। मगर हम कम-से-कम कुछ-न-कुछ काम तो करते ही हैं; जीवन के सम्पर्क में तो आने की कोशिश करते हैं और तजुरबे और ग़लतियों के ज़रिये भी हम कभी-कभी इस भ्रम का भान कर लेते हैं, और लुढ़कते हुए भी किसी तरह आगे बढ़ते तो जाते हैं; लेकिन लिबरल सबसे ज़्यादा दुःख उठाते हैं। क्योंकि इस डर से कि कहीं हमसे कोई ग़लत काम न हो जाय, वे काम ही नहीं करते, और गिरने या फिसल जाने के डर से वे आगे क़दम ही नहीं बढ़ाते। जनता के साथ वे हार्दिक सम्पर्क स्थापित करने से दूर ही रहते हैं, और अपने ही विचारों की तंग कोठरियों में मोहित और समाधिस्थ-से बैठे रहते हैं। डेढ़ साल पहले श्री श्रीनिवास शास्त्री ने अपने संगी-साथी लिबरलों को चेतावनी दी थी, कि उन्हें चुपचाप खड़े देखते न रहना चाहिए और सब कुछ यों ही गुज़रने न देना चाहिए। उस चेतावनी में वह जितनी सचाई समझते थे, उससे कहीं ज़्यादा सचाई थी। सरकार क्या कर रही है, इस बात का ही हमेशा विचार करते रहने के कारण, वह उन विधान-सम्बन्धी परिवर्तनों की तरफ़ इशारा कर रहे थे, जिन्हें भिन्न-भिन्न सरकारी कमेटियां बना रही थीं। लेकिन लिबरलों की बदक़िस्मती यह थी कि जब उनके ही देशवासी आगे बढ़ रहे थे, तब वे चुपचाप खड़े-खड़े तमाशा देख रहे थे और घटनाओं को योंही गुज़रने दे रहे थे। वे अपने ही लोगों से डरते

थे और हमारे शासकों से नाता तोड़ने के बजाय उन्होंने इन आम लोगों से दूर रहना ही ज्यादा अच्छा समझा। फिर इसमें आश्चर्य ही क्या था कि वे अपने ही देश में अजनबी-से बन गए। दुनिया आगे बढ़ गई और उन्हें वहीं-का-वहीं छोड़ गई। जब लिबरलों के देशवासी ज़िन्दगी और आज़ादी के लिए भयंकर लड़ाइयां लड़ रहे थे, तब इसमें कोई शक नहीं रह गया था कि लिबरल किस पक्ष में खड़े हैं। प्रतिपक्षी की तरफ़ जाकर वे हमें नेक सलाहें देते थे और बड़ी-बड़ी नैतिक बातें करते थे। गोलमेज़-कान्फ़्रेंसों और कमेटियों में जो सहयोग उन्होंने सरकार को दिया, वह उसके हक़ में बड़ी महत्वपूर्ण नैतिक लाभ की चीज़ थी। अगर यह सहयोग न दिया जाता, तो बड़ा फ़र्क़ पड़ जाता। यह ध्यान देने की बात है कि एक कान्फ़्रेंस में ब्रिटिश मज़दूर-पार्टी तक अलग रही; लेकिन हमारे लिबरल लोग तो उससे भी अलग नहीं रहे; और कुछ अंग्रेज़ सज्जनों ने उनसे न जाने की अपील की, तो भी वे वहां चले ही गए।

यों तो अपने जुदे-जुदे उद्देश्यों के लिहाज़ से हम सब नरम या गरम हैं। फ़र्क़ सिर्फ़ मात्रा का है। जिस बात के बारे में हमें अधिक चिन्ता हो उसके विषय में हमारी भावना भी उतनी ही तीव्र हो जाती है, और हम उसके सम्बन्ध में 'गरम' हो जाते हैं; नहीं तो हम उदारतापूर्ण सहनशीलता धारण कर लेते हैं और एक प्रकार की दार्शनिक सौम्यता ग्रहण कर लेते हैं, जोकि, असल में कुछ हदतक हमारी उदासीनता को ढक लेती है। मैंने नरम-से-नरम मॉडरेटों को बहुत उग्र और गरम होते हुए देखा है, जब उनके सामने देश से कुछ स्थापित स्वार्थों को उड़ा देने की बात रक्खी गई। हमारे लिबरल मित्र कुछ हद तक धनी-मानी और समृद्ध लोगों का प्रतिनिधित्व करते हैं। स्वराज के लिए उन्हें बहुत दिनों तक इन्तज़ार करना पड़ सकता है और इससे उसके लिए उन्हें व्यग्र या उत्तेजित हो उठने की ज़रूरत नहीं। लेकिन जहां कोई आमूल सामाजिक परिवर्तन का प्रश्न आया कि उनमें खलबली मची। तब वे न तो उसके विषय में मॉडरेट ही रह जाते हैं और न उनकी वह भली समझदारी ही क़ायम रहती है। इस तरह उनकी नरमी ब्रिटिश सरकार के प्रति उनके रुख़ तक ही मर्यादित है और वे यह आशा लगाए बैठे हैं, कि यदि वे काफ़ी आदर-भाव दिखाते रहे और समझौते से काम लेते रहे, तो मुमकिन है कि उनके इस आचरण के पुरस्कार में उनकी बात सुन ली जाय। इसलिए वे ब्रिटिश दृष्टिकोण से देखे बिना रह ही नहीं सकते। 'ब्ल्यू बुक' (सरकारी रिपोर्ट)

उनके गम्भीर अध्ययन की वस्तु होती है। अर्स्किन मे की 'पार्लमेण्टरी प्रेक्टिस' और ऐसी ही किताबें उनकी जीवन-संगिनी होती हैं। नई सरकारी रिपोर्ट उनके तैश और तर्क-वितर्क का विषय बनती हैं। इंग्लैंड से लौटनेवाले लिबरल नेता ह्वाइट-हॉल की विभूतियों के कारनामों के बारे में रहस्यमय वक्तव्य देते रहते हैं, क्योंकि, ह्वाइट-हॉल लिबरलों, प्रतिसहयोगियों और ऐसे ही दूसरे दलों की दृष्टि में बैकुण्ठ है! पुराने ज़माने में यह कहा जाता था कि जब कोई भद्र अमरीकन मर जाता, तो उसकी आत्मा पेरिस जाती थी। इसी तरह यह कहा जा सकता है कि अच्छे लिबरलों की प्रेतात्मा ह्वाइट-हॉल की चहारदीवारी का चक्कर लगाती रहती है।

यहां लिखा तो मैंने लिबरलों के बारे में है, लेकिन यही बात बहुत-से कांग्रेसियों पर भी लागू होती है और प्रतिसहयोगियों पर तो और भी ज़्यादा लागू होती है; क्योंकि नरमी में तो उन्होंने लिबरलों को भी मात कर दिया है। औसत दरजे के लिबरल और औसत दरजे के कांग्रेसी में बड़ा फ़र्क़ है, मगर इस सम्बन्ध में विभाजक रेखा न तो साफ़ ही है, न निश्चित ही। जहांतक विचारधारा से सम्बन्ध है, आगे बढ़े हुए लिबरल और नरम कांग्रेसी में कोई ज़्यादा फ़र्क़ मालूम नहीं होता। मगर भला हो गांधीजी का, जो हरेक कांग्रेसी ने अपने देश और देश के लोगों के साथ थोड़ा-बहुत सम्पर्क रक्खा है और वह काम भी करता रहता है, और इसीकी बदौलत वह एक धुंधली और अधूरी विचारधारा के परिणामों से बच गया है। मगर लिबरलों की बात ऐसी नहीं है। उन्होंने पुराने और नये दोनों ही विचार के लोगों से अपना नाता तोड़ लिया है। एक दल के रूप में वे उन लोगों के प्रतिनिधि हैं, जो मिटते जा रहे हैं।

मैं ख़याल करता हूं कि हममें से बहुतों की वह पुरानी अन्धश्रद्धा तो नष्ट हो चुकी है, लेकिन नई अन्तर्दृष्टि प्राप्त नहीं हुई है। न तो हमें समुद्र से उछलते हुए प्रोटियस[1] के दर्शन सुलभ हैं और न हमारे कान बूढ़े ट्रायटन[2] की पुष्पमाला-

---

[1] **प्रोटियस—प्राचीन काल का एक जलदेवता, जो चाहे जब अपना मन-चाहा रूप धारण कर सकता था। बदलती रहनेवाली किसी चीज़ या व्यक्ति के लिए भी, अक्सर इस शब्द का प्रयोग होता है।**

[2] **ट्रायटन—प्रोसिडन का पुत्र और एक ऐसा जलदेवता, जो अर्द्ध-मनुष्य और**

विभूषित शृंगी की मधुर ध्वनि ही सुन पाते हैं। हममें से बहुत कम लोग इतने भाग्यशाली हैं जो—

"पिंड में ब्रह्माण्ड को अवलोकते,
वन-सुमन में स्वर्ग-शोभा देखते;
अंजली में बांधते निस्सीम को,
एक पल से नापते चिरसीम को।"[1]

दुर्भाग्य से, हममें से बहुतेरे प्रकृति के रहस्यपूर्ण जीवन की अनुभूति से, उसका मन्द स्वर अपने कानों के पास सुनने से तथा उसके स्पर्श के मधुर कम्पन का सुख उठाने से अब दूर हैं। वे दिन अब चले गए। लेकिन चाहे अब हम पहले की तरह प्रकृति की दिव्यता का दर्शन न कर सकें, तो भी मानव-जाति के गौरवपूर्ण तथा करुण इतिहास में, उसके बड़े-बड़े स्वप्नों और आन्तरिक तूफानों में, उसकी पीड़ाओं और विफलताओं में, उसके संघर्षों और विपत्तियों में, और इन सबसे बढ़कर एक महान् उज्ज्वल भविष्य की आशा में तथा उन महत्वाकांक्षाओं की प्राप्ति में, हमने उसका दर्शन करने का प्रयत्न किया है। और जो कष्ट और क्लेश इस खोज में हमें उठाने पड़े हैं, उसका पुरस्कार हमें इसी प्रयत्न में मिल गया है। इस खोज ने समय-समय पर हमें जीवन की तुच्छता से ऊंचा उठाया है। लेकिन बहुतों ने इस शोध का प्रयत्न ही नहीं किया; उन्होंने अपने को पुराने मार्ग से तो अलग कर लिया है, लेकिन वर्तमान में चलने के लिए उनके पास कोई मार्ग ही नहीं है। न तो उनकी भावनाएं ही ऊंची हैं, न कुछ वे करते ही हैं। वे फ़्रांस की महान राज्य-क्रान्ति या रूसी राज्यक्रान्ति-जैसी मानवीय उथलपुथल का मर्म ही नहीं समझते और चिरकाल से दबी हुई मानवीय अभिलाषाओं के जटिल, तेज और निठुर विस्फोटों से भयभीत हो जाते हैं। उनके लिए बैस्तील (फ़्रांस) के किले का अभी पतन नहीं हुआ है।

बड़े रोष के साथ अक्सर यह कहा जाता है कि "देश-भक्ति का ठेका कुछ कांग्रेसवालों ने ही नहीं ले रक्खा है।" यही शब्द बार-बार दोहराये जाते हैं, जिनमें

अर्द्ध-मत्स्य था। इसका खास काम शंख-ध्वनि द्वारा सागर-तरंगों को कम-ज्यादा करते हुए उन पर नियन्त्रण रखना था।

[1] अंग्रेजी पद्य का भावानुवाद। —अनु०

कोई नवीनता नहीं रह गई है, जिससे कुछ-कुछ दुःख होता है। मैं समझता हूं, अपने लिए इस भावना के एक अंश का भी कभी किसी कांग्रेसी ने दावा नहीं किया होगा। अवश्य ही, मैं नहीं समझता कि कांग्रेस ने ही इसका ठेका ले रक्खा है। और मैं बड़ी खुशी के साथ जिस किसीको चाह हो उसे इसकी भेंट करने को तैयार हूं। यह तो अवसरवादियों और सुखी एवं निश्चिन्त जीवन की कामना करनेवालों के लिए अक्सर एक ढाल का काम देता है और हर तरह की रुचियों, स्वार्थों और वर्गों के अनुकूल इसके कई रूप हैं। अगर आज जूडस[1] जीवित होता तो वह भी, इसमें कोई शक नहीं, इसीके नाम पर काम करता। लेकिन अब तो देश-भक्ति ही काफ़ी नहीं है; अब तो हमें कोई उससे ज़्यादा ऊंची, व्यापक और श्रेष्ठ चीज़ चाहिए।

और नरमी स्वतः ऐसी कोई चीज़ नहीं है, जो काफ़ी समझी जाय। हां, संयम एक अच्छी चीज़ है और वह हमारी संस्कृति का एक पैमाना है; मगर कोई चीज भी तो हो, जिसपर हम संयम और निग्रह करें। मनुष्य सदा से पंचतत्त्वों पर शासन करता आ रहा है, बिजली पर सवारी गांठता आ रहा है, लपलपाती आग और वेगवती जलधारा को अपने काम में लाता रहा है और अब भी लाता है; लेकिन उसके लिए इन सबसे ज़्यादा मुश्किल हुआ है अपने को खा डालनेवाले मनोविकारों का निग्रह करना या उनपर संयम रखना। जबतक वह इन्हें अपने नियन्त्रण में नहीं कर लेता, तबतक वह अपनी मनुष्यता की विरासत पूरी तरह नहीं पा सकता। पर क्या हम उन पैरों को रोक रक्खें, जो हिलते ही नहीं हैं; या उन हाथों को, जिन्हें लक़वा मार गया है?

इस प्रसंग पर मैं रॉय कैम्पबेल की चार पंक्तियां देने का लोभ नहीं रोक सकता, जो उन्होंने दक्षिण अफ्रीका के किसी उपन्यासकार के सम्बन्ध में लिखी थीं:—

"लोक आपके दृढ़ संयम का गाता है यश-गान
मैं भी उसमें देता उसका साथ आज, मतिमान!
खूब जानते आप खींचना और मोड़ना बाग,
पर कमबख्त कहां वह घोड़ा, है इसका कुछ ध्यान?"[2]

---

[1] ईसा के मुख्य बारह शिष्यों में एक था जिसने दग़ा करके ईसा को यहूदियों के हाथ पकड़ा दिया था। —अनु०

[2] अंग्रेजी पद्य का भावानुवाद।

हमारे लिबरल मित्र हमसे कहते हैं कि वे सर्वोत्तम संकरे मध्यम मार्ग पर चलते हैं और एक तरफ़ कांग्रेस और दूसरी तरफ़ सरकार दोनों की पराकाष्ठाएं बचाकर अपना रास्ता निकालते हैं। वे दोनों की कमियां बतानेवाले मुंसिफ़ बनते हैं और इस बात के लिए 'अपने मुंह-मियां मिट्ठू' बनते हैं कि वे इन दोनों की बुराइयों से बरी हैं। मेरी समझ में वे न्यायमूर्ति की तरह हाथ में तराजू लिये हुए आंख बन्द कर या पट्टी बांधकर निष्पक्ष बनने की कोशिश करते हैं। कहीं यह मेरी खब्त ही तो नहीं है जो, आज मेरे कानों में सदियों पुरानी वह मशहूर पुकार आ रही है—"हे धर्मशास्त्रियो और कर्मठो ! ओ अन्धे पथ-प्रदर्शको, तुम हाथी को तो निगल जाते हो और उसकी दुम से परहेज करते हो !"[१]

[१] बाइबिल का प्रसिद्ध वाक्य। —अनु०

: ५२ :

औपनिवेशिक स्वराज और आज़ादी

पिछले सत्रह वर्षों से जिन लोगों ने कांग्रेस की नीति का निर्माण किया है उनमें से ज़्यादातर मध्यम-श्रेणी के लोग हैं। चाहे वे लिबरल हों चाहे कांग्रेसी, आये सब उसी श्रेणी से और एक-सी परिस्थितियों में उन सबका विकास हुआ है। उनका सामाजिक जीवन, उनकी रहन-सहन, उनके मेल-मुलाक़ाती और इष्ट-मित्र सब एक-से रहे हैं और शुरू में जिन दो क़िस्मों के मध्यमवर्गी आदर्शों का वे प्रतिपादन करते थे, उनमें ऐसा कोई कहने लायक़ अन्तर न था। स्वभावगत और मानसिक भेदों ने उनको जुदा करना शुरू किया और वे अलग-अलग दिशाओं में देखने लगे। एक दल तो सरकार और धनी लोगों—ऊपरी मध्यमवर्ग के लोगों—की तरफ़ और दूसरा निम्न मध्यमवर्गियों की तरफ़। विचारधारा अब भी दोनों की एक-सी थी और ध्येय में भी कोई ख़ास फ़र्क़ नहीं था; लेकिन इस दूसरे दल के पीछे अब ग़रीब, साधारण पेशेवर और बेकार पढ़े-लिखे लोगों का समुदाय आने लगा। इससे उसका स्वर बदल गया। उसमें वह अदब और नम्रता न रही, बल्कि वह कठोर और आक्रामक हो गया। कारगर ढंग से काम करने की ताक़त तो थी नहीं, सो कड़ी ज़बान में उसे कुछ राहत मिल गई। इस नई परिस्थिति को देखकर डर के मारे मॉडरेट लोग कांग्रेस से खिसक गए और अकेले रहने में ही उन्होंने अपने को सुरक्षित समझा। फिर भी ऊपरी मध्यमवर्गियों का कांग्रेस में ज़ोर था, हालांकि, तादाद में निम्न मध्यमवर्गियों की प्रधानता थी। वे अपने राष्ट्रीय संग्राम में महज़ कामयाबी की इच्छा से ही नहीं आये थे; बल्कि इसलिए कि उस संग्राम में ही उन्हें सच्चा सन्तोष मिल जाता था। वे उसके द्वारा अपने खोये हुए स्वाभिमान और आत्म-सम्मान को फिर से प्राप्त करना और अपने नष्ट गौरव को फिर से पूर्व पद पर प्रतिष्ठित करना चाहते थे। यों तो एक राष्ट्र-वादी के मन में सदा से ही ऐसी प्रेरणा उठती आई है और हालांकि सभी के मन में उठती है, तो भी यहीं से नरम और गरम दोनों की स्वभावगत भिन्नता सामने

आ गई। धीरे-धीरे कांग्रेस में निम्न मध्यमवर्गियों की प्रधानता होती गई और आगे चलकर किसानों ने भी उसे प्रभावित किया।

ज्यों-ज्यों कांग्रेस ग्रामीण जनता की अधिकाधिक प्रतिनिधि बनती गई, त्यों-त्यों उसके और लिबरलों के बीच की खाई और-और चौड़ी होती गई; यहां तक कि लिबरलों के लिए कांग्रेस के दृष्टिकोण को समझना या उसकी क़दर करना नामुमकिन हो गया। उच्चवर्ग के दीवानखाने के लिए छोटी कुटिया या कच्चे झोंपड़े को समझना आसान नहीं है। फिर भी, इन मतभेदों के रहते हुए भी, दोनों की विचारधारा राष्ट्रीय और मध्यमवर्गीय थी; जो-कुछ फ़र्क़ था वह मात्रा का था, प्रकार का नहीं। कांग्रेस में अख़ीर तक कितने ही ऐसे लोग रहे, जो नरम-दल में बड़े मज़े से खपते और रहते।

कई पीढ़ियों से ब्रिटिश लोग हिन्दुस्तान को अपने ख़ास मौज व आराम का घर समझते आये हैं। वे ठहरे भद्र कुल के और उस घर के मालिक, उसके अच्छे हिस्सों पर अपना क़ब्ज़ा किये हुए—इधर हिन्दुस्तानियों के हवाले नौकरों की कोठरियां, सामान-घर और रसोई-घर वग़ैरा किये गए। एक सुव्यवस्थित घर की तरह यहां भी नौकरों के कई दरजे बंधे हुए थे—खानसामा, जमादार, रसोइया, कहार, वग़ैरा-वग़ैरा; और उनमें छोटे-बड़े का पूरा-पूरा ख़याल रक्खा जाता था। लेकिन मकान के ऊपर और नीचे के हिस्सों में एक ऐसी ज़बरदस्त सामाजिक और राजनैतिक आड़ लगा दी गई थी जिसे पार करके कोई इधर-से-उधर नहीं जा सकता था। ब्रिटिश सरकार का इस व्यवस्था को हमारे सिर पर लादे रहना तो किसी तरह आश्चर्यजनक नहीं है, मगर यह ज़रूर आश्चर्य की बात है कि हम या हममें से बहुतों ने खुद उसके सामने इस तरह से सिर झुका दिया है, गोया वह हमारे जीवन या भाग्य की कोई स्वाभाविक और अवश्यम्भावी व्यवस्था हो। हमने मकान के एक अच्छे नौकर का-सा अपना दिमाग़ बना लिया है। कभी-कभी हमारी बड़ी इज़्ज़त कर दी जाती है—दीवानखाने में चाय का एक प्याला हमें दे दिया जाता है। हमारी सबसे ऊंची महत्वाकांक्षा सम्माननीय बनने तथा व्यक्तिगत रूप से ऊंचे दरजे में चढ़ा दिये जाने की थी। सचमुच हथियारों और कूटनीति के द्वारा प्राप्त की गई विजय से ब्रिटिशों की हिन्दुस्तान पर यह मानसिक विजय कहीं बढ़कर है। पुराने समझदारों ने कहा ही है कि 'ग़ुलाम ग़ुलाम की-सी ही बात सोचने लगता है।'

अब ज़माना बदल गया और अब न इंग्लैंड में और न हिन्दुस्तान में मालिक

और नौकरवाली वह सभ्यता राज़ी-ख़ुशी से मानी जाती है। मगर फिर भी हममें ऐसे लोग हैं जो उन्हीं नौकरों की कोठरियों में पड़े रहने की ख्वाहिश रखते हैं और अपनी सुनहरी चपरासों, पट्टों, वर्दियों और बिल्लों पर नाज़ करते हैं। दूसरे कुछ लोग लिबरलों की तरह, उस सारे भवन को तो ज्यों-का-त्यों क़ायम रहने देना चाहते हैं, उसकी कारीगरी और उसकी सारी रचना की स्तुति करते हैं, लेकिन इस बात के लिए उत्सुक हैं कि धीरे-धीरे उसके मालिकों की जगह खुद उन्हें मिल जाय। वे उसे 'भारतीयकरण' कहते हैं। उनके लिए शासकों का रंग बदल जाना या अधिक-से-अधिक नये शासक-मण्डल का बन जाना काफ़ी है। वे एक नई राज्य-व्यवस्था की भाषा में कभी नहीं सोचते।

उनके लिए स्वराज के मानी हैं—और सब बातें ज्यों-की-त्यों चलती रहें, सिर्फ़ उसका काला रंग और गहरा कर दिया जाय। वे तो महज़ ऐसे ही भविष्य की कल्पना कर सकते हैं, जिसमें वे या उनके जैसे लोग सूत्र-संचालक रहें और अंग्रेज़ हाकिमों की जगह ले लें—जिसमें कि उसी तरह की नौकरियां, महकमे, धारा-सभाएं, व्यापार, उद्योग और सिविल सर्विस अपना काम करते रहें। राजा-महाराजा अपनी जगह सुरक्षित रहें, कभी-कभी भड़कीली पोशाक और जवाहरात से सजधज कर रिआया पर रौब गांठते हुए दर्शन दिया करें, ज़मींदार एक तरफ़ विशेष रूप से अपना रक्षण चाहें और दूसरी तरफ़ काश्तकारों को परेशान करते रहें, साहूकार की तिजोरी भरी रहे, जो ज़मींदार और काश्तकार दोनों को तंग करता रहे, वकील अपना मेहनताना पाते रहें और ईश्वर अपने स्वर्गधाम में विराजता रहे।

उनका दृष्टिकोण मुख्यतया इसी बात पर टिका है कि वर्तमान व्यवस्था चलती रहे। जो कुछ तब्दीलियां वे चाहते हैं वे व्यक्तिगत परिवर्तन कहे जा सकते हैं; और वे इन परिवर्तनों को ब्रिटिशों की सद्भावना से धीरे-धीरे करके कराना चाहते हैं। उनकी सारी राजनीति और अर्थनीति की बुनियाद ब्रिटिश साम्राज्य के स्थिर और दृढ़ रहने पर है। वे देखते हैं कि इस साम्राज्य की नींव हिल नहीं सकती, कम-से-कम बहुत समय तक, इसलिए वे उसके मुआफ़िक़ अपनेको बनाते हैं और न केवल उसकी राजनैतिक और आर्थिक विचारधारा को ही ग्रहण करते हैं, बल्कि बहुत हद तक उसके उन नैतिक आदर्शों को भी अपनाते हैं, जोकि ब्रिटिश प्रभुत्व को कायम रखने के लिए बनाये गए हैं।

मुझे पंजीवादी प्रणाली नापसन्द है। ब्रिटेन का शासकवर्ग हिन्दुस्तान का जिस तरह शोषण कर रहा है, उसे मैं ज़रा भी पसन्द नहीं करता और उसपर मुझे रोष है। मगर मैं कुल मिलाकर इंग्लैंड या अंग्रेज़ों को इसके लिए ज़िम्मेदार नहीं ठहराता; और अगर मैं ऐसा करूं भी तो उससे कोई ज़्यादा फ़र्क नहीं पड़ता, क्योंकि सारी जाति पर नाराज़ होना या उसकी निन्दा करना बेवकूफ़ी की ही बात है। वे भी उसी तरह परिस्थितियों के शिकार बन गए हैं जैसे कि हम।

मैं ख़ुद तो अपनी मनोरचना के लिए इंग्लैंड का बहुत ऋणी हूं; इतना कि उसके प्रति ज़रा भी परायेपन का भाव नहीं रख सकता। और मैं चाहे जितनी कोशिश करूं, लेकिन मैं अपने मन के उन संस्कारों से और दूसरे देशों तथा सामान्यतया जीवन के बारे में विचार करने की उन पद्धतियों और आदर्शों से, जो मैंने इंग्लैंड के स्कूल और कालेजों में प्राप्त किये हैं, मुक्त नहीं हो सकता। राजनैतिक योजना को छोड़ दें, तो मेरा सारा पूर्वानुराग इंग्लैंड और अंग्रेज़ लोगों की ओर दौड़ता है; और अगर मैं हिन्दुस्तान में अंग्रेज़ी शासन का 'कट्टर विरोधी' बन गया हूं तो मेरी अपनी स्थिति ऐसी होते हुए भी ऐसा हुआ है।

हम जिसपर ऐतराज़ करते हैं और जिसके साथ हम कभी राज़ी-ख़ुशी से समझौता नहीं कर सकते, वह अंग्रेज़ों का शासन है, आधिपत्य है, न कि अंग्रेज़ लोग। हम शौक से अंग्रेज़ों से और दूसरे विदेशियों से घनिष्ठ सम्पर्क बांधें। हम हिन्दुस्तान में ताज़ी हवा चाहते हैं, नवीन और चेतनामय विचार और स्वास्थ्यकर सहयोग चाहते हैं; क्योंकि हम ज़माने से बहुत पीछे पड़ गए हैं। लेकिन अगर अंग्रेज़ शेर बनकर यहां आते हैं, तो वे हमसे दोस्ती या सहयोग की कोई उम्मीद नहीं रख सकते। साम्राज्यवाद के शेर का तो यहां प्राण-पण से मुक़ाबला किया जायगा और आज हमारे देश का उसी महान् क्रूर पशु से पाला पड़ा है। जंगल के उस क्रुद्ध शेर को पाल लेना और वशीभूत कर लेना सम्भव हो सकता है; लेकिन पूंजीवाद और साम्राज्यवाद को, जबकि ये दोनों मिलकर एक अभागे देश पर टूट पड़े हैं, पालतू बना लेना किसी भी तरह मुमकिन नहीं है।

किसीका यह कहना कि वह या उसका देश किसीसे समझौता नहीं करेगा, एक तरह से बेवकूफ़ी की बात है; क्योंकि जीवन हमेशा हमसे समझौता करवाता है। और जब दूसरे देश या वहां के लोगों पर यह बात लागू की जाती है तब तो यह बिलकुल ही बेवकूफ़ी की बात हो जाती है। लेकिन जब यह किसी प्रणाली

या किन्हीं खास हालतों के लिए कहा जाता है तो उसमें कुछ सचाई होती है और ऐसी दशा में समझौता करना मनुष्य की शक्ति के बाहर हो जाता है। भारतीय स्वाधीनता और ब्रिटिश साम्राज्यवाद ये दोनों परस्पर बेमेल हैं और न तो फ़ौजी क़ानून और न दुनिया-भर की ऊपरी चिकनी-चुपड़ी बातें ही उन्हें एक साथ मिला सकती हैं। सिर्फ़ ब्रिटिश साम्राज्यवाद का हिन्दुस्तान से हट जाना ही एक ऐसी चीज़ है जिससे सच्चे भारत-ब्रिटिश सहयोग के अनुकूल अवस्थाएं पैदा हो सकेंगी।

हमसे कहा जाता है कि आज की दुनिया में स्वाधीनता एक संकुचित ध्येय है; क्योंकि दुनिया अब दिन-दिन परस्पराश्रित होती जा रही है। इसलिए पूर्ण स्वाधीनता की मांग करके हम घड़ी का कांटा पीछे घुमा रहे हैं। लिबरल और शान्तिवादी, यहां तक कि ब्रिटेन के समाजवादी कहलानेवाले भी, यह दलील पेश करके हमें अपने संकीर्ण उद्देश्य के लिए लताड़ते हैं और यह कहते हैं कि पूर्ण राष्ट्रीय जीवन का मार्ग तो 'ब्रिटिश राष्ट्र-संघ' में से होकर गुज़रता है। यह अजीब-सी बात है कि इंग्लैंड में तमाम रास्ते, लिबरलवाद, शान्तिवाद, समाजवाद वग़ैरा साम्राज्य को क़ायम रखने की ओर ही ले जाते हैं। ट्राटस्की कहता है— "शासक राष्ट्र की प्रचलित व्यवस्था को क़ायम रखने की अभिलाषा अक्सर 'राष्ट्रवाद' से श्रेष्ठ होने का जामा पहन लेती है; ठीक उसी तरह, जैसे विजेता राष्ट्र की अपनी लूट के माल को न छोड़ने की अभिलाषा आसानी से शान्तिवाद का रूप धारण कर लेती है। इस तरह मैकडानल्ड गांधी के आगे ऐसा महसूस करता है मानो वह कोई अन्तर्राष्ट्रीयता का हामी है।"

मैं नहीं जानता कि हिन्दुस्तान जब राजनैतिक दृष्टि से आज़ाद हो जायगा तो किस तरह का होगा और वह क्या करेगा! लेकिन मैं इतना ज़रूर जानता हूं कि उसके लोग, जो आज राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के हामी हैं, वे व्यापक-से-व्यापक अन्तर्राष्ट्रीयता के भी हिमायती हैं। एक समाजवादी के लिए राष्ट्रीयता का कोई अर्थ नहीं है; लेकिन बहुतेरे आगे बढ़े हुए कांग्रेसी, जो समाजवादी नहीं हैं, अन्तर्राष्ट्रीयता के पक्के उपासक हैं। स्वाधीनता हम इसलिए नहीं चाहते कि हमें सबसे कटकर अलग-अलग रहने की ख्वाहिश है। इसके विरुद्ध हम तो बिलकुल राज़ी हैं कि और देशों के साथ-साथ अपनी स्वाधीनता का भी कुछ हिस्सा छोड़ दें जिससे सच्ची अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था बन सके। कोई भी साम्राज्य-प्रणाली, चाहे उसका नाम

कितना ही बड़ा रख दिया जाय, ऐसी व्यवस्था की दुश्मन ही है; और ऐसी प्रणाली के द्वारा विश्वव्यापी सहयोग की भावना या शान्ति कभी स्थापित नहीं हो सकती।

इधर हाल में जो घटनाएं हुई हैं उन्होंने सारी दुनिया को बता दिया है कि कैसे विभिन्न साम्राज्यवादी प्रणालियां स्वाश्रयी सत्ता और आर्थिक साम्राज्यवाद के द्वारा अपने-आपको सबसे जुदा कर रही हैं। अन्तर्राष्ट्रीयता की बढ़ती के बजाय हम उसका उलटा ही देख रहे हैं। इसके कारणों को खोजना मुश्किल नहीं है। वे मौजूदा अर्थ व्यवस्था की बढ़ती हुई कमजोरी जाहिर करती हैं। इस नीति का एक नतीजा यह हुआ है कि एक ओर जहां वह स्वाश्रयी सत्ता के क्षेत्र के अन्दर ज़्यादा सहयोग पैदा करती है, वहां दूसरी ओर वह दुनिया के दूसरे हिस्सों से अपने को अलग कर लेती है। हिन्दुस्तान को ही लीजिए। हमने ओटावा-सम्बन्धी तथा दूसरे निर्णयों से यह देख लिया है कि दूसरे देशों से हमारा सम्पर्क और रिश्ता दिनों-दिन कम होता चला जा रहा है। हम पहले से भी ज़्यादा ब्रिटिश उद्योग-धन्धों के आश्रित हो रहे हैं और, इससे कई बातों में जो तात्कालिक नुक़सान हुए हैं उनको अलग रख दें, तो भी इस नीति से पैदा होनेवाले ख़तरे स्पष्ट हैं। इस प्रकार 'डोमीनियन स्टेट्स' हमें व्यापक अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क की ओर ले जाने के बजाय दुनिया से अलग पटकता हुआ दिखाई देता है।

लेकिन हमारे हिन्दुस्तानी लिबरल दोस्त दुनिया को और ख़ास करके ख़ुद अपने देश को असली नीले रंग के ब्रिटिश चश्मे से देखने की एक विलक्षण सहज शक्ति रखते हैं। इस बात को समझने की कोशिश किये बिना ही कि कांग्रेस क्या कहती है और वह ऐसा क्यों कहती है, वे उसी पुरानी ब्रिटिश दलील को दोहराते रहते हैं कि औपनिवेशिक स्वराज की अपेक्षा पूर्ण स्वाधीनता का आदर्श कहीं संकीर्ण और नैतिक उत्थान की दृष्टि से कम हितकारी है। उनके नज़दीक तो अन्तर्राष्ट्रीयता के मानी ह्वाइट-हॉल होते हैं, क्योंकि उनको दूसरे देशों का तो कुछ पता ही नहीं है। इसका कुछ कारण तो भाषा-सम्बन्धी दिक़्क़त है; मगर उससे भी ज़्यादा कठिनाई यह है कि उन्हें उनकी उपेक्षा करने में ही सन्तोष है। और हिन्दुस्तान में तो वे किसी भी क़िस्म की उग्र राजनीति या 'सीधे हमले' के ख़िलाफ़ हैं। मगर यह देखकर कुतूहल होता है कि उनके कुछ नेताओं को, अगर दूसरे देशों में ये तरीके इख़्तियार किये जायं, तो कोई ऐतराज़ नहीं होता। वे दूर रहकर ही

उनकी क़दर और इज़्ज़त कर सकते हैं और पश्चिमी देशों के कुछ मौजूदा डिक्टेटरों की तो वे मन-ही-मन प्रशंसा करते हैं।

नामों से धोखा हो सकता है; मगर हमारे सामने हिन्दुस्तान में तो असली सवाल है कि हम एक नई राज्य-रचना करना चाहते हैं, या सिर्फ़ एक नया शासक-मण्डल बनाना चाहते हैं। लिबरलों का जवाब स्पष्ट है। वे नये शासक-मण्डल से अधिक कुछ नहीं चाहते और वह भी उनके लिए तो एक दूरवर्ती और क्रमश: प्राप्त होनेवाला आदर्श है। 'औपनिवेशिक स्वराज्य' (डोमिनियन स्टेट्स) का ज़िक्र अबतक कई बार किया गया है, मगर वे अपना असली उद्देश्य फ़िलहाल तो 'केन्द्रीय उत्तरदायित्व'—इन गूढ़ शब्दों में प्रकट करते हैं। सत्ता, स्वाधीनता, आज़ादी, स्वतन्त्रता आदि ज़ोरदार शब्द उनके लिए नहीं हैं। उन्हें तो ये ख़तरनाक मालूम होते हैं। एक वकील की भाषा और तरीक़े उन्हें ज़्यादा जंचते हैं—चाहे भले ही जन-समाज को वे उत्साहित न करते हों। इतिहास में ऐसी अनगिनत मिसालें मिलती हैं जहां व्यक्तियों और समूहों ने अपने सिद्धान्तों और अपनी आज़ादी के लिए ख़तरों का मुक़ाबला किया है और अपनी जान जोखिम में डाली है। मगर यह सन्देहास्पद दिखाई देता है कि 'केन्द्रीय उत्तरदायित्व' या ऐसे किसी दूसरे क़ानूनी शब्दों के लिए कोई जान-बूझकर एक बार खाना छोड़ देगा या अपनी नींद हराम करेगा।

यह तो है उनका लक्ष्य, और इसको भी पाना है 'सीधे हमले' या और किसी उग्र उपाय से नहीं, मगर जैसा कि श्री श्रीनिवास शास्त्री ने कहा है—"समझदारी, अनुभव, नरमी, समझाने-बुझाने की शक्ति, चुपचाप प्रभाव और असली कार्य-दक्षता" का परिचय देकर! यह आशा की जाती है कि अपने सद्व्यवहार और सत्कार्य के द्वारा हम अन्त में अपने शासकों को इस बात के लिए राज़ी कर सकेंगे कि वे अपने अधिकार छोड़ दें। दूसरे शब्दों में वे आज हमारा विरोध इसीलिए करते हैं कि या तो वे हमारे आक्रमणात्मक रुख़ से चिढ़े हुए हैं या उन्हें हमारी क्षमता पर शक है, या इन दोनों कारणों से। साम्राज्यवाद और हमारी मौजूदा स्थिति का यह कैसा भोला-भाला विश्लेषण है! मगर प्रोफ़ेसर आर० एच० टॉनी नामक एक विद्वान् अंग्रेज़ लेखक ने क्रम-क्रम से और शासक-वर्ग के सहयोग से सत्ता पाने के विचार के सम्बन्ध में बहुत उचित और हृदयाकर्षक भाषा में अपने भाव प्रकाशित किये हैं। उन्होंने वैसे ब्रिटिश लेबर-पार्टी को ध्यान में रखकर लिखा है, लेकिन

उनके शब्द हिन्दुस्तान पर और भी ज़्यादा लागू होते हैं; क्योंकि इंग्लैंड में कम-से-कम लोकतन्त्रात्मक संस्थाएं तो हैं जहां बहुमत की इच्छा, सिद्धान्त-रूप में तो, अपना प्रभाव डाल सकती है। प्रोफ़ेसर टॉनी लिखते हैं—

"प्याज़ का एक-एक छिलका उतारकर खाया जा सकता है; लेकिन आप एक ज़िन्दा शेर के एक-एक पंजे की खाल नहीं उतार सकते। चीर-फाड़ करना उसका काम है और खाल को पहले उतारनेवाला वह होता है. . . .

"अगर कोई ऐसा देश है कि जहां के विशेषाधिकार पाये हुए वर्ग निरे बुद्धू हों तो कम-से-कम इंग्लैंड वह नहीं है। यह ख़याल ग़लत है कि लेबर-पार्टी यदि चतुराई और सौजन्य से अपना पक्ष उपस्थित करे तो इससे वे धोखे में आ जायंगे कि वह उनका भी पक्ष है। यह उतना ही निरर्थक है जितना कि किसी चलते-पुरज़े क़ानून-दां को झांसा देकर उस मिलकियत को हथिया लेना, जिसका कि हक़-नामा उसके नाम है। श्रीमन्तशाही में ऐसे व्यवहार-प्रिय, चालाक, प्रभावशाली, आत्मविश्वासी, और बहुत दब जाने पर न्याय-नीति की परवा न करनेवाले लोग हैं, जो अच्छी तरह जानते हैं कि रोटी पर किधर से घी चुपड़ा जाता है और वे अपने चुपड़ने के घी में कभी कमी होने देना नहीं चाहते। अगर उनकी स्थिति को गहरा धक्का लगने की आशंका होती है तो वे शतरंज के हरेक राजनैतिक और आर्थिक मोहरे से काम लेने पर उतारू हो जाते हैं। हाउस आफ़ लॉर्ड्स, राजदरबार, अख़बार, फ़ौज, आर्थिक प्रणाली—इनमें से प्रत्येक साधन का उचित-अनुचित उपयोग किये बिना वे न रहेंगे। आवश्यकता पड़ने पर वे अन्तर्राष्ट्रीय उलझनें भी पैदा कर सकते हैं और जैसा कि १९३१ में पौंड की विनिमय-दर गिराने के लिए की गई चेष्टाओं से साबित होता है। वे अन्य देश की शरण लेनेवाले राज-नैतिक भगोड़ों की तरह अपनी जेब की रक्षा करने के लिए अपने देश का भी गला कटवा सकते हैं।"

ब्रिटिश लेबर-पार्टी का संगठन ज़ोरदार है। उसके पीछे कई मज़दूर-संस्थाएं, जिनके चन्दा देनेवाले लाखों मेम्बर हैं, सहयोग-समितियों का एक बहुत समुन्नत संगठन तथा पेशेवर वर्गों के बहुत से मेम्बर और हमदर्द लोग हैं। ब्रिटेन में बालिग़-मताधिकार पर आधार रखनेवाली कई लोकतन्त्री पार्लमेण्टरी संस्थाएं हैं और वहां बरसों से नागरिक स्वतन्त्रता की परम्परा चली आ रही है। लेकिन इन सब बातों के होते हुए भी मि० टॉनी की यह राय है—और हाल की घटनाओं ने उसको

सही साबित कर दिया है—कि लेबर-पार्टी खाली मुस्कराकर और समझा-बुझाकर असली हुकूमत पाने की उम्मीद नहीं कर सकती; हालांकि इन दोनों साधनों का प्रयोग लाभप्रद और वांछनीय ज़रूर है। प्रो० टॉनी तो यहाँ तक कहते हैं कि अगर कॉमन-सभा में मज़दूर-दल का बहुमत हो जाय तो भी विशेषाधिकार-प्राप्त वर्गों के मुक़ाबले में वह कोई भी आमूल परिवर्तन नहीं कर सकेगा; क्योंकि उनके हाथ में आज कितनी ही राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक, फ़ौजी तथा राजस्व-सम्बन्धी ज़बरदस्त ताक़तें अपनी हिफ़ाजत के लिए हैं। यह बताने की ज़रूरत नहीं है कि हिन्दुस्तान में परिस्थितियां बिलकुल दूसरी तरह की हैं। न तो यहां लोकतन्त्रात्मक संस्थाएं ही हैं और न ऐसी परम्पराएं ही। उसके बजाय, यहां आर्डिनेंसों और तानाशाही हुकूमत का, और बोलने, लिखने, सभा करने और अख़बारों की आज़ादी को कुचलने का ख़ासा रिवाज पड़ा हुआ है, और न लिबरलों का यहां कोई ख़ास मज़बूत संगठन है। ऐसी हालत में उन्हें अपनी मधुर मुस्कान का ही सहारा रह जाता है।

लिबरल लोग अवैध या 'ग़ैरकाननी' कार्रवाइयों के सख़्त ख़िलाफ़ हैं; लेकिन जिन देशों का विधान लोकतन्त्रात्मक है वहां 'वैध' शब्द का व्यापक अर्थ होता है। वहां विधान क़ानून बनाने पर नियन्त्रण करता है, वह स्वतन्त्रताओं की रक्षा करता है, कार्यकारिणी को बन्दिश में रखता है, उसके अन्दर राजनैतिक और आर्थिक ढांचे में परिवर्तन करने के लिए लोकतन्त्रात्मक साधनों की गुंजाइश रहती है। लेकिन हिन्दुस्तान में ऐसा कोई विधान नहीं है, और इस तरह की कोई बातें नहीं हैं।[1] उसका यहां इस्तेमाल करना एक ऐसे भाव को ला बिठाना है जिसके लिए आज के हिन्दुस्तान में कोई जगह नहीं है। और आश्चर्य के साथ कहना पड़ता है कि यहां 'वैध' शब्द का प्रयोग अक्सर कार्यकारिणी के बहुत-कुछ मनमाने कार्यों

---

[1]श्री० सी० वाई० चिन्तामणि ने, जो कि एक नामी लिबरल नेता और 'लीडर' के प्रधान सम्पादक हैं, युक्तप्रान्तीय कौन्सिल में पार्लमेण्टरी ज्वाइण्ट सिलेक्ट कमेटी की रिपोर्ट पर टीका करते हुए खुद इस बात पर ज़ोर दिया था कि हिन्दुस्तान में किसी भी क़िस्म के वैध शासन का अभाव है—"भविष्य में अधिक प्रतिगामी और उससे भी ज्यादा अवैध सरकार को मंजूर करने की बनिस्बत तो बेहतर है कि हम मौजूदा अवैध सरकार को ही लिये बैठे रहें।"

के समर्थन में किया जाता है। या दूसरी तरह उसका 'क़ानूनी' के भाव में व्यवहार किया जाता है। इससे तो यह कहीं बेहतर है कि हम क़ानूनी और ग़ैरक़ानूनी शब्दों का ही व्यवहार करें; हालांकि वे काफ़ी गोलमोल हैं, और समय-समय पर उनका अर्थ बदलता रहता है।

नये-नये आर्डिनेंस या नये-नये क़ानून नय-नये जुर्मों को पैदा करते हैं। उनके अनुसार किसी सभा में जाना जुर्म हो सकता है; इसी तरह साइकिल पर सवार होना, ख़ास क़िस्म के कपड़े पहनना, शाम के बाद घर के बाहर निकलना, पुलिस को रोज़ अपनी रिपोर्ट न देना, ये सब तथा दूसरी कई बातें आज हिन्दुस्तान के कुछ हिस्से में जुर्म समझी जाती हैं। एक काम देश के एक हिस्से में जुर्म समझा जा सकता है और दूसरे में नहीं। जब एक ग़ैर-ज़िम्मेदार कार्यकारिणी के द्वारा ऐसे क़ानून थोड़े-से-थोड़े नोटिस पर बना दिये जा सकते हैं, तब 'क़ानूनी' शब्द के मानी कार्यकारिणी के इच्छा के सिवा और क्या हो सकते हैं! मामूली तौर पर तो इस इच्छा का पालन ही किया जाता है, चाहे राज़ी से, चाहे बेमन से; क्योंकि उसके भंग करने का परिणाम दुःखदायी होता है। पर किसी शख़्श का यह कहना कि मैं सदा ही उनका पालन करता रहूंगा, मानो तानाशाही या ग़ैरज़िम्मेदार हुकूमत के सामने सब तरह से सिर झुका देना है, अपनी आत्मा को बेच देना है और अपने कार्यों से कभी आज़ादी पाना असम्भव बना देना है।

हरेक लोकतन्त्रात्मक देश में महज़ इस बात पर विवाद खड़ा हो रहा है कि मौजूदा वैधानिक तन्त्र के द्वारा मामूली तौर पर आमूल आर्थिक परिवर्तन किये जा सकते हैं या नहीं? बहुत-से लोगों की राय है कि ऐसा नहीं हो सकता; इसके लिए कोई-न-कोई असाधारण और क्रान्तिकारी उपाय काम में लाने होंगे। लेकिन जहांतक हमारे हिन्दुस्तान का ताल्लुक़ है, इस प्रश्न पर बहस करना कोई अर्थ नहीं रखता। ऐसा कोई वैधानिक साधन ही नहीं है जिसके बल पर हम अपनी इच्छा का परिवर्तन करा सकें। यदि श्वेत-पत्र या वैसी ही कोई चीज़ क़ानून बन गई तो बहुत-सी दिशाओं में वैधानिक प्रगति बिलकुल रुक जायगी। ऐसी दशा में सिवा क्रान्ति या ग़ैरक़ानूनी कार्रवाई के और कोई चारा ही नहीं रह जाता। तब हमें करना क्या चाहिए? क्या परिवर्तन की सब आशाओं को तिलांजलि देकर भाग्य के भरोसे बैठे रहें?

हिन्दुस्तान में तो आज परिस्थिति और भी विषम हो गई है। कार्यकारिणी

हर क़िस्म के सार्वजनिक कामों पर रोक या बन्दिश लगा सकती है और लगाती है। उसकी राय में जो भी काम उसके लिए खतरनाक है, वह मना कर दिया जाता है। इस तरह हरेक कारगर सार्वजनिक काम बन्द कर दिया जा सकता है, जैसा कि पिछले तीन साल तक बन्द कर दिया गया था। इसको मानने के मानी हैं तमाम सार्वजनिक कामों को छोड़ देना। और इस स्थिति को सह लेना किसी तरह मुमकिन नहीं है।

कोई यह नहीं कह सकता कि वह हमेशा और बिला नाग़ा क़ानून के मुताबिक़ ही काम करेगा। लोकतन्त्रीय राज्य में भी ऐसे मौक़े पैदा हो सकते हैं जब किसीको उसकी अन्तरात्मा या उस क़ानून के ख़िलाफ़ चलने के लिए मजबूर कर दे। फिर उस देश में तो, जहां स्वेच्छाचारी या निरंकुश शासन हो, ऐसे मौक़े और भी बार-बार आ सकते हैं। वास्तव में ऐसे राज्य में क़ानून के लिए कोई नैतिक आधार नहीं रह जाता है।

लिबरल लोग कहते हैं—"सीधा हमला तानाशाही से मेल खाता है, न कि लोकतन्त्र से; और जो लोकतन्त्र की विजय चाहते हैं उन्हें सीधे हमले से दूर ही रहना चाहिए।" यह तो एक प्रकार का ग़लत सोचना और ग़लत लिखना हुआ। बाज़ वक़्त सीधा हमला—जैसे मज़दूरों की हड़ताल—भी क़ानूनी हो सकता है। मगर यहां उनकी मंशा शायद राजनैतिक काम से है। जर्मनी में, जहां कि हिटलर का बोलबाला है, आज क्या किया जा सकता है? या तो चुपचाप सिर झुका दो, या ग़ैरक़ानूनी और क्रान्तिकारी काम करो। वहां लोकतन्त्र से काम कैसे चल सकता है?

हिन्दुस्तानी लिबरल अक्सर लोकतन्त्र का नाम तो लिया करते हैं, लेकिन उनमें से अधिकांश उसके पास फटकने तक की इच्छा नहीं रखते। सर पी० एस० शिवस्वामी ऐयर ने, जो एक बहुत बड़े लिबरल नेता हैं, मई १९३४ में कहा था—"विधान-निर्मात्री सभा की पैरवी करते हुए कांग्रेस, जन-समूह की समझदारी पर ज़रूरत से ज़्यादा भरोसा रखती है और उन लोगों की सचाई और योग्यता के साथ बहुत कम न्याय करती है, जिन्होंने भिन्न-भिन्न गोलमेज़-कान्फ्रेंसों में भाग लिया है। मुझे तो इस बात में बड़ा शक है कि विधान-निर्मात्री सभा का नतीजा इससे अच्छा हुआ होता।" इस तरह सर शिवस्वामी ऐयर की लोकतन्त्र-सम्बन्धी धारणा 'जन-समूह' से कुछ अलग है, और ब्रिटिश सरकार के नामज़द 'सच्चे और

योग्य' लोगों के जमघट में ज़्यादा अच्छी तरह समा जाती है। आगे चलकर वह श्वेतपत्र को अपना आशीर्वाद देते हैं; क्योंकि, यद्यपि वह उसमे "पूरी तरह सन्तुष्ट नहीं हैं", "तो भी देश को उसका सोलहों आना विरोध करना समझदारी का काम न होगा।" तो अब ऐसा कोई सबब नहीं दिखाई देता कि क्यों न ब्रिटिश सरकार और सर पी० एस० शिवस्वामी ऐयर में पूरा-पूरा सहयोग हो।

कांग्रेस के द्वारा सविनय-भंग के वापस लिये जाने का स्वागत लिबरलों की ओर से होना स्वाभाविक ही था। और इसमें भी कोई ताज्जुब की बात नहीं है जो वे इस बात में अपनी समझदारी मानें कि उन्होंने इस "मूर्खतापूर्ण और ग़लत आन्दोलन" से अपनेको अलग रक्खा। वे हमसे कहते हैं —"हमने पहले ही ऐसा कहा था न ?" लेकिन यह एक अजीब दलील है। क्योंकि जब हम कमर कसकर खड़े हुए, एक करारी लड़ाई लड़ी और हम गिर पड़े; इसलिए हमें यह नसीहत दी जाती है कि खड़ा होना ही गलत था। पेट के बल रेंगना ही सबसे अच्छी और निरापद बात है; क्योंकि, उस पड़े रहने की हालत से गिरना या गिरा दिया जाना बिलकुल नामुमकिन है।

: ५३ :

हिन्दुस्तान—पुराना और नया

यह स्वाभाविक और अनिवार्य बात थी कि हिन्दुस्तान में राष्ट्रवाद विदेशी हुकूमत का विरोधी हो। मगर फिर भी यह कितने कुतूहल की बात है कि हमारे बहुसंख्यक पढ़े-लिखे लोग १९ वीं सदी के अन्ततक जान में या अनजान में, साम्राज्य के ब्रिटिश आदर्श में विश्वास करते थे। वही आदर्श उनकी दलीलों का आधार होता था और उसके कुछ बाहरी लक्षणों पर ही वे नुक्ताचीनी करके सन्तुष्ट हो जाते थे। स्कूलों और कॉलेजों में इतिहास, अर्थशास्त्र या जो भी दूसरे विषय पढ़ाये जाते थे वे ब्रिटिश साम्राज्य के दृष्टिकोण से लिखे होते थे और उनमें हमारी पिछली और मौजूदा बहुतेरी बुराइयों और अंग्रेज़ों के सद्गुणों और उज्ज्वल भविष्य पर ज़ोर दिया रहता था। हमने उनके इस तोड़े-मरोड़े वर्णन को ही कुछ हदतक मान लिया और अगर कहीं हमने उसका सहज स्फूर्ति से प्रतिकार किया तो भी उसके असर से हम न बच सके। पहले-पहल तो हमारी बुद्धि उसमें से निकल ही नहीं सकती थी; क्योंकि हमारे पास न तो दूसरी घटनाएं थीं और न दलीलें। इसलिए हमने धार्मिक राष्ट्रवाद और इस विचार की शरण ली, कि कम-से-कम धर्म और तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में कोई जाति हमसे बढ़कर नहीं है। हमने अपने दुर्भाग्य और पतन पर इस बात से सन्तोष कर लिया कि यद्यपि हमारे पास पश्चिम की बाहरी चमक-दमक नहीं है तो भी अन्दर की वास्तविक चीज़ है जो उससे कहीं ज़्यादा क़ीमती और रखने लायक़ निधि है। विवेकानन्द और दूसरों ने तथा पश्चिमी विद्वानों ने हमारे पुराने दर्शनशास्त्रों में जो दिलचस्पी ली, उसने हमें कुछ स्वाभिमान प्रदान किया और अपने भूतकाल के प्रति अभिमान का जो भाव मुरझा गया था, उसे फिर से लहलहा दिया।

धीरे-धीरे हमारी पुरानी और मौजूदा अवस्था के सम्बन्ध में अंग्रेज़ों के बयानों पर हमें शक होने लगा और हम बारीकी से उनकी छान-बीन करने लगे। मगर तब भी हम उसी ब्रिटिश विचार-श्रेणी के घेरे में ही सोचते और काम करते

थे। अगर कोई चीज़ ख़राब होती तो वह अब्रिटिश कहलाती थी। यदि किसी अंग्रेज़ ने हिन्दुस्तान में ख़राब बर्ताव किया तो वह उसका क़ुसूर समझा जाता था, उस प्रणाली का नहीं। लेकिन इस छान-बीन के द्वारा हिन्दुस्तान में ब्रिटिश शासन-सम्बन्धी जो आलोचनात्मक सामग्री हाथ लगी उसने, लेखकों का दृष्टि-कोण मॉडरेट रहते हुए भी एक क्रान्तिकारी हेतु को सिद्ध किया और हमारे राष्ट्र-वाद को राजनैतिक और आर्थिक पाये पर खड़ा कर दिया। इस तरह दादाभाई नौरोजी की 'पावर्टी एण्ड अन-ब्रिटिश रूल इन इण्डिया' (भारत में ग़रीबी और अब्रिटिश शासन) और रमेशचन्द्र दत्त, विलियम डिग्वी आदि की किताबों ने हमारे राष्ट्रीय विचारों के विकास में एक क्रान्तिकारी काम किया। भारत के प्राचीन इतिहास के सम्बन्ध में आगे चलकर जो और खोज हुई उसने तो बहुत प्राचीन काल की उच्च सभ्यता के उज्ज्वल युगों का वर्णन हमारे सामने ला दिया और हम बड़े सन्तोष के साथ उन्हें पढ़ते हैं। हमें यह भी पता लगा कि अंग्रेज़ों के लिखे इतिहासों से हिन्दुस्तान में अंग्रेज़ों के कारनामों के बारे में हमारे मन में जो धारणा बन गई थी उससे उलटे ही उनके कारनामे हैं।

हम इतिहास, अर्थशास्त्र और भारत में उनके शासन-व्यवस्था-सम्बन्धी वर्णनों को उत्तरोत्तर चुनौती देने लगे। मगर फिर भी हम काम तो उन्हींकी विचारधारा के घेरे में करते थे। उन्नीसवीं सदी के आखिर तक हिन्दुस्तानी राष्ट्र-वाद की कुल मिलाकर यही हालत रही। आज लिबरल दल का, दूसरे और छोटे-छोटे दलों का और कुछ नरम कांग्रेसियों का भी, जो भावुकता में कभी-कभी आगे बढ़ जाते हैं, लेकिन विचार की दृष्टि से अभी भी उन्नीसवीं सदी में रह रहे हैं, यही हाल है। यही सबब है कि एक लिबरल हिन्दुस्तान की आज़ादी के भाव ग्रहण करने में असमर्थ है; क्योंकि ये दोनों चीज़ें मूलतः अनमेल हैं। वह सोचता है कि क़दम-ब-क़दम मैं ऊंचे पदों पर पहुंचता चला जाऊंगा और बड़ी-बड़ी तथा महत्त्व की फ़ाइलों पर कार्रवाई करूंगा। सरकारी मशीन पहले की ही तरह आराम से चलती रहेगी, सिर्फ़ वह उसका एक धुरा बन जायगा और ब्रिटिश फ़ौज ज़रूरत के वक़्त उसकी रक्षा करने के लिए, बिना ज़्यादा दख़ल दिये, किसी कोने में पड़ी रहेगी। साम्राज्य के अन्तर्गत औपनिवेशिक स्वराज्य (डोमीनियन स्टेटस) से उसका यही मतलब है। यह एक बिलकुल वाहियात बात है जो कभी पूर्ण नहीं हो सकती; क्योंकि अंग्रेज़ों द्वारा रक्षित होने की क़ीमत है, हिन्दुस्तान की ग़ुलामी।

यदि यह मान भी लिया जाय कि गुलामी एक महान् देश के आत्म-सम्मान को गिरानेवाली नहीं है तो भी हम दही और मही दोनों एक साथ नहीं खा सकते। सर फ्रेडरिक ह्वाइट, जिन्हें भारतीय राष्ट्रवाद का पक्षपाती नहीं कह सकते, अपनी एक नई किताब 'दी फ़्यूचर ऑफ़ ईस्ट एण्ड वेस्ट' (पूर्व तथा पश्चिम का भविष्य) में लिखते हैं—"वह (हिन्दुस्तानी) अब भी यह मानता है कि जब कभी सर्वनाश का दिन आयेगा तो इंग्लैंड उसके और सर्वनाश के बीच में आकर खड़ा हो जायगा; और जबतक वह इस धोखे में है तबतक वह खुद अपने स्वराज की भी बुनियाद नहीं डाल सकता।" ज़ाहिर है कि उनकी मंशा उन लिबरल या दूसरे प्रतिगामी और साम्प्रदायिक ढंग के हिन्दुस्तानियों से है जिनसे उनका साबका हिन्दुस्तान की असेम्बली के अध्यक्ष की हैसियत से पड़ा होगा। कांग्रेस का ऐसा विश्वास नहीं है। तब और आगे बढ़ी हुई दूसरी जमातों का तो ज़रूर ही नहीं हो सकता। मगर हां, वे सर फ्रेडरिक की इस बात से सहमत हैं कि, जबतक यह भ्रम हिन्दुस्तान में मौजूद है, और हिन्दुस्तान अपने सर्वनाश का सामना करने के लिए अकेला नही छोड़ दिया जाता—यदि सर्वनाश ही उसके भाग्य में बदा है—तबतक वह आज़ाद नहीं हो सकता। जिस दिन हिन्दुस्तान से ब्रिटिश फ़ौज का नियन्त्रण पूर्णरूप से हट जायगा, उसी दिन हिन्दुस्तान की आज़ादी का श्रीगणेश होगा।

यह कोई ताज्जुब की बात नहीं है कि उन्नीसवीं सदी के पढ़े-लिखे हिन्दुस्तानी ब्रिटिश विचारधारा के प्रभाव में आ जायं; लेकिन बड़े ताज्जुब की बात तो यह है कि बीसवीं सदी के परिवर्तनों और दिल दहला देनेवाली घटनाओं के होने पर भी कुछ लोग अभी तक उसी भ्रम में पड़े हुए हैं। उन्नीसवीं सदी में ब्रिटिश शासकवर्ग दुनिया के उन उच्च वर्गों में था, जिनके पास काफ़ी धन-दौलत, हुकूमत और सफलताएं थीं। इस लम्बी सफलता और शिक्षा ने उनमें कुछ सामन्तशाही के सद्गुण भी पैदा किये और कुछ दुर्गुण भी। हम हिन्दुस्तानी इस बात से अपने को सान्त्वना दे सकते हैं कि हमने पिछले लगभग पौने दो सौ बरसों में उन्हें इस उच्च स्थिति पर पहुंचाने और ऐसी तालीम दिलाने की साधन-सामग्री जुटाने में उन्हें काफ़ी मदद की। वे अपने को—जैसा कि कितनी ही जातियों और राष्ट्रों ने किया है—ईश्वर के लाड़ले और अपने साम्राज्य को पृथ्वी पर का स्वर्ग समझने लगे। यदि आप उनके इस खास दरजे और रुतबे को मानते रहें और उनकी उच्चता को चुनौती न दी जाय तो वे बड़े मेहरबान रहेंगे और आपकी खातिर करेंगे, बशर्ते कि

उससे उनका कुछ नुकसान न हो। लेकिन उनका विरोध करना मानो ईश्वरीय व्यवस्था का विरोध करना है और इसलिए वह ऐसा पाप है जिसको हर तरह से दबाना ही उचित है।

एम० आंद्रे सीगफ्रीद ने ब्रिटिश मनोविज्ञान के इस पहलू पर मज़ेदार प्रकाश डाला है—

"परम्परा से शक्ति के साथ-साथ धन पर भी अधिकार रखने की जो आदत पड़ी हुई थी उसने अन्त में (अंग्रेज़ जाति में) रहन-सहन का ऐसा ढंग पैदा कर दिया जो रईसाना था और जिसपर अपने-आपको दैवी अधिकार-प्राप्त मनुष्य-जाति समझने के भावों का एक अजीब-सा रंग पड़ा हुआ था। यहांतक कि ब्रिटिश सत्ता को चुनौती दिये जाने पर भी यह ढंग वास्तव में अधिकाधिक स्पष्ट रूप से प्रकट होने लगा। सदी के अन्त का नवयुवक-समुदाय शुरू से ही यह विश्वास करने लगा कि यह सफलता उसका हक़ है।

"घटनाओं (के रहस्य) को समझने के इस ढंग पर ज़ोर देना इसलिए दिल-चस्पी की बात है कि इन घटनाओं के द्वारा, खासकर इस नाज़ुक विषय में, ब्रिटिश मनोवृत्ति की प्रतिक्रियाएं स्पष्ट हो जाती हैं। कोई भी व्यक्ति इस नतीजे पर पहुंचे बिना नहीं रह सकता कि अंग्रेज़ जाति इन कठिनाइयों का कारण बाहरी घटनाओं में ही ढूंढने का प्रयत्न करती है। उसके मतानुसार शुरुआत सदा किसी दूसरे के क़ुसूर से होती है और अगर यह (क़ुसूरवार) व्यक्ति अपना सुधार करने के लिए राज़ी हो जाय तो इंग्लैंड फिर अपने नष्ट वैभव को प्राप्त कर ले . . . (अंग्रेज़ जाति की) सदा यह प्रवृत्ति रही है कि खुद तो न बदलें, लेकिन दूसरे बदल जायं।"

सारे जगत के प्रति अंग्रेज़ों का यदि यह आम रवैया है तो हिन्दुस्तान में तो यह और भी ज़्यादा प्रकट है। अंग्रेज़ लोग हिन्दुस्तान के मसलों को जिस तरह हल करना चाहते हैं, वह कुछ आकर्षक तो है, मगर है भड़कानेवाला। शांति के साथ आश्वासन देते हुए उनका यह कहना कि हमने जो कुछ किया है वह सही किया है और हमने अपनी ज़िम्मेदारी बहुत योग्यता के साथ निबाही है, अपनी जाति की भवितव्यता और अपने तर्ज़ के साम्राज्यवाद पर श्रद्धा, और यदि कोई उस श्रद्धा की बुनियाद पर सवाल उठाये तो ऐसे नास्तिकों और पापियों पर क्रोध और घृणा—इन भावों की तह में एक किस्म का धार्मिक जोश दिखाई देता था।

मध्यकालीन रोमन कैथलिक धर्म-विचारकों की तरह वे हमारी इच्छा या अनिच्छा की परवा न करते हुए हमारे उद्धार के लिए तुले हुए थे। भलाई के इस व्यापार में राह-चलते उनको भी कुछ लाभ हो गया और इस तरह वे 'ईमानदारी ही सबसे अच्छी व्यवहार-नीति है' इस पुरानी कहावत को चरितार्थ कर दिखाने लगे। हिन्दुस्तान की उन्नति का अर्थ, देश को ब्रिटिश योजनाओं के अनुकूल बनाना और कुछ चुने हुए हिन्दुस्तानियों को ब्रिटिश सांचे में ढालना हो गया। जितना ही ज़्यादा हम ब्रिटिश आदर्शों और ध्येयों को मानते जायंगे, उतना ही ज़्यादा हम स्वशासन के अधिक योग्य समझ लिये जायंगे। ज्योंही हम इस बात की गारंटी दे दें और यह दिखला दें कि हम अंग्रेज़ों की इच्छा के अनुसार ही अपने को मिली हुई आज़ादी का उपयोग करेंगे, त्योंही आज़ादी हमारे पास आ जायगी।

लेकिन मुझे भय है कि हिन्दुस्तान में ब्रिटिश शासन के इस कच्चे चिट्ठे पर हिन्दुस्तानी और अंग्रेज़ एकमत न होंगे। और शायद यह स्वाभाविक भी है। जब बड़े-बड़े ब्रिटिश अफ़सर, यहांतक कि भारतमंत्री भी, हिन्दुस्तान के भूत और वर्तमान का कल्पित चित्र खींचते हैं और ऐसी बातें कहते हैं जिनकी वास्तव में कोई बुनियाद ही नहीं होती, तो एक बड़ा धक्का लगता है। यह कितने असाधारण आश्चर्य की बात है कि कुछ विशेषज्ञों और दूसरे लोगों को छोड़कर अंग्रेज़ लोग हिन्दुस्तान के बारे में बेख़बर हैं! जबकि हक़ीक़तें ही उनकी पहुंच के बाहर है, तब हिन्दुस्तान की आत्मा तो उनकी पहुंच के कितने परे होगी! उन्होंने हिन्दुस्तान के शरीर पर अधिकार कर तो लिया, पर वह अधिकार बलात्कार का था। वे न तो उसकी आत्मा को ही समझते हैं और न समझने की कोशिश ही करते हैं। उन्होंने कभी उसकी आंख-से-आंख नहीं मिलाई। वे मिलाते भी कैसे! क्योंकि उनकी तो आंखें फिरी हुई थीं और उसकी शर्म व ज़िल्लत से झुकी हुई थीं। सदियों के इतने सम्पर्क के बाद भी जब वे एक-दूसरे के सामने आते हैं, तो अब भी अजनबी-से बने हुए हैं और दोनों के मन में एक-दूसरे के प्रति अरुचि के भाव भरे हुए हैं।

घोर अध:पतन और दरिद्रता होते हुए भी हिन्दुस्तान में काफी शालीनता और महानता है। और हालांकि वह पुरानी परम्परा और मौजूदा मुसीबतों से काफ़ी दबा हुआ है और उसकी पलकें थकान से कुछ भारी मालूम होती हैं, फिर भी "अन्दर से निखरती हुई सौन्दर्य-कान्ति उसके शरीर पर चमकती है। उसके

अणु-परमाणु में अद्भुत विचारों, स्वच्छन्द कल्पनाओं और उत्कृष्ट मनोभावों की झलक दिखाई देती है। उसके जीर्ण-शीर्ण शरीर में अब भी आत्मा की भव्यता झलकती है। अपनी इस लम्बी यात्रा में वह कई युगों से होकर गुज़रा है, और रास्ते में उसने बहुत ज्ञान और अनुभव संचित किया है, दूसरे देशवासियों से देन-लेन किया है, उन्हें अपने बड़े कुटुम्ब में मिला लिया है, उत्थान और पतन, समृद्धि और ह्रास के दिन देखे हैं, बड़ी-बड़ी ज़िल्लतें उठाई हैं, महान् दुःख झेले हैं और कई अद्भुत दृश्य देखे हैं; लेकिन अपनी इस सारी लम्बी यात्रा में उसने अपनी अति प्राचीन संस्कृति को नहीं छोड़ा है। उससे उसने बल और जीवन-शक्ति प्राप्त की है और दूसरे देश के लोगों को उसका स्वाद भी चखाया है। घड़ी के कांटे की तरह वह कभी ऊपर गया और कभी नीचे आया है। अपने साहसिक विचारों से स्वर्ग और ईश्वर तक पहुंचने की उसने हिम्मत की है, उसके रहस्य खोलकर प्रकट किये हैं और उसे नरक-कुण्ड में गिरने का भी कटु अनुभव हुआ है। दुःखदायी अन्धविश्वासों और पतनकारी रस्म-रिवाज के बावजूद, जो कि उसमें घुस आये हैं और जिन्होंने उसे नीचे गिरा दिया है, उसने उस आदर्श को अपने हृदय से कभी नहीं भुलाया जो उसकी कुछ ज्ञानी सन्तानों ने इतिहास के उषा-काल में उसके लिए उपनिषदों में संचित किर दिया था। उसके ऋषियों की कुशाग्र-बुद्धि सदा खोज में लीन रहती थी, नवीनता को पाने की कोशिश करती थी और सत्य की शोध में व्याकुल रहती थी। वह जड़ सूत्रों को पकड़कर नहीं बैठी रही और न लुप्तप्राय विधि-विधानों, ध्येय-वचनों और निरर्थक कर्म-काण्डों में ही डूबी रही। न तो उन्होंने इस लोक में खुद अपने लिए कष्टों से छुटकारा चाहा, न उस लोक में स्वर्ग की इच्छा की। बल्कि उन्होंने ज्ञान और प्रकाश मांगा। "मुझे असत् से सत् की ओर लेजा; मुझे अन्धकार से प्रकाश की ओर लेजा; मुझे मृत्यु से अमरता की ओर लेजा।"[१] अपनी सबसे प्रसिद्ध प्रार्थना —गायत्री मन्त्र—में जिसका लाखों लोग आज भी नित्य जप करते हैं, ज्ञान और प्रकाश के लिए ही प्रार्थना की गई है।

हालांकि राजनैतिक दृष्टि से अक्सर उसके टुकड़े-टुकड़े होते रहे हैं, लेकन

---

[१]. 'असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्माऽमृतं गमय।'
—बृहदारण्यक उपनिषद् १-३-२७।

उसकी आध्यात्मिकता ने सदा ही उसकी सर्व-सामान्य संस्कृति की रक्षा की है और उसकी विविधताओं में हमेशा एक विलक्षण एकता रही है ।[1] सभी पुराने देशों की तरह इसमें भी अच्छाई और बुराई का एक अजीब मिश्रण था। मगर अच्छाई तो छिपी हुई थी और उसे खोजना पड़ता था; लेकिन सड़ांध ज़ाहिर थी, और सूरज की कड़ी तथा निठुर धूप ने उसे दुनिया के सामने प्रकट कर दिया ।

इटली और भारतवर्ष में कुछ समता है । दोनों प्राचीन देश हैं और दोनों की संस्कृति भी पुरानी है; हालांकि हिन्दुस्तान के मुकाबले में इटली ज़रा नया है और हिन्दुस्तान उससे बहुत विशाल । राजनैतिक दृष्टि से दोनों के टुकड़े-टुकड़े हो गए हैं । लेकिन इटालियनों की यह भावना कि हम 'इटालियन' हैं, हिन्दुस्तानियों की तरह कभी नहीं मिटी और उसकी तमाम विविधता और विरोधों में एकता ही मुख्य रही । इटली में वह एकता अधिकांश रोमन एकता थी; क्योंकि उस विशाल नगर का उस देश में बहुत प्रभुत्व रहा और वह एकता का स्रोत और प्रतीक रहा है । हिन्दुस्तान में ऐसा कोई एक केन्द्र या प्रधान नगर नहीं रहा । हालांकि काशी को पूर्व की मोक्षपुरी कह सकते हैं—हिन्दुस्तान के ही लिए नहीं बल्कि पूर्वी एशिया के लिए भी; लेकिन रोम की तरह काशी ने कभी साम्राज्य या लौकिक सत्ता के फेर में पड़ने की कोशिश नहीं की । सारे हिन्दुस्तान में भारतीय संस्कृति इतनी फैली हुई थी कि किसी भी एक भाग को संस्कृति का केन्द्र नहीं कह सकते । कन्याकुमारी से लेकर हिमालय में अमरनाथ और बदरीनाथ तक और द्वारिका से जगन्नाथपुरी तक एक ही से विचारों का प्रचार था और यदि

---

१. "हिन्दुस्तान में सबसे बड़ी परस्पर-विरोधी बात यह है कि इस विविधता के अन्दर एक भारी एकता समाई हुई है। यों सरसरी तौर पर वह नहीं दिखाई देती; क्योंकि किसी राजनैतिक एकता के द्वारा सारे देश को एक सूत्र में बांधने के रूप में इतिहास में उसने अपनेको प्रकट नहीं किया, लेकिन वास्तव में यह एक ऐसी असलियत है और इतनी शक्तिशाली है कि हिन्दुस्तान की मुस्लिम दुनिया को भी यह क़बूल करना पड़ता है कि उसके प्रभाव में आने से उसपर भी गहरा असर हुए बिना नहीं रहा ।"—'फ़्यूचर ऑफ़ ईस्ट एण्ड वेस्ट' में सर फ्रेडरिक ह्वाइट ।

किसी एक जगह में विचारों का विरोध होता तो उसकी प्रतिध्वनि देश के दूर-दूर हिस्सों तक पहुंच जाती थी।

इटली ने जिस प्रकार पश्चिमी यूरोप को धर्म और संस्कृति की भेंट दी, उसी प्रकार हिन्दुस्तान ने पूर्वी एशिया को संस्कृति और धर्म प्रदान किया; हालांकि चीन भी उतना ही पुराना और आदरणीय है जितना कि भारतवर्ष। और तब, जबकि इटली राजनैतिक दृष्टि से निर्बल होकर चित पड़ गया था, उसीकी संस्कृति का यूरोप में बोलबाला था।

मेटर्निख[१] ने कहा था कि इटली तो एक 'भौगोलिक शब्द' है; कितने ही भावी मेटर्निखों ने इसी शब्द का व्यवहार हिन्दुस्तान के लिए भी किया है। यह भी एक अजीब-सी बात है कि दोनों देशों की भौगोलिक स्थिति में भी समता है। लेकिन इंग्लैंड और आस्ट्रिया की तुलना तो इससे भी ज्यादा दिलचस्प है। क्योंकि बीसवीं सदी के इंग्लैंड की तुलना उन्नीसवीं सदी के उस मग़रूर, हठी और प्रतापी आस्ट्रिया के साथ की गई है जो था तो प्रतापी, मगर जिन जड़ों ने उसे ताक़त दी थी, वे सिकुड़ रही थीं और उस ज़बरदस्त वृक्ष में पतन के कीटाणु घुसकर उसे खोखला बना रहे थे।

यह एक अजीब बात है कि देश को मानव-रूप मे मानने की प्रवृत्ति को कोई रोक ही नहीं सकता। हमारी आदत ही ऐसी पड़ गई है और पहले के संस्कार भी ऐसे ही हैं। भारत 'भारत-माता' बन जाती है—एक सुन्दर स्त्री, बहुत ही वृद्ध होते हुए भी देखने में युवती, जिसकी आंखों मे दुःख और शून्यता भरी हुई, विदेशी और बाहरी लोगों के द्वारा अपमानित और प्रपीड़ित, और अपने पुत्र-पुत्रियों को अपनी रक्षा के लिए आर्त्त स्वर से पुकारती हुई। इस तरह का कोई चित्र हजारों लोगों की भावनाओं को उभाड़ देता और उनको कुछ करने और कुर्बान हो जाने के लिए प्रेरित करता है। लेकिन हिन्दुस्तान तो मुख्यतः उन किसानों

---

१. **मेटर्निख १८०७ से १८४८ तक आस्ट्रिया का प्रधान मन्त्री था। यह प्रगति-विरोधी और अराष्ट्रीयता की प्रत्यक्ष मूर्ति था और अपनी चाणक्य-नीति से जर्मनी और इटली को आस्ट्रिया के पंजे में इसने बहुत दिनों तक रखा था। नेपोलियन के पतन के बाद कोई २० साल तक मेटर्निख का डंका यूरोप में बजता था। १८४८ में जब जगह-जगह बलवे हुए, तब उसका अन्त हुआ।**

और मज़दूरों का देश है, जिनका चेहरा खूबसूरत नहीं है, क्योंकि ग़रीबी खूबसूरत नहीं होती। क्या वह सुन्दर स्त्री, जिसका हमने काल्पनिक चित्र खड़ा किया है, नंगे बदन और झुकी हुई कमरवाले, खेतों और कारखानों में काम करनेवाले किसानों और मज़दूरों का प्रतिनिधित्व करती है? या वह उन थोड़े-से लोगों के समूह का प्रतिनिधित्व करती है, जिन्होंने युगों से जनता को कुचला और चूसा है, उसपर कठोर-से-कठोर रिवाज़ लाद दिये हैं और उसमें से बहुतों को अछूत तक क़रार दे दिया है? हम अपनी काल्पनिक सृष्टि से सत्य को ढकने की कोशिश करते हैं और असलियत से अपनेको बचाकर सपनों की दुनिया में विचरने का प्रयत्न करते हैं।

मगर इन अलग-अलग जात-पांत और उनके आपसी संघर्षों के होते हुए भी उन सबमें एक ऐसा सूत्र था जो हिन्दुस्तान में सबको एक साथ बांधे हुए था, और उसकी दृढ़ता और शक्ति देखकर दांतों अंगुली दबानी पड़ती है। इस शक्ति का क्या कारण था? वह केवल निष्क्रिय शक्ति, जड़ता और परम्परा का ही प्रभाव नहीं था, हालांकि यों तो इनकी भी महत्ता कुछ कम नहीं थी। वह तो एक सक्रिय और पोषक तत्त्व था; क्योंकि उसने ज़ोरदार बाहरी प्रभावों का सफलतापूर्वक प्रतीकार किया है और जो-जो भीतरी ताक़तें उसके मुक़ाबले के लिए उठ खड़ी हुईं, उन्हें आत्मसात् कर लिया। और फिर भी, इस सारी ताक़त के रहते हुए भी, वह राजनैतिक सत्ता को क़ायम न रख सका या राजनैतिक एकता को सिद्ध करने की कोशिश न कर सका। ऐसा जान पड़ता है कि ये दोनों बातें इतना परिश्रम करने योग्य नहीं जान पड़ीं। उनके महत्त्व की मूर्खतापूर्ण अवहेलना की गई और इससे हमें बड़ी हानि उठानी पड़ी है। सारे इतिहास में भारत के प्राचीन आदर्श में कहीं भी राजनैतिक या सैनिक विजय का गुणगान नहीं किया गया। वह धन-सम्पत्ति को और धन कमानेवाले वर्गों को घृणा की दृष्टि से देखता था; सम्मान और धन-सम्पत्ति दोनों एक साथ नहीं रहते थे, और सम्मान तो, कम-से-कम सिद्धान्त में, उसको मिलता था जो जाति की सेवा करता था और वह भी आर्थिक पुरस्कार की आशा न रखते हुए।

यों तो पुरानी संस्कृति ने बहुतेरे भीषण तूफ़ानों और बवण्डरों में भी अपने को जीवित रक्खा है, और यद्यपि उसने अपना बाहरी रूप क़ायम रख छोड़ा है फिर भी वह अपना भीतरी असली तत्त्व खो चुकी है। आज वह चुपचाप और

जी-जान लगाकर एक नई और सर्वशक्तिमान् पश्चिम की प्रतिद्वन्द्विनी बनिया-संस्कृति से लड़ रही है। वह इस नवागन्तुका संस्कृति से परास्त हो जायगी; क्योंकि पश्चिम के पास विज्ञान है और विज्ञान लाखों भूखों को भोजन देता है। मगर पश्चिम इस एक-दूसरे का गला काटनेवाली सभ्यता की बुराइयों का इलाज भी अपने साथ लाया है—साम्यवाद का, सहयोग का, सबके हित के लिए जाति या समाज की सेवा करने का सिद्धांत। यह भारत के पुराने ब्राह्मणोचित सेवा के आदर्श से बहुत भिन्न नहीं है; लेकिन इसका अर्थ है तमाम जातियों, वर्गों और समूहों को ब्राह्मण बना देना (अवश्य ही धार्मिक अर्थ में नहीं) और जाति-भेद को मिटा देना। हो सकता है कि जब भारत इस लिबास को पहनेगा, और वह ज़रूर पहनेगा, क्योंकि पुराना लिबास तो चिथड़े-चिथड़े हो गया है, तो उसे उसमें इस तरह काट-छांट करनी पड़ेगी जिससे वह मौजूदा अवस्थाओं और पुराने विचारों, दोनों का मेल साध सके। जिन विचारों को वह ग्रहण करे, वे अवश्य उसकी भूमि के समरस हो जाने चाहिए।

: ५४ :

ब्रिटिश शासन का कच्चा चिट्ठा

हिन्दुस्तान में ब्रिटिश शासन का इतिहास कैसा रहा ? मुझे यह सम्भव नहीं मालूम होता कि कोई भी हिन्दुस्तानी या अंग्रेज़ इस लम्बे इतिहास पर निष्पक्ष और निर्लिप्त रूप से विचार कर सकता हो। और यह सम्भव भी हो तो मनो-वैज्ञानिक तथा अन्य सूक्ष्म घटनाओं को तौलना और जांचना तो और भी कठिन होगा। हमसे कहा जाता है कि ब्रिटिश शासन ने "भारतवर्ष को वह चीज़ दी है जो सदियों मे भी उसे हासिल नहीं हुई—अर्थात ऐसी सरकार, जिसकी सत्ता इस उपमहाद्वीप के कोने-कोने में मानी जाती है;"[१] इसने क़ानून का राज्य और एक न्यायोचित तथा निपुणतापूर्ण शासन-व्यवस्था स्थापित की है; इसने हिन्दुस्तान को पार्लमेण्टरी शासन की कल्पना तथा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता प्रदान की है; और "ब्रिटिश भारत को एक संगठित एकछत्र राज्य मे परिवर्तित करके भारतवासियों में परस्पर राजनैतिक एकता की भावना को जन्म दिया है"[२] और इस प्रकार राष्ट्रीयता के अंकुर का पोषण किया है। अंग्रेजों का यही दावा है और इसमें बहुत-कुछ सचाई भी है; हालांकि न्याययुक्त शासन और व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य बहुत वर्षों से नजर नहीं आ रहे हैं।

इस युग का भारतीय सिंहावलोकन अन्य कई बातों को महत्व देता है और उस आर्थिक तथा आध्यात्मिक क्षति का दिग्दर्शन कराता है जो विदेशी शासन के कारण हमको पहुंची है। दोनों के दृष्टिकोण में इतना अन्तर है कि कभी-कभी जिस बात की अंग्रेज़ लोग तारीफ़ करते हैं, उसी बात की हिन्दुस्तानी लोग निन्दा करते है। जैसा कि डाक्टर आनन्दकुमार स्वामी ने लिखा है—"भारत में अंग्रेज़ी राज्य की एक सबसे ज्यादा विलक्षण बात यह रही है कि हिन्दुस्तानियों

---

१. २. ये उद्धरण भारतीय शासन-सुधार सम्बन्धी जॉइण्ट पार्लमेंटरी कमेटी (१९३४) की रिपोर्ट से लिये गए हैं।

को पहुंचाई जानेवाली बड़ी-से-बड़ी हानि भी बाहर से भलाई ही मालूम होती है ।"

सच तो यह है कि पिछले सौ या कुछ ज्यादा बरसों में हिन्दुस्तान मे जो परिवर्तन हुए हैं वे संसारव्यापी हैं और वे पूर्व और पश्चिम के अधिकांश देशों में समान रूप से हुए हैं। पश्चिमी यूरोप में, और इसके बाद बाक़ी के देशों में भी, उद्योगवाद के विकास के परिणामस्वरूप सब जगह राष्ट्रीयता और सुदृढ़ एकछत्र राज्य-सत्ता का उदय हुआ। अंग्रेज़ लोग इस बात का श्रेय ले सकते हैं कि उन्होंने पहली बार भारतवर्ष का द्वार पश्चिम के लिए खोला और उसे पश्चिमी उद्योगवाद तथा विज्ञान का एक हिस्सा प्रदान किया। परन्तु इतना कर चुकने पर वे इस देश के अधिकतर औद्योगिक विकास का गला घोंटते रहे, जबतक कि परिस्थिति ने इससे बाज़ आने के लिए उन्हें मजबूर नहीं कर दिया। हिन्दुस्तान तो पहले ही दो संस्कृतियों का सम्मिलन-क्षेत्र था; एक तो पश्चिमी एशिया से आई हुई इस्लाम की संस्कृति और दूसरी स्वयं उसकी पूर्वी संस्कृति, जो सुदूर-पूर्व तक फैल गई थी। और सुदूर पश्चिम से एक तीसरी और अधिक ज़ोरदार लहर आई, तब भारतवर्ष भिन्न-भिन्न पुराने तथा नये विचारों का आकर्षण-केन्द्र तथा युद्ध-क्षेत्र बन गया। इसमें शक नहीं कि यह तीसरी लहर विजयी हो जाती और हिन्दुस्तान के बहुत-से पुराने सवालों को हल कर देती; लेकिन अंग्रेज़ों ने, जो खुद इस लहर को लाने में सहायक हुए थे, इसकी प्रगति रोकने का प्रयत्न किया। उन्होंने हमारी औद्योगिक उन्नति रोक दी और इस तरह हमारी राजनैतिक उन्नति में बाधा डाल दी; और जितनी पुरानी मांडलिकशाही या दूसरी पुरानी रूढ़ियां उन्हें यहां मिलीं, उन सबका उन्होंने पोषण किया। उन्होंने हमारे परिवर्तनशील, और कुछ हदतक प्रगतिशील, क़ानूनों और रिवाज़ों तक को भी जिस स्थिति में पाया, उसी स्थिति में जमा दिया और हमारे लिए उनकी ज़ंजीरों से छुटकारा पाना मुश्किल कर दिया। हिन्दुस्तान में मध्यमवर्ग का उदय कोई इन लोगों की सद्भावना या सहायता से नहीं हुआ। परन्तु रेल और उद्योगवाद के दूसरे उपकरणों का प्रचार करने के बाद वे परिवर्तन की गति को बन्द नहीं कर सके; वे तो उसे केवल रोकने और धीमी करने में ही समर्थ हुए और इससे उन्हें स्पष्ट रूप से लाभ हुआ।

"भारतीय शासन की शाही इमारत इसी पुख़्ता नींव पर खड़ी की गई है और बड़े निश्चय के साथ यह दावा किया जा सकता है कि १८५८ से, जबकि ईस्ट-

इण्डिया कम्पनी के सारे प्रदेश पर सम्राट् की हुकूमत मानी गई, आजतक हिन्दुस्तान की शिक्षा-सम्बन्धी और भौतिक उन्नति उससे कहीं ज्यादा हुई है जितनी अपने लम्बे और उतार-चढ़ाव के इतिहास के किसी भी काल में हासिल करना उसके लिए सम्भव था।"[1] लेकिन यह बात इतनी सही नहीं मालूम होती जैसीकि ऊपर से मालूम होती है और यह बार-बार कहा गया है कि अंग्रेज़ी राज्य का उदय होने से साक्षरता में तो दरअसल कमी आ गई है। लेकिन यह कथन बिलकुल सच भी हो तो उसका मतलब है आधुनिक औद्योगिक युग की प्राचीन युगों से तुलना करना। विज्ञान और उद्योगवाद के कारण दुनिया के क़रीब-क़रीब सभी देशों में, पिछली सदी में, बहुत अधिक शिक्षा-सम्बन्धी और भौतिक उन्नति हुई है। और ऐसे किसी भी देश के बारे में यह यक़ीनन कहा जा सकता है कि इस तरह की उन्नति "उससे कहीं ज्यादा हुई है जितनी अपने लम्बे और उतार-चढ़ाव के इतिहास के किसी भी काल में हासिल करना उसके लिए सम्भव था।" हालांकि शायद उस देश का इतिहास भारत के इतिहास से पुराना न हो। अगर हम यह कहें कि इस तरह की उन्नति हमको उस औद्योगिक युग में ब्रिटिश शासन के न होने पर भी हासिल हो सकती थी, तो क्या यह फ़िज़ूल का ही झगड़ा या ज़िद है? और सचमुच में अगर हम बहुत-से दूसरे देशों की हालत से अपनी हालत का मुक़ाबला करें तो क्या हम यह कहने का साहस न करें कि इस प्रकार की उन्नति और भी ज्यादा होती? क्योंकि हमें अंग्रेज़ों के उस प्रयत्न का भी तो सामना करना पड़ा है जो उन्होंने इस उन्नति का गला घोंटने के लिए किया। रेल तार, टेलीफ़ोन, बेतार के तार आदि अंग्रेज़ी राज्य की अच्छाई और भलाई की कसौटी नहीं माने जा सकते। ये वांछनीय और आवश्यक थे, और चूंकि अंग्रेज़ लोग, संयोगवश, इनको सबसे पहले लेकर आये, इसलिए हमें उनका अहसानमन्द होना चाहिए। लेकिन उद्योगवाद के ये चोबदार भी हमारे पास ख़ासतौर पर ब्रिटिश राज्य को मज़बूत करने के लिए लाये गए। ये तो नसें और नाड़ियां थीं जिनमें होकर राष्ट्र के ख़ून को बहना चाहिए था, जिससे व्यापार की तरक़्क़ी होती, पैदावार एक जगह से दूसरी जगह पहुंचाई जाती और करोड़ों मनुष्यों को नई ज़िन्दगी और धन हासिल होता। यह सही है कि आख़िरकार इस तरह का कोई-न-कोई नतीजा निकलता ही; लेकिन

[1]. **जॉइन्ट पार्लमेण्टरी कमेटी (१९३४) की रिपोर्ट।**

इन्हें जमाने और काम में लाने का मक़सद ही दूसरा था—साम्राज्य के पंजे को मज़बूत करना और अंग्रेज़ी माल का बाज़ार पर क़ब्ज़ा जमाना—जिसके पूरा करने में यह लोग कामयाब भी हो गये। मै औद्योगीकरण और माल को दिसावर भेजने के नये-से-नये तरीक़ों के बिलकुल पक्ष में हूं; लेकिन कभी-कभी, हिन्दुस्तान के मैदान में सफर करते हुए, मुझे यह जीवनदायी रेल भी लोहे के बन्धनों के समान मालूम पड़ी है, जो भारतवर्ष को जकड़े और बन्दी बनाये हुए है।

हिन्दुस्तान में अंग्रेज़ों ने अपने शासन का आधार पुलिस-राज्य की कल्पना पर रक्खा है। शासन का काम तो सिर्फ़ सरकार की रक्षा करना था और बाक़ी सब काम दूसरों पर थे। उसके सार्वजनिक राजस्व का सम्बन्ध फौजी खर्च, पुलिस, शासन-व्यवस्था और क़र्ज़े के ब्याज से था। नागरिकों की आर्थिक ज़रूरतों पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता था और वे ब्रिटिश हितों पर कुर्बान कर दी जाती थीं। जनता की सांस्कृतिक और दूसरी आवश्यकताएं, कुछ थोड़ी-सी छोड़कर, सब ताक पर रख दी जाती थीं। सार्वजनिक स्वराज की परिवर्तनशील धारणाएं, जिनके फलस्वरूप अन्य देशों में निःशुल्क और देशव्यापी शिक्षा, जनता के स्वास्थ्य की उन्नति, निर्धन और जर्जर व्यक्तियों का पालन, श्रमजीवियों की बीमारी, बुढ़ापे तथा बेकारी के लिए बीमा आदि बातें जारी हुईं, लगभग सरकार की कल्पना से बाहर की बातें थीं। वह इन खर्चीले कामों में नहीं पड़ सकती थी; क्योंकि उसकी कर-प्रणाली अत्यन्त प्रगतिविरोधी थी, जिसके द्वारा अधिक आमदनीवालों की बनिस्बत कम आमदनीवालों से अनुपात में अधिक कर वसूल किया जाता था, और रक्षा और शासन के कामों पर उसका इतना अधिक ख़र्च था कि वह क़रीब-क़रीब सारी आमदनी को चट कर जाता था।

अंग्रेज़ी शासन की सबसे मुख्य बात यह थी कि सिर्फ़ ऐसी ही बातों पर ध्यान दिया जाय, जिनसे मुल्क पर उनका राजनैतिक और आर्थिक क़ब्ज़ा मजबूत हो। बाक़ी सब बातें गौण थीं। अगर उन्होंने एक शक्तिशाली केन्द्रीय शासन-व्यवस्था और एक होशियार पुलिस-दल की रचना कर डाली तो इस सफलता के लिए वे श्रेय ले सकते हैं; लेकिन भारतवासी इसके लिए अपने-आपको भाग्यशाली शायद ही कह सकें। एकता चीज़ अच्छी है, लेकिन पराधीनता की एकता कोई गर्व करने की वस्तु नहीं है। एक स्वेच्छाचारी शासन का बल ही जनता के ऊपर एक बड़ा भारी बोझ बन सकता है; और पुलिस की शक्ति, अनेक दिशाओं में

निस्सन्देह उपयोगी होते हुए भी, जिन लोगों की वह रक्षक मानी जाती है उन्हींके खिलाफ़ खड़ी की जा सकती है, और बहुत बार की भी गई है। बट्रॅण्ड रसेल ने आधुनिक सभ्यता की तुलना यूनान की प्राचीन सभ्यता से करते हुए हाल ही में लिखा है—"हमारी सभ्यता के मुक़ाबले यूनान की सभ्यता की खाली यही विचारणीय श्रेष्ठता थी कि उसकी पुलिस अयोग्य थी, जिसके कारण ज़्यादातर भले आदमी अपने-आपको उसके चंगुल से बचा सकते थे।"

भारत में अंग्रेज़ों के आधिपत्य से हमें शांति मिली है। हिन्दुस्तान को मुग़ल-साम्राज्य के भंग होने के पश्चात् होनेवाले कष्टों और संकटों के बाद शांति की ज़रूरत भी थी, इसमें शक नहीं। शांति एक बड़ी मूल्यवान वस्तु है, जो किसी भी तरह की उन्नति के लिए आवश्यक है, और जब वह हमको मिली तो हमने उसका स्वागत किया; लेकिन उसके मूल्य की भी एक सीमा होनी चाहिए। अगर वह किसी भी मूल्य पर खरीदी जायगी तो हमें जो शांति मिलेगी वह श्मशान-शांति होगी। और उसके ज़रिये हमें जो हिफ़ाज़त मिलेगी वह होगी पिंजरे या जेलखाने की हिफ़ाज़त। या वह शांति ऐसे लोगों की विवश निराशा हो सकती है जो अपनी उन्नति करने के क़ाबिल न रहे हों। विदेशी विजेता की स्थापित की हुई शांति में वे विश्रामप्रद और सुखदायक गुण मुश्किल से पाये जाते हैं, जो सच्ची शांति में होते हैं। युद्ध बड़ी भयंकर चीज़ है और इससे बचना चाहिए; लेकिन मनोवैज्ञानिक विलियम जेम्स के कथनानुसार यह निस्सन्देह कुछ गुणों को प्रोत्साहन देता है, जैसे एकनिष्ठा, संगठन, शक्ति, दृढ़ता, वीरता, आत्मविश्वास, शिक्षा, शोधक बुद्धि, मितव्ययिता, शारीरिक आरोग्य और पौरुष। इसी कारण जेम्स ने युद्ध का एक ऐसा नैतिक रूपान्तर तलाश करने की कोशिश की जो युद्ध की भयंकरता के बिना ही किसी जाति में इन गुणों को उत्तेजना दे। अगर उन्हें असहयोग और सविनय-भंग का ज्ञान होता तो शायद उनको मनोवांछित वस्तु, अर्थात् युद्ध का नैतिक और शांतिमय रूपान्तर, मिल गया होता।

इतिहास की 'अगर-मगर' और सम्भावनाओं पर विचार करना फ़िज़ूल है। मेरा विश्वास है कि हिन्दुस्तान का विज्ञानशील और उद्योगवान यूरोप के सम्पर्क में आना अच्छा ही हुआ। विज्ञान पश्चिम की एक बड़ी भारी देन है और हिन्दुस्तान में इसकी कमी थी, इसके बिना उसकी मृत्यु अवश्यम्भावी भी थी। लेकिन जिस तरह हमारा उससे सम्बन्ध स्थापित हुआ, वह दुर्भाग्यपूर्ण था। मगर फिर

भी, शायद सिर्फ़ ज़ोर-ज़ोर की लगातार टक्करें ही हमें गहरी नींद से जगा सकती थीं। इस दृष्टि से प्रोटेस्टेण्ट, व्यक्तिवादी, ऐंग्लो-सेक्सन अंग्रेज लोग इस काम के लिए उपयुक्त थे, क्योंकि अन्य पश्चिमी जातियों की बनिस्बत उनमें और हमारे में बहुत ज़्यादा फ़र्क़ था और वे हमें अधिक ज़ोर की टक्कर लगा सकते थे।

उन्होंने हमें राजनैतिक एकता दी, जो एक वांछनीय वस्तु थी; पर हमारे अन्दर यह एकता होती या न होती तो भी भारतीय राष्ट्रीयता तो बढ़ती ही और इस प्रकार की एकता का तकाज़ा भी करती। आजकल अरब बहुत-सी मुख्तलिफ़ रियासतों मे बंटा हुआ है जो स्वतन्त्र, परतन्त्र, रक्षित इत्यादि हैं; लेकिन उन सबमें एक अरबी राष्ट्रीयता की भावना दौड़ रही है। इसमे कोई शक नहीं कि अगर पश्चिमी साम्राज्यवादी शक्तियां उसके मार्ग मे बाधक न हों तो राष्ट्रीयता बहुत हद तक इस एकता को प्राप्त कर ले। लेकिन जैसा कि हिन्दुस्तान में किया जा रहा है, इन शक्तियों का इरादा यही रहता है कि झगड़ालू प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन दिया जाय और अल्प-मत की समस्याएं पैदा कर दी जायं, जिससे राष्ट्रीयता का जोश ठंडा पड़ जाय और कुछ अंश तक रुक जाय, तथा साम्राज्यवादी शक्ति को बने रहने और निष्पक्ष जांच होने का दावा करने का बहाना मिल जाय।

हिन्दुस्तान की राजनैतिक एकता गौण रूप से साम्राज्य की वृद्धि के घुणाक्षर न्याय से प्राप्त हुई है। बाद में जब यह एकता राष्ट्रीयता के साथ मिल गई और विदेशी राज्य को चुनौती देने लगी तो हमारे सामने फूट डालने और साम्प्रदायिकता को जान-बूझकर बढ़ाये जाने के दृश्य आने लगे जो हमारी भावी उन्नति के मार्ग में ज़बरदस्त रोड़े हैं।

अंग्रेज़ों को यहां आये हुए कितना लम्बा अरसा हो गया! उन्हें अपना प्रभुत्व स्थापित किये पौने दो सौ वर्ष हो गये। स्वेच्छाचारी शासकों की भांति वे मन-चाही करने में स्वतन्त्र थे, और हिन्दुस्तान को अपनी मरज़ी के मुताबिक़ ढालने का उनके पास काफी सुन्दर मौक़ा था। इन वर्षों में संसार इतना बदल गया है कि पहचाना नहीं जा सकता—इंग्लैंड, यूरोप, अमेरिका, जापान आदि सब बदल गये हैं। अठारहवीं सदी के अटलांटिक महासागर के किनारे पर स्थित छोटे-मोटे अमेरिकन उपनिवेश आज मिलकर सबसे धनवान, सबसे शक्तिशाली और कला-विज्ञान में सबसे अधिक उन्नत राष्ट्र बन गये हैं; जापान में थोड़े-से ही समय में आश्चर्यजनक परिवर्तन हो गया है; रूस के विशाल प्रदेश में, जहां अभी कल

तक ही ज़ार के शासन का फौलादी पंजा सब प्रकार की उन्नतियों का गला दबा रहा था, आज नवजीवन लहलहा रहा है और हमारे सामने एक नई दुनिया खड़ी हो गई है। हिन्दुस्तान में भी बड़े भारी परिवर्तन हुए हैं और अठारहवीं शताब्दी की अपेक्षा आज का देश उससे बहुत भिन्न है—रेलें, नहरें, कारखाने, स्कूल और कालेज, बड़े-बड़े सरकारी दफ्तर आदि बन गये हैं।

और फिर भी, इन परिवर्तनों के बावजूद आज हिन्दुस्तान की क्या अवस्था है ? वह एक ग़ुलाम देश है, जिसकी महान् शक्ति पिंजड़े में बन्द कर दी गई है; जो खुलकर सांस लेने की भी हिम्मत नहीं कर सकता; जो बहुत दूर रहनेवाले विदेशियों द्वारा शासित है; जिसके निवासी नितान्त निर्धन, थोड़ी उम्र में मरने-वाले और रोगों तथा महामारियों से अपने-आपको बचाने में असमर्थ हैं; जहां अशिक्षा चारों ओर फैली हुई है; जहां के बहुत बड़े-बड़े प्रदेश हर तरह की सफ़ाई या चिकित्सा के साधनों से रहित हैं; जहां मध्यमवर्ग और सर्वसाधारण दोनों में बड़ी भारी पैमाने पर बेकारी है। हमसे कहा जाता है कि 'स्वाधीनता', 'जनसत्तावाद', 'समाजवाद', 'साम्यवाद' आदि अव्यावहारिक आदर्शवादियों, सिद्धान्तवादियों अथवा धोखेबाजों की पुकार है; असली कसौटी तो समस्त जनता की भलाई होनी चाहिए। यह वास्तव में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कसौटी है; लेकिन इस कसौटी पर भी आज हिन्दुस्तान बहुत ही हलका उतरता है। हम अन्य देशों में बेकारी कम करने तथा कष्टों को दूर करने की बड़ी-बड़ी योजनाओं की बातें पढ़ते हैं, लेकिन हमारे यहां के करोड़ों बेकारों और चारों ओर स्थायी रूप से फैले हुए घोर कष्टों को कौन पूछता है ! हम दूसरे देशों की गृह-योजनाओं के विषय में भी सुनते हैं, लेकिन हमारे यहां के करोड़ों मनुष्यों के पास, जो कच्ची झोपड़ियों में रहते हैं या जिनके पास रहने तक को जगह नहीं, मकान कहां हैं ! क्या हमें दूसरे देशों की हालत से ईर्ष्या न होगी जहां शिक्षा, सफाई, चिकित्सा-प्रबन्ध, सांस्कृतिक सुविधाएं और पैदावार बड़ी शीघ्रता से उन्नति कर रही है, जबकि हम लोग जहां थे वहीं खड़े हुए हैं या बड़ी दिक़्क़त के साथ चींटी की तरह रेंग रहे हैं ? रूस ने बारह साल के थोड़े-से समय में ही आश्चर्यजनक प्रयत्नों से अपने विशाल देश की अशिक्षा का क़रीब-क़रीब अन्त कर दिया है और शिक्षा की एक सुन्दर और आधुनिक प्रणाली का विकास किया है, जो जनता के जीवन से सम्पर्क रखती है। पिछड़े हुए टर्की ने अतातुर्क मुस्तफा कमाल के नेतृत्व में देश-

व्यापी शिक्षा-प्रसार के मार्ग में बहुत लम्बा कदम बढ़ाया है। फासिस्ट इटली ने अपने जीवन के आरम्भ में ही ज़ोरों से अशिक्षा पर आक्रमण किया। शिक्षा-सचिव जेंटाइल ने आवाज़ उठाई कि "निरक्षरता पर सामने से हमला होना चाहिए। यह प्लेग का फोड़ा, जो हमारे राजनैतिक शरीर को सड़ा रहा है, गरम लोहे से दाग़ दिया जाना चाहिए।" ड्राइंग-रूम में बैठकर बातें करने मे ये शब्द भले ही कठोर मालूम हों, लेकिन इनके द्वारा इस विचार की तह में रहनेवाली दृढ़ता और शक्ति प्रकट होती है। हम लोग अधिक विनम्र हैं और बहुत चिकने-चुपड़े वाक्यों का प्रयोग करते हैं। हम लोग खूब फूंक-फूंककर कदम रखते हैं और अपनी तमाम शक्तियों को कमीशनों और कमेटियों में बरबाद कर देते हैं।

हिन्दुस्तानियों पर यह दोषारोप किया जाता है कि वे बातें तो बहुत ज़्यादा करते है पर काम ज़रा भी नहीं। यह आरोप ठीक भी है। लेकिन क्या हम अंग्रेज़ों की ऐसी कमेटियों और कमीशनों की अथक क्षमता पर आश्चर्य प्रकट न करें जिनमें से हरेक, बड़े परिश्रम के बाद एक विद्वत्तापूर्ण रिपोर्ट—"एक महान सरकारी ख़रीता"—तैयार करता है, जो बाक़ायदा तारीफ़ किये जाने के बाद दाख़िल-दफ्तर कर दी जाती है। और इस तरह से हमको आगे बढ़ने का, प्रगति का, भास तो होता है लेकिन हम रहते वहीं-के-वहीं हैं। सम्मान भी रह जाता है और हमारे स्थापित स्वार्थ भी अछूते और सुरक्षित बने रहते हैं। दूसरे देश यह सोचते हैं कि किस तरह आगे बढ़ें; हम रुकावटों, अटकावों और संरक्षणों का विचार करते है कि कहीं ज़रूरत से ज़्यादा तेज़ न चलने लगें।

"शाही शान-शौक़त रिआया की ग़रीबी का पैमाना बन गई"—मुग़ल-साम्राज्य के बारे में यह बात हमको (जॉइण्ट पार्लमेंटरी कमेटी १९३४ के द्वारा) बतलाई जाती है। यह बात ठीक है; लेकिन क्या हम उसी नाप को आज काम में नहीं ला सकते? आज यह वाइसराय की शान-शौक़त और तड़क-भड़क सहित नई दिल्ली और प्रान्तीय गवर्नर और उनकी नुमायशी टीम-टाम आखिर क्या है? और इन सबके पीछे है हैरत में डालनेवाली हद दरजे की ग़रीबी! यह परस्पर-विरोध दिल को चोट पहुंचाता है और यह कल्पना करना कठिन है कि कोमल हृदय के लोग इसको किस तरह बरदाश्त कर सकते हैं। तमाम शाही वैभव के पीछे आज हिन्दुस्तान में एक बड़ा दैन्यपूर्ण और शोकमय दृश्य है। शाही शान-शौक़त पेबन्द लगाकर दिखावट के लिए खड़ी कर दी गई है, लेकिन इसके

पीछे निम्न मध्यमवर्ग के दुखी लोग हैं, जो ज़माने की हालतों से पिसते ही चले जा रहे हैं। इनके भी पीछे मज़दूर लोग हैं, जो पीस डालनेवाली ग़रीबी में कम-बख़्ती की ज़िन्दगी बसर कर रहे हैं और इनके बाद हिन्दुस्तान के प्रतीक, वे किसान लोग हैं, जिनके भाग्य में "अनन्त अन्धकार में रहना" ही लिखा है।

"आह ! पीठ पर ले कितनी सदियों का भारी भार,
झुका खड़ा अपने हल पर धरती को रहा निहार !!
युग-युग का सूनापन उसके ही मुह पर लो देख,
सिर पर उसके और बोझ बन बैठा है संसार !!!

× × ×

झांक रही ठठरी से युग-युग की पीड़ा दुर्दान्त,
झुकना है या महाकाल का यह इतिहास दुःखान्त।
रोती है स्रष्टा से दुखड़ा—यही भविष्यद्वाक्,
ठगी-लुटी, पीड़ित-अपमानित मानवता आक्रान्त!"[1]

हिन्दुस्तान की सारी तकलीफ़ों का दोष अंग्रेजों के सिर मढ़ना ठीक नहीं होगा। इसकी ज़िम्मेदारी तो हमको अपने ही कन्धों पर लेनी पड़ेगी और उससे हम बच भी नहीं सकते; अपनी कमज़ोरी के अनिवार्य परिणामों के लिए दूसरों को दोष देना अच्छा नहीं मालूम होता। एक हाकिमाना शासन-प्रणाली, ख़ासकर एक विदेशी शासन-प्रणाली, जरूर ग़ुलाम मनोवृत्ति को प्रोत्साहन देगी और रिआया के दृष्टि-कोण और दृष्टि-क्षेत्र को सीमित रखने का प्रयत्न करेगी। उसे तो नवयुवकों की सबसे उत्तम प्रवृत्तियों—उद्योग, जोखिम उठाने की भावना, मौलिकता, तेजस्विता—को पीस डालना, और काम से जी चुराना, लकीर के फकीर बने रहना और अफसरों की कदमबोसी और चापलूसी करने की इच्छा आदि को प्रोत्साहन देना ही अभीष्ट है। इस प्रकार की प्रणाली से सच्ची सेवा-वृत्ति, सार्व-जनिक सेवा या आदर्श की लगन. उत्पन्न नहीं होती; यह तो ऐसे लोगों को छांट लेती है जिनमें सेवा के भाव बहुत कम हों और जिनका एकमात्र उद्देश्य मौज से ज़िन्दगी बसर करना हो। हम देखते हैं कि हिन्दुस्तान में अंग्रेज़ लोग कैसे व्यक्तियों

---

[1]अमेरिका के कवि ई० मारखम की "The man with the Hoe" (फावड़ेवाला आदमी) नामक कविता के एक अंश का भावानुवाद।

को अपनी ओर आकर्षित करते हैं ! इनमें से कुछ तो कुशाग्र-बुद्धि और अच्छा काम करने लायक़ होते हैं। ये लोग दूसरी जगह मौक़ा न मिलने के कारण सरकारी या अर्द्ध-सरकारी नौकरियों में पड़कर धीरे-धीरे नरम हो जाते हैं और उस बड़ी मशीन के पुरज़े-मात्र बन जाते हैं; उनके दिमाग़ काम के सुस्त ढर्रे में क़ैद हो जाते हैं। वे नौकरशाही के गुण—"क्लर्की करने का ख़ूब अच्छा ज्ञान और दफ़्तर चलाने का कौशल"—प्राप्त कर लेते हैं। सार्वजनिक सेवा में ज़्यादा-से-ज़्यादा उनकी मौखिक भक्ति होती है। उबलता हुआ जोश वहां न तो होता है और न हो सकता है। विदेशी सरकार के राज्य में यह सम्भव ही नहीं है।

लेकिन इनके अलावा अधिकतर छोटे-मोटे अफ़सर भी किसी तारीफ़ के क़ाबिल नहीं होते; क्योंकि उन्होंने तो सिर्फ़ अपने बड़े अफ़सरों की क़दमबोसी करना और अपने मातहतों को डांटना ही सीखा है। इसमें उनका क़ुसूर नहीं है, यह शिक्षा तो उन्हें शासन-प्रणाली से ही मिलती है। अगर चापलूसी और रिश्तेदारों के साथ रिआयत फूलती-फलती है, जैसा कि अक्सर होता है, तो इसमें ताज्जुब ही क्या है ? नौकरी में उनका कोई आदर्श नहीं रहता; उनके पीछे तो बेकारी और उसके परिणामस्वरूप भूखों मरने के डर का भूत लगा रहता है, और उनकी ख़ास नीयत यह रहती है कि अपनी नौकरी से चिपके रहें और अपने रिश्तेदारों और दोस्तों के लिए और दूसरी नौकरियां प्राप्त करें। जहां भेदिया, और सबसे ज़्यादा घृणित जीव, मुख़बिर, हमेशा पीछे-पीछे लगे फिरते रहते हैं, वहां लोगों में अधिक वांछनीय गुणों की वृद्धि होना कठिन है।

हाल की घटनाओं ने तो भावुक और सार्वजनिक सेवा के भावोंवाले व्यक्तियों के लिए सरकारी नौकरी में घुसना और भी मुश्किल कर दिया है। सरकार तो उनको चाहती ही नहीं और वे भी उससे उस समय तक घनिष्ठ सम्बन्ध रखना नहीं चाहते, जबतक कि वे आर्थिक परिस्थिति से मजबूर न हो जायं।

लेकिन, जैसा कि सारी दुनिया जानती है, साम्राज्य का भार गोरों पर है, कालों पर नहीं। साम्राज्य की परम्परा जारी रखने के लिए तरह-तरह की शाही नौकरियां और उनके विशेष अधिकारों को सुरक्षित रखने के लिए संरक्षकों की हमारे यहां भरमार है, और कहा जाता है कि ये सब हैं हिन्दुस्तान के ही हित के लिए। यह ताज्जुब की बात है कि हिन्दुस्तान का हित किस तरह से इन ऊंची नौकरियों के स्पष्ट हितों और उन्नति के साथ बंधा हुआ है। हमसे कहा जाता

है कि अगर भारतीय सिविल सर्विस का कोई अधिकार या कोई ऊंचा ओहदा छीन लिया गया तो उसका नतीजा बदइन्तज़ामी और रिश्वतख़ोरी आदि होगा। अगर भारतीय मेडिकल सर्विस की रिज़र्व की हुई नौकरियां कम कर दी गईं तो यह बात "हिन्दुस्तान की तन्दुरुस्ती के लिए ख़तरनाक" हो जाती है ! और हां, अगर फ़ौज़ों में अंग्रेज़ों की संख्या पर हाथ लगाया गया तो दुनिया-भर के भयंकर ख़तरे हमारे सामने आ जाते हैं।

मेरा खयाल है कि इस बात में कुछ सचाई है कि अगर ऊंचे अफ़सर यकायक चले गये और अपने महकमों को मातहतों के भरोसे छोड़ गये तो इन्तज़ाम में कमी ज़रूर आयेगी। लेकिन यह तो इसलिए होगा कि सारी प्रणाली ही इस तरह की बनाई गई है, और मातहत लोग किसी हालत में भी कोई बहुत लायक़ नहीं हैं, न उनके कन्धों पर कभी जिम्मेदारी का बोझ डाला गया है। मुझे विश्वास है कि हिन्दुस्तान में अच्छी सामग्री बहुतायत से पड़ी हुई है और वह थोड़े ही समय में मिल भी सकती है, बशर्ते कि ठीक-ठीक उपाय काम में लाये जायं। लेकिन इसका अर्थ है हमारे शासन और समाज-सम्बन्धी दृष्टिकोण में आमूल परिवर्तन, जिसका अर्थ होता है एक नई राज्य-व्यवस्था।

अभी तो हमसे यही कहा जाता है कि शासन-विधान में चाहे जो परिवर्तन हमारे सामने आयें, हमारी देखरेख करनेवाला और हमें आश्रय देनेवाला बड़ी-बड़ी नौकरियों का मज़बूत ढांचा ज्यों-का-त्यों बना रहेगा। सरकारी मन्दिर के गूढ़तम रहस्यों को जानने और दूसरों को उनका अधिकारी बनानेवाले ये पण्डे लोग उनकी रक्षा करेंगे और अनधिकारी लोगों को उस पवित्र प्रांगण में न घुसने देंगे। क्रम-क्रम से जैसे-जैसे हम अपनेको उसके योग्य बनाते जायंगे, वैसे-वैसे वे एक के बाद दूसरे परदे हमारे सामने से उठाते जायंगे, और इस तरह अन्त में किसी सुदूर भविष्य में अन्तर्कपाट खुलेंगे और हमारी आश्चर्यभरी तथा श्रद्धायुक्त आंखों के सामने वह पवित्रतम देवमूर्ति खड़ी दिखाई देगी।

इन शाही नौकरियों में सबसे ऊंचा स्थान भारतीय सिविल सर्विस का है और हिन्दुस्तान की सरकार के ठीक-ठीक चलते रहने की शाबाशी या लानत ज्यादातर इसीको मिलनी चाहिए। हमको अवसर इस सर्विस के अनेक गुण बतलाये जाते हैं। साम्राज्य की योजना में इसका महत्त्व एक सिद्धान्त-सा बन गया है। हिन्दुस्तान में इसकी सर्वमान्य अधिकारपूर्ण स्थिति और उससे उत्पन्न

स्वेच्छाचारिता और पर्याप्त परिमाण में मिलनेवाली तारीफ़ और वाहवाही, ये सब किसी भी व्यक्ति या समुदाय के दिमाग़ को स्थिर रखने के लिए बहुत अच्छी चीज़ें नहीं हो सकतीं। इन सर्विसों के लिए प्रशंसा के भाव रखते हुए भी मुझे संकोच के साथ स्वीकार करना पड़ता है कि व्यक्तिगत और सामूहिक दोनों ही तरह, यह उस पुरानी लेकिन कुछ-कुछ नवीन बीमारी, अपनी महत्ता के उन्माद की विलक्षण रूप से शिकार हो सकती है।

इण्डियन सिविल सर्विस की अच्छाइयों से इन्कार करना फ़िज़ूल है, क्योंकि हमें इसको भूलने ही नहीं दिया जाता। लेकिन इस सर्विस के बारे में इतनी निरर्थक बातें कही गई और कही जाती हैं कि मुझे कभी-कभी लगता है कि उसकी थोड़ी-सी कलई खोल देना भी हितकर होगा। अमेरिकन अर्थशास्त्री बेवलेन ने विशेष अधिकार-प्राप्त वर्गों को 'सुरक्षित वर्ग' कहा है। मेरे ख़याल से इंडियन सिविल सर्विस और दूसरी शाही नौकरियों को भी 'सुरक्षित नौकरियां' कहना उतना ही युक्ति-युक्त होगा। यह एक बड़ी खर्चीली ऐयाशी है।

मेजर डी० ग्रैहम पोल ने, जो पहले ब्रिटिश पार्लमेंट के लेबर मेम्बर रह चुके हैं और हिन्दुस्तान के मामलों में बहुत दिलचस्पी लेते हैं, कुछ दिन हुए, 'मॉडर्न रिव्यू' में एक लेख लिखा था, जिसमें उन्होंने बताया था कि "अभी तक इस बात पर किसीने आपत्ति नहीं की कि इंडियन सिविल सर्विस एक बहुत योग्य और होशियार कारगर चीज़ है।" चूंकि इसी प्रकार की बातें इंग्लैंड में अक्सर कही जाती हैं और उनपर विश्वास किया जाता है, इसलिए उसकी परीक्षा करना लाभकर होगा। ऐसे पक्के और निश्चयात्मक बयान देना, जो सहज ही में काटे जा सकें, हमेशा ख़तरनाक होता है और मेजर ग्रैहम पोल की यह कल्पना बिलकुल ग़लत है कि इस बात पर कभी किसी ने ऐतराज़ नहीं किया। इसको तो बार-बार चुनौती दी गई है और ठीक नहीं माना गया है, और काफी अरसा हुआ जब श्री गोपालकृष्ण गोखले तक ने इंडियन सिविल सर्विस के बारे में बहुत-सी कड़वी बातें कही थीं। औसत दरजे का हिन्दुस्तानी—वह कांग्रेसमैन हो या दूसरा—मेजर ग्रैहम पोल से इस विषय पर निश्चय ही कदापि सहमत नहीं हो सकता। फिर भी यह सम्भव है कि दोनों कुछ अंश तक ठीक हों और भिन्न-भिन्न गुणों को दृष्टि में रखकर सोचते हों। आख़िर योग्यता और होशियारी का पैमाना क्या है! अगर यह योग्यता और होशियारी हिन्दुस्तान में ब्रिटिश राज्य को मज़ त बनाये रखने और देश को

चूसने में उसे सहायता देने की दृष्टि से नापी जाय, तो इंडियन सिविल सर्विस ज़रूर बहुत अच्छा काम करने का दावा कर सकती है। लेकिन अगर भारतीय जनता की भलाई की कसौटी पर रखकर देखा जाय, तो कहना होगा कि ये लोग बुरी तरह से नाकामयाब हुए हैं, और इनकी नाकामयाबी तब और भी ज़्यादा ज़ाहिर हो जाती है जबकि हम उस बड़े भारी अन्तर को देखते हैं जो आमदनी और रहन-सहन के ढंग के लिहाज़ से इनको उस जनता से अलग कर देता है जिसकी सेवा करना इनका फ़र्ज़ है, और दरअसल जिसके पास से इतनी लम्बी-चौड़ी तनख्वाह आदि निकलती है।

यह बिलकुल ठीक है कि आमतौर पर इस सर्विस ने अपना एक खास स्टैंडर्ड बना लिया है, हालांकि वह स्टैंडर्ड लाज़िमी तौर पर बहुत नीचे दरजे का रहा है। कभी-कभी इसमें से असाधारण व्यक्ति भी निकले हैं। ऐसी किसी सर्विस से ज़्यादा उम्मीद भी नहीं की जा सकती। इसके अन्दर लाज़िमी तौर पर अन्दर से अपनी अच्छाइयों और बुराइयों को लिये हुए इंग्लैंड के पब्लिक स्कूलों की भावना भरी हुई थी (हालांकि सिविल सर्विस के बहुत-से अफ़सर इन पब्लिक स्कूलों में पढ़े हुए नहीं हैं।); हालांकि यह एक अच्छा स्टैंडर्ड बनाये रही, फिर भी इसने अपनी लीक छोड़ना कभी पसन्द नहीं किया, और व्यक्तिगत रूप से इसके मेम्बरों के ख़ास गुण रोज़मर्रा के नीरस काम-काज में, और कुछ इस डर में कि कहीं दूसरों से भिन्न न नजर आने लगें, विलीन हो गये। इसमें बहुत-से उत्साही लोग भी थे, और बहुत-से ऐसे भी थे जिनमें सेवा के भाव थे; लेकिन वह सेवा सबसे पहले साम्राज्य की थी और हिन्दुस्तान तो गिरते-पड़ते कहीं दूसरे नम्बर में आता था। जिस तरह की तालीम उन्हें मिली थी और जैसी उनकी परिस्थिति थी उसके अनुसार तो वे सिर्फ ऐसा ही कह सकते थे। चूंकि उनकी तादाद कम थी और वे एक विदेशी और अक्सर बे-मेल वातावरण से घिरे रहते थे, इसलिए वे अपने ही में रमे रहते और अपना एक ख़ास स्टैंडर्ड बनाये रखते थे। जाति और पद की प्रतिष्ठा का यही तक़ाज़ा था। और चूंकि उनको मनमानी करने के खूब अधिकार थे, इसलिए वे आलोचना से नाराज़ होते थे और उसे बड़ा भारी पाप समझते थे। वे दिन-पर-दिन असहिष्णु तथा स्कूल-मास्टर की मनोवृत्तिवाले होते जाते थे, और गैर-ज़िम्मेदार राज्य-शासकों के बहुत-से दुर्गुण उनके अन्दर आते जाते थे। वे अपने ही में सन्तुष्ट रहते और किसी दूसरे की कुछ आवश्यकता नहीं समझते

थे। उनके दिमाग़ संकीर्ण और गढ़े-गढ़ाये थे, जो परिवर्तनशील संसार में भी अपरिवर्तित रहते तथा प्रगतिशील वातावरण के बिलकुल अनुपयुक्त थे । जब उनसे अधिक योग्यता और बुद्धि रखनेवाले व्यक्ति हिन्दुस्तान की समस्या को हल करने की कोशिश करते, तो वे लोग नाराज़ होते, उन्हें खरी-खोटी सुनाते, उनको दबाते और उनके मार्ग में सब तरह के रोड़े अटकाते। जब यूरोपीय महायुद्ध के बाद होनेवाले परिवर्तनों ने गतिशील परिस्थिति उत्पन्न कर दी, तो ये लोग एकदम बौखला गये और अपने-आपको उसके अनुकूल न बना सके। उनकी परिमित और संकीर्ण शिक्षा ने उन्हें ऐसी संकटापन्न और नवीन परिस्थितियों के योग्य नहीं बनाया था। लम्बे अरसे तक ग़ैर-ज़िम्मेदारी के साथ काम करते-करते वे बिगड़ चुके थे। समुदाय-रूप से तो उनको क़रीब-क़रीब बिलकुल निरंकुश प्रभुता मिली हुई थी, जिस पर सिर्फ़ सिद्धान्त-रूप से ब्रिटिश पार्लमेंट का नियन्त्रण था। लार्ड ऐक्टन ने लिखा है—"प्रभुता हमे बिगाड़ देती है, और पूर्ण प्रभुता तो पूर्णरूप से बिगाड़ देती है।"

मामूली तौर से, ये लोग अपने परिमित दायरे में विश्वासपात्र अफ़सर होते थे, जो अपना रोज़मर्रा का काम काफ़ी होशियारी के साथ करते, लेकिन उनमे प्रवीणता नहीं होती थी। उनकी तो तालीम ही ऐसी होती थी कि कोई बिलकुल अचानक हो जानेवाली घटना उन्हें घबरा देती थी। हालांकि उनका आत्म-विश्वास, उनकी क़ायदे के साथ काम करने की आदतें और उनकी आन्तरिक एकता उनको तात्कालिक कठिनाइयों पर विजय पाने में सहायता देती थी। मेसोपोटामिया में की गई मशहूर गड़बड़ ने भारतीय ब्रिटिश सरकार की अयोग्यता और जड़ता का भंडाफोड़ कर दिया था; लेकिन ऐसी बहुत-सी गड़बड़ें ज़ाहिर ही नहीं होने पाती है। सविनय-भंग के प्रति इन्होंने जो वृत्ति दिखलाई वह कुढंगी थी। गोली चलाने और लाठी मारने से थोड़ी देर के लिए दुश्मनों से छुटकारा भले ही मिल जाय, लेकिन इससे कोई मसला हल नहीं होता। और श्रेष्ठता की जिस भावना की रक्षा करने के लिए यह काम किया जाता है, उसीकी जड़ पर इससे कुठाराघात होता है। अगर उन्होंने एक बढ़नेवाले और तेज़-तर्रार राष्ट्रीय आन्दोलन का मुक़ाबला करने के लिए हिंसा का सहारा लिया तो इसमें कोई ताज्जुब की बात नहीं थी। यह तो अनिवार्य ही था, क्योंकि साम्राज्यों का आधार हिंसा ही है और विरोध का मुक़ाबला करने के लिए उन्हें दूसरा तरीक़ा ही नहीं सिखाया

गया था। लेकिन अतिशय और अनावश्यक रूप से हिंसा का प्रयोग किया जाना ही इस बात का सबूत था कि स्थिति पर उनका बिलकुल क़ाबू नहीं रहा था, और उनमें वह आत्म-संयम और निग्रह नहीं रह गया था जो साधारण अवस्थाओं में उनमें रहता था। अक्सर उनके हाथ-पैर फूल जाते थे और उनके सार्वजनिक वक्तव्यों में भी फ़िजूल बकवास नज़र आती थी। उनका बहुत दिनों तक रहनेवाला गहरा विश्वास जाता रहा था। ख़तरा बड़ी बेरहमी से हम सबकी पोल खोल देता है और हमारी अन्दरूनी कमज़ोरियों का भंडाफोड़ कर देता है। सविनय-भंग एक ऐसा ही ख़तरा और ऐसी ही परीक्षा थी और लड़नेवाले दोनों दलों—कांग्रेस या सरकार—में से कोई भी इस परीक्षा में पूरा नहीं उतरा। मि० लॉयड जार्ज कहते हैं कि ख़तरे के समय में ऊंचे दरजे की दिमाग़ी ताक़त रखनेवाले पुरुष और स्त्रियों की संख्या बहुत कम मिलती है और "बाक़ी लोगों की ख़तरे में कोई गिनती नहीं। छोटी-छोटी पहाड़ियां, जो सूखे मौसम में उभरी हुई-सी दिखाई पडती है, ज़ोर की बाढ़ मे फौरन डूब जाती हैं, जबकि सिर्फ़ उनसे ऊंची चोटियां ही पानी की सतह के ऊपर नज़र आती हैं।"

जो कुछ भी हुआ, उसके लिए इंडियन सिविल सर्विस के लोग दिल और दिमाग़ से तैयार न थे। उनमे से बहुतों की आरम्भिक शिक्षा पुराने ज़माने की थी, जिसकी वजह से उनमें कुछ संस्कृति और कुछ व्यवहारप्रियता बनी हुई थी। उनका रुख़ पुरानी दुनिया-जैसा था, जो विक्टोरियन युग के उपयुक्त था, लेकिन आधुनिक अवस्थाओं में उसका कोई स्थान न था। वे लोग स्वनिर्मित एक संकुचित और परिमित "एंग्लो-इंडियन' संसार में निवास करते थे, जो न इंग्लैंड था और न हिन्दुस्तान। तात्कालिक समाज में जो शक्तियां काम कर रही थीं उनकी क़दर वे कर ही नहीं सकते थे। भारतीय जनता के अभिभावक और ट्रस्टी होने की अपनी मज़ेदार धारणा के बावजूद वे इसके बारे में कुछ नहीं जानते थे और नये उग्रमतवादी मध्यमवर्ग के बारे में तो इससे भी कम जानते थे। वे हिन्दुस्तानियों की योग्यता का अन्दाज़ा उन चापलूसों और नौकरी के उम्मीदवारों से करते थे जो उनको घेरे रहते थे, और बाक़ी लोगों को वे आन्दोलनकारी और धोखेबाज़ कहकर उड़ा देते थे। लड़ाई के बाद होनेवाले संसारव्यापी और ख़ासकर आर्थिक क्षेत्र के परिवर्तनों का उन्हें बहुत थोड़ा ज्ञान था और वे ऐसी गहरी लीक में फंसे हुए थे कि अपनेको परिवर्तनशील परिस्थितियों के अनुकूल बना नहीं सकते थे।

वे इस बात को महसूस नहीं करते थे कि जिस श्रेणी के वे प्रतिनिधि थे वह मौजूदा हालतों में पुरानी पड़ चुकी थी, और वे समुदाय-रूप से धीरे-धीरे उस श्रेणी के निकट पहुंच रहे थे जिसका वर्णन टी० एस० ईलियट ने अपने 'दि हॉलो मैन' (खोखला आदमी) नामक पुस्तक में किया है।

लेकिन इतने पर भी यह वर्ग, जबतक ब्रिटिश साम्राज्यवाद है तबतक, क़ायम रहेगा और यह अभीतक काफ़ी शक्तिशाली है और अब भी उसमें योग्य और कुशल नेता हैं। भारत में अंग्रेज़ी राज्य एक सड़ते हुए दांत के समान है जो अभीतक मज़बूती से जमा हुआ है। वह दर्द करता है, लेकिन आसानी से निकाला नहीं जा सकता। यह दर्द सम्भवतः जारी रहेगा और बढ़ता भी रहेगा, जबतक कि दांत निकाला न जाय, या ख़ुद न गिर पड़े।

पब्लिक स्कूल-टाइप के लोगों के दिन इंग्लैंड में भी पूरे हो गये और अब उनकी वैसी प्रतिष्ठा नहीं है जैसी पहले थी; हालांकि सार्वजनिक मामलों में वे अब भी प्रमुख हैं। हिन्दुस्तान में तो ये और भी ज़्यादा अनुपयुक्त हैं और उग्र राष्ट्रीयता के साथ न तो उनका मेल बैठ सकता है और न उनके साथ सहयोग ही हो सकता है; सामाजिक परिवर्तन के लिए कोशिश करनेवालों का साथ देना तो बहुत दूर की बात है।

इंडियन सिविल सर्विस में अनेक बढ़िया आदमी भी हैं, अंग्रेज़ भी और हिन्दुस्तानी भी; लेकिन जबतक मौजूदा शासन-प्रणाली क़ायम है तबतक उनकी प्रवीणता ऐसे उद्देश्यों को पूरा करने में ख़र्च होती रहेगी जिनसे हिन्दुस्तानियों को कुछ फ़ायदा नहीं है। सर्विस के कुछ हिन्दुस्तानी अफ़सर इस पब्लिक स्कूल की भावना के इतने ग़ुलाम हैं कि वे अपने को सम्राट् से भी ज़्यादा राजभक्त समझते हैं। मुझे याद है कि मेरी मुलाक़ात सिविल सर्विस के एक ऐसे नौजवान अफसर से हुई थी जो अपने लिए बड़ी ऊंची राय रखता था, लेकिन जिससे दुर्भाग्यवश मैं सहमत नहीं हो सकता था। उसने मेरे सामने अपनी सर्विस के बहुत-से गुण गाये और अन्त में ब्रिटिश साम्राज्य के पक्ष में वह ला-जवाब दलील पेश की कि क्या यह रोमन साम्राज्य और चंगेज़ख़ां तथा तैमूर के साम्राज्यों से बेहतर नहीं है ?

इंडियन सिविल सर्विसवालों की मुख्य भावना यह है कि वे अपना कर्त्तव्य बड़ी होशियारी के साथ पूरा करते हैं, इसलिए वे अपने दावों पर ज़ोर दे सकते

हैं, और उनके दावे भी बहुत-से और तरह-तरह के हैं। अगर हिन्दुस्तान ग़रीब है तो यह क़ुसूर उसके सामाजिक रीति-रिवाज़ों का, महाजनों और रुपया उधार देनेवालों का, और सबसे ज़्यादा उसकी बड़ी भारी आबादी का है। लेकिन सबसे बड़ी 'बनिया' ब्रिटिश सरकार को आसानी से भुला दिया जाता है। और इस आबादी के बारे में वे क्या करना चाहते हैं यह मैं नहीं जानता; क्योंकि अकालों, महामारियों और आमतौर पर बड़ी तादाद में मौतों से बहुत-कुछ मदद मिलने पर भी यहां की आबादी अभीतक बहुत ज़्यादा है। संतति-निग्रह की सलाह दी जाती है, और मैं तो यद्यपि बिलकुल इसके पक्ष में हूं कि संतति-निग्रह के ज्ञान और तरीक़ों का प्रचार किया जाय, लेकिन ख़ुद इन तरीक़ों का प्रयोग ही जनता की रहन-सहन का एक काफ़ी ऊंचा ढंग, कुछ हद तक साधारण शिक्षा और सारे देश में असंख्य चिकित्सालयों की अपेक्षा रखता है। मौजूदा हालत में संतति-निग्रह के तरीक़े साधारण जनता की पहुंच से बिलकुल बाहर हैं। मध्यमवर्ग के लोग इनसे फ़ायदा उठा सकते हैं और मैं समझता हूं कि वे लोग अधिकाधिक परिमाण में फ़ायदा उठा भी रहे हैं।

लेकिन ज़रूरत से ज़्यादा जन-वृद्धि सम्बन्धी यह दलील और भी ग़ौर किये जाने के क़ाबिल है। आज सारी दुनिया में सवाल यह नहीं है कि खाने की या दूसरी ज़रूरी चीज़ों की कमी है; बल्कि दरअसल कमी है खानेवालों की, या दूसरे शब्दों में, कमी है उन लोगों में खाना-वग़ैरा ख़रीदने की शक्ति की, जो भूखों मर रहे हैं। हिन्दुस्तान में भी खाने की कोई कमी नहीं है और हालांकि आबादी बढ़ गई है, फिर भी खाने का सामान भी बढ़ गया है, और आबादी के मुक़ाबले में ज़्यादा परिमाण में बढ़ाया जा सकता है। फिर हिन्दुस्तान की आबादी की वृद्धि का जिस क़दर ढिंढोरा पीटा जाता है उसकी गति (सिवा पिछले दस वर्षों के) ज़्यादातर पश्चिमी देशों से बहुत कम है। यह सच है कि भविष्य में यह फ़र्क़ बढ़ता जायगा; क्योंकि पश्चिमी देशों में आबादी की वृद्धि कम करने या रोक तक देने के लिए तरह-तरह की शक्तियां काम कर रही हैं। लेकिन हिन्दुस्तान में भी सीमित करनेवाले कारण शायद जल्दी ही आबादी की वृद्धि को रोक देंगे।

जब कभी भारत स्वतन्त्र होगा और कभी इस स्थिति में होगा कि वह अपने-को जिस तरह बनाना चाहे बना सके तो इस काम के लिए उसे ज़रूर अपने सबसे अच्छे पुत्रों और पुत्रियों की आवश्यकता होगी। ऊंचे दर्जे के मनुष्य हमेशा बड़ी

मुश्किक से मिलते हैं और हिन्दुस्तान में तो मिलना और भी मुश्किल है; क्योंकि हमें ब्रिटिश राज्य में उन्नति करने का मौका ही नहीं मिला। हमे सार्वजनिक कार्यों के अनेक विभागों में विदेशी विशेषज्ञों की सहायता की आवश्यकता होगी, खासकर ऐसे कामों के लिए, जिनमें खासतौर पर औद्योगिक और वैज्ञानिक ज्ञान की ज़रूरत हो। जो लोग इंडियन सिविल सर्विस या दूसरी शाही नौकरियों में रह चुके है उनमें बहुत-से हिन्दुस्तानी और विदेशी होंगे जिनकी जरूरत नई व्यवस्था के लिए होगी और उनका स्वागत किया जायगा। लेकिन एक बात का तो मुझे पूरा यक़ीन है कि जबतक हमारे राज्य-शासन और सार्वजनिक नौकरियों में सिविल सर्विस की भावना समाई रहेगी, तबतक हिन्दुस्तान मे किसी नई व्यवस्था की रचना नही की जा सकती। यह शासन-मनोवृत्ति साम्राज्यवाद की पोषक है और स्वतन्त्रता और इसका साथ-साथ निबाह नही हो सकता। या तो यह मनोवृत्ति स्वतन्त्रता को पीस डालने मे सफल होगी, या स्वयं उखाड़ फेंकी जायगी। सिर्फ़ एक तरह की राज्य-प्रणाली में इसकी दाल गल सकती है, और वह है फ़ासिस्ट-प्रणाली। इसलिए मुझे यह बहुत ज़रूरी मालूम देता है कि पहले सिविल सर्विस और इस तरह की दूसरी शाही सर्विसों का अन्त हो जाना चाहिए और इसके बाद ही नई व्यवस्था का वास्तविक कार्य शुरू हो सकेगा। इन सर्विसों के अलग-अलग व्यक्ति, अगर वे नई नौकरियों के लिए राज़ी हों और योग्य हों तो खुशी के साथ आयें, लेकिन सिर्फ़ नई शर्तो पर। यह तो कल्पना ही नहीं की जा सकती कि उनको वही फ़िज़ूल की मोटी-मोटी तनख्वाहें और भत्ते मिलेंगे जो आज उन्हें दिये जा रहे है। नवीन हिन्दुस्तान को ऐसे सच्चे और योग्य कार्यकर्त्ताओं की सेवाएं चाहिए जिन्हें अपने कार्य में लगन हो, जो सफलता प्राप्त करने पर तुले हों, और जो बड़ी-बड़ी तनख्वाहों के लोभ से नहीं, बल्कि सेवाजनित आनन्द और गौरव के लिए काम करते हों। रुपया मिलने की नीयत को घटाकर कम-से-कम कर देना होगा। विदेशी सहायकों की बहुत ज्यादा जरूरत पड़ेगी, लेकिन मेरे ख़याल से औद्योगिक ज्ञान न रखनेवाले सिविलियनों की जरूरत सबसे कम होगी; ऐसे आदमियों का तो हिन्दुस्तान में ज़रा भी अभाव न होगा।

मै पहले लिख चुका हूं कि भारत के नरम दलवालों और उनके समान अन्य दलवालों ने किस प्रकार भारत के शासन के विषय में अंग्रेज़ी विचार-प्रणाली को स्वीकार कर लिया है। सर्विसों के सम्बन्ध में तो यह बात और भी साफ जाहिर हो

जाती है, क्योंकि उनकी पुकार 'भारतीयकरण' के लिए है, सर्विसों के रूप और भावना और राज्य-व्यवस्था की रचना में आमूल परिवर्तन के लिए नहीं। यह एक ऐसा मौलिक तत्त्व है जिसपर कोई समझौता हो ही नहीं सकता। क्योंकि भारत की स्वतन्त्रता न केवल ब्रिटिश फ़ौज और सर्विसों के वापस हटा लिये जाने पर ही अवलम्बित है, बल्कि उनके लिए उनके दिमाग़ों में घुसी हुई स्वेच्छाचारी मनोवृत्ति के निकाले जाने और उनकी मोटी-मोटी तनख्वाहों और रियायतों को समता पर लाने की भी आवश्यकता है। शासन-विधान-रचना के इस काल में संरक्षणों की बहुत बातचीत हो रही है। अगर ये संरक्षण हिन्दुस्तान के हित में रक्खे जायं, तो उनमें दूसरी बातों के अलावा यह विधान नहीं होना चाहिए कि सिविल सर्विस वग़ैरा के वर्तमान रूप का तथा उनको मिली हुई शक्तियों और विशेष अधिकारों का अन्त हो जाय, और नये विधान से उनका कुछ भी सरोकार न रहे।

हमारी रक्षा के नाम पर स्थापित फ़ौज़ी सर्विसों का हाल तो और भी रहस्यमय और भयंकर है। हम न तो उनकी आलोचना कर सकते हैं, न उनके बारे में कुछ कह ही सकते हैं, क्योंकि ऐसे मामलों में हम समझते ही क्या हैं! हमारा काम तो बिना किसी तरह की चीं-चपड़ किये सिर्फ मोटी-मोटी तनख्वाहें चुकाते रहने का है। कुछ दिन हुए, (सितम्बर १९३४ में) हिन्दुस्तान के कमाण्डर-इन-चीफ सर फ़िलिप चेटवुड ने शिमला में कौंसिल-आफ-स्टेट में बोलते हुए चुभती हुई फ़ौज़ी भाषा में हिन्दुस्तान के राजनीतिज्ञों से कहा था कि वे लोग अपने काम से काम रक्खें, हमारे काम में दख़ल न दें। किसी प्रस्ताव पर एक संशोधन पेश करनेवाले की ओर इशारा करते हुए उन्होंने कहा था—"क्या वह और उनके मित्र यह ख़याल करते हैं कि बहुत-सी लड़ाइयां जीती हुई और रणपटु अंग्रेज़ जाति, जिसने अपना साम्राज्य तलवार के ज़ोर से जीता है और तलवार के ही ज़ोर से जिसकी अबतक रक्षा की है, अनुभव से प्राप्त किये हुए अपने युद्ध-सम्बन्धी ज्ञान को कुर्सियां तोड़नेवाले आलोचकों से सीखेगी?" उन्होंने और भी बहुत-सी मज़ेदार बातें कही थीं, और कहीं हम यह ख़याल न करने लगें कि उन्होंने तैश में आकर ऐसा कह डाला था, इसलिए हमें बतलाया गया था कि उन्होंने अपना भाषण बड़े विचारपूर्वक लिखा था और उसी हस्तलिपि को पढ़कर सुनाया था।

किसी साधारण आदमी का फ़ौज़ी मामलों पर एक प्रधान सेनापति से भिड़

पड़ना दरअसल गुस्ताखी है, लेकिन शायद एक कुरसी तोड़नेवाला आलोचक भी कुछ कहने का अधिकारी हो सकता है। यह बात समझ में आ सकती है कि जिन्होंने साम्राज्य को तलवार के ज़ोर से क़ब्ज़े में कर रक्खा है और जिनके सिर के ऊपर यह चमचमाता हुआ हथियार हमेशा लटका रहता है, उनके हित शायद एक-दूसरे से भिन्न हों। यह सम्भव है कि हिन्दुस्तानी फ़ौज हिन्दुस्तान के हितों अथवा साम्राज्य के हितों के लिए काम में लाई जाय और इन दोनों हितों में भिन्नता ही नहीं, बल्कि परस्पर-विरोध भी हो। एक राजनीतिज्ञ और कुरसी तोड़नेवाले आलोचक को यह भी आश्चर्य हो सकता है कि यूरोपीय महायुद्ध के अनुभवों के बाद भी प्रमुख सेनानायकों का यह दावा, कि उनके कामों में दख़ल न दिया जाय, कहां तक ज़ायज़ है! उस समय उनको बहुत अंशों तक स्वतन्त्र क्षेत्र मिला था, और, जहां तक मालूम हुआ है, उन्होंने सारी अंग्रेजी, फ्रांसीसी, जर्मन, आस्ट्रियन और रूसी सेनाओं में क़रीब-क़रीब तमाम बातों में एक बड़ी भयंकर गड़बड़ पैदा कर दी थी। मशहूर अंग्रेज़ फ़ौज़ी इतिहासज्ञ और युद्ध-विद्या-विशारद कैप्टन लिडैल हार्ट ने अपनी 'हिस्ट्री आफ दी वर्ल्ड वार' (विश्वव्यापी युद्ध का इतिहास) में लिखा है कि महायुद्ध में एक समय जब अंग्रेज़ सिपाही दुश्मनों से लड़ रहे थे, उसी समय अंग्रेज़ फ़ौज़ी अफ़सर आपस में लड़ रहे थे। ऐसे राष्ट्रीय संकट के वक्त में भी लोग विचारों और कार्यों में एकता न ला सके। वह फिर लिखते हैं, "महायुद्ध ने, अपने आराध्य देवों के प्रति हमारे श्रद्धा और आदर के इन भावों को नष्ट कर दिया है कि महान् पुरुष उस मिट्टी के बने हुए नहीं होते जिसके साधारण मनुष्य होते हैं। नेताओं की अब भी आवश्यकता है, और शायद ज्यादा आवश्यकता है, लेकिन हममें इस भाव का पैदा हो जाना कि वे भी साधारण मनुष्यों की तरह हैं, हमको उनसे बहुत ज्यादा आशा रखने या उनपर बहुत ज्यादा विश्वास करने के ख़तरों से बचा लेगा।"

महान राजनीतिज्ञ मि० लॉयड जार्ज ने अपनी 'वार मेमायर्स' (महायुद्ध की स्मृतियां) नामक पुस्तक में महायुद्ध के जल और स्थल सेनानायकों की गलतियों का—ऐसी गलतियों का, जिनके कारण लाखों आदमियों की जानें गई—बड़ा भयंकर चित्र खींचा है। इंग्लैंड और उसके सहायकों ने महायुद्ध में विजय तो प्राप्त की, लेकिन यह "विजय पर एक रक्त-रंजित प्रहार था।" ऊंचे अफ़सरों द्वारा फ़ौज़ों और लड़ाइयों के मूर्खतापूर्ण और अविवेकयुक्त संचालन ने इंग्लैंड

को लगभग सर्वनाश के किनारे ला पटका था और उसकी तथा उसके मित्रों की रक्षा अधिकतर उनके शत्रुओं की अविश्वसनीय मूर्खताओं के कारण हुई। इंग्लैंड के महायुद्ध के समय के महान प्रधान मन्त्री इस प्रकार लिखते हैं और वह बतलाते हैं कि किस प्रकार उन्हें लार्ड जेलीको के दिमाग़ में कुछ बातें बिठाने के लिए, खासकर व्यापारी जहाजों के संरक्षण के लिए साथ में जंगी जहाज भेजने के प्रस्ताव के बारे में, उनके साथ माथापच्ची करनी पड़ी थी। फ्रांसीसी मार्शल जाफ़र के बारे में तो उनका यह विचार मालूम होता है कि उसका सबसे बड़ा गुण उसकी दृढ़ मुखमुद्रा थी जो हृदय में शक्ति की भावना को पैदा करती थी। "यही चीज़ हैं जो त्रस्त लोग संकट के समय में खोजते हैं। वे यह समझने की भूल करते है कि बुद्धिमत्ता किसी की ठोड़ी मे निवास करती है।"

लेकिन मि० लॉयड जार्ज का मुख्य आरोप तो खास ब्रिटिश सेना के नायक पर ही, कमाण्डर-इन-चीफ़ फील्ड-मार्शल हेग पर है। उन्होंने यह सिद्ध किया है कि किस प्रकार लार्ड हेग ने अपने ख्वामख्वाह के घमण्ड और राजनीतिज्ञों इत्यादि की बातें सुनने से इन्कार करके खास ब्रिटिश मन्त्रि-मण्डल से ही महत्वपूर्ण बातों को छिपाया, जिसके कारण फ्रांस में अंग्रेज़ी फ़ौज़ को बड़ी भारी हानि उठानी पड़ी और इतने पर भी, जबकि असफलता सामने नज़र आ रही थी, वह आख़िर तक अपनी ज़िद पर अड़े रहे, और अपने मूर्खतापूर्ण युद्ध को पैस्शण्डेल तथा कैम्ब्राई की भयंकर दलदलों में कई महीनों तक चलाते रहे, यहांतक कि सत्रह हज़ार तो अफ़सर ही वहां काम आ गये और चार लाख वीर अंग्रेज सिपाही हताहत हो गये। सन्तोष की बात इतनी ही है कि आज भी 'अज्ञात सिपाही' का उसकी मृत्यु के बाद सम्मान किया जाता है, जबकि उसके जीवन-काल में उसका जीवन बहुत सस्ता था और उसकी कोई पूछ नहीं थी।

अन्य लोगों की तरह राजनीतिज्ञ भी अक्सर गलतियां करते हैं, लेकिन जन-सत्तावादी राजनीतिज्ञ को जनता के रुख और घटनाओं पर ध्यान देकर उनसे प्रभावित होना पड़ता है और वे आमतौर पर अपनी ग़लतियों को स्वीकार करके उन्हें दुरुस्त करने की कोशिश करते हैं। पर सिपाही का निर्माण एक भिन्न वातावरण में होता है, जहां हुकूमत का साम्राज्य होता है और आलोचना के लिए कोई स्थान नहीं होता। इसलिए वह दूसरों की सलाह से बुरा मानता है, और अगर वह ग़लती करता है तो पूरी तरह से करता है और उस ग़लती को किये ही जाता

है। उसके लिए दिल और दिमाग की बनिस्बत कठोर मुख-मुद्रा अधिक महत्त्वपूर्ण है। हिन्दुस्तान में हमें एक मिश्रित श्रेणी उत्पन्न करने का मौक़ा मिला है; क्योंकि स्वयं नागरिक शासन ही हुकूमत और स्वाश्रय के अर्द्धसैनिक वातावरण में पला और निवास करता है। और इस कारण बहुत अंशों तक फौज़ी रौब-दाब आदि विशेषताएं उसमें मौजूद हैं।

हमसे कहा जाता है कि सेना का 'भारतीयकरण' आगे बढ़ाया जा रहा है और अगले तीस या अधिक वर्षों में एक हिन्दुस्तानी जनरल भी शायद हिन्दुस्तान में पैदा हो जाय। यह मुमकिन है कि सौ वर्ष से कुछ ही ज़्यादा वर्षों में भारतीय-करण बहुत-कुछ उन्नति कर ले। यह सुनकर आश्चर्य हो सकता है कि ख़तरे के समय में इंग्लैंड ने किस तरह एक-दो साल के अरसे में ही लाखों की फौज़ खड़ी कर दी। अगर उसके पास ऐसे ही सलाहकार होते, जैसे कि हमको मिले हुए हैं, तो शायद वह बड़ी चौकसी और होशियारी से फूंक-फूंककर आगे क़दम बढ़ाता और यह बिलकुल सम्भव था कि उस दशा में इस शिक्षित सेना के तैयार होने के बहुत पहले ही युद्ध ख़त्म हो जाता। हमको सोवियत रूस की सेनाओं का भी विचार आता है, जो बिना किसी प्रकार के पूर्व साधनों के ही अकस्मात् तैयार हो गईं और शत्रु की प्रचण्ड सेनाओं से लोहा लेती हुई उन्हें हराने लगीं। आज इन सेनाओं की संसार की सबसे अधिक कुशल युद्ध-शक्तियों में गणना की जाती है। इनके पास तो सलाह देने के लिए 'संग्राम में लड़े हुए और युद्ध-प्रवीण' सेनापति नहीं थे!

हमारे यहां देहरादून में एक फौजी शिक्षणालय है, जहां शिक्षार्थियों को फ़ौज़ी अफसर बनने की तालीम दी जाती है। कहा जाता है कि वे बड़ी चतुरता से परेड करते हैं, और बेशक वे बड़े अच्छे अफ़सर बनकर निकलेंगे। लेकिन मेरी समझ में नहीं आता है कि इस तालीम से क्या फ़ायदा है जबतक कि उसके साथ युद्ध की कुछ व्यावहारिक शिक्षा न दी जाय। पैदल और घुड़सवार सेनाएं आज-कल उतने ही काम की हैं जितनी रोमन फ़ौजें होतीं; और हवाई युद्ध, गैस के बम, टैंक और प्रचण्ड तोपों के युग में बन्दूक़, तीर-कमान से ज़्यादा कारगर नहीं है। इसमें शक नहीं कि उनके शिक्षक और सलाहकार इस बात को महसूस करते हैं।

हिन्दुस्तान में अंग्रेज़ी राज्य का इतिहास कैसा रहा है? हम उसकी ख़ामियों के बारे में शिकायत करनेवाले होते कौन हैं, जबकि ये ख़ामियां हमारी ही कम-ज़ोरियों के फलस्वरूप हैं! अगर हम परिवर्तन की धारा से सम्बन्ध छोड़ दें और

दलदल में फंस जायं, एकांगी और स्वयं-सन्तोषी बन जायं और शुतुरमुग़ की तरह अपने चारों ओर की घटनाओं से आंख मूंद लें, तो इसमें हमारा ही नुक़सान है। अंग्रेज़ लोग हमारे यहां संसार-सागर की एक नये जोश की लहर के साथ आये और ऐसी महान् ऐतिहासिक शक्तियों को लाये जिनका ख़ुद उनको भी अनुभव न था। क्या हम उस तूफ़ान की शिकायत करें जो हमें उखाड़कर इधर-उधर फेंक देता है, या उस ठंडी हवा की जो हमें कंपकंपा देती है ? हमें तो भूतकाल और उसके झगड़े-टंटों को तिलांजलि ही दे देनी चाहिए और भविष्य का मुक़ाबला करना चाहिए। हमें एक महान भेंट के लिए अंग्रेज़ों का कृतज्ञ होना चाहिए, जिसे कि वे लेकर आये। यह भेंट है विज्ञान और उसके सुन्दर फल। साथ ही, ब्रिटिश सरकार के उन प्रयत्नों को भी भूल जाना या शान्ति के साथ बरदाश्त करना मुश्किल है जो उन्होंने देश के झगड़ालू, प्रतिक्रियावादी, विरोधक, जातिगत तथा अवसरवादी लोगों को प्रोत्साहन देने के लिए किये। शायद यह भी हमारे लिए एक जरूरी परीक्षा और चुनौती है, और इसके पहले कि हिन्दुस्तान नया जन्म धारण करे, उसे बार-बार उस आग में तपना पड़ेगा जो शुद्ध और दृढ़ बनाती है और जो दुर्बल, पतित और आचार-भ्रष्टों को जलाकर ख़ाक कर देती है।

: ५५ :

अन्तर्जातीय विवाह और लिपि का प्रश्न

सितम्बर १९३३ के बीच में क़रीब एक हफ़्ता बम्बई और पूना में रहने के बाद मैं लखनऊ लौट आया। मेरी मां अभीतक अस्पताल मे थीं और उनकी हालत धीरे-धीरे सुधर रही थी। कमला भी लखनऊ में, ख़ुद तन्दुरुस्त न होते हुए भी, माताजी की सेवा करने में लगी थी। हर सप्ताह के आख़िरी दिनों में मेरी बहिनें भी इलाहाबाद से आती रहती थीं। लखनऊ में मैं दो-तीन हफ़्ते रहा। वहां इलाहाबाद के मुक़ाबले में ज़्यादा फ़ुरसत मिली थी। मेरा ख़ास काम दिन में दो बार अस्पताल जाना था। मैंने अपना यह फ़ुरसत का समय अख़बार के लेख लिखने में लगाया और ये सब लेख देश के लगभग सभी अख़बारों में छपे। 'हिन्दुस्तान किधर ?' शीर्षक लेखमाला पर जनता का काफ़ी ध्यान गया। इस लेखमाला में मैंने दुनिया की हलचलों पर, हिन्दुस्तान की परिस्थिति के साथ उनके सम्बन्ध को ध्यान में रखकर, विचार किया था। मुझे बाद में मालूम हुआ कि इन लेखों का फ़ारसी तर्जुमा तेहरान और काबुल में भी छापा गया था। आजकल के पश्चिमी विचारों और हलचलों से जानकारी रखनेवालों के लिए इन लेखों में कोई ऐसी नई या अद्भुत बात नहीं थी। मगर हिन्दुस्तान में लोग अपने घरेलू मामलों में ही इतने व्यस्त रहते हैं कि दूसरी जगह क्या हो रहा है, इस पर वे ज़्यादा ध्यान दे नहीं सकते। मेरे लेखों का जो स्वागत हुआ उससे और दूसरे आसारों से मालूम पड़ा कि लोगों का दृष्टिकोण विस्तृत हो रहा है।

माताजी अस्पताल में पड़ी-पड़ी ऊबती जा रही थीं, इसलिए हमने उन्हें इलाहाबाद वापस ले जाने का निश्चय कर लिया। वापस लाने के दूसरे कारणों में से एक कारण मेरी बहिन कृष्णा की सगाई हो जाना भी था, जो इन्हीं दिनों में पक्की की गई थी। हम चाहते थे कि मेरे फिर से जेल चले जाने से पहले जल्दी-से-जल्दी विवाह हो जाय। मुझे कुछ पता न था कि मैं कितने समय तक बाहर

रहने दिया जाऊंगा। क्योंकि सविनय-भंग कांग्रेस का बाक़ायदा कार्यक्रम था और ख़ुद कांग्रेस और दूसरी बीसियों संस्थाएं गैर-क़ानूनी थीं।

हमने अक्तूबर के तीसरे सप्ताह में इलाहाबाद में विवाह करने का निश्चय किया। यह विवाह 'सिविल मैरिज एक्ट' के मुताबिक़ होनेवाला था। मैं इस बात से ख़ुश था। हालांकि सच पूछो तो इसके अलावा हमारे पास और कोई उपाय भी न था; क्योंकि वह विवाह दो भिन्न जातियों, ब्राह्मण और अ-ब्राह्मण में होनेवाला था, और ब्रिटिश भारत के मौजूदा क़ानून के अन्तर्गत ऐसा विवाह कैसी भी धार्मिक रीति से क्यों न किया जाय, जायज़ नहीं हो सकता। ख़ुश-क़िस्मती से उन्हीं दिनों में पास हुआ 'सिविल मैरिज ऐक्ट' हमारी मदद को मिल गया। इस तरह के दो क़ानून थे, जिनमें वह दूसरा कानून, जिससे मेरी बहिन की शादी हुई, हिन्दुओं और हिन्दू-धर्म से सम्बद्ध दूसरे मतवालों के लिए था—जैसे सिक्ख, जैन, बौद्ध। लेकिन वर-वधू में से कोई एक भी जन्मतः या बाद में धर्म-परिवर्तन करके इन धर्मों में से किसी एक को भी माननेवाला न हो, तो यह दूसरा क़ानून उसपर लागू नहीं होता। ऐसी हालत में पहले क़ानून का ही आश्रय लेना पड़ता है। इस पहले क़ानून के अनुसार दोनों को सभी मुख्य धर्मों का परित्याग करना पड़ता है, या उन्हें कम-से-कम यह तो कहना ही पड़ता है कि हममें से कोई किसी भी धर्म को नहीं मानता है। इस प्रकार का अनावश्यक परित्याग बड़ा वाहियात है। बहुत-से ऐसे लोगों को भी, जिनका कि मज़हब की तरफ़ कोई रुझान नहीं है, इस बात पर ऐतराज़ है और इस तरह वे इस क़ानून से फ़ायदा नहीं उठा सकते। जुदे-जुदे मज़हबों के कट्टर लोग ऐसे सब परिवर्तनों का विरोध करते हैं जिनसे अन्तर्जातीय विवाहों के होने में आसानी हो। इससे, जो लोग इस क़ानून के अन्तर्गत विवाह करना चाहते हैं, उन्हें या तो धर्म-परित्याग का ऐलान करना पड़ता है, या जिन धर्मवालों को उसके मुताबिक़ अन्तर्जातीय विवाह करने की छूट है उनमें से किसी धर्म को झूठ-मूठ के लिए अपनाना पड़ता है। मैं स्वयं अन्तर्जातीय विवाहों को प्रोत्साहन देना पसन्द करूंगा; लेकिन उन्हें प्रोत्साहन दिया जाय या नहीं, ऐसी अनुमति देनेवाले एक अन्तर्जातीय विवाह-क़ानून का बनना तो निहायत ज़रूरी है जो आमतौर पर सब धर्मवालों पर लागू हो और जिससे विवाह करने के लिए उन्हें धर्म छोड़ने या बदलने की ज़रूरत न पड़े।

मेरी बहिन की शादी में कोई धूमधाम नहीं हुई; सारा काम बड़ी सादगी

से हुआ। हिन्दुस्तानी विवाहों में जो धूमधाम हुआ करती है, मामूली तौरपर वह मुझे पसन्द भी नहीं है। फिर माताजी की बीमारी के कारण और उससे भी अधिक इस बात से कि सविनय-भंग अभी भी जारी था और हमारे बहुत-से साथी जेलों में पड़े सड़ रहे थे, दिखावे के रूप में कोई भी बात करना था भी बिलकुल अनुचित। इसलिए सिर्फ़ थोड़े-से रिश्तेदारों और स्थानीय मित्रों को ही निमन्त्रित किया गया। पिताजी के बहुत-से पुराने मित्रों को इससे सदमा भी पहुंचा; क्योंकि उन्हें यह लगा, हालांकि वह था ग़लत, कि मैंने जान-बूझकर उनकी उपेक्षा की है।

विवाह के लिए जो छोटा-सा निमन्त्रण-पत्र हमने भेजा था वह लैटिन अक्षरों व हिन्दुस्तानी भाषा में छपाया गया था। यह एक बिलकुल नई बात थी। अब तक इस तरह के निमन्त्रण-पत्र आमतौर पर नागरी या फ़ारसी लिपि में ही लिखे जाते थे। फ़ौज या ईसाई मिशनवालों को छोड़कर कहीं भी हिन्दुस्तानी भाषा लैटिन अक्षरों में नहीं लिखी जाती थी। मैंने इस लिपि का इस्तेमाल केवल यह देखने के लिए किया था कि इसका मुख्तलिफ़ क़िस्म के लोगों पर क्या असर होता है। इसे कुछ ने पसन्द किया, कुछ ने नहीं। ज़्यादा संख्या नापसन्द करनेवालों की ही थी। बहुत कम लोगों के पास यह निमन्त्रण-भेजा गया था, और, अगर ज़्यादा लोगों के पास भेजा जाता तो इसका असर और भी ज़्यादा ख़िलाफ़ होता। गांधीजी ने भी इसे पसन्द नहीं किया।

मैंने रोमन लिपि इसलिए इस्तेमाल नही की थी कि मै उसके पक्ष में हो गया था, हालांकि उसने मुझे बहुत दिनों से अपनी ओर आकर्षित कर रक्खा था। टर्की और मध्य-एशिया में रोमन लिपि की सफलता ने मुझे प्रभावित किया था। रोमन के पक्ष में जो दलीलें है, उनमें काफ़ी वजन हैं, फिर भी मै भारतवर्ष के लिए रोमन लिपि के पक्ष में नहीं हो गया था। अगर मैं उसके पक्ष में हो भी जाता तो भी मै अच्छी तरह जानता था कि वर्तमान भारत में उसके अपनाये जाने की रत्ती-भर भी सम्भावना न थी। राष्ट्रीय, धार्मिक, हिन्दू, मुस्लिम, नये, पुराने सब दलों की ओर से इसका बहुत सख़्त विरोध होता, और यह मै मानता हूं कि यह विरोध महज़ भावुकतावश ही नहीं होता। किसी भी भाषा के लिए, जिसका प्राचीन काल उज्ज्वल रहा हो, लिपि का बदलना बहुत बड़ी क्रान्ति है; क्योंकि लिपि का उस साहित्य से बहुत गहरा सम्बन्ध रहता है। लिपि बदल दीजिए तो सामने कुछ

और ही शब्द-चित्र नज़र आयंगे, ध्वनि बदल जायगी, भाव बदल जायंगे । पुराने और नये साहित्य के बीच एक अटूट दीवार उठ खड़ी होगी । पुराना साहित्य एकदम किसी विदेशी भाषा में लिखा हुआ-सा जान पड़ेगा, ऐसी भाषा में जो मर चुकी हो । लिपि बदलने का जोखिम उसी भाषा में लेना चाहिए, जिसका कोई उल्लेखनीय साहित्य न हो । हिन्दुस्तान में तो मैं ऐसे रद्दो-बदल का ख़याल भी नहीं कर सकता हूं; क्योंकि हमारा साहित्य केवल सम्पन्न और अमूल्य ही नहीं, बल्कि हमारे इतिहास और विचार-परम्परा से सम्बद्ध है और हमारी सर्वसाधारण जनता के जीवन के साथ उसका बड़ा गहरा नाता रहा है । हमारे देश पर इस तरह का परिवर्तन लाद देना एक क्रूर विच्छेद के समान होगा और सार्वजनिक शिक्षा के रास्ते में बाधक होगा ।

लेकिन आज तो हिन्दुस्तान में रोमन लिपि का प्रश्न सार्वजनिक चर्चा का विषय ही नहीं है । मेरी समझ में लिपि-सुधार की दृष्टि से जो अगला क़दम होना चाहिए, वह है संस्कृत भाषा से उत्पन्न चारों सहोदराओं—हिन्दी, बंगला, मराठी, गुजराती—भाषाओं के लिए एक-सी लिपि बनाना । इन चारों भाषाओं की लिपियों का उद्गम एक ही है और इनमें एक-दूसरे से भिन्नता भी विशेष नहीं है और इसलिए इन सबके लिए एक ही लिपि ढूंढ निकालने में कोई खास दिक़्क़त न होनी चाहिए । इससे ये चारों भाषाएं एक-दूसरे के नज़दीक आ जायंगी ।

हमारे अंग्रेज़ी शासकों ने हमारे देश के बारे में जो दन्तकथाएं संसार-भर में फैला रक्खी हैं, उनमे से एक यह भी है कि हिन्दुस्तान में कई-सौ भाषाएं बोली जाती हैं । मुझे उनकी ठीक तादाद याद नहीं है । प्रमाण के लिए मर्दुमशुमारी को लिया जाता है । यह एक विचित्र बात है कि इन कई-सौ भाषाओं के देश में सारा जीवन बिताने पर भी बहुत कम अंग्रेज एक भाषा से भी मामूली जानकारी हासिल कर पाते हैं । इन सब भाषाओं को 'वर्नाक्युलर' के नाम से पुकारते हैं, जिसका अर्थ है गुलामों की भाषा (लैटिन 'वर्ना' का अर्थ घर में पैदा हुआ ग़ुलाम है) । हममें से बहुतों ने बिना समझे-बूझे इस नामकरण को स्वीकार कर लिया है । यह एक आश्चर्य की बात है कि सारी ज़िन्दगी इस देश में रहकर भी अंग्रेज़ लोग यहां की भाषा सीखे बिना किस तरह अपना काम चला लेते हैं ! अपने खान-सामों व आयाओं की मदद से उन्होंने एक कर्णकटु कामचलाऊ नई हिन्दुस्तानी खिचड़ी भाषा ईजाद कर ली है, जिसको वे असली भाषा समझ बैठे हैं । जैसे वे

भारतीय जीवन के हालात अपने नौकरों व जी-हुजूरों से मालूम करते हैं, उसी तरह वे हिन्दुस्तानी भाषा के बारे में अपने विचार अपने उन घरू नौकरों से बनाते हैं जो 'साहब लोगों' से अपनी इस 'कामचलाऊ खिचड़ी भाषा' में ही बोलते हैं क्योंकि उन्हें डर है कि वे और कोई भाषा समझेंगे भी नहीं। वे इस बात से बिलकुल अपरिचित मालूम पड़ते हैं कि हिन्दुस्तानी और दूसरी भारतीय भाषाओं का साहित्य बहुत ऊंचा और बहुत विस्तृत है।

अगर मर्दुमशुमारी की रिपोर्ट हमें यह बताती है कि हिन्दुस्तान में दो सौ या तीन सौ भाषाएं हैं, तो जर्मनी की मर्दुमशुमारी भी यह बताती है कि वहां पर भी लगभग ५०-६० भाषाएं हैं। मुझे ख़याल नहीं कि कभी किसीने इसके कारण ही जर्मनी में असमानता या आपसी फूट साबित करने की कोशिश की हो। सच तो यह है कि मर्दुमशुमारी में सब प्रकार की छोटी-मोटी भाषाओं का भी ज़िक्र किया जाता है, चाहे इन भाषाओं के बोलनेवाले कुछ हज़ार ही व्यक्ति क्यों न हों; और अक्सर थोड़ा-थोड़ा भेद होने पर भी वैज्ञानिक भेद बताने के लिए बोलियों को अलग-अलग भाषा मान लिया जाता है। हिन्दुस्तान के क्षेत्रफल को देखते हुए इतनी थोड़ी भाषाओं का होना ताज्जुब की बात मालूम होती है। यूरोप के इतने भाग को लेकर मुक़ाबला करें तो भाषा की दृष्टि से हिन्दुस्तान में इतने भेद नहीं मिलेंगे। लेकिन हिन्दुस्तान में आम जनता में शिक्षा का प्रसार न होने के कारण यहां भाषाओं का समान स्टैंडर्ड नहीं बन पाया और कई बोलियां बन गई। बरमा को छोड़कर हिन्दुस्तान की मुख्य भाषाएं है —हिन्दुस्तानी (हिन्दी और उर्दू जिसकी दो क़िस्में है), बंगला, गुजराती, मराठी, तमिल, तेलुगु, मलयालम और कन्नड़। इनमें अगर आसामी, उड़िया, सिन्धी, पश्तो और पंजाबी को भी शामिल कर लिया जाय, तो सिवा कुछ पहाड़ी और जंगली हिस्सों को छोड़कर सारे देश की भाषाएं इनमें आ जाती हैं। इनमें से भारतीय आर्य भाषाएं जो उत्तर, मध्य और पश्चिम भारत में प्रचलित हैं, आपस में बहुत काफी मिलती-जुलती हैं और दक्षिणी द्राविड़ी भाषाएं भिन्न होते हुए भी संस्कृत से काफी प्रभावित हुई हैं और उनमें संस्कृत के शब्दों की बहुतायत है।

इन मुख्य आठ भाषाओं में पुराना बहुमूल्य साहित्य है और ये भाषाएँ देश के काफ़ी बड़े हिस्से में बोली जाती हैं। इनका क्षेत्र निश्चित और स्पष्ट है। इस तरह बोलनेवालों की संख्या की दृष्टि से देखें तो ये भाषाएं संसार की प्रमुख

भाषाओं में आ जाती है। बंगला बोलनेवालों की संख्या साढ़े पांच करोड़ है। जहांतक हिन्दुस्तानी से सम्बन्ध है, मेरे पास यहां आंकड़े नहीं हैं, लेकिन मेरे खयाल में वह अपने सभी रूपों सहित १४ करोड़ भारतवासियों में बोली जाती है। इसके अलावा हिन्दुस्तान-भर के अन्य भाषा बोलनेवाले लोग भी हिन्दुस्तानी समझ लेते हैं।[1] साफतौर पर ऐसी भाषा की उन्नति की आशा बहुत अधिक है, वह संस्कृत की मज़बूत नींव पर जमी हुई है और फ़ारसी का भी उसपर काफ़ी असर है। इस तरह वह दो सम्पन्न स्रोतों से अपना शब्द-कोष ले सकती है और पिछले कुछ वर्षों से वह अंग्रेज़ी से भी शब्द ले रही है। दक्षिण का द्राविड़ी प्रदेश एक ऐसा हिस्सा है जहां हिन्दुस्तानी एक विदेशी भाषा के समान नज़र आती है, लेकिन वहां के निवासी इसे सीखने की पूरी कोशिश कर रहे है। दो बरस पहले १९३२ में, मैंने एक संस्था के आंकड़े देखे थे। यह सस्था दक्षिण में हिन्दी-प्रचार

---

[1] हिन्दुस्तानी के समर्थक नीचे दिये आंकड़े पेश करते हैं। मैं नहीं कह सकता कि ये संख्याएं १९३१ की मर्दुमशुमारी के मुताबिक है या १९२१ की। मेरे खयाल में तो १९२१ की गणना के मुताबिक हैं। इसलिए १९३१ की संख्या तो जरूर इससे कहीं ज्यादा होगी।

१. हिन्दुस्तानी (जिसमें पश्चिमी हिन्दी, पंजाबी और राजस्थानी शामिल हैं)	१३,९३,००,०००
२. बंगला	४,९३,००,०००
३. तेलुगु	२,३६,००,०००
४. मराठी	१,८८,००,०००
५. तामिल	१,८८,००,०००
६. कन्नड़	१,०३,००,०००
७. उड़िया	१,०१,००,०००
८. गुजराती	९६,००,०००
	२७,९८,००,०००

पश्तो, आसामी, बर्मी आदि कुछ भाषाएं, जो भाषा-विज्ञान तथा क्षेत्र के हिसाब से बिलकुल अलग हैं, इस सूची में शामिल नहीं की गई हैं।

करने के लिए कुछ मित्रों ने खोली थी। उसका काम शुरू करने के बाद से अबतक, पिछले १४ बरसों में, अकेली उस संस्था की कोशिश से मद्रास प्रान्त में लगभग ५५,००० लोगों ने हिन्दी सीख ली है। एक ऐसी संस्था के लिए, जिसे सरकारी मदद कुछ भी नहीं मिलती, यह सफलता अनोखी है। वहां हिन्दी सीखनेवालों में से अधिकतर स्वयं इस कार्य के प्रचारक बन जाते हैं।

मुझे इसमें कुछ भी शक नहीं है कि हिन्दुस्तानी ही भारतवर्ष की राष्ट्रभाषा बनेगी। दरअसल रोज़मर्रा के काम-काज के लिए वह एक बड़ी हदतक आज भी राष्ट्रभाषा-सी बनी हुई है। लिपि नागरी हो या फ़ारसी, इस निरर्थक वाद-विवाद ने इसकी तरक़्क़ी को रोक दिया है और दोनों दलों की इस कोशिश ने भी इसकी प्रगति में रुकावट खड़ी कर दी है कि भाषा को संस्कृत-प्रधान बनाया जाय या फ़ारसी-प्रधान। लिपि का प्रश्न उठते ही इतने झगड़े पैदा हो जाते हैं कि इस कठिनाई को हल करने का इसके सिवा और कोई उपाय ही नही मालूम होता कि दोनों लिपियों को अधिकृत रूप से मान लिया जाय और लोगों को इनमें से किसीको भी काम में लाने की छूट दे दी जाय। संस्कृत व फ़ारसी के शब्दों को ज्यादा काम में लाने की जो बेजा प्रवृत्ति चल पड़ी है, उसे रोकने के लिए पूरी कोशिश करनी चाहिए, और सामान्य व्यवहार में बोली जानेवाली सरल भाषा के ढंग पर एक साहित्यिक भाषा बना लेनी चाहिए। जनता में जैसे-जैसे शिक्षा बढ़ती जायगी, वैसे-वैसे अपने-आप ऐसा होता जायगा। इस समय मध्यम श्रेणी के छोटे-छोटे दल साहित्यिक रुचि और शैली के निर्णायक बने हुए हैं और ये लोग अपने-अपने ढंग से बहुत ही संकुचित हृदय के अनुदार और अपरिवर्तनवादी हैं। ये अपनी भाषाओं के पुराने निर्जीव रूप से चिपटे रहना चाहते हैं और अपने देश की साधारण जनता और संसार के साहित्य से इनका बहुत ही कम सम्पर्क है।

हिन्दुस्तानी की वृद्धि और प्रसार को, भारत की दूसरी बड़ी भाषाओं—बंगला, गुजराती, मराठी, उड़िया और दक्षिण की द्राविड़ी—के सतत व्यवहार और समृद्धि में, न तो बाधक बनना चाहिए और न वह बनेगा। इनमें से कुछ भाषाएं तो अब भी हिन्दुस्तानी की बनिस्बत बहुत अधिक जागरूक और बौद्धिक दृष्टि से सतर्क हैं और इसलिए अपने-अपने क्षेत्र में शिक्षा के माध्यम और अन्य व्यवहारों के लिए अधिकारी-रूप से अवश्य स्वीकार कर लेनी चाहिए। सिर्फ इन्हीके जरिये साधारण जनता में शिक्षा और संस्कृति तेज़ी के साथ फैल सकती है।

कुछ लोगों का खयाल है कि बहुत करके अंग्रेजी ही भारत की राष्ट्रभाषा हो जायगी; लेकिन ऊंचे दरजे के गिने-चुने पढ़े-लिखों को छोड़कर साधारण जनता इसे अपनायेगी, यह धारणा मुझे एक असम्भव कल्पना के समान दिखाई देती है। साधारण जनता की शिक्षा और संस्कृति के प्रश्न के साथ इसका कोई सरोकार नहीं है। यह हो सकता है, जैसाकि आजकल कुछ हद तक है भी, कि औद्योगिक, वैज्ञानिक और व्यापारी कामों में, विशेषकर अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहारों में, अंग्रेज़ी ज़्यादा काम में आने लगे। हममें से बहुतों के लिए विदेशी भाषाओं का सीखना व जानना बहुत ज़रूरी है, ताकि संसार के विचारों व प्रगतियों से हमारी जानकारी होती रहे, और इस बात को ध्यान में रखते हुए मैं तो पसन्द करूंगा कि हमारी यूनिवर्सिटियों में अंग्रेज़ी के अलावा फ्रेंच, जर्मन, रशियन, स्पेनिश और इटालियन भाषाएं सीखने के लिए विद्यार्थियों को प्रोत्साहित किया जाय। इसका यह मतलब नहीं है कि अंग्रेजी की अवहेलना की जाय; लेकिन अगर हमें संसार की हलचलों को निष्पक्ष दृष्टि से देखना है तो हमें अपनेको अंग्रेजी सीखने तक ही सीमित नहीं रखना चाहिए। केवल अंग्रेजी शिक्षा ने हमारी मानसिक दृष्टि को एकांगी और संकुचित कर दिया है। इसका कारण हमारे विचारों का एक ही दृष्टिकोण और विचारधारा की ओर झुका रहना है। हमारे कट्टर-से-कट्टर राष्ट्रवादी भी शायद ही इस बात का अन्दाजा लगा सकते हैं कि अपने देश के सम्बन्ध में उनके दृष्टि-बिन्दु पर अंग्रेजी विचारधारा का कितना गहरा असर है।

लेकिन हम विदेशी भाषाओं को सीखने के लिए कितना ही प्रोत्साहन क्यों न दें, बाहरी दुनिया से हमारा सम्बन्ध अंग्रेजी भाषा द्वारा ही रहेगा। इसमें कोई हर्ज भी नहीं है। हम कई पीढ़ियों से अंग्रेजी सीखने की कोशिश कर रहे हैं और इसमें हमें काफी कामयाबी मिली है। इस सब किये-कराये को मिटा देना सरासर बेवकूफी होगी। इतने अरसे की मेहनत से हमें लाभ उठाना चाहिए। निस्सन्देह अंग्रेजी आज संसार की सबसे ज्यादा व्यापक और महत्त्वपूर्ण भाषा है, और दूसरी भाषाओं पर वह अपना सिक्का जमाती जा रही है। यह सम्भव है कि अब अन्त-र्राष्ट्रीय व्यवहारों में और रेडियो आदि के लिए वह माध्यम बन जाय, बशर्ते कि 'अमेरिकन' उसकी जगह न ले ले। इसलिए हमें अंग्रेजी भाषा के ज्ञान का प्रसार अवश्य जारी रखना चाहिए। अंग्रेजी को जितनी अच्छी तरह सीख सकें, उतना ही अच्छा है; लेकिन मुझको इसकी ज़रूरत नहीं मालूम होती कि अंग्रेजी की

बारीकियों को सीखने में हम लोग अपना वक्त लगायें, जैसा कि आजकल हममें से बहुत-से करते हैं। कुछ व्यक्ति तो ऐसा कर सकते हैं, लेकिन बहुसंख्यक लोगों के सामने इस बात को आदर्श के रूप में रखना उनपर अनावश्यक बोझ डालना और दूसरी दिशाओं में प्रगति करने से रोकना होगा।

इधर कुछ दिनों से 'बेसिक अंग्रेजी'[१] (Basic English) ने मुझे अपनी ओर काफी आकर्षित किया है और ऐसा मालूम होता है कि ज़्यादा-से-ज़्यादा सरल बनाई हुई इस अंग्रेजी का भविष्य बहुत उज्ज्वल है। स्टैंडर्ड अंग्रेजी तो विशेषज्ञों तथा कुछ खास विद्यार्थियों के लिए छोड़ देना चाहिए और हिन्दुस्तान की सर्वसाधारण जनता में इस बेसिक अंग्रेजी का ही व्यापक प्रचार करना चाहिए।

मैं खुद इस बात को पसन्द करूंगा कि हिन्दुस्तानी अंग्रेजी व दूसरी विदेशी भाषाओं से बहुत-से शब्द अपने में ले ले। इस बात की ज़रूरत है, क्योंकि आजकल जो नई-नई चीजें निकलती हैं हमारी भाषा में उनके अर्थ-द्योतक शब्द नहीं मिलते; इसलिए यही बेहतर है कि संस्कृत, फारसी या अरबी से नये और मुश्किल शब्द गढ़ने के बजाय हम उन्हीं सुप्रचलित शब्दों को काम में लायें। भाषा की पवित्रता के हामी विदेशी शब्दों के इस्तेमाल का विरोध करते हैं; लेकिन मेरा खयाल है कि वे ग़लती करते हैं। वास्तव में किसी भाषा को समृद्ध बनाने का तरीका यही है कि वह इतनी लचीली रक्खी जाय, कि दूसरी भाषाओं के भाव और शब्द उसमें शामिल होकर उसीके हो जायं।

अपनी बहिन की शादी के बाद ही मैं अपने पुराने दोस्त और साथी श्री शिवप्रसाद गुप्त से मिलने के लिए बनारस गया। गुप्तजी एक बरस से भी ज्यादा अरसे से बीमार थे। जब वह लखनऊ-जेल में थे, अचानक उनको लकवा मार गया और अब वह धीरे-धीरे अच्छे हो रहे थे। बनारस की इस यात्रा के अवसर पर मुझे हिन्दी-साहित्य की एक छोटी-सी संस्था की ओर से मानपत्र दिया गया और वहां उसके सदस्यों से दिलचस्प बातचीत करने का मुझे मौक़ा मिला। मैंने

---

[१] **'बेसिक अंग्रेजी' का 'मूल अंग्रेजी' अर्थ होने के अलावा एक और भी अर्थ है, वह है पांच प्रकार की भाषाओं का**—BASIC [British (**अंग्रेजी**), American (**अमेरिकन**), Scientific (**वैज्ञानिक**), International (**अन्तर्राष्ट्रीय**) **और** Commercial (**व्यापारिक**)] **का—सम्मिश्रण।—अनु०**

उनसे कहा कि जिस विषय का मेरा ज्ञान बहुत अधूरा है, उसपर उसके विशेषज्ञों से बोलते हुए मुझे हिचक होती है; लेकिन फिर भी मैंने उन्हें थोड़ी-सी सूचनाएं दीं। आजकल हिन्दी में जो क्लिष्ट और अलंकारिक भाषा इस्तेमाल की जाती है, उसकी मैंने कुछ कड़ी आलोचना की। उसमें कठिन, बनावटी और पुरानी शैली के संस्कृत-शब्दों की भरमार रहती है। मैंने यह कहने का भी साहस किया कि यह थोड़े-से लोगों के काम में आनेवाली दरबारी शैली अब छोड़ देनी चाहिए और हिन्दी-लेखकों को यह कोशिश करनी चाहिए कि वे हिन्दुस्तान की आम जनता के लिए लिखें और ऐसी भाषा में लिखें जिसे लोग समझ सकें। आम जनता के संसर्ग से भाषा में नया जीवन और असली सच्चापन आ जायगा। इससे स्वयं लेखकों को जनता की भाव-व्यंजनाशक्ति मिलेगी और वे अधिक अच्छा लिख सकेंगे। साथ ही मैंने यह भी कहा कि हिन्दी के लेखक पश्चिमी विचारों या साहित्य का अध्ययन करें तो उससे उन्हें बड़ा लाभ होगा। यह और भी अच्छा होगा कि यूरोप की भाषाओं के पुराने साहित्य और नवीन विचारों के ग्रन्थों का हिन्दी में अनुवाद कर डाला जाय। मैंने यह भी कहा कि सम्भव है कि आज का गुजराती, बंगला और मराठी-साहित्य इन बातों में आजकल के हिन्दी-साहित्य से अधिक उन्नत हो; और यह तो मानी हुई बात है कि पिछले वर्षों में हिन्दी की अपेक्षा बंगला में कहीं अधिक रचनात्मक साहित्य लिखा गया है।

इन विषयों पर हम लोग मित्रतापूर्ण बातचीत करते रहे और उसके बाद मैं चला आया। मुझे इस बात का जरा भी खयाल न था कि मैंने जो कुछ कहा वह अखबारों मे दे दिया जायगा; लेकिन वहां उपस्थित लोगों में से किसीने हमारी उस बातचीत को हिन्दी-पत्रों में प्रकाशित करवा दिया।

फिर क्या था, हिन्दी अखबारों में मुझपर और हिन्दी-सम्बन्धी मेरी इस धृष्टता पर खासतौर से हमले शुरू हुए कि मैंने हिन्दी को वर्तमान बंगला, गुजराती और मराठी से हलका क्यों कहा। मुझे अनजान—इस विषय में मैं सचमुच था भी अनजान—कहा गया। मेरे विचारों की टीका में बहुत कठोर शब्द काम में लाये गए। मुझे तो इस वाद-विवाद में पड़ने की फुरसत ही नहीं थी, लेकिन मुझे बताया गया कि यह झगड़ा कई महीनों चलता रहा—उस समय तक जबतक कि मैं फिर जेल में नहीं चला गया।

यह घटना मेरे लिए आंख खोलनेवाली थी। उसने बतलाया कि हिन्दी

के साहित्यिक और पत्रकार कितने ज़्यादा तुनकमिजाज़ हैं। मुझे पता लगा कि वे अपने शुभचिन्तक मित्र की सद्भावनापूर्ण आलोचना भी सुनने को तैयार नहीं थे। साफ़ ही यह मालूम होता था कि इस सबकी तह में अपनेको छोटा समझने की भावना ही काम कर रही थी। आत्म-आलोचना की हिन्दी में पूरी कमी है, और आलोचना का स्टैंडर्ड बहुत ही नीचा है। एक लेखक और उसके आलोचक के बीच एक-दूसरे के व्यक्तित्व पर गाली-गलौज होना हिन्दी में कोई असाधारण बात नहीं है। यहां का सारा दृष्टिकोण बहुत संकुचित और दरबारी-सा है और ऐसा मालूम होता है, मानो हिन्दी का लेखक और पत्रकार एक-दूसरे के लिए और एक बहुत ही छोटे-से दायरे के लिए लिखते हों। उन्हें आम जनता और उसके हितों से मानो कोई सरोकार ही नहीं है। हिन्दी का क्षेत्र इतना विशाल और आकर्षक है कि उसमें इन त्रुटियों का होना मुझे अत्यन्त खेदजनक और हिन्दी लेखकों का प्रयत्न शक्ति का अपव्यय-सा जान पड़ा।

हिन्दी-साहित्य का भूतकाल बड़ा गौरवमय रहा है, लेकिन वह सदा के लिए उसीके बस पर तो ज़िन्दा नहीं रह सकता। मुझे पूरा यक़ीन है कि उसका भविष्य भी काफ़ी उज्ज्वल है, और मैं यह भी जानता हूं कि किसी दिन देश में हिन्दी के अख़बार एक ज़बरदस्त ताक़त बन जायंगे; लेकिन जबतक हिन्दी के लेखक और पत्रकार पुरानी रूढ़ियों व बन्धनों से अपने-आपको बाहर नहीं निकालेंगे और आम जनता के लिए लिखना न सीखेंगे तबतक उनकी अधिक उन्नति न हो सकेगी।

: ५६ :

साम्प्रदायिकता और प्रतिक्रिया

मेरी बहिन की शादी के क़रीब, यूरोप में श्री० विट्ठलभाई पटेल की मृत्यु की खबर आई। वह बहुत दिनों से बीमार थे और स्वास्थ्य ख़राब होने की वजह से ही वह यहां की जेल से छोड़े गये थे। उनकी मृत्यु एक दुःखद घटना थी। हमारे बुज़ुर्ग नेताओं का इस तरह हमारे बीच से, लड़ाई के बीच में ही, एक के बाद एक उठकर चले जाना हमारे लिए असाधारण निराशाजनक बात थी। विट्ठलभाई को बहुत-सी श्रद्धांजलियां दी गई, जिनमें से ज़्यादातर में उनके कुशल पार्लमेंटेरियन होने और उनकी उस सफलता पर, जो असेम्बली के प्रेसीडेंट की हैसियत से उन्होंने पाई थी, जोर दिया गया था। यह बात थी तो बिलकुल उचित, मगर इस बात के बार-बार दोहराये जाने से मुझे कुछ चिढ़-सी मालूम होने लगी। क्या हिन्दुस्तान में कुशल पार्लमेंटेरियन लोगों की कमी थी, या ऐसे लोगों की कमी थी जो स्पीकर (असेम्बली के अध्यक्ष) का आसन योग्यता के साथ सुशोभित कर सकें ? केवल यही तो एक काम है जिसके लायक वकालत की शिक्षा ने हमें बनाया है। लेकिन इसके अलावा विट्ठलभाई में और भी कहीं अधिक गुण थे। वह हिन्दुस्तान की आज़ादी की लड़ाई के एक महान और निडर योद्धा थे।

जब नवम्बर में मैं बनारस गया तो उस मौके पर मुझे हिन्दू विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों के सामने व्याख्यान देने के लिए निमन्त्रित किया गया। मैंने बड़ी ख़ुशी से इस निमन्त्रण को मंज़ूर कर लिया और एक बड़ी सभा में मैंने भाषण दिया, जिसके सभापति यूनिवर्सिटी के वाइस-चांसलर पण्डित मदनमोहन मालवीय थे। अपने व्याख्यान में मैंने साम्प्रदायिकता के बारे में बहुत-कुछ कहा और ज़ोरदार शब्दों में उसकी निन्दा की; खासकर हिन्दू-महासभा के काम की तो मैंने कड़ी निन्दा की। ऐसा हमला करने का मेरा पहले से ही इरादा रहा हो सो बात नहीं; बल्कि सच बात तो यह थी कि सभी फ़िरकों के सम्प्रदायवादी लोगों की बढ़ती हुई सुधार-विरोधी हरकतों के लिए मुद्दत से मेरे दिमाग़ में ग़ुस्सा भरा

हुआ था और जब मैं अपने विषय पर ज़रा जोश से बोलने लगा तो इस ग़ुस्से का कुछ भाग उफनकर बाहर निकल पड़ा। मैंने जान-बूझकर सम्प्रदायवादी हिन्दुओं के दक़ियानूसीपन पर ज़ोर दिया, क्योंकि हिन्दू श्रोताओं के सामने मुसलमानों पर टीका-टिप्पणी करने का कोई अर्थ नहीं था। उस वक़्त यह बात तो मेरे ध्यान में ही नहीं आई कि जिस सभा के सभापति मालवीयजी बहुत दिनों हिन्दू-महासभा के स्तम्भ रहे हों, उसमें हिन्दू-महासभा पर टीका-टिप्पणी करना बहुत मुनासिब न था। पर उस समय मैंने इस बात का विचार ही नहीं किया, क्योंकि मालवीयजी का कुछ दिनों से हिन्दू-महासभा से ख़ास सम्बन्ध नहीं था और क़रीब-क़रीब ऐसा मालूम होता था कि महासभा में नये कट्टर नेताओं ने मालवीयजी-जैसे व्यक्ति के लिए उसमें कोई स्थान नहीं रहने दिया था। जबतक महासभा की बागडोर उनके हाथ में रही, तबतक साम्प्रदायिकता के रहते हुए भी वह राजनैतिक दृष्टि से उन्नति के मार्ग में रोड़ा अटकानेवाली नहीं थी। लेकिन कुछ दिनों से यह नई प्रवृत्ति बहुत उग्र हो गई थी और मुझे यक़ीन था कि मालवीयजी का उससे कोई सम्बन्ध नहीं होगा, बल्कि उन्होंने उसको नापसन्द भी किया होगा। फिर भी मेरे लिए यह बात ज़रा अनुचित तो थी ही कि मैंने ऐसे विचार प्रकट करके, जिससे उनकी स्थिति अटपटी हो, उनके निमन्त्रण का अनुचित लाभ उठाया। इस बात का मुझे पीछे जाकर अनुभव हुआ और मुझे इसके लिए अफ़सोस भी हुआ।

एक और मूर्खतापूर्ण भूल के लिए भी मुझे खेद है, जिसका मैं शिकार हो गया था। किसीने हमको डाक से एक ऐसे प्रस्ताव की नकल भेजी जो अजमेर में हिन्दू युवकों की एक सभा में पास हुआ बतलाया गया था। वह प्रस्ताव बहुत आपत्तिजनक था, जिसका मैंने अपने बनारस के भाषण में जिक्र किया था। असल में ऐसा प्रस्ताव किसी संस्था द्वारा पास ही नहीं हुआ था और हमें चकमा ही दिया गया था।

मेरे बनारस के भाषण की रिपोर्ट संक्षेप में प्रकाशित हुई। इसपर बड़ा हो-हल्ला मचा। हालांकि मैं ऐसे हमलों का आदी था, फिर भी, हिन्दू-महासभा के नेताओं के जबरदस्त हमलों से मैं चकित हो गया। ये हमले ज़्यादातर व्यक्तिगत थे और असली विषय से तो प्रायः सम्बन्ध ही नहीं रखते थे। वे हद से बाहर चले गये और मुझे इस बात से खुशी हुई कि उनकी वजह से मुझे भी उस विषय पर अपनी बात कह लेने का मौक़ा मिल गया। इस बात पर तो मैं कई महीने से, यहां तक

कि जेल में भी, भरा हुआ बैठा था, लेकिन मेरी समझ में नहीं आता था कि उस विषय को किस तरह छेड़ूं। वह एक बर्र का छत्ता था और हालांकि मुझे बर्र के छत्ते में हाथ डालने की आदत है, लेकिन मुझे ऐसे विवादों में पड़ना पसन्द नहीं था जो बाद में तू-तू, मैं-मैं पर आ जायें। लेकिन अब मेरे सामने दूसरा कोई रास्ता नहीं रह गया और फिर मैंने हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिकता पर एक तर्कपूर्ण लेख लिखा, जिसमें मैंने यह बताया कि दोनों ओर की साम्प्रदायिकता सच्ची साम्प्रदायिकता नहीं थी, बल्कि साम्प्रदायिक आवरण में ढकी हुई ठेठ सामाजिक और राजनैतिक संकीर्णता थी। इत्तिफ़ाक़ से मेरे पास कई अख़बारों के कटिंग थे, जो मैंने जेल में इकटठे किये थे। इनमें साम्प्रदायिक नेताओं के हर तरह के भाषण और वक्तव्य थे। मेरे पास इतना मसाला इकट्ठा हो गया था कि मेरे लिए यह मुश्किल हो गया कि मै किस तरह एक लेख मे उसका उपयोग करूं।

मेरे इस लेख की हिन्दुस्तानी के अख़बारों में ख़ूब प्रसिद्धि हुई। यद्यपि उसमें हिन्दू और मुसलमान सम्प्रदायवादियों के सम्बन्ध मे बहुत-कुछ बातें थी, फिर भी आश्चर्य है कि उसका हिन्दू-मुसलमान दोनों की ओर से कोई उत्तर न मिला। हिन्दू-महासभा के जितने नेताओं ने मुझे बड़ी जोरदार और तरह-तरह की भाषा में आड़े हाथों लिया था, वे भी बिलकुल चुप्पी साधे रहे। मुसलमानों की तरफ़ से सर मुहम्मद इकबाल[१] ने गोलमेज-परिषद सम्बन्धी मेरी बातों में सुधार करने की कोशिश की; लेकिन मेरी दलीलों के सम्बन्ध में तो उन्होंने भी कुछ नहीं कहा। उनको दिये गए अपने जवाब ही में मैंने यह मत प्रकट किया था कि विधान-सभा (कंस्टीट्यूएंट असेम्बली) द्वारा ही राजनैतिक और साम्प्रदायिक दोनों विषयों का निर्णय होना चाहिए। इसके बाद मैंने सम्प्रदायवाद पर एक या दो लेख और भी लिखे।

इन लेखों का जैसा स्वागत हुआ और समझदार व्यक्तियों पर प्रकट रूप से जो कुछ उनका प्रभाव पड़ा, उससे मेरा उत्साह बहुत कुछ बढ़ गया। असल में मैंने इस बात का तो अनुमान ही नही किया था कि साम्प्रदायिक भावना की तह में जो जोश छिपा रहता है मैं उसे हटा सकूगा। मेरा उद्देश्य तो यह बताना था कि किस तरह साम्प्रदायिक नेता हिन्दुस्तान और इंग्लैंड के घोर प्रतिक्रिया-

---

[१] २१ अप्रैल १९३८ को इनका देहावसान हो गया।—अनु०

वादी फ़िरक़ों से मिले रहते हैं और वे असल में राजनैतिक, और उससे भी अधिक सामाजिक, प्रगति के विरोधी होते हैं। उनकी सभी मांगों का जन-साधारण से कोई भी सम्बन्ध नहीं है। उनका उद्देश्य यही रहता है कि सार्वजनिक क्षेत्र में आगे आये हुए कुछ छोटे-छोटे दलों का भला हो जाय।

मेरा इरादा था कि इस तर्कपूर्ण हमले को जारी रक्खूं, लेकिन जेल ने फिर मुझे खींच लिया। हिन्दु-मुस्लिम एकता के लिए आये-दिन जो अपीलें होती रहती हैं, उनके निस्सन्देह फ़ायदेमन्द होते हुए भी वह मुझे तबतक बिलकुल ही फ़िज़ूल मालूम होती हैं, जबतक कि मतभेद के कारणों को समझने के लिए कुछ कोशिश न की जाय। मगर कुछ लोगों का यह ख़याल मालूम होता है कि इस मन्त्र को बार-बार रटने से अन्त मे एकता जादू की तरह आ टपकेगी।

सन् १८५७ के ग़दर से अबतक साम्प्रदायिक प्रश्न पर अंग्रेज़ों की जो नीति रही है उसपर सिलसिलेवार नज़र डालना दिलचस्प बात होगी। मूलतः और अनिवार्य रूप से, ब्रिटिश नीति यही रही है कि हिन्दू-मुसलमान मिलकर न चलें, और आपस में एक दूसरे से लड़ते रहें। सन् १८५७ के बाद अंग्रेज़ों का वार हिन्दुओं की बनिस्बत मुसलमानों पर गहरा रहा। मुसलमानों का कुछ ही समय पहले हिन्दुस्तान पर राज्य था। इस बात की याददाश्त उनमें ताज़ी थी। इस वजह से अंग्रेज़ उनको ज़्यादा उग्र, लड़ाकू और ख़तरनाक समझते थे। फिर मुसलमान नई तालीम से भी दूर-दूर रहे और सरकारी नौकरियों में भी उनकी तादाद कम थी। इन सब कारणों से अंग्रेज़ लोग उन्हें सन्देह की दृष्टि से देखते थे। हिन्दुओं ने अंग्रेज़ी भाषा और सरकारी नौकरियों को बहुत अधिक तत्परता से अपना लिया और अंग्रेज़ों को ये ज़्यादा सुसाध्य मालूम हुए।

इसके बाद नई राष्ट्रीयता की भावना उत्पन्न हुई। इसका उदय उच्चवर्ग के अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे शिक्षितों में हुआ। इस भावना का हिन्दुओं तक सीमित रहना स्वाभाविक ही था, क्योंकि मुसलमान लोग शिक्षा के लिहाज़ से बहुत पिछड़े हुए थे।

यह राष्ट्रीयता बड़ी विनम्र और दीन भाषा में प्रकट की जाती थी, फिर भी सरकार को यह सहन नहीं हुई और उसने यह निश्चय किया कि मुसलमानों की पीठ ठोंकी जाय और उनको इस नई राष्ट्रीयता की लहर से दूर रक्खा जाय। मुसलमानों के लिए तो अंग्रेज़ी शिक्षा का न होना ही एक काफ़ी कावट थी;

लेकिन इस रुकावट का धीरे-धीरे दूर होना लाज़िमी था। अंग्रेज़ों ने बड़ी दूरंदेशी से आगे के लिए इन्तज़ाम कर लिया और इस काम में उन्हें सर सैयद अहमदख़ां की ज़ोरदार हस्ती से बहुत बड़ी मदद मिली।

सर सैयद इस बात से दुःखी थे कि उनकी जाति पिछड़ी हुई है, ख़ासकर शिक्षा के क्षेत्र में, और इस बात से उनके दिल में दर्द होता था कि उनकी जाति पर न तो अंग्रेज़ों की कृपा-दृष्टि थी और न उनकी नज़रों में मुसलमानों का कुछ प्रभाव ही था। उस ज़माने के बहुत-से दूसरे लोगों की तरह वह भी अंग्रेज़ों के बहुत बड़े प्रशंसक थे और मालूम होता है कि उनपर यूरोप-यात्रा का और भी जबरदस्त असर पड़ा था।

उन्नीसवीं सदी के आख़िरी जमाने में यूरोप, या यों कहें कि, पश्चिमी यूरोप की सभ्यता का सितारा बहुत बुलन्द था। यूरोप उस समय संसार का एकछत्र अधिपति था और उसमें वे सब गुण भलीभांति प्रकट हो रहे थे जिनके कारण उसे महत्ता प्राप्त हुई थी। उच्चवर्ग के लोग अपनी सम्पत्ति को सुरक्षित समझते थे और उसे बढ़ा रहे थे; क्योंकि उनको यह डर नहीं था कि कोई उनसे मुक़ाबला करके क़ामयाब हो सकेगा। वह सुधारवाद का युग था, जिसे अपने उज्ज्वल भविष्य में दृढ़ विश्वास था। इसलिए कोई ताज्जुब नहीं कि जो हिन्दुस्तानी यूरोप गये वे वहां का शानदार नज़ारा देखकर मोहित हो गये। शुरू-शुरू में हिन्दू लोग ही ज़्यादा गये, और वे यूरोप और इंग्लैंड के प्रशंसक बनकर वापस लौटे। धीरे-धीरे वे इस तड़क-भड़क और चमक-दमक के आदी हो गये और जो ताज्जुब पहले-पहल उनको होता था वह दिल से निकल गया। लेकिन सर सैयद अहमद को पहली ही बार वहां की तड़क-भड़क से जो विस्मय और आकर्षण हुआ, वह साफ़ ज़ाहिर है। वह सन् १८६९ में इंग्लैंड गये थे। उस समय उन्होंने घर जो पत्र लिखे, उनमें उन्होंने वहां के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट किये थे। इनमें से एक पत्र में उन्होंने लिखा था—"इस सबका नतीजा यह निकलता है कि हालांकि अंग्रेज़ लोग जिस तरह हिन्दुस्तान में शिष्टता का व्यवहार नहीं करते और हिन्दुस्तानियों को जानवरों के समान हलका, नीच और घृणित समझते हैं इसके लिए उनको मुआफ़ नहीं किया जा सकता; फिर भी मेरा ख़याल है कि वे इस तरह का बर्ताव इसीलिए करते हैं कि वे हम लोगों को समझ नहीं पाते हैं। और मुझे डरते-डरते यह बात माननी पड़ती है कि उन्होंने जो राय हमारे बारे में क़ायम की है

वह ज्यादा गलत नहीं है । मैं अंग्रेजों की झूठी तारीफ़ नहीं कर रहा हूं, यदि मैं सचमुच यह कहूं कि हिन्दुस्तान के लोग चाहे वे ऊंचे हों या नीचे, बड़े व्यापारी हों या छोटे दूकानदार, पढ़े-लिखे हों या अपढ़, अंग्रेजों की तालीम, तमीज़ और ईमान-दारी के मुक़ाबले में ऐसे हैं जैसे किसी क़ाबिल और ख़ूबसूरत आदमी के मुक़ाबले में एक गन्दा जानवर । अंग्रेज़ लोग अगर हम हिन्दुस्तानियों को निरा जंगली समझें तो उनके पास इसकी वजह है ।. . . . जो मैं कुछ देख रहा हूं और रोज़मर्रा देख रहा हूँ वह एक हिन्दुस्तानी के समझ के बिलकुल बाहर की बात है . . . . परलोक की और इस लोक की सारी सुन्दर वस्तुएं, जो इन्सान में होनी चाहिए, खुदा ने यूरोप को, ख़ासकर इंग्लैंड को बख़्श दी हैं ।"[1]

कोई भी आदमी अंग्रेज़ों की और यूरोप की इससे ज़्यादा तारीफ़ नहीं कर सकता । और यह स्पष्ट है कि सर सैयद बहुत अधिक प्रभावित हुए थे । यह भी मुमकिन है कि उन्होंने ऐसी जोरदार भाषा और अतिशयोक्तिपूर्ण तुलना का प्रयोग अपने देशवासियों को गाढ़ी नींद से जगाने और उनको आगे क़दम बढ़ाने को उकसाने की नीयत से किया हो । उनका यह विश्वास था कि यह क़दम पश्चिमी शिक्षा की तरफ़ बढ़ना चाहिए । बिना उस तालीम के उनकी जाति ज़्यादा पिछड़ती और कमज़ोर होती जायगी । अंग्रेज़ी तालीम का मतलब था सरकारी नौकरियां, हिफ़ाज़त, दबदबा और इज़्ज़त । इसलिए उन्होंने अपनी सारी ताक़त इस तालीम के लिए लगा दी और सदा यही कोशिश करते रहे कि उनकी जाति के लोग भी उनके जैसे ख़याल के हो जायें । मुसलमानों की सुस्ती और झिझक को दूर करना बड़ा मुश्किल काम था, इसलिए वह यह नहीं चाहते थे कि उनके रास्ते में कहीं बाहर से कोई बाधा या रुकावटें आवें । मध्यम वर्ग के हिन्दुओं द्वारा चलाई हुई राष्ट्रीयता को उन्होंने इस प्रकार की रुकावट समझा और इसीलिए उन्होंने इसका विरोध किया । शिक्षा में ५० वर्ष आगे बढ़े हुए होने के कारण हिन्दू लोग सरकार की आलोचना ख़ुशी से कर सकते थे; लेकिन सर सैयद ने तो अपने शिक्षा-सम्बन्धी प्रयत्नों में सरकार की पूरी सहायता पर आंखें गड़ा रक्खी थीं और वे कोई ऐसा ज़ल्दबाज़ी का काम नहीं करना चाहते थे जिससे उन्हें इस मार्ग में

---

[1] यह उद्धरण हेन्स कोने की 'हिस्ट्री आफ़ नेशनलिज्म इन दि ईस्ट' (पूर्वी राष्ट्रीयता का इतिहास) से लिया गया है ।

ज़ोखिम उठानी पड़े। इसलिए उन्होंने नवजात राष्ट्रीय महासभा (कांग्रेस) को धता बताई। ब्रिटिश सरकार तो उसके इस रवैये पर उनकी पीठ ठोंकने के लिए तैयार बैठी ही थी।

मुसलमानों को पश्चिमी शिक्षा दिये जाने पर विशेष ज़ोर देने का सर सैयद का निर्णय बेशक बहुत ठीक था। उसके बिना मुसलमान लोगों के लिए नये प्रकार की राष्ट्रीयता के निर्माण में कारगर हिस्सा ले सकना असम्भव था और उनको लाज़िमी तौर पर हिन्दुओं के सुर-में-सुर मिलाकर ही रहना पड़ता; क्योंकि हिन्दुओं में शिक्षा भी ज़्यादा थी और उनकी आर्थिक दशा भी ज़्यादा अच्छी थी। ऐतिहासिक घटना-चक्र और विचार-आदर्श की दृष्टि से मुसलमान मध्यमवर्गीय राष्ट्रीय आन्दोलन के लिए तैयार नहीं थे, क्योंकि उनमें हिन्दुओं की तरह कोई मध्यमवर्ग नहीं बन सका था। इसलिए सर सैयद की कार्रवाइयां ऊपर से भले ही नरम दीखती हों, लेकिन वे दरअसल सीधी क्रान्ति की ओर ले जानेवाली थीं। मुसलमान अभी तक प्रजातन्त्र-विरोधी जागीरदाराना विचारों से जकड़े हुए थे, जबकि प्रगतिशील मध्यम श्रेणी के हिन्दू अंग्रेज़ी प्रजातन्त्रीय सुधारवादियों के-से विचार रखने लग गये थे। दोनों ठेठ नरम नीति को पालनेवाले और ब्रिटिश राज्य पर भरोसा रखनेवाले थे। सर सैयद की नरम नीति उस जागीरदार-वर्ग की नरम नीति थी, जिसमें मुट्ठी-भर धनवान मुसलमान शामिल थे। उधर हिन्दुओं की नरम नीति थी उस होशियार पेशेवर या व्यापारी की नरम नीति जो उद्योग-धन्धों और व्यापार में धन लगाने का साधन ढूंढ़ता हो। इन हिन्दू राजनीतिज्ञों की नज़र हमेशा इंग्लैंड के उदार दल के सुविख्यात रत्न ग्लेडस्टन, ब्राइट इत्यादि पर रहती थी। मुझे शक है कि मुसलमानों ने कभी ऐसा किया हो। शायद वे लोग अनुदार दल और इंग्लैंड के जागीरदार-वर्ग के प्रशंसक थे। टर्की और आरमीनियनों के क़त्ल की बार-बार खूब निन्दा करने के कारण ग्लेडस्टन तो उनके लिए सचमुच घृणा का पात्र बन गया था। लेकिन चूंकि डिज़राइली, का टर्की की तरफ़ कुछ ज़्यादा झुकाव था, इसलिए वे लोग—अर्थात्, वास्तव में वे मुट्ठी-भर लोग, जो ऐसे मामलों में दिलचस्पी रखते थे—कुछ हद तक उसे चाहते थे।

सर सैयद के कुछ व्याख्यानों को अगर आज पढ़ा जाय तो वे बड़े अजीब-से मालूम होंगे। सन् १८८७ के दिसम्बर में उन्होंने लखनऊ में उस अवसर पर

एक भाषण दिया था, जब कांग्रेस का सालाना जलसा वहां हो रहा था। उसमें उन्होंने कांग्रेस की बहुत नरम मांगों की भी निन्दा और आलोचना की थी। उन्होंने कहा था—"अगर सरकार अफ़ग़ानिस्तान से लड़े या बर्मा को जीते, तो उसकी नीति की आलोचना करना हमारा काम नहीं है। सरकार ने क़ानून बनाने के लिए कौंसिल बना रक्खी है। उस कौंसिल के लिए वह सभी प्रान्तों से उन अधिकारियों को चुनती है जो राज-काज और जनता की हालत से बहुत अच्छी तरह वाक़िफ़ हैं, और कुछ रईसों को भी चुनती है जो समाज में अपने ऊंचे रुतबे की वजह से असेम्बली में बैठने के क़ाबिल हैं। कुछ लोग पूछ सकते हैं कि उनका चुनाव इसलिए क्यों किया जाय कि वे रुतबेवाले हैं, क़ाबिलियत का ख़याल क्यों न रक्खा जाय? . . . मैं आपसे पूछता हूं, क्या आपके मालदार घराने के लोग यह पसन्द करेंगे कि छोटी जाति और ओछे ख़ानदान के लोग, चाहे वे बी० ए० या एम० ए० ही क्यों न हों और ज़रूरी योग्यता रखते हों, उन पर हुकूमत करें और उनकी जानोमाल से सम्बन्ध रखनेवाले क़ानून बनाने की ताक़त रक्खें? कभी नहीं। वाइसराय ऐसा कभी नहीं कर सकता कि सिवाय ऊंचे ख़ानदान के आदमी के किसी और को अपना साथी क़बूल करे, या उसके साथ भाईचारे का बर्ताव रक्खे या उसे ऐसी दावतों में निमन्त्रण दे जिनमें उसे इंग्लैड के अमीर-उमरा (ड्यूक और अर्ल) के साथ दस्तरख़्वान पर बैठना पड़ता हो। . . . क्या हम कह सकते हैं कि क़ानून बनाने के लिए जो तरीक़े सरकार ने इख़्तियार किये हैं, वे लोगों की मर्ज़ी का ख़याल रक्खे बिना ही किये गए है? क्या हम कह सकते हैं कि क़ानून बनाने में हमारा कुछ भी हाथ नहीं है? बेशक हम ऐसा नहीं कह सकते।"[१]

ये थे शब्द उस व्यक्ति के जो भारत में 'लोकसत्तात्मक इस्लाम' का नेता और प्रतिनिधि था। इसमें शक है कि अवध के ताल्लुक़ेदार या आगरा, बिहार या बंगाल प्रान्त के बड़े-बड़े ज़मींदार भी आज इस तरह बोलने का साहस कर सकेंगे। लेकिन सर सैयद में ही यह निरालापन हो, सो बात नहीं है। कांग्रेस के भी बहुत-से व्याख्यान अगर आज पढ़े जायं तो ऐसे ही अजीब मालूम होंगे; लेकिन यह तो साफ मालूम होता है कि हिन्दू-मुस्लिम सवाल का राजनैतिक व आर्थिक रूप उस वक्त यह था कि प्रगतिशील और आर्थिक दृष्टि से साधन-सम्पन्न मध्यम-श्रेणी

---

[१] हेन्स कोन की 'हिस्ट्री आफ नेशनलिज्म इन दि ईस्ट' से उद्धृत।

के (हिन्दू) लोगों का पुराने ढंग का कुछ जागीरदार वर्ग (मुसलमान) विरोध करता था और उसकी प्रगति को रोकता था। हिन्दू ज़मींदारों का सम्बन्ध अक्सर मध्यमवर्ग के साथ था। इसलिए वे मध्यमवर्ग की मांगों के विषय में या तो तटस्थ रहते थे या उनसे सहानुभूति रखते थे और इन मांगों के बनाने में भी अक्सर उनका हाथ रहता था। अंग्रेज़ लोग हमेशा की तरह ज़मींदारों का साथ देते थे। दोनों ओर की साधारण जनता और निम्न-श्रेणी के मध्यमवर्ग की ओर तो किसी का कुछ ध्यान ही नहीं था।

सर सैयद के प्रभावशाली और जोरदार व्यक्तित्व का मुसलमानों पर बहुत असर पड़ा और अलीगढ़-कालेज उनकी उम्मीदों और ख्वाहिशों का एक प्रत्यक्ष नमूना साबित हुआ। संक्रमणकाल में अक्सर ऐसा होता है कि प्रगति की तरफ़ ले जानेवाला जोश बहुत जल्द अपना मक़सद पूरा कर लेने के बाद एक रुकावट बन जाता है। हिन्दुस्तान का नरम दल इसका एक स्पष्ट उदाहरण है। ये लोग अक्सर हमको इस बात की याद दिलाते रहते हैं कि कांग्रेस की पुरानी परम्परा के असली वारिस ये ही हैं और हम लोग, जो बाद में उसमें शामिल हुए हैं, सिर्फ़ दाल-भात में मूसरचन्द हैं। ठीक है। लेकिन वे लोग इस बात को तो भूल ही जाते हैं कि दुनिया बदलती रहती है और कांग्रेस की वह पुरानी परम्परा काल के गर्भ में विलीन होकर अब सिर्फ़ एक यादगार-भर रह गई है। इसी तरह सर सैयद की आवाज़ भी उस ज़माने के लिए मौजूं और ज़रूरी थी, लेकिन वह एक उन्नतिशील जाति का अन्तिम आदर्श नहीं हो सकती थी। यह सम्भव है कि अगर वह एक पीढ़ी और रहे होते तो उन्होंने ख़ुद ही अपने सन्देश को एक दूसरी ही सूरत दे दी होती। या दूसरे नेता उनके पुराने सन्देश नई तरह से जनता को समझाते और उसे बदली हुई हालत के मुआफ़िक़ बना देते। लेकिन सर सैयद को जो सफलता मिली और उनके नाम के साथ जो श्रद्धा जुड़ी रह गई उसने दूसरों के लिए पुरानी लकीर को छोड़ देना मुश्किल कर दिया। दुर्भाग्य से हिन्दुस्तान के मुसलमानों में ऐसी ऊंची क़ाबलियत के लोगों का बहुत बुरी तरह से अभाव था जो कोई नया रास्ता दिखला सकते। अलीगढ़-कालेज ने बड़ा अच्छा काम किया और उसने एक बड़ी तादाद में अच्छे क़ाबिल आदमी तैयार करके समझदार मुसलमानों का सारा रुख ही बदल दिया। लेकिन जिस सांचे में वह ढाला गया था उससे वह निकल न सका—उसके ऊपर ज़मींदारी विचारों का असर बना ही

रहा, और उसके एक औसत विद्यार्थी का उद्देश्य सिर्फ सरकारी नौकरी ही रहा। साहस के साथ जीवन-संग्राम में उतरने या किसी ऊंचे लक्ष्य को पाने का प्रयत्न करने की इच्छा उसमें नहीं थी। उसे तो अगर कहीं डिप्टी कलक्टरी मिल गई, तो इसीमें अपनेको धन्य समझता था। उसका गर्व सिर्फ इस बात की याद दिलाने से सन्तुष्ट हो जाता था कि वह इस्लाम की महान् लोकसत्ता का एक अंग है। इस भाईचारे के प्रमाणस्वरूप वह अपने सिर पर बड़ी शान के साथ एक लाल टोपी पहनता था, जिसे 'टर्किश फ़ैज़' कहते हैं और जिसको ख़ुद तुर्की ने ही बाद में बिलकुल उतार फेंका। अपने अमिट लोकसत्तात्मक अधिकार का विश्वास कर लेने के बाद—जिसके कारण वह अपने मुसलमान भाइयों के साथ भोजन और प्रार्थना कर सकता था—वह फिर इस बात के सोचने की झंझट में नहीं पड़ता था कि हिन्दुस्तान में राजनैतिक लोकसत्ता की कोई हस्ती है या नहीं।

यह संकीर्ण दृष्टि और सरकारी नौकरियों के पीछे दौड़ना सिर्फ़ अलीगढ़ या दूसरी जगह के मुसलमान विद्यार्थियों तक ही सीमित न था। हिन्दू विद्यार्थियों में भी, जो स्वभाव से ही ख़तरों से घबराते थे, यह उसी परिमाण में पाया जाता था। लेकिन परिस्थिति ने इनमें से बातों को इस गड्ढे से निकाल दिया। उनकी संख्या बहुत ज्यादा थी और मिलनेवाली नौकरियां थीं बहुत कम। नतीजा यह हुआ कि इन वर्गहीन विचारशील युवकों की एक ऐसी जमात बन गई, जो राष्ट्रीय आन्दोलनकारी आन्दोलनों की जान हुआ करती है।

सर सैयद के राजनैतिक सन्देश के दम घोंटनेवाले असर से हिन्दुस्तान के मुसलमान अच्छी तरह निकलने भी न पाये थे कि बीसवीं सदी की आरम्भिक घटनाओं ने ऐसे साधन उपस्थित कर दिये जो ब्रिटिश सरकार को मुसलमानों और राष्ट्रीय आन्दोलन के (जो उस समय तक काफ़ी ज़ोर पकड़ चुका था) बीच खाई चौड़ी करने में सहायक हो गये। सर वेलेंटाइन शिरोल ने १९१० में ('इण्डियन अनरेस्ट' (भारत में अशांति) नामक पुस्तक में लिखा था—"यह बड़े विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि आज से पहले भारत के मुसलमानों ने सामूहिक रूप से कभी अपने हितों और आकांक्षाओं को ब्रिटिश राज के संगठन और स्थायित्व के साथ इतनी घनिष्ठता से नहीं मिलाया।" राजनीति की दुनिया में भविष्यवाणी करना खतरनाक होता है। सर वेलेंटाइन की पुस्तक प्रकाशित होने के बाद, पांच वर्ष के भीतर ही, समझदार मुसलमान उन बेड़ियों को, जो उनको आगे

बढ़ने से रोक रही थीं, तोड़कर कांग्रेस का साथ देने की जी-जान से कोशिशें करने लगे। दस साल के अन्दर ही ऐसा मालूम होने लगा कि मुसलमान तो कांग्रेस से भी आगे बढ़ गये और सचमुच उसका नेतृत्व भी करने लगे। पर ये दस बरस बड़े महत्त्वपूर्ण थे। इन्हीं दस वर्षों में यूरोपीय महायुद्ध शुरू हुआ और ख़तम भी हो गया और अपनी विरासत में एक नष्ट-भ्रष्ट संसार छोड़ गया।

लेकिन फिर भी सर वेलेंटाइन शिरोल जिन नतीजों पर पहुंचे, ज़ाहिरा-तौर पर तो उनके कारण साधारणतया ठीक ही थे। आगाखां मुसलमानों के नेता के रूप में प्रकट हुए और यह घटना ही इस बात का काफ़ी सबूत थी कि मुसलमान लोग अभी तक अपनी जागीरदारी परम्परा से चिपके हुए थे; क्योंकि आग़ाख़ां कोई मध्यमवर्ग के नेता नहीं थे। वह एक अत्यन्त धनवान् राजा और एक फ़िरक़े के धार्मिक गुरु थे। ब्रिटिश राजसत्ता से घनिष्ठ सम्बन्ध रखने के कारण, अंग्रेजों के लिए वह अपने आदमी बन गये थे। बड़े शाइस्ता और एक धनी जागीरदार और खिलाड़ी की तरह ज़्यादातर यूरोप में ही पड़े रहनेवाले। इस कारण व्यक्तिगत रूप से वह मज़हबी या फिरकेवाराना मामलों में संकीर्ण विचारों से बहुत दूर थे। उनका मुसलमानों का नेतृत्व करने का अर्थ यह था कि मुस्लिम ज़मींदार और बढ़ते हुए मध्यमवर्ग के लोग सरकार के हिमायती बन जायं। साम्प्रदायिक समस्या तो एक गौण बात थी, और वह भी मुख्य उद्देश्य को सिद्ध करने के अभिप्राय से ही इतने ज़ोरों के साथ ज़ाहिर की जाती थी। सर वेलेंटाइन शिरोल ने लिखा है कि आगाखां ने उस वक्त के वाइसराय लार्ड मिंटो को यह सुझाया था कि "बंग-भंग से पैदा होनेवाली राजनैतिक स्थिति के बारे में मुसलमानों की क्या राय है; ताकि जल्दबाज़ी में हिन्दुओं को कहीं ऐसी राजनैतिक सुविधाएं न दे दी जायं जो हिन्दू-बहुमत को प्रोत्साहन दें, क्योंकि यह बहुमत ब्रिटिश राज की दृढ़ता और मुस्लिम अल्पमत के हितों के लिए, जिसकी राजभक्ति में किसी को सन्देह नहीं हो सकता था, समान रूप से ख़तरनाक था।"

लेकिन ब्रिटिश सरकार का इस प्रकार ऊपरी तौर से समर्थन करनेवालों के सिवा और दूसरी शक्तियां भी काम कर रही थीं। नया मुस्लिम मध्यमवर्ग मौजूदा परिस्थिति से दिनों-दिन अनिवार्य रूप से असन्तुष्ट होता जाता था और राष्ट्रीय आन्दोलन की तरफ़ खिचता जा रहा था। आग़ाखां को भी ख़ुद ही इस ओर ध्यान देना पड़ा और उन्हें अंग्रेजों को एक खास ढंग की चेतावनी भी

देनी पड़ी। जनवरी १९१४ (यूरोपीय महायुद्ध से बहुत पहले) के 'ऐडिनबरा रिव्यू' के अंक में उन्होंने एक लेख लिखा, जिसमें सरकार को यह सलाह दी कि हिन्दू-मुसलमानों को लड़ाने की नीति का परित्याग कर दिया जाय और दोनों सम्प्रदायों के नरम ख़याल के लोगों को एक झंडे के नीचे इकट्ठा किया जाय, जिससे तरुण भारत की हिन्दू और मुसलमान दोनों जातियों की शुद्ध राष्ट्रीय प्रवृत्तियों से टक्कर लेनेवाली एक शक्ति पैदा हो जाय। इसलिए यह साफ़ है कि आग़ाखां हिन्दुस्तान की राजनैतिक तब्दीली को रोकने में जितनी ज़्यादा दिलचस्पी रखते थे, मुसलमानों के साम्प्रदायिक हितों में उतनी नहीं।

लेकिन राष्ट्रीयता की ओर मध्यमवर्ग के मुसलमानों की अनिवार्य प्रगति को न तो आग़ाखां और न ब्रिटिश सरकार ही रोक सकते थे। संसार-व्यापी महायुद्ध ने इस क्रिया को और भी तेज़ कर दिया और जैसे-जैसे नये-नये नेता पैदा होने लगे, वैसे-ही-वैसे आग़ाखां का प्रभाव भी कम होता हुआ मालूम होने लगा। यहांतक कि अलीगढ़-कालेज का भी रुख़ बदल गया। नये नेताओं में सबसे अधिक ज़ोरदार अली-बन्धु निकले। ये दोनों ही उस कालेज से निकले हुए थे। डाक्टर मुख़्तार अहमद अंसारी, मौलाना अबुल क़लाम आज़ाद आदि मध्यम-वर्ग के दूसरे कई नेता अब मुसलमानों के राजनैतिक मामलों में महत्त्वपूर्ण भाग लेने लगे। इसी तरह, लेकिन कुछ कम परिमाण में, श्री मुहम्मद अली जिन्ना भी भाग लेते थे। गांधीजी ने इनमें से अधिकांश नेताओं (मि० जिन्ना को छोड़कर) और आमतौर से मुसलमानों को भी अपने असहयोग-आन्दोलन में घसीट लिया, और १९१९-२३ के दिनों में इन लोगों ने हमारी लड़ाई में प्रमुख भाग लिया।

इसके बाद प्रतिक्रिया शुरू हुई और हिन्दू और मुसलमान दोनों क़ौमों के साम्प्रदायिक और पिछड़े हुए लोग, जो सार्वजनिक क्षेत्र से बरबस पीछे हट चुके थे, अब फिर आगे आने लगे। यह क्रिया धीमी तो थी, पर बराबर चलती रही। हिन्दू-महासभा ने पहली ही बार कुछ ख्याति प्राप्त की, ख़ासकर साम्प्रदायिक तनाव के कारण। मगर राजनैतिक दृष्टि से वह कांग्रेस पर कुछ अधिक असर न डाल सकी। मुसलमानों की साम्प्रदायिक संस्थाएं मुस्लिम जनता में अपनी खोई हुई पुरानी प्रतिष्ठा को कुछ अंश तक फिर प्राप्त करने में अधिक सफल रहीं। फिर भी मुस्लिम नेताओं का एक जबरदस्त दल सदा कांग्रेस के साथ रहा। उधर ब्रिटिश सरकार ने मुस्लिम साम्प्रदायिक नेताओं को, जो राजनैतिक दृष्टि से

पूरे प्रतिक्रियावादी थे, प्रोत्साहन देने में कोई कसर नहीं रक्खी। इन प्रतिक्रिया-वादियों की सफलता को देखकर हिन्दू-महासभा के मुंह में पानी पा गया और उसने भी ब्रिटिश सरकार की कृपा प्राप्त करने की आशा में प्रतिक्रिया में इनके साथ होड़ लगाना शुरू कर दिया। महासभा के उन्नतिशील विचारोंवाले बहुत-से लोग या तो निकाल दिये गए या खुद ही निकल गये, और मध्यमश्रेणी के उच्च-वर्ग—विशेषकर महाजनों और साहूकारों—की ओर महासभा अधिकाधिक झुकने लगी।

दोनों ओर के साम्प्रदायिक राजनीतिज्ञ, जो निरन्तर कौंसिलों की सीटों के बारे में बहस किया करते थे, केवल उसी कृपा का विचार करते रहते थे जो सर-कारी क्षेत्रों में प्रभाव होने से हासिल होती है। यह तो मध्यमवर्ग के पढ़े-लिखे लोगों के लिए नौकरियों की लड़ाई थी। यह स्पष्ट है कि नौकरियां इतनी तो हो ही नहीं सकती थीं जो सबको मिल जातीं, इसलिए हिन्दू और मुसलमान सम्प्रदाय-वादी इन्हीं के बारे में लड़ते-झगड़ते थे। हिन्दू लोग अपने बचाव के फिक्र में थे; क्योंकि ज़्यादातर नौकरियां उन्हींने घेर रक्खी थीं और मुसलमान लोग सदा "और-और" की रट लगाये रहते थे। इन नौकरियों की लड़ाई की पीछे एक और भी ज़्यादा महत्त्वपूर्ण कशमकश चल रही थी, जो साम्प्रदायिक तो नहीं थी लेकिन जिसका असर साम्प्रदायिक समस्या पर पड़ ज़रूर रहा था। पंजाब, सिन्ध और बंगाल में हिन्दू लोग सब तरह से ज़्यादा मालदार, साहूकार और शहरी थे। इन प्रान्तों के मुसलमान ग़रीब, क़र्ज़दार और देहाती थे। इसलिए इन दोनों की टक्करें अक्सर आर्थिक होती थीं, पर उसको हमेशा साम्प्रदायिक रंग दे दिया जाता था। पिछले महीनों में प्रान्तीय धारा-सभाओं में पेश किये गए देहाती क़र्ज़ के भार को घटानेवाले कई बिलों पर, खासकर पंजाब में, जो बहस हुई हैं, उनसे यह बात बिलकुल साफ़ हो जाती है। हिन्दू-महासभा के प्रतिनिधियों ने इन बिलों का दृढ़ता के साथ विरोध किया है और सदा साहूकारवर्ग का साथ दिया है।

मुसलमानों की साम्प्रदायिकता पर हिन्दू-महासभा जब कभी आक्षेप करती है तो वह सदा अपनी निर्दोष राष्ट्रीयता का राग अलापती है। यह तो हरेक को ज़ाहिर है कि मुस्लिम संस्थाओं ने अपना एक बिलकुल अजीब साम्प्रदायिक रूप प्रकट किया है। महासभा की साम्प्रदायिकता इतनी स्पष्ट नहीं है, क्योंकि

वह राष्ट्रीयता का नकली चोगा पहने हुए फिरती है। परीक्षा का मौका तो तभी आता है जब राष्ट्रीय और सर्वसाधारण के हित का कोई ऐसा निर्णय होता हो जिससे उच्च श्रेणी के हिन्दुओं का हित-विरोध होता हो और वह उसका विरोध न करती हो। लेकिन जब कभी ऐसे मौक़े आये हैं, हिन्दू-महासभा इस परीक्षा में बार-बार नाकामयाब रही है। अल्पमत के आर्थिक हितों के विचार से और बहुमत की उद्घोषित इच्छाओं के खिलाफ़ हिन्दुओं ने सिन्ध के पृथक्करण का हमेशा विरोध ही किया है।

लेकिन हिन्दू और मुसलमान दोनों ही दलों के सम्प्रदायवादियों द्वारा राष्ट्र-विरोधी प्रवृत्तियों का सबसे अजीब प्रदर्शन तो गोलमेज-कांफ्रेंस में हुआ। ब्रिटिश-सरकार उसके लिए केवल ऐसे ही मुसलमानों को नामज़द करने पर तुली हुई थी जो हर तरह सम्प्रदायवादी थे। और आग़ाखां के नेतृत्व मे तो ये लोग इतने नीचे उतर गये थे कि इंग्लैंड के सार्वजनिक जीवन के सबसे अधिक प्रतिक्रियावादी, और भारत ही नहीं, बल्कि सभी प्रगतिशील सम्प्रदायों की दृष्टि से सबसे ख़तरनाक, व्यक्तियों तक के साथ मिलने को उतारू हो गये थे। आग़ाख़ां और उनके गिरोह का लार्ड लॉयड और उनकी पार्टी के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध, एक बड़ी असाधारण-सी बात थी। इतना ही नहीं, इन लोगों ने गोलमेज़-परिषद् में गये हुए यूरोपियन असोसियेशन के प्रतिनिधियों तक से समझौता कर लिया था। यह बड़े ही दुःख और निराशा की बात थी; क्योंकि यूरोपियन असोसियेशन भारत की स्वतन्त्रता का सबसे कट्टर और ज़ोरदार विरोधी रहा है, और अब भी है।

हिन्दू-महासभा के प्रतिनिधियों ने इसका जवाब इस तरह से दिया कि उन्होंने, ख़ासकर पंजाब के लिए, स्वतन्त्रता के मार्ग में ऐसे-ऐसे प्रतिबन्धों की मांग की जो अंग्रेज़ों के हक़ में 'संरक्षण' थे। उन्होंने ब्रिटिश सरकार के साथ सहयोग करने के प्रयत्नों में मुसलमानों को भी मात देने की कोशिश की। इससे उनको मिला तो कुछ भी नहीं; उलटे अपने पक्ष को ही उन्होंने नुकसान पहुंचाया और स्वतन्त्रता के साथ विश्वासघात किया। मुसलमानों के बोलने के ढंग में कम-से-कम कुछ शान तो थी, लेकिन हिन्दू सम्प्रदायवादियों के पास तो यह भी न था।

मुझे तो स्पष्ट बात यह मालूम पड़ती है कि दोनों तरफ़ के साम्प्रदायिक नेता एक छोटे-से उच्चवर्गीय प्रतिक्रियावादी गिरोह के प्रतिनिधि होने के सिवा और कुछ नहीं हैं। ये लोग जनता के धार्मिक जोश का अपने स्वार्थ-साधन के लिए

दुरुपयोग करते हैं और उससे बेजा फ़ायदा उठाते हैं । दोनों ओर आर्थिक प्रश्नों को टालने और दबाने की भरसक कोशिश की जाती है । वह वक्त जल्दी ही आनेवाला है, जबकि इन प्रश्नों को दबाया जा सकना असम्भव हो जायगा और तब दोनों दलों के साम्प्रदायिक नेता निस्सन्देह आग़ाखां की बीस बरस पहले की चेतावनी को दोहरायेंगे कि नरम दलवालों को युग-परिवर्तनकारी प्रवृत्तियों के विरुद्ध मिलकर जिहाद बोल देना चाहिए । कुछ हद तक तो अब यह बात ज़ाहिर हो ही चुकी है कि हिन्दू और मुसलमान सम्प्रदायवादी जनता के सामने एक-दूसरे को चाहे जितना बुरा-भला कहें, मगर असेम्बली और अन्य ऐसी ही जगहों में सरकार को राष्ट्र-विरोधी क़ानून पास करने में सहायता देने के लिए दोनों ही मिल जाते हैं । ओटावा एक ऐसा ही सूत्र था जिसने तीनों को एक साथ ला मिलाया था ।

साथ-ही-साथ, यह मज़ेदार बात भी ध्यान में रखने की है कि आग़ाख़ां का अनुदार पार्टी के सबसे अधिक कट्टर पक्ष के साथ अभीतक घनिष्ठ सम्बन्ध चला आता है । १९३४ के अक्तूबर में आप ब्रिटिश नेवी लीग के सहभोज में, जिसके सभापति लार्ड लॉयड थे, एक सम्मानित मेहमान की हैसियत से सम्मिलित हुए थे । वहां आपने लार्ड लॉयड के उन प्रस्तावों का हृदय से समर्थन किया था जो उन्होंने ब्रिस्टल की कंजरवेटिव कांफ्रेंस में ब्रिटिश जहाज़ी बेड़े की शक्ति को और अधिक मज़बूत बनाने की दृष्टि से किये थे । इस तरह हिन्दुस्तान के एक नेता ब्रिटिश सत्ता की रक्षा और इंग्लैंड की हिफ़ाज़त के लिए इतने चिन्तित थे कि वह इंग्लैंड की फ़ौज़ी ताकत बढ़ाने के काम में मि० बाल्डविन या उनकी 'नेशनल' सरकार से भी आगे बढ़ जाने को तैयार थे । और निस्सन्देह यह सब किया जा रहा था शान्ति-रक्षा के नाम पर !

दूसरे ही महीने, यानी नवम्बर १९३४ में, यह ख़बर लगी कि लन्दन में ख़ानगी तौर पर, एक फिल्म दिखलाई गई है, जिसका उद्देश्य था 'मुसलमानों को अंग्रेज़ी बादशाहत के साथ सदा के लिए मित्रता के सूत्र में बांध देना ।' हमको यह भी पता लगा कि इस अवसर पर आग़ाखां और लार्ड लॉयड सम्मानित मेहमान होकर पधारे थे । ऐसा मालूम पड़ता है कि शाही मामलों में आग़ाखां और लार्ड लॉयड दोनों इस तरह 'एक जान दो देह' हैं, जैसे हमारे राष्ट्रीय राजनैतिक क्षेत्र में सर तेजबहादुर सप्रू और मि० एम० आर० जयकर । यह बात भी ग़ौर करने

के क़ाबिल है कि इन महीनों में, जबकि ये दोनों एक-दूसरे से इतनी अधिकता से घुल-मिल रहे थे, ठीक उसी वक़्त लार्ड लॉयड नेशनल सरकार और उसके पक्ष के अनुदार नेताओं के विरुद्ध इसलिए एक अत्यन्त कटु और कठोर आक्रमण का नेतृत्व कर रहे थे कि उन्होंने हिन्दुस्तान को बहुत अधिक अधिकार देने की कथित कमज़ोरी दिखलाई थी।[1]

इधर पिछले दिनों कुछ मुसलमान साम्प्रदायिक नेताओं के व्याख्यानों और वक्तव्यों में एक मजेदार तबदीली हुई है। इसका कुछ वास्तविक महत्व नहीं है; लेकिन मुझे शक है कि और लोगों की शायद ऐसी राय न हो। फिर भी, यह बात साम्प्रदायिक मनोवृत्ति के रूप को प्रकट करती है और इसे प्रधानता भी खूब दी गई है। हिन्दुस्तान में 'मुस्लिम राष्ट्र', 'मुस्लिम संस्कृति' और 'हिन्दू और मुस्लिम संस्कृतियों की घोर असम्बद्धता' पर खूब ज़ोर दिया जा रहा है। इसका परिणाम लाज़िमी तौर से यही निकलता है (हालांकि वह इतने खुले तौर पर नहीं रक्खा गया है) कि न्याय करने और दोनों संस्कृतियों में बीच-बचाव करने के लिए हिन्दुस्तान में अंग्रेज़ों का अनन्त काल तक बना रहना बहुत ज़रूरी है।

कुछेक हिन्दू साम्प्रदायिक नेता भी इसी विचारधारा में बह रहे हैं; फ़र्क़ सिर्फ़ इतना ही है कि उन्हें यह आशा है कि चूंकि उनका बहुमत है इसलिए अन्त में उन्हींकी 'संस्कृति' का बोलबाला होगा।

'हिन्दू और मुस्लिम 'संस्कृतियां' और 'मुस्लिम राष्ट्र'—ये शब्द पुराने इतिहास तथा वर्तमान और भविष्य की कल्पना के कैसे मनमोहक दृश्य उपस्थित कर देते हैं! हिन्दुस्तान में मुस्लिम राष्ट्र—राष्ट्र के भीतर एक राष्ट्र, वह भी संगठित नहीं, बल्कि बिखरा हुआ और अनिश्चित! राजनैतिक दृष्टि से यह विचार बिलकुल वाहियात है, आर्थिक दृष्टि से शेख़चिल्ली-जैसा है; ध्यान देने लायक़ भी नहीं है। लेकिन फिर भी इसके पीछे जो मनोवृत्ति छिपी है, इसके ज़रिये थोड़ा-बहुत उसे समझने में सहायता मिलती है। मध्यवर्ती युग में, और उसके बाद भी, ऐसी कई जुदा-जुदा और आपस में न मिल सकने

---

[1]अभी हाल ही में कुछ अंग्रेज लार्डों और भारतीय मुसलमानों ने एक कौंसिल बनाई है, जिसका उद्देश्य इन दोनों घोर प्रतिक्रियावादी दलों के सम्बन्ध को बढ़ाना और मजबूत करना है।

वाली जातियां एक साथ मिलकर रहती थीं। टर्की के सुलतानों के आरम्भ-काल में कुस्तुन्तुनिया में एक ऐसी हरेक 'जाति'—लैटिन ईसाई, कट्टर ईसाई यहूदी वग़ैरा—अलग-अलग रहती थी[1] और उनमें से कुछ तो स्वाधिकार भी रखती थीं। यह उस देशेतर भावना की, शुरुआत थी, जो अब से कुछ ही काल पहले, बहुत-से पूर्वी देशों का हौवा बन गई थी। इसलिए 'मुस्लिम राष्ट्र' कि बात चलाने का अर्थ यह है कि राष्ट्र कोई चीज़ नहीं है, केवल एक धार्मिक सूत्र है। इसका अर्थ यह है कि किसी भी राष्ट्र (आधुनिक परिभाषा में) को बढ़ने न दिया जाय। दूसरा यह अर्थ है कि वर्तमान सभ्यता को धता बताई जाय और हम सब मध्यकाल के रस्म-रिवाज़ इख्तियार कर लें। इसका मतलब है या तो तानाशाही सरकार या विदेशी सरकार। अन्ततोगत्वा इसका अर्थ मन की भावुकता और असलियतों, खासकर आर्थिक असलियतों का सामना न करने की ज्ञात या अज्ञात इच्छा के सिवा और कुछ नहीं। भावुकता कभी-कभी तर्क का भी तख्ता उलट देती है और हम उसे सिर्फ़ इस बिना पर दरगुज़र नहीं कर सकते कि वह हमें इतनी तर्क-रहित मालूम होती है। मगर यह मुस्लिम राष्ट्र वाली भावना कुछेक कल्पनाशील व्यक्तियों की केवल कल्पनामात्र है और अगर अखबारों में इसका इतना शोर न मचता तो शायद यह सुनने में भी न आती। भले ही बहुत-से लोग इसमें विश्वास रखते हों, लेकिन फिर भी वास्तविकता का स्पर्श होते ही वह ग़ायब हो जायगी।

हिन्दू और मुस्लिम 'संस्कृति' की भावना भी इसी क़िस्म की है। अब तो राष्ट्रीय भावनाओं का भी ज़माना तेज़ी के साथ जा रहा है और सारा संसार एक सांस्कृतिक इकाई बन रहा है। विभिन्न राष्ट्र बहुत दिनों तक अपनी-अपनी विशेषताओं, भाषा, रस्म-रिवाज, विचारधारा आदि को चाहे न छोड़ें, और शायद बहुत काल तक छोड़ेंगे भी नहीं, मगर मशीनों का युग और विज्ञान—जिसके उपकरण हवाई ज़हाज, अखबार, टेलीफोन, रेडियो, सिनेमा वग़ैरा हैं—इन विशेषताओं को अधिकाधिक एकरूप बना देंगे। इस अवश्यम्भावी प्रवृत्ति का विरोध कोई नहीं कर सकता, और वर्तमान सभ्यता को नष्ट-भ्रष्ट कर देनेवाला

---

[1]अपनी या किसी भी देश की भौगोलिक सीमा के बाहर रहनेवालों पर उनकी जाति या धर्म के कारण राजनैतिक अधिकार होना। —अनु०

संसार-व्यापी विप्लव ही इसको रोक सकता है। हिन्दुओं और मुसलमानों के जीवन-सम्बन्धी परम्परागत विचारों में ज़रूर काफ़ी भारी मतभेद है। पर अगर हम दोनों की तुलना वर्तमान युग के जीवन के वैज्ञानिक और औद्योगिक पहलू से करें, तो यह मतभेद क़रीब-क़रीब लुप्त हो जाता है; क्योंकि इस दृष्टिकोण में और परम्परागत विचारों में आकाश-पाताल का अन्तर है। हिन्दुस्तान में इस समय असली झगड़ा हिन्दू संस्कृति और मुस्लिम संस्कृति का नहीं, बल्कि इन दोनों तथा आधुनिक सभ्यता की विजयी वैज्ञानिक संस्कृति के बीच है। जो 'मुस्लिम संस्कृति' की, जैसी कुछ भी वह हो, रक्षा करना चाहते हैं, उन्हें हिन्दू-संस्कृति से घबराने की ज़रूरत नहीं; लेकिन उन्हें पश्चिमी दैत्य का मुकाबला करना चाहिए। व्यक्तिगत रूप से मुझे इसमें कुछ भी सन्देह नहीं मालूम होता है कि हिन्दुओं या मुसलमानों के आधुनिक वैज्ञानिक और औद्योगिक सभ्यता का विरोध करने के सब प्रयत्न पूरी तरह से निष्फल साबित होंगे और इस निष्फलता को देखकर मुझे कुछ भी अफ़सोस न होगा। जिस समय रेल वग़ैरा ने हमारे यहां प्रवेश किया, उसी समय हमने अज्ञात रूप से और खुद-बखुद इस बात को स्वीकार कर लिया था। सर सैयद अहमद ने भी अलीगढ़-कालेज की स्थापना करके भारत के मुसलमानों के लिए ज़ोरों से इसी मार्ग को चुन लिया था। लेकिन जिस तरह डूबते हुए मनुष्य के लिए सिवा ऐसी चीज़ को पकड़ने के और कोई चारा नहीं रह जाता जिससे उसकी जान बच जाय, उसी तरह असल में हममें से किसी के लिए उसके सिवा और कोई मार्ग न था।

यह 'मुस्लिम संस्कृति' आख़िर चीज क्या है? क्या यह अरबी, फ़ारसी, तुर्की वग़ैरा लोगों के महान कार्यों की कोई जातीय स्मृति है? या भाषा है? या कला और संगीत है? या रस्मोरिवाज है? मुझे याद नहीं पड़ता कि किसीने आधुनिक मुस्लिम कला या संगीत का ज़िक्र किया हो। हिन्दुस्तान में मुस्लिम विचार-धारा पर अरबी और फ़ारसी दो भाषाओं का और ख़ासकर फ़ारसी का प्रभाव पड़ा है। लेकिन फ़ारसी के प्रभाव में धर्म का कोई निशान नहीं है। फ़ारसी भाषा और बहुत-सी फ़ारसी रीति-रस्म और परम्पराएं हजारों वर्षों के समय में हिन्दुस्तान में आई और सारे उत्तरी हिन्दुस्तान पर इनका ज़ोरदार असर पड़ा। फ़ारस तो पूर्व का फ्रांस था, जिसने अपनी भाषा और संस्कृति अपने पास-पड़ोस के सब देशों में फैला दी। यह हम सब भारतीयों की एक समान और अनमोल विरासत है।

मुसलमान जातियों और देशों के पुराने कारनामों का गर्व मुसलमानों को एक साथ बांधनेवाले सूत्रों में शायद सबसे अधिक मजबूत सूत्र है। क्या किसीको इन जातियों के गौरवपूर्ण इतिहास के कारण मुसलमानों से डाह है ? जबतक वे इन कारनामों को याद करें और दिल से उसका पोषण करना चाहें, तबतक कोई भी इन्हें उनसे छीन नहीं सकता । सच तो यह है कि यह पुराना इतिहास बहुत करके हम सभी के लिए समान रूप से गौरव की चीज़ है; क्योंकि शायद हम लोग एशिया-निवासी होने के कारण यह अनुभव करें कि यूरोप के आक्रमण के विरुद्ध हमको एकता के सूत्र में बांध देनेवाली यही चीज़ है । मैं जानता हूं कि जब कभी मैंने स्पेन में या क्रूसेड[1] के वक्त अरब लोगों के साथ हुए झगड़ों का हाल पढ़ा है, तो मेरी हमदर्दी हमेशा अरबों से रही है। मैं निष्पक्ष होने की कोशिश करता हूं, पर मैं चाहे जितनी कोशिश करूं, फिर भी, जब कभी एशिया के निवासियों का प्रश्न आता है, तो मेरा एशियाईपन मेरी विचारधारा पर प्रभाव डाले बिना नहीं रहता।

मैंने यह समझने की बार-बार कोशिश की है कि आखिर यह 'मुस्लिम संस्कृति' है क्या चीज ? लेकिन मुझे स्वीकार करना पड़ता है कि मैं इसमें सफल नहीं हुआ। मैं देखता हूं कि उत्तरी हिन्दुस्तान में ऐसे मध्यम-वर्गी मुसलमानों और हिन्दुओं की एक नगण्य-सी संख्या है जिन पर फ़ारसी भाषा और परम्पराओं की छाप पड़ी हुई है । और अगर सर्वसाधारण जनता के रहन-सहन को देखा जाय तो 'मुस्लिम संस्कृति' के सबसे अधिक स्पष्ट चिह्न नज़र आते हैं एक खास तरह का पायजामा, न ज़्यादा लम्बा न ज़्यादा छोटा; दाढ़ी का बढ़ाया जाना और मूंछों के बनाने का एक खास तरीका; और एक खास तरह का टोंटीदार लोटा। इस तरह से हिन्दुओं के भी इसी ढंग के रस्मोरिवाज़ हैं। धोती पहनना, चोटी रखना और एक भिन्न प्रकार का लोटा रखना। सच तो यह है कि ये फ़र्क भी ज्यादातर शहरी हैं और अब कम होते जा रहे हैं। मुसलमान किसान और मजदूर और हिन्दू किसान और मज़दूरों में कोई भेद नहीं मालूम पड़ता। मुसलमानों के

---

[1] **मुसलमानों से अपने धर्मस्थान वापस लेने के लिए ईसाई शक्तियों ने ग्यारहवीं सदी से तेरहवीं सदी तक उनपर जो फौजी हमले किये थे, उन्हें क्रूसेड—धर्म-युद्ध—कहा जाता है। —अनु०**

शिक्षित-वर्ग में दाढ़ी के लिए बहुत कम प्रेम रह गया है, हालांकि अलीगढ़ में लाल रंग की तुर्रेदार टोपी अब भी पसन्द की जाती है (यह तुर्की ही कहलाती है, हालांकि तुर्को ने इससे अब कुछ भी सम्बन्ध नहीं रखा है!); मुसलमान स्त्रियां साड़ी को अपनाने लगी हैं और धीरे-धीरे परदे से भी बाहर निकल रही हैं। मेरी अपनी रुचि तो इनमें से कुछ तौर-तरीक़ों को पसन्द नहीं करती और दाढ़ी, मूंछ या चोटी से मुझे कुछ भी प्रेम नहीं है; लेकिन मै अपनी रुचि को दूसरों के गले नहीं मढ़ना चाहता। हां, दाढ़ियों के विषय में मैं यह मानता हूं कि जब अमानुल्ला ने इनको एक सिरे से उड़ाना शुरू किया था तो मुझे बड़ी खुशी हुई थी।

मुझ यह कहना पड़ता है कि उन हिन्दुओं और मुसलमानों को देखकर मुझे बड़ी दया आती है जो हमेशा पुराने ज़माने का रोना रोया करते हैं और उन चीज़ों को पकड़ने की कोशिश करते रहते हैं जो उनके हाथ से खिसकती जा रही हैं। मैं प्राचीन काल की न तो निन्दा ही करना चाहता हूं और न उसे बिलकुल छोड़ ही देना चाहता हूं, क्योंकि हमारे अतीत में बहुत-सी एसी बातें हैं जो सुन्दरता में अनुपम हैं। ये सदा रहेंगी, इसमें मुझे सन्देह ही नहीं है; पर ये लोग इन सुन्दर वस्तुओं को तो नहीं पकड़ते, बल्कि ऐसी चीज़ों को पकड़ने दौड़ते हैं जो अक्सर निकम्मी और हानिकर होती हैं।

पिछले कुछ वर्षों में मुसलमानों को बार-बार धक्के पहुंचे हैं और उनके अनेक चिरपोषित विचार नष्ट-भ्रष्ट हो गये हैं। इस्लाम के बानी, टर्की ने ख़िलाफ़त को ही खत्म नहीं कर दिया, जिसके लिए हिन्दुस्तानी लोग १९२० में बड़ी बहादुरी से लड़े थे; बल्कि वह तो मज़हब से भी दूर-दूर क़दम हटाता चला जा रहा है। टर्की के नये विधान मे एक धारा यह है कि टर्की मुस्लिम राज्य है, परन्तु कोई ख़ाम-खयाली पैदा न हो जाय, इसलिए कमालपाशा ने १९२७ में कहा था—"विधान में यह धारा कि टर्की एक मुस्लिम राज्य है केवल समझौते के तौर पर रखी गई है और पहला मौक़ा मिलते ही निकाल दी जानेवाली है।" मुझे विश्वास है कि आगे चलकर उन्होंने इस चेतावनी के अनुसार काम भी किया। मिस्र भी, बहुत अधिक सावधानी से ही सही, इसी मार्ग पर अग्रसर हो रहा है और अपनी राजनीति को मज़हब से बिलकुल अलग रखे हुए है। इसी तरह अरब के देश भी कर रहे हैं, सिवा ख़ास अरब के, जो बहुत पिछड़ा हुआ है। फ़ारसवाले सांस्कृतिक स्फूर्ति के लिए अब पूर्व मुस्लिम-काल की याद कर रहे हैं। हर जगह मज़हब पीछे हटता

जा रहा है और राष्ट्रीयता उग्र रूप में प्रकट हो रही है। और इस राष्ट्रीयता के पीछे और भी कई 'वाद' हैं, जो सामाजिक और आर्थिक दृष्टियों को लिये हुए हैं। तो फिर 'मुस्लिम राष्ट्र' और 'मुस्लिम संस्कृति' का क्या होगा ? भविष्य में क्या ये केवल उत्तर भारत में ब्रिटिश शासन की कृपापूर्ण छत्र-छाया में फलते-फूलते पाये जायंगे !

यदि प्रगति का यही अर्थ है कि हरेक व्यक्ति राजनीति के मूल आधार पर दृष्टि रक्खे, तो यह कहना पड़ेगा कि हमारे सम्प्रदायवादियों का और हमारी सरकार का भी उद्देश्य, इरादतन और हमेशा, इससे उलटा यानी संकुचित दृष्टि से देखने का रहा है।

इलाहाबाद लौट आया। रास्ते में मैं अलीगढ़ ठहरा, जहां मैंने मुस्लिम यूनि-वर्सिटी के विद्यार्थियों की सभा में एक भाषण दिया।

ऐसे समय में जबकि सरकार तमाम सक्रिय राजनैतिक कामों को दबाने का प्रयत्न कर रही थी, मुझे यह विचार बिलकुल पसन्द नहीं था कि राजनीति से इतर कार्यों में भाग लिया जाय। कांग्रेसवालों में मुझे एक ज़ोरदार प्रवृत्ति नज़र आई, उग्र राजनैतिक कार्यों से बचकर ऐसे मामूली कामों में पड़ जाने की, जो लाभकारी तो थे पर जिनका हमारे आन्दोलन से कोई सम्बन्ध नहीं था। यह प्रवृत्ति स्वाभाविक थी, पर मुझे ऐसा लगा कि उस समय इसको प्रोत्साहन नहीं दिया जाना चाहिए।

अक्तूबर १९३३ के बीच में हमने इलाहाबाद में, परिस्थिति पर विचार करने और आगे का कार्यक्रम निश्चित करने के लिए, युक्तप्रान्त के कांग्रेसी कार्य-कर्त्ताओं की बैठकें कीं। प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी एक ग़ैर-कानूनी संस्था थी, और चूंकि हमारा उद्देश्य क़ानून की अवज्ञा करने का नहीं, बल्कि आपस में मिलने का था, इसलिए हमने इस कमेटी को बाक़ायदा नही बुलाया। हमने उसके उन सब सदस्यों को, जो उस समय जेल से बाहर थे, और दूसरे चुने हुए कार्यकर्त्ताओं को ख़ानगी तौर पर विचार-विनिमय की इच्छा से बुलाया था। हमारी मीटिंगें ख़ानगी तो होती थीं, पर उनकी कार्रवाई को गुप्त रखने का प्रयत्न नहीं किया जाता था। इसलिए आख़िरी दमतक हमें इस बात का पता नहीं लगता था कि सरकार हस्तक्षेप करेगी या नहीं। इन मीटिंगों में हम लोग संसार की स्थिति—घोर मन्दी, नाज़ीवाद, साम्यवाद वग़ैरा पर बहुत चर्चा करते थे। हम चाहते थे कि हमारे साथी, बाहर जो कुछ हो रहा है, उसकी दृष्टि से भारत के स्वतन्त्रता-आन्दोलन को देखें। इस कांफ्रेंस ने अन्त में एक समाजवादी प्रस्ताव पास किया, जिसमें भारतवासियों के लक्ष्य का बयान और सविनय-भंग के बन्द किये जाने का विरोध किया गया था। इस बात को तो सब लोग अच्छी तरह जानते थे कि अब देशव्यापी सविनय-भंग की कोई सम्भावना नहीं है और व्यक्तिगत सविनय-भंग भी या तो शीघ्र ही खत्म हो जानेवाला है या एक बहुत ही संकुचित रूप में जारी रह सकता है। लेकिन उसके बन्द किये जाने से हमारी स्थिति में कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता था; क्योंकि सरकार का हमला और आर्डिनेन्स का शासन तो जारी था ही। इसलिए बाक़ायदा सविनय-भंग जारी रखने का जो निश्चय

हमने किया, वह कहने ही मात्र के लिए था। असल में तो हमारे कार्यकर्त्ताओं को यह आदेश था कि जान-बूझकर ऐसा काम न करें कि व्यर्थ ही गिरफ्तार हों। उनको हिदायत थी कि अपना काम हस्बमामूल करते रहें और अगर काम के दौरान में गिरफ्तारी हो जाय तो उसे ख़ुशी के साथ मंज़ूर करलें। उनसे ख़ासकर यह कहा गया था कि देहात से अपना सम्बन्ध फिर स्थापित करें और यह जानने की कोशिश करें कि लगान में छूट और सरकार की दमन-नीति—इन दोनों के परिणामस्वरूप किसानों की क्या अवस्था है ? उस वक्त लगानबन्दी के आन्दोलन का तो कोई प्रश्न ही नहीं था। पूना-कांफ्रेंस के बाद ही वह तो नियमानुसार स्थगित किया जा चुका था और यह साफ़ ज़ाहिर था कि मौजूदा परिस्थिति में उसे पुनर्जीवित नहीं किया जा सकता था।

यह कार्यक्रम बिलकुल नरम और निर्दोष था और इसमें वस्तुतः कोई ग़ैर-कानूनी बात नहीं थी; लेकिन फिर भी हम जानते थे कि इससे गिरफ्तारियां तो होंगी ही। जैसे ही हमारे कार्यकर्ता गांवों में पहुंचते, वे गिरफ़्तार कर लिये जाते और उनपर करबन्दी-आन्दोलन का प्रचार करने का, जोकि आर्डिनेंस के मातहत एक जुर्म बना दिया गया था, बिलकुल झूठा अभियोग लगाया जाता और सज़ा दे दी जाती। अपने बहुत-से साथियों की गिरफ्तारियों के बाद मेरा इरादा भी था कि मैं इन देहाती क्षेत्रों में जाऊं। लेकिन कई और ज़रूरी कामों में लग जाने के कारण मुझे अपना जाना स्थगित करना पड़ा, और बाद में तो इसके लिए मौक़ा ही न रहा।

इन मानों में वर्किंग-कमेटी के सदस्य सारे देश की परिस्थिति पर विचार करने के लिए दो बार इकट्ठे हुए। कमेटी का ख़ुद तो कोई अस्तित्व ही न था—इसलिए नहीं कि वह ग़ैरकानूनी थी, बल्कि इसलिए कि पूना के बाद, गांधीजी के आदेश से, सारी कांग्रेस कमेटियां और कांग्रेस दफ्तर अस्थायी तौर पर बन्द कर दिये गए थे। मेरी स्थिति एक अजीब तरह की हो रही थी; क्योंकि जेल से छूटकर आने पर मैंने इस आत्म-घातक आर्डिनेंस को स्वीकार करने से इन्कार किया और अपने-आपको कांग्रेस का जनरल सेक्रेटरी कहने का आग्रह किया। लेकिन मेरा अस्तित्व भी शून्य में था। उस समय न तो कोई ठीक दफ़्तर था, न कोई कर्मचारी, न कोई स्थानापन्न सभापति; और गांधीजी यद्यपि सलाह-मशविरे के लिए मौजूद थे, पर वह भी इस बार हरिजन-कार्य के लिए अपने एक बड़े भारी

अखिल-भारतीय दौरे में लगे थे। हम उनको दौरे के बीच में जबलपुर और दिल्ली में पकड़ पाये और वर्किंग कमेटी के मेम्बरों के साथ सलाह-मशविरे किये। इन मशविरों ने यह काम किया कि भिन्न-भिन्न मेम्बरों के मतभेद को साफ़तौर से सामने लाकर रख दिया। बस, यहीं गाड़ी अटक गई और कोई ऐसा रास्ता नज़र नहीं आता था जो सबको पसन्द हो। दोनों पक्षों, सत्याग्रह जारी रखनेवालों और बन्द करनेवालों, के बीच गांधीजी ही ऐसे व्यक्ति थे जिनका निर्णय सर्वमान्य हो सकता था। और चूंकि वह बन्द करने के पक्ष में नहीं थे, इसलिए जो रफ्तार चल रही थी वही चलती रही।

कांग्रेस की ओर से लेजिस्लेटिव असेम्बली का चुनाव लड़ने के प्रश्न पर भी कांग्रेस के लोग कभी-कभी विचार कर लेते थे, हालांकि इस समय वर्किंग कमेटी के सदस्यों की इस तरफ़ कोई दिलचस्पी नहीं थी। यह प्रश्न अभी उठता ही नहीं था; इसके लिए अभी समय भी नहीं आया था। 'सुधार' कम-से-कम दो-तीन साल तक कार्यान्वित होनेवाले ही नहीं थे और उस समय असेम्बली के नये चुनाव का कोई ज़िक्र ही नहीं था। अपनी निजी राय में तो मुझे चुनाव लड़ने में सिद्धान्त-रूप से कोई आपत्ति नहीं थी और मुझे यह भी विश्वास था कि समय आने पर कांग्रेस को इस मार्ग पर चलना ही पड़ेगा। लेकिन उस समय इस प्रश्न को उठाना हमारे ध्यान को दूसरी ओर फेर देना था। मुझे आशा थी कि आन्दोलन के जारी रहने से बहुत-से प्रश्न, जो हमारे सामने आ रहे थे, हल हो जायंगे और समझौते की प्रवृत्तिवाले लोग परिस्थिति पर हावी न हो सकेंगे।

इस बीच मैं लगातार लेख और वक्तव्य अख़बारों में भेजता रहा। कुछ हदतक मुझे अपने लेखों को नरम करना पड़ता था, क्योंकि वे प्रकाशन की नीयत से लिखे जाते थे, और उस समय सेंसर और दूसरे तरह-तरह के क़ानूनों का घातक जाल दूर तक फैला था। मैं कोई ख़तरा उठाने के लिए अगर तैयार भी हो जाता, तो भी अखबारों के मुद्रक, प्रकाशक और सम्पादक तो ऐसा करने के लिए तैयार नहीं थे। यों तो सब अख़बारवाले मेरे लिए भले थे और बहुत-सी बातें में मेरे हक़ में रिआयत भी कर जाते थे, लेकिन हमेशा नहीं। कभी-कभी कोई लेखांश रोक दिये जाते थे, और एक बार तो एक लम्बा लेख, जिसको मैंने बड़ी मेहनत से तैयार किया था, प्रकाशित ही नहीं होने पाया। जनवरी सन् १९३४ में जब मैं कलकत्ते में था, एक प्रमुख दैनिक पत्र के सम्पादक मुझसे मिलने आये।

उन्होंने मुझे बतलाया कि मेरा एक वक्तव्य कलकत्ते के तमाम समाचारपत्रों के सम्पादक-शिरोमणि के पास राय के लिए भेज दिया गया था, और चूंकि इस सम्पादक-शिरोमणि ने उसे नामंजूर कर दिया, इसलिए वह प्रकाशित न हो सका। यह 'सम्पादक-शिरोमणि' कलकत्ते के सरकारी प्रेस-सेंसर महोदय को छोड़कर और कोई नहीं थे।

अख़बारों को दी गई कुछ मुलाकातों और वक्तव्यों में मैंने कई दलों और व्यक्तियों की बड़ी कड़ी आलोचना करने की धृष्टता की थी। इससे लोग बहुत नाराज़ हुए। इस नाराज़ी का एक कारण था कांग्रेस की उलटकर जवाब न देने की वृत्ति—जिसके प्रसार में गांधीजी का भी हाथ था। ख़ुद गांधीजी ने इसका उदाहरण पेश किया था और प्रमुख कांग्रेसियों ने भी कुछ कम-बढ़ मात्रा में उनके मार्ग का अनुसरण किया था, हालांकि हमेशा ऐसा नहीं होता था। हम लोग अधिकतर अस्पष्ट और सद्भावना-भरे वाक्यों का प्रयोग करते थे, जिससे हमारे आलोचकों को गलत तर्क और अवसरवादी चालों को काम में लाने का मौक़ा मिल जाता था। असली प्रश्नों को दोनों दल उड़ा देते थे, और ईमानदारी के साथ जब-तब जोश-ख़रोश के साथ ऐसा वादविवाद शायद ही कभी होता, जैसा कि उन देशों को छोड़कर, जहां कि फ़ासिज्म का बोलबाला है, पश्चिम के दूसरे सब देशों में होता रहता है।

एक महिला मित्र ने, जिनकी राय की मैं क़द्र करता था, मुझे लिखा कि मेरे कुछेक वक्तव्यों की तेज़ी पर उनको थोड़ा-सा आश्चर्य हुआ—इसलिए कि मैं क़रीब-क़रीब 'खिसियानी बिल्ली' बन गया था। क्या यह मेरी आशाओं पर 'पानी फिर जाने' का परिणाम था? मुझे भी ताज्जुब हुआ। कुछ हद तक यह सही भी था, क्योंकि राष्ट्रीयता की दृष्टि से हम सब भग्न आशाओं को लिये बैठे हैं। व्यक्तिगत रूप से भी, कुछ हद तक, शायद यह बात ठीक रही हो। लेकिन फिर भी मुझे ऐसी किसी भावना का ख़याल नहीं होता था, क्योंकि ख़ुद मुझे किसी तरह की भी पराजय या असफलता महसूस नहीं हो रही थी। जबसे गांधीजी मेरे राजनैतिक मानस-क्षितिज पर आये, मैंने कम-से-कम एक बात उनसे सीखी। वह यह कि परिणामों के डर से अपने दिल के भावों को कभी न दबाया जाय। इस आदत ने राजनैतिक क्षेत्र में पालन किये जाने पर (दूसरे क्षेत्रों में इसका पालन करना ज्यादा मुश्किल और ख़तरनाक हो जाना सम्भव

है)—मुझे अक्सर कठिनाई में डाल दिया है, लेकिन साथ ही मुझे बहुत-कुछ सन्तोष भी प्रदान किया है। मैं समझता हूं, केवल इसी कारण हममें से बहुत से लोग हृदय की कटुता और घोर पराजय के भावों से बरी रहे हैं। यह ख़याल भी, कि लोगों की एक बहुत बड़ी तादाद किसी व्यक्ति के प्रति प्रेम-भाव रखती है, उस व्यक्ति के हृदय को बहुत सांत्वना पहुंचाता है, और पस्तहिम्मती और पराजय-भावना के विष को दूर करनेवाली एक अमोघ औषधि का काम करता है। अकेला रह जाने या दूसरों से भुला दिये जाने का ख़याल, मैं समझता हूं, सब ख़यालों से ज्यादा असह्य है।

लेकिन इतने पर भी, इस विचित्र और दुःखमय संसार में, मनुष्य पराजय की भावना से कैसे बच सकता है! कितनी ही बार हरेक बात बिगड़ती हुई मालूम होती है और, यद्यपि हम आगे बढ़ते जाते हैं फिर भी, जब हम अपने चारों ओर रहनेवाले लोगों को देखते हैं तो तरह-तरह की शंकाएं आ घेरती हैं। विविध घटनाओं और परिवर्तनों, यहांतक कि व्यक्तियों और दलों पर भी मुझे बार-बार ग़ुस्सा और खीझ हो आती है। और पिछले कुछ दिनों से तो मैं ऐसे लोगों पर बहुत ज़्यादा भिन्नाने लगा हूं, जो जीवन की समस्याओं पर संजीदगी से विचार नहीं करते, जिसके कारण वे महत्त्वपूर्ण प्रश्नों को भूल जाते हैं और उनका ज़िक्र करना भी बेजा समझते हैं; क्योंकि इन प्रश्नों का असर उनके पैसों या उनकी चिरपोषित धारणाओं पर पड़ता है। लेकिन मैं समझता हूं कि इस रोष, इस पराजय, और इस खिसियाहट के बावजूद मैंने निज की और दूसरों की बेवकूफ़ियों पर हँसने की अपनी सहज प्रवृत्ति नहीं खोई है।

परमात्मा की कृपालुता में लोगों की जो श्रद्धा है उसपर मुझे कभी-कभी आश्चर्य होता है। किस प्रकार यह श्रद्धा चोट-पर-चोट खाकर भी जीवित है, और किस तरह घोर विपत्ति और कृपालुता का उलटा सबूत भी इस श्रद्धा की परीक्षा मान ली जाती है! ज़ेरार्ड हापकिन्स की ये सुन्दर पंक्तियां अनेक हृदयों में गूंजती हैं—

"सचमुच तू न्यायी है स्वामी, यदि मैं करूं विवाद;
किन्तु नाथ मेरी भी है यह न्याय-युक्त फ़रियाद।
और फूलते-फलते हैं क्यों पापी कर कर पाप?
मुझे निराशा देते हैं क्यों सभी प्रयत्न-कलाप?

हे प्रिय बन्धु ! साथ तू मेरे करता यदि रिपु का व्यवहार—
तो इससे क्या अधिक पराजय औ' बाधा का करता वार ?
अरे, उठाईगीर वहां वे मद्य और विषयों के दास,
भोग रहे हैं पड़े मौज में वे जीवन के विभव-विलास !
और, यहां मैं तेरी ख़ातिर जीवन काट रहा हूं नाथ !
हां, जो तेरे पथ पर स्वामी घोर निराशाओं के साथ।"[१]

प्रगति में, शुभ कार्यों में, आदर्शों में, मानवी सज्जनता में और मानव-भविष्य की उज्ज्वलता में विश्वास। क्या ये सब परमात्मा की श्रद्धा के साथ मिलते-जुलते नहीं है ? यदि हम उनको बुद्धि और तर्क से साबित करना चाहें तो तुरन्त हम कठिनाई में पड़ जायंगे। पर हमारे अन्तस्तल में कोई ऐसी वस्तु है, जो इस आशा, इस विश्वास से चिपटी हुई है; अन्यथा इनके बिना जीवन एक जलाशय-हीन मरुस्थल के समान हो जाय।

मेरे समाजवादी विचारों के प्रचार के प्रभाव ने वर्किंग-कमेटी के कुछ सह-योगियों तक को घबरा दिया। वे लोग बिना शिकायत किये मेरे साथ काम करते रहते, जैसा कि पिछले कई वर्षों में इस प्रकार का प्रचार करते रहने पर भी अभीतक वे करते रहते थे; लेकिन अब तो ऐसा ख़याल किया जाने लगा कि कुछ हद तक मैं स्थापित स्वार्थों को भड़का रहा हूं, और मेरी गति-विधि अहानिकर नहीं कही जा सकती थी। मैं जानता था कि मेरे कुछ सहयोगी समाजवादी नहीं हैं, लेकिन मैं यह हमेशा ख़याल करता रहा कि कांग्रेस की कार्यकारिणी का सदस्य होने की हैसियत से मुझे, बिना कांग्रेस को उसमें घसीटे, समाजवादी विचारों का प्रचार करने की पूर्ण स्वतन्त्रता है। जब मैंने यह महसूस किया कि वर्किंग-कमेटी के कुछ सदस्य मेरी इस स्वतन्त्रता को स्वीकार नहीं करते, तो मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। मैं उनको एक विकट परिस्थिति में डाल रहा था और इसपर उन्होंने अपनी नारा-ज़गी ज़ाहिर की। लेकिन मैं करता भी तो क्या ! जिस चीज़ को मैं अपने कार्य का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग समझता था उसे छोड़ देने के लिए मैं कभी तैयार नहीं था। अगर दोनों में विरोध होता तो मैं वर्किंग-कमेटी से इस्तीफ़ा दे देना इससे कहीं बेहतर समझता। लेकिन जब कि कमेटी गैर-

---

[१]अंग्रेज़ी पद्य का भावानुवाद।

क़ानूनी थी, और उसका कोई अस्तित्व ही न था, तो मैं उससे इस्तीफ़ा क्या देता ?

यह कठिनाई कुछ दिन बाद एक बार फिर मेरे सामने आई। मेरा ख़याल है, यह दिसम्बर के अन्त तक की बात है, जब गांधीजी ने मद्रास से मुझे एक पत्र भेजा था। उन्होंने मेरे पास 'मद्रास मेल' का एक कटिंग भेजा, जिसमें उनकी दी हुई एक इंटरव्यू का वर्णन था। इंटरव्यू करनेवाले ने उनसे मेरे विषय में प्रश्न किये थे और उन्होंने जो उत्तर दिया था उसमें उन्होंने मेरे कार्य-कलाप पर कुछ खेद-सा प्रकट किया था और मेरे सुधर जाने की दृढ़ आशा प्रकट की थी; और यह भी कहा था कि मै कांग्रेस को इन नये मार्गों में नहीं घसीटूगा। अपने बारे में इस तरह का ज़िक्र मुझे कुछ अच्छा न लगा, लेकिन इससे ज्यादा जिस बात ने मुझे विचलित कर दिया वह थी—इसी इंटरव्यू में आगे दी हुई—ज़मींदारी प्रथा के लिए गांधीजी की वकालत। उनका यह विचार मालूम होता था कि देहाती और राष्ट्रीय व्यवस्था का यह एक बहुत जरूरी अंग है। इसने मुझे बड़ी हैरत में डाल दिया, क्योंकि बड़ी-बड़ी ज़मींदारियों या ताल्लुकेदारियों की तरफ़-दारी करनेवाले आज बहुत कम मिलेंगे। सारे संसार में ये प्रथाएं नष्ट हो चुकी हैं और हिन्दुस्तान में भी बहुत-से लोग इस बात को महसूस करने लगे हैं कि इनका अन्त दूर नहीं है। खुद ताल्लुकेदार और ज़मींदार लोग भी इस प्रथा के अन्त का स्वागत करेंगे, बशर्ते कि इसके लिए उनको काफ़ी मुआवज़ा मिल जाय।[1] यह प्रथा तो दरअसल खुद ही अपने पापों के बोझ से डूबी जा रही है; लेकिन फिर भी गांधीजी इसके पक्ष में थे और ट्रस्टीशिप इत्यादि की बातें करते थे। मैंने

---

[1]अखिल-बंगाल ज़मींदार कांफ्रेंस की स्वागत-कारिणी के सभापति श्री पी० एन० टैगोर ने, २३ दिसम्बर १९३४ को, अपने भाषण में कहा था—"निजी तौर पर मुझे उस दिन कोई अफ़सोस न होगा जिस दिन ज़मींदारों को पर्याप्त मुआवज़ा देकर उनकी ज़मीन का राष्ट्रीयकरण हो जायगा, जैसा कि आयर्लैंड में किया गया है।" यह बात याद रखने की है कि स्थायी बन्दोबस्त (Permanent Settlement) के मातहत होने के कारण बंगाल के ज़मींदार अस्थायी बन्दो-बस्तवाली ज़मीनों के ज़मींदारों से ज़्यादा सम्पन्न हैं। राष्ट्रीयकरण के बारे में श्री टैगोर के विचार अस्पष्ट मालूम होते हैं।

फिर सोचा कि उनका दृष्टिकोण मेरे दृष्टिकोण से कितना भिन्न है, और मैं ताज्जुब करने लगा कि भविष्य में मैं कहांतक उनके साथ सहयोग कर सकूंगा ! क्या मैं वर्किंग-कमेटी का सदस्य बना रहूं ? उस समय इस उलझन से निकलने का कोई रास्ता ही नहीं था, और कुछ हफ्तों बाद तो, मेरे जेल चले जाने के कारण, यह प्रश्न अप्रासंगिक ही हो गया।

घरेलू झगड़ों में मेरा बहुत-सा समय ख़र्च हो जाता था। मेरी मां का स्वास्थ्य सुधर तो रहा था, मगर बहुत धीरे-धीरे। वह अभी तक रोगशय्या पर पड़ी थीं, पर उनके जीवन को कोई ख़तरा नहीं मालूम होता था। मैंने अब अपना ध्यान अपने आर्थिक मामलों की ओर फेरा, जिनकी इधर बहुत दिनों से परवाह नहीं की गई थी और जो बड़ी गड़बड़ी में पड़ गये थे। हम लोग अपने बूते से ज़्यादा ख़र्च कर रहे थे और ख़र्च कम करने की ज़ाहिरा तौर पर कोई तरकीब ही नज़र नहीं आती थी। मुझे घर का ख़र्च चलाने की तो कोई ख़ास फ़िक्र न थी। मैं तो क़रीब-क़रीब उस वक्त के इन्तज़ार में था जब मेरे पास कुछ भी न बचता। वर्तमान संसार में धन और सम्पत्ति बड़ी उपयोगी चीज़ें हैं, लेकिन जिस मनुष्य को लम्बी यात्रा पर जाना हो उसके लिए तो ये अक्सर भार-रूप बन जाती हैं। धनवान आदमियों के लिए ऐसे कामों में हाथ डालना बहुत कठिन हो जाता है जिनमें कुछ ख़तरा हो; उनको सदा अपनी धन-दौलत के चले जाने का भय रहता है। लेकिन धन-सम्पत्ति किस काम की, अगर सरकार अपनी मरज़ी के मुताबिक़ उसपर अधिकार कर सकती हो या उसे ज़ब्त कर सकती हो ? इसलिए जो थोड़ा-बहुत मेरे पास था उससे भी छुटकारा पाना चाहता था। हमारी आवश्यक-ताएं बहुत थोड़ी थीं और मुझे ज़रूरत के मुताबिक़ कमा लेने की अपनी शक्ति में विश्वास था। मुझे सबसे बड़ी चिन्ता यह थी कि मेरी माताजी को उनके जीवन के इन अन्तिम दिनों में तकलीफ़ न उठानी पड़े या उनके रहन-सहन के ढंग में कोई ख़ास कमी न आने पाये। मुझे यह भी फ़िक्र थी कि मेरी लड़की की शिक्षा में कोई बाधा न पड़े, जिसके लिए मैं उसका यूरोप रहना आवश्यक समझता था। इन सबके अलावा मुझे या मेरी पत्नी को रुपये की कोई विशेष आवश्यकता नहीं थी। अथवा, इस तरह का हम ख़याल करते थे, क्योंकि हमें उसका कभी अभाव तो था नहीं। मुझे यक़ीन है कि जब ऐसा समय आयेगा कि हमारे पास रुपये की कमी पड़ेगी तो हमें दुःख ही होगा।

किताबें खरीदने की ख़र्चीली आदन का छोड़ना मेरे लिए शायद मुश्किल होगा।

उस वक्त की बिगड़ी हुई आर्थिक स्थिति को सुधारने के लिए हमने यह निश्चय किया कि मेरी पत्नी के गहने, हमारी सोने-चांदी की चीज़ें और छोटा-मोटा बहुत-सा सामान बेच दिया जाय। कमला को अपने ज़ेवर बेचने का ख़याल पसन्द नहीं आया, हालांकि क़रीब १२ साल से उसने उन्हें नहीं पहना था और वे बैंक में पड़े हुए थे। लेकिन वह किसी दिन उनको अपनी लड़की को देने का विचार करती थी।

१९३४ का जनवरी महीना था। इलाहाबाद ज़िले के गांवों में हमारे कार्यकर्ता कोई ग़ैर-कानूनी कार्रवाइयां नहीं कर रहे थे, फिर भी उनकी लगातार गिरफ्तारियां हो रही थीं। इन गिरफ्तारियों का तकाज़ा था कि हम लोग उनका अनुकरण करें और उन गांवों में जायं। युक्तप्रान्तीय कांग्रेस कमेटी के हमारे बड़े प्रभावशाली मन्त्री रफ़ी अहमद किदवई भी गिरफ्तार हो चुके थे। २६ जनवरी—स्वतन्त्रता दिवस नज़दीक आ रहा था। उसे दरग़ुजर नहीं किया जा सकता था। १९३० से यह दिवस हर साल, देश के कोने-कोने में, आर्डिनेंसों और पाबन्दियों के बावजूद, नियमित रूप से मनाया जा रहा था। लेकिन अब इसका अगुआ कौन बनता? किस तरह से इसे आगे बढ़ाया जाता? मेरे सिवा आल इंडिया कांग्रेस कमेटी के किसी पदाधिकारी का सिद्धान्त-रूप से कोई भी अस्तित्व न था। मैंने कुछ मित्रों से सलाह की तो क़रीब-क़रीब सब इस बात पर सहमत हुए कि कुछ करना चाहिए; लेकिन यह 'कुछ' क्या होना चाहिए, इसपर कोई राय कायम न हो सकी। मुझे आमतौर पर लोगों में ऐसे कामों से दूर रहने की प्रवृत्ति नज़र आई, जिनके फलस्वरूप बहुत से लोग पकड़े जा सकते थे। आखिरकार मैंने स्वतन्त्रता-दिवस को उचित प्रकार से मनाने की एक छोटी-सी अपील निकाली, पर उसे मनाने का ढंग हर जगह के लोगों के निश्चय पर छोड़ दिया। इलाहबाद में हमने सारे ज़िले में काफ़ी विस्तार के साथ मनाने की योजना तैयार की।

हमारा ख़याल था कि इस स्वतन्त्रता-दिवस के संयोजक उसी दिन गिरफ्तार हो जायंगे। लेकिन मैं दुबारा जेल जाने से पहले बंगाल का एक दौरा करना चाहता था। इसका कुछ-कुछ उद्देश्य तो पुराने साथियों से मिलना था, पर

असल में यह बंगालियों के प्रति, उनकी गत वर्षों की असाधारण मुसीबतों के लिए श्रद्धांजलि थी। मैं भली भांति जानता था कि मैं उनकी कुछ भी सहायता नहीं कर सकता था। सहानुभूति और भाईचारा किसी मर्ज़ की दवा नहीं थे, मगर फिर भी इसका स्वागत ही किया गया था—और ख़ासकर बंगाल तो उस समय एक जुदापन-सा महसूस कर रहा था। और इस बात से दुःखी हो रहा था कि ज़रूरत के वक्त बाक़ी हिन्दुस्तान ने उसे छोड़ दिया। यह भावना न्यायोचित तो नहीं थी, पर फिर भी यह थी।

मुझे कमला के साथ कलकत्ता इसलिए भी जाना था कि अपने डाक्टरों से उसकी बीमारी के बारे में सलाह लूं। उसका स्वास्थ्य बहुत गिर गया था, पर हम दोनों ने कुछ हदतक इसे दरगुजर करने की और ऐसे इलाज को टालने की कोशिश की, जिसके कारण हमको कलकत्ते में या किसी और जगह बहुत दिनों तक ठहरना पड़े। जेल से मेरे बाहर रहने के थोड़े समय में हम दोनों यथासम्भव एक साथ ही रहना चाहते थे। मैंने सोचा था कि जब मैं जेल चला जाऊंगा तो उसे इलाज के लिए चाहे जितना समय मिल जायगा। अब चूंकि गिरफ़्तारी नज़दीक नज़र आ रही थी, इसलिए मैंने इरादा किया कि यह सलाह-मशविरा कलकत्ते में कम-से-कम मेरी मौजूदगी में हो जाय, बाक़ी बातें बाद में भी तय की जा सकती थीं।

इसलिए हम दोनों ने—कमला ने और मैंने—१५ जनवरी को कलकत्ता जाने का निश्चय कर लिया। स्वतन्त्रता-दिवस की सभाओं से पहले ही हम लौट आना चाहते थे।

: ५८ :

भूकम्प

१५ जनवरी १९३४ का तीसरा पहर था। इलाहाबाद में अपने मकान के बरामदे में खड़ा किसानों के एक गिरोह से मैं कुछ बातें कर रहा था। माघ-मेला आरम्भ हो गया था और सारे दिन हमारे यहां मिलने-जुलनेवालों का तांता लगा रहता था। यकायक मेरे पैर लड़खड़ाने लगे और अपनेको सम्हालना मुश्किल हो गया। मैंने पास के एक खम्भे का सहारा ले लिया। दरवाजों के किवाड़ भड़भड़ाने लगे और बराबर के स्वराज-भवन से, जिसके खपरे छत से नीचे खिसक रहे थे, खड़खड़ाहट की आवाज़ आने लगी। मुझे भूकम्पों का कुछ अनुभव नहीं था। इसलिए पहले तो मैं यह न समझ सका कि क्या हो रहा है, लेकिन मैं जल्दी ही समझ गया। इस अनोखे अनुभव से मुझे कुछ विनोद और दिलचस्पी हुई। मैंने किसानों से बातचीत जारी रक्खी और उन्हें भूचालों के बारे में बतलाने लगा। मेरी बूढ़ी मौसी ने कुछ दूर से चिल्लाकर मुझे मकान के बाहर दौड़ आने के लिए कहा। यह विचार मुझे बिलकुल भद्दा मालूम हुआ। मने भूकम्प को कोई गम्भीर बात नहीं समझा, और कुछ भी हो, मैं ऊपर की मंज़िल में अपनी माता को बिस्तर पर पड़ी हुई, और वहीं अपनी पत्नी को, जो शायद सामान बांध रही थी, छोड़ देने और अपनेको बचा लेने के लिए कभी तैयार न था। ऐसा अनुभव हुआ कि भूचाल के धक्के काफी देर तक जारी रहे और बाद में बन्द हो गये। उन्होंने चन्द मिनटों की बातचीत के लिए एक मसाला पैदा कर दिया, पर लोग उसे जल्दी ही क़रीब-क़रीब भूल से गये। उस वक्त हम नहीं जानते थे, और न इसका अन्दाज़ ही कर सकते थे, कि ये दो-तीन मिनट बिहार और अन्य स्थानों के लाखों आदमियों के लिए कितने घातक साबित हुए होंगे।

उसी शाम को कमला और मैं कलकत्ता के लिए रवाना हो गये, और हम, बिलकुल बेख़बर, अपनी गाड़ी में बैठे हुए उसी रात को भूकम्प-पीड़ित प्रदेश के

दक्षिणी हिस्से में होकर गुजरे। अगले दिन भी कलकत्ते में भूकम्प से हुए घोर अनर्थ के बारे में हमें कोई ख़बर नहीं मिली। दूसरे दिन इधर-उधर से कुछ समाचार आने शुरू हुए। तीसरे दिन हमको इस वज्रपात का कुछ-कुछ आभास होने लगा।

हम अपने कलकत्ता के प्रोग्राम में लग गये। कई डाक्टरों से बार-बार मिलना पड़ा और अन्त में यह निश्चित हुआ कि एक-दो महीने बाद कमला फिर कलकत्ता आकर इलाज कराये। इसके अलावा बहुत-से मित्र और सहयोगी भी थे जिनसे हम बहुत अरसे से नहीं मिले थे। चारों तरफ दमन के कारण लोगों के दिलों में जो डर बैठ गया था उसका, जब तक मैं वहां रहा, मुझे काफ़ी अनुभव हुआ। लोग किसी तरह का भी काम करने से डरते थे, कि कहीं उनपर आफ़त न आ जाय; वे बहुत आफ़तें झेल चुके थे। वहां के अख़बार भी, अन्य प्रान्तों के अख़बारों से अधिक, फूंक-फूंककर पैर रखते थे। भविष्य के कार्य के विषय में भी वैसी ही शंका और उलझनें थीं, जैसी हिन्दुस्तान के अन्य भागों में। वास्तव में यह शंका ही थी, भय उतना नहीं, जो सब प्रकार के प्रभावोत्पादक राजनैतिक कार्यों में बाधा डाल रही थी। फ़ासिस्ट प्रवृत्तियां बहुत ज़ोरों से प्रकट हो रही थीं, और सोशलिस्ट और कम्युनिस्ट प्रवृत्तियाँ कुछ-कुछ ऐसे अस्पष्ट रूप में और आपस में इतनी घुली-मिली-सी सामने आ रही थीं कि इन दलों में भेद-निर्णय करना कठिन था। आतंकवादी आन्दोलन के बारे में, जिसकी तरफ़ सरकारी हलकों का बहुत ज़्यादा ध्यान खिंचा हुआ था और जिसके सम्बन्ध में उसकी ओर से ख़ूब विज्ञापन किया जा रहा था, ज़्यादा पता लगाने की न तो मुझे फ़ुरसत थी और न कोई मौक़ा ही। जहां तक मुझे मालूम हुआ, इसमें कोई राजनैतिक महत्ता नहीं रह गई थी और न आतंकवादी दल के पुराने सदस्यों की इसमें कुछ श्रद्धा थी। उनकी विचारधारा ही बदल गई थी। सरकारी कार्रवाई के विरुद्ध उत्पन्न रोष ने कुछ इक्के-दुक्के व्यक्तियों का संयम छुड़ा दिया था और बदला लेने के लिए उकसा दिया था। दरअसल दोनों तरफ़ बदला लेने का यह भाव बहुत प्रबल मालूम होता था। व्यक्तिगत आतंकवादियों की तरफ़ से तो यह काफ़ी स्पष्ट था। सरकार की तरफ़ से भी यही रुख ज़्यादातर प्रकट हो रहा था कि कभी-कभी, बदला ले-लेकर, लड़ाई जारी रक्खी जाय; बजाय इसके कि शांति के साथ समाज के लिए एक अनिष्टकर घटना का मुक़ाबला करके उसे रोका जाय। आतंकवादी कार्यों से साबका पड़ने पर कोई भी सरकार उनका

मुक़ाबला किये बिना और उनको दबाने की कोशिशें किये बिना नहीं रह सकती। लेकिन शांति और गम्भीरता के साथ नियन्त्रण करना सरकार के लिए अधिक गौरव की बात है, बनिस्बत ऐसे अत्याचारों के जो अपराधियों और निरपराधियों पर अंधाधुंधी से किये जायं—खासकर निरपराधों पर, क्योंकि इनकी संख्या जरूर ही बहुत ज़्यादा होती है। शायद ऐसे ख़तरे के समय में गम्भीर और धीर रहना आसान नहीं है। आतंकवादी घटनाएं बहुत कम होती जा रही थीं, लेकिन उनकी सम्भावना सदा बनी रहती थी; और यह बात उन लोगों के धैर्य को डांवाडोल करने के लिए काफी थी, जिनपर व्यवस्था का भार था। यह बिलकुल स्पष्ट है कि ये घटनाएं ख़ुद कोई बीमारी नहीं हैं, बल्कि बीमारी का एक लक्षण है। जो रोग है उसका इलाज न करके लक्षणों का उपचार करना बिलकुल बेकार है।

मेरा विश्वास है कि बहुत-से नवयुवक और नवयुवतियां, जिनका आतंकवादियों से सम्बन्ध माना जाता है, दरअसल गुप्त कार्य की मोहकता से आकर्षित हो जाते हैं। साहसी नवयुवकों का झुकाव हमेशा गुप्त मन्त्रणा और ख़तरे की तरफ़ हो जाता है; उनकी इच्छा जानकार बनने की रहती है, वे पता लगाना चाहते हैं कि यह सब हल्ला-गुल्ला किसलिए है और इन मामलों की तह में कौन-कौन लोग हैं? दुनिया में कुछ अद्भुत और साहसपूर्ण कार्य कर दिखाने की महत्त्वाकांक्षा का यह तकाज़ा है। इन लोगों की कुछ करने-धरने की इच्छा नहीं होती—आतंकवादी कार्य करने की तो किसी हालत में भी नहीं—लेकिन इनका उन लोगों से, जिनपर पुलिस की सन्देह-दृष्टि है, सिर्फ़ मिलना-जुलना ही इनको भी पुलिस का सन्देह-पात्र बना देने के लिए काफी होता है। अगर इनकी क़िस्मत में कुछ ज्यादा बुराई न लिखी हो तो भी इसकी तो सम्भावना रहती ही है कि ये लोग बहुत जल्दी नजरबन्दों की जमात में या नज़रबन्दों की किसी जेल में धर दिये जायं।

यह कहा जाता है कि न्याय और व्यवस्था भारत में ब्रिटिश राज्य की गौरवपूर्ण सफलताओं में गिने जाते हैं। मैं खुद भी सहज स्वभाव से उनका समर्थक हूं। मुझे जीवन में अनुशासन पसन्द है और अराजकता, अशांति और अयोग्यता नापसन्द। लेकिन कड़वे अनुभव ने ऐसे न्याय और व्यवस्था की उपयोगिता के विषय में मेरे दिल में शंका पैदा कर दी है जिनको राज्य और सरकारें

जनता पर ज़बरन लाद देती है। कभी-कभी उनके लिए आवश्यकता से अधिक मूल्य चुकाना पड़ता है, और न्याय तो केवल प्रबल राजनैतिक दल की इच्छा होती है और व्यवस्था एक सर्वव्यापी आतंक का प्रतिबिम्ब। कभी-कभी तो जो चीज़ न्याय और व्यवस्था कही जाती है, दरअसल, उसे न्याय और व्यवस्था का अभाव कहना ज़्यादा ठीक मालूम होता है। कोई सफलता, जो चारों ओर छाये हुए आतंक पर निर्भर रहती है, कभी वांछनीय नहीं हो सकती, और ऐसी 'व्यवस्था' जिसका आधार राज्य का बल-प्रयोग हो और जो इसके बिना जीवित रह ही न सके, अधिकतर फौजी शासन के समान है, कानूनी शासन नहीं। कल्हण कवि के हज़ार वर्ष पुराने 'राजतरंगिणी' नामक कश्मीर के ऐतिहासिक महाकाव्य में न्याय और व्यवस्था के लिए जो शब्द बार-बार काम में आये हैं और जिनकी स्थापना शासक और राज्य का कर्त्तव्य था, वे हैं 'धर्म' और 'अभय'। न्याय सिर्फ़ क़ानून से कुछ बेहतर चीज थी और व्यवस्था लोगों की निर्भयता थी। आतंकित जनता पर 'व्यवस्था' लादने की बनिस्बत उसे निर्भयता सिखलाने की यह भावना अधिक ज़रूरी है।

हम साढ़े तीन दिन कलकत्ता ठहरे और इस अरसे में मैंने तीन सार्वजनिक सभाओं में भाषण दिये। जैसा कि मैंने पहले कलकत्ता में किया था, इस बार भी आतंकवादी कार्यों की निन्दा की और उनकी हानियां बतलाईं, और इसके बाद में मैं उन तरीक़ों पर भी बोला जो सरकार ने बंगाल में इख़्तियार किये थे। मैं काफ़ी जोश के साथ बोला, क्योंकि इस प्रान्त की घटनाओं के विवरणों से मैं बहुत अधीर हो गया था। जिस बात ने मुझे सबसे अधिक चोट पहुंचाई, वह था, वह तरीक़ा जिसके ज़रिये सारी जनता का अंधाधुन्ध दमन करके मानव-सम्मान पर बलात्कार किया गया था। इस मानवता के प्रश्न के आगे राजनैतिक प्रश्न ने, अत्यन्त आवश्यक होते हुए भी, गौण स्थान प्राप्त कर लिया था। बाद में, कलकत्ता में मुझपर जो मुक़दमा चला उसमें मेरे यही तीनों भाषण मेरे विरुद्ध तीन आरोप बनाये गये और मेरी यह पिछली सज़ा इन्हींका परिणाम है।

कलकत्ता से हम कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ठाकुर से भेंट करने के लिए शान्ति-निकेतन पहुंचे। कवि से मिलना हमेशा आनन्ददायक था। इतने नज़दीक आकर हम उनसे बिना मिले कैसे जा सकते थे? मैं तो पहले दो बार शान्ति-निकेतन हो आया था, लेकिन कमला का यह पहली बार जाना था, और वह इस

स्थान को देखने खासतौर पर आई थी, क्योंकि हम अपनी बेटी को वहां भेजना चाहते थे। इन्दिरा कुछ ही दिनों बाद मैट्रिक की परीक्षा देनेवाली थी और उसकी आगे की शिक्षा का प्रश्न हमें परेशान कर रहा था। मैं इसके बिलकुल खिलाफ़ था कि वह सरकारी या अर्ध-सरकारी यूनिवर्सिटियों में दाखिल हो, क्योंकि मैं उन्हें नापसन्द करता था। इनके चारों ओर का वातावरण सरकारी, और हुकूमतपरस्ती का होता है। बेशक, इनमें से पहले भी ऊंचे दरजे के पुरुष और स्त्रियां निकली हैं और आगे भी निकलती रहेंगी। पर ये थोड़े-से-अपवाद यूनिवर्सिटियों को नौजवानों की उदात्त प्रवृत्तियों को दबाने और मृतप्राय बनाने के आरोप से नहीं बच सकते। शान्तिनिकेतन ही एक ऐसी जगह थी जहां इस घातक वातावरण से बचा जा सकता था। इसलिए हमने उसे वहीं भेजने का निश्चय किया, हालांकि कुछ बातों में वह दूसरी यूनिवर्सिटियों की तरह बिलकुल अप-टू-डेट और सब तरह के साधनों से पूर्ण नहीं थी।

लौटते हुए हम राजेन्द्रबाबू के साथ भूकम्प-पीड़ितों की सहायता के प्रश्न पर विचार करने के लिए पटना ठहरे। वह अभी जेल से छूटकर आये ही थे और लाज़िमी तौर पर उन्होंने पीड़ितों की सहायता के ग़ैर-सरकारी काम में सबसे आगे क़दम रक्खा। हमारा यहां पहुंचना बिलकुल अकस्मात् ही हुआ, क्योंकि हमारा कोई भी तार उन्हें नहीं मिला था। कमला के भाई के जिस मकान में हम ठहरना चाहते थे वह खंडहर हो गया था; पहले वह ईंटों की एक बड़ी भारी दुमंजिला इमारत थी। इसलिए और बहुत से लोगों की तरह हम भी खुले में ही ठहरे।

दूसरे दिन मैं मुजफ़्फ़रपुर गया। भूकम्प हुए पूरे सात दिन हो चुके थे, पर अभी तक सिवा कुछ खास रास्तों के, कहीं भी मलवा उठाने के लिए कुछ भी नहीं किया गया था। इन रास्तों को साफ़ करते वक्त बहुत-सी लाशें निकली थीं। इनमें कुछ तो विचित्र भावमयी अवस्थाओं में थीं, जैसे किसी गिरती हुई दीवार या छत से बचने की कोशिश कर रही हों। इमारतों के खंडहरों का दृश्य बड़ा मार्मिक और रोमांचकारी था। जो लोग बच गये थे, वे अपने दिल दहलानेवाले अनुभवों के कारण बिलकुल घबराये हुए और भयभीत हो रहे थे।

इलाहाबाद लौटते ही धन और सामान इकटठा करने के काम का फ़ौरन

प्रबन्ध किया गया और सब लोग, जो कांग्रेस में थे वे भी, और जो नहीं थे वे भी, मुस्तैदी के साथ इसमें जुट गये। मेरे कुछ सहयोगियों की यह राय हुई कि भूकम्प के कारण स्वतन्त्रता-दिवस के जलसे रोक दिये जायं। लेकिन दूसरे साथियों को, और मुझे भी कोई कारण नहीं नज़र आता था कि भूकम्प से भी हमारे प्रोग्राम में क्यों खलल पड़े! बहुत-से लोगों का ख़याल था कि शायद पुलिस दस्तन्दाज़ी और गिरफ्तारियां कर बैठे और उसकी तरफ से कुछ मामूली दस्तन्दाज़ी हुई भी। मगर मीटिंग कर चुकने के बाद जब हम लोग बच गये तो हमें बहुत ताज्जुब हुआ। हमारे यहां के कुछ गांवों में और कुछ दूसरे शहरों में गिरफ़्तारियां हुईं।

बिहार से लौटने के कुछ ही दिन बाद मैंने भूकम्प के सम्बन्ध में एक वक्तव्य निकाला, जिसके अन्त में धन के लिए अपील की गई थी। इस वक्तव्य में मैंने भूकम्प के बाद शुरू के कुछ दिनों तक बिहार-सरकार की अकर्मण्यता की आलोचना की थी। मेरा इरादा भूकम्प-पीड़ित इलाक़े के अफ़सरों की आलोचना करने का नहीं था, क्योंकि उनको तो एक ऐसी विकट परिस्थिति का सामना करना पड़ा था जिससे बड़े-से-बड़े दिलेरों के भी दिल दहल जाते और मुझे इसका अफ़सोस हुआ कि कुछ शब्दों से ऐसा आशय निकाला जा सकता था; लेकिन मैंने यह तो बड़े ज़ोरों से जरूर महसूस किया कि शुरू में ही बिहार-सरकार के प्रमुख अधिकारियों ने कुछ ज़्यादा कारगुज़ारी दिखलाई होती, ख़ासकर मलवा हटाने में, तो बहुत-सी जानें बच जातीं। खाली मुंगेर शहर में ही हज़ारों की जानें गईं, और तीन हफ़्ते बाद भी मैंने देखा कि मलवे का पहाड़ का-पहाड़ ज्यों-का-त्यों पड़ा था, हालांकि कुछ ही मील दूर जमालपुर में हज़ारों रेलवे-कर्मचारी बसे हुए थे, जिनको भूकम्प के बाद कुछ ही घंटों में इस काम में लगाया जा सकता था। भूकम्प के बारह दिन बाद तक भी ज़िन्दा आदमी खोदकर निकाले गये थे। सरकार ने सम्पत्ति की रक्षा का तो फौरन इन्तज़ाम कर दिया था, लेकिन जो लोग दबे पड़े थे, उनकी जान बचाने में उसने सरगरमी नहीं दिखलाई। इन इलाक़ों में म्युनिसिपैलिटियां तो रही ही नहीं थीं।

मैं समझता हूं कि मेरी आलोचना न्यायोचित थी और बाद में मुझे पता लगा कि भूकम्प-पीड़ित इलाक़ों के ज़्यादातर लोग मुझसे सहमत थे। लेकिन न्यायोचित हो या न हो, वह सच्चे हृदय से की गई थी, और सरकार पर दोषारोपण करने की नीयत से नहीं, बल्कि उसको तेज़ी से काम करने के लिए प्रेरित

करने की नीयत से की गई थी। इस बारे में किसी ने भी सरकार पर यह दोष नहीं लगाया कि उसने जान-बूझकर कोई ग़लत कार्रवाई की या कोई कार्रवाई करने में आनाकानी की। यह तो एक अजीब और निराश कर देनेवाली परिस्थिति थी और इसमें होनेवाली भूलें क्षम्य थीं। जहां तक मुझे मालूम है (क्योंकि मैं जेल में हूं), बिहार-सरकार ने बाद में भूकम्प से हुई क्षति को पूरा करने के लिए बड़ी तेज़ी और मुस्तैदी से काम किया।

लेकिन मेरी आलोचना से लोग नाराज़ हुए, और तुरन्त कुछ ही दिनों बाद बिहार के कुछ लोगों ने मेरी आलोचना के तुर्की-ब-तुर्की जवाब के तौर पर सरकार की प्रशंसा करते हुए एक वक्तव्य प्रकाशित किया। भूकम्प और उससे सम्बन्ध रखनेवाले सरकारी कर्त्तव्य को क़रीब-क़रीब दूसरे दरजे का स्थान दिया गया। यह बात ज़्यादा महत्वपूर्ण थी कि सरकार की आलोचना की गई, इसलिए राजभक्त रिआया को उसके पक्ष का समर्थन करना ही चाहिए। हिन्दुस्तान में फैले हुए उस रवैये का यह एक मज़ेदार नमूना था जो सरकार की आलोचना को—पश्चिमी देशों में यह एक बहुत मामूली चीज़ समझी जाती है—पसन्द नहीं करता। यह फौजी मनोवृत्ति है जो आलोचना को सहन नहीं कर सकती। सम्राट् की तरह भारत की ब्रिटिश सरकार और उसके ऊंचे हाकिम-हुक्काम कोई ग़लती नहीं कर सकते! ऐसी किसी बात का इशारा भी करना घोर राज-द्रोह है!

इसमें विचित्रता यह है कि शासन में असफलता और अयोग्यता का आरोप कठोर शासन या निर्दयता का दोष लगाने के बनिस्बत बहुत ज़्यादा बुरा समझा जाता है। निर्दयता का दोष लगानेवाला, बहुत मुमकिन है, जेल में डाल दिया जाय, मगर सरकार इसकी आदी हो गई है, और असल में इसकी परवा भी नहीं करती। आख़िर, एक तरह से, प्रभुता-प्राप्त जाति के लिए यह क़रीब-क़रीब एक वाहवाही की बात समझी जा सकती है। लेकिन नालायक़ और कमज़ोर कहा जाना उनके आत्म-सम्मान की जड़ पर कुठाराघात करता है; इससे हिन्दुस्तान के अंग्रेज़ हाकिमों की अपने-आपको उद्धारक समझने की धारणा पर प्रहार होता है। ये लोग उस अंग्रेज़ पादरी की तरह हैं जो ईसाई-धर्म के विरुद्ध आचरण के आरोप को तो चुपचाप बरदाश्त करने के लिए तैयार हो जाता है, लेकिन अगर उसे कोई बेवकूफ या नालायक़ कहे तो वह ग़ुस्सा होकर मारने को दौड़ता है।

अंग्रेज़ लोगों में एक आम विश्वास फैला हुआ है, जो अक्सर इस तरह बयान किया जाता है मानो कोई अकाट्य सिद्धान्त हो, कि अगर हिन्दुस्तान के शासन में कोई ऐसी तब्दीली हो जाय जिससे ब्रिटिश प्रभाव कम हो जाय या निकल जाय, तो यहां का शासन और भी ज़्यादा ख़राब और निकम्मा हो जायगा। इस विश्वास को रखते हुए, उग्रमतवादी और उन्नतिशील विचारोंवाले अंग्रेज़ यह कहते हैं कि सु-राज स्व-राज का स्थानापन्न नहीं हो सकता, और अगर हिन्दुस्तानी लोग गड्ढे में गिरना ही चाहते हैं तो उनको गिरने दिया जाय। मैं नहीं जानता कि ब्रिटिश प्रभाव के निकल जाने पर हिन्दुस्तान की क्या हालत होगी। यह बात इस पर बहुत-कुछ निर्भर है कि अंग्रेज़ लोग किस तरह से निकलकर जायं और उस समय भारत में किसका अधिकार हो; इसके अलावा, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय कई विचारणीय बातें भी हैं। अंग्रेज़ों की सहायता से स्थापित ऐसी अवस्था की मैं अच्छी तरह कल्पना कर सकता हूं जो आगे की हालत से कहीं अधिक बदतर और ज्यादा निकम्मी होगी, क्योंकि उसमें मौजूदा प्रणाली के दोष तो सब होंगे और गुण एक भी नहीं। इससे भी ज़्यादा आसानी से मैं उस दूसरी अवस्था की कल्पना कर सकता हूं जो, भारतवासियों के दृष्टिकोण से, किसी भी ऐसी अवस्था से अधिक अच्छी और लाभकारी होगी जिसकी हमें आज सम्भावना हो सकती है। यह मुमकिन है कि राज्य की बल-प्रयोग करने की मशीन इतनी कार-आमद न हो और शासन-विधान इतना भड़कदार न हो, लेकिन पैदावार, खपत और जनता के शारीरिक, आध्यात्मिक और सांस्कृतिक आदर्श को ऊंचा उठानेवाले कार्य अधिक योग्यता से होंगे। मेरा विश्वास है कि स्वराज्य किसी भी देश के लिए लाभकारी है। लेकिन मैं स्वराज्य तक को वास्तविक सु-राज देकर लेने को तैयार नहीं हूं। स्वराज्य अपने-आपको न्यायोचित तभी कह सकता है जब उसका ध्येय वास्तव में जनता के लिए सु-राज हो। चूंकि मेरा विश्वास है कि भारत में ब्रिटिश सरकार, भूतकाल में उसका दावा चाहे जो कुछ रहा हो, आज जनता के लिए सु-राज या उन्नत आदर्श प्रदान करने के बिलकुल अयोग्य है, इसलिए मैं महसूस करता हूं कि भारत में उसकी उपयोगिता जो कुछ थी वह नष्ट हो चुकी है। भारत की स्वतन्त्रता का सच्चा औचित्य इसीमें है कि उसे सु-राज मिले, उसकी जनता की स्थिति ऊंची हो, उसकी औद्योगिक और सांस्कृतिक प्रगति हो और भय और दमन का वह वातावरण दूर हो जाय जो

विदेशी साम्राज्यवादी शासन का अनिवार्य परिणाम है। ब्रिटिश सरकार और इंडियन सिविल सर्विस भारत में मनमानी करने की ताक़त भले ही रखती हो, पर वह भारत के तात्कालिक प्रश्नों को हल करने के बिलकुल अयोग्य और निकम्मी है, भविष्य के प्रश्नों के लिए तो और भी ज़्यादा। क्योंकि उसके मूल सिद्धान्त और धारणाएं बिलकुल ग़लत हैं और वास्तविकता से उसका सम्बन्ध टूट चुका है। कोई सरकार या शासक-वर्ग, जो पूर्णतया योग्य नहीं है या जो पतनशील समाज-व्यवस्था का प्रतिनिधि है, ज़्यादा दिनों तक मनमानी नहीं कर सकता।

इलाहाबाद की भूकम्प-सहायक समिति ने मुझे भूकम्प-पीड़ित इलाक़ों में जाने के लिए और वहां भूकम्प-पीड़ितों की सहायता के लिए जो ढंग इख़्तियार किया गया था, उसकी रिपोर्ट देने के लिए नियुक्त किया। मैं अकेला ही फ़ौरन चल पड़ा और दस दिन तक उन ध्वस्त और नष्ट-भ्रष्ट इलाक़ों में घूमा। इस दौरे में बड़ी मेहनत करनी पड़ी और इन दिनों मुझे सोने को भी बहुत कम समय मिला। सुबह के पांच बजे से लगभग आधी रात तक हम लोग चलते ही रहते थे—कभी दरारोंवाली टूटी-फूटी सड़कों पर मोटर में जा रहे हैं, तो कभी छोटी-छोटी डोंगियों के द्वारा ऐसे स्थानों में उतर रहे हैं जहां पुल गिरे पड़े थे या जहां ज़मीन की सतह में फ़र्क़ आ जाने से सड़कें पानी में डूब गई थीं। शहरों में ढेर-के-ढेर खंडहरों और टूटी हुई या मानो किसी दैत्य के द्वारा मरोड़ी हुई, या दोनों ओर के मकानों की कुर्सी से ऊपर उठी हुई सड़कों का दृश्य बड़ा हृदयस्पर्शी था। इन सड़कों की बड़ी-बड़ी दरारों में से पानी और रेत ज़ोर से निकले थे, जिससे असंख्य मनुष्य और जानवर बह गये थे। इन शहरों से भी ज्यादा उत्तर बिहार के मैदानों पर—जिनको बिहार का बाग़ कहा जाता था—उजड़ेपन और विनाश की छाप लगी हुई थी। मीलों तक फैली हुई बालू-रेत, पानी के बड़े-बड़े तालाब और विशालकाय दरारें और छोटे-छोटे असंख्य ज्वालामुखी के-से मुंह बन गये थे जिनमें से बालू-रेत और पानी निकला था। इस इलाके के ऊपर हवाई जहाज़ में बैठकर उड़नेवाले कुछ अंग्रेज़ अफ़सरों ने कहा था कि यह नज़ारा लड़ाई के ज़माने के और उसके कुछ बाद के उत्तरी फ़्रांस के युद्धक्षेत्र से कुछ-कुछ मिलता-जुलता था।

यह एक बड़ा भयानक अनुभव रहा होगा। भूकम्प पहले अगल-बगल की गति से ज़ोरों से शुरू हुआ, जिससे खड़े हुए मनुष्य गिर पड़े। इसके बाद ऊपर-नीचे की गतियां हुईं और एक ऐसी गड़गड़ाहट और गूंजती हुई भयंकर आवाज़

हुई जैसे तोपें चल रही हों या आकाश में सैकड़ों हवाई जहाज उड़ रहे हों। अनगिनत स्थानों पर बड़ी-बड़ी दरारों और गड्ढों में से पानी फूट निकला और उसकी धारें दस-बारह फुट तक ऊंची उछलीं। यह सब शायद तीन या चार मिनट में हो गया होगा, मगर ये तीन मिनट ही महाभयंकर थे। जिन लोगों ने इन घटनाओं को होते हुए देखा, आश्चर्य नहीं यदि उन्हें यह कल्पना हुई हो कि दुनिया का अन्त आ गया। शहरों में मकानों के गिरने का शोर था, पानी बड़े ज़ोर से बहकर आ रहा था और सारे वायुमण्डल में धूल भर गई थी, जिससे कुछ ही गज आगे की चीज़ भी नज़र नहीं आती थी। देहातों में इतनी धूल नहीं थी और दूर तक दिखलाई देता था; लेकिन वहां कोई शांति से देखनेवाले ही नहीं थे। जो लोग ज़िन्दा बचे वे भयंकर त्राण के कारण ज़मीन पर लेट गये या इधर-उधर लुढ़कने लगे।

एक बारह बरस का लड़का (मेरे ख़याल से, मुज़फ्फ़रपुर में) भूकम्प के दस दिन बाद खोदकर जीवित निकाला गया। वह बड़ा चकित था। टूट-टूटकर गिरनेवाले ईंट-चूने ने जब उसे नीचे गिराकर दबा लिया तो उसने कल्पना की कि प्रलय हो गया है और अकेला वही ज़िन्दा बचा है।

मुज़फ़्फ़रपुर में ही ऐन भूकम्प के मौके पर, जबकि मकान गिर रहे थे और चारों तरफ़ सैकड़ों आदमी मर रहे थे, एक बच्ची पैदा हुई। उसके अनुभवहीन माता-पिता को यह न सूझा कि क्या करना चाहिए और पागल-से हो गये। मगर मैंने सुना कि मां और बच्चा दोनों की जानें बच गईं और वे मज़े में थे। भूकम्प की यादगार में बच्ची का नाम 'कम्पोदेवी' रक्खा गया।

हमारे दौरे का आख़िरी शहर मुंगेर था। हम लोग बहुत घूम चुके और क़रीब-क़रीब नेपाल की सीमा तक पहुंच गये थे और हमने अनेक हृदय-विदारक दृश्य देखे थे। हम लोग एक बड़े भारी पैमाने पर खंडहर और विध्वंस देखने के आदी हो गये थे; लेकिन फिर भी जब हमने मुंगेर को और इस धन-सम्पन्न नगर की अत्यन्त विनाशपूर्ण हालत को देखा तो उसकी भयंकरता से हमारा दम बैठ गया और हमें कंपकंपी आने लगी। मैं उस महाभयंकर दृश्य को कभी नहीं भूल सकता।

भूकम्प के तमाम इलाक़ों में, क्या शहरों और क्या देहात में, वहां के निवासियों में स्वावलम्बन का बड़ा शोचनीय अभाव नज़र आया। शायद शहरों

के मध्यम-वर्ग में इसका सबसे अधिक अभाव था—वे लोग इस इन्तज़ार में थे कि कोई सरकारी या ग़ैरसरकारी भूकम्प-सहायक समिति आकर काम करे और उन्हें सहायता दे। जो दूसरे लोग सेवा करने को आगे आये, उन्होंने समझा कि काम करने का अर्थ है लोगों पर हुक्म चलाना। यह निस्सहायता की भावना कुछ तो निस्सन्देह भूकम्प के आतंक से पैदा हुई मानसिक दुर्बलता के कारण थी और वह धीरे-धीरे ही कम हुई होगी।

बिहार के दूसरे हिस्सों और दूसरे प्रान्तों से बड़ी संख्या में आनेवाले मददगारों का जोश और उनकी कार्यशक्ति इसकी तुलना में एक बिलकुल अलग ही चीज़ नज़र आती थी। इन नवयुवकों और नवयुवतियों की मुस्तैदी के साथ सेवा करने की भावना को देखकर चकित होना पड़ता था। और हालांकि अनेक भिन्न-भिन्न सहायक संस्थाएं काम कर रही थीं, फिर भी इनमें आपस में बहुत-कुछ सहयोग था।

मुंगेर में खोदने और मलवा हटाने की स्वावलम्बी भावना को प्रोत्साहन देने के लिए मैंने एक नाटक-सा किया। इसे करने में मुझे कुछ हिचकिचाहट तो हुई, पर इसका परिणाम बड़ा सफलतापूर्ण निकला। सहायक संस्थाओं के तमाम अगुआ टोकरियां और फावड़े ले-लेकर निकले और उन्होंने दिन-भर खुदाई की और हमने एक लड़की की लाश बाहर निकाली। मैं तो उस दिन मुंगेर से चला आया, लेकिन खुदाई का काम जारी रहा और बहुत-से स्थानीय व्यक्तियों ने उसे बड़ी सफलतापूर्वक किया।

जितनी ग़ैर-सरकारी सहायक संस्थाएं थीं उन सबमें सेंट्रल रिलीफ़ कमेटी, जिसके अध्यक्ष बाबू राजेन्द्रप्रसाद थे, सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण थी। यह सर्वथा कांग्रेसी संस्था नहीं थी। शीघ्र ही यह बढ़कर भिन्न-भिन्न दलों और दानदाताओं की प्रतिनिधि-स्वरूप एक अखिल भारतीय संस्था बन गई। इससे सबसे बड़ा लाभ यह था कि देहात की कांग्रेस कमेटियों की सहायता इसे मिल सकती थी। गुजरात और युक्तप्रान्त के कुछ जिलों को छोड़कर कहीं के कांग्रेसी कार्यकर्ता किसानों के इतने अधिक सम्पर्क में नहीं थे जितने यहां के। दरअसरल ये कार्यकर्ता खुद ही किसान-वर्ग के थे। बिहार भारत का सबसे मुख्य कृषक-प्रदेश है और उसके मध्यम-वर्ग तक का किसानों से घनिष्ठ सम्बन्ध है। कभी-कभी, जब मैं कांग्रेस के मन्त्री की हैसियत से बिहार-प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी के दफ़्तर का

निरीक्षण करने जाता था तो मैं वहां नज़र आनेवाले निकम्मेपन और दफ़्तर के काम में ढील-ढाल की बड़े कड़े शब्दों में आलोचना किया करता था । वहां खड़े रहने के बजाय बैठ जाने की और बैठने की अपेक्षा लेट जाने की प्रवृत्ति थी । दफ्तर भी मेरे अबतक देखे हुए तमाम दफ़्तरों में सबसे अधिक साधनहीन था, क्योंकि वे लोग दफ्तर के लिए मामूली तौर पर जरूरी चीज़ों के बिना ही काम चलाने की कोशिश करते थे । लेकिन दफ़्तर की आलोचना के बावजूद, मैं खूब अच्छी तरह जानता था कि कांग्रेस के लिहाज़ से यह प्रान्त देश के सबसे ज्यादा उत्साही और लगन के साथ काम करनेवाले प्रान्तों में से था । यहां की कांग्रेस में ऊपरी तड़क-भड़क नहीं थी, पर सारा कृषक-वर्ग सामूहिक रूप से उसके पीछे था । अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी में भी बिहार के प्रतिनिधियों ने शायद ही कभी किसी मामले में उग्र रुख अख्तियार किया हो । वे तो अपने-आपको वहां देखकर कुछ ताज्जुब-सा करते थे । लेकिन सविनय-भंग के दोनों आन्दोलनों में बिहार ने बड़ा शानदार नमूना पेश किया । यहांतक कि बाद के व्यक्तिगत सविनय-भंग के आन्दोलन में भी उसने अच्छा काम कर दिखलाया ।

रिलीफ़-कमेटी ने किसानों तक पहुंचने के लिए इस सुन्दर संगठन से लाभ उठाया । देहात में कोई भी साधन, यहांतक कि सरकारी भी, इतने उपयोगी नहीं हो सकते थे । रिलीफ़-कमेटी और बिहार कांग्रेस कमेटी दोनों के प्रधान थे राजेन्द्रबाबू, जो निर्विवाद रूप से सारे बिहार के नेता थे । देखने में एक किसान के समान, बिहार भूमि के सच्चे सुपुत्र राजेन्द्रबाबू का व्यक्तित्व, जबतक कि कोई उनकी तेज़ और निष्कपट आंखों और गम्भीर मुख-मुद्रा पर ग़ौर न करे, शुरू-शुरू में देखने पर कुछ प्रभावशाली नहीं मालूम पड़ता । वह मुद्रा और वे आंखें भुलाई नहीं जा सकतीं, क्योंकि उनमें होकर सच्चाई आपकी ओर झांकती है और उनपर आप सन्देह कर ही नहीं सकते । किसान-स्वभाव होने के कारण उनका दृष्टिकोण शायद ज़रा सीमित है और नई रोशनी की दृष्टि से देखने पर कुछ सीधे-सादे दीखते हैं । पर उनकी ज्वलन्त योग्यता, उनकी शुद्ध निष्कपटता, उनकी शक्ति, और भारत की स्वतन्त्रता के लिए उनकी लगन, ये ऐसे गुण हैं जिन्होंने उनको अपने ही प्रान्त का नहीं, बल्कि सारे भारत का प्रेम-पात्र बना दिया है । जैसा सर्वमान्य नेतृत्व राजेन्द्रबाबू को बिहार में प्राप्त है वैसा भारत के किसी भी प्रान्त में किसी भी व्यक्ति को प्राप्त नहीं । उनके सिवा, गांधीजी के

वास्तविक सन्देश को इतनी पूर्णता से अपनानेवाले, कोई हों भी, तो बिरले ही होंगे।

यह बड़े सौभाग्य की बात थी कि राजेन्द्रबाबू जैसे व्यक्ति बिहार में सहायता के कार्य का नेतृत्व करने के लिए मौजूद थे, और उनमें लोगों की जो श्रद्धा थी उसीका यह परिणाम था कि सारे भारत से विपुल धन-राशि खिंची चली आई। स्वास्थ्य ख़राब होने पर भी वह सहायता के कार्य में पिल पड़े। वह अपनी शक्ति से अधिक काम करने लगे, क्योंकि वह सारी कार्रवाइयों का केन्द्र बन गये थे और सलाह के लिए सब उन्हीके पास आते थे।

जब मैं भूकम्प के इलाकों में दौरा कर रहा था, तब या शायद वहां जाने से पहले, मुझे गांधीजी का यह वक्तव्य पढ़कर बड़ी चोट लगी कि यह भूकम्प अस्पृश्यता के पाप का दण्ड था। यह वक्तव्य बड़ी हैरत में डालनेवाला था। मैंने रवीन्द्रनाथ ठाकुर के उत्तर का स्वागत किया और मैं उससे पूर्णतया सहमत भी था। वैज्ञानिक दृष्टिकोण की इससे अधिक विरोधी किसी और चीज़ की कल्पना करना कठिन है। कदाचित् विज्ञान भी आज प्रकृति पर चित्तवृत्तियों और मनोवैज्ञानिक घटनाओं के प्रभाव के विषय में इस तरह सर्वथा निश्चयात्मक रूप से कोई बात नहीं कह सकेगा। मानसिक चोट के परिणामस्वरूप किसी व्यक्ति को अजीर्ण या इससे भी अधिक और कोई ख़राबी का हो सकना भले ही सम्भव हो, लेकिन यह कहना कि किसी मानवी प्रथा या कर्त्तव्यहीनता की प्रतिक्रिया पृथ्वीतल की गति पर पड़े, एक हैरत में डाल देनेवाली बात है। पाप और ईश्वरीय कोप का विचार और ब्रह्माण्ड की घटनाओं में मनुष्य की सापेक्ष स्थिति, ये ऐसी बातें हैं, जो हमको कई सौ वर्ष पीछे ले जाती हैं, जबकि यूरोप में धार्मिक अत्याचारों का बोलबाला था, जिसने वैज्ञानिक कुफ़्र के कारण जोर्डानो ब्रूनो को जलवा डाला तथा कितनी ही डाकिनियों को सूली पर चढ़ा दिया! अठारहवीं सदी में भी, अमेरिका में बोस्टन के प्रमुख पादरियों ने मैसाचुसेट्स के भूकम्पों का कारण बिजली गिरने से रोकने के लिए लगाये गये खम्भों की अपवित्रता बतलाया था।

और अगर भूकम्प ईश्वरीय पापों का दण्ड भी हो तो भी हम यह कैसे मालूम करें कि हमको कौन-से पाप का दण्ड मिल रहा है। क्योंकि दुर्भाग्यवश हमें तो बहुत-से पापों का फल भोगना है। हरेक व्यक्ति अपनी-अपनी पसन्द का कारण बता सकता है। शायद हम लोगों को एक विदेशी राजसत्ता कबूल करने का या एक अनुचित सामाजिक प्रणाली को सहन करने का दंड मिला हो। आर्थिक

दृष्टि से दरभंगा महाराज, जो बड़ी लम्बी-चौड़ी जागीरों के मालिक हैं, भकम्प के कारण सबसे अधिक नुक़सान उठानेवालों में से थे। इसलिए हम ऐसा भी कह सकते हैं कि यह ज़मींदारी-प्रथा के विरुद्ध फैसला है। ऐसा कहना ज्यादा ठीक होगा, बनिस्बत यह कहने के कि बिहार के क़रीब-क़रीब बेगुनाह निवासी, दक्षिण भारत के लोगों के अस्पृश्यता के पाप के बदले में पीड़ित किये गए। भूकम्प खुद अस्पृश्यता के देश में ही क्यों नहीं आया? या ब्रिटिश सरकार भी तो इस विपत्ति को सविनय-भंग के लिए ईश्वरीय दण्ड कह सकती है; क्योंकि यदि वास्तव में देखा जाय तो, उत्तरी बिहार ने, जिसको भूकम्प के कारण सबसे अधिक नुकसान पहुंचा, आजादी की लड़ाई में बड़ा प्रमुख भाग लिया था।

इस तरह हम अनन्त कल्पनाएं कर सकते हैं। और फिर यह प्रश्न भी तो उठता है कि हम लोग परमात्मा के कामों अथवा उसकी आज्ञाओं में अपने मानवीय प्रयत्नों से क्यों हस्तक्षेप करें? और हमें इसपर भी ताज्जुब होता है कि ईश्वर ने हमारे साथ ऐसी निर्दयतापूर्ण दिल्लगी क्यों की कि पहले तो हमको त्रुटियों से पूर्ण बनाया, हमारे चारों ओर जाल और गड्ढे बिछा दिये, हमारे लिए एक कठोर और दुःखपूर्ण संसार की रचना कर दी—चीता भी बनाया और भेड़ भी, और फिर हमको सज़ा भी देता है!

"जब तारों ने अपनी झिलमिल किरणें डालीं जगती पर,
और गगन-मंडल से उतरीं बूंदें रिमझिम धरती पर,
देख-देख कृति अपनी कैसे स्मिति ओठों पर ला सकता,
मेष-वत्स रचनेवाला क्या भीषण सिंह बना सकता?"[1]

पटना ठहरने की आख़िरी रात को मैं बड़ी रात तक बहुत-से मित्रों और सहयोगियों से बातें करता रहा, जो जुदा-जुदा प्रान्तों से सहायता-कार्य में अपनी सेवाएं देने के लिए आये थे। युक्तप्रान्त के काफी प्रतिनिधि आये थे और हमारे कई छटे-छंटाये कार्यकर्ता वहां थे। हम इस प्रश्न पर विचार कर रहे थे, जो हमें बड़ा हैरान कर रहा था, कि हम लोग किस हद तक अपने-आपको भूकम्प-पीड़ितों की सहायता के काम में लगायें। इसका अर्थ यह था कि उस हद तक हम अपने को राजनैतिक कार्य से अलग हटा लें। सहायता का काम बड़ा कठिन

---

[1] अंग्रेजी गद्य का अनुवाद।

था और ऐसा हम कर नहीं सकते थे कि जब-जब हमें फ़ुरसत मिले तब तो उसे करें और फ़ुरसत न हो तो न करें। इसमें लग जाने से क्रियात्मक राजनैतिक क्षेत्र से बहुत दिनों तक ग़ैरहाज़िर रहने की सम्भावना थी और राजनैतिक दृष्टि से हमारे प्रान्त पर इसका बुरा प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता था। यद्यपि कांग्रेस में बहुत से लोग-थे, फिर भी करने-धरनेवालों की संख्या तो परिमित ही थी और उनको छुट्टी नहीं दी जा सकती थी। इधर पीड़ितों को सहायता देने के काम के तक़ाज़े की भी अवहेलना नहीं की जा सकती थी। अपनी ओर से मेरा तो खाली सहायता के ही काम में लग जाने का इरादा न था। मैंने महसूस किया कि इस कार्य के लिए लोगों की कमी न होगी; अलबत्ता अधिक ख़तरे के कामों को करने-वाले लोग बहुत थोड़े थे।

इसलिए हम बहुत रात तक बातचीत करते रहे। हमने पिछले स्वतन्त्रता-दिवस पर विचार किया कि किस प्रकार हमारे कुछ सहयोगी तो उस मौके पर गिरफ़्तार कर लिये गए थे, पर हम लोग बच गये थे। मैंने उन लोगों से कुछ मज़ाक में कहा कि मुझे तो पूरे बचाव के साथ उग्र राजनैतिक कार्य करने के राज़ का पता लग गया था।

मैं ११ फरवरी को, दौरे के कारण बिलकुल थका-मांदा, इलाहाबाद में अपने घर पहुंचा। कड़ी मेहनत के इन दस दिनों में मेरा रूप बड़ा भयानक बना दिया था और मेरे कुटुम्ब के लोग मेरी शक्ल देखकर चकित हो गये। मैंने इलाहाबाद रिलीफ़-कमेटी के लिए अपने दौरे की रिपोर्ट लिखने की कोशिश की, लेकिन नींद ने मुझे आ घेरा। अगले २४ घंटों में मैंने कम-से-कम १२ घंटे नींद में बिताये।

दूसरे दिन, शाम के वक़्त कमला और मैं चाय पीकर बैठे थे और पुरुषोत्तम-दास टंडन हमारे पास आये ही थे। हम लोग बरामदे में खड़े हुए थे। इतने में एक मोटर आई और पुलिस का एक अफ़सर उसमें से उतरा। मैं फ़ौरन समझ गया कि मेरा वक्त आ गया है। मैंने उसके पास जाकर कहा—"बहुत दिनों से आपका इन्तज़ार था।" वह ज़रा माफ़ी-सी मांगने लगा और कहने लगा कि क़ुसूर उसका नहीं है। वारण्ट कलकत्ता से आया था।

मैं पांच महीने और तेरह दिन बहार रहा। और अब मैं फिर एकान्त और तन-हाई में भेज दिया गया। लेकिन दुःख का असली भार मुझपर न था। वह तो हमेशा की तरह स्त्रियों पर ही था—मेरी बीमार माता पर, मेरी पत्नी और मेरी बहिन पर।

: ५९ :

अलीपुर-जेल

"फेंक यकायक कहां दिया है इतनी दूर मुझे लाकर !
कबतक यों टकराना होगा इन अदृष्ट की लहरों पर ?
किधर खींच ले जायेंगे अब झोंकों के ये उलझे तार;
दिखता नहीं प्रकाश, न जाने कहां लगेगी किश्ती पार !"[1]

उसी रात को मैं कलकत्ता ले जाया गया। हावड़ा स्टेशन से लालबाज़ार पुलिस-थाने तक मुझे एक बड़ी काली मोटर-लारी में बैठाकर ले गये। कलकत्ता-पुलिस के मशहूर हेड-क्वार्टर के बारे में मैंने बहुत-कुछ पढ़ रक्खा था। अतः मैं उस जगह को बड़े चाव से देखने लगा। वहां अंग्रेज़ सार्जेण्ट और इन्स्पेक्टर इतनी बड़ी तादाद में मौजूद थे, जितने उत्तर भारत के किसी बड़े पुलिस-थाने में नहीं हैं। वहां के सिपाही अक्सर सभी बिहार और संयुक्तप्रान्त के पूर्वी जिलों के थे। अदालत से जेल या एक जेल से दूसरी जेल जाने के लिए मुझे कई बार जेल की लारी में जाना पड़ता था और हर दफा इनमें से कई सिपाही लारी के भीतर मेरे साथ जाते थे। वे ज़रूर ही कुछ दुःखी मालूम होते थे। उनको यह काम पसन्द न था और स्पष्टतः वे मेरे साथ बड़ी हमदर्दी-सी रखते थे। मैंने देखा कि कई बार उनकी आंखों में आंसू छलक पड़ते थे।

मुझे शुरू में प्रेसिडेन्सी जेल में रक्खा गया और वहीं से मुझे अपने मुकदमे के लिए चीफ़ प्रेसिडेन्सी मैजिस्ट्रेट की अदालत में ले जाया जाता था। यह अदालत मेरे लिए एक नया तजर्बा था। अदालत का कमरा और इमारत साधारण अदालत की-सी नहीं, बल्कि एक घिरे हुए किले-जैसी थी। सिवा कुछ अखबारवालों और वहीं के वकीलों के बाहर का कोई आदमी उसके आसपास नहीं फटकने दिया जाता था। पुलिस वहां काफ़ी तादाद में जमा थी। यह सब बन्दोबस्त कोई मेरे

---

[1] रॉबर्ट ब्राउनिंग की कविता का भावानुवाद।

लिए नया नहीं किया गया था, यह तो वहां का हमेशा का दस्तूर है। अदालत के कमरे में जाने के लिए मुझे दूसरे कमरे में होते हुए एक लम्बे रास्ते से जाना पड़ता था, जिसके ऊपर और दोनों तरफ़ जालियां पड़ी हुई थीं, मानो किसी पिंजड़े में से निकल रहे हों। मुलज़िम का कठघरा हाकिम की कुर्सी से कुछ दूर था। कमरा पुलिसवालों और काले कोट और चोगेवाले वकीलों से भरा हुआ था।

मुझे अदालती मुकदमों से काफ़ी काम पड़ चुका है। मेरे पहले के कई मुक़दमे जेल के भीतर हो चुके हैं, परन्तु उन सब मौक़ों पर मेरे साथ दोस्त, रिश्तेदार और जान-पहचानवाले रहते थे, इस कारण वहां का वातावरण मेरे लिए कुछ सरल जान पड़ता था। पुलिस अधिकतर गौणरूप में होती थी और वहां पिंजड़े वग़ैरा नज़र न आते थे। यहां तो बात ही दूसरी थी, चारों तरफ़ अजनबी और बिना जान-पहचान की शकलें नज़र आती थीं, जिनमें और मुझमें कुछ भी साम्य नहीं दीखता था। वे लोग मुझे बहुत पसन्द भी नहीं आये। चोगाधारी वकीलों की जमात मुझे तो देखने में सुन्दर नहीं मालूम होती, और ख़ासकर पुलिस की अदालत के वकीलों का नज़ारा तो ज़रूर ही अप्रिय मालूम होता है। आख़िर उस काली जमात में एक जान-पहचान का वकील निकल तो आया, लेकिन वह भी झुण्ड में मिलकर कहीं ग़ायब हो गया।

मुक़दमा शुरू होने के पहले जब मैं बाहर झरोखे में बैठा रहता था तब भी मुझे अकेलापन और सुनसान मालूम पड़ता था। मेरी नब्ज़ ज़रूर तेज़ हो गई होगी और मेरा दिल इतना शान्त नहीं था, जैसा पहले के मुक़दमों के समय रहता था। मुझे तब ख़याल आया कि जब इतने मुक़दमों और सज़ाओं का तज़र्बा होते हुए भी मुझपर परिस्थिति की अजीब प्रक्रिया का असर हुए बिना न रहा तो ऐसी हालत में नातजुर्बेकार नौजवानों पर परिस्थिति का कितना बड़ा असर पड़ता होगा !

कठघरे में मेरा चित्त बहुत-कुछ शान्त मालूम हुआ। हमेशा की तरह कोई सफ़ाई पेश नहीं की गई, और मैंने अपना एक छोटा-सा बयान पढ़कर सुना दिया। दूसरे दिन, अर्थात् १६ फरवरी को, मुझे दो बरस की सज़ा हो गई और इस तरह मेरी सातवीं सज़ा शुरू हुई।

अपनी साढ़े पांच महीने की रिहाई के समय का बाहरी जीवन मुझे सन्तोषप्रद

मालूम हुआ। इस अरसे में मैं काम में काफ़ी लगा रहा और कई उपयोगी काम पूरे कर सका। मेरी माता की बीमारी ने पलटा खा लिया था और अब वह ख़तरे से बाहर हो चली थीं। मेरी छोटी बहिन कृष्णा की शादी हो चुकी थी, मेरी लड़की की आगे की शिक्षा का सिलसिला ठीक बैठ गया था। मैंने भी अपनी घर-गृहस्थी, क़र्ज़ और कई आर्थिक मुश्किलों को हल कर लिया और कई घरेलू मामले, जिनको मैं अरसे से भुला रहा था, सुलझा लिये थे। और सार्वजनिक मामलों में तो, मैं जानता था कि उस समय किसी के लिए भी कुछ विशेष कर लेना सहज न था। हां, मैंने कांग्रेस की ताक़त को मज़बूत कर उसका रुख़ सामाजिक और आर्थिक विचारों के मार्ग की ओर मोड़ने में ज़रूर कुछ मदद की। गांधीजी के साथ मेरे पूना के पत्र-व्यवहार ने और बाद में अख़बारों में निकले मेरे लेखों ने हालत को कुछ बदल दिया था। साम्प्रदायिक मसले पर भी मेरे लेखों ने कुछ असर ही किया। इसके अलावा, दो बरस से ज़्यादा अरसे के बाद मैं गांधीजी और दूसरे मित्रों और साथियों से भी मिल लिया और कुछ समय तक काम करने के लिए दिली व दिमाग़ी शक्ति जुटा ली थी।

पर मेरे मन को दुःखी करनेवाली एक घटना तो अब भी बाक़ी थी और वह थी कमला की बीमारी। मुझे उस वक़्त तक उसकी बीमारी की गहराई का अन्दाज़ा न था, क्योंकि उसकी आदत थी कि जबतक वह बिस्तर न पकड़ लेती तबतक काम में अपनी बीमारी को भुलाती ही रहती। लेकिन मुझे बड़ी फ़िक्र थी। इसपर भी मुझे उम्मीद थी कि अब मेरे जेल चले जाने के बाद तो वह मन लगाकर अपना इलाज करायेगी। मेरे बाहर रहने पर वह कुछ-कुछ कठिन था, क्योंकि वह मुझे ज़्यादा समय के लिए अकेला छोड़ने को सहसा तैयार नहीं होती थी।

लेकिन एक और बात का भी मुझे दुःख रह गया था। वह यह था कि इलाहाबाद जिले के गांवों में मैं एक बार भी दौरा न कर सका था। मेरे कई नवयुवक साथी हमारी नीति पर कार्य करते हुए गिरफ़्तार हो गये थे। इस कारण उनके बाद गांवों की ख़बर न लेना मुझे एक तरह से उनके प्रति बेवफ़ा-सा होना मालूम होता था।

काली मोटर-लॉरी ने मुझे फिर जेल में पहुंचा दिया। रास्ते में कई फ़ौजी सिपाही मशीनगनों, फ़ौजी गाड़ी (आर्मर्ड-कार) वग़ैरा के साथ मार्च करते हुए

मिले। जेल की लारी के छोटे सूराखों में से मैंने उनकी ओर देखा। मेरे दिल में खयाल आया कि फौजी गाड़ी और टैंक कितने भद्दे होते हैं! उन्हें देखकर मुझे इतिहास से पूर्वकाल के दानवों, अजगरों इत्यादि का स्मरण हो आया।

मेरा तबादला प्रेसीडेन्सी जेल से अलीपुर सेण्ट्रल जेल में हो गया और वहां मुझे एक दस फुट लम्बी और नौ फुट चौड़ी छोटी-सी कोठरी दी गई। इस कोठरी के सामने एक बरामदा और छोटा-सा सहन था। सहन की चहारदीवारी नीची, क़रीब सात फ़ुट की थी और उसपर से झांककर देखने पर मेरे सामने एक अजीब दृश्य दिखाई दिया। सब तरह की बेढंगी इमारतें, इकमंज़िली, गोल-चौकोर और अजीब छतोंवाली खड़ी थीं। कई तो एक के ऊपर एक नज़र आती थीं। ऐसा मालूम होता था कि ये सब इमारतें बेतरतीब, ज़मीन का एक-एक कोना भरने के लिए बनाई गई थीं। यह बनावट मुझे तो किसी घरौंदे की भूल-भुलैयां या किसी भविष्यवक्ता की हवाई रचना-सी मालूम होती थी। मुझे बताया गया कि ये इमारतें बड़े सिलसिले से बनी हुई हैं, बीच में एक मीनार है (जो ईसाई क़ैदियों का गिरजा है) और उसके चारों तरफ़ घरों की लाइनें हैं। चूंकि यह जेल शहर में था, इस वजह से ज़मीन बहुत परिमित थी और उसका छोटे-से-छोटा टुकड़ा भी काम में लाये बिना नहीं छोड़ा जा सकता था।

मैं अभी इस भोंडे दृश्य को देखकर नज़र हटा ही रहा था, कि मुझे एक दूसरा भयावना दृश्य दीख पड़ा। मेरी कोठरी और सहन के ीक सामने दो चिमनियां खड़ी दिखाई दीं, जिनमें से लगातार गहरा काला धुआं निकल रहा था, जिसकी हवा कभी-कभी मेरी तरफ आकर मेरा दम घोंटने लगती थी। ये जेल के बावर्चीखानों की चिमनियां थीं। मैंने बाद में जेल के सुपरिण्टेण्डेण्ट से कहा कि इस मुसीबत से मुझे बचाने के वास्ते चिमनियों पर 'गैस-मास्क'"[१] लगा दें।

---

[१] दुश्मन की तरफ से जहरीली हवावाले बम-गोलों से रक्षा करने के लिए मुंह पर एक तरह का बुरका डाल दिया जाता है उसे 'गैस-मास्क' कहते हैं। —अनु०

यह शुरुआत ही अच्छी न थी और न इसके आइन्दा अच्छा होने की ही उम्मीद थी—वही अलीपुर-जेल की अपरिवर्तनीय लाल ईटों की इमारतों का दृश्य, और वही बावर्चीखानों की चिमनियों का धुआं रात-दिन सांस से मुंह में जाना, सामने था। मेरे सहन में पेड़ या हरियाली कुछ न थी। वह यों तो पत्थरों का पक्का और साफ़ बना हुआ था, पर रोज़-रोज़ धुआं जम जाने की वजह से बड़ा भद्दा और बदनुमा मालूम होता था। वहीं से पड़ोसवाले सहनों के एक-दो दरख़्तों के ऊपर के सिरे कुछ-कुछ नज़र आते थे। मेरे जेल में पहुंचने पर वे दरख़्त बिना पत्ते और फूलों के ठूंठ-से खड़े थे, पर धीरे-धीरे उनमें एक अजीब तबदीली होनी शुरू हुई और सब शाखाओं में हरी-हरी कोंपलें निकलने लगीं। कोंपलों में से पत्ते निकले और बड़ी जल्दी बढ़कर उन्होंने नंगी शाखाओं को ख़ुशनुमा हरियाली से ंक दिया। यह तब्दीली बड़ी सुखद मालूम हुई और अलीपुर-जेल भी ख़ुशनुमा हो गई।

इनमें से एक पेड़ पर चील का घोंसला था। इसमें मुझे दिलचस्पी पैदा हुई और मैं बड़े चाव से उसे देखा करता था। छोटे-छोटे बच्चे बढ़-बढ़कर उड़ने की अपनी पैतृक कला सीख गये। कभी-कभी तो ऐसी हैरत में डालनेवाली होशियारी से उड़कर झपटते कि सीधे किसी कैदी के हाथ या मुंह में से रोटी का टुकड़ा झपट लेते।

क़रीब-क़रीब शाम से सुबह तक मुझे अपनी कोठरी में बन्द रहना पड़ता था और जाड़े की लम्बी रातें काटे नहीं कटती थीं। घण्टों पढ़ते-पढ़ते थककर मैं अपनी कोठरी में इधर-से-उधर टहलना शुरू कर देता, चार-पांच क़दम आगे बढ़कर फिर लौटना पड़ता। उस वक़्त मुझे चिड़ियाघर में रीछ के अपने पिंजरे में इधर-से-उधर चक्कर काटने का दृश्य याद आ जाता था। कभी-कभी जब मैं बहुत ऊब उटता तो अपना प्रिय शीर्षासन करने लगता था।

रात का पहला पहर तो काफ़ी शान्त होता था; केवल शहर की मुख़्तलिफ़ आवाजें—ट्राम, ग्रामोफ़ोन या दूर से किसी के गाने की लहर—धीरे-धीरे पहुंचती थी। दूर से आते हुए धीमे गानों की यह आवाज़ मधुर मालूम पड़ती थी। पर रात में चैन नहीं था, क्योंकि जेल के पहरेदार इधर-उधर टहलते रहते थे और हर घंटे कोई-न-कोई मुआयना होता रहता था। लालटेन हाथ में लिये कोई अफ़-सर यह देखने आता कि कोई क़ैदी भाग तो नहीं गया है। हर रोज़ तीन बजे रात

से बड़ा शोर-गुल मचता और बर्तन घिसने व मांजने की आवाज़ आती । उस वक़्त रसोई में काम शुरू हो जाता था ।

प्रेसीडेन्सी-जेल के जैसी अलीपुर-जेल में भी एक बड़ी तादाद वार्डरों तथा पहरेदारों, अफ़सरों और क्लर्कों की थी । इन दोनों जेलों की आबादी मिलाकर नैनी-जेल की आबादी (२२००-२३००) के बराबर थी, परन्तु कर्मचारियों की तादाद इन हरेक जेल में नैनी-जेल के दुगुनी से भी ज्यादा थी । इनमें कई अंग्रेज़ वार्डर और पेंशनयाफ़्ता फ़ौजी अफ़सर भी थे । इससे यह एक बात तो साफ़ जाहिर होती थी कि अंग्रेज़ शासन युक्तप्रान्त के बजाय कलकत्ता में ज्यादा कठोर और ख़र्चीला है । किसी बड़े अफ़सर के पहुंचने पर जो नारा सब क़ैदियों को लगाना पड़ता था वह साम्राज्य की ताक़त का एक चिह्न और याद-दिहानी था । यह नारा था 'सरकार सलाम', जो लम्बी आवाज़ में और बदन की एक खास हरकत के साथ लगाना पड़ता था । मेरे सहन की चहारदीवारी पर से क़ैदियों के इस नारे की आवाज़ दिन में कई मर्तबा, और खासकर सुपरिण्टेण्डेण्ट के मुआयने पर हमेशा, आती थी । अपने सहन की ७ फुट ऊंची दीवार पर से मैं उस 'शाही छत्र' के ऊपरी भाग को देख सकता था जिसके साये में सुपरिण्टेण्डेट गश्त लगाता था ।

मैं हैरत में आकर सोचने लगा कि क्या यह अजीब नारा 'सरकार सलाम' और उसके साथ की जानेवाली बदन की यह हरकत किसी पुराने ज़माने की यादगार है या किसी मनचले अंग्रेज़ अफसर की ईजाद है ! मुझे पता तो नहीं, पर मेरा क़यास है कि यह अंग्रेज़ों की ईजाद है । इसमें एक ख़ास क़िस्म के ऐंग्लो-इंडियनपन की बू आती है । ख़ुशकिस्मती से इस नारे का रिवाज़ बंगाल और आसाम के सिवा युक्तप्रान्त या शायद हिन्दुस्तान के दूसरे सूबों में नहीं है । 'सरकार' की शान को क़ायम रखने के लिए जिस तरीके से इस सलामी पर ज़ोर दिया जाता है, वह मुझे असल में बड़ा ज़लील करनेवाला मालूम होता है ।

अलीपुर-जेल में एक नई बात देखकर तो मुझे खुशी हुई । यहां के साधारण क़ैदियों का खाना युक्तप्रान्त के जेलों के खाने से कहीं अच्छा था। जेल के खाने के मामले में तो युक्तप्रान्त दूसरे कई सूबों से पिछड़ा हुआ है ।

सुहावनी शरद ऋतु जल्द बीत गई, वसन्त भी भागता हुआ-सा निकल गया, और गरमी आ पहुंची । दिन-दिन गरमी बढ़ती गई । मुझे कलकत्ते की

आबहवा कभी पसन्द न थी, और कुछ दिनों के वहां रहने ने ही मुझे निस्तेज और उत्साहहीन बना दिया। जेल में तो हालत क़ुदरती तौर पर और भी बुरी होती है। समय बीतता गया और मेरी हालत में कोई तरक़्क़ी नहीं हुई। शायद कसरत के लिए जगह की कमी होने और ऐसी आबहवा में कई घंटों कोठरी में बन्द रहने से मेरी सेहत कुछ गिर गई और मेरा वज़न तेजी से घटने लगा। मुझे तालों, चटखनियों, सींखचों और दीवारों से नफ़रत-सी होने लग गई।

अलीपुर-जेल में एक महीना रहने के बाद मुझे अपने सहन के बाहर कुछ कसरत करने की सहूलियत दी गई। यह तब्दीली मुझे पसन्द आई और मैं सुबह-शाम जेल की बड़ी दीवार के सहारे घूमने लगा। धीरे-धीरे मैं अलीपुर-जेल और कलकत्ता की आबहवा का आदी हो गया और रसोईघर भी, मय उसके धुएं और शोर-गुल के, बर्दाश्त करने लायक बुराई हो गई। इस अरसे में मेरे लिए नये-नये मसले खड़े हुए और नई-नई परेशानियां मुझे तंग करने लगीं। बाहर की ख़बरें भी अच्छी नहीं थीं।

: ६० :

पूरब और पच्छिम में लोकतन्त्र

अलीपुर-जेल में जब मुझे मालूम हुआ कि सज़ा होने के बाद मुझे रोज़ाना कोई अखबार नहीं मिलेगा, तब मुझे बड़ा अचम्भा हुआ। जबतक मेरा मुक़दमा चलता रहा तबतक तो मुझे कलकत्ता का दैनिक 'स्टेट्समैन' मिलता रहा, लेकिन मुक़दमा खत्म होने के बाद दूसरे ही दिन से वह बन्द कर दिया गया। युक्तप्रान्त में तो १९३२ से 'ए' क्लास या पहले डिवीज़न के क़ैदियों को सरकार की पसन्द का एक दैनिक अख़बार हमेशा मिलता था। बाकी के दूसरे सूबों में भी ज्यादातर यही बात है। और मैं बिलकुल इसी खयाल में था कि यही कानून बंगाल के लिए भी लागू होगा। लेकिन वहां मुझे दैनिक 'स्टेट्समैन' के बजाय साप्ताहिक 'स्टेट्समैन' दिया गया। यह तो स्पष्ट ही है कि यह अखबार उन अंग्रेजों के लिए निकलता है, जो हिन्दुस्तान में हाकिमी या रोजगार करने के बाद वापस इंग्लैंड पहुँच जाते हैं। इसलिए इस अख़बार में हिन्दुस्तान की उन ख़बरों का सार रहता है, जिनमें उनकी दिलचस्पी होती है। इस साप्ताहिक में विदेशों की ख़बरें बिलकुल नहीं होती थीं। उनका न होना मुझे बहुत ही अखरता था, क्योंकि मैं उनको सिलसिलेवार पढ़ते रहना चाहता था। खुशक़िस्मती से मुझे साप्ताहिक 'मचेस्टर गार्जियन' अख़बार भी मिलने लगा था, जिससे मुझे यरोप के और अन्तर्राष्ट्रीय मामलों की जानकारी हो जाती थी।

फ़रवरी में जब मैं गिरफ़्तार हुआ और जब मुझपर मुक़दमा चला तभी यूरोप में बड़ी उथल-पुथल और झगड़े हुए। फ्रांस में भारी खलबली मची, जिसमे फासिस्टों ने दंगे किये और उसकी वजह से राष्ट्रीय सरकार क़ायम हुई। इससे भी बुरी बात यह थी कि आस्ट्रिया का चांसलर डालफस मजदूरों पर गोलियां चलवा रहा था, और सामाजिक लोकतन्त्र के विशाल भवन को ढा रहा था। आस्ट्रिया में होनेवाली ख़ून-ख़राबी की ख़बर सुनकर मुझे बड़ा दुःख हुआ। यह दुनिया कैसी बुरी और ख़ूनी जगह है और इन्सान भी अपने स्थापित स्वार्थों की हिफ़ाज़त

करने के लिए कैसा बर्बर बन जाता है ? ऐसा मालूम पड़ता था कि तमाम यूरोप और अमेरिका में फ़ासिज़्म का ज़ोर बढ़ता जाता है । जब जर्मनी में हिटलर का आधिपत्य हुआ तब मुझे यह मालूम होता था कि उसकी कूमत ज्यादा दिनों तक नहीं चल सकेगी, क्योंकि उसने जर्मनी की आर्थिक कठिनाइयों का कोई हल पेश नहीं किया था । इसी तरह जब दूसरी जगह भी फ़ासिज़्म फैला तब भी, मैंने अपने मन को यह सोचकर सान्त्वना दी कि यह प्रतिक्रिया की आख़िरी मंज़िल है; इसके बाद सब बन्धन टूट जायंगे । लेकिन मैं अब यह सोचने लगा, कि मेरा यह ख़याल कहीं मेरी ख़्वाहिश से ही तो नहीं पैदा हुआ ! क्या सचमुच यह बात इतनी साफ दिखाई देती है कि फ़ासिज़्म की यह लहर इतनी आसानी से या इतनी जल्दी पीछे लौट जायगी ? यदि ऐसी हालत पैदा हो गई, जो फ़ासिस्ट डिक्टेटरों के लिए असह्य हो, तो क्या वे 'हुकूमत की बागडोर को छोड़ देने के बदले' अपने देशों को सत्यानाशी लड़ाई में न जुटा देंगे ! ऐसी लड़ाई का नतीजा क्या होगा !

इस बीच में फ़ासिज़्म कई क़िस्मों और तरह-तरह की शक्लों में फैलता गया । स्पेन—वह 'ईमानदार लोगों का नया प्रजातन्त्र', जिसे किसी ने सरकारों का ख़ास 'मैंचेस्टर गार्जियन' कहा था—बहुत पीछे जाकर प्रतिक्रिया के गड्ढे में जा पड़ा था । स्पेन के लिबरल नेताओं के मनोहर शब्द और भली-भली बातें देश की अधोगति न रोक सकीं । हर जगह मौजूदा हालतों का मुक़ाबला करने में लिबरल नीति बिल्कुल बेकार साबित हुई है । यह दल शब्दों और वाक्यों से चिपटा रहता है और समझता है कि बातें काम की जगह ले सकती हैं । इसी-लिए जब कभी नाज़ुक वक्त आता है तब वह उसी तरह आसानी से ग़ायब हो जाता है जैसे सिनेमा के अन्त में तस्वीर ।

आस्ट्रिया के दुःखान्त नाटक के बारे में 'मैंचेस्टर गार्जियन' के अग्रलेखों को मैं बड़ी दिलचस्पी के साथ पढ़ता था और उनकी क़द्र भी करता था । "और इस ख़ूनी लड़ाई के बाद किस रूप में आस्ट्रिया हमारे सामने आया ? एक ऐसा आस्ट्रिया जिसपर यूरोप का सबसे ज्यादा प्रतिक्रियावादी दल राइफलों और मशीनगनों से हुकूमत कर रहा है ।" "अगर इंग्लैंड आज़ादी का हामी है तो उसके प्रधान मन्त्री का मुंह इतना बन्द क्यों है ? डिक्टेटरशाहियों की उन्होंने जो तारीफ़ें की हैं वे हमने सुनी हैं; हमने उन्हें यह कहते हुए सुना है कि डिक्टेटरी 'कौम की

आत्मा को ज़िन्दा रखती है' और 'एक नया जलवा और नई ताक़त पैदा करती है।' लेकिन इंग्लैंड के प्रधान मन्त्री को उन ज़ुल्मों की बाबत भी तो कुछ कहना चाहिए, जो, चाहे वे किसी भी देश में हों, यद्यपि शरीर का नाश करते हैं किन्तु उससे कहीं अधिक बार आत्मा को बुरी मौत मारते हैं।"

लेकिन अगर 'मैंचेस्टर गार्जियन' आज़ादी का एक ऐसा हामी है, तो क्या वजह है कि जब हिन्दुस्तान में आज़ादी को कुचला जाता है तब उसका मुंह बन्द हो जाता है ? हम लोगों को भी तो न सिर्फ शारीरिक तकलीफें उठानी पड़ी हैं, बल्कि उससे भी बदतर आत्मा के कष्ट भी झेलने पड़े हैं।

"आस्ट्रिया का लोकतन्त्र नष्ट कर दिया गया है, यद्यपि उसके लिए यह बात हमेशा गौरव की रहेगी कि वह मरते दम तक लड़ा और इस तरह उसने एक ऐसी कहानी पैदा कर दी, जो आगे आनेवाले बरसों में किसी दिन यूरोपीय आज़ादी की आत्मा को फिर जगा देगी।"

"यूरोप ने, जो कि आज़ाद नहीं है, सांस लेना बन्द कर दिया है, अब उसमें स्वस्थ भावनाओं का संचार नहीं होता, धीरे-धीरे उसका दम घुटने लगा है और उसकी जो मानसिक बेहोशी नज़दीक आ रही है, उसे सिर्फ तेज़ झकझोरों या भीतरी दौरों और दायें, बायें, हर तरफ ज़ोर के वार करने से ही बचाया जा सकता है . . . । राइन नदी से लेकर यूराल पहाड़ तक यूरोप एक बड़ा जेलखाना बना हुआ है।"

ये वाक्य कैसे हृदय-ग्राही थे ! मेरे दिल में इनकी प्रतिध्वनि होती थी; लेकिन साथ ही मैं सोचता कि हिन्दुस्तान की बाबत क्या है ? यह कैसे हो सकता है कि 'मैंचेस्टर गार्जियन' या इंग्लैंड में जो बहुत-से आज़ादी के दीवाने हैं, वे हमारी हालत से इतने उदासीन रहते हैं ? दूसरी जगह जिन बातों की वे इतने जोरों से निन्दा करते हैं, जब वे ही बातें हिन्दुस्तान में होती हैं, तो उनकी तरफ वे क्यों नहीं देखते ? बीस बरस हुए, महायुद्ध शुरू होने से कुछ ही पहले, अंग्रेजों के एक बड़े लिबरल नेता ने, जो उन्नीसवीं सदी की परम्परा में पले थे, स्वभाव से फूंक-फूंककर कदम रखते थे और अपनी भाषा पर संयम रखते थे, यह कहा था कि "इससे पहले कि क़ानून पर ताक़त की दुःखदायी जीत को मैं चुपचाप देखूं, मैं यह देखना पसन्द करूंगा कि हमारे देश का उल्लेख इतिहास के पन्ने से हटा दिया जाय।" कितना बहादुराना ख़याल है ! और कैसे धारा-प्रवाह ढंग

से कहा गया है ! इंग्लैंड के बहादुर नौजवान लाखों की तादाद में इस ख़याल को पूरा करने के लिए लड़ाई के मैदान में गये । लेकिन अगर कोई हिन्दुस्तानी मि० एस्क्विथ के समान बयान देने की हिम्मत करे, तो उसका क्या हाल होगा !

राष्ट्रीय मनोवृत्ति बहुत ही जटिल होती है । हममें से ज़्यादातर लोग यह समझते हैं कि हम बड़े न्यायी और निष्पक्ष हैं । हमेशा ग़लती दूसरा शख़्स या दूसरा मुल्क ही करता है । हमारे दिमाग़ में कहीं-न-कहीं यह इत्मीनान छिपा रहता है कि हम वैसे नहीं हैं जैसे दूसरे लोग हैं, हममें और दूसरों में ज़रूर फ़र्क़ है—यह दूसरी बात है कि शराफ़त की वजह से हम बराबर उस बात को न कहें । अगर खुशक़िस्मती से हम किसी ऐसी शाही क़ौम के होते, जो दूसरे मुल्कों के भाग्य की विधाता हो, तब तो हमारे लिए यह इत्मीनान न करना भी मुश्किल हो जाता कि हमारी सर्वोत्तम दुनिया में सभी बातें सर्वोत्तम हैं, और जो लोग शान्ति के लिए आन्दोलन करते हैं, वे केवल स्वार्थी और भ्रम में पड़े हुए बेवक़ूफ़ ही नहीं हैं, बल्कि हमसे अनेक लाभ प्राप्त करके भी कृतघ्नता दिखानेवाले हैं ।

अंग्रेज़, टापू में रहनेवाली और संकुचित दृष्टिवाली जाति है और इतनी मुद्दत तक की कामयाबी और खुशहाली ने उसे इतना घमंडी बना दिया है कि अंग्रेज क़रीब-क़रीब दूसरी सब क़ौमों को घृणा की दृष्टि से देखते हैं । जैसा कि किसीने कहा है, 'उनकी राय में इंग्लैंड के समुद्र से आगे हब्शी-ही-हब्शी रहते है ।' लेकिन यह तो एक बिल्कुल साधारण बात है । शायद ब्रिटिश क़ौम के ऊंचे दरजे के लोग दुनिया को ऊंच-नीच के हिसाब से इस तरह बांटेंगे—(१) सबसे पहले ब्रिटेन, इसके बाद बहुत दूर तक कुछ नहीं, फिर (२) ब्रिटिश उपनिवेश—इनमें भी सिर्फ़ सफ़ेद चमड़ीवाले और अमेरिका (सिर्फ़ ऐंग्लो-सेक्सन अमेरिका—डागो, इटालियन वग़ैरा नहीं), (३) पश्चिमी यूरोप, (४) बाकी यूरोप, (५) दक्षिणी अमेरिका (लैटिन कौम); और फिर बहुत दूर तक कोई नहीं । इसके बाद और सबसे नीचे के नम्बर पर एशिया और अफ्रीका की काली-पीली, भूरी क़ौमों के आदमी, जो कम-बढ़ कर सब एक ही बोरे में भर दिये जा सकने योग्य समझे जाते हैं ।

इस निम्नतम दरजे में हम लोग उस ऊंचाई से कितनी दूर हैं, जिसपर हमारे शासक रहते हैं ! ऐसी हालत में क्या यह कोई अचरज की बात है कि जब वे

उतनी ऊंचाई से हमारी तरफ देखते हैं तब उनकी नज़र धुंधली हो जाती है, और जब हम लोकतन्त्र और आज़ादी की बातें करते हैं तब वे हमसे चिढ़ते हैं ! ये शब्द हमारे इस्तेमाल के लिए थोड़े ही गढ़े गये थे ! क्या यह बात एक बड़े लिबरल राजनीतिज्ञ जॉन मार्ले ने नहीं कही थी कि वह बहुत दूर के धुंधले भविष्य में भी इस बात की कल्पना तक नहीं कर सकते कि हिन्दुस्तान में लोकतन्त्रीय संस्थाएं कायम होंगी ! हिन्दुस्तान के लिए लोकतन्त्र ऐसा ही है, जैसे कनाडा के लिए फरों का बहुत गरम कोट[१] । और इसके बाद उस मज़दूर-दल ने, जो समाजवाद का झंडा लिये फिरता था, सब पद-दलित लोगों का हिमायती बनता था, अपनी जीत की पहली खुशी में हमें सन् १९२४ के बंगाल-आर्डिनेंस को फिर से जारी करने का इनाम दिया, और उसके दूसरे शासन-काल में हमारा हाल और भी बुरा रहा । मुझे इस बात का पूरा भरोसा है कि उनमें से कोई हमारा बुरा नहीं चीतता, और जब वे लोग हमें अपने व्याख्याता के सर्वोत्तम ढंग से 'परम प्रिय विश्व बन्धु' कहकर पुकारते हैं तब वे अपनी कर्त्तव्यपरायणता पर अपनेको कृतकृत्य समझते हैं । लेकिन उनकी राय में हम उतने ऊंचे नहीं हैं, जितने कि वे खुद है, अतः उनके विचार में दूसरे पैमाने से ही हमारी जांच होनी चाहिए । भाषा और सांस्कृतिक भेद-भावों के कारण अंग्रेज और फ्रांसीसी के लिए यह काफ़ी मुश्किल है कि वे एक ही तरह से सोचें । ऐसी हालत में एक एशियाई में और एक अंग्रेज में तो और भी ज्यादा फ़र्क़ होगा ।

हाल ही में, हाउस ऑव लार्ड्स में, हिन्दुस्तान को दिये जानेवाले शासन-सुधारों के प्रश्न पर बहसें हो रही थीं और अनेक सम्माननीय लार्डों ने उस बहस में बहुत-से विचारपूर्ण व्याख्यान दिये । इनमें से एक थे लार्ड लिटन, जो हिन्दुस्तान के एक सूबे में गवर्नर रह चुके थे और कुछ समय के लिए जिन्होंने वाइसराय की हैसियत से भी काम किया था । अक्सर कहा जाता है कि वह एक उदार और हिन्दुस्तान से सहानुभूति रखनेवाले गवर्नर थे । उनके व्याख्यान की रिपोर्ट के अनुसार, उन्होंने कहा कि "भारत-सरकार कांग्रेसी नेताओं की बनिस्बत सारे हिन्दुस्तान की कहीं अधिक प्रतिनिधि है । वह हिन्दुस्तान के हाकिमों की, फौज की, पुलिस की, राजाओं की, लड़नेवाले रेजीमेण्टों की और हिन्दू तथा मुसलमान

---

१. यानी उसकी आबोहवा के लिए खिलाफ ।—अनु०

वकालत की जाती है ।" "मुझे विश्वास है कि हमारे राज्य की अन्तरात्मा यह महसूस करती है कि हमारा मौजूदा विधान क़रीब-क़रीब असली राजनैतिक कामों के लिए काफी लोकतन्त्रीय है ।"[१] मेरे ख़याल में मैसूर की 'अन्तरात्मा' वहां के शासक और ीवान की दार्शनिक भावना है । मैसूर में इन दिनों जो लोकतन्त्र जारी है, वह स्वेच्छाचार से किसी क़दर भिन्न नहीं है ।

अगर लोकतन्त्र हिन्दुस्तान के लिए मौजूं नहीं है, तो ऐसा मालूम पड़ता है कि वह मिस्र के लिए भी उतना ही बेमौजूं है । इन दिनों जेल में मुझे दैनिक 'स्टेट्समैन' दिया जाता है । उसमें मैंने मिस्र की राजधानी काहिरा से भेजा हुआ लेख अभी हाल ही में पढ़ा है ।[२] इस लेख में कहा गया है कि वहां के प्रधानमन्त्री नसीमपाशा के इस ऐलान ने कि उन्हें यह उम्मीद है कि तमाम राजनैतिक पार्टियां, ख़ासतौर पर वफ़्द-पार्टी, सहयोग करेंगी, और एक होकर या तो राष्ट्रीय परिषद् या विधान-पंचायत का चुनाव करके उनके ज़रिये नया विधान तैयार करायेंगी', जिम्मेदार लोगों में कुछ कम भय पैदा नहीं किया है; क्योंकि आख़िर इसके मानी यह होते हैं कि लोकतन्त्रीय सरकार फिर से क़ायम हो जाय, जो, इतिहास जाहिर करता है, मिस्र के लिए हमेशा खतरनाक साबित हुई है, क्योंकि उसकी प्रवृत्तियां पिछले ज़माने में हमेशा हुल्लड़पन से दब जाने की रही हैं । मिस्र की आन्तरिक राजनीति और उसकी प्रजा की जानकारी रखनेवाले किसी भी शख़्स को क्षण-भर के लिए भी इस बात में कोई शक नहीं हो सकता कि चुनाव का नतीजा यह होगा कि फिर वफ़्द-पार्टी का बहुमत हो जाय । इसलिए इस कार्रवाई को रोकने का बहुत जल्द प्रयत्न न किया गया तो हमपर बहुत जल्दी ऐसा शासन आ जायगा जो घोर उग्र लोकतन्त्रीय, विदेशियों का विरोधी और क्रान्तिकारी होगा ।"

यह भी कहा गया है कि चुनाव में "वफ़्द-पार्टी का मुकाबला करने के लिए" शासकों पर प्रभाव डालना चाहिए, लेकिन बदक़िस्मती यह है कि "प्रधान-मन्त्री को क़ानून की पाबन्दी का बहुत ख़याल रहता है ।" इसलिए हमसे कहा गया है कि अब सिर्फ़ एक ही रास्ता रह जाता है और वह यह कि ब्रिटिश सरकार बीच

---

[१]. मैसूर २१ जून १९३४, पृष्ठ ७३८ का भी नोट देखिये ।

[२]. १९ दिसम्बर १९३४।

में पड़े और "यह बात सबको ज़ाहिर कर दे कि वह इस क़िस्म के शासन का फिर से क़ायम होना बर्दाश्त नहीं करेगी।"

ब्रिटिश सरकार क्या करेगी या क्या नहीं करेगी और मिस्र में क्या होगा, मुझे कुछ पता नहीं।[1] लेकिन शायद आज़ादी के दीवाने एक अंग्रेज़ द्वारा पेश की गई दलील से हमें मिस्र और हिन्दुस्तान की हालत की जटिलता को समझने में थोड़ी मदद ज़रूर मिलती है। जैसा कि 'स्टेट्समैन' ने एक अग्रलेख में कहा है—"मूल बुराई तो यह है कि ज़िन्दगी के जिस तरीके से और दिमाग़ के जिस रुख़ से लोकतन्त्र का विकास होता है, उससे साधारण मिस्री वोटर की ज़िन्दगी के तरीके और उसके दिमाग़ के रुख़ का मेल नहीं मिलता।" इस मेल के न मिलने की मिसाल भी आगे दी गई है। "यूरोप में अक्सर लोकतन्त्र इसलिए नाकामयाब हुआ है कि वहां बहुत-से दल क़ायम हो गये हैं। लेकिन मिस्र की मुश्किल तो यह है कि वहां सिर्फ़ एक वफ्द-पार्टी ही है।"

हिन्दुस्तान में हमसे कहा जाता है कि हमारा साम्प्रदायिक भेदभाव हमारी लोकतन्त्र की तरक्क़ी का रास्ता रोकता है और इसलिए अकाट्य तर्क के साथ इन भेद-भावों को हमेशा स्थायी बनाया जाता है। हमसे यह भी कहा जाता है कि हम लोगों में काफ़ी एका नहीं है। मिस्र में किसी किस्म का साम्प्रदायिक भेदभाव नहीं है और ऐसा मालूम होता है कि वहां पूर्ण राजनैतिक एकता मौजूद है। लेकिन वहां यही एकता उसके लोकतन्त्र और उसकी स्वाधीनता के रास्ते का रोड़ा बन जाती है। सचमुच लोकतन्त्र का रास्ता सीधा और तंग है। पूर्वी देशों के लिए लोकतन्त्र का सिर्फ़ एक ही अर्थ है, और वह यह कि साम्राज्यवादी शासक सत्ता जो हुक्म दे उसे बजा लाया जाय और उसके किसी भी स्वार्थ में हाथ न डाला जाय। इन शर्तों के मान लेने पर लोकतन्त्रीय स्वाधीनता वहां भी बेरोक-टोक फूल-फल सकती है।

---

[1]. नवम्बर १९३५ में मिस्र पर अंग्रेज़ों के अधिकार के ख़िलाफ़ मुल्क-भर में दंगे हुए थे।

: ६१ :

नैराश्य

"अब तो यही लालसा है मां, जाऊं आकुल लेट वहां,
ठंडी-ठंडी मधुर मनोरम हरियाली हो बिछी जहां;
मां धरणी ! चरणों पर तेरे मैं हूं निपट निराश-अधीन,
थके हुए इस बालक के वे स्वप्न सभी हो गये विलीन।"[1]

अप्रैल आ गया। अलीपुर में, मेरी कोठरी में, मेरे पास बाहर की घटनाओं की बाबत अफ़वाहें पहुंचीं—ऐसी अफ़वाहें जो दुःख और बेचैनी पैदा करनेवाली थीं। एक दिन जेल में सुपरिण्टेण्डेण्ट ने मुझे इत्तिला दी कि गांधीजी ने सत्याग्रह की लड़ाई वापस ले ली है। मुझे इससे ज़्यादा कुछ मालूम नहीं हो सका। मुझे यह ख़बर अच्छी नहीं लगी और जिस चीज़ को मैं इतने बरसों से इतना चाहता था उसको इस तरह वापस ले लिये जाने पर रंज हुआ। फिर भी मैंने अपनेको समझाया कि उसका अन्त होना तो लाज़िमी था। अपने मन में मैं यह जानता था कि कम-से-कम कुछ वक्त के लिए सत्याग्रह की लड़ाई कभी-न-कभी बन्द करनी ही पड़ेगी। मुमकिन है कि कुछ शख़्स नतीजों की परवा न करके अनिश्चित काल तक लड़ते रहें, लेकिन राष्ट्रीय संस्थाएं ऐसा नहीं करतीं। मुझे इस बात में कोई शक नहीं था कि गांधीजी ने देश की स्थिति और अधिकांश कांग्रेसवादियों के मनोभावों को ठीक तरह समझ लिया था, और यद्यपि जो कुछ हुआ वह अच्छा नहीं मालूम होता था, फिर भी मैंने अपने-आपको नवीन परिस्थिति के अनुकूल बनाने की कोशिश की।

अस्पष्ट रूप में यह चर्चा भी मुझे सुनाई दी कि कौंसिल में जाने की गरज़ से पुरानी स्वराज-पार्टी को फिर ज़िन्दा करने की नई कोशिश की जा रही है। यह बात भी मुझे अनिवार्य मालूम होती थी और मेरी तो बहुत दिनों से यह राय

---

[1]. अंग्रेजी पद्य का भावानुवाद।

थी कि कांग्रेस अगले चुनावों से अलग नहीं रह सकती। जब मैं पांच महीने जेल से बाहर था, तब मैंने कौंसिलों की तरफ़ बढ़नेवाली इस प्रवृत्ति को रोकने की कोशिश की थी; क्योंकि मैं समझता था कि अभी वह चर्चा वक्त से पहले थी, और उसकी वजह से न सिर्फ़ सीधी लड़ाई से ही लोगों का ध्यान हटता था, बल्कि सामाजिक क्रान्ति के उन नये ख़यालों के विकास में भी बाधा पड़ती थी, जो कांग्रेसवालों के दिलों में घर करते जा रहे थे। मैं समझता था कि यह संकट जितने दिन ज़्यादा बना रहेगा, उतने ही ज़्यादा ये ख़याल हमारे यहां सर्वसाधारण और पढ़े-लिखे लोगों में फैलेंगे और हमारी राजनैतिक और माली हालत की तह में जो असलियत है वह ज़ाहिर हो जायगी। जैसा कि लेनिन ने कहीं कहा है—"कोई भी और हरेक राजनैतिक संकट उपयोगी है; क्योंकि वह छिपी हुई चीज़ों को रोशनी में ले आता है। राजनीति की तह में जो असली ताक़तें कामकर रही हैं, उन्हें दिखा देता है। वह झूठ का भ्रम पैदा करनेवाले शब्दजाल का और गपोड़ों का भंडाफोड़ कर देता है; वह असली बातों को पूरी तरह दिखा देता है, और तथ्य क्या है इस बात को समझने के लिए लोगों को मजबूर कर देता है।" मुझे उम्मीद थी कि इस क्रिया का परिणाम यह होगा कि इससे कांग्रेसवालों का दिमाग़ साफ़ हो जायगा और कांग्रेस एक निश्चित ध्येयवाले लोगों की मज़बूत जमात हो जायगी। शायद उसके कुछ कमज़ोर हिस्से उसे छोड़ जायंगे। लेकिन इससे कोई हर्ज न होगा और जब कभी उसूली सीधी लड़ाई का मोर्चा ख़त्म करने और वैधानिक व कानूनी तरीक़ों के नाम से पुकारे जानेवाले साधनों से काम लेने का वक्त आयेगा, तब कांग्रेस के आगे बढ़े हुए, वास्तव में क्रियाशील पक्ष के लोग इन तरीक़ों का भी, हमारे अन्तिम लक्ष्य की व्यापक दृष्टि से, इस्तेमाल करेंगे।

ज़ाहिरा तौर पर मालूम होता था कि वह वक्त आ गया है। लेकिन मुझे यह देखकर बड़ी परेशानी हुई कि जो लोग दरअसल सत्याग्रह की लड़ाई और कांग्रेस के कारगर कामों के आधार-स्तम्भ रहे हैं, वे पीछे को हट रहे हैं, और दूसरे लोग जिन्होंने ऐसा कोई काम नहीं किया, अपनी हुकूमत जमाने लगे हैं।

इसके कुछ दिन बाद मेरे पास साप्ताहिक 'स्टेट्समैन' आया और उसमें मैंने वह वक्तव्य पढ़ा जो गांधीजी ने सत्याग्रह को वापस लेते हुए दिया था। उसे पढ़कर मुझे हैरत हुई और मेरा दिल बैठ गया। मैंने उसे बार-बार पढ़ा, और सत्याग्रह तथा दूसरी बातें मेरे दिमाग़ से ग़ायब हो गईं और

उसकी जगह शक और संघर्ष से मेरा दिमाग़ भर गया। गांधीजी ने लिखा था—"इस वक्तव्य की प्रेरणा सत्याग्रह-आश्रम के साथियों से हुई एक आपसी बातचीत का परिणाम है। . . . इसका मुख्य कारण वह आंखें खोलनेवाली ख़बर थी, जो मुझे अपने एक बहुत पुराने और मूल्यवान साथी के सम्बन्ध में मिली थी। वह जेल का काम पूरा करने को राज़ी न थे और उसके बजाय किताबें पढ़ना पसन्द करते थे। यह सबकुछ सत्याग्रह के नियमों के सर्वथा विरुद्ध था। इस बात से इस मित्र की, जिसे मैं बहुत अधिक प्यार करता था, दुर्बलताओं की अपेक्षा मुझे अपनी दुर्बलताओं का अधिक बोध हुआ। उन मित्र ने कहा था कि मेरा ख़याल है कि आप मेरी दुर्बलता को जानते हैं, लेकिन मैं अन्धा था। नेता में अन्धापन एक अक्षम्य अपराध है। मैंने फ़ौरन यह भांप लिया कि कम-से-कम इस समय के लिए तो मैं अकेला ही सक्रिय सत्याग्रही रहूंगा।"

अगर गांधीजी के मित्र में यह दुर्बलता या दोष था—अगर वह सचमुच दुर्बलता थी—तो भी यह एक मामूली-सी बात थी। मैं यह स्वीकार करता हूं कि मैं अक्सर इस ज़ुर्म का अपराधी रहा हूं और मुझे उसपर रत्ती-भर भी अफ़सोस नहीं है। लेकिन अगर वह मामला बहुत भारी भी होता. तो भी क्या वह महान् राष्ट्रीय संग्राम, जिसमें बीसियों हजार प्रत्यक्ष रूप से और लाखों आदमी अप्रत्यक्ष रूप से लगे हुए हैं, महज़ इसलिए कि किसी एक शख्स ने कोई ग़लती कर डाली, अचानक रोक दिया जाना चाहिए? यह बात मुझे बहुत भयंकर और हर तरह अनीतिमय मालूम हुई। मैं इस बात की धृष्टता तो नहीं कर सकता कि मैं यह बताऊं कि सत्याग्रह क्या है और क्या नहीं है; लेकिन अपने साधारण तरीक़े पर मैंने भी कुछ आचार-सम्बन्धी आदर्शों के पालन करने का प्रयत्न किया है। गांधीजी के इस वक्तव्य से मेरे उन सब आदर्शों को धक्का लगा और वे सब गड़बड़ा गये। मैं यह जानता हूं कि गांधीजी आमतौर पर सहज-ज्ञान से काम करते हैं। गांधीजी उ[illegible]त्मा की प्रेरणा या प्रार्थना का प्रतिफल कहते हैं, लेकिन मैं उसे सहज-ज्ञा[illegible] ही पसन्द करता हूं, और अक्सर ज़्यादातर उनका यह सहज-ज्ञान सही निक[illegible]ा है। उन्होंने बराबर यह दिखा दिया है कि जनता की मनोवृत्ति को समझने और उपयुक्त समय पर काम करने की उनमें कैसी विलक्षण सूझ है। काम कर डालने के बाद उस काम को ठीक ठहराने के लिए वह पीछे से जो कारण पेश करते हैं, वे आमतौर पर काम कर चुकने के बाद

के सोचे हुए ख़यालात होते हैं और उनसे शायद ही कभी किसीको पूरी तसल्ली होती हो। संकटकाल में नेता या कर्मवीर पुरुष क़रीब-क़रीब हमेशा किसी अज्ञात प्रेरणा से काम करते हैं और फिर उसके लिए कारण ढूंढ़ने लगते हैं। मैंने यह भी महसूस किया कि सत्याग्रह को स्थगित करके गांधीजी ने ठीक ही किया। लेकिन उसे स्थगित करने के जो कारण उन्होंने बताये, वे बुद्धि के लिए अपमान-जनक और एक राष्ट्रीय आन्दोलन के नेता के लिए बहुत ही आश्चर्यजनक मालूम होते थे। इस बात का तो उन्हें पूरा हक था कि वह अपने आश्रम में रहनेवालों के साथ जैसा चाहते बर्ताव करते; क्योंकि उन लोगों ने सब तरह की प्रतिज्ञाएं ले रखी थीं और एक तरह का निश्चित अनुशासन स्वीकार कर रखा था। लेकिन कांग्रेस ने कोई ऐसी बात नहीं की थी। मैंने ऐसी कोई बात नहीं की थी। फिर हमें उन सब कारणों के लिए, जो आध्यात्मिक और रहस्यमय मालूम होते थे और जिनमें हमें कोई दिलचस्पी नहीं थी, कभी इधर, कभी उधर, क्यों फेंका जाता था? क्या कभी ऐसे आधारों पर किसी राजनैतिक आन्दोलन के चलाये जाने की कल्पना की जा सकती थी? मैं यह मानता हूं कि सत्याग्रह के नैतिक पहलू को अपनी समझ के मुताबिक मैंने एक हद तक स्वीकार कर लिया था। उसका यह बुनियादी पहलू मुझे पसन्द था और उससे ऐसा मालूम होता था कि वह राजनीति को अधिक उच्च और श्रेष्ठ पद पर पहुंचा देगा। मैं यह भी मानने के लिए तैयार था कि महज़ उद्देश्य अच्छा होने से उसे हासिल करने के लिए काम में लाये जानेवाले सब प्रकार के उपाय अच्छे नहीं हैं। लेकिन वह नई बात या नई व्याख्या उससे कहीं ज्यादा दूर जाती थी और उससे कुछ नई बातें उठ खड़ी होने की सम्भावना थी, जिन्होंने मुझे विचलित कर दिया।

उस सारे वक्तव्य ने मुझे बहुत ज्यादा विचलित और परेशान किया। उसके अन्त में गांधीजी ने कांग्रेसवालों को जो सलाह दी वह यह थी—"उन्हें आत्मत्याग और स्वेच्छापूर्वक ग्रहण की गई दरिद्रता की कला और सुन्दरता को समझना होगा; उन्हें राष्ट्र-निर्माण के काम में लग जाना चाहिए, उन्हें स्वयं हाथ से कात-बुनकर खद्दर का प्रचार करना चाहिए, उन्हें जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में एक दूसरे के साथ निर्दोष सम्पर्क स्थापित करके लोगों के हृदयों में साम्प्रदायिक ऐक्य का बीज बोना चाहिए, स्वयं अपने उदाहरण द्वारा अस्पृश्यता का प्रत्येक रूप में निवारण करना चाहिए और नशेबाज़ों के साथ सम्पर्क स्थापित करके और अपने

आचरण को पवित्र रखकर मादक चीज़ों के त्याग का प्रसार करना चाहिए। ये सेवाएं हैं जिनके द्वारा ग़रीबों की तरह निर्वाह हो सकता है। जो लोग ग़रीबी में न रह सकते हों, उन्हें किसी छोटे राष्ट्रीय धन्धे में पड़ जाना चाहिए, जिससे वेतन मिल जाये।"

यह था वह राजनैतिक कार्यक्रम, जिसे पूरा करने के लिए हमसे कहा गया था। ऐसा मालूम पड़ता था कि एक बहुत बड़ा अन्तर मुझसे उनसे अलग कर रहा है। अत्यन्त तीव्र वेदना के साथ मैंने यह महसूस किया कि भक्ति के वे सूत्र, जिन्होंने इतने वर्षों से उनसे बांध रक्खा था, टूट गये हैं। बहुत दिनों से मेरे भीतर एक मानसिक द्वन्द्व हो रहा था। गांधीजी ने जो बातें की उनमें बहुत-सी बातें न तो मेरी ही समझ में आईं, न वे मुझे पसन्द ही पड़ीं। सत्याग्रह की लड़ाई जारी रहते ए, उसी बीच में जबकि उनके साथी लड़ाई की मंझधार में थे, उनका उपवास और दूसरी बातों में अपनी ताक़त लगाना, उनकी निजी और स्वनिर्मित उलझनें जिन्होंने उन्हें इस असाधारण स्थिति में डाल दिया कि जेल से बाहर रहते हुए भी उन्हें अपने लिए यह प्रतिज्ञा करनी पड़ी कि वह राजनैतिक आन्दोलन में भाग नहीं लेंगे, उनकी नई-नई निष्ठाएं और नई प्रतिज्ञा, जिन्होंने उनकी पुरानी निष्ठाओं और प्रतिज्ञाओं और कामों को, जो उन्होंने बहुत-से अपने साथियों के साथ लिये थे, और जो अबतक पूरे न हो सके थे, पीछे धकेल दिया। इन सबने मुझे बहुत ही परेशान किया। मैं चन्द दिन जो जेल से बहार रहा, उस समय मैंने इन तथा दूसरे मतभेदों को बहुत ही महसूस किया। गांधीजी ने कहा था कि हमारे मतभेदों का कारण स्वभावों की भिन्नता है। लेकिन शायद बात इससे और भी आगे बढ़ी हुई थी। मैंने यह अनुभव किया कि बहुत-से मामलों में मेरे साफ़ और निश्चित विचार हैं और वे उनके विचारों से नहीं मिलते। और फिर भी अबतक में इस बात की कोशिश करता रहा कि जहां तक हो सके, राष्ट्रीय आज़ादी के जिस ध्येय के लिए कांग्रेस कोशिश कर रही थी और जिसके प्रति मेरी अत्यन्त भक्ति थी, उसके सामने मैं अपने ख़यालों को दबायें रक्खूं। अपने नेता और अपने साथियों के प्रति वफ़ादार और विश्वासपात्र बनने की मैंने हमेशा कोशिश की; क्योंकि मेरे आध्यात्मिक दृष्टिबिन्दु से ध्येय के प्रति निष्ठा और अपने साथियों के प्रति वफ़ादारी का स्थान बहुत ऊंचा है। जब-जब मैंने महसूस किया मुझे अपने आध्यात्मिक विश्वास के लंगर से

दूर खीचा जा रहा है, तब-तब मुझे बड़े-बड़े अन्तर्द्वन्द्व लड़ने पड़े हैं, लेकिन उस वक़्त मैंने किसी-न-किसी तरह समझौता कर लिया। शायद ऐसा करके मैंने ग़लती की; क्योंकि यह तो किसी के लिए ठीक नहीं हो सकता कि वह अपने आध्यात्मिक लंगर को छोड़ दे। लेकिन आदर्शों की इस टक्कर में मैं अपने साथियों के प्रति वफ़ादारी के आदर्श से चिपटा रहा और यह आशा करता रहा कि घटनाओं की रेल-पेल और हमारी लड़ाई का विकास उन सब मुश्किलों को दूर कर देगा जो मुझे दुःख दे रही हैं, और मेरे साथियों को मेरे दृष्टिकोण के नज़दीक ले आयेगा।

और अब तो यकायक मुझे अलीपुर की उस जेल में बड़ा अकेलापन मालूम होने लगा। जीवन बहुत ही दूभर हो गया, जैसे भयावना सूनापन हो। जीवन में मैंने जो कितने ही कठोर सत्य अनुभव किये हैं, उनमें सबसे अधिक कठोर और दुःखदायी सत्य इस समय मेरे सामने था, और वह यह था कि महत्वपूर्ण विषयों पर किसीका भरोसा करना उचित नहीं है, हरेक आदमी को अपनी जीवन-यात्रा में अपने ऊपर ही भरोसा रखना चाहिए, दूसरों पर भरोसा करना ज़बरदस्त निराशा और आफ़तों को न्योता देना है।

मेरे अवरुद्ध क्रोध का कुछ हिस्सा धर्म और धार्मिक दृष्टिकोण पर टूट पड़ा। मैंने सोचा यह दृष्टिकोण विचारों की स्पष्टता और उद्देश्य की स्थिरता का कितना भारी दुश्मन है! क्या उसका आधार भावुकता और मनोविकार नही है! यह दृष्टिकोण दावा तो करता है आध्यात्मिकता का, लेकिन असली आध्यात्मिकता और आत्मा की चीज़ों से वह कितना दूर है! हमेशा दूसरी दुनिया की बातें सोचते-सोचते मानव-स्वभाव, सामाजिक रूप और सामाजिक न्याय का उसे कुछ पता ही नहीं रहता। अपनी पूर्वकल्पित धारणाओं के कारण धर्म जान-बूझकर इस डर से वास्तविकता से अपनी आंखें मूंद लेता है कि शायद उनसे मेल न खायें। वह अपनी बुनियाद सचाई पर बनाता है, फिर भी उसे सत्य को—सम्पूर्ण सत्य को पा लेने का इतना विश्वास हो जाता है कि वह इस बात के जानने का कष्ट नही करता कि उसे जो कुछ मिला है वह असल मे सत्य है या नही? वह तो दूसरों को उसके विषय में कह देना-भर ही अपना काम समझता है। सत्य को ढूंढ़ने का संकल्प और विश्वास की भावना दोनों जुदी-जुदी चीज़ें हैं। धर्म बातें तो शान्ति की करता है लेकिन उन प्रणालियों और व्यवस्थाओं का समर्थन करता है जो बिना हिंसा के ज़िन्दा नही रह सकती। वह तलवार से की जानेवाली

हिंसा की तो बुराई करता है, लेकिन जो हिंसा अक्सर शान्ति का लबादा ओढ़े चुपचाप आती है और लोगों को भूखों तड़पाती और जान से मार डालती है, उसका क्या ? इससे भी ज़्यादा बुरा, जो हिंसा बिना किसी प्रकार का ज़ाहिरा शारीरिक कष्ट पहुंचाये मन पर बलात्कार करती है, आत्मा को कुचलती है और हृदय के टुकड़े-टुकड़े कर डालती है, उसका क्या ?

और इसके बाद मैं फिर उसी शख़्स की बाबत सोचने लगा जिसने मेरे मन में यह खलबली पैदा की। आख़िर गांधीजी कैसे आश्चर्यजनक आदमी हैं ! उनकी मोहकता कितनी ताज्जुब में डालनेवाली और एकदम अबाध है, और लोगों पर उनका कैसा अद्भुत अधिकार है ! उनकी बातें और उनके लेख, उनकी वास्तविकता का बहुत कम परिचय करा पाते हैं। इनसे उनके विषय में लोग जितनी कल्पना कर सकते हैं, उनका व्यक्तित्व उससे कहीं ऊंचा है। और भारत के लिए उनकी सेवाएं कितनी महान् हैं। उन्होंने भारत की जनता में साहस और मर्दानगी फूंक दी है; अनुशासन और कष्ट-सहन, ध्येय पर ख़ुशी-ख़ुशी बलिदान हो जाने की और पूर्ण नम्रता के साथ स्वाभिमान की भावना पैदा कर देती है। उन्होंने कहा है कि चरित्र की वास्तविक नींव साहस ही है। बिना साहस के न तो सदाचार ही सध सकता है, न धर्म और न प्रेम ही। "जबतक कोई भय का शिकार रहता है तबतक वह न तो सत्य का पालन कर सकता है, न प्रेम ही कर सकता है।" हिंसा को वह बहुत ही बुरा समझते हैं; फिर भी उन्होंने हमको यह बताया है कि "कायरता तो एक ऐसी चीज़ है जो हिंसा से भी बुरी है।" और "अनुशासन इस बात की प्रतिज्ञा और गारंटी है कि आदमी जिस काम को हाथ में ले रहा है उसे करना चाहता है। बलिदान, अनुशासन और आत्म-संयम के बिना न तो मुक्ति ही हो सकती है, न कोई आशा ही पूरी हो सकती है।" और बिना अनुशासन के बलिदान का कोई लाभ नहीं। शायद ये कोरे शब्द या सुन्दर वाक्य और खाली उपदेश ही हों। लेकिन इन शब्दों के पीछे ताक़त थी, और हिन्दुस्तान यह जानता है कि यह छोटा-सा व्यक्ति जो कहता है, ईमानदारी से पूरा करना चाहता है।

आश्चर्यजनक रूप से वह हिन्दुस्तान के प्रतिनिधि बन गये और इस प्राचीन और पीड़ित भूमि की अन्तरात्मा को प्रकट करने लगे। एक प्रकार से वह ख़ुद भारत के प्रतिबिम्ब थे और उनमें कोई त्रुटियां थीं तो वे भारत की त्रुटियां थीं।

उनका अपमान शायद ही व्यक्तिगत अपमान समझा जाता हो; वह तो सारे राष्ट्र का अपमान था और वाइसराय और दूसरे लोग जो ऐसी घृणित हरकतें कर रहे थे, यह नहीं जानते थे कि वे कैसी खतरनाक फ़सल बो रहे हैं। दिसम्बर १९३१ में जब गांधीजी गोलमेज़-कान्फ्रेंस से लौट रहे थे, तब पोप ने गांधीजी से मिलने से इन्कार कर दिया था, यह जानकर मुझे कितना दुःख हुआ था, यह मुझे याद है। मुझे यह अपमान हिन्दुस्तान का अपमान लगा और इसमें तो कोई शक ही नहीं कि इन्कार तो जान-बूझकर किया गया था। यह बात दूसरी है कि ऐसा करते समय शायद अपमान करने की कल्पना न रही हो। कैथलिक मतानुयायी अपने फिरके से बाहर सन्त और महात्मा का होना स्वीकार नहीं करते और क्योंकि प्रोटेस्टेण्ट मत के कुछ लोगों ने गांधीजी को सच्चा ईसाई और बड़ा धर्मात्मा बताया, इसलिए पोप के लिए यह और भी ज़रूरी हो गया कि वह इस कुफ्र से अपने को अलग रक्खें।

अप्रैल १९३४ में, अलीपुर-जेल में क़रीब-क़रीब इसी समय मैंने बर्नार्ड शा के नये नाटक पढ़े और 'ऑन दि रॉक्स' (शिला पर) नामक नाटक की वह भूमिका, जिसमें ईसामसीह और पाइलेट की बहस भी है, मुझे बहुत आकर्षक लगी। आज जबकि एक साम्राज्य दूसरे धार्मिक व्यक्ति का मुक़ाबला कर रहा है, मुझे यह भूमिका इस समय के लिए बहुत मौजूं मालूम हुई। उसमें ईसा मसीह ने पाइलेट से कहा है—"मैं तुमसे कहता हूं कि डर छोड़ दो। रोम की महत्ता के बारे में मुझसे व्यर्थ की बातें मत करो। जिसे तुम रोम की महत्ता कहते हो वह डर के सिवा और कुछ नहीं है। भूत का डर, भविष्य का डर, ग़रीबों का डर, अमीरों का डर, उच्च मठाधीशों का डर, उन यहूदियों और यूनानियों का डर जो विद्वान् हैं, उन गॉल निवासियों, गॉथों और हूणों का डर—जो जंगली हैं, उस कार्थेज का डर—जिसके डर से अपनेको बचाने के लिए तुमने उसे बरबाद कर दिया, और अब पहले से भी ज़्यादा बुरा डर शाही सीज़र की उस मूर्ति का, जो तुम्हींने बनाई है, और मुझ-सरीखे कौड़ीहीन दर-दर के भिखारी का, ठुकराये जानेवाले का, उपहास किये जानेवाले का डर और ईश्वर के राज्य को छोड़कर बाक़ी सब चीज़ों का डर। ख़ून-ख़राबी और धन-दौलत के सिवा और किसी वस्तु में श्रद्धा नहीं। तुम जो रोम के हिमायती हो, जगत्प्रसिद्ध कायर हो और मैं जो संसार में ईश्वरीय सत्ता का हामी हूं, प्राणों की बाज़ी लगा चुका हूं,

अपना सब कुछ तक गंवा चुका हूं और इस प्रकार अमर साम्राज्य विजय कर चुका हूं।"

लेकिन गांधीजी की महानता का, भारत के प्रति उनकी महान् सेवाओं का या अपने प्रति की गई उनकी महान उदारताओं का, जिनके लिए मैं उनका ऋणी हूं, कोई प्रश्न ही नहीं है। इन सब बातों के होते हुए भी वह बहुत-सी बातों में बुरी तरह ग़लती कर सकते हैं। आखिर उनका लक्ष्य क्या है? इतने वर्षो तक उनके निकटतम रहने पर भी मुझे ख़ुद अपने दिमाग़ में यह बात साफ़-साफ़ नहीं दिखाई देती कि उनका ध्येय आखिर क्या है। मुझे तो इस बात में भी शक है कि इस मामले में ख़ुद उनका दिमाग़ कहां तक साफ़ है। वह कहते हैं कि मेरे लिए तो एक ही क़दम काफ़ी है, और वह भविष्य की तरफ़ देखने की, अपने सामने कोई सुनिश्चित ध्येय रखने की कोशिश नहीं करते। वह यह कहते हुए कभी नहीं थकते कि हम अपने साधनों की चिन्ता रक्खें तो साध्य अपने-आप ठीक हो जायगा। अपने निजी जीवन में पवित्र बने रहो तो बाकी सब बातें अपने-आप ठीक हो जायंगी। यह दृष्टि न तो राजनैतिक है, न वैज्ञानिक; और शायद यह तो नैतिक भी नहीं है। यह तो संकुचित आचार-दृष्टि है, जो इस प्रश्न का, कि सदाचार क्या वस्तु है, पहले से ही निर्णय कर लेती है। क्या वह केवल एक व्यक्तिगत वस्तु है या सामाजिक विषय? गांधीजी चारित्र्य पर ही सब ज़ोर लगा देते हैं, और मानसिक शिक्षा और विकास को बिलकुल महत्व नही देते। यह ठीक है कि चरित्र के बिना बुद्धि ख़तरनाक साबित हो सकती है, लेकिन बुद्धि के बिना चरित्र मे क्या रह जाता है? आख़िर चरित्र का विकास कैसे होता है? गांधीजी की तुलना मध्यकालीन ईसाई सन्तों से की गई है और वह जो-कुछ कहते है उसका अधिकांश इसके अनुकूल भी है। लेकिन वह आजकल के मनोवैज्ञानिक अनुभव और तरीके से क़तई मेल नहीं खाता।

लेकिन यह कुछ भी हो, ध्येय की अस्पष्टता तो मुझे अत्यन्त खेदजनक मालूम होती है। किसी भी कार्य की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि उसका ध्येय सुनिश्चित और सुस्पष्ट हो। जीवन केवल तर्कशास्त्र नहीं है और यद्यपि उसकी सफलता के लिए समय-समय पर हमें अपने आदर्श बदलने पड़ते हों, फिर भी हमें कोई-न-कोई स्पष्ट आदर्श तो अपने सामने रखना ही होगा।

मेरा ख़याल है कि ध्येय के सम्बन्ध में गांधीजी के विचार उतने धुंधले नहीं

हैं जितने वे कभी-कभी मालूम होते हैं। वह किसी एक ख़ास दिशा में जाने के लिए बहुत अधिक उत्सुक हैं। लेकिन उस तरफ़ जाना आजकल के ख़याल और आजकल की परिस्थितियों के बिलकुल ख़िलाफ़ है और अबतक वह इन दोनों का एक-दूसरे से मेल नहीं मिला पाये हैं, न कोई बीच की वे सब पगडण्डियां ही खोज पाये हैं जो उन्हें अपने निश्चित स्थान पर पहुंचा दें। यही उनके ध्येय की अस्पष्टता और उसके स्पष्टीकरण के अभाव का कारण है। लेकिन कोई पचीस बरस से उस वक़्त से, जबसे उन्होंने दक्षिण अफ्रीका में अपने जीवन-सिद्धान्त निश्चित करने शुरू किये, तबसे उनका साधारण दृष्टिकोण कैसा रहा है, यह साफ़ ज़ाहिर है। मुझे पता नहीं कि उनके वे शुरू के लेख, अब भी उनके विचारों के द्योतक हैं या नहीं। वे उनके विचारों को पूरी तरह व्यक्त करते हैं, मुझे तो इस बात में शक है; लेकिन फिर भी उनसे हमें उनके विचारों की तह में जो भावनाएं काम करती रही हैं, उनके समझने में मदद मिलती है।

१९०९ में उन्होंने लिखा था—"हिन्दुस्तान का उद्धार इसीमें है कि उसने पिछले पचास साल में जो-कुछ भी सीखा है उसे भूल जाय। रेल, तार, अस्पताल वकील, डाक्टर और इस तरह की सभी चीज़ें मिट जानी चाहिए, और ऊंची कही जानेवाली जातियों को स्वेच्छापूर्वक धर्म-भाव से और निश्चित रूप से किसानों का सादा जीवन बिताना सीखना चाहिए, क्योंकि इस प्रकार का जीवन ही सच्चा सुख देनेवाला है।" और "जब-जब मैं रेल या मोटर में बैठता हूं मुझे ऐसा महसूस होता है कि जिस बात को मैं ठीक समझता हूं उसीके साथ मैं हिंसा कर रहा हूं।" "इतनी अधिक कृत्रिम और तेज़ी से चलनेवाली चीज़ों से दुनिया का सुधार करने की कोशिश बिलकुल नामुमकिन है।"

ये सब मुझे बिलकुल ग़लत और नुकसान पहुंचानेवाली बातें मालूम होती हैं, जिनका पूरा हो सकना असम्भव है। कष्ट-सहन और तपस्वी जीवन के प्रति गांधीजी का जो प्रेम और आदर है वही उक्त सब बातों का कारण है। उनके मत से उन्नति और सभ्यता इस बात में नहीं है कि हम अपनी आवश्यकताओं को बढ़ाते चले जायं और अपने रहन-सहन का ढंग ज्यादा ख़र्चीला कर लें, बल्कि इस बात में है कि "हम अपनी ज़रूरतों को स्वेच्छा से और प्रसन्नतापूर्वक कम कर लें, क्योंकि ऐसा करने से सच्चा सुख और सन्तोष मिलता है और सेवा करने की शक्ति बढ़ती है।" अगर हम एक बार इन उपपत्तियों को मान लें तो गांधीजी

के बाक़ी के विचारों और उनके कार्य-कलापों को समझना आसान हो जाता है। लेकिन हममें से ज़्यादातर लोग इनको नहीं मानते और जब हम यह देखते हैं कि उनके काम हमारी पसन्द के मुताबिक नहीं हैं, तब हम उनकी शिकायत करने लगते हैं।

व्यक्तिगत रूप से मुझे ग़रीबों की और तकलीफ़ झेलने की तारीफ़ करना पसन्द नहीं है। मैं यह नहीं समझता कि वे किसी प्रकार वांछनीय हैं, बल्कि मेरी राय में तो उन्हें मिटा देना चाहिए। न मैं सामाजिक आदर्श की दृष्टि से तपस्वी जीवन को पसन्द करता हूं, भले ही कुछ व्यक्तियों के लिए वह ठीक हो। मैं सादगी, समानता और आत्म-संयम चाहता हूं और उसकी क़द्र भी करता हूं; लेकिन शरीर का दमन करने के पक्ष में नही हूं। मेरा विश्वास है कि जैसे खिलाड़ी या पहलवान के लिए अपने शरीर को साधना ज़रूरी है, वैसे ही इस बात की भी ज़रूरत है कि हम अपने मन और अपनी आदतों को साधें और उन्हें अपने नियन्त्रण में रक्खें। यह आशा करना तो बेहूदगी होगी कि जो व्यक्ति अत्यधिक विलासमय जीवन में फंसा हुआ है, वह संकट के दिन आने पर ज़्यादा तकलीफ़ बर्दाश्त कर सकेगा या असाधारण आत्म-संयम दिखा सकेगा या वीरोचित व्यवहार कर सकेगा। नैतिक दृष्टि से उच्च रहने के लिए भी साधना की कम-से-कम उतनी ही ज़रूरत है जितनी कि शरीर को अच्छी हालत में रखने के लिए। लेकिन सचमुच इसके मानी न तो तप ही है, न आत्मपीड़न ही।

'किसानों की-सी सादा ज़िंदगी' का आदर्श मुझे ज़रा भी अच्छा नही लगता। मैं तो क़रीब-क़रीब उससे घबराता-सा हूं और ख़ुद उनकी-सी ज़िन्दगी बरदाश्त करने के बदले मैं तो किसानों को भी उस ज़िंदगी में से खींचकर बाहर निकाल लाना चाहता हूं—उन्हें शहरी बनाकर नहीं, बल्कि देहात में शहरों की सांस्कृतिक सुविधाएं पहुंचाकर। किसानों की-सी यह सादा ज़िन्दगी मुझे सुख तो कतई नहीं देती, वह तो मुझे क़रीब-क़रीब उतनी ही बुरी मालूम होती है जितना कि जेलखाना। आखिर फावड़ेवाले आदमियों में ऐसी क्या बात है कि उसे अपना आदर्श बनाया जाय? असंख्य युगों से इस पद-दलित और शोषित प्राणी में और उन पशुओं में जिनके साथ वह रहता है, कोई अन्तर नहीं रह गया है।

"किसने यों कर दिया उसे है मृत-सा हर्ष-निराशा से ?
व्याकुल नहीं शोक से होता, और प्रफुल्लित आशा से।

स्तब्ध, मूक, जड़रूप खड़ा वह, करे शिकायत क्या किससे ?
मानव है या वृषभ सहोदर उपमा इसकी दें जिससे ।"[1]

मानव बुद्धि से काम न लेकर पुराने जंगलीपन की स्थिति में, जहां बौद्धिक विकास के लिए कोई स्थान नहीं था, पहुंचने की बात मेरी समझ में बिलकुल नहीं आती । स्वयं उस वस्तु को, जो मानवप्राणी के लिए उसकी विजय और गौरव की बात है, बुरा बताया जाता है और अनुत्साहित किया जाता है और उस भौतिक स्थिति को, जो दिमाग़ पर बोझ बन जाती है और उसकी उन्नति को रोकती है, वांछनीय समझा जाता है । वर्तमान सभ्यता बुराइयों से भरी हुई है, लेकिन उसमें अच्छाइयां भी भरी पड़ी हैं, और उसमें वह ताक़त भी है, जिससे वह अपनी बुराइयों को दूर कर सके । उसको जड़-मूल से बरबाद करना, उसकी इस ताक़त को भी बरबाद करना होगा और फिर उसी नीरस, प्रकाशहीन और दुःखमय स्थिति की ओर पहुंचना होगा । यदि ऐसा करना वांछनीय हो, तो भी वह एक अनहोनी बात है । हम परिवर्तन की धारा को रोक नही सकते, न अपनेको उसके बहाव से निकाल सकते हैं, और मनोविज्ञान की दृष्टि से हममें से जिन लोगों ने वर्तमान सभ्यता का स्वाद चख लिया है, वे उसे भूलकर पुरानी जंगलीपन की स्थिति मे जाना पसन्द नहीं कर सकते ।

इस बात में तर्क करना मुश्किल है, क्योंकि ये दोनों दृष्टिकोण बिलकुल जुदा हैं । गांधीजी हमेशा व्यक्तिगत मुक्ति और पाप की भाषा में सोचते हैं; जबकि हममे से अधिकांश लोगों के मन में समाज की भलाई सबसे ऊपर है । मेरे लिए पाप की कल्पना को समझ सकना मुश्किल मालूम पड़ता है और शायद इसीलिए मैं गांधीजी के साधारण दृष्टिकोण को नही समझ पाता हूं । वह समाज या सामाजिक ढांचे को बदलना नहीं चाहते, वह तो व्यक्तियों में से पाप की भावना को नष्ट कर देना चाहते हैं । उन्होंने लिखा है कि "स्वदेशी का माननेवाला कभी दुनिया को सुधारने के निरर्थक प्रयत्न में हाथ नहीं डालेगा, क्योंकि उसका विश्वास है कि दुनिया उन्हीं नियमों से चलती आई है और चलती रहेगी, जो ईश्वर ने बना दिये हैं ।" फिर भी दुनिया को सुधारने के प्रयत्नों में वह काफ़ी आगे बढ़ जाते हैं । पर वह जो सुधार करना चाहते हैं वह है व्यक्तिगत सुधार, जिसके मानी

---

[1]. अंग्रेजी पद्य का भावानुवाद

हैं इन्द्रियों पर और उनका उपभोग करने की पापमयी इच्छा पर विजय प्राप्त करना। फ़ासिज़्म पर लिखनेवाले एक योग्य रोमन कैथलिक लेखक ने आज़ादी की जो परिभाषा की है, शायद गांधीजी उससे सहमत होंगे। वह परिभाषा है—"आज़ादी पाप के बन्धन से छुटकारा पाने के सिवा और कुछ नहीं है।"

दो सौ वर्ष पहले लन्दन के बिशप ने जो शब्द लिखे थे उनसे यह कितना मिलता जुलता है! वे शब्द ये थे—"ईसाई धर्म जो आज़ादी देता है वह पाप और शैतान के बन्धनों से और मनुष्य की बुरी कामनाओं, वासनाओं और असाधारण इच्छाओं के जाल से मुक्ति के लिए है।"[1]

अगर एक बार इस दृष्टिकोण को समझ लिया जाय तो स्त्री-पुरुष के सहवास के बारे में गांधीजी का जो रुख़ है और जो कि आजकल के औसत आदमी को असाधारण मालूम होता है वह भी कुछ-कुछ समझ में आ सकता है। उनकी राय में "जब सन्तान की इच्छा न हो तब स्त्री-पुरुष को आपस में सहवास करना पाप है।" और "सन्तति-निग्रह के कृत्रिम साधनों को काम में लाने का परिणाम नपुंसकता और स्नायविक ह्रास होता है।" "अपने कामों के परिणामों से बचने की कोशिश करना ग़लत और पापमय है। यह बुरा है कि पहले तो ज़रूरत से ज्यादा पेट भर लें और फिर कोई टॉनिक या दूसरी दवा लेकर उसके नतीजों से बचने की कोशिश करें। और यह तो और भी बुरा है कि कोई शख़्स पहले तो अपने पाशविक मनोविकारों को तृप्त करे और फिर उसके परिणामों से बचे।"

व्यक्तिगत रूप से मैं गांधीजी के इस रुख़ को बिलकुल अस्वाभाविक और भयावह पाता हूं, और अगर गांधीजी की बात सही है, तो मैं तो उन पापियों में से हूं जो नपुंसकता और स्नायविक ह्रास के किनारे पहुंच चुके हैं। रोमन कैथलिकों ने भी बड़े जोरों से सन्तति-निग्रह का विरोध किया है। लेकिन वे अपनी दलीलों को उस आखिरी दरजे तक नहीं ले गये जिस दरजे तक गांधीजी ले गये हैं। उसे वे मानव-स्वभाव समझते हैं, उसके साथ उन्होंने कुछ समझौता कर लिया है और समयानुसार छूट दे दी है।[2] लेकिन गांधीजी तो अपनी दलील

---

[1]. **यह उद्धरण जिस पत्र से लिया गया है वह पीछे ५२९ पृष्ठ पर दिया जा चुका है।**

[2]. **ईसाइयों के विवाह के बारे में पोप ११वें पायस ने ३१ दिसम्बर १९३१**

की आखिरी हद तक पहुंच गये हैं और वह तो सन्तान पैदा करने के सिवा और किसी भी समय स्त्री-पुरुष के प्रसंग को ज़रूरी या न्याय्य नहीं समझते। वह इस बात को मानने से इन्कार करते हैं कि स्त्री-पुरुषों में परस्पर एक-दूसरे की तरफ़ प्राकृतिक आकर्षण होता है। उनका कहना है—"लेकिन मुझसे कहा जाता है कि यह आदर्श तो असम्भव कल्पना है और स्त्री-पुरुष में जो एक-दूसरे के लिए स्वाभाविक आकर्षण होता है उसे मैं ध्यान में नहीं रखता। मैं यह मानने से इन्कार करता हूं कि जिस आकर्षण का संकेत किया गया वह किसी भी हालत में प्राकृतिक माना जा सकता है; और अगर वह ऐसा ही है तो सर्वनाश को बहुत निकट समझना चाहिए। पुरुष और स्त्री के वैवाहिक सम्बन्ध में वही आकर्षण है जो भाई और बहिन में, मां और बेटे में, बाप और बेटी में होता है। यही वह स्वाभाविक आकर्षण है, जो दुनिया को कायम रक्खे हुए है।" और आगे चलकर इससे भी ज्यादा ज़ोर से कहते हैं—"नहीं, मुझे अपनी पूरी ताक़त के साथ कहना चाहिए कि पति-पत्नी का ऐन्द्रिय आकर्षण भी अप्राकृतिक है।"

ऑडीपस कांप्लेक्स[1] और फ्रॉयड के विचारों और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण

को जो धर्माज्ञा दी है उसमें कहा है—"अगर विवाहित लोग अपने हक़ों का गम्भीर और प्राकृतिक कारणों से उपयोग करें तो यह नहीं माना जाना चाहिए कि वे प्रकृति की व्यवस्था के खिलाफ़ काम कर रहे हैं, फिर चाहे समय की परिस्थिति या किसी खराबी के कारण उनके बच्चे पैदा हों या न हों!" समय की परिस्थिति से मतलब जाहिरा तौर पर 'सुरक्षित समय कहे जानेवाले' उस वक़्त से है, जब गर्भाधान सम्भव नहीं समझा जाता।

[1]. आंडीपस थेबीज के राजा लेइस का लड़का था। इसके जन्म के समय यह भविष्यवाणी हुई थी कि लेइस अपने लड़के के हाथों मारा जायगा। इसपर लेइस ने उसे एक चरवाहे को दे दिया और उसने कारिन्थ के बादशाह पांलिबस को दे दिया। उसने उसे अपना दत्तक पुत्र बना लिया। जब आंडीपस बड़ा हुआ और जब उसे इस भविष्यवाणी का पता लगा कि वह अपने बाप को मार डालेगा और अपनी मां से शादी कर लेगा, तो वह घर छोड़कर चल दिया। रास्ते में उसे उसका बाप लेइस और मां जोकेस्टा मिली। वह उन्हें पहचानता न था, अतः बात-ही-बात में उत्तेजना बढ़ जाने पर उसने लेइस को मार डाला और जोकेस्टा से शादी कर

के इस युग में किसी विश्वास को इतने ज़ोरदार शब्दों में प्रकट करना आश्चर्य-जनक और असामयिक मालूम होता है। यह तो श्रद्धा का सवाल है, तर्क का नहीं। इसे आप मानें या न मानें। इसके बारे में कोई बीच का रास्ता नहीं है। अपनी तरफ़ से तो मैं कह सकता हूं कि इस मामले में गांधीजी बिलकुल ग़लती पर हैं। कुछ लोगों के लिए उनकी सलाह ठीक हो सकती है, लेकिन एक व्यापक नीति के रूप में तो इसका नतीजा यही होगा कि लोग मानसिक नैराश्य, दमन और तरह-तरह की शारीरिक और स्नायविक बीमारियों के शिकार हो जायंगे। विषय-भोग में संयम ज़रूर होना चाहिए, लेकिन मुझे इस बात में शक है कि गांधीजी के उसूलों से यह संयम किसी बड़ी हद तक हो सकेगा। वह संयम बहुत अधिक कड़ा है, और ज्यादातर लोग यही समझते है कि वह उनकी ताक़त के बाहर है, और इस-लिए आमतौर पर अपने मामूली तरीके पर चलते रहते हैं और अगर नहीं चलते तो पति-पत्नी में खटपट हो जाती है। स्पष्टतः गांधीजी यह समझते हैं कि सन्तति-निग्रह के साधनों से निश्चित रूप से लोग अत्यधिक मात्रा में काम-तृप्ति में लग जायंगे और अगर स्त्री और पुरुष का यह इन्द्रिय-सम्बन्ध मान लिया जाय, तो हर पुरुष हर स्त्री के पीछे दौड़ेगा और इसी तरह हर स्त्री हर पुरुष के पीछे। उनके दोनों निष्कर्षों में से एक भी सही नहीं है, और यद्यपि यह सवाल बहुत महत्वपूर्ण है, फिर भी मेरी समझ में यह नहीं आता कि गांधीजी उस पर इतना ज़्यादा ज़ोर क्यों देते हैं। उनके लिए तो इसके दो ही पहलू है—इस पार या उस पार; बीच का कोई रास्ता नहीं है। दोनों ओर वह ऐसी पराकाष्ठा को पहुंच जाते हैं जो मुझे बहुत ग़ैर-मामूली और अप्राकृतिक मालूम होती है। इन दिनों हमारे ऊपर काम-शास्त्र सम्बन्धी साहित्य की जो प्रलयकारी बाढ़ आ रही है शायद उसीकी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप गांधीजी ऐसी बातें कहते है। मैं मानता हूं कि मैं एक साधारण व्यक्ति हूं और मेरे जीवन में वैषयिक भावना का असर रहा है; लेकिन न तो मैं कभी उसके काबू में हुआ, न उसकी वजह से कभी मेरे कोई दूसरे काम रुके। यह केवल गौण रूप में ही रही है।

ली। उससे उसके तीन बच्चे हुए। अतः मनोवेत्ता फ्रॉयड के मतानुसार 'आंडीपस कांप्लेक्स' का अर्थ है, वह मनोविकार जिसके अनुसार लड़के का अपनी मां के प्रति और लड़की का अपने पिता के प्रति कामुक आकर्षण हो। —अनु०

गांधीजी की वृत्ति तो दरअसल उस तपस्वी साधु-जैसी है जिसने दुनिया और उसके तौर-तरीक़ों से किनारा कर लिया है, जो जीवन को मिथ्या मानता है और उसकी उपेक्षा करता है। किसी योगी के लिए यह है भी स्वाभाविक; लेकिन जो संसारी स्त्री-पुरुष जीवन को मिथ्या नहीं मानते और उसका सर्वोत्तम उपयोग करने की कोशिश करते हैं उनके लिए यह बहुत दूर की बात है। इसलिए, इस एक बुराई से बचने के लिए उन्हें दूसरी और उससे भी बड़ी-बड़ी बुराइयों को बरदाश्त करना पड़ता है।

मैं विषय से बहक गया हूं। लेकिन अलीपुर-जेल के उन दुःखदायी दिनों में सभी तरह के विचार मेरे मन में छाये रहते थे। वे किसी तर्क-सम्मत क्रम या व्यक्तिगत रूप में नही होते थे, बल्कि बिखरे हुए और बे-सिलसिलेवार होते थे और अक्सर मुझे व्यग्र और परेशान कर डालते थे। और इन सबसे बढ़कर एकान्त और सूनेपन का वह भाव था जो जेल की दम घोंटनेवाली आबोहवा से और मेरी छोटी-सी एकान्त कोठरी की वजह से और भी बढ़ जाता था। अगर मैं जेल से बाहर होता तो मुझे जो चोट पहुंची वह क्षणिक होती और मैं ज़्यादा जल्दी नई स्थितियों के अनुकूल बन जाता, और अपना ग़ुबार निकालकर अपने मन-माफ़िक काम करके अपने दिल को हलका कर लेता। पर जेल के अन्दर ऐसा नहीं हो सकता था, इसलिए मेरे कुछ दिन बड़ी बुरी तरह बीते। ख़ुशक़िस्मती से मैं बड़ा ख़ुशमिज़ाज़ हूं और मायूसी के हमलों से बड़ी जल्दी सम्हल जाता हूं। इसलिए मैं अपने दुःख को भूलने लगा। इसके बाद जेल में कमला से मेरी मुलाक़ात हुई। उससे मुझे और भी ख़ुशी हुई और मेरी अकेलेपन की भावना दूर हो गई। मैंने महसूस किया कि कुछ भी क्यों न हो, हम एक-दूसरे के जीवन-साथी तो हैं ही।

: ६२ :

विकट समस्याएं

जो लोग गांधीजी को व्यक्तिगत रूप से नहीं जानते और जिन्होंने सिर्फ उनके लेखों को ही पढ़ा है, वे अक्सर यह सोच बैठते हैं कि गांधीजी किसी धर्मोपदेशक की भांति नीरस, शुष्क और मनहूसियत फैला देनेवाले व्यक्ति हैं। लेकिन गांधीजी के लेख गांधीजी के साथ अन्याय करते हैं। वह जो कुछ लिखते हैं उससे वह ख़ुद कही ज्यादा बड़े है। इसलिए उन्होंने जो कुछ लिखा है, उसको उद्धृत करके उनकी आलोचना करने बैठ जाने से उनके साथ पूरी तरह इन्साफ़ नहीं किया जा सकता। धर्मोपासकों के रास्ते से उनका रास्ता बिलकुल जुदा है। उनकी मुस्कराहट आह्लादकारक होती है, उनकी हँसी सबको हँसा देती है, और वह विनोद की एक लहर बहा देते हैं। उनमें भोले बच्चों की-सी कुछ ऐसी बात है जो मोह लेनेवाली है। जब वह किसी कमरे में पैर रखते हैं तो अपने साथ एक ऐसी ताज़ी हवा का झोंका लेते आते हैं, जो वहां के वातावरण को आमोद से भर देता है।

वह उलझनों के एक असाधारण नमूने हैं। मेरा ख़याल है कि सभी असाधारण पुरुष कुछ-न-कुछ हद तक ऐसे ही होते हैं। बरसों इस पेचीदा सवाल ने मुझे परेशान किया है कि यह क्या बात है कि गांधीजी पीड़ितों के लिए इतना प्रेम और उनकी भलाई का इतना ख़याल रखते हुए भी ऐसी प्रणाली का समर्थन करते हैं जो लाज़िमी तौर पर पीड़ितों को पैदा करती है और फिर उन्हें कुचलती है। और यह क्या बात है कि एक तरफ़ तो वह अहिंसा के ऐसे अनन्य उपासक हैं, और दूसरी तरफ़ एक ऐसे राजनैतिक और सामाजिक ढांचे के पक्ष में हैं, जो सोलहों आने हिंसा और बलात्कार पर ही टिका हुआ है! शायद यह कहना सही नहीं होगा कि वह ऐसी प्रणाली के पक्ष में हैं। वह तो कम-बढ़ एक दार्शनिक अराजक हैं। लेकिन अराजकों का आदर्श एक तो अभी बहुत दूर है और हम आसानी से उसका क़यास भी नहीं कर सकते; इसलिए वह मौजूदा अवस्था को मंजूर करते

हैं। मेरा ख़याल है परिवर्तन किन साधनों से किये जायं, इस पर उन्हें इतनी आपत्ति नहीं है, जितनी हिंसा के उपयोग पर आपत्ति है। वर्तमान व्यवस्था को बदलने के लिए किन ज़रियों से काम लेना चाहिए, इस सवाल को छोड़कर, हम एक ऐसे आदर्श ध्येय को अपनी आंखों के सामने रख सकते हैं, जिसको दूर-भविष्य में नहीं, निकट-भविष्य में ही पूरा कर लेना हमारे लिए मुमकिन है।

कभी-कभी वह अपने को समाजवादी भी कहते हैं; लेकिन वह समाजवाद शब्द का प्रयोग एक ऐसे अनोखे अर्थ में करते हैं, जो खुद उनका अपना लगाया हुआ है और जिसका उस आर्थिक ढांचे से कोई सरोकर नहीं है, जो आमतौर पर समाजवाद के नाम से पुकारा जाता है। उनकी देखा-देखी कुछ प्रसिद्ध कांग्रेसी भी समाजवाद शब्द का इस्तेमाल करने लगे है, लेकिन उस समाजवाद से उनका मतलब मनुष्य-समाज की एक क़िस्म की गोलमोल सेवा से होता है। इस गोलमोल राजनैतिक शब्दावली का ग़लत प्रयोग करने में प्रसिद्ध व्यक्ति उनके साथ है; क्योंकि वे सब तो सिर्फ़ ब्रिटिश राष्ट्रीय सरकार के प्रधान मन्त्री की मिसाल पर ही चल रहे है।[१] मै यह जानता हूं कि गांधीजी समाजवाद से अपरिचित नही है, क्योंकि उन्होंने अर्थशास्त्र, समाजवाद और मार्क्सवाद पर भी बहुत-सी किताबे पढ़ी है और इन विषयों पर दूसरों के साथ वाद-विवाद भी किया है; लेकिन मेरे मन में यह विश्वास घर करता जाता है कि अत्यन्त महत्त्व के मामलों में अकेला दिमाग़ हमे ज़्यादा दूर तक नही ले जाता। विलियम जेम्स ने कहा है—"अगर आपका दिल नही चाहता तो इत्मीनान रखिए कि आपका दिमाग़ आपको कभी भी विश्वास नही करने देगा।" हमारी भावनाएं हमारे सामान्य दृष्टिकोण पर शासन करती है और दिमाग को अपने क़ाबू मे रखती है। हमारी बातचीत फिर चाहे वह धार्मिक हो या राजनैतिक या आर्थिक, वस्तुतः हमारी भावनाओं

---

१. जनवरी सन् ३५ में ऐडिनबरा में अनुदार और यूनियनिस्ट एसोसियेशनों के संघ को एक संदेश देते हुए मि. रैमजे मेकडॉनल्ड ने कहा था—"समय की कठिनाइयां हरेक मुल्क के लोगों के लिए यह लाज़िमी बना रही है कि वे एक होकर अपनी तमाम ताक़त से काम करें। यही सच्चा समाजवाद है और यही सच्ची राष्ट्रीयता भी है। सच बात तो यह है कि सच्चा व्यक्तिवाद भी यही है।"

पर या मन की प्रवृत्तियों पर ही निर्भर रहती है। शोपेनहार ने कहा है—"मनुष्य जिस बात का संकल्प करे, उसे वह पूरा कर सकता है; लेकिन वह जिस बात का संकल्प करना चाहे, उसका संकल्प नहीं कर सकता।"

दक्षिण अफ्रीका में शुरू के दिनों में गांधीजी में बहुत ज़बरदस्त तब्दीली हुई। इससे जीवन के बारे में उनकी सारी विचार-दृष्टि बदल गई। तब से उन्होंने अपने सभी विचारों के लिए एक आधार बना लिया है और अब वह किसी सवाल पर उस आधार से हटकर स्वतन्त्र रूप से विचार नहीं कर सकते। जो लोग उन्हें नई बातें सुझाते हैं, उनकी बातें वह बड़े धीरज और ध्यान से सुनते हैं, लेकिन इस नम्रता और दिलचस्पी के बावजूद उनसे बातें करनेवाले के मन पर यह असर पड़ता है कि मैं एक चट्टान से सर टकरा रहा हूं। कुछ विचारों पर उनकी ऐसी दृढ़ आस्था बंध गई है कि और सब बातें उन्हें महत्त्व शून्य मालूम होती हैं। उनकी राय में दूसरी और गौण बातों पर ज़ोर देने से मुख्य योजना से ध्यान हट जायगा और उसका रूप विकृत हो जायगा। अगर हम अपनी आस्था पर दृढ़ रहे तो अन्य सभी बातें ज़रूरी तौर पर अपने आप उचित रीति से ठीक हो जायंगी। अगर हमारे साधन ठीक हैं तो साध्य भी अनिवार्य रूप से ठीक होगा।

मेरे ख़याल से उनके विचारों का आधार यही है। वह समाजवाद को और उससे भी ज़्यादा ख़ासतौर पर मार्क्सवाद को सन्देह की दृष्टि से देखते हैं, क्योंकि वह हिंसा से सम्बन्धित है। 'वर्ग-युद्ध' शब्द में ही उन्हें लड़ाई और हिंसा की बू आती है, और इसलिए वह उसे नापसन्द करते हैं। इसके इलावा वह यह भी नहीं चाहते कि आम लोगों की रहन-सहन को एक बहुत मामूली पैमाने से ज़्यादा ऊंचा बढ़ाया जाय; क्योंकि अगर लोग ज़्यादा आराम से और फुरसत में रहेंगे तो उससे भोग-विलास और पाप की वृद्धि होगी। यही क्या कम बुरा है कि मुट्ठी-भर अमीर लोग भोग-विलास में पड़े रहते हैं, अगर ऐसे लोगों की संख्या और बढ़ा दी गई तब तो बहुत ही बुरा हो जायेगा। १९२६ में उन्होंने जो एक पत्र लिखा था उससे हम ऐसे ही कुछ नतीजे निकाल सकते हैं। इंग्लैंड में उन दिनों कोयले की खानों में मज़दूरों ने बहुत बड़ी हड़ताल कर दी थी और खानों के मालिकों ने खानें बन्द कर दी थीं। इस संघर्ष के समय उनके पास जो पत्र आया था, उसीका उन्होंने जवाब दिया था। जिन साहब ने उन्हें लिखा था, उन्होंने अपने पत्र में यह दलील पेश की थी कि इस लड़ाई में मज़दूर हार जायंगे, क्योंकि

उनकी तादाद बहुत ज्यादा है। इसलिए उन्हें चाहिए कि वे कृत्रिम साधनों से सहायता लेकर अधिक सन्तानें पैदा करना बन्द करदें और इस तरह अपनी तदाद घटा लें। इस पत्र का जवाब देते हुए गांधीजी ने लिखा था—"आख़िर बात यह है कि अगर खानों के मालिक ग़लत रास्ते पर होने पर भी जीत जायंगे, तो उनकी यह जीत महज़ इसलिए नहीं होगी कि मज़दूर लोग अधिक सन्तानें पैदा करते हैं, बल्कि इसलिए होगी कि मज़दूरों ने जीवन में संयम से काम लेना नहीं सीखा। अगर खानों के मज़दूरों के बच्चे न हों तो उन्हें अपनी हालत बेहतर बनाने की कोई प्रेरणा नहीं रहेगी, और फिर वे यह बात कैसे साबित कर दिखायेंगे कि उनकी मज़दूरी बढ़ाई जाने की ज़रूरत है? उनको शराब पीने, जुआ खेलने और सिगरेट पीने की क्या ज़रूरत है? क्या इसके जवाब में यह कहना ठीक होगा कि खानों के मालिक भी तो ये सब काम करते हैं, और फिर भी वे चैन की बंसी बजाते हैं? अगर मज़दूर लोग इस बात का दावा नहीं कर सकते कि वे पूंजीपतियों से अच्छे हैं तो फिर उन्हें संसार की सहानुभूति मांगने का क्या हक़ है? क्या इसलिए कि वे पूंजीपतियों की संख्या बढ़ायें और पूंजीवाद को मज़बूत करें? हमसे कहा जाता है कि हम सब लोकतन्त्र का आदर करें और वादा किया जाता है कि जब लोकतन्त्र की पूरी हुकूमत होगी, तब संसार की अवस्था बहुत अच्छी हो जायगी। पूंजीवाद और पूंजीपतियों के सिर हम जिन बुराइयों को थोपते हैं, वे ही खुद हमें और भी ज़्यादा बड़े पैमाने पर पैदा नहीं करनी चाहिए।"[१]

जब मैंने इसे पढ़ा, तब खानों में काम करनेवाले अंग्रेज़ मज़दूरों और उनकी औरतों व बच्चों के भूखे और पिचके हुए चेहरे मेरी आंखों के सामने आ गये, जो मैंने १९२६ की गर्मियों में देखे थे। वे ग़रीब मज़दूर उस समय अपनेको कुचलने वाली पैशाचिक प्रणाली के ख़िलाफ़ लड़ रहे थे। इस लड़ाई में वे बिलकुल असहाय थे और उनकी हालत पर रहम आता था। गांधीजी ने जो बातें लिखी हैं, वे पूरी तरह सही नहीं; क्योंकि खानों के मज़दूर मज़दूरी बढ़वाने के लिए नहीं लड़ रहे थे, वे बल्कि इस बातके लिए लड़ रहे थे कि जो मज़दूरी उन्हें मिलती है उसमें कमी न की जाय और जो खानें बन्द कर दी गई थीं वे खोल दी जायं। लेकिन इस वक्त हमें इन बातों से कोई ताल्लुक़ नहीं। न हमारा ताल्लुक़ इसी बात

१. गांधीजी की 'अनीति की राह पर' नामक पुस्तक में यह पत्र उद्धृत हुआ है।

से है कि मज़दूर लोग कृत्रिम साधनों की मदद लेकर सन्तान पैदा करना रोकें या न रोकें, यद्यपि मालिकों और मज़दूरों के लड़ाई-झगड़ों को निबटाने के लिए यह एक निराला-सा सुझाव था। मैंने तो गांधीजी के जवाब में से इतना अवतरण इसलिए दिया है कि हम लोगों को यह बात समझने में मदद मिले कि मज़दूरों की रहन-सहन के ढंग को ऊंचा बनाने की सामान्य मांग के सम्बन्ध में और मज़दूरों के दूसरे मामलों में गांधीजी का दृष्टिकोण क्या है। उनका दृष्टिकोण समाजवादी दृष्टिकोण से—और समाजवादी दृष्टिकोण से ही क्यों, सच बात तो यह है कि पूंजीवादी दृष्टिकोण से भी—काफ़ी दूर है। अगर उनसे यह कहा जाय कि स्वार्थी समुदाय रास्ते में रोड़े न डालें तो हम आज विज्ञान और उद्योग-धन्धों के ज़रिये तमाम लोगों को अबसे कहीं बड़े पैमाने पर खाने-पहनने और रहने को दे सकते हैं और उनकी रहन-सहन का ढंग बहुत ज़्यादा ऊंचा कर सकते हैं, तो उन्हें इस बात में कोई विशेष दिलचस्पी नहीं होगी। असल बात यह है कि एक निश्चित हद से आगे वह इन बातों के लिए बहुत उत्सुक नही है। इसीलिए समाजवाद से होनेवाले लाभ की आशा उनके लिए आकर्षक नही है, और पूंजीवाद भी कुछ हद तक ही बरदाश्त किया जा सकता है—और यह भी इसलिए कि वह बुराई को सीमित रखता है। वह पूंजीवाद और समाजवाद दोनों को ही नापसन्द करते हैं, लेकिन पूंजीवाद को अपेक्षाकृत कम बुरा समझकर उसे बरदाश्त कर लेते हैं। इसके अलावा वह पूंजीवाद को इसलिए भी बरदाश्त करते हैं कि वह तो पहले से ही मौजूद है और उसकी ओर से आंखे नहीं मूंदी जा सकती।

शायद उनके मत्थे ये विचार मढ़ने मे मै ग़लती पर होऊं, लेकिन मेरा यह खयाल ज़रूर है कि वह इसी तरह सोचते मालूम पड़ते हैं, और उनके कथनों मे हमें जो विरोधाभास और अस्तव्यस्तता परेशान करती है उसका असली कारण यह है कि उनके तर्क के आधार बिलकुल भिन्न हैं। वह यह नहीं चाहते कि लोग हमेशा बढ़ते जानेवाले आराम और अवकाश को अपने जीवन का लक्ष्य बनायें। वह तो यह चाहते है कि लोग नैतिक जीवन की बातें सोचें, अपनी बुरी लतें छोड़ दें, शारीरिक भोगों को दिन-पर-दिन कम करते जायं और इस तरह अपनी भौतिक और आध्यात्मिक उन्नति करें। और जो लोग सर्वसाधारण की सेवा करना चाहते है उन्हें उनकी आर्थिक अवस्था सुधारने की उतनी कोशिश नही

करनी चाहिए, जितनी यह कोशिश करनी चाहिए कि वे स्वयं उनकी तह पर नीचे चले जायं और उनके साथ बराबरी की हैसियत से मिलें। ऐसा करते हुए वे लाज़िमी तौर पर कुछ हद तक उनकी हालत बेहतर करने में मदद दे सकेंगे। उनकी राय के मुताबिक़ यही सच्चा लोकतन्त्र है। १७ सितम्बर १९३४ को उन्होंने जो वक्तव्य दिया था, उसमें उन्होंने लिखा है कि, "बहुत-से लोग मेरा विरोध करने की आशा छोड़ बैठे हैं। मेरे लिए यह बात मुझे ज़लील करने जैसी है, क्योंकि मैं तो जन्म से ही लोकतन्त्रवादी हूं। ग़रीब-से-ग़रीब व्यक्ति के साथ बिलकुल उसी-जैसा हो जाना, जिस हालत में वह रहता है उससे बेहतर हालत में रहने की इच्छा त्याग देना, और अपनी पूरी शक्ति से उसकी तह तक पहुंचने की हमेशा स्वेच्छापूर्वक कोशिश करते रहना अगर ये ऐसी बातें हैं, जिनकी बुनियाद पर किसीको अपनेको लोकतन्त्रवादी कहने का हक़ मिल सकता है, तो मैं यह दावा करता हूं।"

इस हद तक तो गांधीजी की बात को सभी लोग मानेंगे कि अपने को सर्वसाधारण से बिलकुल अलग कर लेना और अपनी विलासिता का और अपनी ऊंची रहन-सहन का प्रदर्शन उन लाखों लोगों के सामने करना, जिनके पास ज़रूरी-से-ज़रूरी चीज़ों की भी कमी है, बहुत ही अशोभनीय और अनुचित है। लेकिन इसके अलावा गांधी की अन्य दलीलों और उनके दृष्टिकोण से आजकल का कोई भी लोकतन्त्रवादी, पूंजीवादी या समाजवादी सहमत नहीं हो सकता। जिन लोगों का पुराना धार्मिक दृष्टिकोण है, वे उनकी बातों से कुछ हदतक सहमत हो सकते हैं; क्योंकि दोनों विचार की दृष्टि से अतीत में बंधे हुए हैं और हमेशा हर बात अतीत की दृष्टि से ही देखा करते हैं। वे वर्तमान या भविष्यकाल की बाबत इतना नहीं सोचते, जितना भूतकाल की बाबत। भूतकाल की ओर और भविष्यकाल की ओर ले जानेवाली प्रेरणाओं में ज़मीन और आसमान का अन्तर है। पुराने ज़माने में तो इस बात का सोचा जाना भी मुश्किल था कि सर्वसाधारण की आर्थिक अवस्था सुधारी जाय। उन दिनों निर्धन तो हमारे समाज के अभिन्न अंग थे। मुट्ठी-भर धनी लोग थे। वे सामाजिक ढांचे और अर्थोत्पादन-प्रणाली के मुख्य अंग थे। इसीलिए धार्मिक सुधारक और परदुःखकातर व्यक्ति उन्हें स्वीकार कर लेते थे; लेकिन साथ ही उनको यह बात सुझाने की कोशिश करते रहते थे कि अपने ग़रीब भाइयों के प्रति अपने कर्त्तव्य को न भूलें। धनी लोग

ग़रीबों के ट्रस्टी बनकर रहें, दानी बनें। इस प्रकार दान-पुण्य धर्म का एक मुख्य अंग हो गया। राजा-महाराजाओं, बड़े-बड़े ज़मींदारों और पूंजीपतियों के लिए गांधीजी ट्रस्टी बनने के इस आदर्श पर हमेशा ज़ोर देते रहते हैं। वे इस विषय में उन अनेक धार्मिक पुरुषों की परम्परा पर चल रहे हैं, जो समय-समय पर यही कह गये हैं। पोप ने ऐलान किया है कि "धनवानों को यही ख़याल करना चाहिए कि वे प्रभु के सेवक हैं, स्वयं ईसा मसीह ने ग़रीबों का भाग्य उनके हाथ में सौंपा है और वे ईश्वर की सम्पत्ति के रक्षक और बांटनेवाले हैं।" सामान्य हिन्दू-धर्म और इस्लाम में भी यही विचार मौजूद हैं। वे हमेशा धनवानों से यह कहते रहते हैं कि दान पुण्य करो, और धनिक भी मन्दिर या मस्जिद या धर्मशालाएं बनवाकर अथवा अपने विशाल भांडार से ग़रीबों को कुछ तांबे या चांदी के सिक्के देकर सोचने लगते हैं कि हम बड़े धर्मात्मा हैं।

पोप १३वें लियो ने १८९१ में जो प्रसिद्ध धर्माज्ञा निकाली थी, उसमें पुरानी दुनिया की इस धार्मिक दृष्टि को दरसानेवाला एक ज्वलन्त वाक्य है। नई औद्योगिक परिस्थिति पर अपनी दलील देते हुए पोप ने कहा था—

"कष्ट उठाना या धीरज धरना—यही मानव-समाज के भाग्य में है। मनुष्य चाहे जितनी कोशिश करे उसकी ज़िन्दगी में जिन दुःखों और कठिनाइयों ने घर कर लिया है, उनका बहिष्कार करने में कोई भी ताक़त या तदबीर कारगर नहीं हो सकती। अगर कोई इसके विपरीत ढोंग करता है, और संकटग्रस्त लोगों को दुःख और कठिनाइयों से छुटकारा, निर्विघ्न आराम और सदा सुख-भोग की उम्मीद दिलाता है, तो वह लोगों को सरासर धोखा देता है। उसके ये झूठे वादे उन दुःखों को उलटे और दुगुना कर देनेवाले हैं। हम दुनिया को वास्तविक रूप में देखें, और साथ ही उसके दुःखों के नाश का उपाय अन्यत्र खोजें—इससे अधिक उपयोगी और कोई बात नहीं है।"

यह अन्यत्र कहां है यह हमें आगे बताया गया है—

"इस लोक के उपभोगों की वस्तुस्थिति समझने तथा ठीक-ठीक क़ीमत लगाने के लिए परलोक के शाश्वत जीवन पर विचार कर लेना आवश्यक है . . . . . प्रकृति से हम जिस महान् सत्य की शिक्षा लेते हैं वह ईसाई-धर्म का भी सर्वमान्य सिद्धान्त है—वह सत्य यह है कि इस लोक के जीवन को समाप्त कर लेने के बाद ही हमारा वास्तविक जीवन आरम्भ होगा। ईश्वर ने हमें दुनिया में अनित्य

और क्षणभंगुर उपभोगों के लिए नहीं पैदा किया है, बल्कि दिव्य और सनातन उपभोगों के लिए पैदा किया है। यह दुनिया तो ईश्वर ने हमें देश-निकाले के बतौर दी है, निज के देश के बतौर नहीं। रुपया और अन्य पदार्थों को लोग अच्छा और इष्ट गिनते हैं। उनकी अपने पास बहुलता भी हो सकती है और अभाव भी हो सकता है—जहांतक शाश्वत सुख से सम्बन्ध है, उनका होना न होना बराबर है . . . . .।"

यह धार्मिक वृत्ति उस प्राचीन काल की दुनिया से आबद्ध है जब वर्तमान दु:खों से बचने का एकमात्र मार्ग परलोक के जीवन की आशा थी। यद्यपि तब से लोगों की आर्थिक अवस्था में कल्पनातीत उन्नति हो चुकी है, फिर भी हमारी दृष्टि उस भूतकाल के स्वप्न से आविष्ट है और अब भी कुछ ऐसी आध्यात्मिक बातों पर ज़ोर दिया जाता है जो गोलमोल हैं और ऊटपटांग-सी हैं और जिनकी नाप-जोख नहीं हो सकती। कैथलिक लोगों की निगाह बारहवी और तेरहवीं सदी की तरफ़ दौड़ती है। दूसरे लोग जिसे अन्धकार-युग कहते हैं उसीको ये ईसाई-धर्म का 'स्वर्ण-युग' कहते हैं। कारण, उस समय ईसाई सन्तों की भरमार थी, ईसाई राजा धर्मयुद्धों के लिए कूच करते थे और गोथिक ढंग पर गिरजाघरों का निर्माण होता था। उनकी राय में वह ज़माना सच्चे ईसाई लोकतन्त्र का था, मध्यकालीन महाजनों के अंकुश ने उसकी स्थापना की। इसके पहले और इसके बाद ऐसे लोकतन्त्र का साक्षात्कार और कहीं नहीं हुआ। मुसलमान इस्लामी लोकतन्त्र के लिए शुरू के ख़लीफ़ाओं की ओर हसरतभरी निगाह दौड़ाते हैं, क्योंकि उन खलीफ़ाओं ने दूर-दूर देशों में अपनी विजय-पताका फहराई थी। इसी तरह हिन्दू भी वैदिक और पौराणिक काल की बातें सोचते हैं और रामराज्य के सपने देखते हैं। फिर भी तमाम दुनिया के इतिहास हमें बतलाते हैं कि उन दिनों की अधिकांश जनता बड़ी मुसीबत में रहती थी। उसके लिए तो अन्न-वस्त्र तक का घोर अभाव था। हो सकता है कि उन दिनों चोटी के कुछ मुटठी-भर लोग आध्यात्मिक जीवन बिताते हों, क्योंकि उनके पास उसके लिए फ़ुरसत भी थी और साधन भी थे, लेकिन दूसरों के लिए तो यह सोचना भी मुश्किल है कि वे महज़ पेट पालने को दिन-रात जुटे रहने के अलावा और कुछ करते होंगे। जो शख्स भूखों मर रहा है वह सांस्कृतिक और आध्यात्मिक उन्नति कैसे कर सकता है? वह तो इसी फ़िक्र में लगा रहता है कि खाने का इन्तज़ाम कैसे हो!

औद्योगिक युग अपने साथ ऐसी बहुत-सी बुराइयां लाया है, जो घनीभूत होकर हमारी दृष्टि के सामने घूमती रहती हैं। लेकिन हम भूल जाते हैं कि समस्त संसार और ख़ासकर उन हिस्सों में, जहां उद्योग-धन्धे बहुतायत से छा गये हैं, इसने भौतिक प्रगति की ऐसी बुनियाद डाल दी है, जो बहुजन समाज के लिए सांस्कृतिक और आध्यात्मिक प्रगति को अत्यन्त सुगम कर देती है। यह बात हिन्दुस्तान में या दूसरे औपनवेशिक देशों में साफ़ ज़ाहिर नहीं दिखाई देती है, क्योंकि हम लोगों ने उद्योगवाद से फ़ायदा नहीं उठा पाया है। हम लोगों का तो उलटा उद्योगवाद ने शोषण किया है, और बहुत-सी बातों में हमारी हालत, आर्थिक दृष्टि से भी, पहले से भी बदतर हो गई है—सांस्कृतिक और आध्यात्मिक दृष्टि से तो वह और भी ज़्यादा बदतर हो गई है। इस मामले में क़ुसूर उद्योगवाद का नहीं, बल्कि विदेशी आधिपत्य का है। हिन्दुस्तान में जो चीज़ पश्चिमीकरण के नाम से पुकारी जाती है उसने कम-से-कम इस वक़्त के लिए तो, असल में, माण्डलिकशाही को और भी मज़बूत कर दिया है। उसने हमारे एक भी मसले को हल करने के बदले उसे और भी पेचीदा कर दिया है।

लेकिन यह तो हमारी बदक़िस्मती की बात हुई। मगर इस दृष्टि से हमें आज की दुनिया को नहीं देखना चाहिए। क्योंकि मौजूदा हालत में तमाम समाज के लिए या उत्पादन-व्यवस्था के लिए धनवान लोग अब न तो ज़रूरी ही रहे हैं, न वांछनीय ही। अब वे फ़िज़ूल हो गये हैं और हर वक़्त हमारे रास्ते में रोड़े की तरह अटकते हैं। और धर्माचार्यों के उस पुरातन उपदेश के कोई मानी नहीं रहे, कि धनवान लोग दान-पुण्य करें और ग़रीब जिस हालत में हैं, उसीमें सन्तुष्ट रहें और उसके लिए ईश्वर का धन्यवाद करें, मितव्ययी बनें और भले आदमियों की तरह रहें। अब तो मानव-समाज के साधन प्रचुरता से बढ़ गये हैं, और वह सांसारिक समस्याओं का सामना कर उनका उपाय कर सकता है। ज़्यादातर अमीर लोग निश्चित रूप से दूसरों के श्रम के बल पर जीवन व्यतीत करते हैं, और समाज में ऐसे पराश्रयी समुदाय का होना न केवल इन उत्पादक शक्तियों के मार्ग में बाधा है बल्कि उनका अपव्यय करनेवाला भी है। यह वर्ग और इस वर्ग को पैदा करने वाली व्यवस्था वास्तव में उद्यम और पैदावार को रोकती है और समाज के दोनों सिरों पर बेकारों को प्रोत्साहन देती है; यानी उन लोगों को जो दूसरों की मेहनत पर चैन करते हैं और उनको भी जिनको

कोई काम ही नहीं मिलता और इसलिए भूखों मरते हैं। खुद गांधीजी ने कुछ वक़्त पहले लिखा था—"बेकार और भूखों मरनेवाले लोगों के लिए तो मज़दूरी और वेतन के रूप में भोजन का आश्वासन ही ईश्वर हो सकता है। ईश्वर ने मनुष्यों को इसलिए पैदा किया था कि वे कमाकर खायें और उसने कह दिया है कि जो बिना कमाये खाते हैं वे चोर हैं।"

वर्तमान युग की पेचीदा समस्याओं को प्राचीन पद्धतियों और सूत्रों का प्रयोग कर समझने का प्रयत्न करना और उनके बारे में बीते हुए ज़माने की भाषा का प्रयोग करना उलझन पैदा करना और असफलता को निमन्त्रित करना है; क्योंकि, उस ज़माने में ये समस्याएं पैदा ही नहीं हुई थीं। कुछ लोगों की यह धारणा है कि निजी सम्पत्ति पर स्वामित्व की कल्पना संसार के आदिकाल से चली आनेवाली कल्पनाओं में से एक है; किन्तु वास्तव में यह सदा बदलती रही है। एक ज़माना था जबकि गुलामों की गिनती सम्पत्ति में की जाती थी। इसी तरह स्त्रियां और बालकों, पति का नववधू की पहली रात पर अधिकार, और सड़कों, मन्दिरों, नावों, पुलों, सार्वजनिक उपयोग की वस्तुओं एवं वायु और भूमि—इन सब पर स्वामित्व के अधिकार का उपभोग किया जा सकता था। पशु अब भी मिल्कियत समझे जाते हैं, हालांकि अनेक देशों में उनपर स्वामित्व का अधिकार बहुत मर्यादित कर दिया गया है। युद्ध के समय में तो निजी सम्पत्ति के अधिकारों पर लगातार कुठाराघात होता रहता है। निजी सम्पत्ति दिन-पर-दिन स्थूल रूप छोड़कर नये-नये रूप धारण कर रही है—जैसे शेयर, या बैंक में जमा की हुई और कर्ज़ के रूप में दी गई पूंजी। ज्यों-ज्यों सम्पत्ति-सम्बन्धी धारणा बदलती जाती है, राज्य अधिकाधिक दस्तंदाज़ी करता जाता है और जनता की मांगों के फलस्वरूप सम्पत्तिवालों के अन्धाधुन्ध अधिकारों को सीमित कर देता है। अनेक प्रकार के भारी-भारी टैक्स सार्वजनिक हित के लिए व्यक्तिगत सम्पत्ति के अधिकारों का अपहरण कर लेते हैं; ये कर एक प्रकार की ज़ब्ती हैं, सार्वजनिक हित सार्वजनिक नीति की बुनियाद हैं और किसी व्यक्ति को यह हक़ नहीं है कि अपने साम्पत्तिक अधिकारों की रक्षा के लिए भी इस सार्वजनिक हित के विरुद्ध काम करे। अगर देखा जाय तो पिछले ज़माने में भी ज़्यादातर लोगों के कोई साम्पत्तिक अधिकार नहीं थे; वे खुद ही दूसरों की मिल्कियत बने हुए थे। आज भी बहुत कम लोगों को ये हक़ हासिल हैं। स्थापित स्वार्थों की

बात बहुत सुनाई देती है, लेकिन आजकल तो एक नया स्थापित स्वार्थ और माना जाने लगा है, और वह यह कि हर औरत और मर्द को यह हक़ है कि वह ज़िन्दा रहे, मेहनत करे और अपनी मेहनत के फलों का उपभोग करे। इन बदलती रहने-वाली धारणाओं के कारण मिल्कियत और सम्पत्ति का लोप नहीं हो गया है, बल्कि उनका क्षेत्र और अधिक व्यापक हो गया है; मिल्कियत और सम्पत्ति के कुछ थोड़े ही लोगों के पास केन्द्रित हो जाने से इन मुट्ठी-भर लोगों को दूसरों पर जो अधिकार प्राप्त हो गया था वह फिर सारे समाज के हाथों में वापस ले लिया गया है।

गांधीजी लोगों का आन्तरिक, नैतिक और आध्यात्मिक सुधार चाहते हैं और इस प्रकार सारी बाह्य परिस्थिति को ही बदल देना चाहते हैं। वह चाहते हैं कि लोग बुरी आदतें छोड़ दें, इन्द्रिय-भोगों को तिलांजलि दे दें और पवित्र बनें। वह इस बात पर ज़ोर देते हैं कि लोग ब्रह्मचर्य से रहें, नशा न करें, और सिगरेट वग़ैरा न पीयें। इन व्यसनों में से कौन-सा ज़्यादा बुरा है और कौन-सा कम, इस विषय में लोगों में मतभेद हो सकता है; लेकिन लोभ, स्वार्थ, परिग्रह, व्यक्तिगत लाभ के लिए आपस में भयानक लड़ाई-झगड़ा, समूहों और वर्गों में कलह, एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग का अमानुषिक शोषण और दमन तथा राष्ट्रों की आपस की भयानक लड़ाइयां—इनकी तुलना में ये व्यक्तिगत त्रुटियां, वैयक्तिक दृष्टि से भी और सामाजिक दृष्टि से भी बहुत कम हानिकारक हैं, इस बात में क्या किसीको शक हो सकता है ? यह सच है कि गांधीजी समस्त हिंसा और पतनकारी कलह से घृणा करते हैं। लेकिन ये चीजें क्या आजकल के स्वार्थी पूंजीपति समाज में स्वाभाविक रूप में मौजूद नहीं हैं, जिसका नियम यह है कि 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' और पुराने ज़माने की तरह जिसका मूलमन्त्र यह है कि "जिनकी बांहों में ताक़त है वे जो चाहें सो ले लें और जो चाहें अपने पास रख लें ?" इस युग की मुनाफे की भावना का लाज़िमी परिणाम संघर्ष होता है। यह सारी व्यवस्था मनुष्य की लूट-खसोट की सहज वृत्तियों का पोषण करती है और उसको फलने-फूलने की पूरी सुविधा देती है। इसमें सन्देह नहीं कि इससे मनुष्य की उच्च भावनाओं को भी शह मिलती है; लेकिन इनकी अपेक्षा उनकी हीन वृत्तियों को कहीं अधिक पोषण मिलता है। इस व्यवस्था के भीतर काम-याबी के मानी हैं दूसरों को नीचे गिरा देना और गिरे हुओं पर चढ़ बैठना। अगर

समाज इन उद्देश्यों और महत्त्वाकांक्षाओं को प्रोत्साहित करता है, और इन्हींकी तरफ़ समाज के सर्वोत्तम व्यक्ति आकृष्ट होते हैं, तो क्या गांधीजी यह समझते हैं कि ऐसे वातावरण में वह मानव-समाज को सदाचारी बनाने के अपने आदर्श को पूरा कर सकेंगे ? वह सर्वसाधारण को सेवापरायण बनाना चाहते हैं। सम्भव है, कुछ व्यक्तियों को बनाने में उन्हें कामयाबी भी मिल जाय, लेकिन जबतक समाज लोभी व्यक्तियों को आदर्श के रूप में रक्खेगा और व्यक्तिगत लाभ की भावना उसकी प्रेरक शक्ति बनी रहेगी, तबतक बहुजन तो इसी मार्ग पर चलते रहेंगे।

लेकिन यह प्रश्न अब केवल सदाचार या नीति-शास्त्र का नहीं है। यह तो आजकल का व्यावहारिक और एक बहुत ज़रूरी प्रश्न है; क्योंकि दुनिया ऐसे दलदल में फंस गई है जिससे निकलने की कोई उम्मीद नहीं। उसमें से उसे निकालने के लिए कोई-न-कोई रास्ता ढूंढ़ना ही होगा। 'मिकावर'[1] की तरह हम इस बात का इन्तज़ार नहीं कर सकते कि कुछ-न-कुछ अपने-आप हो जायगा। न तो पूंजीवाद, समाजवाद, कम्युनिज़्म आदि के बुरे पहलुओं की निरी आलोचना करने से और न यह निराधार आशा लगाये बैठे रहने से, कि कोई ऐसा बीच का रास्ता निकल आयेगा जो अभीतक की सब पुरानी और नई पद्धतियों की चुनी हुई अच्छी-से-अच्छी बातों का समन्वय कर देगा, कुछ काम चलेगा। रोग का निदान करना होगा, उसके उपचार का पता लगाना होगा, और उसे काम में लाना पड़ेगा। यह बिलकुल निश्चित है कि हम जहां हैं, वहां-के-वहीं खड़े नहीं रह सकते—न तो राष्ट्रीय दृष्टि से, न अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से ही। हमारे लिए दो ही रास्ते हो सकते हैं, या तो पीछे हटें या आगे बढ़ें। लेकिन शायद इस बात में संकल्प-विकल्प का स्थान ही नही है, क्योंकि पीछे हटने की तो कल्पना ही नहीं की जा सकती।

फिर भी गांधीजी की बहुत-सी प्रवृत्तियों से यह मालूम पड़ता है कि उनका

---

[1] मिकावर विल्किन्स, चार्ल्स डिकिन्स के 'डेविड कॉपरफील्ड' नामक उपन्यास का एक प्रसिद्ध पात्र है, जो क्षण-भर में उदास और क्षण-भर में प्रसन्न हो जाता था। वह बड़ा अदूरदर्शी था और इसलिए हमेशा मुसीबतों का शिकार रहता था। वह सदैव इस बात की प्रतीक्षा में रहता था कि अपने-आप कुछ-न-कुछ होने ही वाला है। —अनु०

ध्येय अत्यन्त संकुचित स्वावलम्बी व्यवस्था को फिर से ले आना है। वह न केवल राष्ट्र बल्कि गांव तक को स्वावलम्बी बना देना चाहते हैं। प्राचीन काल के समाजों में गांव लगभग स्वावलम्बी थे। वे अपने खाने को नाज, पहनने को कपड़े और अपनी ज़रूरतों के दूसरे सामान स्वयं पैदा कर लेते थे। निश्चय ही इसके मानी यह हैं कि लोग बहुत ही ग़रीबाना ढंग से रहते होंगे। मैं यह नहीं समझता कि गांधीजी हमेशा के लिए यही लक्ष्य बनाये रखना चाहते हैं, क्योंकि यह तो असम्भव लक्ष्य है। ऐसी हालत में जिन देशों की जनसंख्या बहुत अधिक है, वे तो ज़िन्दा ही नहीं रह सकते, इसलिए वे इस बात को बरदाश्त नहीं करेंगे कि इस कष्टमय और भूखों मरने की स्थिति की ओर लौटा जाय। मेरा ख़याल है कि हिन्दुस्तान जैसे कृषि-प्रधान देश में, जहां कि रहन-सहन का स्टैंडर्ड बहुत नीचा है, ग्रामीण उद्योगों को तरक़्क़ी देकर वहां की जनता के पैमाने को कुछ ऊंचा कर सकते हैं। लेकिन हम लोग बाक़ी दुनिया से उसी तरह बंधे हुए हैं जैसे दूसरे देश बंधे हुए हैं, और मुझे यह बात बिलकुल अनहोनी मालूम देती है कि हम दुनिया से अलग होकर रह सकेंगे, इसलिए हमें सब बातों को तमाम दुनिया की निगाह से देखना होगा और इस दृष्टि से देखने पर संकुचित स्वावलम्बी व्यवस्था की कल्पना नहीं हो सकती। व्यक्तिगत रूप से मैं तो उसे सब दृष्टियों से अवांछनीय समझता हूं।

अनिवार्य रूप से हमारे पास सिर्फ एक ही संभव उपाय रह जाता है और वह है समाजवादी व्यवस्था की स्थापना। यह व्यवस्था पहले राष्ट्रीय सीमाओं के भीतर स्थापित होगी, फिर कालान्तर में समस्त संसार में व्याप्त हो जायगी। इस व्यवस्था में सम्पत्ति का उत्पादन और बंटवारा सार्वजनिक हित की दृष्टि से और जनता के हाथों से होगा। यह कार्य कैसे हो, यह एक दूसरा सवाल है। लेकिन इतनी बात साफ है कि यदि जिन थोड़े-से लोगों को मौजूदा व्यवस्था से फ़ायदा पहुंचता है, वे उसे बदलने में ऐतराज़ करते हैं, तो हमें केवल उनके ख़याल से अपने राष्ट्र या मनुष्य-जाति की भलाई का काम नहीं रोकना चाहिए। अगर राजनैतिक या सामाजिक संस्थाएं इस प्रकार के परिवर्तन में विघ्न डालती हैं, तो उन संस्थाओं को मिटाना होगा। इस वांछनीय और व्यावहारिक आदर्श को तिलांजलि देकर उन संस्थाओं से समझौता करना सरासर ग़द्दारी होगी। इन परिवर्तनों के लिए कुछ हद तक दुनिया की हालत मजबूर कर सकती है, और इनकी रफ़्तार तेज़ कर सकती है, लेकिन वे तभी हो सकेंगे जब बहुत बड़ी संख्या में लोग उन्हें

चाहेंगे और स्वीकार करेंगे। चाहे इसीलिए लोगों को समझा-बुझाकर इन परिवर्तनों के पक्ष में कर लेने की आवश्यकता है। मुट्ठी-भर लोगों के षड्यन्त्र करके हिंसात्मक काम करने से काम नहीं चलेगा। जिन लोगों को मौजूदा व्यवस्था से फ़ायदा पहुंचता है, उनको भी अपनी तरफ़ मिलाने की कोशिश करनी चाहिए; लेकिन यह बात मुमकिन नहीं मालूम होती कि उनमें से अधिकांश कभी हमारी तरफ़ हो सकेंगे।

खादी-आन्दोलन—हाथ-कताई और हाथ-बुनाई—गांधीजी को विशेष रूप से प्रिय है। यह व्यक्तिगत आन्दोलन का तीव्र रूप है और इस तरह वह हमें औद्योगिक ज़माने से पीछे फेंक देता है। आजकल के किसी भी बड़े मसले को हल करने के लिहाज़ से आप उसपर बहुत भरोसा नहीं कर सकते। इसके अलावा उससे एक ऐसी मनोवृत्ति पैदा होती है जो हमें सही दिशा की तरफ़ बढ़ने देने में अड़चन साबित हो सकती है। फिर भी, मैं मानता हूं कि कुछ समय के लिए उसने बहुत फ़ायदा पहुंचाया और भविष्य में भी उस समय तक के लिए लाभदायक हो सकता है, जबतक सरकार व्यापक रूप से देश-भर के लिए कृषि और उद्योग-धन्धे-सम्बन्धी प्रश्नों को ठीक तरह से हल करने का भार अपने ऊपर नहीं ले लेती। हिन्दुस्तान में इतनी ज़्यादा बेकारी है जिसका कोई हिसाब ही नहीं है, और देहाती क्षेत्रों में तो आंशिक बेकारी इससे भी कहीं ज़्यादा है। सरकार की तरफ़ से इस बेकारी का मुक़ाबला करने के लिए कोई कोशिश ही नहीं की गई है, न उसने बेकारों को किसी किस्म की मदद देने की कोशिश की है। आर्थिक दृष्टि से खादी ने पूर्ण रूप या आंशिक रूप से बेकार लोगों को कुछ थोड़ी-सी मदद ज़रूर दी है; और चूंकि उनको जो मदद मिली, वह उनकी अपनी कोशिश से मिली, इसलिए उसने उनके आत्मविश्वास का भाव बढ़ाया है, और उनमें स्वाभिमान का भाव जागृत कर दिया है। सच बात यह है कि खादी का सबसे अच्छा परिणाम मन पर पड़ा है। खादी ने शहरवालों और गांववालों के बीच की खाई को पाटने की कोशिश में कुछ कामयाबी हासिल की है। उसने मध्यमवर्ग के पढ़े-लिखे लोगों और किसानों को एक-दूसरे के नज़दीक पहुंचाया है। कपड़ों का पहननेवालों और देखनेवालों दोनों के ही मन पर बहुत असर पड़ता है। इसलिए जब मध्यमवर्ग के लोगों ने सफ़ेद खादी की सादी पोशाक पहननी शुरू की तो उसके फलस्वरूप सादगी बढ़ी, पोशाक में दिखावा और गंवारूपन कम हो गया, और सर्वसाधारण

के साथ एकता का भाव बढ़ा। निम्न मध्यमवर्ग के लोगों ने कपड़ों के मामलों में धनिकों की नक़ल करना और सादी पोशाक पहनने में किसी किस्म की बेइज़्ज़ती समझना छोड़ दिया। इतना ही नहीं, इससे विपरीत जो लोग अब भी रेशम और मलमल पर नाज़ करते थे, उनसे वे अपनेको ज्यादा प्रतिष्ठित और कुछ ऊंचा समझने लगे। ग़रीब-से-ग़रीब आदमी भी खादी पहनकर आत्म-सम्मान और प्रतिष्ठा अनुभव करने लगा। जहां बहुत-से खादी-धारी लोग जमा हो जाते थे वहां यह पहचानना मुश्किल हो जाता था कि इनमें कौन अमीर है और कौन ग़रीब, और इन लोगों में बन्धुत्व का भाव पैदा हो जाता था। इसमें कोई शक नहीं कि खादी ने कांग्रेस को जनता के पास पहुंचने में मदद दी। वह राष्ट्रीय स्वाधीनता की वर्दी हो गई।

इसके अलावा मिल-मालिकों की कपड़े की क़ीमतें बढ़ाते जाने की प्रवृत्ति भी खादी ने रोकी। पहले हिन्दुस्तान के मिल-मालिकों को सिर्फ़ एक ही डर क़ीमतें बढ़ाने से रोकता था, और वह था विलायती, ख़ासतौर पर लंकाशायर के, कपड़ों की क़ीमतों का मुक़ाबला। जब कभी यह मुक़ाबला बन्द हो जाता, जैसा कि विश्वव्यापी महायुद्ध के ज़माने में हुआ था, तभी हिन्दुस्तान में कपड़ों की क़ीमत बेहद चढ़ जाती और हिन्दुस्तान की मिलें भारी मुनाफ़ा कमातीं। इसके बाद 'स्वदेशी' तथा 'विलायती कपड़ों के बहिष्कार' के आन्दोलन ने भी इन मिलों की बहुत बड़ी मदद की; लेकिन जब से खादी मुक़ाबले पर आ डटी तब से बिलकुल दूसरी बात हो गई और मिल के कपड़ों की कीमतें उतनी न बढ़ सकीं जितनी वे खादी के न होने पर बढ़तीं। वस्तुतः मिलों ने (साथ ही जापान ने) लोगों की खादी की भावना से नाजायज़ फ़ायदा उठाया। उन्होंने ऐसा मोटा कपड़ा तैयार किया, जिसका हाथ के कते और हाथ के बुने कपड़े से भेद करना मुश्किल हो गया। युद्ध-जैसी किसी असाधारण परिस्थिति से विलायती कपड़े का हिन्दुस्तान में आना बन्द हो जाने पर हिन्दुस्तानी मिल-मालिकों के लिए कपड़ों के खरीदारों को अब १९१४ की तरह लूट सकना मुमकिन नहीं रहा। खादी-आन्दोलन उन्हें ऐसा करने से रोकेगा। खादी-संगठन में इतनी ताक़त है कि वह थोड़े ही दिनों में अपना काम बढ़ा सकता है।

लेकिन हिन्दुस्तान में खादी-आन्दोलन के इन सब फ़ायदों के होते हुए भी मुझे ऐसा मालूम होता है कि वह संक्रमण-काल की ही वस्तु हो सकती है। सम्भव

है, कि मुख्य आर्थिक व्यवस्था—समाजवादी व्यवस्था क़ायम होने तक वह एक सहायक प्रवृत्ति के रूप में भविष्य में भी चलता रहे। लेकिन भविष्य में तो हमारी मुख्य शक्ति कृषि-सम्बन्धी वर्तमान अवस्था में आमूल परिवर्तन करके औद्योगिक धन्धों के प्रसार में लगेगी। कृषि-सम्बन्धी समस्याओं के साथ खिलवाड़ करने से और उन अगणित कमीशनों को बढ़ाने से जो लाखों रुपये खर्च करने के बाद—सिर्फ़ ऊपरी ढांचे में छुटपुट परिवर्तन करने की तुच्छ तजवीज़ें करते हैं—ज़रा भी काम नहीं चलेगा। हमारे यहां जो भूमि-व्यवस्था जारी है वह हमारी आंखों के सामने ढहती जा रही है, और वह पैदावार के लिए, बंटवारे के लिए, और युक्तियुक्त तथा बड़े पैमाने पर कृषि-प्रयोगों के लिए एक अड़चन साबित हो रही है। इस व्यवस्था में आमूल परिवर्तन करके छोटे-छोटे खित्तों की जगह संगठित सामूहिक और सहकारी कृषि-प्रणाली से थोड़े परिश्रम द्वारा अधिक पैदावार करके ही हम मौजूदा हालत का मुक़ाबला कर सकते हैं। यह ठीक है कि (जैसा गांधीजी को डर है) बड़े पैमाने पर काम कराने से खेतों पर मज़दूरी करनेवालों की तादाद कम हो जायगी; लेकिन खेती का काम ऐसा नहीं है कि उसमें हिन्दुस्तान के तमाम लोग लग जायेंगे या लग ही सकेंगे। कुछ लोग तो छोटे उद्योगों में लग जायंगे, लेकिन ज़्यादातर लोगों को ख़ासतौर पर बड़े पैमाने पर समाजोपयोगी काम-धन्धों में लगना होगा।

यह सच है कि बहुत-से प्रदेशों में खादी से कुछ राहत मिली है, लेकिन उसकी इस कामयाबी में ही एक ख़तरा भी छिपा हुआ है। वह यहां की जीर्ण-शीर्ण भूमि-व्यवस्था को पोषण दे रही है और उस हदतक उसकी जगह एक उन्नत व्यवस्था के आने में देर लगा रही है। यह ज़रूर है कि खादी का यह असर इतना ज़्यादा नहीं है कि उसमें कोई ख़ास फ़र्क़ पड़े, लेकिन वह प्रवृत्ति तो मौजूद है। किसान या छोटे किसान-ज़मींदार को उसके खेतों की पैदावार का जो हिस्सा मिलता है वह अब इतना काफ़ी भी नहीं रहा कि वह अपनी बहुत गिरी हुई हालत में भी उससे अपना गुज़ारा कर ले। अपनी तुच्छ आय बढ़ाने के लिए उसे बाहरी साधनों का सहारा लेना पड़ता है, या जैसा कि आमतौर पर होता है, उसे अपना लगान या अपनी मालगुज़ारी अदा करने के लिए और भी ज़्यादा कर्ज़ में फंसना पड़ता है। इस तरह किसान को खादी वग़ैरा से जो अतिरिक्त आमदनी होती है उससे सरकार या ज़मींदार को अपना हिस्सा वसूल करने में मदद मिलती है। अगर यह

अतिरिक्त आमदनी न होती तो सरकार या ज़मींदार इस प्रकार वसूली न कर सकते। अगर यह अतिरिक्त आमदनी और बढ़ जाय, तो मुमकिन है कि कुछ दिनों बाद लगान भी इतना बढ़ जायगा कि वह भी उसीमें चली जायगी। मौजूदा व्यवस्था में काश्तकार कितनी ज्यादा मेहनत करेगा और जितनी ज़्यादा किफ़ायत-शारी करने की कोशिश करेगा, आख़िर में ज़मींदार को उतना ही ज्यादा फ़ायदा पहुंचेगा। जहां तक मुझे याद है, हेनरी जार्ज ने 'प्रगति और ग़रीबी' (प्रोग्रेस एण्ड पावर्टी) नामक किताब में इस मामले को, ख़ासतौर पर आयरलैंड की मिसालें दे-देकर, अच्छी तरह समझाया है।

ग्रामोद्योगों का पुनरुद्धार करने का गांधीजी का प्रयत्न उनके खादीवाले कार्यक्रम का विस्तार ही है। उससे तात्कालिक लाभ कुछ अंश में तो स्थायी, परन्तु अधिकांश में अस्थायी होगा। वह गांववालों की उनकी मौजूदा मुसीबत में मदद करेगा और कुछ मृतप्राय सांस्कृतिक और कला-कौशल सम्बन्धी शक्तियों को पुनर्जीवित कर देगा। लेकिन यह कोशिश मशीनों और उद्योगवाद के खिलाफ़ एक हदतक बग़ावत है, इसलिए इसे कामयाबी नही मिलेगी। हाल ही में 'हरिजन' में ग्रामोद्योगों के बारे में गांधीजी ने लिखा है—"मशीनों से उस वक़्त काम लेना अच्छा है जब जिस काम को हम पूरा करना चाहते हैं उसके लिए आदमी बहुत कम हों। लेकिन जैसा कि हिन्दुस्तान में है, अगर काम के लिए जितने आदमियों की ज़रूरत है उससे ज़्यादा आदमी मौजूद हों तो मशीनों से काम लेना बुरा है। .... हम लोगों के सामने यह सवाल नही है कि हम अपने गांव के रहनेवाले करोड़ों लोगों को काम से छुट्टी या फुरसत किस तरह दिलायें। हमारे सामने सवाल तो यह है, कि हम उनकी साल में काम में छः महीनों के बराबर बेकारी की घड़ियों का किस तरह इस्तेमाल करें।" लेकिन यह ऐतराज़ तो थोड़ी-बहुत मात्रा में बेकारी की मुसीबत में पड़े हुए सब मुल्क़ों पर लागू होता है। लेकिन लोगों के करने के लिए काम नहीं है, ख़राबी यह नहीं है। ख़राबी यह है कि मौजूदा मुनाफ़ा उठाने की प्रणाली में अधिक लोगों को काम में लगाना मिल-मालिकों को लाभकर नहीं होता। काम की तो इतनी बहुतायत है कि वह पुकार-पुकारकर कह रहा है कि आओ, आओ और मुझे पूरा करो—जैसे सड़कों का बनाना, सिंचाई का इन्तज़ाम करना, सफ़ाई और दवादारू की सहूलियतें फैलाना, उद्योग तथा बिजली का, सामाजिक और सांस्कृतिक सेवाओं का और शिक्षा का प्रसार करना

और लोगों के पास जिन बीसियों ज़रूरी चीज़ों की कमी है उनके जुटाने का इन्तज़ाम करना। हमारे करोड़ों भाई अगले पचास साल तक इन कामों में बड़ी मेहनत करके भी उन्हें ख़त्म न कर पायेंगे और लोगों को काम मिलते रहेंगे। लेकिन यह सब तभी हो सकता है जबकि प्रेरक शक्ति समाज की उन्नति करना हो, न कि मुनाफ़े की वृत्ति; और समाज इन कामों की योजना सार्वजनिक भलाई के लिए करे। सोवियत यूनियन में और चाहे कितनी खामियां हों, लेकिन वहां एक भी आदमी बेकार नहीं है। हमारे भाई इसलिए बेकार नहीं है कि उनके लिए कोई काम नहीं है; बल्कि इसलिए बेकार हैं, कि उन्हें काम की और सांस्कृतिक उन्नति की सुविधाएं प्राप्त नहीं हैं। अगर बच्चों से मज़दूरी कराना क़ानूनन रोक दिया जाय, अमुक उम्र तक हरेक के लिए पढ़ना लाज़िमी कर दिया जाय, तो लड़के और लड़कियां मज़दूरों और बेकारों की संख्या में नहीं रहेंगी और मज़दूरों के बाज़ार में से करोड़ों भावी मज़दूरों का बोझ हलका हो जायगा।

गांधीजी ने चर्खे और तकली में सुधार करने और उनकी उत्पादनशक्ति बढ़ाने की कोशिश में कुछ कामयाबी हासिल की है। लेकिन यह कोशिश तो औज़ार और मशीन में तरक़्क़ी करने की कोशिश है; और अगर तरक़्क़ी जारी रही (बिजली से चलाये जाने वाले घरेलू उद्योग-धन्धों की कल्पना असम्भव नहीं है), तो मुनाफे की भावना फिर आ घुसेगी और उसके परिणामस्रूप अधिक उपज तथा बेकारी बढ़ेगी। जबतक हम ग्रामोद्योगों में आधुनिक औद्योगिक यन्त्रों का उपयोग नहीं करेंगे तबतक हम उन भौतिक और सांस्कृतिक पदार्थों को भी नहीं बना सकेंगे जिनकी हमें अत्यन्त आवश्यकता है। फिर ये धन्धे मशीन का मुक़ाबला नहीं कर सकते। हमारे देश में जो बड़े-बड़े कारख़ाने चल रहे हैं उन्हें रोक देना क्या ठीक होगा या सम्भव होगा? गांधीजी ने बराबर यह कहा है कि वह मशीन-मात्र के ख़िलाफ़ नहीं है। ऐसा मालूम होता है कि वह यह समझते हैं कि आज हिन्दुस्तान में मशीन के लिए कोई जगह नहीं है। लेकिन क्या हम लोहे और इस्पात-जैसे महत्वपूर्ण उद्योगों को या इनसे पहले से मौजूद नाना प्रकार के उद्योगों को समेटकर बन्द कर सकते हैं।

साफ़ ज़ाहिर है कि हम ऐसा नहीं कर सकते। अगर हमें अपने यहां रेल, पुल, आवागमन के साधन वग़ैरा रखने हैं, तो हमें ये चीज़ें या तो ख़ुद बनानी पड़ेंगी या दूसरों पर निर्भर रहना होगा। अगर हमें स्वरक्षा के साधन अपने पास रखने हैं,

तो हमें न सिर्फ़ इन मूल उद्योगों की, बल्कि अत्यन्त विकसित औद्योगिक व्यवस्था की आवश्यकता पड़ेगी। इन दिनों तो कोई भी देश उस वक़्त तक असल में आज़ाद नहीं है और न वह दूसरे देश के हमले का मुक़ाबला ही कर सकता है, जबतक औद्योगिक दृष्टि से वह उन्नत न हो चुका हो। एक मूल उद्योग की सहायता तथा पूर्ति के लिए दूसरे उद्योग की, और अन्ततोगत्वा मशीन बनाने वाले उद्योग की आवश्यकता पड़ती है। इन मूल उद्योगों के चालू होने पर नाना प्रकार के उद्योगों का फैलना अनिवार्य हो जायगा। इस प्रक्रिया को कोई रोक नहीं सकता; क्योंकि इसपर न सिर्फ हमारी भौतिक और सांस्कृतिक उन्नति निर्भर है, बल्कि हमारी आज़ादी भी उसीपर निर्भर है। और बड़े उद्योग जितने ज़्यादा फैलेंगे, छोटे-छोटे ग्रामोद्योग उनका मुक़ाबला उतना ही कम कर सकेंगे। समाजवादी प्रणाली में उनके बचने की थोड़ी-बहुत गुंजाइश हो भी सकती है, लेकिन पूंजीवादी प्रणाली में तो कोई गुंजाइश नही है। समाजवाद में भी ये गृहोद्योग उसी हालत में चालू रह सकते हैं, जब वे ख़ासतौर पर एक ऐसा माल तैयार करें, जो बहुत बड़े पैमाने पर तैयार नहीं किया जाता।

कांग्रेस के कुछ नेता औद्योगीकरण से डरते है। उनका ख़याल है कि उद्योग-प्रधान देशों की आजकल की मुश्किलें बहुत बड़े पैमाने पर माल पैदा करने की वजह से ही पैदा हुई हैं। लेकिन यह तो स्थिति का बहुत ही ग़लत अध्ययन है।[१] अगर सर्वसाधारण को किसी चीज़ की कमी है, तो उस चीज़ को उनके लिए काफ़ी तादाद में तैयार करना क्या कोई बुरी बात है? क्या यही बेहतर है कि बहुत बड़े पैमाने पर माल न तैयार किया जाय और लोग ज़रूरी चीज़ों के बिना ही अपना काम चलायें? स्पष्टतया दोष इस तरह माल तैयार करने का नहीं, बल्कि तैयार किये हुए माल का बंटवारा करनेवाली मूर्खतापूर्ण एवं अयोग्यतापूर्ण प्रणाली का है।

ग्रामोद्योग के प्रचारकों को एक दूसरी मुश्किल यह पड़ती है कि हमारी खेती दुनिया के बाज़ार पर निर्भर है। इसकी वजह से मजबूर होकर किसानों

---

[१] ३ जनवरी १९३५ को अहमदाबाद में भाषण करते हुए सरदार वल्लभभाई पटेल ने कहा था—"सच्चा समाजवाद ग्रामोद्योगों को तरक़्क़ी देने में है। हम यह नहीं चाहते कि बहुत बड़े पैमाने पर माल तैयार करने की वजह से पश्चिमी देशों में जो गड़बड़ियां पैदा हो गई हैं उन्हें हम अपने यहां भी बुलावें।"

सुधारने के लिए इतनी तीव्र भावना रखते हुए भी वह उस पतनोन्मुख व्यवस्था का क्यों समर्थन करते हैं, जो इतना दुःख और इतनी बरबादी पैदा कर रही है ! यह सच है कि वह एक मार्ग ढूंढ़ रहे हैं, लेकिन क्या प्राचीन काल की ओर जाने का वह मार्ग अब पूरी तौर से बन्द नहीं हो गया है ? वह देशी रियासतें, बड़ी-बड़ी ज़मींदारियां और ताल्लुक़ेदारियां और मौजूदा पूंजीवादी प्रणाली आदि प्रगति का विरोध करनेवाले प्राचीन व्यवस्था के जितने भी अवशेष हैं, उन्हें आशीर्वाद देते हैं। क्या ट्रस्टीशिप के उसूल में विश्वास करना उचित है ? क्या इस बात की उम्मीद करना ठीक है कि एक आदमी को अबाध अधिकार और धन-सम्पत्ति दे देने पर वह उसका उपयोग सोलहों आने जनता की भलाई के लिए करेगा ? क्या हममें से श्रेष्ठतम लोग भी इतने पूर्ण हैं कि उनके ऊपर इस हदतक भरोसा किया जा सके ? इस बोझ को तो अफ़लातून की कल्पना के दार्शनिक नरेश भी योग्यतापूर्वक नहीं उठा सकते। क्या दूसरों के लिए यह अच्छा है कि वे अपने ऊपर इन उदार अति-पुरुषों का प्रभुत्व स्वीकार कर लें ? फिर ऐसे अति-पुरुष या दार्शनिक नरेश हैं कहां ? यहां तो सिर्फ मामूली इन्सान हैं, जो अपनी भलाई, अपने विचारों का प्रसार ही सार्वजनिक हित मान लेते हैं। वंशानुगत कुलीनता और प्रतिष्ठा की भावना और धन-दौलत की शेख़ी स्थायी हो जाती है और उसका परिणाम कई तरह घातक ही होता है।

मैं इस बात को दुहरा देना चाहता हूं कि यहां पर मैं इस प्रश्न पर विचार नहीं कर रहा हूं कि यह परिवर्तन किस तरह किया जाय; हमारे रास्ते में जो रोड़े हैं वे किस तरह हटाये जायं—ज़बरदस्ती से या हृदय-परिवर्तन से ? हिंसा से या अहिंसा से ? इस पहलू पर तो बाद में विचार करूंगा। लेकिन परिवर्तन आवश्यक है, यह बात तो मान ही लेनी और साफ़ कर दी जानी चाहिए; क्योंकि यदि नेता और विचारक लोग ही खुद इस बात को खासतौर पर अनुभव न करेंगे

योग्य हित इन करोड़ों मूक प्राणियों के हित का साधक होना चाहिए। आप समय-समय पर विभिन्न हितों में प्रत्यक्ष विरोध देखते हैं, पर अगर सचमुच कोई वास्तविक विरोध हो, तो मैं कांग्रेस की तरफ से यह कहने में जरा भी नहीं हिचकिचाता कि कांग्रेस इन करोड़ों मूक प्राणियों के हितों के लिए दूसरे प्रत्येक हित का बलिदान कर देगी।"

और कहेंगे नहीं, तो वे यह उम्मीद कैसे कर सकते हैं कि वे किसीको अपने ख़याल का बना लेंगे या लोगों में वांछित विचारधारा फैला सकेंगे ? इसमें कोई शक नहीं कि सबसे ज़्यादा शिक्षा तो हमें घटनाओं से मिलती है, लेकिन घटनाओं का महत्व समझने और उनसे अच्छा नतीजा निकालने के लिए यह ज़रूरी है कि हम उनको अच्छी तरह समझें और उनकी ठीक-ठीक व्याख्या करें।

मेरे भाषणों से चिढ़े हुए मेरे दोस्तों और साथियों ने अक्सर मुझसे यह बात पूछी है कि क्या आपको कोई अच्छा और परोपकारी राजा, उदार ज़मींदार और शुभ-चिन्तक, भलामानस पूंजीपति कभी नहीं मिला ? निस्सन्देह मुझे ऐसे आदमी मिले हैं। मैं ख़ुद उस श्रेणी के लोगों में से हूं, जो इन ज़मीदारों और पूंजीपतियों में मिलते-जुलते रहते हैं। मैं तो ख़ुद ही एक ठेठ बुर्जुआ हूं, जिसका लालन-पालन भी बुर्जुओं-सा ही हुआ है और इस प्रारम्भिक शिक्षा ने मेरे दिलोदिमाग़ में जो भले-बुरे संस्कार भर दिये वे सब मुझमें मौजूद हैं। कम्युनिस्ट मुझे अर्द्ध-बुर्जुआ कहते हैं और उनका यह कहना सोलहों आने सही है। शायद अब वे मुझे प्रायश्चित्त करनेवाला बुर्जुआ कहेंगे। लेकिन मैं क्या हूं और क्या नहीं, यह सवाल ही नहीं है। जातीय, अन्तर्राष्ट्रीय, आर्थिक और सामाजिक मसलों को कुछ इने-गिने व्यक्तियों की निगाह से देखना ठीक नहीं है। वे ही दोस्त ज़ो मुझसे ऐसे सवाल करते हैं, यह कहते कभी नहीं थकते कि हमारी लड़ाई पाप से है, पापी से नहीं। मैं तो इस हद तक भी नहीं जाता। मैं तो यह कहता हूं कि व्यक्तियों से मेरा कोई झगड़ा नहीं, मेरा झगड़ा तो प्रणालियों से है। यह ठीक है कि प्रणाली बहुत हद तक व्यक्तियों और समूहों में ही मूर्तिमान होती है, और इन व्यक्तियों और समूहों को हमें या तो अपने ख़याल का कर लेना पड़ेगा या उनसे लड़ना पड़ेगा। लेकिन अगर कोई प्रणाली किसी काम की नहीं रही हो और भार-स्वरूप हो गई हो तो उसे मिट जाना पड़ेगा, और जो समूह या वर्ग उससे चिपके हुए हैं उन्हें भी बदलना पड़ेगा। परिवर्तन की इस क्रिया में यथासम्भव कम-से-कम तकलीफ़ होनी चाहिए, लेकिन बदक़िस्मती से कुछ कष्ट और कुछ गड़बड़ी का होना तो लाज़िमी है। इन छोटे-मोटे अनिवार्य कष्टों के डर से ही बड़े-बड़े कष्टों को बरदाश्त नहीं किया जा सकता।

मनुष्य के राजनैतिक, आर्थिक या सामाजिक, हर प्रकार की समाज-रचना के मूल में कोई तात्त्विक विचार होता है। जब इस रचना का युग बदलता है तो

उसका तात्त्विक आधार भी बदलना चाहिए जिससे वह उनके अनुकूल हो जाय और उससे पूरा-पूरा लाभ उठाया जा सके। आमतौर पर घटनाएं इतनी तेजी से बढ़ती हैं कि विचारादर्श पिछड़ जाते हैं और यही सब मुसीबतों की जड़ है। लोकतन्त्र और पूंजीवाद दोनों ही उन्नीसवीं सदी में पैदा हुए, लेकिन वे एक-दूसरे के अनुकूल नहीं थे। उन दोनों में बुनियादी भेद था, क्योंकि लोकतन्त्र तो अधिक लोगों को ताक़त देने पर ज़ोर देता था, जबकि पूंजीवाद में असली ताक़त थोड़े-से लोगों के हाथ में रहती थी। यह बेमेल जोड़ा किसी तरह कुछ अरसे तक तो इसलिए साथ-साथ चलता रहा, क्योंकि राजनैतिक पार्लमेंटरी लोकतन्त्र स्वयं एक अत्यन्त संकुचित लोकतन्त्र था, और आर्थिक एकाधिपत्य और शक्ति के केन्द्रीकरण की वृद्धि रोकने में उसने कोई ख़ास हस्तक्षेप नहीं किया था।

फिर भी ज्यों-ज्यों लोकतन्त्र की भावना बढ़ती गई, इन दोनों का सम्बन्ध-विच्छेद अनिवार्य हो गया और अब उसका वक़्त आ गया है। आज पार्लमेंटरी पद्धति बदनाम हो गई है और उसकी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप सब क़िस्म के नये-नये नारे सुनाई पड़ रहे हैं। इसी वजह से हिन्दुस्तान में ब्रिटिश सरकार और भी ज्यादा प्रतिगामी हो गई है, और राजनैतिक स्वतन्त्रता की ऊपरी बातें तक रोक लेने का उसे बहाना मिल गया है। अजीब बात तो यह है कि हिन्दुस्तानी राजा-महाराजा भी इसी आधार पर अपनी अबाध निरंकुशता को उचित ठहराते हैं और उसी मध्यकालीन स्थिति को जारी रखने के इरादे का ज़ोरों से ऐलान करते हैं, जोकि दुनिया में अब और कहीं नहीं पाई जाती।[1] लेकिन पार्लमेंटरी लोकतन्त्र

---

[1] २२ जनवरी १९३५ को दिल्ली में, नरेन्द्रमंडल के चांसलर महाराजा पटियाला ने भाषण करते हुए उन हिन्दुस्तानी राजनीतिज्ञों की राय का जिक्र किया था, जो इस आशा से संघ-शासन के समर्थक हैं कि परिस्थितियां देशी नरेशों को अपने यहां लोकतन्त्रात्मक शासन-पद्धति जारी करने के लिए विवश करेंगी। उन्होंने कहा—"हिन्दुस्तान के राजा लोग अपनी प्रजा के लिए सर्वोत्तम कामों को करने के लिए हमेशा राज़ी रहे हैं और आगे भी वे समय की रफ़्तार के मुताबिक़ अपनेको और अपने विधानों को बनाने के लिए तैयार रहेंगे। फिर भी हमें यह भी साफ़-साफ़ कह देना चाहिए कि अगर ब्रिटिश भारत यह उम्मीद करता है कि वह हमें इस बात के लिए मजबूर कर देगा कि हम अपने स्वस्थ राजकीय शरीर पर

में त्रुटि यह नहीं है कि वह बहुत आगे बढ़ गया है, बल्कि यह है कि उसे जितना आगे बढ़ना चाहिए था उस हदतक आगे नहीं बढ़ा है। वह काफ़ी लोकतन्त्रीय नहीं है, क्योंकि उसमें आर्थिक स्वतन्त्रता की कोई व्यवस्था नहीं है और उसके तरीक़े ऐसे धीमे और उलझन भरे हैं कि वे तेज़ रफ्तार से जानेवाले ज़माने के अनुकूल नहीं पड़ते।

इस समय सारे संसार में जो स्वेच्छाचारिता मौजूद है, शायद हिन्दुस्तानी रियासतें उसके उग्र-से-उग्र रूप की प्रतीक हैं। निस्सन्देह वे ब्रिटिश सत्ता के अधीन हैं, लेकिन ब्रिटिश सरकार महज़ ब्रिटिश स्वार्थों की हिफ़ाज़त के लिए या उनकी वृद्धि के लिए ही दस्तन्दाज़ी करती है। सचमुच यह आश्चर्य की बात है कि पुराने ज़माने के ये निर्जीव माण्डलिक गढ़ किस प्रकार इस बीसवीं सदी के ठीक मध्य में इतनी थोड़ी तब्दीली के साथ टिके हुए हैं। वहां का वातावरण दम घोंटनेवाला और स्थिर है। वहां की गति बहुत धीमी है, और परिवर्तन और संघर्ष का आदी और कुछ हद तक इनसे थका हुआ नवागन्तुक वहां पहुंचने पर मूर्च्छा-सी अनुभव करता है और एक प्रकार का धीमा-सा जादू उस पर ग़ालिब

एक बदनाम राजनैतिक सिद्धान्त की सड़ी हुई कमीज़ पहन लेंगे तो वह स्वप्न की दुनिया में रह रहा है।" (इसी सिलसिले में पृष्ठ ६९८ पर मैसूर-दीवान के भाषण का अंश भी देखिए)। उसी दिन नरेन्द्र-मण्डल में भाषण करते हुए बीकानेर के महाराज ने कहा था—"हिन्दुस्तानी राज्यों के शासक हम लोग केवल भाग्य के ही बल पर शासन नहीं कर रहे हैं। और मैं यह कहने की धृष्टता करता हूं कि हममें सैकड़ों वर्ष की वंश-परम्परा से राज करने की सहज वृत्ति है और मुझे विश्वास है कि कुछ-कुछ अंशों में राज-दक्षता हमने विरासत में पाई है। हम जल्दबाज़ी में अविचारपूर्ण निर्णय करने के लिए आगे न धकेल दिये जायं, इस बात का हमें हर वक़्त पूरा-पूरा ख़याल रहना चाहिए।.... और क्या मैं अत्यन्त नम्रता के साथ यह कह दूं, कि देशी राजे किसी के हाथों अपनेको बरबाद हो जाने देने के लिए तैयार नहीं हैं और अगर दुर्भाग्य से कोई ऐसा समय आ ही जाय, जबकि सम्राट् देशी राज्यों की रक्षा के लिए अपने सन्धिगत उत्तरदायित्व को पूरा करने में असमर्थ हो जायं तो राजे और देशी राज्य अपने अधिकारों की रक्षा के लिए आख़िरी दम तक लड़ते-लड़ते मर जायंगे।"

हो जाता है। जिस प्रकार चित्र पर समय का कोई प्रभाव नहीं पड़ता और उसका अपरिवर्तनीय दृश्य सदा आंखों के सामने रहता है और इसलिए अवास्तविक मालूम पड़ता है, उसी प्रकार वहां का दृश्य अवास्तविक मालूम होता है। सर्वथा अज्ञान-भाव से वह भूतकाल की ओर बह जाता है और अपने बचपन के स्वप्नों को देखने लगता है। शस्त्र-सज्जित शूरवीर और सुन्दर तथा वीर कुमारियां, कंगूरोंवाले दुर्ग, प्रेम, शौर्य, आत्माभिमान और गौरव, अनुपम साहस और मृत्यु के प्रति तिरस्कार के अद्भुत-अद्भुत दृश्य उसकी आंखों के सामने घूमने लगते हैं। ख़ासकर अद्भुत शौर्य और पराक्रम और आत्माभिमान की भूमि राजपूताना में जब वह पहुंच जाता है तो ऐसा विशेष रीति से होता है।

लेकिन यह स्वप्न जल्दी ही विलीन हो जाते हैं और विषाद की भावना आ घेरती है। वहां का वातावरण दम घोंटनेवाला है और उसमें सांस लेना मुश्किल हो जाता है। स्थिर और मन्द जल-प्रवाह के नीचे जड़ता और गन्दगी भरी पड़ी है। वहां पर आदमी ऐसा महसूस करने लगता है, मानो वह चारों ओर कांटों की बाड़ से घिरा हुआ है और उसका शरीर और मन जकड़ दिया गया है। उसे वहां के राजमहल की चमक-दमक और शान-शौक़त के सर्वथा विपरीत जनता अत्यन्त पिछड़ी हुई और कष्टपूर्ण अवस्था में दिखाई देती है। राज्य का कितना सारा धन उस महल में राजा की अपनी व्यक्तिगत ज़रूरतों और ऐयाशी में पानी की तरह बहाया जाता है, और किसी सेवा के रूप में जनता के पास उसका कितना कम हिस्सा पहुंचता है! अपने यहां के राजाओं को उत्पन्न करना और उनका पोषण करना भयानक रूप से ख़र्चीला काम है। उन पर किये गए इस अन्धाधुन्ध ख़र्च के बदले में वे हमें वापस क्या देते हैं?

इन रियासतों पर रहस्य का एक परदा पड़ा रहता है। अख़बारों को वहां पनपने नहीं दिया जाता और ज्यादा-से-ज्यादा कोई साहित्यिक या अर्द्धसरकारी साप्ताहिक ही चल सकता है। बाहर के अख़बारों को अक्सर राज्य में आने से रोक दिया जाता है। त्रावणकोर, कोचीन आदि दक्षिण की कुछ रियासतों को छोड़कर—जहां साक्षरता ब्रिटिश भारत से भी कहीं ज्यादा है—दूसरी जगह साक्षरता बहुत ही कम है। रियासतों से जो ख़ास ख़बरें आती हैं वे या तो वाइसराय के दौरे की बाबत होती हैं, जिसमें धूम-धड़ाके, रस्म-रिवाज़ की पूर्ति और एक-दूसरे की तारीफ़ में दिये गए व्याख्यानों का ज़िक्र होता है, या अनाप-शनाप ख़र्च से किये

गए राजा के विवाह अथवा वर्षगांठ-समारोह की, या किसानों के विद्रोह-सम्बन्धी। ब्रिटिश भारत तक में ख़ास क़ानून राजाओं को आलोचना से बचाते हैं। रियासतों के भीतर तो नरम-से-नरम टीका-टिप्पणी भी सख़्ती से दबा दी जाती है। सार्वजनिक सभाओं को तो वहां कोई जानता तक नहीं, और अक्सर सामाजिक बातों के लिए की जानेवाली सभाएं तक रोक दी जाती हैं।[१] बाहर के प्रमुख सार्वजनिक नेताओं को अक्सर रियासत में घुसने से रोक दिया जाता है। १९२५ के क़रीब स्व० देशबन्धु दास बहुत बीमार थे, इसलिए अपना स्वास्थ्य सुधारने के लिए उन्होंने काश्मीर जाने का निश्चय किया। वह वहां किसी राजनैतिक काम के लिए नहीं जा रहे थे। वह काश्मीर की सरहद तक पहुंच चुके थे, लेकिन वहीं रोक दिये गये। श्री जिन्ना तक को हैदराबाद रियासत में जाने से रोक दिया गया, और श्रीमती सरोजिनी नायडू को भी, जिनका घर ही हैदराबाद में है, जाने की इजाज़त नहीं दी गई।

जब रियासतों में यह हाल हो रहा है, तो कांग्रेस के लिए यह स्वाभाविक था कि वह रियासतों में रहनेवाले लोगों के प्रारम्भिक अधिकारों के लिए खड़ी हो जाती और उन पर होनेवाले व्यापक दमन का विरोध करती। लेकिन गांधीजी ने कांग्रेस में रियासतों के सम्बन्ध में एक नई नीति को जन्म दिया। यह नीति "रियासतों के भीतरी इन्तज़ाम में दख़ल न देने की" थी। रियासतों में असाधा-

---

[१] हैदराबाद (दक्षिण) का ३ अक्तूबर १९३४ का एक समाचार है—"स्थानीय विवेकवर्धिनी थियेटर में कल गांधीजी का जन्म-दिवस मनाने के लिए जिस सार्वजनिक सभा का ऐलान किया गया था, वह रोक देनी पड़ी है। इस सभा का आयोजन हैदराबाद के हरिजन सेवक संघ ने किया था। संघ के मन्त्री ने अखबारों को जो पत्र भेजा है, उसमें कहा है कि सभा के निश्चित समय से २४ घंटे पहले सरकारी अधिकारियों ने यह हुक्म दिया कि सभा करने की इजाज़त तभी मिल सकती है जब दो हज़ार की नक़द ज़मानत जमा की जाय और इस बात का वचन दिया जाय कि उसमें कोई राजनैतिक व्याख्यान नहीं दिया जायगा और सरकारी अफसरों के किसी सरकारी काम की आलोचना नहीं की जायगी। क्योंकि सभा के संयोजक के पास इन सब बातों के लिए अधिकारियों से चर्चा करने के लिए बहुत ही नाकाफ़ी वक्त रह गया था, सभा बन्द कर देनी पड़ी।"

रण और दु:खदायी घटनाओं के होते रहने और कांग्रेस पर अकारण ही हमले किये जाते रहने पर भी वह अभी तक अपनी चुप्पी साधे रहने की नीति पर डटे हुए हैं। ज़ाहिर है कि डर इस बात का है कि कांग्रेस अगर राजाओं की आलोचना करेगी तो वे लोग नाराज़ हो जायंगे। उनका 'हृदय-परिवर्तन' अधिक कठिन हो जायगा। जुलाई १९३४ में गांधीजी ने श्री एन०सी० केलकर के नाम, जो देशी राज्य प्रजा-परिषद् के सभापति थे, एक पत्र लिखा था। उसमें उन्होंने इस विश्वास को दुहराया था कि दख़ल न देने की नीति न सिर्फ बुद्धिमत्तापूर्ण है बल्कि ठोस भी है। और रियासतों की क़ानूनी और वैधानिक स्थिति के सम्बन्ध में जो राय उन्होंने ज़ाहिर की वह तो बड़ी अजीब थी। उन्होंने लिखा था—"ब्रिटिश क़ानून के अनुसार रियासतों की स्वतन्त्र सत्ता है। हिन्दुस्तान के उस हिस्से को, जो ब्रिटिश भारत के नाम से पुकारा जाता है, रियासतों की नीति निर्धारित करने का उसी प्रकार इख्तियार नहीं है जिस प्रकार उसे अफ़ग़ानिस्तान या सीलोन की नीति निर्धारित करने का अधिकार नहीं है।" अगर विनीत तथा नम्र देशी राज्य-प्रजा-परिषद् ने और लिबरलों ने भी उनकी इस राय और सलाह पर ऐतराज़ किया तो आश्चर्य ही क्या है!

लेकिन देशी राजाओं ने इन विचारों का काफ़ी स्वागत किया और उन्होंने उनसे फ़ायदा भी उठाया। एक महीने के भीतर ही त्रावणकोर रियासत ने अपने राज्य में कांग्रेस को ग़ैरक़ानूनी क़रार दे दिया और उसकी सारी सभाओं को और उसके मेम्बर बनाने के काम को रोक दिया। ऐसा करते हुए रियासत ने कहा है "ज़िम्मेदार नेताओं ने ख़ुद यह सलाह दी है।" ज़ाहिर है कि यह इशारा गांधीजी के बयान की तरफ़ था। यह बात नोट करने लायक है कि यह रोक ब्रिटिश भारत में सत्याग्रह की लड़ाई वापस लिये जाने के बाद हुई (यद्यपि रियासतों में यह लड़ाई कभी नहीं हुई थी)। जिस वक़्त रियासत में यह सब हुआ, ब्रिटिश सरकार ने कांग्रेस को फिर से क़ानूनी जमात क़रार दे दिया था। इस बात पर ध्यान देना भी दिलचस्प होगा कि उस वक़्त त्रावणकोर-सरकार के खास राजनैतिक सलाहकार सर सी० पी० रामस्वामी अय्यर थे (और अब भी हैं), जो एक वक्त कांग्रेस के और होमरूल लीग के जनरल सेक्रेटरी थे, उसके बाद लिबरल बने और उसके भी बाद भारत-सरकार और मद्रास-सरकार के ऊंचे-ऊंचे ओहदों पर रहे।

गांधीजी की सलाह मानकर कांग्रेस जिस नीति से काम ले रही थी उसके मुताबिक, साधारण समय में भी, त्रावणकोर राज्य ने बिला वजह कांग्रेस के ऊपर जो यह हमला किया उसकी बाबत कांग्रेसवालों की तरफ़ से सार्वजनिक रूप में एक शब्द तक नहीं कहा गया,[1] जबकि दूसरी ओर लिबरलों तक ने इसके ख़िलाफ़ ज़ोरों से आवाज़ उठाई। सचमुच रियासतों के मामलों में गांधीजी का रवैया लिबरलों के रवैये से भी कहीं ज़्यादा नरम और संयत है। प्रमुख सार्वजनिक पुरुषों में शायद मालवीयजी ही बहुत-से राजाओं के साथ अपने निकट-सम्पर्क के कारण—इतने ही संयत और इस बात में सावधान हैं कि उन्हें किसी तरह चिढ़ाया न जाय।

देशी राजाओं के बारे में गांधीजी हमेशा इतना फूंक-फूंककर क़दम नहीं रखते थे। फरवरी १९१६ को एक प्रसिद्ध अवसर पर—बनारस हिन्दू-विश्वविद्यालय के उद्घाटन के समय—एक सभा में, जिसके सभापति एक महाराजा थे और जिसमें और भी बहुत-से राजा मौजूद थे, उन्होंने एक भाषण दिया था। गांधीजी उस समय दक्षिण-अफ्रीका से आये ही थे और अखिल भारतीय राजनीति का बोझ उनके कन्धों पर नहीं था। बड़ी सचाई और एक पैग़म्बर के-से जोश के साथ उन्होंने राजाओं से अपनेको सुधारने और अपनी थोथी शान-शौक़त और विलासिता छोड़ देने के लिए कहा था। उन्होंने कहा, "नरेशो! जाओ, और अपने आभूषणों को बेच दो।" उन्होंने अपने आभूषण बेचे हों या न बेचे हों, लेकिन वे वहां से उठकर चले ज़रूर गये। बहुत ही डरकर, एक-एक करके या छोटी-छोटी टोलियों में, वे सभा-भवन से चले गये, यहां तक कि सभापति महोदय भी चले गये। सभा-भवन में अकेले व्याख्याता महोदय रह गये। सभा में श्रीमती बेसेंट भी मौजूद थीं। उन्हें भी गांधीजी की बातें बुरी लगीं और इसलिए वह भी सभा से उठकर चली गईं।

---

[1] ६ जनवरी १९३५ को बड़ौदा में सरदार वल्लभभाई पटेल ने एक भाषण देते हुए इसमें दख़ल न देने की नीति पर जोर दिया था। ख़बर है कि उन्होंने यह कहा, कि "देशी राज्यों के कार्यकर्त्ताओं को राज्य की तरफ से जो मर्यादाएं बांध दी जायं, उनके भीतर रहकर काम करना चाहिए और शासन की आलोचना करने के बजाय इस बात की कोशिश करनी चाहिए कि शासक और शासितों में मैत्री का सम्बन्ध बना रहे।"

श्री एन० सी० केलकर के पत्र में गांधीजी ने आगे यह भी लिखा था कि "मैं तो यह पसन्द करूंगा कि रियासतें अपनी प्रजा को स्वतन्त्रता दे दें और अपनेको वास्तव में उन लोगों का ट्रस्टी समझें, जिन पर कि वे हुकूमत करती हैं।" . . . अगर ट्रस्टीशिप के इस ख़याल में ऐसी कोई अच्छी बात है, तो हम ब्रिटिश सरकार के इस दावे में क्यों ऐतराज़ करते हैं कि वे भारत के लिए ट्रस्टी हैं ? मैं इसमें कोई फ़र्क़ नहीं देखता, सिवाय इसके कि अंग्रेज़ हिन्दुस्तान के लिए विदेशी हैं। लेकिन इस प्रकार तो हिन्दुस्तान के रहनेवाले जुदा-जुदा लोगों में भी चमड़ी के रंग, मूल जाति तथा संस्कृति में स्पष्ट भेद है।

पिछले थोड़े-से सालों में हिन्दुस्तानी रियासतों में ब्रिटिश अफ़सर बड़ी तेज़ी से घुस रहे हैं। अक्सर वे असहाय राजाओं की मर्ज़ी के ख़िलाफ़ उनके मत्थे मढ़ दिये गए हैं। वैसे तो सदा से भारत सरकार का देशी राज्यों पर काफ़ी नियन्त्रण रहा है, लेकिन अब तो इसके अलावा कुछ ख़ास बड़ी-बड़ी रियासतों को भीतर से भी जकड़ दिया गया है। इसलिए जब कभी ये रियासतें कुछ कहती हैं तो असल में उनके द्वारा भारत-सरकार ही बोलती है। हां, ऐसा करते समय वह माण्डलिक परिस्थिति का पूरा-पूरा फ़ायदा ज़रूर उठाती है।

मैं यह समझ सकता हूं कि हमारे लिए हमेशा यह मुमकिन नहीं है कि हम दूसरी जगह जो काम कर सकते हैं वह सब रियासतों में भी कर सकें। सच बात तो यह है कि ब्रिटिश भारत के अलग-अलग प्रान्तों में ही कृषि, उद्योग-धन्धों, जाति और शासन-पद्धति-सम्बन्धी काफ़ी भेद-भाव हैं और हम हमेशा सब सूबों में एक नीति से काम नहीं ले सकते। हालांकि हम कहां क्या काम करें, यह तो वहां के हालात के ऊपर निर्भर रहेगा, फिर भी अलग-अलग जगहों में हमारी सामान्य नीति अलग-अलग नहीं होनी चाहिए; और जो बात एक जगह बुरी है वह दूसरी जगह भी बुरी होनी चाहिए। नहीं तो हमारे ऊपर यह इलज़ाम लगाया जायगा और लगाया गया है कि हमारी कोई एक नीति या कोई एक उसूल नहीं है और हमारा मक़सद सिर्फ़ यही है कि किसी तरह से ताक़त हमारे हाथ में आ जाय।

धार्मिक और अन्य अल्पसंख्यक जातियों के लिए पृथक् चुनाव की जो व्यवस्था की गई है उसके ख़िलाफ़ काफ़ी नुक़्ताचीनी हुई है, और वह ठीक ही हुई है। यह बताया गया है कि यह चुनाव लोकतन्त्र के बिलकुल ख़िलाफ़ पड़ता है। इसमें कोई शक नहीं कि अगर हम मतदाताओं को अलग-अलग बन्द कमरों में बांट दें

तो लोकतन्त्र क़ायम करना या जिसे ज़िम्मेदार सरकार के नाम से पुकारा जाता है, उसका क़ायम किया जाना मुमकिन नहीं है। लेकिन पं. मदनमोहन मालवीय और हिन्दू-महासभा के अन्य नेता, जो पृथक् चुनाव के सबसे बड़े और सच्चे आलोचक हैं, रियासतों में जो-कुछ अन्धेर मच रहा है, उसके बारे में अजीब तौर से चुप हैं और ज़ाहिरा तौर पर इस बात के लिए तैयार हैं कि स्वेच्छाचारी रियासतों और (कथित) लोकतन्त्रवादी शेष हिन्दुस्तान को मिलाकर संघ-राज्य क़ायम हो जाय। इससे अधिक असंगत और बेहूदे संघ-राज्य की कल्पना करना भी मुश्किल है, लेकिन लोकतन्त्र और राष्ट्रीयता के हिमायती हिन्दू-महासभा के महारथी इसे बिना एक शब्द कहे स्वीकार कर लेते हैं। हम लोग तर्क और बुद्धि की बात करते हैं, लेकिन वस्तुतः हम अभी तक भावुकता के वशीभूत होकर काम करते हैं।

इस तरह मैं लौटकर फिर कांग्रेस और रियासतों की विकट समस्या पर आता हूं। मेरा दिमाग़ थॉमस पन के उस वाक्य की ओर आकर्षित होता है, जो उसने कोई डेढ़ सौ बरस पहले बर्क के सम्बन्ध में कहा था—"वह (बर्क) तो पंखों पर तरस खाते हैं, लेकिन मरनेवाली चिड़िया को भूल जाते हैं।" यह ठीक है कि गांधीजी मरनेवाली चिड़िया को नहीं भूलते, लेकिन वह उसके परों पर इतना ज्यादा ज़ोर क्यों देते हैं?

कम-बढ़ ये ही बातें ताल्लुकेदारी और ज़मींदारी-प्रथा पर भी लागू होती हैं। इस बात को समझाने के लिए अब किसी तर्क की ज़रूरत नहीं मालूम पड़ती कि यह अर्ध-जागीरदारी प्रथा समय के बिलकुल प्रतिकूल है और उत्पादन-शैली और तरक़्क़ी के रास्ते में बड़ी भारी अड़चन है। वह तो पूंजीवाद के भी विकास में विघ्न डालती है। क़रीब-क़रीब दुनिया-भर में बड़ी-बड़ी ज़मींदारियां धीरे-धीरे ग़ायब हो गई हैं और उनकी जगह ज़मींदार किसानों ने ले ली है। मैं तो यह कल्पना करता रहा हूं कि हिन्दुस्तान में जो एक सवाल सम्भवतः उठ सकता है वह मुआवज़े का है। लेकिन पिछले साल तो मुझे यह देखकर बहुत ही अचरज हुआ कि गांधीजी ताल्लुक़ेदारी प्रथा को भी पसन्द करते हैं और चाहते हैं कि वह जारी रहे। कानपुर में जुलाई १९३४ में उन्होंने कहा—"किसानों और ज़मींदारों, दोनों में हृदय-परिवर्तन द्वारा उत्तम सम्बन्ध स्थापित किये जा सकते हैं। अगर ऐसा हो जाय तो दोनों आपस में मेल के साथ सुख और शान्ति से रह सकते हैं।

मैं तो कभी भी ताल्लुकेदारी या ज़मींदारी प्रथा को दूर करने के पक्ष में नहीं रहा, और जो लोग यह समझते हैं कि वह रद्द होनी चाहिए वे ख़ुद अपनी बात को नहीं समझते।" गांधीजी का यह आख़िरी आरोप तो कुछ हद तक कटुतापूर्ण है।

ख़बर है कि उन्होंने आगे यह भी कहा—"बिना उचित कारणों के सम्पत्ति-शाली वर्गों से उनकी निजी सम्पत्ति छीने जाने के काम में मैं कभी साथ नहीं दे सकता। मेरा ध्येय तो यह है कि आपके हृदयों में घर करके मैं आपको अपने मत का बना लूं, जिससे आप अपनी निजी सम्पत्ति को किसानों के लिए ट्रस्ट के रूप में रक्खें और उसका इस्तेमाल ख़ासतौर पर उनकी भलाई के लिए करें।..... लेकिन मान लीजिए कि आपको आपकी सम्पत्ति से वंचित करने के लिए अन्याय-पूर्वक कोशिश की जाती है तो आप मुझे अपने पक्ष में लड़ता हुआ पायेंगे..... पश्चिम का समाजवाद और साम्यवाद हमारे मूल विचारों से अत्यन्त भिन्न विचारों पर टिका हुआ है। इस प्रकार का उनका एक विचार यह है कि मानव-स्वभाव मूलतः स्वार्थी है... इसलिए हमारे समाजवाद और साम्यवाद की बुनियाद तो अहिंसा पर और मज़दूर और मालिकों, किसानों और ज़मींदारों के आपसी मेल पर होनी चाहिए।" ये बातें उन्होंने ज़मींदारों के एक डेपूटेशन से कही थीं।

पूरब और पश्चिम की मूलभूत कल्पनाओं में कोई भेद है या नहीं, इसका मुझे पता नहीं। शायद हो; इधर एक स्पष्ट भेद यह रहा है कि हिन्दुस्तान के पूंजीपतियों और ज़मींदारों ने पश्चिम के अपने जाति-भाइयों की अपेक्षा मज़दूरों और किसानों के हितों की अधिक उपेक्षा की है। हिन्दुस्तान के ज़मींदारों की तरफ़ से किसानों की भलाई के लिए किसी तरह की सामाजिक सेवा के काम में रस लेने की कोई कोशिश नहीं की गई। पश्चिमी समालोचक मि० एच० एन० ब्रेल्सफ़ोर्ड ने कहा है कि "हिन्दुस्तान के महाजन और ज़मींदार ऐसे परोपजीवी, नृशंस और रक्तशोषक प्राणी हैं, कि आज के मानव-समाज में उनका सानी नहीं मिलता।"[1] शायद इसमें हिन्दुस्तान के ज़मींदारों का कोई कसूर नहीं है। परिस्थितियां उनके इतनी ख़िलाफ़ थीं कि वे उनका मुक़ाबला न कर सके। वे लगातार नीचे को गिरते ही गये और अब एक ऐसी कठिन स्थिति में फंस गये हैं, जिसमें से अपनेको मुश्किल से निकाल सकते हैं। बहुत से ज़मींदारों से तो उनकी ज़मींदारियां

---

[1] एच. एन. ब्रेल्सफोर्ड की 'प्रापर्टी ऑर पीस' नामक पुस्तक से।

महाजनों ने ले ली हैं, और छोटे-छोटे ज़मींदार जिस ज़मीन के कभी मालिक थे उसीमें अब काश्तकार की हालत में पहुंच गये हैं। शहरों में रहनेवाले इन महाजनों ने पहले तो ज़मीन गिरवी कराके रुपया दिया, और फिर उसी रुपये के बदले ज़मीन हड़पकर अब वे खुद ज़मींदार बन बैठे हैं, और गांधीजी की राय में अब वे उन अभागों के ट्रस्टी हैं, जिनकी ज़मीन उन्होंने खुद हड़प ली है। गांधीजी ऐसे लोगों से यह उम्मीद भी रखते हैं कि वे अपनी आमदनी खासतौर पर किसानों की भलाई के कामों में लगायेंगे।

अगर ताल्लुक़ेदारी प्रथा अच्छी है, तो वह हिन्दुस्तान-भर में क्यों नहीं जारी की जाती? हिन्दुस्तान के कुछ बड़े हिस्सों में रैयतवारी प्रथा चलती है। क्या गांधीजी गुजरात में बड़ी-बड़ी ज़मींदारियां और ताल्लुक़ेदारियां क़ायम हो जाना पसन्द करेंगे? तो फिर क्या बात है कि ज़मीन-सम्बन्धी एक व्यवस्था तो यू० पी०, बिहार या बंगाल के लिए अच्छी है और दूसरी गुजरात और पंजाब के लिए? जहांतक मेरा खयाल है, हिन्दुस्तान के उत्तर और दक्षिण और पूरब और पश्चिम के रहनेवाले लोगों में ऐसा कोई खास फ़र्क़ तो नहीं है; और उनके मूल विचार भी एक-से हैं। इसके मानी तो यह हुए कि जो कुछ है वह जारी रहना चाहिए। इस बात की अधिक जांच नहीं की जानी चाहिए कि लोगों के लिए कौन-सी बात सबसे ज़्यादा वांछनीय या फ़ायदेमन्द है, और न मौजूदा हालत को बदलने की ही कोशिश होनी चाहिए। बस, सिर्फ़ एक ही बात की ज़रूरत है, और वह यह कि लोगों का हृदय-परिवर्तन कर दिया जाय। जीवन तथा उसके प्रश्नों के प्रति यह तो विशुद्ध धार्मिक दृष्टि है। राजनीति, अर्थ-शास्त्र या समाज-शास्त्र से उसका कोई सरोकार नहीं। पर गांधीजी राजनैतिक और राष्ट्रीय क्षेत्र में तो इससे भी आगे बढ़ जाते हैं।

ये हैं कुछ विकट समस्याएं जो आज हिन्दुस्तान के सामने हैं। हमने अपने को कुछ गुत्थियों में उलझा दिया है और जबतक हम उन गुत्थियों को सुलझा न लेंगे, तबतक आगे बढ़ना दुश्वार है। यह छुटकारा भावुकता से नहीं होगा। बहुत दिन हुए, स्पिनोज़ा ने एक प्रश्न किया था—"आप क्या बात अधिक पसन्द करेंगे? ज्ञान तथा विवेक-द्वारा मुक्ति अथवा भावुकता का बन्धन?" उन्होंने पहली बात अधिक पसन्द की थी।

: ६३ :

हृदय-परिवर्तन या बल-प्रयोग

सोलह बरस पहले गांधीजी ने हिन्दुस्तान पर अपने अहिंसा के सिद्धान्त की छाप लगाई थी। तबसे अबतक हिन्दुस्तान के क्षितिज पर यही सिद्धान्त छाया हुआ है। बहुत-से लोगों ने, बिना किसी सोच-विचार के, उसे दुहराया है। पर स्वेच्छा से कुछ लोगों ने अपने में काफ़ी संघर्ष किया और फिर दबे मन से उसे अपना लिया, और कुछ लोगों ने खुल्लमखुल्ला इस सिद्धान्त का मज़ाक़ भी उड़ाया है। हमारे राजनैतिक और सामाजिक जीवन में इसने बहुत बड़ा हिस्सा लिया है और हिन्दुस्तान से बाहर विशाल दुनिया में भी लोगों का काफ़ी ध्यान इसने अपनी तरफ़ खींचा है। निस्सन्देह यह सिद्धान्त बहुत पुराना है—उतना ही पुराना है जितनी कि मनुष्य की विचार-शक्ति है। लेकिन शायद गांधीजी ही पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने राजनैतिक और सामाजिक आन्दोलन में सामूहिक रूप में इसका प्रयोग किया है। इसके पहले अहिंसा वैयक्तिक और इस तरह मूलतः धर्म से सम्बन्धित चीज़ थी। वह आत्म-निग्रह और पूर्ण अनासक्ति प्राप्त करने और इस प्रकार अपने-आपको सांसारिक प्रपंचों से ऊंचा उठाकर एक तरह की वैयक्तिक स्वतन्त्रता और मुक्ति प्राप्त करने का साधन थी। उसके ज़रिये बड़े बड़े सामाजिक मसलों को हल करने और सामाजिक परिस्थितियों में परिवर्तन करने का कोई ख़याल न था; अगर कुछ था भी तो सर्वथा परोक्षरूप में। लोगों ने सामाजिक विषमताएं और अन्याय स्वीकार कर लिये थे और यह सोचते कि यह ताना-बाना तो हमेशा चलता रहेगा। गांधीजी ने कोशिश की कि यह व्यक्तिगत आदर्श समाज का भी आदर्श हो जाय। वह राजनैतिक और सामाजिक दोनों ही परिस्थितियों को बदलने पर तुले हुए थे और इसी ग़रज़ से उन्होंने जान-बूझकर इस विस्तृत और सर्वथा भिन्न क्षेत्र में अहिंसा के शस्त्र का प्रयोग किया। उन्होंने लिखा है—"जो लोग मनुष्यों की दशा और उसके वातावरण में आमूल परिवर्तन करना चाहते हैं वे समाज में खलबली पैदा किये बिना ऐसा नहीं कर सकते।

लेकिन ऐसा करने के दो ही तरीक़े हैं—एक हिंसात्मक और दूसरा अहिंसात्मक। हिंसात्मक बल-प्रयोग का प्रभाव मनुष्य के शरीर पर पड़ता है। जो यह बल-प्रयोग करता है वह खुद नीचे गिर जाता है और जिसपर यह बल-प्रयोग होता है वह भी अधोगति को जाता है। लेकिन उपवास आदि स्वयं कष्ट सहकर जो अहिंसात्मक दबाव डाला जाता है, वह बिलकुल दूसरे तरीक़े से अपना असर पैदा करता है। जिन लोगों के खिलाफ़ उसका प्रयोग किया जाता है, उनके शरीर को न छूकर वह उनकी आत्मा पर असर डालता है और उसे मज़बूत बनाता है।"[1]

यह विचार कुछ हद तक भारतीय दृष्टिकोण से मेल खाता था और इसीलिए देश ने, कम-से-कम ऊपरी तौर पर तो ज़रूर ही, उसे उत्साहपूर्वक स्वीकार कर लिया। बहुत ही कम उसके व्यापक परिणामों को समझ पाये थे। लेकिन जिन थोड़े-से आदमियों ने उसे अस्पष्ट-रूप में समझा भी, वे श्रद्धापूर्वक काम में जुट पड़े। लेकिन जब काम की रफ़्तार धीमी पड़ गई, तब कुछ लोगों के मन में अनगिनत प्रश्न उठ खड़े हुए, जिनका उत्तर दिया जा सकना बहुत कठिन था। इन प्रश्नों का हमारी प्रचलित राजनैतिक गति-विधि पर कोई असर नहीं पड़ता था। इनका सम्बन्ध तो अहिंसात्मक प्रतिरोध के मूल सिद्धान्त से था। राजनैतिक अर्थ में अहिंसात्मक आन्दोलन को अभी तक तो कामयाबी मिली नहीं, क्योंकि हिन्दुस्तान अब भी साम्राज्यवाद के अनीतिपाश में जकड़ा हुआ है। सामाजिक अर्थ में अहिसा के प्रयोग से क्रान्ति की कल्पना कभी भी नहीं की गई। फिर भी जो आदमी ज़रा भी गहराई में उतर सकता है, वह देख सकता है कि हिन्दुस्तान के करोड़ों लोगों ने इसमें एक ज़बरदस्त परिवर्तन कर दिया। इस अहिंसात्मक आन्दोलन ने करोड़ों हिन्दुस्तानियों को चरित्रबल, शक्ति और आत्म-विश्वास आदि ऐसे अमूल्य गुणों का पाठ पढ़ाया है, जिनके बिना राजनैतिक या सामाजिक, किसी भी क़िस्म की तरक्क़ी करना या उसे क़ायम रखना कठिन है। यह कहना मुश्किल है कि ये निश्चित लाभ अहिंसा की बदौलत हुए हैं या महज़ संघर्ष की बदौलत। बहुत-से मौक़ों पर कई राष्ट्रों ने ऐसे फ़ायदे हिंसात्मक लड़ाई के ज़रिये भी हासिल किये हैं; फिर भी मेरा खयाल है कि यह बात तो इत्मीनान के साथ

---

[1] ४ दिसम्बर १९३२ को अपने अनशन के अवसर पर दिये गए गांधीजी के वक्तव्य से।

कही जा सकती है कि इस मामले में अहिंसा का तरीक़ा हमारे लिए बेशक़ीमत साबित हुआ है। गांधीजी ने समाज में जिस खलबली का ज़िक्र किया था, वह खलबली पैदा करने में उसने निश्चितरूप से मदद की, हालांकि निस्सन्देह यह खलबली बुनियादी कारणों और हालतों की बदौलत हुई है। उसने सर्व-साधारण में तेज़ी से वह जागृति पैदा कर दी है जो क्रान्तिकारी हेरफेरों से पहले होती है।

स्पष्ट रूप से यह बात उसके हक़ में है, लेकिन वह हमें ज्यादा दूर नहीं ले जाती। असली सवाल तो ज्यों-का-त्यों बना हुआ है। बदक़िस्मती यह है कि इस मसले को हल करने में गांधीजी हमें ज़्यादा मदद नहीं देते। इस विषय पर उन्होंने बहुत बार लिखा है और व्याख्यान भी दिये हैं। लेकिन जहांतक मुझे मालूम है उन्होंने सार्वजनिक रूप से उससे निकलनेवाले अर्थों पर दार्शनिक या वैज्ञानिक दृष्टि से कभी विचार नहीं किया। वह इस बात पर ज़ोर देते हैं कि साधन साध्य से ज्यादा महत्त्वपूर्ण है।[1] ज़ोर-ज़बरदस्ती की बनिस्बत समझा-बुझाकर हृदय-परिवर्तन करना अच्छा है और वह अहिंसा को सत्य और दूसरी तमाम अच्छाइयों से भिन्न नहीं समझते। सच तो यह है कि इन शब्दों का वह अक्सर इस तरह प्रयोग करते हैं मानों वे एक-दूसरे के समानार्थक हैं। साथ ही, जो इस बात से सहमत न हों वे उच्चात्मा नहीं हैं; बल्कि मानो किसी अनैतिक आचरण के गुनहगार हैं, यह मानने की भी एक प्रवृत्ति प्रचलित है। गांधीजी के कुछ अनुयायी तो इसी कारण, अपने-आपको बड़े पहुंचे हुए धर्मातमा समझने लगे हैं।

लेकिन जिन लोगों को इसमें इतनी श्रद्धा रखने का सौभाग्य प्राप्त नहीं है, उन्हें बहुत-सी शंकाएं परेशान करती हैं। इन शंकाओं का तात्कालिक कर्त्तव्य की आवश्यकताओं से कोई सम्बन्ध नहीं है, लेकिन वे चाहते हैं कि कोई ऐसा सुसंगत कार्य-सिद्धान्त हो जो वैयक्तिक दृष्टि से नैतिक हो और साथ ही सामाजिक दृष्टि से कारगर भी हो। मैं मानता हूं कि मुझमें भी ये शंकाएं मौजूद हैं और मुझे

---

[1] 'दि पावर आफ नान-वायलेंस' (अहिंसा की शक्ति) नामक किताब में रिचर्ड बी० ग्रेग ने इस विषय पर वैज्ञानिक दृष्टि से विचार किया है। उनकी यह किताब बहुत ही मनोरंजक और विचारोत्तेजक है।

इस मसले का कोई सन्तोषजनक हल नहीं दिखाई देता। मैं हिंसा को क़तई नापसन्द करता हूं, लेकिन फिर भी मैं खुद हिंसा से भरा हुआ हूं और जान में या अनजान में अक्सर दूसरों को दबाने की कोशिश करता रहता हूं। और गांधीजी के सूक्ष्म दबाव से अधिक बड़ा दबाव भला और क्या हो सकता है, जिसके फल-स्वरूप उनके कितने अनन्य भक्तों और साथियों के दिमाग कुंठित हो गये हैं और वे स्वतन्त्र रूप से सोचने के योग्य नहीं रहे !

लेकिन असली सवाल तो यह था कि क्या राष्ट्रीय और सामाजिक समुदाय अहिंसा के इस वैयक्तिक सिद्धान्त को पूरी तौर पर अपना सकते हैं ? क्योंकि इसका अर्थ यह है कि मानव-समाज सामूहिक रूप से प्रेम और सौजन्य में बहुत ऊंचा चढ़ा हुआ है। यह सच है कि वस्तुतः वांछनीय और अन्तिम लक्ष्य तो यही है कि मानव-समाज इतना ऊंचा उठ जाय और उसमें से घृणा, कुत्सा और स्वार्थपरता निकल जाय। अन्त में ऐसा हो सकेगा या नहीं, यह एक विवादास्पद विषय हो सकता है; लेकिन इस आशा के बिना जीवन "किसी मूर्ख द्वारा कही हुई कम्पन तथा आवेश से भरी, पर 'निरर्थक कहानी' के समान नीरस हो जायगा। इस आदर्श तक पहुंचने के लिए क्या हम खाली इन गुणों का ही उपदेश दें और इस आदर्श की विरोधी प्रवृत्तियों को बढ़ावा देनेवाले विघ्नों पर ध्यान न दें ? अथवा क्या हम पहले इन विघ्नों को दूर करें और प्रेम, सौन्दर्य और सौजन्य की वृद्धि के लिए अधिक उपयुत और अनुकूल वातावरण पैदा करें ? अथवा, क्या हम इन दोनों उपायों को साथ-साथ काम में लायें ?

और फिर, क्या हिंसा और अहिंसा, अथवा समझा-बुझाकर किये गए हृदय-परिवर्तन और ज़ोर-ज़बर्दस्ती के बीच का अन्तर इतना स्पष्ट है ? अक्सर शारीरिक हिंसा की अपेक्षा नैतिक बल कहीं अधिक दबानेवाला भयंकर अस्त्र सिद्ध हुआ है। और क्या अहिंसा और सत्य एक-दूसरे के पर्यायवाची शब्द हैं ? सत्य क्या है ? यह सवाल बहुत ही पुराना है, जिसके हज़ारों जवाब दिये जा चुके हैं, मगर यह सवाल आजतक जैसा था, वैसा ही बना हुआ है। लेकिन कुछ भी हो, यह बात तय है कि उसको अहिंसा से सर्वथा मिलाया नहीं जा सकता। हिंसा बुरी है, लेकिन आप स्वतः हिंसा को ही पाप नहीं कह सकते। उसके कई स्वरूप और भेद हैं, गौर कभी-कभी हमें उससे भी ज्यादा बुरी बात के मुक़ाबले में हिंसा ही पसन्द करनी पड़ सकती है। गांधीजी ने स्वयं कहा है कि कायरता, भय और

गुलामी से हिंसा बेहतर है और इसी तरह इस सूची में और भी बहुत-सी बुराइयां जोड़ी जा सकती हैं। यह सच है कि आमतौर पर हिंसा के साथ द्वेष रहता है; लेकिन सैद्धातिक रूप से दोनों सदा साथ-ही-साथ हों, यह ज़रूरी नहीं है। हिंसा का आधार सद्भावना भी हो सकती है (जैसे डाक्टर द्वारा की गई चीर-फाड़); और जिस चीज़ का आधार यह हो, वह कभी भी सिद्धान्ततः पापमय नहीं हो सकती। आख़िर नीति और सदाचार की अन्तिम कसौटी तो सद्भाव और द्वेषभाव ही है। इस तरह यद्यपि हिंसा सदाचार की दृष्टि से अक्सर ठीक नहीं ठहराई जा सकती और उस दृष्टि से उसे ख़तरनाक भी समझा जा सकता है, लेकिन यह ज़रूरी नहीं है कि वह हमेशा ही हो।

हमारा सारा जीवन ही संघर्षमय और हिंसायुक्त है और यह बात सही मालूम होती है कि हिंसा से हिंसा ही पैदा होती है और इस तरह हिंसा को रोकने का उपाय हिंसा नहीं है। लेकिन फिर भी हिंसा का कभी प्रयोग न करने की शपथ ले लेने का अर्थ होता है सर्वथा नकारात्मक दृष्टि धारण कर लेना, और इस प्रकार जीवन से कोई सम्पर्क न रखना। हिंसा तो आधुनिक राज्यों और समाजों की धमनियों में रक्त के समान बहती है। राज्य के पास अगर दंड देने के अस्त्र न हों तो फिर न तो कर वसूल किये जा सकते हैं, न ज़मींदारों को उनका लगान ही मिल सकता है, और न निजी सम्पत्ति ही क़ायम रह सकती है। पुलिस तथा फ़ौज के बल से क़ानून दूसरों को पराई सम्पत्ति के उपयोग से रोकता है। इस प्रकार राष्ट्रों की स्वाधीनता आक्रमण से रक्षा के लिए हिंसाबल पर टिकी है।

यह सच है कि गांधीजी की अहिंसा बिलकुल ही नकारात्मक और अप्रतिरोधक नहीं है। वह तो अहिसात्मक प्रतिरोध है, जो एक बिलकुल ही दूसरी चीज़ एक विधेयात्मक और सजीव कार्य-प्रणाली है। यह उन लोगों के लिए नहीं है, जो परिस्थितियों के सामने चुपचाप सिर झुका देते हैं। इसका तो उद्देश्य ही समाज में खलबली पैदा कर देना और इस तरह मौजूदा हालात को बदल देना है। हृदय-परिवर्तन के भाव के पीछे उद्देश्य कुछ रहा हो, व्यवहार में तो वह लोगों को विवश करने या दबाने का भी एक जबरदस्त साधन रहा है। यह बात दूसरी है कि वह दबाव सबसे ज़्यादा शिष्ट और सबसे कम आपत्तिजनक ढंग से काम में लाया गया हो। सचमुच यह बात ध्यान देने योग्य है कि अपने शुरू के लेखों में गांधीजी ने स्वयं 'विवश करना' शब्द का व्यवहार किया है। पंजाब के फ़ौजी

क़ानून के ज़माने के अत्याचारों के सम्बन्ध में दिये गए वाइसराय लार्ड चैम्सफोर्ड के व्याख्यान की आलोचना करते हुए सन् १९२० में उन्होंने लिखा था— "कौंसिल के उद्घाटन के समय वाइसराय के व्याख्यान में मुझे उनकी जो मनोवृत्ति दिखाई पड़ी, उसकी वजह से प्रत्येक आत्माभिमानी व्यक्ति के लिए उनके या उनकी सरकार के साथ सम्बन्ध बनाये रखना असम्भव हो जाता है।

"पंजाब के बारे में उन्होंने जो कुछ कहा है उसका स्पष्ट अर्थ यह है कि वह किसी तरह भी लोगों की शिकायत दूर करने को तैयार नहीं हैं। वह चाहते हैं कि हम लोग निकट-भविष्य की समस्याओं पर ही अपना सारा ध्यान केन्द्रित कर दें; लेकिन निकट-भविष्य तो यही है कि पंजाब के मामले में हम सरकार को पश्चात्ताप करने के लिए विवश कर दें। इसका कोई लक्षण नहीं दिखाई देता। इसके विरुद्ध, वाइसराय ने अपने आलोचको की टीकाओं का जवाब देने के अपने प्रलोभन से अपनेको रोका है। इसका अर्थ यही है कि हिन्दुस्तान के स्वाभिमान से सम्बन्धित बहुत-से महत्त्वपूर्ण विषयों पर उनकी राय अभीतक नहीं बदली है। वह इतने ही से सन्तुष्ट हैं कि इन विषयों को भावी इतिहास-लेखकों के निर्णय पर छोड़ दिया जाय। मेरे विचार में इस तरह की बातें हिन्दुस्तानियों को और भी अधिक उत्तेजित करने का कारण बनेंगी। जिन लोगों पर अत्याचार किये गए हैं और जो अभीतक किसी विश्वास और ज़िम्मेदारी के ओहदे पर रहने के सर्वथा अयोग्य अफसरों के अंकुश के नीचे दबे हैं, उन्हें यदि भविष्य में इतिहास-लेखकों का अनुकूल निर्णय भी मिला तो वह उनके किस काम आयेगा ? पंजाब के प्रति न्याय न करने का अपना हठ रखते हुए सरकार का सहयोग की प्रार्थना करना— यदि अधिक तीव्र भाषा का प्रयोग न करूं तो—उसका पाखण्ड है।"

राज्य हिंसा पर आश्रित होते हैं, यह बात जग-ज़ाहिर है। केवल शस्त्रों की हिंसा पर ही नहीं, वरन् अत्यन्त सूक्ष्म तथा भयानक हिंसा पर—अर्थात् जासूसों, मुख़बिरों, लोगों को भड़कानेवाले एजेण्टों, प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से शिक्षा और समाचारपत्रों आदि द्वारा झूठा प्रचार, धार्मिक और अर्थाभाव तथा भुखमरी वग़ैरा के दूसरे प्रकार के भयों पर। शान्तिकाल तक में सरकारों के बीच सब प्रकार का झूठ और दग़ा-फरेब जायज़ है, बशर्ते कि वह खुल न जाय और युद्ध के समय तो वह और भी ज़्यादा जायज़ हो जाता है। सर हेनरी वाटन ने, जो स्वयं कवि तथा एक ब्रिटिश राजदूत था, तीन-सौ बरस पहले राजदूत की यह परिभाषा

की थी कि "राजदूत वह ईमानदार व्यक्ति है जो अपने देश की भलाई के लिए असत्य-प्रचार के लिए दूसरे देश में भेजा जाता है।" आजकल तो राजदूतों के साथ उनके सहकारी फ़ौजी, जंगी और व्यापारिक दूत भी जाते हैं। इनका ख़ास काम, जिस देश में ये भेजे जाते हैं, वहां का भेद लेना होता है। उनके पीछे खुफ़िया पुलिस का वहुत बड़ा जाल काम करता हैं। उसकी अगणित शाखाएं-प्रशाखाएं होती हैं, भेदिये और उपभेदिये रखे जाते हैं, अपराधी टोलियों के साथ गुप्त सम्बन्ध किया जाता है, रिश्वत तथा मानव को पतित करनेवाले दूसरे उपाय काम में लाये जाते हैं, तथा गुप्त हत्याएं आदि कराई जाती हैं। शान्तिकाल के लिए तो ये सब चीज़ें ख़राब हैं ही; युद्धकाल में इनको और भी अधिक महत्त्व मिल जाने से इनका नाशकारी प्रभाव हरेक दिशा में फैल जाता है। गत विश्व-व्यापी महायुद्ध के समय जो प्रचार किया गया था उसके कुछ उदाहरण पढ़कर अब हैरत होती है कि किस प्रकार शत्रु-देशों के विरुद्ध आश्चर्यजनक झूठी बातें फैलाई गई थीं; और इन बातों के फैलाने और खुफ़िया-पुलिस का जाल बिछाने में अन्धाधुन्ध रुपया बहाया गया था। लेकिन वर्तमान शान्ति स्वयं दो युद्धों के बीच का विराम-काल मात्र है, लड़ाई के लिए तैयारी करने की एक अवधि-मात्र है और आर्थिक तथा दूसरे देशों में संघर्ष कुछ हद तक तो अब भी चल रहा है। विजयी और पराजित देशों में, साम्राज्यों और उनके मातहत उपनिवेशों में, रक्षित वर्ग और शोषित वर्ग में यह रस्साकशी हर वक़्त जारी रहती है। इसलिए तथाकथित शान्तिकाल में भी कुछ हद तक हिंसा और झूठ से भरपूर लड़ाई का वातावरण बना रहता है और फ़ौजी तथा सिविल अधिकारीगण, दोनों ही इस स्थिति का मुक़ाबला करने को तैयार रहने के लिए अभ्यस्त किये जाते हैं। लार्ड वोलसली ने 'रणक्षेत्र के लिए सिपाही की पोथी' (सोल्जर्स पाकेटबुक फ़ॉर फ़ील्ड-सर्विस) नाम की एक पुस्तक में लिखा है—"हम इस सिद्धांत पर बार-बार ज़ोर देते रहेंगे कि 'ईमानदारी ही सबसे अच्छी नीति है' और 'आखिर में हमेशा सचाई की ही जीत होती है।' लेकिन ये उपदेश बच्चों की नोटबुकों के लिए ही ठीक हैं। और कोई मनुष्य युद्ध के दिनों में भी इनपर अमल करता है तो उसके लिए यही बेहतर है कि वह हमेशा के लिए अपनी तलवार मियान में बन्द रख ले।"

वर्तमान स्थिति में, जबकि एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के और एक वर्ग दूसरे वर्ग के खिलाफ़ है, हिंसा और असत्य का यह मापदंड अपरिहार्य है। जिन देशों

अथवा वर्गों के हाथ में अधिकार हैं, उन्हें अपनी सत्ता और अपने विशेषाधिकारों को बनाये रखने के लिए, और दलित वर्गों को उन्नति का अवसर न देने के लिए लाज़िमी तौर पर हिंसा, दबाव और झूठ का आश्रय लेना ही पड़ता है। सम्भव है कि ज्यों-ज्यों लोकमत जागृत होता जायगा और इन संघर्षों तथा दमनों का वास्तविक रूप स्पष्ट होता जायगा, त्यों-त्यों इस हिंसा की तीव्रता भी कम होती जायगी। लेकिन वस्तुतः इधर के समस्त अनुभव इसके खिलाफ़ विपरीत दिशा में संकेत करते हैं। जैसे-जैसे मौजूदा संस्थाओं के उलटने का आन्दोलन तीव्र होता जाता है, वैसे-वैसे हिंसा भी बढ़ती जाती है। यदि कभी हिंसा की प्रत्यक्ष उग्रता में कुछ कमी भी आ गई है तो उसने उससे और कहीं अधिक सूक्ष्म और भयंकर रूप ग्रहण कर लिया है। हिंसा की इस प्रवृत्ति को, न तो धार्मिक सहिष्णुता और न नैतिक भावना की वृद्धि ही, ज़रा भी रोक सकी है। अलग-अलग व्यक्तियों ने नैतिक उन्नति की है और कुछ व्यक्ति उन्नति करके ऊंचे चढ़ गये हैं। भूतकाल की अपेक्षा आजकल दुनिया में ऊंचे दर्जे के (सर्वश्रेष्ठ नहीं) व्यक्ति बहुत ज्यादा हैं। कुल मिलाकर तो समाज ने उन्नति ही की है, और वह कुछ अंश में प्राथमिक तथा बर्बर वृत्तियों पर अंकुश रखने के लिए प्रयत्नशील है। लेकिन कुल मिलाकर समूहों या समुदायों ने कोई खास उन्नति नहीं की है। व्यक्ति अधिक सभ्य बनने के प्रयत्न में अपने पूर्वकालिक मनोविकार और बुराइयां समाज को देता जा रहा है। हिंसा सदा प्रथम नहीं, वरन् द्वितीय कोटि के लोगों को अपनी ओर आकर्षित करती है, इसलिए इन समुदायों के नेतागण शायद ही प्रथम कोटि के व्यक्ति होते हों।

लेकिन अगर हम यह भी मान लें कि राज्य से धीरे-धीरे हिंसा के निकृष्टतम रूप मिटा दिये जायंगे, तब भी इस बात की उपेक्षा कर सकना असम्भव है कि राज्य-तन्त्र और सामाजिक जीवन, दोनों के लिए कुछ बल-प्रयोग की आवश्यकता है। सामाजिक जीवन के लिए किसी-न-किसी प्रकार के राज्यतन्त्र का होना जरूरी है, और इस प्रकार जिन व्यक्तियों के हाथ में अधिकार सौंपा जायगा, उनके लिए यह लाज़िमी होगा कि वे व्यक्तियों और समूहों की स्वार्थ-परायणता तथा समाज के लिए हानिकारक वृत्तियों पर अंकुश रक्खें। आमतौर पर ये अधिकारी लोग जरूरत से ज़्यादा आगे बढ़ जाते हैं। कारण, अधिकार मिलने पर मनुष्य पतित हो जाता है। इस तरह अधिकारी चाहे कितने ही स्वतन्त्रता के प्रेमी और दमन

से घृणा करनेवाले क्यों न हों, फिर भी जबतक राज्य में प्रत्येक व्यक्ति पूर्ण निःस्वार्थ और परोपकार-परायण न हो जायगा तबतक उन्हें दोषी व्यक्तियों के ऊपर बल-प्रयोग करना ही पड़ेगा। इस प्रकार के राज्याधिकारियों को आक्रमण करनेवाले बाहरी लोगों पर भी बल-प्रयोग करना पड़ेगा, अर्थात् उन्हें बल का विरोध बल से करके अपनी रक्षा करनी पड़ेगी। इस बात की ज़रूरत तो तभी दूर होगी जब पृथ्वी पर केवल एक ही विश्वव्यापी राज्य रह जायगा।

इस तरह अगर बाहरी आक्रमणों से अपनी रक्षा तथा आन्तरिक व्यवस्था के लिए बल और दमन आवश्यक है, तो दोनों के बीच क्या मर्यादा स्थापित की जाय? राइनहोल्ड नाइबर[1] का कहना है कि जब आप एक बार राज्यशास्त्र के मुक़ाबले में नीतिशास्त्र को इतना झुका देते हैं और सामाजिक व्यवस्था क़ायम रखने के लिए बल-प्रयोग एक आवश्यक अस्त्र मान लेते हैं, तब अहिंसात्मक और हिंसात्मक बल-प्रयोग में अथवा सरकार और क्रान्तिकारियों द्वारा किये जाने वाले बल-प्रयोग में आप कोई विशुद्ध भेद नही कर सकते।

मैं ठीक-ठीक नहीं जानता, लेकिन मेरी धारणा है कि गांधीजी यह बात मान लेंगे कि इस अपूर्ण संसार में किसी भी राष्ट्रीय सरकार को अपने ऊपर अकारण ही बाहरी आक्रमण से रक्षा करने के लिए बल-प्रयोग करना पड़ेगा। अवश्य ही राज्य को अपने पड़ोसी और अन्य दूसरे राज्यों के साथ सर्वथा शान्तिमय और मित्रतापूर्ण नीति बरतनी चाहिए; लेकिन फिर भी आक्रमण की सम्भावना से इन्कार करना बेहूदगी होगी। राज्य को कुछ दबानेवाले क़ानून भी बनाने पड़ेंगे। ये इस अर्थ में बलात्कारी होंगे कि इनके द्वारा विभिन्न वर्गों और समूहों के कुछ अधिकार और विशेष रिआयतें छिन जायेंगी और उनकी कार्य-स्वतन्त्रता सीमित हो जायगी। कुछ हद तक तो सभी क़ानून बलात्कारी होते हैं। कराची-कांग्रेस के प्रोग्राम में कहा गया है—"जन-समूह का शोषण बन्द करने के लिए राजनैतिक स्वतन्त्रता में, करोड़ों भूखों मरनेवालों की वास्तविक आर्थिक स्वतन्त्रता का भी अवश्य समावेश होना चाहिए।" इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए जिन लोगों के अत्यधिक विशेषाधिकार हैं उन्हें अपने बहुत-से अधिकार उन लोगों के लिए छोड़

---

[1]. नैतिक मनुष्य और अनैतिक समाज ('मॉरल मैन एण्ड इम्मॉरल सोसायटी') नामक पुस्तक में।

देने पड़ेंगे जिनके पास बहुत थोड़े अधिकार हैं। आगे उसमें यह भी कहा गया है कि मज़दूरों को निर्वाह के लिए आवश्यक मज़दूरी और जीवन की दूसरी सुविधाएं भी ज़रूर मिलनी चाहिए, मिल्कियतों पर ख़ास टैक्स लगाये जाने चाहिए, और "ख़ास उद्योगों और समाजोपयोगी धन्धों, खनिज-साधनों, रेलवे, जल-मार्गों, जहाजरानी और सार्वजनिक आवागमन के दूसरे साधनों पर राज्य अपना अधिकार और नियन्त्रण रक्खेगा।" साथ ही यह भी कि "मद्य और मादक पदार्थों पर सर्वथा प्रतिबन्ध लगा दिये जायंगे।" शायद बहुत-से लोग इन सब बातों का विरोध करेंगे। यह हो सकता है कि वे बहुमत के निर्णय के सामने सिर झुका लें; लेकिन यह होगा इसी भय के कारण कि आज्ञा-भंग का नतीजा बुरा होगा। सचमुच लोकतन्त्र का अर्थ ही बहुसंख्यक लोगों का अल्पसंख्यक लोगों पर दबाव है।

अगर बहुमत से मिल्कियत-सम्बन्धी अधिकारों को कम करने या बहुत हदतक उन्हें रद्द करने के लिए कोई क़ानून पास हो जायगा तो क्या इस दलील से उसका विरोध किया जायगा कि यह तो बल-प्रयोग है ? स्पष्ट है कि यह नहीं है; क्योंकि सभी लोकतन्त्रात्मक क़ानूनों को बनाने में यही तरीक़ा काम में लाया जाता है। इसलिए बल-प्रयोग की दलील से ऐतराज़ नहीं किया जा सकता। यह कहा जा सकता है कि बहुमत ग़लत या अनैतिक मार्ग पर चल रहा है। ऐसी हालत में सवाल यह पैदा होता है कि बहुमत से पास हुआ क़ानून क्या किसी नैतिक सिद्धांत की अवहेलना करता था ? लेकिन इस सवाल का फैसला कौन करेगा ! अगर अलग-अलग व्यक्तियों और समूहों को अपने-अपने निजी स्वार्थ के अनुसार नीति-शास्त्र की व्याख्या करने की छूट दे दी जायगी, तो लोकतन्त्रात्मक प्रणाली का तो खात्मा ही हो जायगा। व्यक्तिगत रूप से मैं तो यह महसूस करता हूं कि (बहुत ही संकुचित अर्थों में छोड़कर) व्यक्तिगत सम्पत्ति की प्रथा कुछ व्यक्तियों को सारे समाज पर भयंकर अधिकार दे देती है, और इसलिए वह समाज के लिए अत्यन्त हानिकारक है। मैं व्यक्तिगत सम्पत्ति को शराबख़ोरी से भी ज्यादा अनैतिक समझता हूं; क्योंकि शराब समाज को उतना नुकसान नहीं पहुंचाती जितना व्यक्ति को।

फिर भी जो लोग अहिंसा के सिद्धान्त में विश्वास रखने का दावा करते हैं, उनमें से कुछ लोगों ने मुझसे कहा है कि मालिक की स्वीकृति के बिना व्यक्तिगत सम्पत्ति का राष्ट्रीयकरण करना बल-प्रयोग होगा और इसीलिए अहिंसा के विरुद्ध है।

विचित्र बात तो यह है कि बड़े-बड़े ज़मींदारों ने, जो ज़बरदस्ती लगान वसूल करने में सरकार की मदद लेने में नहीं हिचकिचाते, और कई फ़ैक्टरियों के मालिक उन पूंजीपतियों ने, जो अपने हलक़ों में स्वतन्त्र मज़दूर-संघ भी क़ायम नहीं होने देना चाहते, मुझसे इस दृष्टिकोण पर ज़ोर दिया है। इसका अर्थ यह निकलता है कि जिन लोगों को परिवर्तन से लाभ होता है, उन लोगों का उसके पक्ष में बहुमत काफी नहीं है, बल्कि परिवर्तन से जिन लोगों को नुक़सान है उन्हींको उसके पक्ष में हृदय-परिवर्तन करने के लिए कहा जाता है। थोड़े-से स्वार्थी दल स्पष्टतः आवश्यक परिवर्तन रोक सकते हैं।

अगर इतिहास से कोई एक बात सिद्ध होती है, तो वह यह है कि आर्थिक हित ही समूहों और वर्गों के दृष्टिकोण के निर्माता होते हैं। इन हितों के सामने न तो तर्क और न नैतिक विचारों की ही चलती है। हो सकता है कि कुछ व्यक्ति राज़ी हो जायं और अपने विशेषाधिकार छोड़ दें; यद्यपि ऐसा बहुत विरले ही लोग करते हैं, लेकिन समूह और वर्ग ऐसा कभी नहीं करते। इसलिए शासक और विशेषाधिकार-प्राप्त वर्ग को अपनी सत्ता और अनुचित विशेषाधिकारों को छोड़ देने के लिए राज़ी करने की जितनी कोशिशें अब तक की गईं, वे हमेशा नाकामयाब ही हुई और इस बात को मानने के लिए कोई वजह दिखाई नहीं देती कि वे भविष्य में कामयाब हो जायंगी। राइनहोल्ड नाइबर ने अपनी पुस्तक[१] में उन सदाचारवादियों को आड़े हाथों लिया है, "जो यह कल्पना कर बैठे हैं कि विवेक और धर्म-प्रेरित सदभावना की वृद्धि से, व्यक्तियों को स्वार्थपरायणता पर दिन-ब-दिन अंकुश लगता जा रहा है, अतः भिन्न-भिन्न मानव-समाजों और समूहों में ऐक्य स्थापित कराने के लिए सिर्फ़ इतना ही ज़रूरी है कि यह क्रिया जारी रहे।" ये आचारशास्त्री ? "मानव-समाज में न्याय-प्राप्ति के लिए जो संघर्ष चल रहा है उसकी राजनैतिक आवश्यकताओं पर विचार नहीं करते। कारण उन्हें कितने ही प्राकृतिक नियमों का ज्ञान नहीं है। इन प्राकृतिक नियमों के अनुसार मनुष्य के स्वभाव में कुछ सामुदायिक वृत्तियां होती हैं, जिन पर बुद्धि या धर्म-भावना का पूरा-पूरा अंकुश नहीं होता। ये लोग इस सच बात को नहीं मानते कि जब सामूहिक शक्ति—चाहे वह साम्राज्यवाद की शक्ल में हो या वर्ग-प्रभुता के रूप में—

---

१. 'मॉरल मैन एण्ड इम्मॉरल सोसायटी' नामक पुस्तक में।

कमज़ोरों का शोषण करती है तब वह उस वक्त तक अपनी जगह से नहीं हटाई जा सकती जबतक कि उसके विरुद्ध शक्ति खड़ी न कर दी जाय।" और फिर, "सामाजिक स्थिति में विवेक सदा ही कुछ हदतक स्वार्थ का दास होता है; केवल नीति या बुद्धि के जागृत होने से समाज में न्याय स्थापित नहीं हो सकता। संघर्ष अनिवार्य है और इस संघर्ष में शक्ति का मुक़ाबला शक्ति से ही किया जाना चाहिए।"

इसलिए यह सोचना कि किसी वर्ग का किसी राष्ट्र के हृदय-परिवर्तन मात्र से काम चल जायगा या न्याय के नाम पर अपील करने और विवेकयुक्त दलीलें देने से संघर्ष मिट जायगा, अपने-आपको धोखा देना है। यह कल्पना करना कि विवश कर देने जैसे किसी कारगर दबाव के बिना ही कोई साम्राज्यवादी शासन-सत्ता देश पर से अपनी हुकूमत उठा लेगी या कोई वर्ग उच्च-पद और विशेषाधिकारों को छोड़ देगा, सर्वथा भ्रम है।

यह स्पष्ट है कि गांधीजी इस दबाव से काम लेना चाहते हैं, हालांकि वह उसे बल-प्रयोग के नाम से नहीं पुकारते। उनके कथनानुसार, उनका तरीक़ा तो स्वयं कष्ट-सहन का है। इसका समझ सकना कुछ कठिन है; क्योंकि इसमें कुछ आध्यात्मिक भावना छिपी है और हम न तो उसे नाप-जोख ही सकते हैं और न किसी भौतिक तरीक़े से ही उसकी जांच कर सकते हैं। इसमें कोई शक नहीं कि विरोधी पर भी इस तरीक़े का काफी असर पड़ता है। यह तरीक़ा विरोधियों की नैतिक दलीलों का परदा फ़ाश कर देता है, उन्हें घबरा देता है, उनकी सर्वोच्च भावना को जागृत कर देता है और समझौते का दरवाज़ा खोल देता है। इस बात में तो कोई शक नहीं हो सकता कि प्रेम की पुकार और स्वयं कष्ट-सहन के अस्त्र का विपक्षी और साथ ही दर्शकों पर बहुत ही ज़बरदस्त मनोवैज्ञानिक असर पड़ता है। बहुत-से शिकारी यह जानते हैं कि हम जंगली जानवरों के पास जिस दृष्टि से जाते हैं वैसा ही उनपर असर हो जाता है। वह जानवर दूर से ही भांप लेता है, कि आप उसपर हमला करना चाहते हैं और उसीके मुताबिक़ वह अपना रवैया इख़्तियार करता है। इतना ही नहीं, आदमी अगर ख़ुद किसी जानवर से डरे, फिर चाहे उसे स्वयं इसका ज्ञान न हो, तब भी उसका वह डर किसी तरह जानवर के पास पहुंच जाता है और उसे भयभीत कर देता है और इसी भय की वजह से वह हमला कर बैठता है। अगर शेरों को पालनेवाला ज़रा भी डर जाय तो उस पर हमला किये जाने का ख़तरा फ़ौरन पैदा हो जाता है। एक बिलकुल

निर्भय आदमी को, यदि कोई अज्ञात दुर्घटना न हो जाय, तो किसी हिंसक पशु का खतरा नहीं होता। इसलिए यह बात स्वाभाविक मालूम होती है कि मनुष्य इन मानसिक प्रभावों से प्रभावित हो। फिर भी, यद्यपि व्यक्ति प्रभावित हो सकते हैं लेकिन इस बात में शक है कि वर्ग या समूह पर इस तरह का प्रभाव पड़ सकता है। वह वर्ग, वर्ग के रूप में, किसी अन्य दल के व्यक्तिगत और निकट-सम्पर्क में नहीं आता। इतना ही नहीं, उसके सम्बन्ध में वह जो रिपोर्ट सुनता है वह भी एकांगी और तोड़ी-मरोड़ी हुई होती है। और हर हालत में जब कोई समूह उसके अधिकार को चुनौती देता है तब उसके रोष की स्वाभाविक प्रतिक्रिया इतनी बलवान् होती है कि अन्य सब छोटे-छोटे भाव उसमें विलीन हो जाते हैं। वह वर्ग तो बहुत दिनों से इस खयाल का आदी हो गया है कि उसे जो विशिष्ट पद और अधिकार मिले हुए हैं, वे समाज-हित के लिए ज़रूरी हैं। इसलिए उसके खिलाफ़ जो राय ज़ाहिर की जाती है वह उसे कुफ्र-जैसी मालूम होती है। क़ानून और व्यवस्था तथा वर्तमान अवस्था को क़ायम रखना सदगुण हो जाते हैं और उनमें विघ्न डालने की कोशिश सबसे महान पाप।

इसलिए जहांतक विरोधी-पक्ष से सम्बन्ध है, हृदय-परिवर्तन का यह तरीक़ा हमें कुछ बहुत दूर तक नहीं ले जाता। निस्सन्देह कभी-कभी तो अपने विरोधी की नरमी और साधुता ही प्रतिपक्षी को और भी अधिक क्रोधित कर देती है; क्योंकि वह समझता है कि इस प्रकार वह ग़लत स्थिति में डाल दिया गया है, और जब किसी व्यक्ति को यह शंका होने लगती है कि शायद वह ग़लती पर हो, तब उसका सात्त्विक रोष और भी बढ़ जाता है। फिर भी अहिंसा की इस विधि से विपक्ष के कुछ व्यक्तियों पर ज़रूर प्रभाव पड़ता है और इस प्रकार विरोध नरम पड़ जाता है। इससे भी अधिक बात यह है कि इस पद्धति से तटस्थ लोगों की सहानुभूति प्राप्त हो जाती है और यह संसार के लोकमत को प्रभावित करने का बड़ा ज़बरदस्त साधन है। लेकिन समाचार-प्रकाशन के साधन सत्ताधारीवर्ग के हाथ में होते हैं और वह समाचारों को बाहर जाने से रोक सकता है, अथवा उन्हें विकृत रूप में कर सकता है और इस तरह वह असली वाक़यात का पता लगाना रोक सकता है। फिर भी अहिंसात्मक अस्त्र का सबसे ज्यादा ज़ोरदार और व्यापक असर तो, जिस देश में यह अस्त्र काम में लाया जाता है उसके कम-बढ़, उदासीन लोगों पर होता है। निस्सन्देह उनका हृदय-परिवर्तन हो जाता है और वे अक्सर

उसके ज़ोरदार समर्थक बन जाते हैं। लेकिन ऐसे लोगों का हृदय-परिवर्तन कोई बड़ी बात नहीं, क्योंकि ये लोग आमतौर पर पहले से ही उसके लक्ष्य से सहमत थे। जो लोग क्रांति से घबराते हैं उनपर कोई असर दिखाई नहीं देता। भारत में असहयोग और सत्याग्रह जिस तेज़ी से फैला, उससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि किस तरह एक अहिंसात्मक आन्दोलन बहुसंख्यक लोगों पर ज़बरदस्त असर डालता है, और बहुत-से अस्थिर-बुद्धि के लोगों को अपनी ओर खींच लेता है। लेकिन उससे वे लोग कोई ज़्यादा हदतक नहीं बदले, जो लोग शुरू से ही उसके विरोधी थे। उनकी किसी उल्लेखनीय संस्था को वह अपने पक्ष का न बना सका। सच बात तो यह है कि आन्दोलन की सफलता ने उनके भय को और भी बढ़ा दिया और इस प्रकार वह और भी ज़्यादा विरोधी बन गये।

अगर एक बार यह सिद्धान्त मान लिया जाता है कि राज्य अपनी आज़ादी की रक्षा करने के लिए हिंसा का प्रयोग कर सकता है, तब यह समझना मुश्किल हो जाता है कि उसी आज़ादी को हासिल करने के लिए हिंसात्मक और बल-प्रयोग के तरीक़ों को इख्तियार करना उचित क्यों नहीं है ? कोई हिंसात्मक तरीक़ा अवांछनीय और अनुपयुक्त हो सकता है, लेकिन वह सर्वथा अनुचित और वर्जित नहीं हो सकता। सिर्फ़ इसी कारण से कि सरकार सबसे प्रबल है और उसके हाथ में सशस्त्र सेना है, उसे हिंसा के प्रयोग करने का अधिक अधिकार नहीं मिल जाता। यदि कोई अहिंसात्मक क्रांति सफल हो जाय और राज्य की बागडोर उसको मिल जाय तो क्या उसको हिंसा का प्रयोग करने का अधिकार फ़ौरन ही प्राप्त हो जायगा, जो उसे पहले प्राप्त नहीं था ? अगर इस नये राज्य की हुकूमत के ख़िलाफ़ बग़ावत हो, तो वह उसका मुक़ाबला कैसे करे ? स्वभावतः वह यह नहीं चाहेगी कि हिंसात्मक तरीक़े से काम ले और वह शान्तिमय उपायों से स्थिति का मुक़ाबला करने की कोशिश करेगी। लेकिन वह हिंसा से काम लेने के अपने अधिकार को नहीं छोड़ सकती। यह निश्चय है कि जनता में ऐसे बहुत-से असन्तुष्ट लोग होंगे, जो इस परिवर्तन के ख़िलाफ़ होंगे और वे कोशिश करेंगे कि पहली हालत फिर से लौट आये। अगर वे यह सोचेंगे कि सरकार उनकी हिंसा का मुकाबला अपने दमनकारी शस्त्रों से नहीं करेगी, तब तो वे शायद और भी ज़्यादा हिंसा का उपयोग करेंगे। इसलिए ऐसा मालूम होता है कि हिंसा और अहिंसा, हृदय-परिवर्तन और बल-प्रयोग के बीच कोई निश्चित

और पूर्ण विभाजक रेखा खींच सकना एकदम नामुमकिन है। राजनैतिक परि-वर्तनों पर विचार करते हुए भारी कठिनाई उपस्थित होती है, लेकिन विशेषाधि-कार-प्राप्त सम्पन्न वर्ग और शोषित वर्गों का विचार करते हुए तो यह कठिनाई और भी अधिक बढ़ जाती है।

किसी आदर्श के लिए कष्ट-सहन की सदा ही प्रशंसा हुई है। बिना झुके, और बदले में हाथ चलाये बिना किसी उद्देश्य के लिए कष्ट सहने में एक उच्चता और एक गौरव है। फिर भी इसके, और केवल कष्ट-सहन के लिए कष्ट उठाने के बीच में बहुत पतली विभाजक रेखा है। यह दूसरे प्रकार का कष्ट-सहन अक्सर दूषित और कुछ हद तक पतनकारी हो जाता है। अगर हिंसा बहुधा क्रूरतापूर्ण होती है तो दूसरी तरफ अहिंसा भी, कम-से-कम अपने नकारात्मक स्वरूप में, अत्यन्त दोषपूर्ण हो सकती है। इस बात की सम्भावना हमेशा रहती है कि अहिंसा अपनी कायरता और अकर्मण्यता छिपाने, और यथास्थित रहने का साधन बना ली जाय।

हिन्दुस्तान में पिछले कुछ बरसों में, जबसे क्रान्तिकारी सामाजिक परिवर्तन की भावना ने ज़ोर पकड़ा है, अक्सर यह कहा जाने लगा है कि इस प्रकार के परि-वर्तन हिंसा के बिना हो नहीं सकते, इसलिए इनके पक्ष में ज़ोर नहीं दिया जा सका। वर्ग-युद्ध का ज़िक्र तक नहीं किया जाना चाहिए (चाहे वह कितना ही विद्यमान क्यों न हो), क्योंकि वह पूर्ण सहयोग और भविष्य का हमारा जो भी लक्ष्य हो उसकी ओर अहिंसात्मक प्रगति में विघ्न डालता है। बहुत मुमकिन है कि सामाजिक मसले का हल किसी-न-किसी मौक़े पर हिंसा के बिना न हो सके; क्योंकि यह तो निश्चय ही मालूम पड़ता है कि जिन वर्गों को विशेष अधिकार प्राप्त हैं वे अपने प्राप्त अधिकारों को क़ायम रखने के लिए हिंसा से काम लेने में नहीं हिचकेंगे। लेकिन सिद्धान्त रूप में अगर अहिंसात्मक उपाय से भारी राजनैतिक परिवर्तन कर सकना सम्भव है, तो फिर इसी उपाय से क्रान्तिकारी सामाजिक परिवर्तन कर सकना उतना ही सम्भव क्यों नहीं है? अगर हम लोग अहिंसा के द्वारा हिन्दुस्तान की राजनैतिक स्वतन्त्रता प्राप्त कर सकते हैं और ब्रिटिश साम्राज्यवाद को हटा सकते हैं, तो हम उसी तरीक़े से माण्डलिक राजाओं, ज़मींदारों और दूसरे सामा-जिक मसलों को हल करके समाजवादी सरकार क्यों नहीं क़ायम कर सकते? यह सब कुछ अहिंसा के ज़रिये हो सकता है या नहीं, मुख्य प्रश्न यह नहीं है। प्रश्न

तो यह है कि या तो ये दोनों ही उद्देश्य अहिंसा के ज़रिये हासिल हो सकते हैं या फिर एक भी नहीं। यह तो कहा ही नहीं जा सकता कि अहिंसात्मक अस्त्र का प्रयोग सिर्फ विदेशी शासकों के ही खिलाफ़ किया जा सकता है। ज़ाहिरा तौर पर तो किसी देश के स्वार्थी समुदायों और अड़ंगा डालनेवालों के खिलाफ़ उसका प्रयोग करना ज़्यादा आसान होना चाहिए, क्योंकि विदेशियों की अपेक्षा उनपर उसका मनोवैज्ञानिक असर अधिक पड़ेगा।

हिन्दुस्तान में इन दिनों यह प्रवृत्ति चल गई है कि बहुत-से उद्देश्यों और नीतियों को महज़ इसलिए बुरा बता दिया जाता है कि वे अहिंसा से मेल नहीं खाते। मेरी समझ में यह समस्याओं पर विचार करने का ग़लत तरीक़ा है। पन्द्रह बरस पहले हमने अहिंसात्मक उपाय इसलिए ग्रहण किया था कि हमें यह विश्वास हो चला था कि हम इस सबसे अधिक वांछित और कारगर उपाय द्वारा अपने लक्ष्य पर पहुंच जायंगे। उस बक़्त हमारा लक्ष्य अहिंसा से स्वतन्त्र था। वह अहिंसा का एक गौण अंग, अथवा उसका परिणाम न था। उस वक़्त कोई यह नहीं कह सकता था कि हमें अपना ध्येय स्वतन्त्रता तभी बनाना चाहिए जब वह अहिंसात्मक उपायों से ही मिल सके। लेकिन अब हमारे ध्येय की कसौटी अहिंसा है, और अगर वह उसपर खरा नहीं उतरता तो वह नामंजूर कर दिया जाता है। इस प्रकार अहिंसा एक अटल सिद्धान्त बनता जा रहा है जिसके खिलाफ़ आप कुछ नहीं कह सकते। इस कारण अब वह हमारी बुद्धि पर इतना आध्यात्मिक प्रभाव नहीं डालता और श्रद्धा और धर्म का संकीर्ण स्थान ग्रहण कर रहा है। इतना ही नहीं, वह तो स्वार्थी समुदायों के लिए आश्रय-स्थल बन रहा है और ये लोग यथास्थिति बनाये रखने के लिए उससे नाजायज़ फ़ायदा उठा रहे हैं।

यह दुर्भाग्य की बात है, क्योंकि मेरा विश्वास है कि अहिंसात्मक प्रतिरोध और अहिंसात्मक युद्धनीति के विचार, हिन्दुस्तान ही नहीं, समस्त संसार के लिए, अत्यन्त लाभप्रद हैं और गांधीजी ने वर्तमान विचार-जगत् को इनपर विचार करने के लिए विवश करके बड़ी भारी सेवा की है। मेरा विश्वास है कि इनका भविष्य महान् है। यह हो सकता है कि मानव-समुदाय अभी इतना आगे नहीं बढ़ पाया है कि वह उन्हें पूरी तरह अपना सके। ए० ई० की 'इंटरप्रेटर्स' नामक पुस्तक के एक पात्र का कहना है कि—"आप अन्धों के हाथ में ज्ञान की मशाल देते हैं, लेकिन वे उसका उपयोग दंड के रूप में करते हैं; उसका दूसरा

उपयोग वे क्या कर सकते हैं ? सम्भव है कि आज वह आदर्श अधिक फलीभूत न हो सके, लेकिन सब महान् विचारों की तरह उसका प्रभाव बढ़ता रहेगा और हमारे कार्य उससे अधिकाधिक प्रभावित होते रहेंगे। असहयोग—जिसका अर्थ है उस राज्य या समाज से, जिसे हम बुरा समझते हैं, अपना सहयोग हटा लेना—एक बहुत ही शक्तिशाली और क्रान्तिकारी धारणा है। यदि मुट्ठी-भर चरित्रवान् लोग भी उसपर अमल करें तो उसका प्रभाव फैल जाता है और बढ़ता चला जाता है। जब अधिक संख्या में लोग असहयोग करते हैं तो उसका बाहरी प्रभाव और अधिक दिखाई देने लगता है। लेकिन उस हालत में प्रवृत्ति यह होती है कि दूसरी बातें नैतिक सवाल को दबा लेती हैं। ऐसा मालूम पड़ता है कि उसके विस्तार से उसकी तीव्रता कम पड़ जाती है। सामूहिक शक्ति धीरे-धीरे वैयक्तिक शक्ति को पीछे धकेल देती है।

फिर भी विशुद्ध अहिंसा पर जो ज़ोर दिया जाता है, उससे वह एक दूर की-सी तथा जीवन से एक भिन्न-सी वस्तु बन गई है और यह प्रवृत्ति हो चली है कि लोग या तो उसे अन्धे होकर धार्मिक श्रद्धा से मंजूर कर लेते हैं या उसे बिलकुल नामंजूर कर देते हैं। उसका बौद्धिक अंश भुला दिया जाता है। १९२० में हिन्दुस्तान के आतंकवादियों पर उसका बहुत बड़ा असर पड़ा था, जिससे बहुत-से उस दल से अलग हो गये और जो बने रहे, वे भी असमंजस में पड़ गये और उन्होंने अपने हिंसात्मक कार्यों को बन्द कर दिया। लेकिन अब उनपर इस अहिंसा का कोई ऐसा असर नहीं रहा है। कांग्रेसवादियों में भी बहुत-से ऐसे लोग, जिन्होंने असहयोग और सविनय-भंग के आन्दोलनों में महत्त्वपूर्ण भाग लिया था और जिन्होंने अहिंसात्मक पद्धति का पूर्णरूप से अन्तःकरण से पालन करने का प्रयत्न किया था, अब नास्तिक समझे जाते हैं और कहा जाता है कि उन्हें कांग्रेस में रहने का कोई अधिकार नहीं है, क्योंकि वे अहिंसा को ध्येय तथा धर्म के रूप में मानने को तैयार नहीं हैं और उस समाजवादी राज्य के लक्ष्य को भी छोड़ने के लिए तैयार नहीं हैं, जिसे प्राप्त करना वे अपना परम पुरुषार्थ समझते हैं, जिसमें सबके लिए समान रूप से न्याय और सुविधाएं होंगी; आजकल कुछ लोग जिन विशेष सुविधाओं और सम्पत्ति-सम्बन्धी अधिकारों का भोग करते हैं वे अधिकार समाप्त कर दिये जायंगे और उसके उपरान्त व्यवस्थित समाज की स्थापना होगी। निस्सन्देह गांधीजी आज भी एक विद्युत-शक्ति हैं; उनकी अहिंसा सजीव और

उग्र रूप की है और कोई नहीं कह सकता कि वह कब देश को एक बार फिर आगे बढ़ने के लिए प्रोत्साहित कर देंगे। वे अपनी महत्ता, अपने विरोधाभासों और जनता को विलक्षण रूप से प्रभावित करने की अपनी शक्ति के कारण साधारण माप से बहुत ऊंचे हैं। जैसे हम दूसरों को नापते-तौलते हैं, वैसे उनका नाप-तौल नहीं हो सकता। लेकिन उनके अनुयायी होने का दावा करनेवालों में बहुत-से निकम्मे शान्तिवादी या टॉलस्टॉय के ढंग के अप्रतिरोधी या किसी संकुचित पथ के अनुयायी बन गये हैं, और उनका जीवन और वास्तविकता से कोई सम्पर्क नहीं है। और जिन लोगों से उनका सम्बन्ध है उनका स्वार्थ वर्तमान समाज-व्यवस्था क़ायम रहने में है और इसी मतलब से अहिंसा की शरण लेते हैं। इस तरह अहिंसा में समय-साधकता घुस पड़ती है और हम प्रयत्न तो करते हैं विरोधी के हृदय-परिवर्तन का, लेकिन अहिंसा को सुरक्षित रखने की धुन में हम स्वयं परिवर्तित हो जाते हैं और विरोधी की श्रेणी में आ जाते हैं। जब जोश ठंडा हो जाता है और हम कमज़ोर पड़ जाते हैं तब हमेशा थोड़ी-सी पीछे की तरफ़ हट जाने और समझौता करने की प्रवृत्ति हो जाती है और इसे विरोधी को जीतने की कला के नाम से पुकार कर सन्तोष-लाभ किया जाता है। कभी-कभी तो इसके लिए हम अपने पुराने साथियों तक को खो बैठते हैं। हम उनकी अमर्यादा की निन्दा करते हैं, उनके भाषणों की, जिनसे हमारे नये दोस्त चिढ़े होते हैं, निन्दा करते हैं, और उनपर संस्था की एकता भंग करने का इलज़ाम लगाते हैं। सामाजिक व्यवस्था में वास्तविक परिवर्तन किये जाने पर ज़ोर देने के बजाय हम मौजूदा समाज के भीतर दानशीलता और उदारशीलता पर ज़ोर देते हैं और अधिकार-सम्पन्न समुदाय जहां-का-तहां स्थित रहता है।

मेरा विश्वास है कि गांधीजी ने साधनों की महत्ता पर ज़ोर देकर हमारी बड़ी सेवा की है। फिर भी मैं अनुभव करता हूं कि अन्तिम ज़ोर तो लाज़िमी और ज़रूरी तौर पर हमारे सामने जो ध्येय या मक़सद हो उसीपर देना चाहिए। जबतक हम ऐसा नहीं करते तबतक हम इधर-उधर भटकने में और मामूली सवालों पर अपनी ताक़त बरबाद करते रहने के सिवा और कुछ नहीं कर सकते। लेकिन साधनों की उपेक्षा नहीं की जा सकती, क्योंकि नैतिक पक्ष के अलावा उससे बिलकुल अलग उनका एक व्यावहारिक पक्ष भी है। हीन और अनैतिक साधन अक्सर हमारे लक्ष्य को ही विफल कर देते हैं, ज़बरदस्त नई-नई समस्याएं खड़ी कर

देते हैं। और, आख़िरकार, किसी आदमी के बारे में कोई सही निर्णय हम उसके उद्घोषित लक्ष्य से नहीं कर सकते; बल्कि उन साधनों से ही करते हैं जिन्हें वह व्यवहार में लाता है। ऐसे साधनों को अपनाने से, जिनसे कि व्यर्थ की लड़ाई पैदा हो और घृणा की वृद्धि हो, लक्ष्य की प्राप्ति और भी अधिक दूर हो जाती है। सच बात तो यह है कि साधन और साध्य का एक-दूसरे से इतना निकट सम्बन्ध है कि दोनों को अलग-अलग करना अत्यन्त कठिन है। अतः निश्चित रूप से साधन ऐसे होने चाहिए, जिनसे घृणा या झगड़े यथासम्भव कम हो जायं या सीमित हो जायं, (क्योंकि उनका होना तो अनिवार्य-सा है) और सद्भावनाओं को प्रोत्साहन मिले। मुख्य प्रश्न किसी विशिष्ट पद्धति का उतना न होकर हेतु, इरादा और स्वभाव का बन जाता है। गांधीजी ने इसी मूल हेतु पर ज़ोर दिया है। वह मानव-स्वभाव को किसी उल्लेखनीय सीमा तक बदलने में भले ही सफल न हुए हों, पर जिस महान् राष्ट्रीय आन्दोलन में करोड़ों लोगों ने हिस्सा लिया, उनके हृदयों पर इसकी छाप बिठाने में आश्चर्यजनक सफलता मिली है। नियम-पालने पर उनका आग्रह अत्यन्त आवश्यक था, हालांकि उनकी वैयक्तिक नियम-पालन की धारणाएं विवादास्पद हैं। वह सामाजिक पापों की अपेक्षा व्यक्तिगत पापों और कमज़ोरियों को बहुत ज़्यादा महत्त्व देते हैं। इसकी आवश्यकता तो स्पष्ट है; क्योंकि मुसीबतों का रास्ता छोड़कर शक्ति और अधिकार-प्राप्त सत्ताधारी-वर्ग में मिलने के प्रलोभन ने बहुत-से कांग्रेसवादियों को कांग्रेस से बाहर खींच लिया है। किसी भी प्रसिद्ध कांग्रेसवादी के लिए ये 'स्वर्गद्वार' तो सदा खुले ही रहते हैं।

आजकल सारी दुनिया कई तरह के संकटों में फंसी है। लेकिन इनमें सबसे बड़ा संकट आध्यात्मिक संकट है। यह बात पूर्व के देशों में ख़ासतौर पर दिखाई देती है, क्योंकि हाल में दूसरी जगहों की अपेक्षा एशिया में बहुत जल्दी-जल्दी परिवर्तन हुए हैं और सामंजस्य स्थापित करने की क्रिया बड़ी दुःखदायी रही है। राजनैतिक समस्या, जो कि आज इतना महत्व पा गई है, शायद सबसे कम महत्त्व की चीज़ है। हालांकि हमारे लिए तो यह प्रधान समस्या है और इसके पहले कि हम असली मामलों में लगें, उसका सन्तोषप्रद हल हो जाना ज़रूरी है। अनेक युगों से हम लोग एक अपरिवर्तनशील सामाजिक व्यवस्था के आदी हो गये हैं। हममें से बहुतों का अब भी यह विश्वास है कि सिर्फ यही समाज-व्यवस्था सम्भव और उचित है, और नैतिक दृष्टि से हम उसे ठीक मान लेते हैं। लेकिन वर्तमान

से भूतकाल का मेल मिलाने की हम जितनी कोशिशें करते हैं वे सब बेकार हो जाती हैं, और यह अवश्यम्भावी ही है। अमेरिकन अर्थशास्त्री वेब्लेन ने लिखा है,—"अन्त में आर्थिक सद्व्यवहार के नियम आर्थिक आवश्यकताओं का अनुकरण करते हैं।" आजकल की ज़रूरतें हमें इस बात के लिए मजबूर करेंगी कि हम उनके मुताबिक़ सदाचार की एक नई व्याख्या करें। अगर हम लोग इस आध्यात्मिक संकट से निकलने का कोई रास्ता ढूंढ़ना चाहते हैं और अपनी भावनाओं का सच्चा मूल्यांकन करना चाहते हैं तो हमें निर्भीकता से और साहस के साथ समस्याओं का सामना करना पड़ेगा और किसी भी धार्मिक आदेश की शरण लेने से काम नहीं चलेगा। धर्म जो-कुछ कहता है वह भला भी हो सकता है और बुरा भी। लेकिन जिस तरीक़े से वह उसे कहता है और यह चाहता है कि हम उसपर विश्वास कर लें, उससे किसी बात को बुद्धि से समझ लेने में हमें क़तई कुछ मदद नहीं मिलती। जैसा कि फ्रॉयड ने कहा है, "धर्म के आदेश विश्वास किये जाने योग्य हैं। इसलिए कि हमारे पूर्व पुरुष उनपर विश्वास करते थे; दूसरे इसलिए कि हमारे पास उनके लिए प्रमाण मौजूद हैं, जो हमें उसी पुराने ज़माने से विरासत में मिलते आये हैं; और तीसरे इसलिए कि उनकी सचाई के बारे में सवाल उठाना मना है।"[१]

अगर हम अहिंसा पर उसके सब व्यापक भावों सहित निर्भ्रान्त धार्मिक-दृष्टि से विचार करें तो बहस के लिए कोई गुंजाइश नही रहती है। उस हालत में तो वह एक सम्प्रदाय का संकुचित ध्येय हो जाती है, जिसे लोग मानें या न मानें। उसकी सजीवता जाती रहती है और उसमें मौजूदा मसलों को हल करने की क्षमता नहीं रहती। लेकिन अगर हम लोग मौजूदा हालतों के सिलसिले में उसपर बहस करने को तैयार रहें तो वह हमें इस जगत के नवनिर्माण के प्रयत्नों में बहुत मदद दे सकती है। ऐसा करते समय हमें साधारण व्यक्ति के स्वभाव और उसकी कमज़ोरियों का ध्यान रखना चाहिए। सामूहिक रूप में किसी प्रवृत्ति पर—विशेष रीति से यदि इसका उद्देश्य कायापलट और क्रान्तिकारी परिवर्तन करना हो तो—नेताओं के विचारों का ही प्रभाव नहीं पड़ता, बल्कि तत्कालीन परिस्थिति का और इससे भी अधिक उन नेताओं का जिन मनुष्यों

---

१. 'दि फ़्यूचर ऑव ऐन इल्यूज़न' नामक पुस्तक में।

से काम पड़ता है, उनका उसके विषय में क्या विचार है, इसका भी प्रभाव पड़ता है।

दुनिया के इतिहास में हिंसा का बहुत बड़ा हिस्सा रहा है। आज भी वह बहुत महत्त्वपूर्ण हिस्सा ले रही है और ग़ालिबन आगे भी बहुत वक़्त तक वह अपना काम करती रहेगी। पिछले ज़माने में जो परिवर्तन हुए, उनमें से ज्यादातर हिंसा और बल-प्रयोग से ही हुए। एक बार डब्ल्यू० ई० ग्लैडस्टन ने कहा था—"मुझे यह कहते हुए दुःख होता है कि अगर राजनैतिक संकट के समय इस देश के लोगों को हिंसा से नफ़रत, व्यवस्था से प्रेम और धीरज से काम लेने के अलावा और कोई आज्ञाएं न दी गई होतीं, तो इस देश को आज़ादी प्राप्त न होती।"

भूतकाल और वर्तमान काल में हिंसा की महत्ता की उपेक्षा करना असम्भव है। उसकी उपेक्षा करना ज़िन्दगी की उपेक्षा करना है। फिर भी अवश्य ही हिंसा एक बुरी चीज़ है और वह अपने पीछे दुष्ट परिणामों की एक लम्बी लीक छोड़ जाती है। और हिंसा से भी ज़्यादा बुरी घृणा, क्रूरता, प्रतिशोध तथा दण्ड की प्रवृत्तियां हैं जो अक्सर हिंसा के साथ रहती हैं। सच बात तो यह है कि हिंसा स्वतः बुरी नहीं, बल्कि वह इन्हीं प्रवृत्तियों की वजह से बुरी है जो उसके साथ रहती हैं। इन प्रवृत्तियों के बिना भी हिंसा हो सकती है। वह तो बुरे उद्देश्य के लिए भी हो सकती है और अच्छे के लिए भी। लेकिन हिंसा को इन प्रवृत्तियों से अलग करना बहुत मुश्किल है, और इसलिए यह वांछनीय है कि जहांतक मुमकिन हो, हिंसा से बचा जाय। फिर भी उससे बचने में हम यह नकारात्मक रुख इख्तियार नहीं कर सकते कि उससे बचने की धुन में दूसरी व उससे कहीं ज्यादा बड़ी बुराइयों के सामने सिर झुका दें। हिंसा के सामने दब जाना या हिंसा की नींव पर टिके हुए किसी अन्यायपूर्ण शासन को मंजूर कर लेना अहिंसा की भावना के बिलकुल खिलाफ़ है। अहिंसा का तरीक़ा तो तभी ठीक कहा जा सकता है, जब वह सजीव हो और उसमें इतनी सामर्थ्य हो कि ऐसे शासन या ऐसी सामाजिक व्यवस्था को बदल डाले।

अहिंसा यह कर सकती है या नहीं, यह मैं नहीं जानता। मेरा खयाल है कि वह हमें बहुत दूर तक ले जा सकती है; लेकिन इस बात में मुझे शक है कि वह हमें अन्तिम ध्येय तक ले जा सकती है। हर हालत में किसी-न-किसी क़िस्म का बल-प्रयोग तो लाज़िमी मालूम पड़ता है; क्योंकि जिन लोगों के हाथ में ताक़त

और खास अधिकार होते हैं वे उन्हें उस वक्त तक नहीं छोड़ते जबतक ऐसा करने के लिए मजबूर नहीं कर दिया जाता, या जबतक ऐसी सूरतें न पैदा कर दी जायं जिनमें उनके लिए इन खास हक़ों का रखना उन्हें छोड़ने से ज्यादा नुक़सानदेह न हो जाय। समाज के मौजूदा राष्ट्रीय और वर्गीय संघर्ष बल-प्रयोग के बिना कभी नहीं मिट सकते। निस्सन्देह हमें बहुत बड़े पैमाने पर लोगों के हृदय बदलने पड़ेंगे; क्योंकि जबतक बहुत बड़ी तादाद हमसे सहमत नहीं होगी, तबतक सामाजिक परिवर्तन के आन्दोलन का कोई वास्तविक आधार क़ायम नहीं हो सकेगा। लेकिन कुछ पर बल-प्रयोग करना ही पड़ेगा। हमारे लिए यह ठीक नहीं है कि हम इन बुनियादी लड़ाइयों पर परदा डालें और यह दिखलाने की कोशिश करें कि वे हैं ही नहीं। ऐसा करने से न सिर्फ़ सच्चाई का ही दमन होता है, बल्कि इसका प्रत्येक परिणाम लोगों को वास्तविक स्थिति से गुमराह करके मौजूदा व्यवस्था को मज़बूत बनाना होता है और शासक-वर्ग अपने विशेष अधिकारों को उचित ठहराने के लिए जिस नैतिक सूत्र की तलाश में रहता है वह उसे मिल जाता है। किसी भी अन्याययुक्त पद्धति का मुक़ाबला करने के लिए यह लाज़िमी है कि जिन ग़लत उपपत्तियों पर वह टिकी हुई है उनका रहस्योद्घाटन करके नग्न सत्य सामने रख दिया जाय। असहयोग की एक ख़ूबी यह भी है कि वह इन ग़लत उपपत्तियों और झूठी बातों को मानने और आगे बढ़ाने में सहयोग देने से इन्कार करके उनका भंडाफोड़ कर देता है।

हमारा अन्तिम ध्येय तो यही हो सकता है कि एक वर्गहीन समाज स्थापित हो, जिसमें सबको समान न्याय और समान सुविधा प्राप्त हो; जिसमें मनुष्य-जाति को भौतिक और सांस्कृतिक दृष्टि से ऊंचा उठाने और उसमें सहयोग, निःस्वार्थ सेवा-भाव, सत्यनिष्ठा, सद्भाव और प्रेम के आध्यात्मिक गुणों की वृद्धि करने, और अन्त में एक संसारव्यापी समाज की स्थापना करने की सुनिश्चित योजना हो। जो कोई इस लक्ष्य के रास्ते में रोड़ा बनकर आये उसे हटाना होगा—हो सके तो नम्रता से, अन्यथा बलपूर्वक; और इस बात में बहुत कम शक है कि अक्सर बल-प्रयोग की ज़रूरत पड़ेगी। लेकिन अगर उसका प्रयोग करना ही पड़े तो वह घृणा और क्रूरता की भावना से नहीं, बल्कि एक रुकावट को दूर करने की शुद्ध इच्छा से। ऐसा करना मुश्किल होगा, लेकिन यह काम भी तो आसान नहीं है, कोई सीधा रास्ता भी नहीं है और अड़चनों की कोई गिनती नहीं। हमारे

सिर्फ उपेक्षा कर देने से ही ये दिक्क़तें और अड़चनें दूर नहीं हो जायेंगी, हमें उनका असली रूप समझकर और साहस के साथ उनका मुक़ाबला करके उन्हें हटाना होगा। ये सब बातें काल्पनिक और सुख-स्वप्न सी मालूम होती हैं और यह स्वभाव नहीं है कि बहुत-से लोग इन उच्च भावनाओं से प्रेरित हों। लेकिन हम उन्हें अपनी नज़र के सामने रख सकते हैं और उनपर ज़ोर दे सकते हैं और यह हो सकता है कि इसके फलस्वरूप हममें से बहुतों के हृदय में जो राग और द्वेष भरा है वह कम हो जाय।

हमारे साधन हमें इस लक्ष्य तक पहुंचाने वाले और इन भावनाओं से प्रेरित होने चाहिए। लेकिन हमें यह बात ज़रूर महसूस कर लेनी चाहिए कि मानव-स्वभाव जैसा है उसे देखते हुए आम लोग हमारी प्रार्थनाओं और दलीलों पर हमेशा ध्यान नहीं देंगे और न ऊंचे नैतिक सिद्धान्त के अनुसार काम ही करेंगे। हृदय-परिवर्तन के अलावा बल-प्रयोग की अक्सर उनपर ज़रूरत पड़ती रहेगी। और सबसे अधिक हम जो कुछ कर सकते हैं वह यही है कि बल-प्रयोग सीमित कर दें, और उसको इस प्रकार से काम में लायें कि उसकी बुराई कम हो जाय।

: ६४ :

फिर देहरादून-जेल में

अलीपुर-जेल में मेरी तन्दुरुस्ती ठीक नहीं रहती थी, मेरा वज़न बहुत घट चुका था, और कलकत्ते की हवा और दिन-दिन बढ़ती हुई गर्मी मुझे परेशान कर रही थी। अफ़वाह थी कि मुझे किसी अच्छी आबहवावाली जगह में भेजा जायगा। ७ मई को मुझसे अपना सामान समेटने और जेल से बाहर चलने को कहा गया। मैं देहरादून-जेल भेजा जा रहा था। कुछ महीनों की तनहाई के बाद शाम की ठण्डी-ठण्डी हवा में कलकत्ता के बीच होकर गुज़रना बड़ा अच्छा मालूम होता था और हावड़ा के आलीशान स्टेशन पर लोगों की भीड़ भी भली मालूम होती थी।

मुझे अपने इस तबादले पर ख़ुशी थी और मैं देहरादून और उसके आसपास के पहाड़ों को देखने को उत्सुक था। लेकिन वहां पहुंचने पर देखा कि नौ महीने पहले, नैनी जाते समय जैसा मैंने उसे छोड़ा था, वह सब हालत अब नहीं रही है। मैं अब एक नये स्थान पर रखा गया, जो मवेशियों के रहने की जगह को साफ़ करके ठीक किया गया था।

कोठरी की शक्ल में वह कुछ बुरी नहीं थी। उसके साथ एक छोटा-सा बरामदा भी था। उसी से लगा हुआ क़रीब पचास फुट लम्बा सहन था। देहरादून में पहली बार मुझे जो पुरानी कोठरी मिली थी, उससे यह अच्छी थी। लेकिन शीघ्र ही मुझे मालूम हुआ कि दूसरी तब्दीलियां कुछ अच्छी न थीं। घेरे की दीवार, जो दस फुट ऊंची थी, ख़ासकर मेरे कारण उस वक्त चार या पांच फुट और बढ़ा दी गई थी। इससे पहाड़ियों के जिस दृश्य की मैं इतनी आशा लगाये था, वह बिलकुल छिप गया था, और मैं सिर्फ़ कुछ दरख़्तों के सिरे ही देख पाता था। मैं इस जेल में लगभग तीन महीने से ज्यादा रहा; लेकिन मुझे कभी पहाड़ों की झलक तक नहीं दिखाई दी। पहली बार की तरह, इस बार मुझे बाहर जेल के दरवाज़े के सामने घूमने की इजाज़त न थी। मेरा छोटा-सा आंगन ही कसरत के लिए काफ़ी बड़ा समझा गया था।

ये तथा दूसरी नई बन्दिशें नाउम्मेदी पैदा करनेवाली थीं, जिससे मैं खीझ गया। मैं अनमना हो गया और अपने आंगन में जो थोड़ी-बहुत कसरत कर सकता था, उसतक के करने को तबीयत न रही। शायद ही मैंने कभी अपनेको इतना अकेला और दुनिया से जुदा महसूस किया हो। एकान्त कारावास का मेरी तबीयत पर ख़राब असर होने लगा, और मेरा शरीर तथा मन गिरने लगा। मैं जानता था कि दीवार की दूसरी तरफ़, कुछ फ़ुट की दूरी पर, वायुमण्डल में ताज़गी और सुगन्ध भरी है, घास और नम पृथ्वी की ठण्डी-ठण्डी महक फैल रही है और दूर-दूर तक के दृश्य दिखाई पड़ते हैं। लेकिन ये सब मेरी पहुंच के बाहर थे और बार-बार उन्हीं दीवारों को देखते-देखते मेरी आंखें पथरा जाती थीं। वहां पर जेल की मामूली चहल-पहल तक न थी, क्योंकि मैं सबसे अलग और अकेला रखा गया था।

छः हफ्ते बाद मूसलाधार वर्षा हुई; पहले हफ़्ते में बारह इंच पानी बरसा। हवा बदली और नवजीवन का संचार हुआ; गर्मी कम हुई और शरीर हलका हुआ और आराम-सा मालूम होने लगा। लेकिन आंखों या दिमाग़ को कुछ आराम न मिला। जेल के वार्डर के आने-जाने के लिए जब-कभी मेरे सहन का लोहे का दरवाज़ा खुलता था, तो एक क्षण के लिए बाहरी दुनिया की झलक, लहराते हुए हरे-भरे खेत और रंग-बिरंगे वृक्ष, जिन पर मेंह की बूंदें मोती की तरह चमकती थीं, बिजली के कौंध की भांति अकस्मात् दिखाई देकर तत्काल छिप जाती थीं। दरवाज़ा शायद ही कभी पूरा खुलता हो। सिपाहियों को ख़ास-तौर पर हिदायत थी कि अगर मैं कहीं नज़दीक होऊं तो वह न खोला जाय और वे जब कभी खोलते भी थे, तो बस ज़रा-सा ही। हरियाली और ताज़गी की ये थोड़ी-थोड़ी झांकियां अब मुझे अच्छी नहीं लगती थीं, इन्हें देखकर मुझे घर की याद हो आती थी और दिल में एक दर्द-सा उठता था; इसलिए जब कभी दरवाज़ा खुलता तो मैं बाहर की तरफ़ नहीं देखता था।

लेकिन यह सब परेशानी असल में जेल की ही वजह से नहीं थी। यह तो बाहरी घटनाओं का असर था। मुझे सताने के लिए एक तरफ़ तो कमला की बीमारी थी और दूसरी तरफ मेरी राजनैतिक चिन्ताएं। मुझे ऐसा दिखाई दे रहा था कि कमला को उसकी पुरानी बीमारी ने फिर आ दबाया है। मैं उसकी कोई भी सेवा करने के अयोग्य हूं, यह विचार दुःख देने लगा।

पड़ा था, और वे ज़रा थके हुए और परेशान से थे। उन्हें कुछ ऐसा तो लगा कि अब लड़ाई बन्द करनी पड़ेगी, मगर यह न सूझा कि आगे क्या किया जाय। उस समय दो स्पष्ट दल बन गये, जिनमें से एक तो कौंसिलों द्वारा केवल वैधानिक आन्दोलन के पक्ष में था और दूसरा कुछ अनिश्चित समाजवादी विचारों के प्रवाह में बहने लगा। लेकिन ज़्यादातर मेम्बर दोनों में से किसी एक पक्ष के भी समर्थक नहीं थे। उन्हें यह भी पसन्द न था कि पीछे हटकर फिर कौंसिलों की शरण ली जाय और साथ ही समाजवाद से कुछ डर भी लगता था कि कहीं उस नई चीज़ से आपस में फूट न पैदा हो जाय। उनके कोई रचनात्मक विचार न थे और उनकी एकमात्र आशा और सहारा गांधीजी थे। पहले की तरह इस बार भी उन्होंने गांधीजी की तरफ़ देखा और जैसा उन्होंने कहा, किया। यह बात दूसरी है कि बहुतों को गांधीजी की बात पूरी तरह पसन्द न थी। गांधीजी के सहारे से नरम वैधानिक विचार के लोगों का कमेटी और कांग्रेस दोनों में बोलबाला हो गया।

यह सब तो होना ही था। मगर जितना मैंने सोचा था, उससे कहीं ज्यादा कांग्रेस पीछे हट गई। पिछले पन्द्रह साल में, जबसे असहयोग-आंदोलन हुआ, कांग्रेस के नेताओं ने कभी इतनी परले सिरे की वैध ढंग की वातें नहीं की थीं। पिछली स्वराज्य-पार्टी, हालांकि वह खुद भी प्रतिक्रिया का ही एक रूप थी, इस नये दल की विचारधारा को देखते हुए कहीं आगे बढ़ी हुई थी। और स्वराज्य-पार्टी में जैसे बड़े और प्रभावशाली व्यक्ति थे वैसे इसमें थे भी नहीं। इसमें बहुत-से लोग ऐसे भी थे, जो जबतक जोखिम रहा, आन्दोलन से जान-बूझकर अलग रहे और अब कांग्रेस में धड़ाधड़ शामिल होकर बड़े आदमी बन गये।

सरकार ने कांग्रेस पर से बन्दिशें उठा लीं और वह क़ानूनी संस्था बन गई। लेकिन इसकी बहुत-सी सहायक संस्थाएं फिर भी ग़ैर-क़ानूनी बनी रहीं, जैसे कांग्रेस का स्वयंसेवक विभाग---सेवादल और कई स्वतन्त्र किसान-सभाएं, शिक्षण-संस्थाएं और नौजवान-सभाएं, जिनमें एक बच्चों की संस्था भी थी। खासतौर पर 'खुदाई खिदमतगार' या सरहदी लालकुर्तीवाले फिर भी ग़ैरक़ानूनी बने रहे। यह संस्था १९३१ में कांग्रेस का एक अंग बन गई थी और सरहदी सूबे में उसकी तरफ़ से काम करती थी। इस तरह हालांकि कांग्रेस ने सीधी लड़ाई पूरी तरह स्थगित कर दी थी और वैध ढंग इख्तियार कर लिया था, फिर भी सरकार

ने सत्याग्रह के लिए जो खास क़ानून बनाये थे, वे सब-के-सब क़ायम रखे और कांग्रेस-संगठन की महत्त्वपूर्ण संस्थाओं पर पाबन्दियां जारी रखीं। किसानों और मज़दूरों की संस्थाओं को दबाने की तरफ़ भी खास ध्यान दिया गया। और मज़ेदार बात तो यह है कि साथ-ही-साथ बड़े-बड़े सरकारी अफ़सर घूम-घूमकर ज़मींदारों और ताल्लुक़ेदारों को संगठित करने लगे। ज़मींदारों की इन संस्थाओं को हर तरह की सहूलियतें दी गईं। युक्तप्रान्त की इन संस्थाओं में से बड़ी-बड़ी दो संस्थाओं का चन्दा, लगान के साथ, सरकारी आदमियों ने इकट्ठा किया।

मेरा ख़याल है कि मेरे मन में हिन्दू या मुस्लिम साम्प्रदायिक संस्थाओं के प्रति पक्षपात नहीं रहा है। लेकिन एक घटना ने हिन्दू-सभा के लिए मेरे मन में खासतौर पर कटुता पैदा कर दी। इसके एक मन्त्री ने खामख्वाह लाल-कुर्तीवालों पर लगाई गई बन्दिशों की हिमायत करके सरकार की पीठ ठोंक दी। जिस समय लड़ाई चल नहीं रही थी, उस समय भी अत्यन्त मामूली नागरिक अधिकारों के छीने जाने के इस समर्थन से मैं दंग रह गया। सिद्धान्त का सवाल छोड़ भी दें, तो भी यह सबको मालूम था कि लड़ाई के दिनों में, इन सरहदी लोगों का बर्ताव विलक्षण रहा, और उनके नेता देश के एक अत्यन्त शूरवीर और ईमानदार व्यक्ति—खान अब्दुलगफ्फ़ार खां, जो बिना मुक़दमा चलाये नज़रबन्द कर दिये गए थे, अभीतक जेल में थे। मुझे ऐसा लगा कि इससे ज़्यादा साम्प्रदायिक द्वेष और क्या हो सकता है! मुझे उम्मीद थी कि हिन्दू-महासभा के बड़े नेता इस मामले में अपने साथी का फ़ौरन प्रतिवाद कर देंगे। लेकिन जहांतक मुझे मालूम है, उनमें से किसीने एक शब्द भी नहीं कहा। हिन्दू-महासभा के मन्त्री के इस वक्तव्य से मुझे बड़ी बेचैनी हुई।

वह वक्तव्य वैसे ही बुरा था; लेकिन मुझे ऐसा दिखाई दिया कि देश में जो एक नई स्थिति पैदा हो गई है, वह उसका सूचक है। गर्मी के दिन थे और तीसरे पहर का वक़्त। मेरी आंखें झपक गईं। याद पड़ता है कि मैंने एक अजीब-सा सपना देखा। अब्दुलगफ्फ़ार खां पर चारों तरफ़ से हमले हो रहे हैं और मैं उन्हें बचाने के लिए लड़ रहा हूं। थकान से चूर और भारी वेदना से व्यथित होकर जागा तो क्या देखता हूं कि तकिया आंसुओं से तर है। मुझे बड़ा ताज्जुब हुआ; क्योंकि जाग्रत अवस्था में कभी मुझपर ऐसी भावुकता सवार नहीं हुआ करती।

उन दिनों मेरा चित्त सचमुच ही ठिकाने न था। नींद ठीक नहीं आती थी। यह मेरे लिए नई बात थी। मुझे तरह-तरह के बुरे सपने भी आने लगे थे। कभी-कभी नींद में चिल्ला उठता था। एक बार तो मेरा यह चिल्लाना मामूली से ज्यादा ज़ोर का हो गया। जब मैं चौंककर उठा, तो बिस्तर के पास जेल के दो सिपाहियों को खड़ा पाया। उन्हें मेरे चिल्लाने से चिन्ता हो गई थी। मैंने सपने में यह देखा था कि कोई मेरा गला घोंट रहा है।

इसी अर्से में कांग्रेस वर्किंग कमेटी के एक प्रस्ताव का भी मेरे दिल पर दुःखदायी असर हुआ। यह कहा गया था कि यह प्रस्ताव "निजी सम्पत्ति की ज़ब्ती और वर्गयुद्ध के सम्बन्ध में होनेवाली अनुत्तरदायित्वपूर्ण चर्चा को ध्यान में रखकर" पास हुआ है, और इसके ज़रिये कांग्रेसवालों को यह बताया गया था कि कराची-कांग्रेस के प्रस्ताव में "किसी उचित कारण या मुआवज़े के बिना न तो निजी सम्पत्ति की ज़ब्ती का ही, और न वर्गयुद्ध का ही समर्थन किया गया है। वर्किंग कमेटी की यह भी राय है कि सम्पत्ति की ज़ब्ती और वर्गयुद्ध कांग्रेस के अहिंसा के सिद्धान्त के ख़िलाफ़ है।" इस प्रस्ताव की भाषा दोषपूर्ण थी, जिससे एक हदतक यह प्रकट होता था कि इसके बनानेवाले जैसे यह जानते ही नहीं कि वर्गयुद्ध क्या चीज़ है। इस प्रस्ताव द्वारा प्रत्यक्ष रूप से नये कांग्रेस-समाजवादी दल पर हमला किया गया था। असल में, इस दल के किसी भी ज़िम्मेदार शख़्स की तरफ़ से ज़ब्ती की कभी कोई बात नहीं कही गई थी; हां, मौजूदा परिस्थितियों में जो वर्गयुद्ध मौजूद है, कभी-कभी उसका ज़िक्र कर दिया जाता था। वर्किंग-कमेटी के इस प्रस्ताव में यह इशारा मालूम पड़ता था कि कोई भी ऐसा शख़्स, जो इस तरह वर्गयुद्ध में विश्वास रखता है, कांग्रेस का मामूली मेम्बर नहीं बन सकता। कांग्रेस के समाजवादी होने या निजी सम्पत्ति के विरुद्ध होने की शिकायत तक किसी ने नहीं की थी। कुछ सदस्यों का इस प्रकार का मत था; लेकिन अब यह स्पष्ट हो गया कि इस राष्ट्रीय संस्था में जहां सबके लिए जगह है, वहां समाजवादियों के लिए जगह नहीं है।

अक्सर यह कहा गया है कि कांग्रेस राष्ट्र की प्रतिनिधि है—यानी, राजा से लेकर रंक तक सभी क़िस्म के लोग इसमें शामिल हैं। राष्ट्रीय आन्दोलनों का बहुधा यह दावा हुआ ही करता है। इसका मतलब शायद यह है कि ये आन्दोलन राष्ट्र के बहुत बड़े बहुमत के प्रतिनिधि होते हैं और उनकी नीति सभी क़िस्म

के लोगों की भलाई की होती है। लेकिन ज़ाहिर है कि यह दावा तो किया ही नहीं जा सकता कि कोई राजनैतिक संस्था विरोधी हितों की प्रतिनिधि नहीं हो सकती, क्योंकि ऐसा करने से न केवल वह कमज़ोर और बे-मानी संस्था हो जायगी, बल्कि उसका अपना कोई विशेष चिह्न और स्वरूप भी क़ायम न रह सकेगा। कांग्रेस या तो एक ऐसा राजनैतिक दल है, जिसका कोई एक निश्चित (या अनिश्चित) उद्देश्य है और राजनैतिक सत्ता प्राप्त करने और राष्ट्र के हित में उसका उपयोग करने के लिए उसकी अपनी एक विशिष्ट विचारधारा है; या वह एक ऐसी परोपकारिणी और दया-धर्मप्रचारिणी संस्था है, जिसके अपने कोई विचार नहीं हैं, बल्कि वह सबका भला चाहती है। जिन लोगों को यह ध्येय तथा सिद्धान्त मान्य हैं उन्हींकी यह प्रतिनिधि संस्था है और जो उसके विरोधी हैं उन्हें वह राष्ट्र-विरोधी या समाज-विरोधी और प्रतिगामी मानती है, और अपने सिद्धान्तों का प्रचार करने के लिए उनका प्रभाव कम करने या मिटाने में विश्वास रखती है। यह सही है कि साम्राज्य-विरोधी राष्ट्रीय आन्दोलन से अधिक लोगों के सहमत होने की गुंजाइश रहती है, क्योंकि उसका सामाजिक संघर्ष से कोई सम्बन्ध नहीं होता। इस तरह कांग्रेस किसी-न-किसी मात्रा में भारतवासियों के भारी बहुमत की प्रतिनिधि थोड़े-बहुत रूप में ज़रूर रही है और सब तरह के विरोधी दल के लोग भी इसमें शामिल रहे हैं। ये लोग एकमत सिर्फ़ इस बात पर रहे कि साम्राज्य-वाद का विरोध करना चाहिए। लेकिन इस मामले पर ज़ोर देने का जुदा-जुदा लोगों का जुदा-जुदा ढंग था। साम्राज्य के विरोध के इस मूल प्रश्न पर जिन लोगों की राय बिलकुल ख़िलाफ़ रही, वे लोग कांग्रेस से निकल गये और किसी-न-किसी शक्ल में ब्रिटिश सरकार के साथ मिल गये। इस तरह कांग्रेस एक तरह का स्थायी सर्वदल-संगठन बन गई जिसमें एक-दूसरे से मिलते-जुलते कई दल थे जो एक मुख्य सिद्धान्त और गांधीजी के सर्वोपरि व्यक्तित्व के कारण एक सूत्र में बंधे थे।

बाद में वर्किंग-कमेटी ने वर्गयुद्ध-सम्बन्धी अपने प्रस्ताव का अर्थ समझाने की कोशिश की। इस प्रस्ताव की भाषा का या उसमें जिस विषय का प्रतिपादन था, उसका इतना महत्त्व न था, जितना इस बात का कि इससे कांग्रेस जिस दिशा में जा रही थी, उसका नया परिचय मिलता था। साफ़ है कि यह प्रस्ताव कांग्रेस के नये पार्लमेंटरी दल की प्रेरणा से पास हुआ था। यह दल असेम्बली के आगामी

चुनाव में ज़ायदादवाले लोगों की सहायता प्राप्त करना चाहता था। इन लोगों के प्रभाव से कांग्रेस का दृष्टिकोण नरम होता जा रहा था और वह देश के नरम और पुराने ख़याल के लोगों को मिलाने की कोशिश कर रही थी। जिन लोगों ने पहले कांग्रेस की हलचलों का विरोध किया था और सत्याग्रह के ज़माने में भी सरकार का साथ दिया था, उन लोगों के प्रति भी चापलूसी-भरे शब्द कहे जाने लगे। यह भी महसूस किया गया कि शोर मचाने और टीका-टिप्पणी करनेवाला गरम दल इस मेल-मिलाप और हृदय-परिवर्तन के काम में बाधक बन रहा था। वर्किंग-कमेटी के प्रस्ताव और दूसरे व्यक्तिगत भाषणों से यह प्रकट था कि कांग्रेस की कार्यकारिणी-सभा गरम दलवालों के अड़चनें डालने पर भी अपना नया रास्ता छोड़ने को तैयार नहीं थी। यह भी ज़ाहिर होता था कि अगर गरम दल का रुख़ न बदला तो उसे कांग्रेस से ही निकाल बाहर कर दिया जायगा। कांग्रेस के पार्लेमेंटरी बोर्ड ने जो ऐलान निकाला उसमें ऐसा नरम और फूंक-फूंककर क़दम रखने का कार्यक्रम निर्देशित किया गया, जैसा पिछले पन्द्रह सालों में कांग्रेस ने कभी इख़्तियार नहीं किया था।

गांधीजी के अलावा भी कांग्रेस में कई ऐसे प्रसिद्ध नेता थे, जिन्होंने राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के आन्दोलन में बड़ी अमूल्य सेवाएं की थीं, और उनकी सचाई और निर्भयता के कारण देश-भर में उनका बड़ा मान था। लेकिन इस नई नीति की वजह से कांग्रेस की दूसरी पंक्ति ही नहीं, पहली पंक्ति में भी ऐसे-ऐसे लोग आकर नेता बन गये जिन्हें आदर्शवादी नहीं कहा जा सकता था। कांग्रेस के सामान्य सदस्यों में बेशक बहुत-से आदर्शवादी थे, लेकिन इस समय सम्मान-लोभियों और अवसरवादियों के लिए दरवाज़ा जितना ज़्यादा खुल गया था, उतना शायद ही पहले कभी खुला हो। इस सारे वातावरण पर गांधीजी के रहस्यपूर्ण तथा अगम्य व्यक्तित्व का प्रभुत्व तो था ही, परन्तु कांग्रेस दोमुंही मालूम पड़ती थी; एक मुंह तो शुद्ध राजनैतिक था और संगठित दल का रूप इख़्तियार करता था, और दूसरा था धर्मनिष्ठा और भावुकता से पूर्ण प्रार्थना-सभाओं का।

सरकार की तरफ़ विजय का वातावरण स्पष्ट रूप से प्रकट था। उसकी दृष्टि से उसकी यह जीत उसकी सविनय-भंग तथा उसकी अन्य शाखाओं को दबा देने की नीति के फलस्वरूप हुई थी। आपरेशन तो सफलतापूर्वक हो ही गया था, फिर उस समय यह क्यों चिन्ता होने लगी कि मरीज़ जियेगा या मरेगा। हालांकि

उस वक़्त कांग्रेस किसी हद तक दबा दी गई थी, फिर भी सरकार कुछ मामूली हेरफेर के साथ अपनी दमन-नीति वैसे ही जारी रखना चाहती थी। वह जानती थी कि जबतक असन्तोष का आधारभूत कारण मौजूद है, तबतक राष्ट्रीय नीति में इस प्रकार के परिवर्तन क्षणिक ही हो सकते हैं, और इसलिए उसने यदि अपनी नीति में ज़रा भी ढिलाई की तो आन्दोलन तेज़ रफ़्तार पकड़ सकता है। वह शायद यह भी समझती थी कि कांग्रेस अथवा मज़दूर या किसान-वर्ग में से अधिक गरम विचारवालों को दबाने की अपनी नीति जारी रखने में कांग्रेस के फूंक-फूंककर चलनेवाले नेताओं के बहुत अधिक नाराज़ होने की कोई आशंका नहीं है।

देहरादून-जेल में मेरे विचारों का प्रवाह किसी हद तक इसी प्रकार का था। परिस्थिति के सम्पर्क में न होने के कारण वास्तव में मैं घटना-चक्र के सम्बन्ध में अपना निश्चित मत बनाने की स्थिति में न था। अलीपुर में तो मैं परिस्थिति से बिलकुल अपरिचित था, देहरादून में मुझे सरकार की पसन्द के अख़बार के ज़रिये अधूरी और कभी-कभी बिलकुल एकतरफ़ा ख़बरें मिलने लगी थीं। अपने बाहर के साथियों के सम्पर्क में आने और परिस्थिति के निकट अध्ययन से मेरे विचारों में किसी हद तक परिवर्तन होना बहुत मुमकिन था।

वर्तमान परिस्थिति से परेशान होकर मैं भूतकाल की बातों का, जबसे मैंने सार्वजनिक कार्यों में कुछ भाग लेना शुरू किया तबसे, हिन्दुस्तान की राजनैतिक घटनाओं का अवलोकन करने लगा। हमने जो कुछ किया, उसमें हम किस हद तक सही रास्ते पर थे? किस हद तक ग़लती पर थे? उसी समय मुझे यह सूझा कि मैं अपने विचारों को अगर काग़ज़ पर लिखता जाऊं तो वे अधिक व्यवस्थित और उपयोगी होंगे। इससे मुझे अपने दिमाग़ को एक निश्चित काम में लगाये रखने और उसे चिंता और परेशानी से दूर रखने में भी सहायता मिलेगी। इस तरह जून सन् १९३४ में देहरादून-जेल में मैंने अपनी यह 'कहानी' लिखनी शुरू की और आठ महीने तक, जबतक इसकी धुन सवार रही, लिखता रहा। अक्सर ऐसे मौक़े आये जब मुझे लिखने की इच्छा नहीं हुई। तीन बार ऐसा हुआ कि महीने-महीने भर तक मैं कुछ न लिख सका। लेकिन मैंने इसे जारी रखने की कोशिश की, और अब मैं अपनी इस निजी यात्रा की समाप्ति के निकट पहुंच चुका हूं। इसका अधिकांश एक अजीब परेशानी की हालत में लिखा गया है, जबकि मैं उदासी और मानसिक चिन्ताओं से दबा हुआ था। शायद इसकी थोड़ी-सी

झलक, जो कुछ मैंने लिखा, इसम आ गई है, लेकिन इस लिखने ने ही मुझे वर्त-मान चिन्ताओं को भुलाने में बड़ी सहायता दी। जब मैं इसे लिख रहा था, मुझे बाहर के पाठकों का बिलकुल खयाल न था; मैं अपने-आपको सम्बोधन करता था, और अपने लाभ के प्रश्न बनाकर उनके उत्तर देता था। कभी-कभी तो उससे मेरा कुछ मनोरंजन भी हो जाता था। यथासम्भव मैं बिना किसी लाग-लपेट के स्पष्ट विचार करना चाहता था, और मैं सोचता था कि शायद भूतकाल का यह सिंहावलोकन मुझे इस काम म सहायक होगा।

आख़िरी जुलाई के क़रीब कमला की हालत बड़ी तेज़ी से बिगड़ने लगी और कुछ ही दिनों में वह नाजुक हो गई। ११ अगस्त को मुझसे एकाएक देहरादून-जेल छोड़ने को कहा गया और उस रात को मैं पुलिस की निगरानी में इलाहाबाद भेज दिया गया। दूसरे दिन शाम को हम इलाहाबाद के प्रयाग स्टेशन पर पहुंचे और वहां मुझसे ज़िला-मजिस्ट्रेट ने कहा कि मैं अस्थायी तौर पर रिहा किया जा रहा हूं, जिससे मैं अपनी बीमार पत्नी को देख सकूं। मेरी गिरफ़्तारी का छठा महीना पूरा होने में एक दिन बाक़ी रह गया था।

: ६५ :

ग्यारह दिन

"स्वयं काटकर जीर्ण म्यान को दूर फेंक देती तलवार,
इसी तरह चोला अपना यह रख देता है जीव उतार।"[1]

मेरी रिहाई आरज़ी थी। मुझे बता दिया गया था कि मेरी रिहाई एक या दो दिन के लिए, या जबतक डाक्टर बिलकुल ज़रूरी समझें, तबतक के लिए है। अनिश्चितता से भरी हुई यह एक अजीब स्थिति थी, और मेरे लिए कुछ निश्चित कर सकना मुमकिन न था। एक निश्चित अवधि होती तो मैं जान सकता था, कि मेरी क्या स्थिति है और मैं अपने-आपको उसके अनुकूल बनाने की कोशिश करता। मौजूदा हालत जैसी थी, उसमें तो मैं किसी भी दिन, जेल को वापस भेज दिया जा सकता था।

परिवर्तन आकस्मिक था और मैं उसके लिए ज़रा भी तैयार न था। क़ैद की तनहाई से मैं एकदम डॉक्टरों, नर्सों और रिश्तेदारों से भरे हुए घर पर पहुंचाया गया। मेरी लड़की इन्दिरा भी शान्ति-निकेतन से आ गई थी। मुझसे मिलने और कमला की हालत दरियाफ़्त करने के लिए बहुत-से मित्र बराबर आते जा रहे थे। रहन-सहन का ढंग भी बिलकुल जुदा था, घर के सब आराम थे और अच्छा खाना था। वह सब कुछ होते हुए भी कमला की ख़तरनाक हालत की चिन्ता परेशान कर रही थी।

उसके शरीर में केवल हड्डियां रह गई थीं और वह अत्यन्त कमज़ोर हो गई थी। उसका शरीर छाया-मात्र मालूम पड़ता था। वह बहुत कमज़ोर हालत में रोग से टक्कर ले रही थी। और यह ख़याल कि शायद वह मुझे छोड़ जायगी, असह्य वेदना देने लगा। इस समय हमारी शादी को साढ़े अठारह साल हुए थे। मेरे मन में उस दिन से लेकर आज तक के बरसों की यादें आने लगीं।

---

[1] बायरन के मूल अंग्रेजी पद्य का भावानुवाद।

शादी के वक़्त मैं छब्बीस साल का था और वह क़रीब सत्रह बरस की। वह सांसारिक बातों से सर्वथा अनभिज्ञ निरी अबोध बालिका थी। हमारी उम्र में काफ़ी फ़र्क़ था, और उससे भी अधिक फ़र्क़ हमारे मानसिक दृष्टि-बिन्दु में था, क्योंकि उसकी बनिस्बत मेरी उम्र कहीं ज्यादा थी। पर ऊपर से गम्भीर होते हुए भी मुझमें बड़ा लड़कपन था, और मैंने शायद ही कभी यह महसूस किया हो कि इस सुकुमार और भावुक बाला का मस्तिष्क फूल की तरह धीरे-धीरे विकसित हो रहा है और उसे सहृदयता और होशियारी के साथ सहारा देने की आवश्यकता है। हम दोनों एक-दूसरे की तरफ़ आकर्षित हो रहे थे और काफ़ी अच्छी तरह हिल-मिल गये थे, लेकिन हमारा दृष्टि-पथ जुदा-जुदा था और एक-दूसरे में अनुकूलता का अभाव था। इस विपरीतता के कारण कभी-कभी आपस में संघर्ष तक की नौबत आ जाती थी; और कई बार छोटी-मोटी बातों पर बच्चों के-से छोटे-मोटे झगड़े भी हो जाया करते थे, जो ज़्यादा देर तक न टिकते थे, और तुरन्त ही मेल-मिलाप होकर समाप्त हो जाते थे। दोनों का स्वभाव तेज़ था, दोनों ही तुनकमिज़ाज़ थे, और दोनों में ही अपनी शान रखने की बच्चों जैसी ज़िद थी। इतने पर भी हमारा प्रेम बढ़ता गया, हालांकि परस्पर मानसिक भेद धीरे-धीरे कम हुआ। हमारी शादी के इक्कीस महीने बाद हमारी लड़की और एकमात्र सन्तान इन्दिरा पैदा हुई।

हमारी शादी के बिलकुल साथ-ही-साथ देश की राजनीति में अनेक नई घटनाएं हुईं और उनकी ओर मेरा झुकाव बढ़ता गया। वे होमरूल के दिन थे। उनके पीछे फ़ौरन ही पंजाब के मार्शल-लॉ का और असहयोग का ज़माना आया और मैं सार्वजनिक कामों के आंधी-तूफान में अधिकाधिक फंसता ही गया। इन आन्दोलनों में मेरी तल्लीनता इतनी बढ़ गई थी कि ठीक उस समय, जबकि उसे मेरे पूरे सहयोग की आवश्यकता थी, मैंने अनजान में उसे बिलकुल नज़र-अन्दाज़ कर दिया और उसे अपने निज के भरोसे छोड़ दिया। उसके प्रति मेरा प्रेम बराबर बना रहा, बल्कि बढ़ता गया, और वह अपने प्रेमपूर्ण हृदय से मुझे सहायता देने को सदा तैयार है, यह जानकर मन को बड़ी सान्त्वना मिलती थी। उसने मुझे बल दिया, लेकिन साथ ही उसे मानसिक व्यथा भी होती रही होगी और अपने प्रति मेरी कुछ लापरवाही उसे खटकती रही होगी। इस तरह उसे भूला-सा रहने

और कभी-कदास उसकी सुध लेने के बजाय यदि उसपर मेरी अकृपा रही होती, तो यह किसी क़दर अच्छा होता ।

इसके बाद उसकी बीमारी का दौर शुरू हुआ और मेरा लम्बा जेल-निवास। हम केवल जेल की मुलाक़ात के समय ही मिल पाते थे। सत्याग्रह-आन्दोलन ने उसे सैनिकों की प्रथम पंक्ति में ला खड़ा किया, और उसे स्वयं जेल जाने पर बड़ी ख़ुशी हुई। हम एक-दूसरे के और भी निकट आते गये। कभी-कभी होने वाली ये मुलाक़ातें अनमोल होती गईं; हम उनकी बाट जोहते रहते थे और बीच के दिन गिनते रहते थे। हम आपस में एक-दूसरे से उकताते न थे और हमारी बातें नीरस नहीं हुआ करती थीं, क्योंकि हमारी मुलाक़ातों और थोड़ी देर के मिलन में हमेशा कुछ-न-कुछ ताज़गी और नवीनता बनी रहती थी। हम दोनों बराबर एक-दूसरे में नई-नई बातें पाते रहते थे, हालांकि कभी-कभी ये बातें शायद हमारी पसन्द की न होती थीं। हमारी बढ़ती हुई उम्र के इन मतभेदों में भी लड़कपन की मात्रा रहती।

वैवाहिक जीवन के अठारह बरस बाद भी उसके मुख पर मुग्धा कुमारी का भाव अभी तक वैसा ही बना हुआ था, प्रौढ़ता का कोई चिह्न न था। प्रथम दिन नववधू बनकर वह जैसी हमारे घर आई थी, अब भी बिलकुल वैसी ही मालूम होती थी। लेकिन मैं बहुत बदल गया था; और हालांकि अपनी उम्र के मुताबिक़ मैं काफी योग्य, चपल और क्रियाशील था—और कुछ लोगों का कहना था कि अब भी मुझमें लड़कपन की कई सिफ़तें मौजूद हैं—फिर भी मेरे चेहरे से मेरी अधिक उम्र मालूम पड़ती थी। मेरे सिर के आधे बाल उड़ गये थे और जो बाक़ी थे वे पक गये थे; पेशानी पर सलवटें, चेहरे पर झुर्रियां और आंखों के चारों तरफ़ काली झांई पड़ गई थी। पिछले चार वर्षों की मुसीबतें और परेशानियां मुझपर अपने बहुत-से निशान छोड़ गई थी। इन पिछले बरसों में मैं और कमला जब कभी किसी नई जगह जाते, तो मैं यह जानकर हैरान हो जाता था कि अक्सर कमला को मेरी लड़की समझ लिया जाता। वह और इन्दिरा सगी बहनें-सी दिखाई देती थीं!

वैवाहिक जीवन के अठारह बरस! लेकिन इनमें से कितने साल मैंने जेल की कोठरियों में, और कमला ने अस्पतालों और सेनिटोरियम में बिताये? और फिर इस समय भी मैं जेल की सज़ा भुगतता हुआ कुछ ही दिनों के लिए बाहर

आ गया था और वह बीमार पड़ी हुई जीवन के लिए संघर्ष कर रही थी। अपनी तन्दुरुस्ती के बारे में उसकी लापरवाही पर कुछ झुंझलाहट-सी आई। लेकिन फिर भी मैं उसे दोष किस तरह दे सकता था! क्योंकि राष्ट्रीय युद्ध में पूरा हिस्सा लेने में अशक्त होने के कारण उसकी तेजस्वी आत्मा छटपटाती रहती थी। शरीर से समर्थ न होने के कारण न तो वह ठीक तरह से काम ही कर सकती थी न ठीक तौर पर अपना इलाज ही करा सकती थी। नतीजा यह हुआ कि अन्दर-ही-अन्दर सुलगती रहनेवाली आग ने उसके शरीर को खा डाला।

सचमुच ही इस समय, जबकि मुझे उसकी सबसे अधिक आवश्यकता है, वह मुझे छोड़ तो नहीं जायगी! अरे, अभी-अभी तो हम दोनों ने एक-दूसरे को ठीक तरह से पहचानना और समझना शुरू किया है! हम दोनों को एक-दूसरे पर कितना भरोसा था, हम दोनों के एक-साथ रहकर अभी कितना काम करना था!

प्रतिदिन और प्रतिघंटे उसकी हालत देख-देखकर मेरे दिल में इस तरह के विचार उठते रहते थे।

साथी और मित्र मुझसे मिलने आये। अभीतक जो कुछ हो चुका था, और जिससे कि मैं वाक़िफ़ नहीं था, उसके बारे में उन्होंने बहुत-कुछ कहा। उन्होंने वर्तमान राजनैतिक समस्याओं के बारे में मुझसे चर्चा की और प्रश्न पूछे। मुझे उन्हें जवाब देना मुश्किल मालूम हुआ। कमला की बीमारी का खयाल दिमाग़ से दूर होना आसान न था, और तनहाई और जेल की जुदाई के कारण मैं इस स्थिति में नहीं था कि इन सब ठोस प्रश्नों का जवाब एकाएक दे सकता। अपने लम्बे तजुर्बे ने मुझे यह सिखाया है कि जेल में मिली हुई मुख़्तसिर-सी जानकारी से स्थिति का ठीक-ठीक अन्दाज़ा नहीं लगाया जा सकता। अच्छी तरह सोचने-समझने के लिए व्यक्तिगत सम्पर्क ज़रूरी था, उसके बग़ैर राय ज़ाहिर करना बिलकुल किताबी और असलियत से दूर होता। साथ ही गांधीजी और कांग्रेस वर्किंग-कमेटी के अपने पुराने साथियों के साथ सब बातों पर चर्चा करने से पहले कांग्रेस की नीति के सम्बन्ध में कुछ निश्चित राय ज़ाहिर करना, मुझे उनके प्रति अन्याय मालूम आ। जो कुछ हो चुका था उसपर मेरे मन में बहुत-सी आलोचना भरी हुई थी, लेकिन मैं कुछ निश्चित सूचनाएं देने के लिए तैयार न था। जेल से बाहर आने का कोई खयाल न होने के कारण उस दिशा में मैंने सोचा ही न था।

इसके साथ ही एक ख़याल यह भी था कि सरकार ने मुझे अपनी पत्नी के पास रहने देने की जो शिष्टता दिखाई है, उसको ध्यान में रखते हुए मेरे लिए यह मुनासिब न होगा कि इस मौक़े का मैं राजनीतिक बातों के लिए उपयोग करूं। हालांकि ऐसे कामों से दूर रहने की मैंने कोई शर्त या वादा नहीं किया था, फिर भी इस ख़याल का मुझपर बराबर असर रहा।

सिवा झूठी अफ़वाहों के खण्डन के मैं कोई भी सार्वजनिक वक्तव्य का देना टालता रहा। ख़ानगी बातचीत में मैंने किसी निश्चित नीति का समर्थन नहीं किया, लेकिन पुरानी घटनाओं की आलोचना काफी खुलकर की। कांग्रेस-समाजवादी दल उन्हीं दिनों अस्तित्व में आया था, और मेरे बहुत-से निकट के साथी उसमें शरीक थे। जहांतक मैंने उसे समझा, उसकी साधारण नीति मुझे पसन्द थी; लेकिन वह एक अजीब खिचड़ी-सी जमात मालूम हुई, और अगर मैं बिलकुल आज़ाद होता, तो भी एकाएक उसमें शरीक न होता। स्थानीय राज-नैतिक झगड़ों ने भी मेरा कुछ समय लिया; क्योंकि कुछ दूसरी जगहों की तरह इलाहाबाद में भी स्थानीय कांग्रेस-कमेटियों के चुनाव के समय असाधारण रूप से विषैला प्रचार हुआ था। इनमें सिद्धान्त की कोई बात न थी, ये केवल व्यक्तियों के प्रश्न थे। मुझसे कहा गया कि इस तरह पैदा हुए कुछ व्यक्तिगत झगड़ों को निबटाने में मैं मदद करूं।

इन झगड़ों में पड़ने की मेरी ज़रा भी इच्छा न थी, और न मेरे पास समय ही था; इसके होते हुए भी कुछ घटनाएं मेरे सामने आईं और उनसे मुझे बड़ा दुःख हुआ। यह एक ताज्जुब की बात थी कि स्थानीय कांग्रेस के चुनाव पर लोग-बाग इतने अधिक उत्तेजित हो उठें। इनमें सबसे अधिक प्रमुख व्यक्ति वही थे, जो अनेक निजी कारणों से सत्याग्रह के समय कांग्रेस से अलग हो गये थे। सत्याग्रह के बन्द हो जाने के साथ इन निजी कारणों का महत्त्व घट गया और ये लोग एकाएक मैदान में निकल आये और एक-दूसरे के ख़िलाफ़ भयंकर और अक्सर कमीना प्रचार करने लगे। यह एक असाधारण बात थी कि किस तरह दूसरे दल को गिराने के जोश में शिष्टता के साधारण नियमों तक को भुला दिया गया था। ख़ासकर मुझे इस बात का बहुत ही रंज हुआ कि कमला के नाम और उसकी बीमारी तक का इन स्थानीय चुनावों की ख़ातिर दुरुपयोग किया गया।

व्यापक प्रश्नों में, कांग्रेस के असेम्बली के आगामी चुनाव में अपने उम्मीदवार

खड़े करके चुनाव लड़ने के निर्णय पर भी चर्चा हुई। नौजवान-दलों में बहुतों ने इस निर्णय का विरोध किया था, क्योंकि उनके खयाल में यह उसी पुराने वैधानिक और समझौते के रास्ते पर वापस लौटना था; लेकिन उन्होंने इसके बदले और कोई कारगर रास्ता नहीं सुझाया। यह एक अजीब-सी बात थी कि इनमें से कितने ही सिद्धान्तवादी विरोधी कांग्रेस के अलावा दूसरी संस्थाओं द्वारा चुनाव लड़ने के ख़िलाफ़ थे। उनका मक़सद यही मालूम होता था कि साम्प्रदायिक संस्थाओं के लिए मैदान साफ़ छोड़ दिया जाय।

इन स्थानीय झगड़ों और तेज़ी से बढ़ते हुए ऐसे राजनैतिक दांव-पेचों से मुझे नफ़रत हो गई। मैंने देखा कि मेरा उनसे मेल नहीं बैठता है और अपने ही शहर इलाहाबाद में मैं अपने को अजनबी-सा महसूस करने लगा। मैं सोचता था कि इन-जैसे मामलों में जब मेरे भाग लेने का समय आयेगा तो ऐसे वातावरण में मैं क्या कर सकूंगा!

मैंने कमला की हालत के बारे में गांधीजी को लिखा, क्योंकि मेरा ख़याल था कि मैं जल्दी ही वापस जेल में चला जाऊंगा और मुमकिन है कि अपने दिल की बात ज़ाहिर करने का फिर दूसरा मौक़ा न मिले, इसलिए मेरे दिमाग़ में जो बातें घूम रही थीं उनकी भी कुछ-कुछ झलक उन्हें दे दी। हाल की घटनाओं ने मुझे बहुत अधिक संतप्त और परेशान कर दिया था, और मेरे पत्र में उसकी एक हलकी-सी छाप थी। मैंने यह सूचित करने की कोशिश नहीं की थी कि क्या करना चाहिए और क्या नहीं। मैंने जो-कुछ भी किया वह तो इधर की घटनाओं से मेरे दिल पर जो कुछ भी प्रतिक्रिया हुई थी, उसका खुलासा-भर था। वह पत्र क्या था, सर्वथा दबे हुए जोश का उबाल था, और बाद में मुझे मालूम हुआ कि गांधीजी को उससे बहुत दुःख पहुंचा।

दिन-पर-दिन निकलते जाते थे, और मैं जेल की तलबी या सरकार से कोई दूसरी सूचना मिलने का इन्तज़ार कर रहा था। समय-समय पर मुझसे यह कहा जाता कि आगे के लिए कल या परसों हिदायत जारी होनेवाली है। इस बीच डाक्टरों से यह कह दिया गया कि वे सरकार को कमला की हालत की सूचना रोज़ाना देते रहें। मेरे आने के बाद से कमला की हालत कुछ सुधर गई थी।

यह आम विश्वास था, यहां तक कि जो लोग साधारणतया सरकार के

विश्वास-पात्र होने के कारण उसकी बातों की जानकारी रखते हैं, उनका भी यह ख़याल था, कि अगर दो बातों—एक तो अक्तूबर में बम्बई में कांग्रेस का अधिवेशन, और दूसरे नवम्बर में होनेवाला असेम्बली का चुनाव—न होता तो मैं पूरी तरह रिहा कर दिया गया होता। जेल से बाहर रहने पर सम्भव है कि मैं इन कामों में बाधा डालूं, इसलिए सम्भवतः मैं तीन महीने के लिए वापस जेल भेज दिया जाऊंगा और उसके बाद छोड़ दिया जाऊंगा। मेरे जेल वापस न भेजे जाने की भी सम्भावना थी, और जैसे-जैसे दिन निकलते जाते थे, यह सम्भावना बढ़ती जाती थी। मैंने करीब-करीब काम में लग जाने का निश्चय किया।

२३ अगस्त का दिन मेरे छुटकारे का ग्यारहवां दिन था। पुलिस की मोटर आई। पुलिस अफ़सर मेरे पास पहुंचा और मुझसे कहा कि मेरी अवधि समाप्त हो गई और मुझे उसके साथ नैनी जेल के लिए रवाना होना होगा। मैंने अपने मित्रों से विदाई ली। जैसे ही मैं पुलिस की मोटर में बैठ रहा था, मेरी बीमार मां बांहें फैलाये हुए दौड़ी हुई आई। उसकी वह मुख-मुद्रा एक अर्से तक रह-रहकर मेरी नज़रों में घूमती रही।

: ६६ :

फिर जेल में

छाया निरंकुशगतिः स्वयमातपस्तु, छायान्वितः शतश एव निजप्रसंगम् ।
दुःखं सुखेन पृथगेवमनन्तदुःख - पीडानुवेधविधुरा तु सुखस्य वृत्तिः ॥[1]

—राजतरंगिणी, ८–१९१३.

मैं फिर नैनी-जेल के अन्दर दाखिल हो गया। मुझे ऐसा जान पड़ने लगा, जैसे मैं एक नई सज़ा की मियाद शुरू कर रहा हूं। कभी जेल के भीतर, कभी जेल के बाहर—मैं एक खिलौना-सा बना हुआ था! घड़ी में छूटना, घड़ी में पकड़ा जाना—यह आवा-जाई हृदय को झकझोर डालती है, और अपने-आपको बार-बार नये परिवर्तनों के अनुकूल कर लेना बड़ा कठिन काम है। मैं आशा कर रहा था कि इस बार भी मुझे नैनी की उसी पुरानी कोठरी में रखा जायगा, जिसमें मैं अपनी पिछली लम्बी सज़ा काट चुका था। वहां थोड़े-से फूलों के पेड़ थे, जिन्हें मेरे बहनोई रणजीत पण्डित ने शुरू में लगाया था, और एक बरामदा भी था। लेकिन नम्बर ६ की पुरानी बैरक में, एक नज़रबन्द को, जिसपर न तो कोई मुक़दमा चलाया गया था, न कोई सज़ा दी गई थी, रख दिया गया था। यह उचित नहीं समझा गया कि मैं उसके सम्पर्क में आऊं, इसलिए मुझे जेल के दूसरे हिस्से में रखा गया, वह और भी अधिक अन्दर की तरफ़ था, और उसमें फूल या हरियाली कुछ भी नहीं था।

लेकिन मुझे अपने इस स्थान की इतनी चिंता नहीं थी; मेरा मन तो दूसरे स्थान पर था। मुझे डर था कि कमला की हालत में जो थोड़ा-सा सुधार हुआ

---

[1] छाया स्वतन्त्र गति है, फिर भी प्रकाश—
छाया मिला विविध रूप दिखे स्वतः ही।
है दुःख तो पृथक् ही सुख से परन्तु,
पीड़ा अनन्त दुख की सुख को सताती।

है, वह मेरे दुबारा गिरफ़्तार होने के समाचार से रुक जायगा। और हुआ भी ऐसा ही। कुछ दिनों तक ऐसी व्यवस्था रही कि कमला की हालत के बारे में मुझे हर रोज़ डाक्टर का एक मुख़्तसिर-सा बुलेटिन मिल जाया करता था। यह भी घूम-फिरकर मेरे पास पहुंचता था। डाक्टर टेलीफ़ोन से पुलिस के सदर दफ़्तर को सूचना देता, और पुलिस उसे जेल तक पहुंचा देती। डाक्टरों और जेल के कर्मचारियों में सीधा सम्बन्ध मुनासिब नही समझा गया। दो सप्ताह तक तो मुझे यह सूचना नियमित और कभी-कभी अनियमित रूप से मिलती रही, और उसके बाद रोक दी गई, हालांकि कमला की हालत दिन-पर-दिन गिरती ही जा रही थी।

इन बुरे समाचारों तथा समाचारों की ऐसी प्रतीक्षा के कारण दिन काटे नहीं कटता था और रात और भी भीषण मालूम पड़ती थी। समय की गति मानों बिलकुल रुक गई हो या अत्यन्त सुस्ती से सरक रही हो; हरेक घण्टा बोझ और आतंक-सा जान पड़ता था। इतनी तीव्र उद्विग्नता मैंने कभी महसूस नहीं की थी। उस समय मैं समझता था कि दो महीने के अन्दर, बम्बई-कांग्रेस के अधिवेशन के बाद ही, शायद छूट जाऊंगा, लेकिन वे दो महीने भी अनन्तकाल के समान मालूम पड़ रहे थे।

मेरी दुबारा गिरफ़्तारी के ठीक एक महीने बाद एक पुलिस अफसर मुझे मेरी पत्नी से थोड़ी-सी देर के लिए मुलाक़ात कराने ले गया। मुझसे कहा गया था कि मुझे इस तरह हफ़्ते में दो बार उससे मिलने दिया जाया करेगा और उसके लिए समय भी निश्चित हो गया था। मैंने चौथे दिन बाट देखी—कोई मुझे लेने नहीं आया; इसी तरह पांचवां, छठा और सातवां दिन बीता; मैं इन्तज़ार करते-करते थक गया। मेरे पास समाचार पहुंचा कि उसकी हालत फिर चिन्ता-जनक होती जा रही है। मैंने सोचा कि मुझसे सप्ताह में दो बार कमला से मिल सकने की बात कहना कैसा अजीब मज़ाक था!

सितम्बर का महीना भी किसी तरह ख़तम हुआ। मेरी ज़िन्दगी में वे तीस दिन सबसे लम्बे और सबसे अधिक यन्त्रणापूर्ण थे।

कई व्यक्तियों के द्वारा मुझे यह सूचना दी गई कि अगर मैं अपनी मियाद के बाक़ी दिनों के लिए राजनीति में भाग न लेने का आश्वासन—चाहे वह लिखित भले ही न हो—दे दूं तो मुझे कमला की सेवा-शुश्रूषा के लिए छोड़ा जा सकेगा।

राजनीति उस समय मेरे विचारों से दूर की चीज़ थी, और बाहर जाकर ग्यारह दिनों में मैंने राजनीति की जो दशा देखी थी, उससे तो मुझे घृणा ही हो गई थी, पर आश्वासन की तो कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। उसका अर्थ होता, अपनी प्रतिज्ञाओं, अपने कार्यों, अपने साथियों और ख़ुद अपने साथ विश्वासघात करना। परिणाम कुछ भी होता, यह तो एक असम्भव शर्त थी। ऐसा करने का अर्थ होता अपने अस्तित्व के मूल पर मर्माघात, और उन सब चीज़ों को, जो मेरी दृष्टि में पवित्र थीं, अपने हाथों कुचल डालना। मुझसे कहा गया कि कमला की हालत दिन-पर-दिन बिगड़ती जा रही है, और मेरे उसके पास रहने से उसके जीवन की थोड़ी सम्भावना हो सकती है। तो मेरा व्यक्तिगत दम्भ या अहंकार क्या कमला के जीवन से बड़ी चीज़ थी? मेरे लिए यह एक भयंकर समस्या बन जाती, पर भाग्यवश, कम-से-कम इस रूप में, वह मेरे सामने उपस्थित नहीं हुई। मैं जानता था कि इस प्रकार के किसी भी आश्वासन को ख़ुद कमला नापसन्द करेगी; और अगर मैं कोई ऐसा काम कर बैठता, तो उसे आघात लगता और उसकी तबीयत को नुकसान भी पहुंचता।

अक्तूबर के शुरू में मुझे फिर उससे भेंट करने के लिए ले जाया गया। वह क़रीब-क़रीब ग़ाफ़िल-सी पड़ी हुई थी; बुख़ार बहुत तेज़ था। मुझे अपने निकट रखने की उसकी इच्छा बड़ी तीव्र थी, पर जब मैं जेल लौट जाने के लिए उससे विदा होकर चला, तो उसने साहसपूर्ण मुस्कराहट से मेरी ओर देखा और मुझे नीचे झुकने का इशारा किया। मैं जब उसके नज़दीक जाकर झुका तो उसने मेरे कान में कहा, "सरकार को आश्वासन देने की यह क्या बात है? ऐसा हरगिज़ न करना!"

कुल ग्यारह दिन मैं जेल के बाहर था। हम लोगों ने इन दिनों निश्चय कर लिया था कि कमला के स्वास्थ्य में थोड़ा-सा सुधार होने पर, उसे इलाज के लिए किसी अधिक उपयुक्त जगह पर भेज देंगे। तभी से हम उसके कुछ अच्छा होने की बाट देख रहे थे, पर इसके बजाय उसकी हालत दिन-दिन गिरती ही जा रही थी, और अब छः हफ़्ते बाद तो यह गिरावट बहुत साफ़ दीखने लगी थी। इसलिए अब इन्तज़ार करते रहना बेकार समझा गया, और यह निश्चय किया कि उसे ऐसी हालत में भुवाली की पहाड़ी पर भेज दिया जाय।

जिस दिन कमला भुवाली जानेवाली थी, उसके एक दिन पहले मुझे उससे

मिलने के लिए ले जाया गया। मैं सोच रहा था, अब फिर दुबारा कब इससे भेंट होगी, और भेंट होगी भी या नहीं! पर, वह उस दिन प्रसन्न और कुछ स्वस्थ दिखाई दे रही थी; और इससे मुझे इतनी ख़ुशी हुई कि कुछ पूछो मत।

क़रीब तीन हफ़्ते बाद, मुझे नैनी-जेल से अल्मोड़ा डिस्ट्रिक्ट जेल में भेज दिया गया, जिससे मैं कमला के ज़्यादा नज़दीक रह सकूं। भुवाली रास्ते में ही पड़ता था—पुलिस की गारद के साथ मैंने कुछ घण्टे वहीं बिताये। मुझे कमला की हालत में थोड़ा सुधार देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई और उससे विदा लेकर मैं आनन्दपूर्वक, अपनी अल्मोड़ा तक की यात्रा पूरी कर सका। सच तो यह है कि कमला तक पहुंचने के पहले ही पहाड़ों ने मुझे प्रफुल्लित कर दिया था।

मुझे वापस इन पहाड़ों में पहुंच जाने की बड़ी ख़ुशी थी। ज्यों-ज्यों हमारी मोटर चक्करदार सड़क पर तेज़ी से आगे बढ़ती जा रही थी, सवेरे की ठंडी हवा और धीरे-धीरे खुलता जानेवाला प्रकृति का सौन्दर्य मुझे एक विचित्र हर्ष से भर रहा था। हम ऊपर-ऊपर चढ़ते जा रहे थे, घाटियां गहरी होती जा रही थीं, पर्वत की चोटियां बादलों में छिपती जा रही थीं। हरियाली भी रंग बदलती गई, और चारों ओर की पहाड़ियां देवदार से घिरी हुई दिखाई देने लगीं। कभी सड़क के किसी मोड़ को पार करते हो अचानक हमारे सामने पर्वत-श्रेणियों का एक नया विस्तार और कहीं घाटियों की गहराई में एक छोटी नदी कलकल करती हुई दिखाई देती। उस दृश्य को देखते मेरा जी नहीं अघाता था; उसे पूरा ही पी जाने की प्रबल इच्छा हो रही थी। मैं अपने स्मृति-पात्र को उससे भर लेना चाहता था, जिससे उस समय, जबकि सच्चा दृश्य देखना मुझे नसीब नहीं होगा, मैं अपने मन में उसीकी कल्पना करके आनन्द पा लूंगा।

पहाड़ियों की तलहटी में छोटी-छोटी झोंपड़ियों के झुण्ड दिखाई देते थे, और उनके चारों ओर छोटे-छोटे खेत। जहां कहीं भी थोड़ा-सा ढाल मिल गया, वहीं कड़ी मेहनत-मशक्कत करके खेत बना लिये। दूर से वे झरोखों या छज्जों के समान दिखाई देते थे, या ऐसा जान पड़ता था, मानों बड़ी-बड़ी सीढ़ियां हों, जो घाटी के नीचे से पहाड़ी की चोटी तक सीधी क़तारबन्द चली गई हों। इस बिखरी हुई बस्ती के लिए प्रकृति के भंडार से थोड़ा-सा अन्न निकलवाने के लिए कितनी कड़ी मेहनत करनी पड़ती है! इस लगातार परिश्रम के बाद भी कितनी कठिनाई से उनकी ज़रूरतें पूरी हो पाती हैं। इन छज्जेनुमा खेतों के कारण पहा-

ड़ियों में एक तरह की बस्ती का-सा बोध होता था और उनके सामने वनस्पति-शून्य या जंगलों से ढंकी ढालू ज़मीन बड़ी विचित्र लगती थी।

दिन में यह सारा दृश्य बड़ा मनोहर दिखाई देता है, और ज्यों-ज्यों सूर्य आकाश में ऊंचा चढ़ता जाता है, उसकी बढ़ती हुई गर्मी से पहाड़ों में एक नया जीवन दिखाई देने लगता है, और वे अपना अजनबीपन भूलकर हमारे मित्र और साथी-से मालूम होने लगते हैं। लेकिन दिन डूब जाने पर उनका सारा रूप कैसा बदल जाता है! जब रात अपने लम्बे-चौड़े डग भरती हुई विश्व को अंक में भर लेती है, और उच्छृंखल प्रकृति को पूरी आज़ादी देकर जीवन अपने बचाव के लिए छिपने का मार्ग ढूंढ़ता है, तब ये जीवनशून्य पर्वत कैसे ठंडे और गम्भीर बन जाते है! चांदनी या तारों की रोशनी में पर्वतों की श्रेणियां रहस्यमयी, भयंकर, विराट, और फिर भी आकारहीन-सी मालूम पड़ती हैं, और घाटियों के बीच से वायु की कराहट सुनाई पड़ती है। ग़रीब मुसाफ़िर एकान्त मार्ग पर चलता हुआ कांप उठता है, और अपने चारों ओर विरोधी शक्तियों की उपस्थिति का अनुभव करता है। पवन की सनसनाहट भी मख़ौल-सा उड़ाती और उपेक्षा-सी करती दिखाई देती है। कभी पवन का निःश्वासें भरना बन्द हो जाता है, दूसरी कोई ध्वनि भी नहीं होती, और चारों ओर पूर्ण शान्ति होती है जिसकी प्रचंडता ही डरावनी लगती है। केवल टेलीग्राफ के तार धीमे-धीमे गुनगुनाते रहते हैं और तारे अधिक चमकदार और अधिक समीप दिखाई देने लगते हैं। पर्वत-श्रेणियां गम्भीरता से नीचे की ओर देखती रहती हैं और ऐसा जान पड़ता है जैसे कोई भयावना रहस्य उस ओर को घूर रहा हो। पास्कल के समान ही मनुष्य सोचता है, "मुझे अनन्त आकाश की इस अनन्त शान्ति से भय लगता है।" मैदानों में रात कभी इतनी सुनसान नहीं होती, प्राणों का कम्पन वहां तब भी सुनाई देता रहता है और कई प्रकार के प्राणियों और जन्तुओं की आवाज़ें रात के सन्नाटे को चीरती रहती हैं।

लेकिन जब हम मोटर में बैठे अल्मोड़ा जा रहे थे, रात अपनी ठण्ड और निस्तब्धता के सन्देश सहित हमसे अब भी दूर थी। हमारी यात्रा का अन्त अब समीप ही आ गया था। सड़क के मोड़ को पार करने और बादलों के एकसाथ हट जाने से मुझे एक नया दृश्य दिखाई दिया। कितना अचरज और हर्ष हुआ मुझे यह देखकर! बीच में आ जानेवाले जंगल से लदे पहाड़ों के बहुत ऊपर बड़ी

दूर पर, हिमालय की बर्फीली चोटियां चमक रही थीं। अतीत के सारे बुद्धि-वैभव को लिये, भारतवर्ष के विस्तृत मैदान के ये सन्तरी बड़े शान्त और रहस्य-मय लगते थे। उनके देखने से ही मन में एक शान्ति-सी छा जाती थी, और उनकी सनातनता के आगे जनपदों और नगरों के हमारे छोटे-छोटे द्वेष और संघर्ष, विकार तथा प्रपंच अत्यन्त तुच्छ-से लगते थे।

अल्मोड़ा का छोटा-सा जेल एक ढालू ज़मीन पर बना हुआ है। मुझे उसीमें एक 'शानदार' बैरक रहने के लिए दी गई। इसमें ५१ × १७ फीट का एक बड़ा-सा कमरा था, जिसका फर्श कच्चा और बड़ा ऊंचा-नीचा था, छत कीड़ों की खाई हुई थी, जिसमें से टुकड़े टूट-टूटकर बराबर नीचे गिरा करते थे। उसमें पन्द्रह खिड़कियां और एक दरवाजा था, या यों कहना चाहिए कि इतने सीखचों से जड़े हुए बड़े-छोटे मोखे थे; क्योंकि असल में किसी पर पल्ले तो थे नहीं। इस प्रकार ताज़ी हवा की तो कमी हो ही नहीं सकती थी। जब सरदी बढ़ गई तो कुछ खिड़कियों को नारियल की चटाइयों से बन्द कर दिया गया। इस बड़े कमरे में (जो देहरादून की जेल के किसी भी कमरे से बड़ा था) मैं अपने एकान्त वैभव का भोग करता था। लेकिन मैं बिलकुल अकेला भी नहीं था, क्योंकि कम-से-कम दो दर्जन चिड़ियों ने उस टूटी छत में अपना घर बना रक्खा था। कभी-कभी कोई भटकता हुआ बादल, कई खिड़कियों में से प्रवेश करता हुआ मुझसे भेंट करने आ जाता, और सारी जगह पर नमी फैला देता।

यहां रोज़ शाम को साढ़े चार बजे आख़िरी भोजन, अर्थात् एक प्रकार के जलपान के बाद, पांच बजे मुझे बन्द कर दिया जाता था, और फिर सवेरे ७ बजे मेरा सीखचोंवाला दरवाज़ा खुलता था। दिन के समय या तो बैरक में या उसके बाहर एक पास के दालान में, धूप लिया करता था। मेरी चहारदीवारी से एक-डेढ़ मील दूर एक पहाड़ की चोटी दिखाई देती थी, और मेरे सिर पर नीले आकाश का अनन्त वितान तना रहता था, जिसपर बादल छिटके रहते थे। ये बादल चित्र-विचित्र रूप धारण करते रहते, जिन्हें देखते-देखते मैं कभी थकता न था। कभी उन्हें देखकर मन में तरह-तरह के जानवरों के रूप की कल्पना उठती, और कभी-कभी वे मिलकर एक भारी महासागर के समान दिखाई देने लगते। कभी वे समुद्र के किनारे से लगते, और देवदार के पेड़ों के बीच से आनेवाले

वायु की मरमराहट समुद्र के ज्वार-भाटे की-सी आवाज़ लगती। कभी-कभी कोई बादल बड़े साहस के साथ हमारी ओर बढ़ता नज़र आता। देखने में तो बड़ा ठोस और घना लगता, पर हमारे नज़दीक आते-आते वह बिलकुल कुहरा बन जाता और हमें लपेट लेता।

मुझे अपनी विशाल बैरक छोटी कोठरी से ज़्यादा पसन्द थी, हालांकि छोटी कोठरी से इसमें अकेलापन ज़्यादा महसूस होता था। बाहर पानी बरसता तो मैं उसके अन्दर ही घूम-फिर सकता था। लेकिन जैसे-जैसे सर्दी बढ़ती गई, उसकी मनहूसियत बढ़ती गई और जब सर्दी बहुत ही बढ़ गई, तब ताज़ी हवा और खुले में रहने का मेरा प्रेम शिथिल पड़ गया। मुझे उस समय बड़ी ख़ुशी हुई, जब नये साल के शुरू होते ही खूब बर्फ पड़ी और जेल का नीरस वातावरण भी सरस हो उठा। जेल की दीवारों के बाहर के, बर्फ से लिपटे हुए देवदार वृक्ष तो बहुत ही सुहावने और लुभावने दिखने लगे।

कमला की हालत में उतार-चढ़ाव होते रहने से मुझे चिन्ता रहती थी और कभी कोई ख़राब ख़बर मिल जाती, तो उससे मैं कुछ देर के लिए उदास हो जाता, लेकिन पहाड़ की हवा मुझे स्वस्थ तथा शान्त कर देती और मैं फिर पहले की तरह गहरी नींद में सोने लगता। कभी-कभी मैं नींद के झोंकों से झूमता हुआ सोचता था कि यह नींद भी कैसी आश्चर्य और रहस्य की चीज है! मनुष्य उससे जगे ही क्यों! मैं बिलकुल ही न जागूं तो!

तो भी जेल से छुटकारा पाने की मेरी इच्छा प्रबल थी और इस वक़्त तो बहुत ही तीव्र हो रही थी। बम्बई-कांग्रेस ख़त्म हो चुकी थी। नवम्बर भी आकर चला गया और असेम्बली के चुनावों की चहल-पहल भी ख़त्म हो गई थी। मुझे आशा हो चली थी कि मैं जल्दी ही छोड़ दिया जाऊंगा।

लेकिन उसके बाद ही खान अब्दुलगफ़्फ़ार ख़ां की गिरफ्तारी और सज़ा और श्री सुभाष बोस के हिन्दुस्तान में अल्पकालिक आगमन पर उनको दी गई विचित्र आज्ञा की आश्चर्यजनक ख़बर मिली। यह आज्ञा मनुष्यता से रहित और अविचारपूर्ण थी; और जिस व्यक्ति पर यह लगाई गई थी, उसके लिए उसके असंख्य देशवासियों के दिल में प्रेम और आदर था। वह अपनी बीमारी की परवाह न करके, मृत्यु-शय्या पर पड़े हुए अपने पिता के दर्शनों के लिए दौड़कर आया था और फिर भी उनसे मिल न सका था। यदि सरकार की यही मनोवृत्ति है,

तब तो मेरे जल्दी छूटने की कोई उम्मीद नहीं थी। बाद के सरकारी वक्तव्यों से यह बात साफ़ तौर पर ज़ाहिर भी हो गई थी।

अल्मोड़ा-जेल में एक महीना रहने के बाद कमला को देखने के लिए मुझे ले जाया गया। उसके बाद मैं क़रीब-क़रीब हर तीसरे हफ़्ते उससे मिलता रहा। भारत-मन्त्री सर सेम्युअल होर ने बार-बार यह बात कही थी कि मुझे हफ़्ते में एक या दो बार अपनी पत्नी से मिलने की इजाज़त दी जाती है; लेकिन वह सचाई के ज्यादा नज़दीक होते, अगर वह यह कहते कि महीने में एक या दो बार मुझे यह इजाज़त मिलती है। पिछले साढ़े तीन महीनों में, जबसे मैं अल्मोड़ा आया, मैं पांच बार उससे मिला। मैं यह शिकायत के तौर पर नहीं लिख रहा हूं; क्योंकि मेरा ख़याल है कि इस मामले में सरकार मेरे प्रति बहुत विचारशील रही है और मुझे कमला से मिलने की जो सुविधाएं दे रखी हैं वे असाधारण हैं। मैं इसके लिए उसका आभारी हूं। उसके साथ ये मुख़्तसिर-सी मुलाक़ातें मेरे लिए, और मैं समझता हूं उसके लिए भी, बहुत क़ीमती साबित हुई हैं। मुलाक़ात के दिन, डाक्टरों ने भी किसी हद तक अपना पहरा ढीला कर दिया, और मुझे उसके साथ लम्बी-लम्बी बातें करने की इजाज़त दे दी। इन मुलाक़ातों के फलस्वरूप हम एक-दूसरे के और भी नज़दीक आते गये। उससे विदा होते समय एक असहनीय पीड़ा होती। हम केवल विदा होने के लिए ही मिलते थे। और कभी-कभी तो मैं बड़े वेदना-भरे हृदय से सोचता था कि एक ऐसा भी दिन आ सकता है, जब यह विदा शायद आख़िरी विदा हो।

मेरी मां बीमारी से उठ नहीं पाई थीं, इसलिए इलाज के लिए बम्बई गई थीं। वहां उनकी हालत में सुधार होता दिखाई दे रहा था। जनवरी का आधा महीना बीतने के क़रीब, एक दिन सवेरे ही तार के ज़रिये दिल को चोट पहुंचाने-वाली ऐसी ख़बर मिली जिसकी कल्पना भी नहीं थी। उन्हें लक़वा मार गया था। इसलिए मेरे बम्बई-जेल में भेजे जाने की सम्भावना थी; ताकि ज़रूरत पड़ने पर मैं उन्हें देख सकूं। लेकिन उनकी हालत में थोड़ा सुधार हो जाने के कारण मुझे वहां नहीं भेजा गया।

जनवरी ने अपना स्थान अब फ़रवरी को दे दिया है, और वायुमण्डल में वसन्त के आगमन की आहट सुनाई दे रही है। बुलबुलें और दूसरी चिड़ियां फिर दिखाई और सुनाई देने लगी हैं और ज़मीन में जगह-जगह छोटे-छोटे

कल्ले फूटकर इस विचित्र दुनिया पर अपनी अचरज-भरी नज़र डाल रहे हैं। सदाबहार के फूल पहाड़ियों में स्थान-स्थान पर रक्त के-से लाल चप्पे बनाते जा रहे हैं और शान्तिपूर्ण वातावरण में बेर के फूल बाहर झांक रहे हैं। दिन बीतते जा रहे हैं और ज्यों-ज्यों वे समाप्त होते जाते है, मैं उन्हें गिनता रहता हूं और अपनी अगली भुवाली-यात्रा की बात सोचता रहता हूं। मुझे आश्चर्य होता है कि इस कहावत में कहां तक सचाई है कि जीवन के बड़े-बड़े पुरस्कार निराशा, निर्दयता और वियोग के बाद ही मिलते हैं। अगर ऐसा न हो तो शायद उनपर पुरस्कारों का मूल्य ठीक-ठीक न आंका जा सके। शायद विचारों की स्पष्टता के लिए कष्ट-सहन ज़रूरी है; परन्तु उनकी अधिकता दिमाग़ पर परदा डाल सकती है। जेल-से आत्म-चिन्तन को प्रोत्साहन मिलता है और अनेक वर्षों के जेल-निवास ने मुझे अधिक-से-अधिक अपने आत्म-निरीक्षण के लिए विवश किया है। स्वभाव से मैं अन्तर्मुखी नहीं था, पर जेल का जीवन, तेज़ कॉफ़ी या कुचले के सत की तरह आत्म-चिन्तन की ओर ले जाता है। कभी-कभी मनोरंजन के लिए, मैं प्रोफ़ेसर मैकडूगल[1] के निर्धारित किये हुए मापदण्ड पर अपनी अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी वृत्तियों के सम्बन्ध की परीक्षा करता हूं, तो मुझे ताज्जुब होता है कि एक प्रवृत्ति से दूसरी प्रवृत्ति की ओर परिवर्तन कितनी अधिक बार होता रहता है, और कितनी तेज़ी के साथ !

---

[1] इंग्लैंड का प्रसिद्ध आधुनिक मानसशास्त्री।

: ६७ :

कुछ ताज़ा घटनाएं

बीते निशा उदय निश्चय सुप्रभात—
आते नहीं दिवस हन्त ! पुनः गये जो ।
आशा भरी नयन मध्य अपार किन्तु—
बीती बसन्त-स्मृतियां दिल को दुखाती ।[1]

मुझे जो अख़बार दिये जाते थे, उनसे मुझे बम्बई-कांग्रेस के अधिवेशन की कार्रवाई मालूम हुई । उसकी राजनीति और व्यक्तियों में स्वभावतया मेरी दिलचस्पी थी । बीस साल के गहरे सम्पर्क ने मुझे कांग्रेस के साथ इतना कसकर बांध दिया था कि मेरा व्यक्तित्व क़रीब-क़रीब उसमें लीन हो गया था । और पदाधिकार और जवाबदेही के बन्धनों से भी कहीं ज्यादा मज़बूत कुछ ऐसे अदृश्य बन्धन थे, जिन्होंने मुझे इस महान् संस्था तथा अपने हज़ारों पुराने साथी कार्य-कर्त्ताओं के साथ बांध दिया था । लेकिन इतने पर भी इस अधिवेशन की कार्रवाई से मेरे मन में स्फूर्ति का संचार नहीं हुआ । कुछ महत्त्वपूर्ण निर्णयों के होते हुए भी मुझे सारा अधिवेशन नीरस-सा मालूम हुआ । जिन विषयों में मेरी दिल-चस्पी थी, उनपर शायद ही विचार हुआ हो । मैं इसी चक्कर में था कि अगर मैं वहां मौजूद होता, तो मैंने क्या किया होता । निश्चित तौर पर मैं कुछ नहीं जानता था । मैं कह नहीं सकता था कि नई परिस्थितियों और अपने आसपास के वातावरण के सम्बन्ध में मेरा क्या रुख़ रहा होता । आख़िर मैंने सोचा कि इस कठिन निर्णय के लिए मैं जेल में अपने दिमाग़ पर क्यों ज़ोर दूं, जबकि उस वक्त ऐसा निर्णय करना बिलकुल बेकार था । समय आयेगा जब मुझे आजकल की समस्याओं का मुक़ाबला करना पड़ेगा और अपना कार्य-पथ निश्चित करना होगा । परन्तु इस तरह के निर्णय की पहले से कल्पना करना बिलकुल वाहियात

---

[1] चीनी कवि ली ताई-पो के पद्य का भावानुवाद ।

बात है क्योंकि जबतक मुझ पर कार्यभार आकर पड़ेगा तबतक परिस्थितियां बदल जायंगी।

अपने सुदूर तथा एकान्त पर्वतवास से मैं जो समझ सका, वह यह कि कांग्रेस की दो मुख्य विशेषताएं थीं—एक तो गांधीजी का सर्वव्यापी व्यक्तित्व और दूसरे पण्डित मदनमोहन मालवीय और श्री अणे के नेतृत्व में किया गया साम्प्रदायिक पक्ष का बिलकुल नगण्य विरोध-प्रदर्शन। जो लोग भारत के सर्वसाधारण और मध्यवर्ग की मनोवृत्ति को अच्छी तरह जानते हैं, उन सबको तो यह जानकर कुछ अचरज नहीं हुआ कि किस तरह गांधीजी एक छोर से दूसरे छोर तक भारत के एकमात्र सर्वेसर्वा बने हुए हैं। सरकारी अफ़सर और कुछ दक़ियानूसी राजनीतिज्ञ अक्सर यह सोचने लगते हैं—वे अपनी आन्तरिक इच्छा को ही अपनी कल्पना का पूर्ण रूप देते हैं—कि अब राजनैतिक क्षेत्र में गांधी-युग बीत गया है, या कम-से-कम उनका प्रभाव बहुत-कुछ क्षीण हो गया है। और जब गांधीजी अपनी उस सारी पुरानी शक्ति और प्रभाव के साथ मैदान में आते हैं, तो ये लोग चकित रह जाते हैं और इस नवीन परिवर्तन के लिए नये-नये कारण खोजने लगते हैं। कांग्रेस और देश पर गांधीजी की जो प्रभुता है, वह उन विचारों के कारण, जोकि आमतौर पर स्वीकार किये जा चुके हैं, उतनी नहीं है, जितनी कि उनके अद्वितीय व्यक्तित्व के कारण है। व्यक्तित्व तो सभी जगह अपना काफ़ी प्रभाव रखता है, लेकिन हिन्दुस्तान में तो वह और भी अधिक प्रभाव डालता है।

कांग्रेस से उनका अलग होना इस अधिवेशन की एक महत्त्वपूर्ण घटना थी और ऊपरी तौर से तो यही मालूम होता था कि कांग्रेस और हिन्दुस्तान के इतिहास का एक महान् अध्याय समाप्त हो गया है। लेकिन असल में इसका महत्त्व कुछ अधिक नहीं था; क्योंकि वह चाहें तो भी अपने व्यापक नेतृत्व-पद से पीछा नहीं छुड़ा सकते। उनकी यह प्रतिष्ठित स्थिति किसी पदाधिकार या अन्य किसी प्रत्यक्ष सम्बन्ध के कारण नहीं थी। कांग्रेस आज भी क़रीब-क़रीब पहले की तरह गांधीजी का दृष्टिकोण प्रकट करती है, और यदि वह उनके निर्दिष्ट पथ से भटक भी जाय तो भी, गांधीजी अनजाने में ही, उसे और देश को बहुत अधिक हद तक प्रभावित करते रहेंगे। इस बोझ और ज़िम्मेदारी से वह अपने को जुदा कर नहीं सकते। देश की बाह्य स्थिति देखते हुए, उनका व्यक्तित्व स्वयं ही दूसरों

का ध्यान बरबस अपनी ओर खींचता है, और इस तरह उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

वह इस वक्त कांग्रेस से शायद इसलिए अलग हो गये हैं कि उनके कारण कांग्रेस किसी कठिनाई में न पड़े। शायद वह किसी तरह के व्यक्तिगत सत्याग्रह की बात सोच रहे हैं, जिसका अवश्यम्भावी परिणाम सरकार से झगड़ा छिड़ जाना होगा। वह इसे कांग्रेस का प्रश्न नहीं बनाना चाहते।

मुझे ख़ुशी हुई कि कांग्रेस ने देश का विधान निश्चित करने के लिए विधान-पंचायत का विचार स्वीकार कर लिया। मेरे ख़याल में इस समस्या के हल करने का इसके सिवा कोई दूसरा रास्ता है ही नहीं; और निश्चय ही हमें कभी-न-कभी ऐसी पंचायत बनानी पड़ेगी। दीखता तो यही है कि ब्रिटिश सरकार की अनुमति के बिना ऐसा हो नहीं सकेगा; हां, कोई सफल क्रांति हो जाय तो बात दूसरी है। यह भी साफ़ है कि वर्तमान परिस्थितियों में सरकार से ऐसी अनुमति मिलने की कोई उम्मीद नहीं है। देश में जबतक इतनी ताक़त पैदा नहीं हो जाती कि वह इस तरह का कोई क़दम उठाने को बलपूर्वक आगे बढ़ सके तबतक ऐसी पंचायत बन नहीं सकती। इसका लाज़िमी नतीजा यही है कि तबतक राजनीतिक समस्या भी नहीं सुलझ सकेगी। कांग्रेस के कुछ नेताओं ने विधान-पंचायत का विचार तो स्वीकार कर लिया है, पर इसकी उग्रता कम करके उसे क़रीब-क़रीब पुराने ढंग के एक बड़े सर्वदल-सम्मेलन का रूप दे दिया है। यह कार्रवाई बिलकुल बेकार होगी। वही पुराने लोग, ज्यादातर अपने-आप ही चुने जाकर सम्मिलित हो जायंगे, और उसका परिणाम होगा मतभेद। विधान-पंचायत की असली मंशा तो यह है कि इसका चुनाव विस्तृत रूप से जनता के द्वारा हो और जनता से ही इसे ताक़त और स्फूर्ति मिले। इस प्रकार की पंचायत ही असली प्रश्नों पर विचार करने में सफल हो सकेगी, और साम्प्रदायिक या अन्य झगड़ों से, जिनमें हम लोग इतनी बार उलझ जाते हैं, बरी रहेगी।

इस विचार की शिमला और लन्दन में जो प्रतिक्रिया हुई, वह बड़ी मज़ेदार थी। अर्द्ध-सरकारी तौर पर यह ज़ाहिर कर दिया गया कि सरकार को इसमें कोई ऐतराज़ न होगा। उसकी सहमति में सरपरस्ती का भाव था। उसका ख़याल था कि यह पंचायत पुराने ढंग के सर्वदल-सम्मेलन जैसी होगी और अवश्य ही असफल होगी और परिणामस्वरूप उसके हाथ मज़बूत होंगे। लेकिन मालूम

होता है बाद में उसने इस विचार की ख़तरनाक सम्भावनाएं महसूस कीं और तब से वह इसका ज़ोरों से विरोध करने लगी।

बम्बई-कांग्रेस के बाद फ़ौरन ही असेम्बली का चुनाव आया। कांग्रेस के चुनाव-सम्बन्धी कार्यक्रम में मुझे कोई उत्साह नहीं था। फिर भी उसमें मेरी बड़ी दिलचस्पी थी और मैं मनाता था कि कांग्रेस के उम्मीदवार जीतें, या अधिक सही शब्दों में कहूं तो मैं उनके विरोधियों की हार मनाता था। इन विरोधियों में पदलोभियों, सम्प्रदायवादियों, विश्वासघातियों तथा सरकार की दमननीति का ज़ोरों से समर्थन करनेवाले लोगों की अजीब-सी खिचड़ी थी। इस बात में कोई शक नहीं था कि इनमें से अधिकांश लोग हरा दिये जायंगे; लेकिन बदक़िस्मती से साम्प्रदायिक निर्णय ने मुख्य प्रश्न को ढक दिया और इनमें से बहुतों ने साम्प्र-दायिक संस्थाओं की व्यापक भुजाओं में शरण ली। लेकिन इतने पर भी कांग्रेस को बड़ी मार्के की सफलता मिली, और मुझे खुशी हुई कि अवांछनीय लोगों में से बहुत-से खदेड़ दिये गए।

मुझे ख़ासकर, नामधारी कांग्रेस नेशनलिस्ट पार्टी का रुख़, बहुत ही खेदजनक लगा। साम्प्रदायिक निर्णय के प्रति उसका तीव्र विरोध समझ में आ सकता था; लेकिन अपनी स्थिति को मज़बूत बनाने के लिए उसने कट्टर साम्प्रदायिक संस्थाओं के साथ, यहां तक कि सनातनियों के साथ भी, सहयोग किया, जिनसे बढ़-कर आज भारत में, राजनैतिक और सामाजिक दोनों ही दृष्टि से, दूसरा प्रतिगामी दल नहीं है। इसके साथ ही, उसने अन्य अनेक प्रसिद्ध राजनैतिक प्रतिगामियों से सहयोग किया। केवल बंगाल में, कारण-विशेष से एक ज़बरदस्त कांग्रेस दल ने उनका समर्थन किया। लेकिन अन्यत्र उसमें अधिकतर सब तरह से कांग्रेस के विरोधी लोग थे। सच तो यह है कि कांग्रेस के सबसे ज़बरदस्त विरोधी यही लोग थे। ज़मींदारों, नरम दलवालों, और सरकारी अफ़सरों आदि सब तरह की विरोधी शक्तियों के मुक़ाबले में भी कांग्रेसी उम्मीदवारों ने काफी शानदार विजय प्राप्त की।

साम्प्रदायिक निर्णय के प्रति कांग्रेस का रुख़ विचित्र तो था, लेकिन इस परि-स्थिति में इससे भिन्न शायद ही हो सकता था। यह उसकी भूतकालिक तटस्थता की नीति का अथवा कमजोर नीति का अनिवार्य परिणाम था। यदि शुरू से ही दृढ़ नीति इख़्तियार की जाती, और बिना किसी तात्कालिक परिणाम की

चिन्ता किये उसका पालन किया जाता तो यह अधिक शानदार और सही होता। लेकिन कांग्रेस ऐसा करने में अनिच्छुक रही, इसलिए उसने जो रास्ता इख्तियार किया उसके सिवा उसके पास और कोई उपाय थ ही नहीं। साम्प्रदायिक निर्णय एक बेहूदी चीज़ थी और उसका स्वीकार किया जाना असंभव था; क्योंकि, उसके बने रहने तक किसी तरह की आज़ादी हासिल करना नामुमकिन था। यह इसलिए नहीं कि इसने मुसलमानों को बहुत अधिक भाग दे दिया था। यह मुमकिन था कि यदि वे किसी दूसरी तरह जो मांगते, सबकुछ दे दिया जाता। बात यह थी कि इस निर्णय द्वारा ब्रिटिश सरकार ने भारत को आपस में एक-दूसरे से अलग अनगिनती हिस्सों में बांट दिया था। इसका हेतु एक को दूसरे के आगे रखकर किसीके बल को बढ़ने न देना था, जिससे विदेशी—अंग्रेजी सत्ता सर्वोपरि बनी रह सके। इसने ब्रिटिश सरकार का आश्रय अनिवार्य कर दिया था।

खासकर बंगाल में, जहां कि छोटे-से यूरोपियन समुदाय को भारी प्रधानता दी गई थी, हिन्दुओं के साथ बहुत ही अन्याय किया गया था। ऐसे निर्णय या फ़ैसले, या और जो-कुछ भी उसे कहा जाय, (उसे निर्णय के नाम से पुकारे जाने पर आपत्ति की गई है) का तीव्र विरोध होना ज़रूरी था। और चाहे वह हमपर लाद भले ही दिया जाय या राजनैतिक कारणों से, अस्थायी रूप से वह बर्दाश्त कर लिया जाय, फिर भी वह रहेगा हमेशा झगड़े की जड़ ही। मेरा अपना ख़याल है कि इसका अत्यन्त बुरा होना ही इसका गुण है; कारण कि यह ऐसी हालत में किसी व्यवस्था के स्थापित करने का आधार नहीं बन सकता।

नेशनलिस्ट पार्टी, और उससे भी अधिक हिन्दू-महासभा और दूसरे साम्प्रदायिक संगठनों ने स्वभावतः ही इस ज़बरदस्ती लादे गये निर्णय का विरोध किया। लेकिन असल में उनकी आलोचना, उसके समर्थकों की तरह, ब्रिटिश सरकार की विचारधारा की स्वीकृति पर टिकी हुई थी। यह उनको ऐसी विचित्र नीति की ओर ले गई और अब भी आगे लिये जा रही है, जो सरकार को अवश्य ही प्रिय होगी। साम्प्रदायिक निर्णयरूपी भूत से परेशान होकर ये लोग, इस आशा में कि सरकार को लालच देने या खुश करने से वह उक्त निर्णय हमारे पक्ष में बदल देगी, दूसरे मुख्य विषयों के प्रति अपना विरोध नरम करते जा रहे हैं। हिन्दू-महासभा इस दिशा में सबसे आगे बढ़ गई है। उसको यह नहीं सूझता कि यह सिर्फ अपमानजनक ही नहीं है, बल्कि इससे निर्णय का बदला जाना उलटे और

अधिक कठिन हो जाता है, क्योंकि इससे मुसलमान खीझते हैं और वे और अधिक दूर खिंचते चले जाते हैं। सरकार के लिए राष्ट्रीय शक्तियों को अपनी ओर कर सकना मुश्किल है; कारण बीच में लम्बी खाई है और स्वार्थों का संघर्ष बहुत साफ़ है। उसके लिए यह भी मुश्किल है कि साम्प्रदायिक स्वार्थों के संकुचित मसले पर हिन्दू और मुस्लिम, दोनों सम्प्रदायवादियों को ख़ुश कर सके। उसे तो किसी एक को चुनना था और उसने अपने दृष्टिकोण के अनुसार मुस्लिम सम्प्रदायवादियों को चुनना पसन्द किया और ठीक पसन्द किया। क्या वह सिर्फ़ मुट्ठी-भर हिन्दू सम्प्रदायवादियों को ख़ुश करने के लिए अपनी सुनिश्चित और लाभदायक नीति पलट देगी—मुसलमानों को नाख़ुश करेगी!

हिन्दू राजनैतिक दृष्टि से बहुत आगे बढ़े हुए हैं और राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिए बहुत ज़ोर देते हैं, यह बात अवश्य ही उनके विरुद्ध जायगी। नगण्य साम्प्रदायिक रिआयतों के कारण (और नगण्य के सिवा वे हो क्या सकती हैं!) उनके राजनैतिक विरोध में कुछ अन्तर नहीं पड़ जायगा; लेकिन ऐसी रिआयतें मुसलमानों के रुख़ में एक अस्थायी अन्तर पैदा कर देंगी।

असेम्बली के चुनावों ने दोनों अत्यन्त प्रतिक्रियावादी साम्प्रदायिक संस्थाओं, हिन्दू-महासभा और मुस्लिम-कांफ्रेंस के हिमायतियों की अत्यन्त स्पष्ट रूप से क़लई खोल दी। इसके उम्मीदवार बड़े-बड़े ज़मींदार या साहूकार थे। महासभा ने हाल ही में क़र्ज़-बिल का ज़ोरों में विरोध करके भी साहूकार-वर्ग के प्रति अपनी शुभचिन्तकता बतलाई थी। हिन्दू-महासभा हिन्दू-समाज के सिरमौर इन नाना प्रकार के मुट्ठी-भर लोगों से बनी है। इन्हीं वर्गों के एक भाग तथा कुछ वकील-डाक्टर आदि पेशेवाले लोगों से लिबरल-दल भी बना है। हिन्दुओं पर उनका कोई ख़ास प्रभाव नहीं है क्योंकि निम्न मध्यम-वर्ग में राजनैतिक चेतना आ गई है। औद्योगिक नेता भी लोगों से अलग ही रहते हैं, क्योंकि नये-नये धन्धों और अर्द्धमाण्डलिक वर्ग की आवश्यकताओं में परस्पर कुछ विरोध रहता है। उद्योग-धन्धेवाले लोग, सीधे हमले या दूसरे किसी ख़तरे में पड़ने का साहस न होने के कारण, राष्ट्रवादियों और सरकार दोनों ही से अपना सम्बन्ध अच्छा रखना चाहते हैं। वे लिबरल या साम्प्रदायिक दलों पर कोई ख़ास ध्यान नहीं देते। औद्योगिक प्रगति और लाभ ही उनका मुख्य लक्ष्य रहता है।

मुसलमानों के निम्न मध्यम-वर्ग में यह जागृति अभी होनी है, और औद्योगिक

दृष्टि से भी वे लोग पिछड़े हुए हैं। इस तरह हम देखते हैं कि अत्यन्त प्रतिक्रिया-वादी, जागीरदार और अवकाश-प्राप्त सरकारी अफ़सर लोग न सिर्फ़ उनकी साम्प्रदायिक संस्थाओं पर ही कब्ज़ा किये हुए हैं, बल्कि सारी जाति पर भारी प्रभाव डाल रहे हैं। सरकारी उपाधिधारियों, भूतपूर्व मिनिस्टरों और बड़े-बड़े ज़मींदारों के मजमे का नाम ही मुस्लिम-कांफ्रेंस है। और फिर भी मेरा ख़याल है कि सर्वसाधारण मुस्लिम जनता में, शायद सामाजिक विषयों में कुछ स्वतन्त्रता होने के कारण, हिन्दू-जनता की अपेक्षा अधिक सुप्त शक्ति है। और इसलिए मुमकिन है एक बार चेतना मिलते ही वह बड़ी तेज़ी से समाजवाद की ओर बढ़ जायगी। इस समय तो मुस्लिम शिक्षित-वर्ग बौद्धिक और शारीरिक दोनों ही तरह से चेतनाहीन-सा हो गया है और उसमें कोई स्फूर्ति नहीं रह गई है। अपने पुराने रहनुमाओं के खिलाफ़ आवाज़ उठाने का वह साहस कर नहीं सकता।

राजनैतिक दृष्टि से सबसे आगे बढ़ी हुई महान् संस्था—कांग्रेस—के नेतागण, वर्तमान अवस्था में जनता को जैसा नेतृत्व मिलना चाहिए, उसकी अपेक्षा कहीं अधिक फूंक-फूंककर क़दम रखते हैं। वे जनता से सहयोग की तो मांग करते हैं, लेकिन उसकी राय जानने या दुःख-दर्द मालूम करने की कोशिश शायद ही करते हों। असेम्बली के चुनाव से पहले उन्होंने विभिन्न नरम ग़ैर-कांग्रेसियों को अपनी ओर खींचने की ग़रज से अपने कार्यक्रम को नरम बनाने की हर तरह से कोशिश की। मन्दिर-प्रवेश बिल जैसे कामों तक के सम्बन्ध में उन्होंने अपना रुख़ बदल दिया था, और मदरास के महान् कट्टर-पन्थियों को शान्त करने के लिए उसके सम्बन्ध में आश्वासन दिये गए थे। बिना लाग-लपेट के उग्र चुनाव-कार्यक्रम ने कहीं अधिक उत्साह पैदा किया होता, और जनता को शिक्षित करने में उससे कहीं अधिक मदद मिली होती। अब तो कांग्रेस ने पार्ले-मेण्टरी कार्यक्रम अपना लिया है, इसलिए असेम्बली में किसी विषय पर मत-गणना के समय कुछ नगण्य वोट पा जाने की आशा से, उसमें राजनैतिक और सामाजिक दक़ियानूसों के लिए और भी ज़्यादा गुंजाइश हो जायगी और कांग्रेस के नेताओं और जनता के बीच खाई और भी चौड़ी हो जायगी। असेम्बली में ज़ोरदार भाषणों की झड़ी लगाई जायगी और सर्वोत्तम पार्लमेंटरी शिष्टता का अनुसरण किया जायगा, समय-समय पर सरकार को हराया जायगा—जिसकी, सरकार अविचल भाव से उपेक्षा कर देगी, जैसा कि वह पहले से करती आई है।

पिछले कुछ बरसों से, जब कांग्रेस कौंसिलों का बहिष्कार कर रही थी, तब सरकारी वक्ता अक्सर हमसे कहा करते थे कि असेम्बली और प्रान्तीय कौंसिलें जनता की असली प्रतिनिधि हैं और लोकमत प्रकट करती हैं। लेकिन यह दिल्लगी की बात है, कि जबकि असेम्बली में अधिक प्रगतिशील दल का प्रभुत्व है, सरकारी दृष्टिकोण बदल गया है। जब कभी कांग्रेस को चुनाव में मिली सफलता का हवाला दिया जाता है तो हमसे कहा जाता है कि मतदाताओं की संख्या बहुत ही थोड़ी, लगभग तीस करोड़ जनसंख्या में, केवल तीस लाख ही है। जिन करोड़ों लोगों को वोट देने का हक़ नहीं मिला है, सरकार के मतानुसार वे साफ़ तौर पर अंग्रेज़ी सरकार के हामी हैं। इसका जवाब साफ़ है। हरेक बालिग़ व्यक्ति को मत देने का अधिकार दे दिया जाय, और तब पता लग जायगा कि इन लोगों का ख़याल क्या है।

असेम्बली के चुनाव के बाद ही भारतीय शासन-सुधारों पर ज्वाइंट पार्ले-मेंटरी कमेटी की रिपोर्ट प्रकाशित हुई। इसकी चारों ओर से जो भिन्न-भिन्न आलोचनाएं हुईं, उनमें अक्सर इस बात पर ज़ोर दिया गया था कि इससे भारत-वासियों के प्रति 'अविश्वास' और 'सन्देह' प्रकट होता है। हमारी राष्ट्रीय और सामाजिक समस्याओं पर विचार करने का यह तरीक़ा मुझे बड़ा विचित्र मालूम हुआ। क्या ब्रिटिश साम्राज्यवादी नीति और हमारे राष्ट्रीय हितों में कोई महत्त्वपूर्ण विरोध नहीं है ? सवाल यह है कि इनमें से किसकी बात रहे ? स्वतन्त्रता क्या हम केवल साम्राज्यवादी नीति को क़ायम रखने के लिए ही चाहते हैं ? मालूम तो यही होता है कि ब्रिटिश सरकार यही समझे हुए थी; क्योंकि हमें सूचित कर दिया गया है कि जबतक हम ब्रिटिश नीति के अनुसार अपना आचरण रक्खेंगे, और जैसा वह चाहती है ठीक उसके अनुसार काम करके स्व-शासन के लिए अपनी योग्यता प्रदर्शित करेंगे, तबतक 'संरक्षणों' का उपयोग नहीं किया जायगा। अगर भारत में ब्रिटिश नीति को ही जारी रखना है, तब अपने हाथों में शासन की बागडोर लेने का यह सब शोरगुल क्यों मचाया जा रहा है !

यह साफ़ ज़ाहिर है कि ओटावा-पैक्ट आर्थिक दृष्टि से इंग्लैंड के सिवा हिन्दुस्तान के लिए बहुत फ़ायदेमन्द नहीं हुआ है।[1] हिन्दुस्तान के साथ ब्रिटिश

[1] सर विलियम करी ने दिसम्बर सन् १९३४ में पी० एण्ड ओ० जहाज़ी

व्यापार को निस्सन्देह लाभ पहुंचा है, यह लाभ भारत के राजनीतिज्ञों और व्यवसायियों की राय के अनुसार भारत के विस्तृत हितों का बलिदान करके पहुंचा है। उपनिवेशों, ख़ासकर कनाडा और आस्ट्रेलिया में, स्थिति इससे उलटी है।[1] उन्होंने ब्रिटेन के साथ बड़ा कड़ा व्यापारिक सौदा किया और उसे हानि पहुँचाकर अधिकांश लाभ ख़ुद उठाया। इतने पर भी, अपने उद्योग-धन्धों की वृद्धि और साथ ही अन्य देशों के साथ अपना व्यापार बढ़ाने के लिए वे ओटावा और उनके दूसरे फन्दों से छुटकारा पाने का हमेशा प्रयत्न करते रहते हैं।[2] कनाडा में एक प्रमुख राजनैतिक दल—लिबरल दल—जिसके हाथों में जल्दी ही शासन-सूत्र

कम्पनी की लन्दन की एक मीटिंग में सभापति की हैसियत से भाषण देते हुए भारतीय व्यापार का उल्लेख करते हुए कहा था कि "ओटावा-पैक्ट ब्रिटेन के लिए निश्चित रूप से फ़ायदेमन्द रहा है।"

[1] जून सन् १९३४ के लन्दन के 'इकनोमिस्ट' पत्र ने लिखा था कि "ओटावा-परिषद् का समर्थन केवल उसी दशा में किया जा सकता था, जबकि वह बाक़ी दुनिया से साम्राज्य के व्यवसाय का मूल्य घटाये बिना अन्तःसाम्राज्य के व्यवसाय का मूल्य बढ़ाती। वास्तव में वह साम्राज्य के क्षीणोन्मुख व्यापार के सामने बहुत ही थोड़े-से अनुपात में अन्तःसाम्राज्यिक व्यापार को उत्तेजना दे सकी है। यह विभाजन भी ग्रेट ब्रिटेन की अपेक्षा कहीं अधिक उपनिवेशों के हित में रहा है। हमारे साम्राज्य का आयात सन् १९३१ के २४,७०,००,००० पौंड से बढ़कर सन् १९३३ में २४,९०,००,००० पौंड हुआ था, किन्तु निर्यात १७,०६,००,००० पौंड से घटकर १६,३५,००,००० पौंड हो गया था। यह बात भी देखना है कि १९२९ से १९३३ के बीच साम्राज्य को हमारा निर्यात ५०.९ फ़ीसदी घटा था, जबकि साम्राज्य से हमारा आयात सिर्फ़ ३२.९ फ़ीसदी ही घटा था। विदेशों को हमारे निर्यात में कभी इतनी अधिक कमी नहीं हुई; हां, इन देशों से हमारे आयात में कमी कहीं ज्यादा थी।"

[2] मेलबोर्न का 'एज' नामक पत्र भी ओटावा-पैक्ट को पसन्द नहीं करता। उसकी राय में यह पैक्ट "एक निरन्तर बाधा बन रहा है, और अब दिन-दिन लोग इसे बहुत बड़ी गलती मानते जा रहे हैं।" (१९ अक्तूबर सन् १९३४ के 'मैनचेस्टर गार्जियन' नामक साप्ताहिक पत्र से उद्धृत।)

आ जाने की सम्भावना है, निश्चित रूप से ओटावा-पैक्ट को रद्द करने को वचन-बद्ध है।[1] आस्ट्रेलिया में ओटावा-पैक्ट के अर्थों की खींचातानी के परिणामस्वरूप कुछ तरह के कपड़ों और सूत पर चुंगी बढ़ा दी गई जिसपर लंकाशायर के वस्त्र-व्यवसायियों की ओर से सख्त नाराज़गी ज़ाहिर की गई और इसे ओटावा-पैक्ट को भंग करना कहकर उसकी निन्दा की गई। इसके विरोध और बदले के रूप में लंकाशायर में आस्ट्रेलियन माल के बहिष्कार का आन्दोलन भी शुरू किया गया। आस्ट्रेलिया पर इस धमकी का कुछ भी खास असर नहीं हुआ, बल्कि इसके खिलाफ़ वहां भी कड़ा रुख इख्तियार किया गया।[2]

यह स्पष्ट है कि आर्थिक संघर्ष का कारण कनाडा और आस्ट्रेलिया के लोगों में ब्रिटेन के प्रति किसी दुर्भावना का होना नहीं है; हां, आयरलैंडवालों में यह दुर्भावना प्रत्यक्ष है। संघर्ष स्वार्थों के आपस में टकराने के कारण होता है, और हिन्दुस्तान में 'संरक्षण' का उद्देश्य, स्वार्थों में टक्कर होने पर ब्रिटिश हितों को क़ायम रखना है। 'संरक्षण के क्या नतीजे होंगे, इसका एक हलका-सा इशारा

---

[1]कनाडा के वर्तमान अनुदार प्रधान मन्त्री श्री बैनेट भी व्यापारिक मामलों में ब्रिटिश सरकार के लिए कंटकरूप हो रहे हैं। वह 'नई योजनाओं' की चर्चा कर रहे हैं और उनके विचारों में आश्चर्यजनक तब्दीली हो रही है। श्री लिट-वीनोव, सर स्टैफ़र्ड क्रिप्स और श्री जान स्ट्रेची के ज़ोरदार प्रभाव से वे समष्टिवादी बन गए हैं। इसे तमाम अनुदार, उदार और इम्पीरियल सिविल सर्विस वालों को इस बात का संकेत और चेतावनी समझनी चाहिए कि वे इस क़िस्म के विचार रखना या ऐसे विचार रखनेवालों का साथ देना छोड़ दें, नहीं तो वे खुद ही उन प्रबल सिद्धान्तों के समर्थक बन जायंगे। (उपर्युक्त नोट लिख चुकने के बाद सुना कि कनाडा में श्री किंग के नेतृत्व में लिबरल पार्टी ने चुनाव में गहरी विजय प्राप्त कर ली है, और शासन-सूत्र अब उसीके हाथ में आ गया है।)

[2]मेलबोर्न के 'एज' नामक पत्र ने लिखा था कि लंकाशायरवाले अगर अपने प्रस्तावित बहिष्कार को बन्द न करें तो आस्ट्रेलिया को लंकाशायर के रहे-सहे व्यापार का भी प्रबल बहिष्कार करना ही चाहिए। अविचल दृढ़ता के साथ हमें लंकाशायर को जवाब देना होगा। (९ नवम्बर १९३४ के साप्ताहिक 'मैनचेस्टर गार्जियन' से उद्धृत।)

हाल में की गई भारतीय ब्रिटिश व्यापारिक सन्धि से मिलता है। इस सन्धि की ब्रिटिश उद्योगपतियों को खबर थी, लेकिन यह भारतीय व्यवसायियों और उद्योगपतियों से छिपाकर की गई थी, और उनके विरोध करते रहने और असेम्बली के रद्द कर देने पर भी सरकार ने यह सन्धि क़ायम रक्खी। ऐसे संरक्षणों की तो बड़ी ज़बर्दस्त ज़रूरत कनाडा, आस्ट्रेलिया और दक्षिण अफ़रीका में है, जिससे इन उपनिवेशों के लोग न केवल व्यापारिक मामलों में ही, वरन् साम्राज्य-रक्षा और उसकी अविच्छिन्नता के महत्वपूर्ण विषयों में भी मनमाना रास्ता इख़्तियार न कर लें।[1]

कहा गया है कि साम्राज्य के मानी एक बड़ा 'क़र्ज़' है, और संरक्षणों की योजना इसलिए की गई है कि साम्राज्य-रूपी लेनदार अपने दयनीय क़र्ज़दार को अपने क़ाबू में रख सके तथा अपने विशेष स्वार्थों और शक्तियों को बनाये रखे। एक विचित्र दलील, जो अक्सर सरकार की तरफ़ से दुहराई जाती है, यह है कि गांधीजी और कांग्रेस ने ऐसे संरक्षणों के विचार को स्वीकार कर लिया है, क्योंकि सन् १९३१ के दिल्ली के गांधी-इर्विन समझौते में भारत के हित में 'संरक्षण' की बात स्वीकार की जा चुकी है।

ओटावा-पैक्ट और वाणिज्य-व्यवसाय-सम्बन्धी संरक्षण फिर भी छोटी बातें हैं।[2] इससे कहीं अधिक महत्त्व की बात है, वे बीसियों सुविधाएं, जिनका

---

[1] दक्षिण अफ्रीका-संघ के रक्षा सचिव श्री ओ० पीरोव ने कहा था कि संघ साम्राज्य-रक्षा की किसी भी आम योजना में भाग नहीं लेगा, न किसी बाहरी युद्ध में ही सहयोग करेगा, फिर भले ही ब्रिटेन उस युद्ध में शामिल क्यों न हो। "अगर सरकार अविचारपूर्वक दक्षिण अफ्रीका को दूसरे बाहरी युद्धों में भाग लेने के लिए मजबूर करे, तो बहुत बड़े पैमाने में अशान्ति फैल जायगी, मुमकिन है कि गृह-युद्ध छिड़ जाय। इसलिए वह साम्राज्य-रक्षा की किसी आम योजना में भाग नहीं लेगी।" (केपटाउन से ५ फरवरी १९३५ को भेजा हुआ रायटर का संवाद।) प्रधान सचिव जनरल हर्टजोग ने इस वक्तव्य की पुष्टि की है और बताया है कि वह यूनियन सरकार की नीति को जाहिर करता है।

[2] लन्दन का 'इकनोमिस्ट' (अक्तूबर, १९३४) बतलाता है—"भविष्य के लिए ब्रिटिश राज का एक लाभ यह मालूम होता है कि पृथ्वी के अनेक हिस्सों

उद्देश्य हिन्दुस्तानियों का शोषण करने में पूर्वकाल तथा वर्तमान काल में जिन राजनैतिक और आर्थिक उपायों ने सहायता दी है, उन्हें स्थायी बना देना है। जब-तक ये सुविधाएं और 'संरक्षण' बने हुए हैं, तबतक किसी भी दिशा में वास्तविक उन्नति हो सकना असम्भव है, और किसी किस्म के वैध प्रयत्न द्वारा परिवर्तन के लिए कोई जगह ही नहीं छोड़ी गई है। ऐसा हरेक प्रयत्न संरक्षणों की नंगी दीवारों के साथ टकरायगा और दिन-दिन यह साफ़ होता जायगा कि केवल वैध मार्ग से ही काम नहीं चलेगा। राजनैतिक सुधार की दृष्टि से यह प्रस्तावित शासन-योजना और भीमकाय संघ एक वाहियात चीज़ है, और सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से तो यह और भी बदतर है। समाजवाद का रास्ता तो जान-बूझकर रोक दिया गया है। ऊपरी तौर से बहुत-कुछ जवाबदेही भी (लेकिन वह भी अधिकतर 'सुरक्षित' श्रेणियों को ही) सौंप दी गई है, लेकिन कोई महत्त्वपूर्ण कार्य कर सकने की शक्ति तथा साधन नहीं दिये गए हैं। बिना किसी उत्तरदायित्व के सारी शक्ति इंग्लैंड अपने हाथों में रक्खे हुए है। निरंकुशता के नंगेपन को ढकने के लिए कोई झीनी चादर तक नहीं है। हरेक आदमी जानता है इस समय की सबसे बड़ी ज़रूरत यह है कि विधान पूरी तरह से लचीला और ग्राह्य-शक्तिवाला हो जिससे वह तेज़ी से बदलती रहनेवाली अवस्था के अनुकूल हो सके। निर्णय जल्दी होना चाहिए, और साथ ही उन निर्णयों को अमल में लाने की ताक़त भी होनी चाहिए। इतने पर भी, इसमें शक है कि पार्लमेंटरी लोकतन्त्र, जैसा कि आजकल पश्चिम के कुछ देशों में चल रहा है, आधुनिक विश्व के सुचारु संचालन के लिए आवश्यक परिवर्तन कर सकने में सफल हो सकेगा। लेकिन यह प्रश्न हमारे यहां नहीं उठता; क्योंकि हमारी गति हथकड़ियों और बेड़ियों से जान-बूझकर रोक दी गई है, और हमारे दरवाज़े बन्द करके ताले लगा दिये गए हैं। हमें ऐसी मोटर दे दी गई है जिसमें सब जगह रोकने के लिए ब्रेक तो काफी लगे हुए हैं, लेकिन उसे चलानेवाला एंजिन नदारद है। मार्शल-ला (फौजी क़ानून) ही जिनका आधार है, ऐसे लोगों का बनाया हुआ यह शासन-विधान है।

में बसनेवाले मूल निवासियों को हम महंगी दर पर लंकाशायर का माल खरीदने के लिए मजबूर कर सकेंगे।" सीलोन इसका सबसे अधिक ज्वलन्त और नया उदाहरण है।

शस्त्र-बल में विश्वास रखनेवाले के लिए मार्शल-लॉ (फ़ौजी क़ानून) ही उसका असली सहारा है। उसके लिए उसके छोड़ने का अर्थ है अपना सर्वनाश।

इंग्लैंड के इस प्रस्तावित तोहफ़े से हिन्दुस्तान को किस हद तक आज़ादी मिलेगी, इसका पता इसी बात से चल सकता है कि नरम-से-नरम और राजनैतिक दृष्टि से अत्यन्त पिछड़े हुए दलों तक ने इसे प्रगति-विरोधी बताकर इसकी तीव्र निन्दा की है। सरकार के पुराने और कट्टर हिमायतियों को भी इसकी आलोचना करनी पड़ी है, लेकिन यह आलोचना उन्होंने की है अपने उसी सदा के खुशामदी ढंग के साथ। दूसरे लोगों ने उग्र रूप से विरोध किया है।

इन सुधारों ने नरम दलवालों के लिए अपने इस अटल विश्वास पर, कि भगवान ने हिन्दुस्तान को अंग्रेज़ों की छत्रछाया में रखकर बेहद बुद्धिमानी की है, डटा रहना मुश्किल कर दिया है। उन्होंने तीखी आलोचना की, लेकिन वस्तु-स्थिति की अवहेलना करके और आडम्बरयुक्त शब्दों और लुभावने हाव-भावों के साथ उन्होंने इस बात पर सबसे अधिक ज़ोर दिया कि रिपोर्ट और बिल दोनों में 'डोमीनियन स्टेटस' (औपनिवेशिक स्वराज) शब्द ग़ायब हैं। इस सम्बन्ध में उनकी तरफ़ से बड़ा बावैला मचा था। अब सर सैमुअल होर ने इस विषय में एक वक्तव्य प्रकाशित कर दिया है, इसलिए बहुत हद तक उससे उनके आत्म-सम्मान की रक्षा हो जायगी। सम्भव है, औपनिवेशिक स्वराज अज्ञात भविष्य के गर्भ में वास करनेवाली एक झूठी छायामात्र होगी—एक असम्भव से भी असम्भव देश, जहां हम कभी पहुंच ही नहीं सकेंगे। हां, उसके सपने देख सकते हैं और उसकी अनेक सुन्दरताओं का ओजमय वर्णन कर सकते हैं। शायद ब्रिटिश पार्लमेंट के प्रति मन में पैदा हुए सन्देहों से परेशान होकर सर तेजबहादुर सप्रू ने अब सम्राट् की शरण ली है। वह एक अत्यन्त सुयोग्य और कुशल क़ानूनदां हैं, इसलिए उन्होंने एक नया ही वैधानिक सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। वह कहते हैं—"ब्रिटिश पार्लमेंट और ब्रिटिश जनता भारत के लिए कुछ करे या न करे, इन दोनों के ऊपर सम्राट् हैं जो भारतीय प्रजा का सदा हितचिन्तन और शान्ति और समृद्धि की आकांक्षा किया करते हैं।"[१] यह ऐसा सुखद सिद्धान्त है, जो

[१] लखनऊ की २९ जनवरी १९३५ की एक सार्वजनिक सभा में दिये हुए एक भाषण से।

हमें शासन-विधान, क़ानून और राजनैतिक और सामाजिक क्रान्तियों की झंझटों में पड़ने से बचाता है ।

लेकिन यह कहना ठीक नहीं होगा कि नरम दलवालों ने शासन-विधान का विरोध कम कर दिया है । उनमें से अधिकांश ने यह बिलकुल स्पष्ट कर दिया है कि वे उस बिन-मांगे तोहफ़े की बनिस्बत जो कि हिन्दुस्तान के सर पर ज़बरदस्ती लादा जा रहा है, मौजूदा हालतों को, बुरी होने पर भी, पसन्द करते हैं। लेकिन इस बात को कहते रहने के सिवा, खुद उनके सिद्धान्त उन्हें आगे बढ़कर कुछ करने से रोकते हैं, और यह माना जा सकता है कि वे उक्त बातों पर बराबर ज़ोर देते रहेंगे । यह पुरानी कहावत को, वर्तमान समय के अनुसार बदल कर वे अपना आदर्श-वाक्य बना सकते हैं और वह है—"अगर एक बार कामयाबी न मिले, तो फिर चिल्लाओ !"[1]

लिबरल नेताओं और कितने ही दूसरे लोगों ने, जिनमें कुछ कांग्रेसवाले भी शामिल हैं, इंग्लैंड में मज़दूर-दल की विजय और मज़दूर-सरकार की स्थापना पर कुछ आशा बांध रक्खी है । निस्सन्देह, कोई वजह नहीं है कि हिन्दुस्तान ब्रिटेन के प्रगतिशील दलों के सहयोग से आगे बढ़ने का प्रयत्न क्यों न करे, अथवा मज़दूर-सरकार के आगमन से लाभ क्यों न उठावे ! लेकिन इंग्लैड के भाग्यचक्र के परिवर्तन पर ही बिलकुल निर्भर रहना न तो शोभास्पद है, न राष्ट्रीय गौरव के ही किसी तरह अनुकूल है । और यह कोई सामान्य व्यवहार-बुद्धि की बात भी नहीं है । ब्रिटिश मज़दूर-दल से हम इतनी ज़्यादा आशा क्यों रक्खें ! हम अभी दो बार मज़दूर-दल की सरकार देख चुके हैं, और उसके समय हिन्दुस्तान को जो तोहफ़े मिले हैं, उन्हें हम भूल नहीं सकते । श्री रैमज़े मैकडानल्ड भले ही मज़दूर-दल से अलग हो गये हों, लेकिन उनके पुराने साथियों में कोई ज़्यादा परिवर्तन हुआ दिखाई नहीं देता । सन् १९३० के अक्तूबर में साउथपोर्ट में होने-वाली मज़दूर-दल-कांफ्रेंस में श्री वी० के० कृष्णमेनन ने यह प्रस्ताव रखा था—"यह बहुत ही ज़रूरी है कि हिन्दुस्तान में पूर्ण स्वराज की स्थापना के लिए

[1] 'Try again' (ट्राई अगेन) अर्थात् फिर प्रयत्न करो, यह अंग्रेज़ी की कहावत है, किन्तु लेखक का व्यंग है कि इनके लिए ट्राई के बदले क्राई करके 'Cry again' अर्थात् 'फिर चिल्लाओ' की कहावत अधिक मौज़ूं है । —अनु०

साथ सहयोग करने में कोई आपत्ति नहीं है; यह उनका साम्राज्यवाद है जिसके हम विरोधी हैं। साम्राज्यवाद को एकबारगी उन्होंने धता बताई नहीं कि सहयोग का मार्ग खुल जायगा। उस समय नरम दलवालों का क्या होगा? शायद वे नई व्यवस्था को, ईश्वर की अगाध बुद्धि का दूसरा संकेत समझकर, स्वीकार कर लेंगे।

गोलमेज़-परिषद् और संघ-शासन के विधान के प्रस्ताव का एक ख़ास नतीजा यह है कि देशी राजे एकदम आगे ले आये गए हैं। कट्टर अनुदारपन्थियों की उनके तथा उनकी स्वतन्त्रता के प्रति शुभ-चिन्तना ने उनमें एक नया जोश भर दिया है। इससे पहले कभी उनको इतना महत्त्व नहीं दिया गया था। पहले उनकी मजाल नहीं थी कि वे ब्रिटिश रेज़िडेण्ट के संकेत-मात्र तक को नामंज़ूर कर दें, और बहुतेरे देशी नरेशों के प्रति भारत-सरकार का व्यवहार भी साफ़ ही अवहेलनापूर्ण था। उनके भीतरी मामलों में दस्तन्दाज़ी होती रहती थी, जो अक्सर न्यायसंगत ही ठहराई जाती थी। आज भी अधिकांश रियासतें प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से 'उधार' दिये हुए अंग्रेज़-अफ़सरों द्वारा शासित हो रही हैं। लेकिन इधर कुछ ऐसा मालूम होता है कि श्री चर्चिल और लार्ड रॉदरमियर के आन्दोलन ने सरकार को कुछ घबरा-सा दिया है, और इसलिए वह उनके निर्णयों में हस्तक्षेप करने में फूंक-फूंककर क़दम रखने लगी है। देशी नरेश भी अब ज़रा कहीं अधिक अकड़ के साथ बातचीत करने लगे हैं।

मैंने भारतीय राजनैतिक क्षेत्रों की बाहरी घटनाओं को समझने की कोशिश की है; लेकिन मैं अच्छी तरह जानता हूं कि ये सब बातें कोई असली महत्त्व की नहीं हैं। और इन सबकी तह में रहनेवाली भारत की स्थिति का ख़याल मुझे परेशान कर रहा है। असलियत यह है कि हर तरह की स्वतन्त्रता का दमन हो रहा है, सब जगह घोर कष्ट और निराशा फैली हुई है, सद्भावना दूषित की जा रही है, और अनेक प्रकार की हीन वृत्तियों को प्रोत्साहन मिल रहा है। बहुत बड़ी संख्या में लोग जेलों में पड़े हैं और अपनी जवानी खो रहे हैं तथा उमर बिता रहे हैं।[1] उनके परिवार, मित्र और सम्बन्धी, और

[1] होम-मेम्बर सर हेरी हेग ने २३ जुलाई १९३४ को बड़ी धारा-सभा में जेलों और स्पेशल कैम्पों में बन्द नज़रबन्दों की संख्या इस प्रकार बतलाई थी—

हजारों दूसरे लोगों में कटुता बढ़ती जा रही है और नंगी पाशविकता के सामने ज़लालत और बेबसी की कुत्सित भावना ने उन्हें घेर लिया है। साधारण समय में भी अनेक संस्थाएं ग़ैरक़ानूनी क़रार दे दी गई हैं और 'संकटकाल के अधिकार' (इमर्जेन्सी पावर्स) और 'शान्ति-रक्षा-विधान' (ट्रेंक्विलिटी ऐक्ट्स) सरकारी शस्त्रागार में क़रीब-क़रीब स्थायी रूप से शामिल कर लिये गए हैं। स्वाधीनता पर प्रतिबन्ध लगाने के अपवाद दिन-दिन साधारण नियम से बनते जा रहे हैं। बहुत-सी पुस्तकें और पत्रिकाएं या तो ज़ब्त की जा रही हैं या 'सी कस्टम ऐक्ट' के मातहत उनका प्रवेश रोका जा रहा है, और 'भयंकर' साहित्य रखने के अपराध में लम्बी-लम्बी सज़ाएं दी जाती हैं। किसी राजनैतिक या आर्थिक प्रश्न पर निर्भीक सम्मति देने अथवा रूस की उस वक्त वर्तमान सामाजिक या सांस्कृतिक स्थिति की प्रशंसा करने पर सेंसर नाराज़ होता है। 'मॉडर्न रिव्यू' को बंगाल-सरकार की ओर से महज़ इसी बात पर चेतावनी दे दी गई है कि उसने श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर का रूस-सम्बन्धी लेख छापा था। वह लेख उन्होंने स्वयं रूस जाकर आने के बाद लिखा था। भारत के उपमन्त्री इस प्रकार पार्लमेंट में फरमाते हैं कि "उस लेख में, भारत में ब्रिटिश राज्य की नियामतों का बिगड़ा रूप

बंगाल में १५०० और १६०० के बीच, देवली में ५००, कुल २००० और २१०० के बीच। यह संख्या तो नजरबन्दों की है, जिनपर न तो मुक़दमा चलाया गया, न सजा दी गई। इसमें दूसरे राजनीतिक क़ैदी शामिल नहीं हैं, जिन लोगों को सजा दी गई है। आमतौर पर उनकी सजा बहुत अधिक है। एसोशिएटेड प्रेस (१७ दिसम्बर १९३४) के कथनानुसार कलकत्ता के हाल के एक मामले में हाई-कोर्ट ने बिना लाइसेन्स हथियार और कारतूस रखने के अपराध में ९ वर्ष की कड़ी क़ैद की सजा दी थी। अभियुक्त के पास एक रिवाल्वर और छः कारतूस निकले थे।

इन्हीं दिनों (१९३५ के पिछले पखवाड़े में) नागरिक स्वतन्त्रता का अपहरण करनेवाले कई क़ानूनों की मियाद और बढ़ा दी गई। इसमें से मुख्य क्रिमिनल लॉ अमेण्डमेण्ट ऐक्ट सारे हिन्दुस्तान में लागू कर दिया गया है। असेम्बली ने इस क़ानून को ठुकरा दिया था; लेकिन बाद में वाइसराय ने अपने विशेषाधिकार से इसे जायज कर दिया। दूसरे प्रान्तों में भी ऐसे ही क़ानून बनाये गए हैं।

दिखाया गया था," इसलिए उसके ख़िलाफ़ कारंवाई की गई थी।[1] इन नियामतों के निर्णायक सेंसर महोदय होते हैं, और हम उनके विरुद्ध मत नहीं रख सकते या ज़ाहिर नहीं कर सकते। डब्लिन की सोसायटी ऑव फ्रेण्ड्स के नाम भेजे गये श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर के संक्षिप्त वक्तव्य के प्रकाशन तक पर आपत्ति की गई थी। केवल सांस्कृतिक विषयों में रुचि रखने और जान-बूझकर अपने-को राजनीति से अलग रखनेवाले और न केवल हिन्दुस्तान बल्कि समस्त संसार में सम्मानित और विख्यात श्री रवीन्द्र-जैसे सन्त-कवि तक को जब इस तरह दबाया जाता है, तब बिचारे असहाय जन-साधारण का तो कहना ही क्या! सरकार ने आतंक का जो वातावरण बना रक्खा है, वह तो दमन के इन प्रत्यक्ष उदाहरणों से भी कहीं ज़्यादा बदतर है। निष्पक्ष पत्र-संचालन ऐसी परिस्थिति में असम्भव है,[2] न इतिहास, अर्थशास्त्र, राजनीति या मौजूदा समस्याओं का ही ठीक-ठीक अध्ययन हो सकता है। सुधार, उत्तरदायी शासन और ऐसी ही बातों की शुरुआत करने के लिए यह एक बड़ा विचित्र वातावरण बनाया गया है।

हरेक अक़्लमन्द आदमी जानता है कि संसार इस समय एक विचार-क्रान्ति के बीच में है, और मौजूदा परिस्थितियों के प्रति अस्पष्ट या स्पष्ट रूप से महसूस होनेवाला घोर असन्तोष फैल रहा है। हमारे देखते-देखते बड़े ही महत्त्व के परिवर्तन हो रहे हैं। और भविष्य का रूप चाहे कुछ भी हो, परन्तु वह कोई बहुत दूर की चीज़ नहीं है, कि उसके विषय में केवल दार्शनिक, समाजशास्त्री तथा अर्थ-वेत्ता लोग निष्पक्ष मन से शास्त्रीय चर्चा करते रहें। वह एक ऐसी वस्तु है जिसका प्रत्येक व्यक्ति के हित अथवा अहित से सम्बन्ध है, इसलिए निश्चय ही प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य है कि आज जो विभिन्न शक्तियां काम कर रही हैं उन्हें वह

---

[1] १२ नवम्बर १९३४

[2] ४ सितम्बर १९३५ को असेम्बली में हिन्दुस्तान में प्रेस-ऐक्ट के प्रयोग के सम्बन्ध में सरकारी वक्तव्य दिया गया था। उसमें बताया गया था कि सन् १९३० के बाद ५१४ समाचार-पत्रों पर ज़मानत और ज़ब्ती आदि लगाई थी। इनमें से २४८ पत्र बन्द कर देने पड़े, क्योंकि वे और अधिक ज़मानत की रकम का इन्तज़ाम न कर सके; बाक़ी १६६ पत्रों ने ज़मानत दे दी, जो कुल मिलाकर २,५२,८५२ रुपये थी।

समझे और अपना कर्त्तव्य-पथ निश्चित करे। पुरानी दुनिया खत्म होने जा रही है और एक नये संसार का निर्माण हो रहा है। किसी समस्या का जवाब ढूंढ़ने के लिए यह ज़रूरी है कि पहले यह जान लिया जाय कि वह है क्या। निस्सन्देह समस्या का समझना उतना ही महत्त्व रखता है, जितना कि उसका हल निकालना।

अफ़सोस है कि हमारे राजनीतिज्ञ दुनिया की समस्याओं से आश्चर्यजनक रूप से अनजान हैं, या उनके प्रति उदासीन हैं। सम्भवतः यह अज्ञान अधिकांश सरकारी अफसरों तक बढ़ा हुआ है, क्योंकि सिविल-सर्विस वाले बड़े मज़े और सन्तोष के साथ अपने ही छोटे-से संकरे दायरे में रहना पसन्द करते हैं। केवल सर्वोच्च अधिकारियों को ही इन समस्याओं पर विचार करना पड़ता है। ब्रिटिश सरकार को तो अवश्य ही संसार की घटनाओं का ध्यान रखना पड़ता है और उन्हीं के अनुसार अपनी नीति तय करनी पड़ती है। दुनिया यह जानती है कि ब्रिटिश वैदेशिक नीति पर हिन्दुस्तान के आधिपत्य और उसकी रक्षा का बहुत बड़ा प्रभाव रहता है। भला कितने भारतीय राजनीतिज्ञ यह विचारने की तकलीफ़ गवारा करते हैं कि जापान के साम्राज्यवाद, या सोवियत रूस की बढ़ती हुई ताक़त, या सिंगकियांग में होनेवाले ब्रिटिश-रूस-जापानी दांवपेंच अथवा मध्य-एशिया या अफ़गानिस्तान या फारस की घटनाओं का हिन्दुस्तान की राजनैतिक समस्या के साथ अत्यन्त गहरा सम्बन्ध है! मध्य-एशिया की स्थिति का प्रत्यक्ष परिणाम कश्मीर पर पड़ता है, इसलिए ब्रिटिश सरकार की नीति तथा प्रतिरक्षा में उसका प्रमुख भाग रहता है।

किन्तु इससे भी अधिक महत्व के हैं वे आर्थिक परिवर्तन, जो आज सारे संसार में हो रहे हैं। हमें जान लेना चाहिए कि उन्नीसवीं सदी का ज़माना गुज़र चुका है और उस काल की समाज-व्यवस्था आज उपयोग में नहीं आ सकती। वकीलों की तरह पिछली नज़ीरें देने का तरीक़ा, हिन्दुस्तान में बहुत अधिक प्रचलित हैं; परन्तु अब वे पिछली नज़ीरें नहीं रही हैं, इसलिए यह तरीक़ा कुछ काम का नहीं रहा। बैलगाड़ी को रेल की पटरी पर रखकर उसे रेलगाड़ी नहीं कहा जा सकता। इसको बेकार समझकर छोड़ देना होगा और उखाड़ फेंकना होगा। रूस के अलावा और जगह भी 'नवीन योजनाओं' और महान् परिवर्तनों की चर्चाएँ हो रही हैं। पूंजीवादी प्रणाली को सब प्रकार से क़ायम रखने और मज़बूत करने की प्रबल आन्तरिक इच्छा के बावजूद भी प्रेसीडेण्ट रूज़वेल्ट ने अत्यंत

साहस-भरी ऐसी योजनाएं प्रचलित की हैं, जिससे अमेरिका का सारा जीवन ही बदल सकता है । उन्होंने बहुत बड़े-बड़े खास अधिकार पाये हुए वर्ग को उखाड़ फेंकने और पद-दलित निम्न-वर्ग को सक्रिय रूप से उन्नत बनाने की घोषणा की है । वह सफल हों या न हों, यह बात दूसरी है; लेकिन उस व्यक्ति का साहस और अपने देश को पुरानी लीक से बाहर खींच निकालने की उसकी महत्त्वाकांक्षा अवर्णनीय है । अपनी नीति बदलने या अपनी भूलों को स्वीकार करने में भी वह नहीं हिचकिचाता । इंग्लैंड में श्री लॉयड अपनी नई योजना लेकर सामने आये हैं । हम भारत में भी कई नई योजनाएं चाहते हैं । यह पुरानी धारणा कि "जो कुछ जानने लायक है, वह सब जान लिया गया है, और जो कुछ करने लायक है, वह सब कुछ किया जा चुका है" एक ख़तरनाक बेवकूफ़ी है ।

हमें बहुत-सी समस्याओं का सामना करना है और हमें बहादुरी के साथ ऐसा करना चाहिए । क्या आज की सामाजिक और आर्थिक प्रणाली को ज़िन्दा रहने का कोई अधिकार है, जबकि वह जन-साधारण की अवस्था में अधिक सुधार करने में असमर्थ है ? क्या कोई दूसरी प्रणाली इस प्रकार प्रगति का आश्वासन देती है ? केवल राजनैतिक परिवर्तन से किस हद तक क्रान्तिकारी प्रगति हो सकती है ? अगर किसी प्रमुख आवश्यक परिवर्तन के रास्ते में स्थापित स्वार्थवाले बाधक हों तो क्या यह धर्म होगा कि जन-समूह को दुःखी तथा दरिद्र रखकर उनको क़ायम रखने का प्रयत्न किया जाय ? अवश्य ही हमारा उद्देश्य स्थापित स्वार्थों को आघात पहुंचाना नहीं है, बल्कि उनको दूसरे लोगों को हानि पहुंचाने से रोकना है । इन स्थापित स्वार्थों से समझौता हो सकना मुमकिन हो सकता हो तो वह कर लेना अत्यन्त वांछनीय होगा । लोग भले ही इसके भलाई-बुराई के सम्बन्ध में मतभेद रक्खें, लेकिन समझौते की सामाजिक उपयोगिता में बहुत कम सन्देह होगा । साफ़ है कि यह समझौता इस प्रकार नहीं हो सकता कि एक नया स्थापित स्वार्थ क़ायम करके पहले स्थापित स्वार्थ को हटाया जाय । जब कभी भी मुमकिन और ज़रूरी हो, समझौते के लिए उपयुक्त मुआवज़ा दिया जा सकता है, क्योंकि झगड़े से ज्यादा नुक़सान होने की सम्भावना है । परन्तु दुर्भाग्य से सारा इतिहास यह बताता है कि स्थापित स्वार्थवाले वर्ग इस प्रकार से समझौता मंज़ूर नहीं करते । जो वर्ग समाज के प्रमुख अंग नहीं

रह जाते, वे काफ़ी विवेकशून्य हो जाते हैं। वे सब कुछ रखने के लिए सब कुछ खोने की बाज़ी लगा देते हैं और इस तरह अपना ख़ात्मा कर लेते हैं।

ज़ब्ती आदि के बारे में बहुत-सी 'ऊलजलूल चर्चा' (कांग्रेस कार्य-समिति के एक प्रस्ताव के अनुसार) हो रही है। लेकिन ज़ब्ती—बलपूर्वक और सतत ज़ब्ती, तो मौजूदा प्रणाली का आधार है, और इसका अन्त करने के लिए ही सामाजिक क्रान्ति की बात कही जा रही है। हर रोज़ मज़दूरों के गाढ़े पसीने की कमाई ज़ब्त की जा रही है, और इस हद तक लगान और मालगुज़ारी बढ़ाकर कि किसान उसे अदा करने में असमर्थ हो जायं, उनकी जोत ज़ब्त कर ली जाती है। पहले ज़माने में व्यक्तियों का एक समुदाय भूमि पर ज़बरदस्ती क़ब्ज़ा कर लेता था और इस प्रकार बड़ी-बड़ी ज़मींदारियां बन गईं; भू-स्वामी किसान उखाड़ फेंक दिये गए। सारांश यह कि ज़ब्ती ही मौजूदा प्रणाली का आधार है, वही उसका प्राण है।

इसको कुछ हद तक सुधारने के लिए समाज विविध उपाय काम में लाता है, जो ज़ब्ती के ही रूप हैं; जैसे भारी टैक्स, उत्तराधिकार कर, क़र्ज़ से छुटकारा दिलाने का क़ानून, मुद्रा-वृद्धि आदि। हाल ही में हमने राष्ट्रों को अपरिमित क़र्ज़ की अदायगी से इन्कार करते देखा है; केवल सोवियत संघ ही नहीं, वरन् अग्रणी पूंजीपति राष्ट्र तक इन्कार कर गये हैं। सबसे अधिक उज्ज्वल उदाहरण ब्रिटिश सरकार का है, जिसने संयुक्त-राज्य अमेरिका का क़र्ज़ अदा करने से इन्कार कर दिया है—ख़ुद अंग्रेजों द्वारा हिन्दुस्तान के सामने रखा गया एक भयंकर उदाहरण! लेकिन इन सब ज़ब्तियों से और क़र्ज़ों को इस तरह रद्द कर देने से, सिर्फ़ कुछ हद तक ही मदद मिलती है, आधारभूत रोगों से छुटकारा नहीं मिलता। नये निर्माण के लिए तो जड़ पर कुठाराघात करना होगा।

वर्तमान व्यवस्था बदलने के उपाय पर विचार करते समय हमें भौतिक और नैतिक दृष्टि से उसकी उपयोगिता का भी विचार करना होगा। बहुत संकुचित दृष्टि बनाये रखने से हमारा काम चल नहीं सकता—हमें दूरदर्शी बनना होगा। हमें देखना होगा कि इस परिवर्तन से, भौतिक और नैतिक दृष्टियों से, मनुष्य को सुख-समृद्धि की वृद्धि में कहांतक सहायता मिलेगी। इसके साथ ही हमें इस बात का भी सदा ध्यान रखना होगा कि यदि वर्तमान व्यवस्था न बदली गई तो हमें कितना भयंकर नुक़सान उठाना पड़ता है, उसे चालू रखने में किस प्रकार हमारे हताश तथा विकृत जीवन पर असह्य भार पड़ता है तथा भुखमरी,

ग़रीबी और आध्यात्मिक तथा नैतिक पतन सहन करना पड़ता है। हमेशा आनेवाली बाढ़ की तरह वर्तमान आर्थिक व्यवस्था अगणित मनुष्यों को विपत्ति में डालकर विनाश की ओर बहाये लिये जा रही है। हम इस प्रलयकारी बाढ़ को रोक नहीं सकते या हममें से कुछ लोग बाल्टी से पानी उलीच-उलीचकर इन प्राणियों को बचा नहीं सकते। बांध बनवाने होंगे, नहरें निकालनी होंगी, जल की नाशक शक्ति को बदलकर, मनुष्य की भलाई के लिए उसका प्रयोग करना होगा।

यह साफ़ है कि समाजवाद जो महान् परिवर्तन लाना चाहता है, वह कुछ क़ानूनों को सहसा पास कर लेने मात्र से ही नहीं हो सकता। लेकिन और आगे बढ़ने और इमारत की नींव रखने के लिए क़ानून बनाने की मूल सत्ता का हाथ में होना ज़रूरी है। अगर समाजवादी समाज का निर्माण करना है, तब भी तो वह न तो भाग्य के भरोसे पर छोड़ा जा सकता है, और न रुक-रुककर, जितना कुछ बनाया गया है उसे तोड़ने का अवसर देते हुए, काम करने से वह पूरा हो सकता है। इस तरह ख़ास-ख़ास रुकावटों को हटाना होगा। हमारा उद्देश्य किसी को वंचित करना नहीं, वरन् सम्पन्न करना है; वर्तमान दरिद्रता को सम्पन्नता में बदल देना है। लेकिन ऐसा करने के लिए रास्ते से उन सब रुकावटों और स्वार्थों को, जो समाज को पीछे रखना चाहते हैं, ज़रूर ही हटाना होगा। और जो रास्ता हम इख़्तियार कर रहे हैं, वह सिर्फ व्यक्तिगत रुचि अथवा अरुचि अथवा सैद्धान्तिक न्याय के प्रश्न पर ही निर्भर नहीं करता, बल्कि इस बात पर निर्भर है कि वह आर्थिक दृष्टि से ठीक है, उन्नति की तरफ़ ले जा सकने योग्य है, और उससे अधिक-से-अधिक जन-समाज का कल्याण होगा।

स्वार्थों का संघर्ष अनिवार्य है। कोई बीच का रास्ता नहीं है। हममें से हरेक को अपना रास्ता चुनना होगा। लेकिन चुनने से पहले हमें उसे जानना होगा, समझना होगा। समाजवाद की भावुकतापूर्ण अपील से काम नहीं चलेगा। सच्ची घटनाओं वा दलीलों और ब्यौरेवार आलोचना के साथ विवेक और युक्तिपूर्ण आग्रह भी होना चाहिए। पश्चिम में तो इस तरह का साहित्य बहुतायत से मौजूद है, लेकिन भारत में उसका भयंकर अभाव है, और बहुत-सी अच्छी-अच्छी किताबों का यहां आना रोक दिया गया है। लेकिन विदेशी पुस्तकों का पढ़ना ही काफ़ी नहीं है। अगर भारत में समाजवाद की रचना होनी है, तो वह भारतीय परि-स्थितियों के आधार पर ही होगी और इसके लिए उनका बारीकी से अध्ययन होना

आवश्यक है। हमें इसके लिए ऐसे विशेषज्ञों की जरूरत है, जो गहरे अध्ययन के बाद एक सर्वांगीण योजना तैयार कर सकें। बदक़िस्मती से हमारे विशेषज्ञ अधिकांश में सरकारी नौकरियों में या अर्द्ध-सरकारी यूनिवर्सिटियों में फंसे हुए हैं, और वे इस दशा में आगे बढ़ने का साहस नहीं कर सकते।

समाज की स्थापना करने के लिए केवल बौद्धिक भूमिका ही काफ़ी नहीं है; दूसरी शक्तियां भी आवश्यक हैं। लेकिन मैं यह ज़रूर महसूस करता हूं कि बिना उस भूमिका के हम किसी हालत में भी विषय का मर्म नहीं समझ सकते, और न कोई ज़ोरदार आन्दोलन ही पैदा कर सकते हैं। इस वक्त तो खेती की समस्या हिन्दुस्तान की सबसे अधिक महत्त्व की समस्या है, और शायद भविष्य में भी ऐसा ही रहे। किन्तु औद्योगिक समस्या भी कम महत्त्व की नहीं है और वह बढ़ती ही जा रही है। हमारा लक्ष्य क्या है—कृषि-प्रधान राष्ट्र या उद्योग-प्रधान राष्ट्र ! अवश्य ही, मुख्यतः तो हमें कृषि-प्रधान ही रहना होगा, लेकिन उद्योग की ओर भी आगे बढ़ा जा सकता है, और मैं समझता हूं, अवश्य बढ़ना चाहिए।

हमारे उद्योग-धन्धों के मालिक लोग अपने विचारों में आश्चर्यजनक रूप से पिछड़े हुए हैं; वे आधुनिक दुनिया के 'अप-टू-डेट' पूंजीपति भी नहीं हैं। साधारण लोग इतने ग़रीब हैं कि वे उनको पक्का ग्राहक नहीं मानते, और मजदूरी की बढ़ती और काम के घण्टों की कमी करने में किसी भी मांग का वे ज़बरदस्त विरोध करते हैं। हाल में कपड़े की मिलों में काम का समय दस घण्टे से घटाकर नौ घण्टे कर दिया गया है। इसपर अहमदाबाद के मिल-मालिकों ने मज़दूरों की—फुटकरिये मजदूरों तक की, मज़दूरी घटा दी है। इस तरह काम के घण्टों की कमी का अर्थ हुआ बेचारे मज़दूर की आमदनी की कमी और उसका जीवन का और भी नीचा रहन-सहन। लेकिन औद्योगिक एकीकरण[1] (रेशनलाइज़ेशन), मज़दूर की उचित मज़दूरी बढ़ाये बिना ही, उसपर काम का भार और उसकी थकान बढ़ाता हुआ, तेज़ी से बढ़ता जा रहा है। सब उद्योगवादियों का दृष्टिकोण उन्नीसवीं सदी के शुरू ज़माने का-सा है। जब मौक़ा आता है, वे अत्यधिक लाभ उठाते हैं, और मज़दूर वैसे-का-वैसा बना रहता है। लेकिन

---

[1] उत्पादकों, मज़दूरों आदि के सहयोग से उद्योग की वह व्यवस्था, जिसमें उत्पत्ति और विक्रय का अनुपात क़ायम रहता है। —अनु०

अगर मन्दी आ जाती है, तो मालिक लोग यह शिकायत करने लगते हैं कि मज़दूरी घटाये बिना काम नहीं चल सकता। उनको सरकार की तो मदद है ही, हमारे मध्यम श्रेणी के राजनीतिज्ञों की सहानुभूति भी आमतौर पर उन्हींकी ओर है। इतने पर भी अहमदाबाद में सूती मिलों के मज़दूरों की हालत बम्बई या दूसरी जगह की बनिस्बत कहीं अधिक अच्छी है। आमतौर पर सभी सूती-मिल-मज़दूरों की हालत बंगाल के जूट-मिलों और कोयले की खानों के मज़दूरों से अच्छी है। छोटे-छोटे, असंगठित उद्योग-धन्धों के मज़दूरों की स्थिति औद्योगिक मज़दूरों में सबसे नीची है। कपड़े और जूट के करोड़पति मालिकों के गगनचुम्बी प्रासादों और विलासी जीवन और वैभव की अगर अध-नंगे मज़दूरों के रहने की काल-कोठरियों से तुलना की जाय तो उससे गहरी शिक्षा मिल सकती है। लेकिन हम इस अन्तर को स्वाभाविक मान लेते हैं और उससे किसी प्रकार विचलित या प्रभावित हुए बिना उसको टाल देते हैं।

हिन्दुस्तान के मज़दूर-वर्ग की हालत बहुत ख़राब है, लेकिन आर्थिक दृष्टि से किसान-समुदाय की हालत से कहीं अच्छी है। किसान-समुदाय को एक लाभ ज़रूर है, वह यह कि वह खुली हवा में रहता है, और गन्दी बस्तियों के पतित जीवन से बच जाता है। लेकिन उसकी हालत इतनी गिर गई है कि वह अक्सर अपने स्वच्छ वायुमण्डल वाले गांव को भी, गांधीजी के शब्दों में, गोबर का ढेर बना डालता है। उसमें सहयोग से या मिलकर सामाजिक हित का काम करने की भावना ही नहीं होती। इसके लिए उसकी निन्दा करना आसान है, लेकिन वह बेचारा करे भी तो क्या, जबकि जीवन ख़ुद ही उसके लिए एक अत्यन्त कटु और लगातार व्यक्तिगत संघर्ष का विषय बन गया है और हरएक आदमी उसपर प्रहार करने के लिए हाथ उठाये खड़ा है! किस तरह वह अपनी ज़िन्दगी बिता रहा है, यही बड़े भारी अचम्भे की बात है। देखा गया है कि सन् १९२८-२९ में पंजाब के ठेठ किसान की औसत आमदनी नौ आना थी। लेकिन १९३०-३१ में वह गिरकर तीन पैसे प्रति व्यक्ति हो गई! पंजाब के किसान युक्तप्रान्त, बिहार और बंगाल के किसानों की अपेक्षा कहीं अधिक खुशहाल माने जाते हैं। युक्तप्रान्त के कुछ पूर्वी जिलों (गोरखपुर वग़ैरा) में, मन्दी आने से पहले समृद्धि के दिनों में मज़दूरी दो आने रोज़ थी। इस दरिद्रावस्था के प्रति मनुष्यों की दया-भावना, मानव-प्रेम या ग्रामोन्नति के स्थानीय प्रयत्नों द्वारा इस दयनीय हालत

को उन्नत करने की बातें करना बेचारे किसान और उसकी बेबसी का मज़ाक़ उड़ाना है ।

हम इस दलदल से किस तरह निकल सकते हैं ? ऐसी गिरी हुई हालत से जन-समूह को उठाना कठिन तो ज़रूर है, लेकिन उसका कुछ उपाय तो सोचना ही होगा । पर असली दिक़्क़त तो उस स्वार्थी समुदाय की तरफ़ से आती है, जो परिवर्तन के ख़िलाफ़ है, और साम्राज्यवादी सत्ता की अधीनता में रहते हुए परिवर्तन का हो सकना अनहोना-सा मालूम होता है । अगले वर्षों में भारत क्या रुख़ इख़्तियार करेगा ? समाजवाद और फ़ासिज़्म इस युग की प्रधान वृत्तियां मालूम होती हैं, और मध्यमवर्ग तथा ढिलमिल-यक़ीन समुदाय ग़ायब होते जा रहे हैं । सर मालकम हेली ने भविष्यवाणी की थी कि "हिन्दुस्तान राष्ट्रीय-समाजवाद को ग्रहण करेगा जो एक प्रकार का फ़ासिज़्म ही है ।" निकट-भविष्य के लिहाज़ से तो शायद उनका कहना ठीक ही है । देश के नवयुवक और नवयुवतियों में फ़ासिज़्म-भावना साफ़ ज़ाहिर है—ख़ासकर बंगाल में और किसी हद तक दूसरे प्रान्तों में भी, और कांग्रेस में भी उसकी झलक आने लगी है । फ़ासिज़्म का सम्बन्ध उग्र रूप की हिंसा से होने के कारण कांग्रेस के अहिंसा-व्रती बड़े-बूढ़े नेता स्वभावतः ही उससे डरते हैं । लेकिन फ़ासिज़्म का, कार्पोरेट स्टेट का, यह कथित तात्त्विक आधार, कि व्यक्तिगत सम्पत्ति क़ायम रहे और स्थापित स्वार्थों का लोप न होकर राज्य का उनपर नियन्त्रण रहे, शायद उन्हें पसन्द आ जायगा । शुरू में ही देखने पर यह तो बड़ा सुन्दर ढंग मालूम होता है, जिससे कि पुराना तरीक़ा बना भी रहे और नया भी मालूम हो । लड्डू खा भी लो और उसे हाथ में लिये भी रखो, ये दोनों बातें एक साथ मुमकिन भी हैं या नहीं, यह बात दूसरी है ।

फ़ासिज़्म को अगर सचमुच प्रोत्साहन मिला तो वह मिलेगा मध्यम-श्रेणी के नवयुवकों से । वस्तुतः इस समय हिन्दुस्तान में जो क्रान्तिकारी हैं वह मध्यम-श्रेणी के ही हैं, मज़दूर या किसान-वर्ग के उतने नहीं; हालांकि कल-कारख़ानों के मज़दूर-वर्ग में इसकी सम्भावना अधिक है । यह राष्ट्रवादी मध्यम-श्रेणी फ़ासिस्ट विचारों के प्रचार के लिए उपयुक्त क्षेत्र है । किन्तु जबतक विदेशी सरकार बनी हुई है, यूरोप के ढंग का फ़ासिज़्म यहां नहीं चल सकेगा । भारतीय फ़ासिज़्म भारतीय स्वतन्त्रता का अवश्य ही हामी होगा, और इसलिए ब्रिटिश साम्राज्य-वादिता से वह अपनेको मिला न सकेगा । इसे जन-साधारण से सहायता लेनी

पड़ेगी। यदि ब्रिटिश सत्ता सर्वथा उठ जाय तो फ़ासिज्म बड़ी तेज़ी से बढ़ेगा, क्योंकि मध्यमश्रेणी के उच्चवर्ग तथा स्थापित स्वार्थों से इसे सहायता अवश्य मिलेगी।

लेकिन ब्रिटिश सत्ता के जल्दी उठ जाने की सम्भावना नहीं है, और इस बीच सरकार के उग्र दमन के बाद भी समाजवादी और कम्युनिस्ट विचारों का ज़ोरों से प्रचार हो रहा है। भारत में कम्युनिस्ट पार्टी (साम्यवादी संस्था) ग़ैरक़ानूनी क़रार दे दी गई है, और साम्यवादी शब्द का इतना लचीला अर्थ लगाया जाता है कि उससे सहानुभूति रखनेवाले और बढ़े-चढ़े प्रोग्रामवाले मज़दूर-संघों तक को उसमें शामिल कर लिया जाता है।

फ़ासिज़्म और साम्यवाद, इन दोनों से में मेरी सहानुभूति बिलकुल साम्यवाद की ओर है। इस पुस्तक के पढ़ने से मालूम हो जायगा कि मैं साम्यवादी होने से बहुत दूर हूं। मेरे संस्कार शायद एक हद तक अब भी उन्नीसवीं सदी के हैं और मानववाद[१] की उदार-परम्परा का मुझपर इतना ज़्यादा प्रभाव पड़ा है कि मैं उससे बिलकुल बचकर निकल नहीं सकता। यह मध्यमवर्गीय संस्कार मेरे साथ लगे रहते हैं और इसलिए स्वभाव से ही बहुत-से साम्यवादी मित्र मुझसे चिढ़े रहते हैं। कट्टरता, कार्ल मार्क्स के लेख या और किसी दूसरी पुस्तक को ईश्वरीय वाक्य समझना, जिनपर शंका न की जा सके, सैनिक अन्धानुकरण और अपने मत के विरोधियों के खिलाफ़ जिहाद करना, आदि जो आज के साम्यवाद के प्रधान लक्षण-से बन गये हैं, मुझे पसन्द नहीं हैं।[२]

---

[१] मानववाद (Humanism) वह विचारधारा अथवा कार्य-पद्धति है जिसमें अधिक दैवी अथवा धार्मिक दृष्टिकोण से देखने की अपेक्षा मानव-हित को अपना मुख्य दृष्टिकोण माना जाता है, अर्थात् इस मत के अनुसार मनुष्य-प्राणी के हिताहित पर ही सब वस्तुओं की उपयोगिता-अनुपयोगिता नापी जानी चाहिए। —अनु०

[२] रूस में बहुत-कुछ जो हुआ है, विशेष रीति से साधारण समय में हिंसा का जो अत्यधिक व्यवहार हुआ है, वह मुझे नापसंद है।

फिर भी समाजवादी विचारों की तरफ़ मेरी प्रवृत्ति अधिकाधिक होती जा रही है।

मूल्यवाद (Theory of Value) या दूसरी किन्हीं बातों में मार्क्स का विवेचन ग़लत हो सकता है, मैं इसका निर्णय करने के लिए उपयुक्त नहीं हूं। फिर भी मैं समझता हूं कि समाज-विज्ञान में उसकी एक असाधारण और अत्यन्त गहन गति थी और प्रत्यक्ष में इसका कारण थी वह वैज्ञानिक शैली जो उसने इख़्तियार की थी। अगर इस शैली के अनुसार पूर्व-इतिहास या वर्तमान घटनाओं का अध्ययन किया जाय तो अन्य किसी भी प्राप्त शैली की अपेक्षा वह जल्दी हो सकेगा, और यही कारण है कि आधुनिक जगत् में होनेवाले परिवर्तनों का जो आलोचनात्मक और शिक्षाप्रद विवेचन हो रहा है, वह मार्क्स-मतानुयायी लेखकों की ओर से ही हो रहा है। यह कहना आसान है कि मार्क्स ने, मध्यमवर्ग में होनेवाली क्रान्तिकारी भावनाओं की जाग्रति, जो आज इतनी प्रत्यक्ष है, और ऐसी ही कुछ दूसरी प्रवृत्तियों की उपेक्षा की, अथवा उनका महत्त्व आंका है। लेकिन मार्क्सवाद की सबसे बड़ी विशेषता जो मुझे मालूम होती है, वह है उसमें कट्टरता का अभाव होना, निश्चित दृष्टिकोण पर आग्रह रखना और उसकी क्रियाशीलता। यह दृष्टिकोण हमें अपने समय के समाज-संगठन को समझने में सहायता कर सकता है और काम करने और बाधाओं से बचने का उपाय बता सकता है।

लेकिन यह कार्य-नीति स्थायी अथवा अपरिवर्तनशील नहीं; बल्कि उसे स्थिति के अनुकूल बनाना होता है। कम-से-कम लेनिन की यही राय थी, और उसने बदलती हुई परिस्थितियों के अनुसार काम करके बुद्धिमत्तापूर्वक इसे साबित भी कर दिया। वह हमसे कहता है कि "लड़ाई के किसी अमुक क्षण की वास्तविक परिस्थिति क्या है, उसपर बारीकी से और चौकसी से विचार किये बिना, युद्ध के साधनों की योग्यता के बारे में 'हां' या 'ना' कह देना मार्क्स-पद्धति का बिलकुल उल्लंघन करना है।" उसने आगे कहा है—"दुनिया में कोई भी पूर्ण नहीं है, परिस्थितियों से हमें शिक्षा लेनी होगी।"

इस विस्तृत और व्यापक दृष्टिकोण के कारण ही एक सच्चा समझदार साम्यवादी व्यक्ति, एक हद तक सामाजिक जीवन की अखंडता की भावना जगाता है। राजनीति उसके लिए तात्कालिक हानि-लाभ का लेखा या अंधेरे में टटोलने की चीज़ नहीं रह जाती। जिन आदर्शों और लक्ष्यों को पूरा करने के लिए वह प्रयत्न करता है, वे उसके परिश्रम और प्रसन्नतापूर्वक किये हुए बलिदान को

सार्थक और सफल बनाते हैं। वह समझता है कि वह उस महान् सेना का एक अंग है जो मनुष्य-जाति का भाग्य और उसका भविष्य रचने के लिए आगे बढ़ रही है, और 'इतिहास के साथ क़दम-ब-क़दम चलने' की उसमें बुद्धि है।

शायद अधिकांश कम्युनिस्ट इन सब बातों को नहीं समझते। शायद लेनिन ही ऐसा शख्स था जो जीवन की इस पूर्ण अखंडता को पूरी तरह समझता था, और इसके परिणामस्वरूप उसके प्रयत्न इतने कारगर हुए। फिर भी कुछ हद तक, हरेक कम्युनिस्ट, जो उसके आन्दोलन के तत्त्व को समझ सका है, इन बातों को जानता है।

बहुत-से कम्युनिस्टों के साथ सब्र से पेश आ सकना बहुत मुश्किल है; उन्होंने दूसरों को चिढ़ा देने का अजीब ढंग इख्तियार कर लिया है। लेकिन वे भी बुरी तरह सताये हुए आदमी हैं, और सोवियत रूस के बाहर, उन्हें अनगिनत कठिनाइयों का मुक़ाबला करना पड़ता है। मैंने इनके महान् साहस और बलिदान की शक्ति को हमेशा सराहा है। करोड़ों अभागों की तरह वे भी अनेक प्रकार से बहुत मुसीबतें उठाते हैं, लेकिन किसी क्रूर और सर्वशक्ति-सम्पन्न भाग्य में अन्ध-श्रद्धा रखकर नहीं। मर्दों की तरह वे मुसीबतों का सामना करते हैं, और उनके इस मुसीबत बरदाश्त करने में एक करुण गौरव रहता है।

रूस के समाजवादी प्रयोगों की सफलता-असफलता का मार्क्स के सिद्धान्तों पर कोई ज़ाहिरा असर नहीं पड़ता। यह हो सकता है, हालांकि इसकी अधिक सम्भावना नहीं है, कि प्रतिकूल परिस्थितियों या राष्ट्र-शक्तियों का इकट्ठा हो जाना उन प्रयोगों को तहस-नहस कर डाले। लेकिन उस महान् सामाजिक उथल-पुथल का महत्त्व फिर भी बना ही रहेगा। वहां अधिकतर जो-कुछ भी हुआ, उसके प्रति मेरी स्वाभाविक अरुचि होते हुए भी, मैं यह समझता हूं कि वह संसार के लिए ज़्यादा-से-ज़्यादा आशा का सन्देश देता है। मुझे रूस का पूरा ज्ञान नहीं है, और न मैं अपने-आपको उसके कार्यों का उपयुक्त निर्णायक ही समझता हूं। मुझे अन्देशा तो यह है कि अत्यधिक हिंसा और दमन का वातावरण अपने पीछे कहीं ऐसी भयंकर लीक न छोड़ जाय, जिससे उनका पीछा छुड़ाना मुश्किल हो जाय। लेकिन सबसे बड़ी बात तो रूस के वर्तमान भाग्य-विधाताओं के पक्ष में कही जा सकती है; वह यह है कि वे लोग अपनी भूलों से शिक्षा-ग्रहण करने में नहीं हिचकिचाते। वे अपना क़दम पीछे ले सकते हैं, और फिर नये सिरे से

निर्माण शुरू कर सकते हैं। अपना आदर्श वे हमेशा अपने सामने रखते हैं। कम्यु-निस्ट इण्टरनेशनल—अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवादी संघ—द्वारा दूसरे देशों में चलाई गई उनकी प्रवृत्तियां नितान्त असफल रही हैं, और अब तो वे घटते-घटते लगभग लोप-सी हो गई हैं।

हिन्दुस्तान में साम्यवाद और समाजवाद तो अभी दूर की बात है, बशर्ते कि बाहर की घटनाएं ही उसे क़दम आगे बढ़ाने को विवश न कर दें। हमें अपने यहां कम्युनिज़्म का सामना नहीं करना है, बल्कि उससे बढ़कर सम्प्रदायवाद का करना है। साम्प्रदायिकता की दृष्टि से हिन्दुस्तान एक गहरे अन्धकार में है। पुरुषार्थी लोग निकम्मी बातों, साज़िशों और हथकंडों में यहां अपनी शक्ति बरबाद कर रहे हैं और एक-दूसरे को मात देने की कोशिश कर रहे हैं। उनमें विरले ही ऐसे होंगे जो दुनिया को ऊंचा उठाने और अधिक उज्ज्वल बनाने के प्रयत्न में दिलचस्पी रखते हों। लेकिन शायद यह तो एक अस्थायी हालत है, जो कि शीघ्र ही मिट जायगी।

कम-से-कम कांग्रेस इस साम्प्रदायिक अन्धकार से ज़्यादा दूर ही है, लेकिन उसका दृष्टिकोण निम्न बुर्जुआ-जैसा है; और इसके, तथा दूसरी समस्याओं के लिए जो उपाय वह सोचती है, वे भी निम्न बुर्जुआई ढंग के-से ही हैं। मगर इस ढंग से उसका सफल हो सकना मुमकिन नहीं मालूम होता। वह आज इस निम्न मध्यम-वर्ग की प्रतिनिधि है, क्योंकि इस समय इसीकी आवाज़ बुलन्द है और यही सबसे अधिक क्रान्तिकारी है। लेकिन फिर भी वह इतनी ताक़तवर नहीं है, जितनी कि वह दिखाई देती है। वह दोनों ओर—एक सबल और सुरक्षित और दूसरी अब भी कमज़ोर, लेकिन बढ़ती हुई—दो शक्तियों से दबाई जा रही है। इस समय उसकी हस्ती ख़तरे में है; भविष्य में उसका क्या होगा, यह कह सकना कठिन है। जबतक वह अपने महान् उद्देश्य, राष्ट्र की आज़ादी को हासिल नहीं कर लेती, तबतक वह उन सुरक्षित वर्गों की ओर जा नहीं सकती। लेकिन उसके आज़ादी प्राप्त करने में सफल होने से पहले, मुमकिन है कि, दूसरी शक्तियां ज़ोर पकड़ लें और उसे अपनी ओर खींचें या धीरे-धीरे उसकी जगह ले लें। लेकिन, सम्भव यही मालूम होता है कि जबतक राष्ट्रीय स्वतन्त्रता बहुत-कुछ अंशों में प्राप्त नहीं हो जाती, तबतक कांग्रेस एक मुख्य शक्ति बनी रहेगी।

कोई भी हिंसाजनक प्रवृत्ति अनावश्यक, हानिकर और शक्ति की बरबादी मालूम होती है। मेरा ख़याल है कि असफल और इक्की-दुक्की हिंसा के कुछ

उदाहरणों के होते हुए भी हिन्दुस्तान ने आमतौर पर इस प्रवृत्ति की निरर्थकता को समझ लिया है। वह रास्ता हमें हिंसा और प्रतिहिंसा की निराश भूल-भुलैया में डालने के सिवा, जिससे निकल सकना मुश्किल होगा, और कहीं नहीं ले जा सकता।

हमसे अक्सर यह कहा जाता है कि हमको आपस में मिल जाना चाहिए और सबको 'संयुक्त विरोध' करना चाहिए। श्रीमती सरोजिनी नायडू अपनी सारी काव्यमयी भावुकता के साथ इसका ज़ोरों से प्रचार करती हैं। वह कवयित्री हैं, इसलिए प्रेम और एकता के महत्त्व पर ज़ोर देने का उन्हें अधिकार है। इसमें शक नहीं कि 'संयुक्त विरोध' हमेशा ही वांछनीय वस्तु है, बशर्ते कि वह विरोध हो। इस वाक्य की छानबीन की जाय तो उससे इसी नतीजे पर पहुंचते हैं कि जो कुछ चाहा जाता है, वह है, भिन्न-भिन्न वर्गों के चोटी के व्यक्तियों में पारस्परिक सन्धि या समझौता। ऐसे समझौते का लाज़िमी नतीजा यह होगा कि अत्यन्त शंकाशील और नरम लोग लक्ष्य का निर्णय और पथ-प्रदर्शन करेंगे। जैसाकि सबको पता है, उनमें से कुछ लोग हर तरह के आन्दोलन को नापसन्द करते हैं; इसलिए नतीजा होगा 'संयुक्त स्थिरता' अर्थात् सब हलचलों का रुक जाना। 'संयुक्त विरोध' के बजाय 'संयुक्त पीठ दिखाने' का एक व्यापक प्रदर्शन होगा।

अवश्य ही यह कहना बेवक़ूफ़ी होगी कि हम लोग दूसरों के साथ सहयोग या समझौता नहीं करेंगे। जीवन और राजनीति दोनों ही इतने गूढ़ हैं कि उनका सरलता से समझा जा सकना हमेशा मुश्किल है। लेनिन-जैसे कट्टर आदमी तक ने कहा था कि "बिना समझौता किये या मार्ग से हटे आगे बढ़ना मानसिक छिछोर-पन है, और क्रान्तिकारी कार्य-पद्धति नहीं है।" समझौते लाज़िमी हैं, पर हमें उनके सम्बन्ध में बहुत ज़्यादा परेशान होने की ज़रूरत नहीं है। हम समझौता करें या उससे इन्कार कर दें, यह एक गौण बात है। असली बात तो यह है कि मुख्य वस्तुओं को हमेशा पहला स्थान मिलना चाहिए, और गौण वस्तुएं उनका स्थान कभी न लेने पायें। हम अगर सिद्धान्त और ध्येय पर दृढ़ हैं तो अस्थायी समझौते कुछ नुक़सान नहीं पहुंचा सकते। लेकिन ख़तरा यही है कि कहीं हम अपने कमज़ोर भाइयों की अप्रसन्नता के डर से अपने सिद्धान्तों और ध्येयों से पीछे न हट जायं। अप्रसन्न करने की अपेक्षा गुमराह करना कहीं अधिक हानिकारक है।

मैं सामयिक घटनाओं के सम्बन्ध में सरसरी तौर पर और कुछ हद तक तात्त्विक दृष्टि से लिख रहा हूं और एक दूर बैठे हुए दर्शक की तरह तटस्थ रहने

की कोशिश करता हूं। आम तौर यह खयाल किया जाता है कि काम करने की पुकार होने पर मैं तमाशबीन नहीं बना रह सकता। उलटे मुझ पर यह दोषारोपण किया गया है कि बिना काफ़ी उकसाये गये ही, बिना विचारे, मैं आगे धंस पड़ता हूं। मैं अब क्या करूंगा, और अपने देशबन्धुओं को क्या करने की सलाह दूंगा, यह सब निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। शायद सार्वजनिक कामों में लगे हुए व्यक्ति की स्वाभाविक सतर्क वृत्ति मुझे समय से पहले ही किसी बात से वचन-बद्ध हो जाने से रोक देती है। लेकिन अगर मैं सचाई के साथ कहूं तो सचमुच कुछ नहीं जानता, न जानने की कोशिश ही करता हूं। जब मैं काम कर नहीं सकता तब परेशान क्यों होऊं! कुछ-बहुत हद तक तो ज़रूर ही परेशान होता हूं, लेकिन इसमें निरुपाय हूं। कम-से-कम जबतक मैं जेल में हूं, तबतक तो, मैं तात्कालिक कर्म के सम्बन्ध में निर्णय करने के चक्कर में फसने से बचने की कोशिश करता हूं।

जेल में रहते हुए सब हलचलों से दूर रहना पड़ता है। यहां मनुष्य को घटनाओं के वश होकर रहना पड़ता है, कार्यों का कर्त्ता बनकर नहीं; भविष्य में कोई घटना घटने की चिर प्रतीक्षा में रहना पड़ता है। मैं हिन्दुस्तान और सारी दुनिया की राजनैतिक और सामाजिक समस्याओं पर लिख रहा हूं, लेकिन जेल की अपनी इस छोटी-सी दुनिया को, जोकि एक अरसे से मेरा घर बन गई है, इस सबसे क्या नाता! क़ैदियों की एक ही बात में ख़ास बड़ी दिलचस्पी रहती है, और वह है उनकी अपनी रिहाई की तारीख़।

नैनी-जेल में और यहां अलमोड़ा में भी बहुत-से क़ैदी मेरे पास 'जुगली' के बारे में पूछने को आया करते थे। पहले तो मैं समझ ही नहीं सका कि यह 'जुगली' क्या चीज़ है; लेकिन बाद को मुझे सूझ पड़ा कि वह जुबली है। वे बादशाह जार्ज की सिलवर जुबली मनाई जाने की अफवाहों की ओर निर्देश करते थे, लेकिन उसे समझते न थे। पिछले उदाहरणों के कारण उनके लिए इस शब्द का एक ही अर्थ था—कुछ लोगों को जेल से मुक्ति या सजा में काफ़ी कमी। इसलिए हरेक क़ैदी, और ख़ासकर लम्बी सज़ावाले क़ैदी, आगे आनेवाली 'जुगली' के बारे में बड़े उत्सुक थे। उनके लिए शासन-विधान, पार्लमेंट के क़ानून और समाजवाद और कम्युनिज़म की बनिस्बत यह 'जुगली' कहीं ज्यादा महत्त्व की चीज़ थी।

: ६८ :

उपसंहार

हमें कर्म करने का आदेश है, किन्तु यह हमारे हाथ की बात नहीं कि हम अपने कार्यों को सफल बना सकें । —तालमुद

मैं अपनी कहानी के अन्ततक पहुंच गया हूं । मेरी जीवन-यात्रा का यह अहंतापूर्ण वृत्तान्त जैसा कुछ भी बन पड़ा है, अलमोड़ा ज़िला-जेल में आज दिन—१४ फ़रवरी १९३५—तक का है । तीन महीने पहले, आज के ही दिन, मैंने इस जेल में अपनी पैंतालीसवीं वर्षगांठ मनाई थी, और मैं खयाल करता हूं कि अभी मुझे और भी कई बरस जीना है । कभी-कभी उम्र और थकान का खयाल मनपर छा जाता है; लेकिन मैं फिर अपनेको उत्साह और चैतन्य से भरपूर अनुभव करने लगता हूं । मेरा शरीर काफ़ी गठीला है और मेरे मन में आघातों को झेल सकने की क्षमता है, इसलिए मैं समझता हूं कि मैं अभी काफ़ी अर्से तक ज़िन्दा रहूंगा, बशर्ते कि कोई अघटित घटना न घट जाय । लेकिन इसके पहले कि भविष्य के सम्बन्ध में कुछ लिखा जाय, उसका उपभोग कर लिया जाना ज़रूरी है ।

मेरी ये जीवन-घटनाएं शायद बहुत अधिक रोमांचकारी नहीं हैं, कई बरसों का जेल-निवास शायद साहसिक कार्य नहीं कहा जा सकता । इन घटनाओं में कोई अपूर्वता भी नहीं है; क्योंकि इन बरसों के सुख-दुःखों में हजारों देश-भाइयों और बहनों का हिस्सा है । इसलिए जुदी-जुदी भावनाओं और हर्ष-विषाद, प्रचण्ड हलचलों और बरबस एकान्तवास का यह वर्णन, हम सबका संयुक्त वर्णन है । मैं जन-समूह का ही एक व्यक्ति रहा हूं, उसके साथ काम करता रहा हूं, कभी उसका नेतृत्व करके उसे आगे बढ़ाता रहा हूं, कभी उससे प्रभावित होता रहा हूं; और फिर भी अन्य दूसरे व्यक्तियों की तरह एक-दूसरे से अलग, जन-समूह के बीच में अपना पृथक् जीवन व्यतीत करता रहा हूं । अनेक बार हमने रूपक बांधा है और नाटक किया है, लेकिन हमने जो कुछ किया उसमें बहुत सत्य वस्तु तथा तीव्र निष्ठा रही है; और इसने हमें अपनी क्षुद्र अहंता से ऊंचा उठा दिया, हमें अधिक

बल दिया और इतना महत्त्व दे दिया जो अन्यथा हमें मिल नहीं सकता था। कभी-कभी हमें जीवन की उस पूर्णता को अनुभव करने का सौभाग्य मिला जो आदर्शों को कार्यरूप में परिणत करने से होती है। और हमने समझ लिया कि इससे भिन्न कोई भी दूसरा जीवन, जिसमें इन आदर्शों का परित्याग करके, पशुबल के सामने दीनता ग्रहण करनी होती, व्यर्थ, सन्तोषहीन तथा अन्तर्वेदना से भरा होता।

इन वर्षों में मुझे बहुत-से लाभों के साथ-साथ एक अनमोल लाभ यह भी हुआ है कि मैं जीवन को अधिकाधिक रसमय महत्त्व का एक प्रयोग समझने लगा हूं। इसमें बहुत-कुछ सीखने को मिलता है, बहुत-कुछ करने को रहता है। क्रमोन्नति की भावना मुझमें हमेशा रही है, और अब भी मुझमें है। इससे मुझे अपनी विविध प्रवृत्तियों में पुस्तकों के पठन-पाठन में रस मिलता है और जीवन जीने योग्य बनता है।

अपनी इस कहानी में मैंने हरेक घटना के समय अपने मनोभावों और विचारों का चित्र खींचने का, यथा-सम्भव उस क्षण की अपनी अनुभूतियों को व्यक्त करने का प्रयत्न किया है। भूतकाल की मनोदशा स्मृति से जागृत करना कठिन है, और बाद में होनेवाली घटनाओं को भुलाना सरल नहीं है। इस तरह मेरे आरम्भिक दिनों के वर्णन पर पिछले विचारों का प्रभाव ज़रूर पड़ा होगा; लेकिन मेरा उद्देश्य, ख़ासकर अपने ही लाभ के लिए अपने मानसिक विकास को अंकित करना था। मैंने जो-कुछ लिखा है वह, मैं कभी कैसा था, इस बात का शायद इतना वर्णन नहीं है, जितना इस बात का कि कभी-कभी मैं कैसा होना चाहता था, या कैसा होने की कल्पना करता था।

कुछ महीनों पहले सर सी० पी० रामस्वामी ऐयर ने मेरे विषय में एक सार्वजनिक भाषण में कहा था कि मैं जनता की मनोदशाओं का प्रतिनिधि नहीं हूं, पर बहुत ख़तरनाक व्यक्ति हूं; कारण, मैंने भारी त्याग किये हैं, मैं आदर्शवादी हूं, मुझमें दृढ़ आत्मविश्वास है। इस प्रकार, उनके विचारानुसार मुझमें 'आत्म-सम्मोहन' हो गया है। 'आत्म-सम्मोहन' से ग्रस्त व्यक्ति शायद ही अपने सम्बन्ध में निर्णय कर सकता है, और किसी भी हालत में मैं इस व्यक्तिगत मामले में सर रामस्वामी के साथ बहस-मुबाहिसे में न पड़ना चाहूंगा। बहुत बरसों से हम एक-दूसरे से मिले नहीं हैं; लेकिन एक समय था जबकि हम दोनों होमरूल लीग के संयुक्त मन्त्री थे। उसके बाद तो बहुत घटनाएं घट चुकी हैं और रामस्वामी चक्कर-

दार ज़ीनों को पार करते हुए गगनचुम्बी मीनार पर चढ़ते-चढ़ते चोटी तक जा पहुंचे, जबकि मैं पृथ्वी पर ही, पार्थिव प्राणी बना हुआ हूं। सिवा इसके कि हम दोनों एक राष्ट्रवासी हैं, अब उनमें और मुझमें कोई समानता नहीं रही है। वह अब, पिछले कुछ बरसों से भारत में ब्रिटिश राज्य के ज़बरदस्त हामी हैं, भारत और उससे बाहर दूसरी जगह डिक्टेटरशिप के समर्थक है और ख़ुद भी एक स्वेच्छाचारी देशी रियासत के उज्ज्वल रत्न बने हुए हैं। मैं समझता हूं, हम अधिकांश बातों में मतभेद रखते हैं, लेकिन एक साधारण-से मामले में हम सहमत हो सकते हैं। उनका यह कहना बिलकुल सच है कि मैं जनता का प्रतिनिधि नहीं हूं। इस विषय में मुझे कोई भ्रम नहीं है।

निस्सन्देह, कभी-कभी मैं यह सोचने लगता हूं कि दरअसल क्या मैं किसीका भी प्रतिनिधि हो सकता हूं, और मैं इसी नतीजे पर पहुंचता हूं कि नहीं, मैं नहीं हो सकता। यह बात दूसरी है कि बहुत-से लोग मेरे प्रति कृपा और मैत्रीपूर्ण भाव रखते हैं। मैं पूर्व और पश्चिम का एक अजीब-सा सम्मिश्रण बन गया हूं, हर जगह बे-मौज़ूं, कहीं भी अपनेको अपने घर में होने-जैसा अनुभव नहीं करता। शायद मेरे विचार और मेरी जीवन-दृष्टि पूर्वी की अपेक्षा पश्चिमी अधिक है; लेकिन भारतमाता अनेक रूपों में अपने अन्य बालकों की भांति, मेरे हृदय में भी विराजमान है; और अन्तर के किसी अनजान कोने में, कोई सौ (या संख्या कुछ भी हो) पीढ़ियों के ब्राह्मणत्व के संस्कार छिपे हुए है। मैं अपने पिछले संस्कार और नूतन अभिज्ञान से मुक्त हो नहीं सकता। ये दोनों मेरे अंग हो गये हैं, और जहां वे मुझे पूर्व और पश्चिम दोनों से मिलने में सहायता करते है, वहां साथ ही न केवल सार्वजनिक जीवन में, वल्कि समग्र जीवन में एक मानसिक एकाकीपन का भाव पैदा करते है। पश्चिम में मैं विदेशी हूं—अजनबी हूं। मै उसका हो नहीं सकता। लेकिन अपने देश में भी मुझे कभी-कभी ऐसा लगता है मानो मैं देश-निर्वासित हूं।

सुदूरवर्ती पर्वत सुगम्य और उसपर चढ़ना सरल मालूम होता है; उसका शिखर आवाहन करता दिखाई देता है; लेकिन ज्यों-ज्यों हम उसके नज़दीक पहुंचते हैं, कठिनाइयां दिखाई देने लगती है; जैसे-जैसे ऊंचे चढ़ते जाते हैं, चढ़ाई अधिकाधिक मालूम होने लगती है और शिखर बादलों में छिपता दिखाई पड़ने लगता है। फिर भी चढ़ाई के प्रयत्न का एक अनोखा मूल्य रहता है और उसमें

एक विचित्र आनन्द और एक विचित्र सन्तोष मिलता है। शायद जीवन का मूल्य पुरुषार्थ में है, फल में नहीं। अक्सर यह जानना मुश्किल होता है कि सही रास्ता कौन-सा है। कभी-कभी यह जानना ज़्यादा आसान होता है कि कौन-सा रास्ता सही नहीं है, और उससे बचे रहना भी श्रेयस्कर होता है। अत्यन्त नम्रता के साथ मैं सुकरात के अन्तिम शब्दों का उल्लेख करना पसन्द करूंगा। उसने कहा था—"मैं नहीं जानता कि मृत्यु क्या चीज़ है—वह कोई अच्छी चीज़ हो सकती है, और मुझे उसका कोई भय नहीं है। लेकिन मैं यह जानता हूं कि मनुष्य का अपने भूतकर्मों से भागना बुरा है; इसलिए जिसके बारे में मैं जानता हूं कि वह ख़राब है उसकी अपेक्षा जो अच्छा हो सकता है वह काम करना मैं पसन्द करता हूं।"

बरसों मैंने जेल में बिता दिये! अकेले बैठे हुए, अपने विचारों में डूबे हुए, कितनी ऋतुओं को मैंने एक-दूसरे के पीछे आते-जाते और अन्त में विस्मृति के गर्भ में लीन होते देखा है! कितने चन्द्रमाओं को मैंने पूर्ण विकसित और क्षीण होते देखा है और कितने झिल-मिल करते तारामण्डल को अबाध, अनवरत गति और भव्यता के साथ घूमते देखा है! मेरे यौवन के कितने बीते दिवसों की यहां चिता-भस्म बनी हुई है, और कभी-कभी मैं इन बीते दिवसों की प्रेतात्माओं को उठते हुए, दुःखद स्मृतियों को जगाते हुए, कान के पास आकर यह कहते हुए सुनता हूं "क्या उसमें कुछ भलाई थी?" और इसका जवाब देने में मेरे मन में कोई शंका नहीं है। अगर अपने मौजूदा ज्ञान और अनुभव के साथ मुझे अपने जीवन को फिर से दुहराने का मौक़ा मिले, तो इसमें शक नहीं कि मैं अपने व्यक्तिगत जीवन में अनेक फेरफार करने की कोशिश करूंगा; जो-कुछ मैं पहले कर चुका हूं, उसको कई तरह से सुधारने का प्रयत्न करूंगा, लेकिन सार्वजनिक विषयों में मेरे प्रमुख निर्णय ज्यों-के-त्यों बने रहेंगे। निस्सन्देह, मैं उन्हें बदल नहीं सकता; क्योंकि वे मेरी अपेक्षा कहीं अधिक बलवान हैं और मेरे ऊपर रहनेवाली एक शक्ति ने मुझे उनकी ओर धकेला था।

मेरी सज़ा को आज पूरा एक बरस हो गया; सज़ा के दो बरसों में से एक बरस बीत गया है। दूसरा पूरा एक बरस अभी बाक़ी है, क्योंकि इस बार रिआयती दिन नहीं कटेंगे, सादी सज़ा में इस तरह दिन नहीं कटते। इतना ही नहीं, पिछली अगस्त में जो ग्यारह दिन मैं बाहर रहा था, वे भी मेरी सज़ा की अवधि

में बढ़ा दिये गए हैं। लेकिन यह साल भी बीत जायगा और मैं जेल से बाहर हो जाऊंगा—मगर इसके बाद ? मैं नहीं जानता; लेकिन मन में ऐसा भाव उठता है कि मेरे जीवन का एक अध्याय समाप्त हो गया है, और दूसरा आरम्भ होगा। वह क्या होगा, इसका मैं स्पष्ट अनुमान नहीं कर सकता। मेरी जीवन-कथा के—'मेरी कहानी' के, ये पन्ने अब समाप्त होते हैं।

●

कुछ और

बेडनवालर, स्वार्ट्स्वाल्ड

२५ अक्तूबर, १९३५

पिछले मई महीने से मेरी पत्नी भुवाली से यूरोप इलाज कराने के लिए गई है। उसके यूरोप चले जाने से मेरा मुलाक़ात करने के लिए भुवाली जाना बन्द हो गया; पहाड़ी सड़कों पर मेरा हर पखवाड़े मोटर पर यात्रा करना बन्द हो गया। अब अलमोड़ा-जेल मेरे लिए पहले से भी ज्यादा सुनसान हो गया।

क्वेटा के भूकम्प की ख़बर मिली, जिसने कुछ समय के लिए दूसरी सब बातें भुला दीं। लेकिन अधिक समय के लिए नही, क्योंकि भारत सरकार अपनेको या अपने विचित्र तरीक़ों को, हमें भूलने नहीं देती। फ़ौरन ही मालूम हुआ कि कांग्रेस के सभापति बाबू राजेन्द्रप्रसाद को, जोकि भूकम्प-सहायता का काम हिन्दुस्तान के प्रायः किसी भी अन्य मनुष्य से अधिक जानते हैं, क्वेटा जाने और वहां के पीड़ितों की सहायता करने की इजाज़त नहीं दी गई। न गांधीजी या अन्य किसी प्रसिद्ध सार्वजनिक कार्यकर्ता को ही वहां जाने दिया गया है। क्वेटा-भूकम्प के बारे में लेख लिखने के कारण कई भारतीय समाचारपत्रों की जमानतें जब्त कर ली गई हैं।

जिधर देखिए उधर—सब ओर फ़ौज़ी मनोवृत्ति, पुलिस-दृष्टिकोण, दिखाई देता था—असेम्बली में, सिविल शासन में, सीमान्त पर बम बरसाये जाने में, सबमें, इसीका बोलबाला था। ज्यादातर ऐसा मालूम होता था, मानो हिन्दुस्तान में अंग्रेज़ी सरकार हिन्दुस्तानी जनता के एक बड़े समुदाय से निरन्तर लड़ाई लड़ रही है।

पुलिस, एक काम की और आवश्यक शक्ति है; लेकिन वह दुनिया, जो पुलिस के सिपाहियों और उनके डण्डों से भरी हो, शायद रहने के लिए ठीक जगह न होगी। अक्सर यह कहा गया है कि शक्ति का अनियन्त्रित प्रयोग प्रयोगकर्त्ता को

गिरा देता है, और साथ ही जिसके विरुद्ध इसका प्रयोग किया जाता है उसको भी अपमानित तथा पतित कर देता है। इस समय हिन्दुस्तान में ऊंची नौकरियों में, ख़ासकर भारतीय सिविल-सर्विस में, अधिकारियों के दिन-पर-दिन बढ़ते जानेवाले नैतिक और बौद्धिक पतन के सिवा शायद ही कोई मार्के की बात दिखाई देती हो। ख़ासतौर पर ऊंचे अफ़सरों में सबसे अधिक पतन दिखाई देता है, लेकिन आमतौर पर सभी नौकरियों में यह फैला हुआ है। जब कभी किसी ऊंचे पद पर नये आदमी की नियुक्ति का समय आता है, तब निश्चित रूप से वही आदमी पसन्द किया जाता है, जो इस नई (अधम) मनोवृत्ति का सबसे अच्छा परिचायक होता है।

गत ४ सितम्बर को एकाएक मैं अलमोड़ा-जेल से छोड़ दिया गया, क्योंकि यह समाचार मिला था कि मेरी पत्नी की हालत नाजुक हो गई है। स्वार्ट्स्वाल्ड (जर्मनी) के बेडनवालर स्थान पर उसका इलाज हो रहा था। मुझसे कहा गया कि मेरी सज़ा मुल्तवी कर दी गई है, और मै अपनी रिहाई के साढ़े पांच महीने पहले छोड़ दिया गया। मैं फ़ौरन हवाई जहाज़ से यूरोप को रवाना हुआ।

यूरोप इस समय हर तरह से अशान्त है, युद्ध और उपद्रवों की आशंकाएं और आर्थिक संकट के बादल क्षितिज पर हमेशा मंडराते रहते हैं; अबीसीनिया पर धावे हो रहे हैं और वहां की जनता पर बम-वर्षा की जा रही है। अनेक साम्राज्य-वादी सत्ताएं आपस में झगड़ रही है और एक-दूसरे के लिए खतरनाक़ बनी हुई हैं, और अपने अधीन जनता पर निर्दय अत्याचार करनेवाला, उसपर बम बरसाने-वाला इंग्लैंड, साम्राज्यवादी सत्ताओं का सिरमौर इंग्लैंड, शान्ति और राष्ट्र-संघ की दुहाइयां दे रहा है। लेकिन यहां इस 'ब्लैक फ़ारेस्ट' में शान्ति और निस्तब्धता का राज्य है, यहां तक कि जर्मनी का प्रसिद्ध चिह्न 'स्वस्तिक' भी नज़र नहीं आता। मैं देख रहा हूं कि उपत्यका से कोहरा उठकर फ्रांस की सुदूर सीमा को ढंक रहा है और दृश्य पर परदा डाल रहा है; और मैं हैरत में हूं कि उस पार क्या है!

: ६९ :

पांच साल के बाद्

आज से साढ़े पांच बरस पहले अलमोड़े के ज़िला-जेल की अपनी कोठरी में बैठे-बैठे मैंने 'मेरी कहानी' की आखिरी सतरें लिखी थीं। उसके आठ महीने बाद जर्मनी के बेडनवालर स्थान पर उसमें कुछ हिस्सा और जोड़ा था। इंग्लैंड से (अंग्रेज़ी में) छपी मेरी इस कहानी का देश-विदेश के सब तरह के लोगों ने स्वागत किया और मुझे इस बात से ख़ुशी हुई कि जो कुछ मैंने लिखा उसकी वजह से हिन्दुस्तान विदेश के कई दोस्तों के नज़दीक आगया और कुछ हद तक वे लोग आज़ादी की हमारी लड़ाई के अन्दरूनी महत्त्व को समझ पाये।

मैंने कहानी बाहर होनेवाली हलचलों से दूर बैठकर जेल में लिखी थी। जेल में तरह-तरह की तरंगें मन में उठा करती थीं, जैसा हरेक क़ैदी के साथ हुआ करता है; लेकिन धीरे-धीरे मुझमें आत्म-निरीक्षण की एक लहर आ गई जिससे कुछ मानसिक शान्ति भी मिली। पर अब उस लहर को कहां ले जाऊं! उस वर्णन से ठीक मेल कैसे बैठाऊं! अपनी किताब को फिर से देखता हूं तो ऐसा लगता है कि जैसे किसी और शख़्स ने बहुत पुराने ज़माने की कहानी लिखी हो। पिछले पांच साल में दुनिया बदल गई है और मुझपर एक छाप छोड़ गई है। शरीर से मैं बेशक पांच साल बूढ़ा हो गया हूं, लेकिन अनेक आघात और प्रभाव, जो मन पर पड़े हैं, इससे वह कठोर हो गया है या शायद परिपक्व हो गया है। स्वीज़रलैण्ड में कमला का देहान्त हो जाने से मेरी जीवन-कथा का एक अध्याय पूरा हो गया, और मेरे जीवन से बहुत-सी ऐसी बातें चली गई हैं, जो मेरे अस्तित्व का अंश हो गई थीं। मुझे यह समझ लेना मुश्किल हो गया कि वह अब नहीं है और मैं आसानी से परिस्थिति के अनुकूल अपनेको नहीं बना सका। मैं अपने काम में जुट पड़ा, इसमें कुछ सान्त्वना पाने की कोशिश करने लगा और देश के एक सिरे से दूसरे सिरे तक भाग-दौड़ करता रहा। मेरा जीवन क्रम से भारी भीड़, बहुत कामकाज और अकेलेपन का एक अनोखा सम्मिश्रण
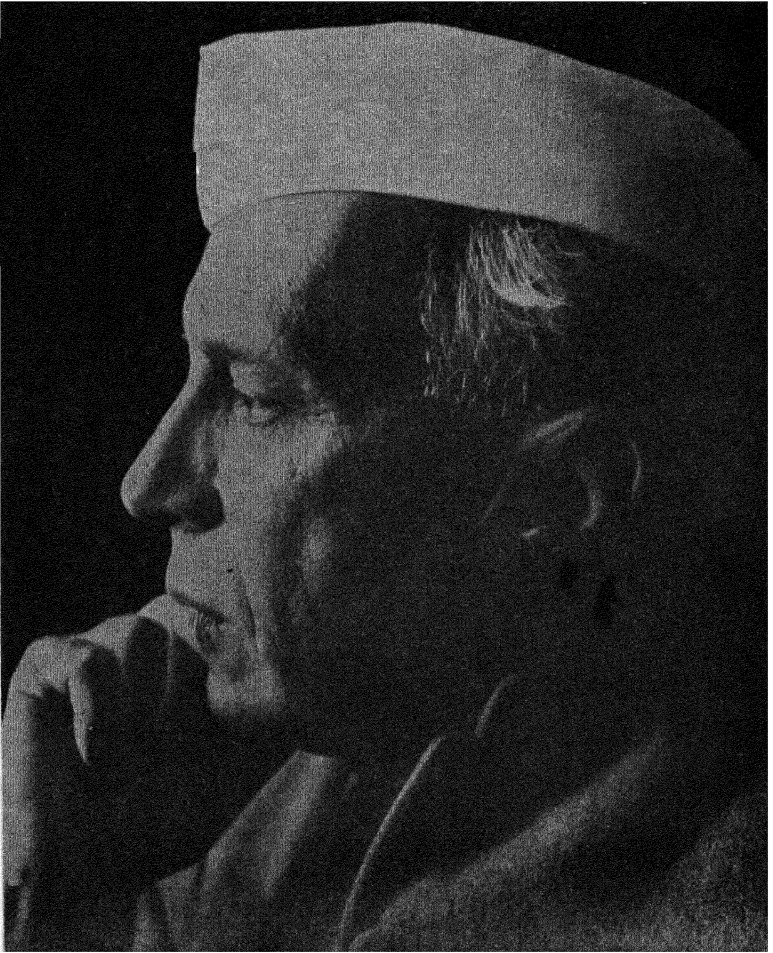
जवाहरलाल नेहरू

हो गया। इसके बाद माता के देहावसान से भूतकाल से मेरे सम्बन्ध की आखिरी कड़ी भी टूट गई। बेटी मेरी दूर आक्सफ़ोर्ड में पढ़ रही थी और बाद में विदेश के ही एक सेनिटोरियम में इलाज कराती रही। मैं जब घूम-घामकर घर लौटता तो बड़े बे-मन से और अकेला अपने सूने घर में बैठा रहता; कोशिश करता कि किसीसे मिलूं-जुलूं भी नहीं। भीड़-भड़क्के के बाद मैं शान्ति चाहता था।

लेकिन मुझे अपने काम में और मन में शान्ति न मिली और कन्धे पर जो ज़िम्मेदारियां थीं, उनसे मैं बुरी तरह दबा जा रहा था। मैं विविध पार्टियों और दलों से मेल नहीं बैठा सका—यहां तक कि अपने घनिष्ठ साथियों से भी नहीं। जैसा चाहता था वैसा ख़ुद तो मैं काम कर ही नहीं पाता था और दूसरों को भी जैसा वे चाहते वैसा काम करने से रोकता था। एक तरह की मायूसी और पस्त-हिम्मती की भावना ज़ोर पकड़ती गई और मैं सार्वजनिक जीवन में अकेला पड़ गया, हालांकि बड़ी-बड़ी भीड़ मेरे भाषण सुनती थी और मेरे चारों ओर जोश छाया रहता था।

यूरोप और सुदूर-पूर्व के घटना-चक्र का जितना मुझ पर असर पड़ा है उतना और किसी पर नहीं। म्यूनिक का धक्का बर्दाश्त करना कठिन था और स्पेन का दुःखदायी अन्त तो मेरे लिए निजी दुःख की बात थी। ज्यों-ज्यों ख़ौफ़ के ये दिन एक के बाद एक आते गये, त्यों-त्यों सिर पर मंडरानेवाले संकट का ख़याल मुझे बेचैन करता गया और मेरा यह विश्वास कि दुनिया का भविष्य उज्ज्वल है, धुंधला पड़ चला।

और वह संकट अब आ धमका है। यूरोप के ज्वालामुखी आग और सर्वनाश उगल रहे हैं और यहां हिन्दुस्तान में मैं एक दूसरे ज्वालामुखी के किनारे बैठा हुआ हूं, जो न जाने कब फट पड़े। वर्तमान समस्याओं से अपने-आपको अलग हटा लेना, पर्यवेक्षण की वृत्ति पैदा करना, इन बीते पांच बरसों का सिंहावलोकन करना और उनके बारे में शान्ति से कुछ लिखना मुश्किल हो गया है। और अगर मैं ऐसा कर भी सकूं तो मुझे दूसरी बड़ी किताब लिखनी पड़े; क्योंकि कहने को बहुत-कुछ है। इसलिए मैं उन्हीं घटनाओं और वाक़यात की चर्चा करने की भरसक कोशिश करूंगा, जिनमें मैंने हिस्सा लिया है या जिनका मुझपर असर पड़ा है।

लोज़ान में २८ फ़रवरी १९३६ को जब मेरी पत्नी की मृत्यु हुई, तब मैं उसके पास ही था। थोड़े दिन पहले ही मुझे ख़बर मिली थी कि मैं दूसरी बार कांग्रेस का सभापति चुना गया हूं। मैं फ़ौरन ही हवाई जहाज़ से हिन्दुस्तान लौटा।

रास्ते में, रोम में, एक मज़ेदार अनुभव हुआ। चलने से कुछ दिनों पहले मुझे एक सन्देश मिला था कि जब मैं रोम होकर गुज़रूं तो उस वक्त सिन्योर मुसोलिनी मुझसे मिलना चाहते हैं। फ़ासिस्ट शासन का घोर विरोधी होते हुए भी मामूली तौर पर सिन्योर मुसोलिनी से मिलना मैं पसन्द करता और ख़ुद पता लगाता कि वह शख़्स कैसा है, जो दुनिया के घटनाचक्र में महत्त्वपूर्ण हिस्सा ले रहा है; लेकिन उस वक्त मैं कोई मुलाक़ात करना नहीं चाहता था। सबसे बढ़कर मेरे रास्ते में जो रुकावट आई वह यह थी कि अबीसीनिया पर हमला जारी था और मुझे डर था कि ऐसी मुलाकात का फ़ासिस्टों की ओर से प्रोपेगण्डा करने में अवश्य ही दुरुपयोग किया जायगा।

पर मेरे इन्कार करने से क्या होता था! मुझे याद था कि गांधीजी जब १९३१ में रोम होकर गुज़रे थे तब उनकी एक मुलाक़ात की झूठी ख़बर 'जर्नेल डि इटैलिया' में छापी गई थी। मुझे दूसरी कई मिसालें भी याद आईं जिनमें हिन्दुस्तानियों के इटली में जाने के कारण उनकी मर्ज़ी के खिलाफ़ फ़ासिस्टों ने बड़ा प्रचार किया था। मुझे यक़ीन दिलाया गया कि इस क़िस्म की कोई बात मेरे बारे में नहीं होगी और मुलाक़ात क़तई खानगी होगी। तो भी मैंने यही तय किया कि मैं मुलाक़ात से बचूं और सिन्योर मुसोलिनी तक अपनी लाचारी पहुंचा दी।

मगर, रोम होकर जाना तो मुझे पड़ा ही; क्योंकि हालैण्ड के के० एल० एम० कम्पनी का हवाई जहाज़, जिसपर मैं सवार था, वहां रात-भर रुका था। ज्योंही मैं रोम पहुंचा, एक बड़े अफ़सर मेरे पास आये और मुझे शाम को सिन्योर मुसोलिनी से भेंट करने का निमन्त्रण दिया। उन्होंने कहा कि सब कुछ तय हो चुका है। मुझे अचम्भा हुआ। मैंने कहा कि मैं तो पहले ही माफ़ी मांगने के लिए कहला चुका हूं। घण्टे-भर तक बहस चलती रही, यहांतक कि मुलाक़ात का वक्त भी आ पहुंचा। अन्त में बात मेरी ही रही। कोई मुलाक़ात नहीं हुई।

हिन्दुस्तान लौटकर मैं अपने काम में व्यस्त हो गया। लौटने के थोड़े दिनों बाद ही मुझे कांग्रेस के अधिवेशन का सभापति बनना पड़ा। उन चन्द सालों में जब मैं लगभग जेल में रहा, परिस्थितियों से मेरा सम्बन्ध छूट-सा गया था। मुझे कांग्रेस के अन्दर कई तब्दीलियां मालूम पड़ीं, और नई रूपरेखाएं और दलबन्दी की ज़ोरदार भावनाएं देखने में आईं। उसके भीतर सन्देह, कटुता और संघर्ष

का वातावरण था। मैंने इसपर ज़्यादा ध्यान नहीं दिया और मुझे विश्वास मुझे था कि मैं उस स्थिति का मुक़ाबला कर सकूंगा। कुछ अर्से तक ऐसा लगा कि मैं कांग्रेस को अपनी मनोवांछित दिशा में लिये जा रहा हूं; मगर जल्दी ही मुझे पता लग गया कि संघर्ष गहरा है और हमारे दिलों में एक-दूसरे के प्रति जो सन्देह और कटुता पैदा हो गई थी, उसे मिटा देना इतना आसान नहीं है। मैंने गम्भीर होकर निश्चय कर लिया कि राष्ट्रपति-पद से इस्तीफा दे दूंगा; लेकिन, यह समझकर कि इससे तो मामला और बिगड़ेगा, मैंने ऐसा नहीं किया।

लेकिन रह-रहकर अगले कुछ महीनों में मैंने इस इस्तीफ़े के सवाल पर सोचा-विचारा। कार्य-समिति के अपने साथियों के साथ ही मुझे सरलतापूर्वक काम करते रहना मुश्किल मालूम पड़ा और मुझे यह साफ़ हो गया कि वे लोग मेरी हरकतों को आशंका की दृष्टि से देखते हैं। मेरी किसी ख़ास कार्रवाई से वे नाराज़ हों, ऐसी बात नहीं थी; बल्कि बात यह थी कि वे मेरी सामान्य गति और दिशा को ही नापसन्द करते थे। चूंकि मेरा दृष्टिकोण मुख़्तलिफ़ था, इसलिए उनके पास इसका वाजिब सबब था भी। कांग्रेस के फ़ैसलों पर मैं बिलकुल अटल था, लेकिन मैं उसके कुछ पहलुओं पर ज़ोर देता था, जबकि मेरे साथी दूसरे पहलुओं पर। आख़िरकार मैंने इस्तीफ़ा देना ही तय किया और अपने इरादे की ख़बर गांधीजी को भेजी। उनको जो ख़त लिखा था उसमें मैंने लिखा कि "यूरोप से लौटकर आने के बाद मैंने देखा है कि कार्य-समिति की बैठकों से मैं बहुत थक जाता हूं; उनका असर यह होता है कि मेरी ताक़त कम हो जाती है और हरेक नई घटना के बाद मुझे क़रीब-क़रीब यह ख़याल होने लगता है कि मैं बहुत बूढ़ा हो चला हूं। कोई ताज्जुब नहीं कि कार्य-समिति के मेरे दूसरे सहयोगियों को भी यही महसूस होता हो। यह तजरबा अस्वास्थ्यकर है और इससे कारगर काम होने में अड़चनें आती हैं।"

इसके थोड़े ही दिनों बाद दूर देश की एक घटना ने, जिसका हिन्दुस्तान से कोई ताल्लुक़ नहीं था, मुझपर बहुत ज़्यादा असर डाला और उसने मेरा इरादा बदलवा दिया। यह घटना थी जनरल फ्रेंको के स्पेन में विद्रोह करने की ख़बर। मैंने देखा कि यह विद्रोह, जिसके पीठ पीछे जर्मनी और इटली की मदद काम कर रही थी, एक यूरोपीय या विश्वव्यापी संघर्ष बनता जा रहा है। लाज़िमी था कि हिन्दुस्तान को भी उसमें पड़ना पड़ता और ऐसे मौक़े पर, जबकि सबका साथ-

साथ चलना ज़रूरी था, मैं इस्तीफ़ा देकर अपनी संस्था को कमज़ोर बनाना और अन्दरूनी संकट पैदा करना नहीं चाहता था। मैंने परिस्थिति का जो विश्लेषण किया था, वह ग़लत न था; हालांकि वह अभी केवल अनुमान ही था और मेरा मन एकदम जिन नतीजों पर पहुंच गया था उन्हें घटित होने में कुछ साल लगे।

स्पेन के युद्ध की मुझपर जो प्रतिक्रिया हुई, उससे पता चलता है कि मेरे मन में किस प्रकार हिन्दुस्तान का सवाल दुनिया के दूसरे सवालों से जुड़ा हुआ था। मैं अधिकाधिक सोचने लगा कि चीन, अबीसीनिया, स्पेन, मध्य यूरोप, हिन्दुस्तान, या अन्य स्थानों की सारी राजनीतिक और आर्थिक समस्याएं एक ही विश्व-समस्या के विविध रूप हैं। जबतक मूल समस्या हल नहीं कर ली जाती, तबतक इनमें से कोई एक समस्या अन्तिम रूप से नहीं सुलझ सकती। सम्भावना इस बात की थी कि मूल समस्या सुलझने से पहले ही कोई क्रान्ति या कोई आफ़त आयेगी। जिस तरह कहा जाता था कि आज की दुनिया में शांति अविभाज्य है, उसी प्रकार स्वाधीनता भी अविभाज्य है। दुनिया बहुत दिनों, 'कुछ आज़ाद, कुछ ग़ुलाम' नहीं रह सकती। फ़ासिज़्म और नाज़ीवाद की यह चुनौती मूलतः साम्राज्यवाद की ही चुनौती थी। ये दोनों जुड़वां भाई थे—फ़र्क़ सिर्फ़ इतना ही था कि साम्राज्य का विदेशों में उपनिवेशों और अधिकृत देशों में जैसा नंगा नाच देखने में आता था, वैसा ही नाच फ़ासिज़्म व नाज़ीवाद का निज के देशों में दिखाई पड़ता था। अगर दुनिया में आज़ादी क़ायम होनी है, तो न सिर्फ़ फ़ासिज़्म और नाज़ीवाद ही को मिटाना होगा बल्कि साम्राज्यवाद का भी बिलकुल नामोनिशान मिटा देना होगा।

विदेश की घटनाओं की यह प्रतिक्रिया मुझ तक ही सीमित नहीं थी। कुछ हद तक हिन्दुस्तान के बहुतेरे लोग ऐसा ही ख़याल करने लगे और जनता को भी इसमें दिलचस्पी पैदा हो गई। कांग्रेस ने हर जगह चीन, अबीसीनिया, फ़िलस्तीन और स्पेन के लोगों से सहानुभूति प्रकट करने के लिए हज़ारों सभाएं और प्रदर्शन किये, जिससे जनता की यह दिलचस्पी क़ायम रही। चीन और स्पेन को दवा-दारू और रसद की शकल में कुछ मदद पहुंचाने की भी कोशिशें की गईं। अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में इस प्रकार दिलचस्पी बढ़ने से हमारा अपना राष्ट्रीय संघर्ष ऊंची सतह पर पहुंच गया और राष्ट्रीयता की भावना के पीछे सामान्य-रूप से रहनेवाली संकीर्णता थोड़ी-बहुत कम हो गई।

लेकिन, लाज़िमी तौर पर, इन विदेशी मामलों का यहां के औसत आदमियों की ज़िन्दगी पर कोई असर नहीं हुआ जो अपनी मुसीबत में फंसे हुए थे। किसानों की तकलीफ़ें दिन-ब-दिन बढ़ती जा रही थीं। भयंकर ग़रीबी और दूसरे कई तरह के बोझ उन्हें कुचल रहे थे। आखिरकार किसानों की समस्या हिन्दुस्तान की समस्या का एक बड़ा हिस्सा थी और कांग्रेस ने क्रमशः किसानों के सम्बन्ध में एक कार्यक्रम बना लिया था। यह कार्यक्रम अत्यन्त व्यापक था, फिर भी उसमें मौजूदा ढांचा मंज़ूर कर लिया गया था। कारखाने के मज़दूरों की हालत भी कोई बेहतर नहीं थी और हड़तालें हुआ करती थीं। राजनैतिक विचारोंवाले लोग ब्रिटिश पार्लमेंट द्वारा हिन्दुस्तान पर थोपे गए नये शासन-विधान की चर्चा करते थे। इस विधान में यद्यपि कुछ ताक़त प्रान्तों को दे दी गई थी, लेकिन असली ताक़त तो ब्रिटिश सरकार और उनके प्रतिनिधियों के ही हाथ में रक्खी गई थी। केन्द्रीय शासन के लिए एक संघ प्रस्तावित किया गया था, जिसमें सामन्ती और निरंकुश रियासतों के साथ अर्ध-जनतन्त्रात्मक प्रान्तों को गठबंधन करना पड़ता और इससे ब्रिटिश साम्राज्य का ढांचा यथा-रीति क़ायम रहता। यह एक वाहियात प्रस्ताव था, जो कभी नहीं चल सकता था, और जिसमें अंग्रेजों के स्थापित स्वार्थों की हर सम्भव तरीक़े से हिफ़ाज़त की गई थी। कांग्रेस ने इस विधान को हिक़ारत के साथ ठुकराया और सचाई तो यह थी कि हिन्दुस्तान में शायद ही कोई ऐसा हो जो इसे अच्छा समझता हो।

पहले तो इसका प्रान्तीय रूप अमल में लाया गया। हम इस विधान को नामंज़ूर कर चुके थे, तो भी हमने तय किया कि चुनाव लड़े जायं; क्योंकि इससे कम-से-कम लाखों-करोड़ों वोटरों से ही नहीं, दूसरे लोगों से भी हम सम्पर्क में तो आयंगे ही। यह आम चुनाव मेरे लिए तो एक स्मरणीय प्रसंग है। मैं खुद तो कोई उम्मीदवार नहीं था; मगर कांग्रेस के उम्मीदवारों की तरफ़ से मैंने हिन्दुस्तान-भर का दौरा किया, और मेरा ख़याल है कि चुनाव-आन्दोलन में मैंने एक उल्लेखनीय काम किया। चार महीने के अन्दर-अन्दर मैंने तक़रीबन ५० हज़ार मील का सफ़र किया और इसमें हर तरह की सवारी से काम लिया और अक्सर ऐसे-ऐसे कोने में पड़े हुए देहाती इलाकों तक में गया जहां जाने का कोई ठीक-ठीक ज़रिया नहीं था। मैंने यह सफ़र हवाई जहाज़ में, रेल में, मोटरकार में, मोटरलारी में, तरह-तरह की घोड़ागाड़ियों में, बैलगाड़ियों में, साइकिल पर, हाथी पर

ऊंट पर, घोड़े पर, स्टीमर पर, पैंडलबोट पर, डोंगी में और पैदल चलकर किया।

अपने साथ मैं लाउड-स्पीकर रखता था। दिन-भर में कोई एक दर्जन सभाओं में बोलना पड़ता था; सड़कों पर जो भीड़ इकट्ठी हो जाती थी और उससे कुछ कहना पड़ता सो अलग। कभी-कभी तो एक लाख के क़रीब भीड़ होती थी, पर आमतौर पर प्रत्येक सभा में २० हज़ार सुननेवाले तो रहते ही थे। दिन-भर की सभाओं में आनेवाले लोगों का जोड़ एक लाख तो अक्सर हो जाता था, कभी-कभी इससे भी बढ़ जाता था। मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि जितनी सभाओं में मैं बोला उनमें एक करोड़ लोग तो आये ही होंगे और शायद कई लाख और मेरे इस तरह से सफ़र करने में मेरे सम्पर्क में आये होंगे।

हिन्दुस्तान की उत्तरी सीमा से लेकर दक्षिण में समुद्र-तट तक मैं एक जगह से दूसरी जगह दौड़ता फिरा। बीच-बीच में मुश्किल से कुछ आराम मिला होगा। चुनाव के जोश और जनता के असीम उत्साह ने मुझे सब जगह बल दिया। मेरे शरीर ने इतना अधिक असाधारण श्रम बरदाश्त कर लिया, इस ख़याल से मुझे अचम्भा हुआ। इस चुनाव-आन्दोलन में हमारे पक्ष में बहुत बड़ी तादाद में लोगों ने हिस्सा लिया, इसलिए देश-भर में एक हलचल-सी मच गई और हर जगह नई ज़िन्दगी नज़र आने लगी। हमारे लिए तो यह केवल एक चुनाव-आन्दोलन ही नहीं था, बल्कि कुछ ज़्यादा था। हमें महज उन तीन करोड़ मत-दाताओं से ही नहीं, बल्कि उन करोड़ों लोगों से भी वास्ता था, जो मतदाता नहीं थे।

इस लम्बी-चौड़ी यात्रा का एक पहलू और भी था जिसने मुझे लुभा लिया। मेरे लिए तो यह यात्रा हिन्दुस्तान और हिन्दुस्तान की जनता से परिचय की यात्रा थी। मैंने अपने देश के हज़ारों रूप देखे, लेकिन तो भी सबमें हिन्दुस्तान की एकता की छाप थी। मैं उन लाखों स्नेह-भरी आंखों को ध्यान से देखता था, जो मुझे निहारा करती थीं, और यह जानने की कोशिश करता था कि उनके पीछे क्या है। जितना ही ज़्यादा मैं हिन्दुस्तान को देखता, उतना ही ज़्यादा मुझे लगता कि उसके असीम आकर्षण और विविध रूपों का मुझे कितना कम परिचय है और अभी मुझे कितना परिचय प्राप्त करने को बाक़ी है! मुझे लगता

कि मुझे देखकर भारतमाता कभी मुस्करा देती है, कभी मेरा उपहास करती है, और कभी मेरे लिए अबोध हो जाती है।

कभी-कभी, मैं एकाध दिन निकाल लेता और नज़दीक के मशहूर-मशहूर दर्शनीय स्थान देखता : जैसे अजन्ता की गुफाएं या सिन्ध के कांठे में मोहेंजोदड़ो। थोड़ी देर को जैसे मैं बीते हुए युग में पहुंच जाता और बोधिसत्त्व और अजन्ता की चित्रांकित रूपवती स्त्रियां मेरे मन में नाचा करतीं। कुछ दिनों बाद जब मैं खेतों में काम करती हुई या गांव के कुओं से पानी खींचती हुई स्त्रियों को देखता तो मैं आश्चर्यचकित रह जाता; क्योंकि इनसे मुझे अजन्ता की स्त्रियों की याद आ जाती थी।

आम चुनावों में कांग्रेस को कामयाबी मिली, और इसपर एक भारी बहस उठ खड़ी हुई कि हम सूबों में मंत्री-पद ग्रहण करें या नहीं। आख़िरकार यह तय हुआ कि हम मंत्री-पद ग्रहण करेंगे, पर इस समझौते पर कि वाइसराय या गवर्नरों की तरफ़ से कोई दख़ल नहीं दिया जायगा।

१९३७ की गर्मी में मैं बर्मा और मलाया गया। मैं कोई छुट्टी न मना सका; क्योंकि जहां-जहां मैं गया, भीड़ मेरे पीछे लगी रही और काम-काज में मैं घिरा रहा। लेकिन यह वायु-परिवर्तन सुखदायी था, और बर्मा के सजे-धजे अपेक्षाकृत युवक लोगों को देखना और उनसे मिलना मुझे अच्छा लगा; क्योंकि वे हिन्दुस्तान के लोगों से कई बातों में भिन्न थे, जिसपर कई युगों की छाप लगी है।

हिन्दुस्तान में हमारे सामने नये मसले आये। अधिकांश सूबों में कांग्रेस-सरकार की हुकूमत थी और बहुत-से मन्त्री बरसों जेल में बिता चुके थे। मेरी बहन विजयालक्ष्मी पण्डित युक्तप्रान्त की एक मंत्री हुई। हिन्दुस्तान में वह सबसे पहली महिला-मंत्री थीं। कांग्रेस-मन्त्रिमण्डल के आने का सबसे पहला नतीजा तो यह हुआ कि देहातों को एक राहत महसूस हुई, मानो एक बड़ा बोझ हट गया हो। देश-भर में एक नई ज़िन्दगी आ गई और किसान और मज़दूर उम्मीद करने लगे कि अब जल्दी बड़े-बड़े काम होंगे। राजनैतिक क़ैदी छोड़ दिए गये और बहुत-से नागरिक अधिकार मिल गये, जितने अबतक कभी नहीं मिले थे।

कांग्रेसी मन्त्रियों ने बहुत काम किया और दूसरों को भी करने पर मजबूर किया। लेकिन काम तो उन्हें शासन की पुरानी मशीन के साथ ही करना

पड़ा, जो उनके लिए बिलकुल विदेशी और अक्सर विरोधी थी। नौकरियां तक उनके अधिकार में न थीं। दो मर्तबा गवर्नरों से मतभेद हुआ और मन्त्रियों का दृष्टिबिन्दु मान लिया गया और संकट टल गया। लेकिन सिविल-सर्विस, पुलिस और दूसरी पुरानी सर्विसों की ताक़त और उनका असर ज़्यादा था; क्योंकि गवर्नर उनकी पीठ पर थे और ख़ुद विधान उनको सहारा दे रहा था। उनकी ताक़त और उनका असर सैकड़ों तरीक़े से महसूस हो रहा था। नतीजा यह हुआ कि प्रगति धीरे-धीरे हुई और असन्तोष उठ खड़ा हुआ।

वह असन्तोष ख़ुद कांग्रेस में ही ज़ाहिर हुआ और अधिक प्रगतिशील वर्ग बेचैन हो उठे। मैं ख़ुद घटनाचक्र की गति से प्रसन्न नहीं था; क्योंकि मैंने देखा कि हमारी बढ़िया लड़नेवाली संस्था धीरे-धीरे एक चुनाव लड़नेवाली संस्था में बदलती जा रही थी। ऐसा लगता था कि स्वतन्त्रता की लड़ाई लड़नी ही होगी और प्रान्तीय स्वशासन का यह पहलू तो महज़ थोड़े दिनों का है। अप्रैल १९३८ में मैंने गांधीजी को एक पत्र में कांग्रेस मन्त्रिमण्डल के कार्य के बारे में अपना असन्तोष यों प्रकट किया था—"वे पुरानी व्यवस्था से अपना मेल बैठाने के लिए बहुत ही ज्यादा कोशिश कर रहे हैं और उसे न्यायोचित सिद्ध कर रहे हैं। लेकिन इतना बुरा होते हुए भी बरदाश्त किया जा सकता है। पर इससे भी ज़्यादा बुरी बात यह है कि हम अपनी वह जगह खोते जा रहे हैं जो हमने इतनी मेहनत के साथ लोगों के दिल में बना पाई है। हम गिरते-गिरते मामूली राजनीतिज्ञों की सतह पर पहुंचते जा रहे हैं।"

मैं शायद कांग्रेसी मंत्रियों पर बिना ज़रूरत इतना सख़्त हो गया था, लेकिन इसका दोष तो परिस्थितियों पर ही ज्यादा लगाया जा सकता है। वस्तुतः राष्ट्रीय गतिविधि के अनेक क्षेत्रों में इन मंत्रि मण्डलों का कार्य ज़बरदस्त था। लेकिन उन्हें तो ख़ास हद में रहकर ही काम करना था और हमारे मसलों के लिए इनके बाहर जाने की आवश्यकता थी। उन्होंने जो कई अच्छे-अच्छे काम किये, उनमें से एक उनका बनाया हुआ काश्तकारी-क़ानून था जिससे किसानों को काफ़ी राहत मिली और दूसरा काम था बुनियादी शिक्षा की शुरुआत। विचार यह है कि यह बुनियादी शिक्षा ७ साल से १४ साल तक की उम्र के देश के हरेक बच्चे के लिए ७ बरस तक लाज़िमी और मुफ़्त कर दी जाय। यह किसी-न-किसी दस्तकारी के ज़रिये तालीम देने की आधुनिक पद्धति

पर रखी गई है और इसकी योजना इस प्रकार बनाई गई है जिससे पूंजी और सालाना ख़र्च तो बहुत कम हो जाय, लेकिन तालीम की अच्छाई में किसी क़दर भी कमी न आने पाये। हिन्दुस्तान-जैसे ग़रीब मुल्क में, जहां तालीम देने को करोड़ों बच्चे हैं, ख़र्च का सवाल ख़ास महत्त्व का है। इस पद्धति ने हिन्दुस्तान में शिक्षा में क्रान्ति पैदा कर दी है और उससे बड़ी-बड़ी उम्मीदें हैं।

उच्च शिक्षा की समस्या भी ज़ोर-शोर के साथ हल की गई और इसी तरह सार्वजनिक स्वास्थ्य की समस्या भी; मगर कांग्रेसी सरकारों के प्रयत्नों का अधिक फल नहीं मिल पाया था कि मन्त्रिमण्डलों ने आख़िरकार इस्तीफ़े दे दिये। फिर भी प्रौढ़ साक्षरता का काम जोश-ख़रोश के साथ आगे बढ़ाया गया—और उससे परिणाम अच्छे निकले। ग्राम-सुधार की ओर भी बहुत ध्यान दिया गया।

कांग्रेसी सरकारों का काम असर डालनेवाला रहा, मगर इस तमाम अच्छे काम से भी हिन्दुस्तान के बुनियादी मसले हल नहीं हो सके। उसके लिए तो ज़्यादा गहराई और तह में जानेवाले रद्दोबदल की और उस साम्राज्यवादी ढांचे को, जो सब तरह के स्थापित स्वार्थों की हिफ़ाज़त किये हुए था, ख़त्म करने की ज़रूरत थी।

इसलिए कांग्रेस के ज़्यादा नरम और ज़्यादा उग्र दलों में मतभेद पैदा हो गया। यह पहली बार अ० भा० कांग्रेस कमेटी की अक्तूबर १९३७ में होनेवाली बैठक में प्रकट हुआ। इससे गांधीजी को बड़ी तकलीफ़ पहुंची और उन्होंने खानगी तौर पर अपनी राय ज़ाहिर की। बाद में उन्होंने एक लेख लिखा जिसमें उन्होंने राष्ट्रपति की हैसियत से किये गए मेरे कुछ कामों को नापसन्द किया।

मैं महसूस कर रहा था कि मैं कार्यसमिति के एक ज़िम्मेदार मेम्बर की हैसियत से आगे काम नहीं कर सकता। लेकिन मैंने तय किया कि मुझे ऐसी कोई बात नहीं करनी चाहिए जिससे कोई संकट आ जाय। कांग्रेस की मेरी सदारत की मियाद अब खत्म होने पर थी और चुपचाप अलग हो सकता था। मैं दो साल लगातार सदर रह चुका था और कुल मिलाकर तीन बार। दूसरे साल के लिए मुझे चुने जाने की फिर कुछ चर्चा थी, मगर मेरे दिमाग़ में यह बात साफ़ थी कि मुझे खड़ा नहीं होना चाहिए। इस वक़्त मैंने एक ज़रा-सी तरकीब की जिसमें मुझे बड़ा मज़ा भी आया। मैंने एक लेख लिखा जो कलकत्ते के 'मॉडर्न रिव्यू' में बिना नाम से छपा। उसमें मैंने ख़ुद अपने ही दुबारा चुनाव होने का विरोध किया था।

यह कोई नहीं जानता था—खुद सम्पादक भी नहीं—कि वह किसने लिखा है और मैं बड़ी दिलचस्पी के साथ देखने लगा कि मेरे साथियों और दूसरों पर उसका क्या असर पड़ता है। लेखक के बारे में सब तरह की ऊटपटांग अटकलें और अन्दाज़ लगाये गए; लेकिन जबतक जॉन गुन्थर ने अपनी किताब 'इनसाइड एशिया' (एशिया के भीतर) में इसका ज़िक्र न किया तब तक बहुत ही कम लोग सचाई जान पाये थे।

हरिपुरा में जो अगला कांग्रेस-अधिवेशन हुआ उसके सभापति सुभाष बोस चुने गये और मैंने इसके बाद जल्दी ही यूरोप जाने का निश्चय किया। मैं अपनी बेटी इन्दु को देखना चाहता था, मगर असली सबब तो था अपने थके हुए और परेशान दिमाग़ को ताज़ा करना।

लेकिन यूरोप मुश्किल से ऐसी जगह थी जहां आराम से बैठकर सोचा-विचारा जा सके या दिमाग़ के अंधेरे कोने को रोशन किया जा सके। वहां तो एक अंधेरा फैला हुआ था। ज़ाहिरा ऐसी शान्ति ज़रूर थी जैसी तूफ़ान के आने से पहले हुआ करती है। वह जून १९३८ का यूरोप था, जबकि मि० नेवाइल चैम्बरलेन की खुश करने की नीति पूरे ज़ोर पर थी और वह उन देशों के शरीरों पर चल रही थी जिनको उनके साथ दग़ा करके कुचल डाला गया था और उसके अन्तिम दृश्य का नाटक म्यूनिक में हो चुका था। मैं हवाई जहाज़ से बर्सीलोना पहुंचा और इस संघर्ष-रत यूरोप में प्रवेश किया। वहां मैं पांच दिन तक रहा और रात में आसमान से बमबारी होते देखी। वहां बहुत-कुछ और भी देखा जिसका मुझपर बड़ा असर हुआ; वहां दरिद्रता, सर्वनाश और हमेशा सिरपर मंडराती हुई विपत्ति के बीच मैंने अपने-आपको यूरोप की किसी भी दूसरी जगह से ज़्यादा शान्ति में पाया। वहां प्रकाश था—साहस, दृढ़ निश्चय और कुछ महत्त्वपूर्ण काम कर दिखाने का प्रकाश था।

मैं इंग्लैंड गया और वहां एक महीना बिताया और सब दर्जो व सब तरह के विचारवाले लोगों से मिला। मैंने औसत आदमी में एक तरह की तब्दीली महसूस की। वह तब्दीली ठीक दिशा में थी; लेकिन ऊपर चोटी पर कोई तब्दीली नहीं थी। वहां चैम्बरलेनवाद विजय-गर्व में फूला बैठा था। फिर मैं चेकोस्लोवाकिया गया और नज़दीक से वह कठिन और पेचीदा कूटनीति देखी कि दोस्त के साथ दग़ा कैसे की जाती है और सामान्य

ध्येय को, जिसके आप ऊंची-से-ऊंची नैतिक बुनियाद पर हामी माने जाते हों, कैसे नुक़सान पहुंचाया जाता है। म्यूनिक-संकट के दिनों में मैंने यही कूटनीति लन्दन और जेनेवा में देखी और कई अजीब नतीजों पर पहुंचा। मुझे सबसे अधिक अचम्भा यह हुआ कि संकट के समय कथित प्रगतिशील लोग और दल निहायत नीचे गिर गये थे। जेनेवा को देखकर तो मुझे पुराने ज़माने के खंडहरों का ख़याल हो आता था, जहां इधर-उधर सैकड़ों अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं की लाशें बिखरी पड़ी थीं। लन्दन में इस बात पर सन्तोष प्रकट किया जा रहा था कि लड़ाई टल गई और अब दूसरी किसी चीज़ की परवा नहीं थी। क़ीमत दूसरों ने चुका ही दी थी, इसलिए उसकी कोई बात थी ही नहीं। लेकिन एक साल के भीतर ही फिर बहुत-कुछ बातें होने वाली थीं। मि० चैम्बरलेन का सितारा बुलन्द होता जा रहा था, हालांकि उनके विरोध में आवाज़ उठ रही थी। पेरिस ने मुझे काफ़ी सदमा पहुंचाया, ख़ासतौर से उसके मध्यम वर्ग ने, जिसने ज़रा भी विरोध तक नहीं किया। यह था क्रान्ति का स्थल पेरिस! सारी दुनिया की आज़ादी का प्रतीक!

बहुत-से स्वप्न भंग करके मैं यूरोप से दुःखी और उदास होकर लौटा। लौटते हुए रास्ते में मैं मिस्र में ठहरा, जहां मुस्तफा नहस पाशा और वफ़्द-पार्टी के दूसरे नेताओं ने मेरा हार्दिक स्वागत किया। मुझे उनसे दुबारा मिलकर और तेज़ी से बदलती हुई दुनिया की परिस्थिति का ध्यान रखते हुए परम्परा की सामान्य समस्याओं पर विचार-विनिमय करके खुशी हुई। कुछ महीने बाद, वफ़्द-पार्टी का एक प्रतिनिधि-मण्डल हिन्दुस्तान में हमसे मिलने आया और वह हमारे कांग्रेस के सालाना जल्से में शरीक भी हुआ था।

हिन्दुस्तान में पुराने मसले और झगड़े जारी थे। मुझे अपने साथियों से अपनी पटरी बैठाने की पुरानी मुश्किल का फिर सामना करना पड़ा। यह देखकर मुझे सन्ताप होता था कि ऐसे समय, जबकि दुनिया की काया-पलट होने वाली है, बहुतेरे कांग्रेसी दलबन्दियों के इन छोटे-मोटे झगड़ों में उलझे हुए हैं। फिर भी संस्था के ऊंचे हल्कों के कांग्रेसजनों में कुछ ठीक-ठीक समझ और दृष्टि थी। कांग्रेस के बाहर पतन और भी ज़्यादा साफ़ था। साम्प्रदायिक द्वेष और तनाव बढ़ गया था और मुस्लिम लीग श्री जिन्ना के नेतृत्व में उग्र रूप से राष्ट्रीयता-विरोधी और संकीर्ण हो गई और अचम्भे में डालनेवाला रास्ता इख़्तियार

करती रही। उसकी तरफ़ से न तो कोई रचनात्मक सुझाव था, न कोई कोशिश बीच-बचाव करके मेल-मिलाप करने की थी, और न सवालों का कोई जवाब मिलता था, कि वे दरअसल क्या चाहते हैं। उनका तो एक घृणा और हिंसा का खण्डनात्मक कार्यक्रम था—जिससे नाज़ी लोगों के तौर-तरीक़े याद आ जाते थे। जो बात ख़ासतौर से तकलीफ़देह थी वह यह थी कि साम्प्रदायिक संस्थाओं की उद्दण्डता बढ़ती जा रही थी—जिसका हमारे सार्वजनिक जीवन पर बुरा असर पड़ रहा था। बेशक ऐसी बहुतेरी मुस्लिम जमातें थीं और मुसलमानों की एक बड़ी तादाद ऐसी थी जो मुस्लिम लीग की हरकतों से नाराज़ और कांग्रेस के हक़ में थी ।

इस रीति से मुस्लिम लीग लाज़िमी तौर पर ज्यादा-से-ज्यादा ग़लत रास्ते पर चलती गई और आख़िरकार वह खुले-आम हिन्दुस्तान में प्रजातन्त्र के ख़िलाफ़ ही नहीं खड़ी हो गई, बल्कि देश के टुकड़े करने तक की हामी हो गई। ब्रिटिश अफ़सरों ने इस बेहूदी मांग पर उसकी पीठ ठोंकी, क्योंकि वे तमाम दूसरी हानिकर ताक़तों की तरह मुस्लिम लीग से फ़ायदा उठाना चाहते थे—ताकि कांग्रेस का असर कमज़ोर पड़ जाय। यह एक अचरज की बात थी कि जिस समय यह साफ़ हो गया हो कि छोटे-छोटे राष्ट्रों की दुनिया में कोई जगह नहीं है, वे केवल राष्ट्रों के एक संघ के हिस्से बनकर ही रह सकते हैं, ठीक उसी समय हिन्दुस्तान के हिस्से किये जाने की यह मांग पेश हो। शायद मांग गम्भीर रूप से न रखी गई हो, लेकिन वह श्री जिन्ना के दो राष्ट्रों वाले सिद्धान्त का अनिवार्य परिणाम थी। साम्प्रदायिकता की इस नई सूरत का धार्मिक भेद-भाव से कोई वास्ता न था। उन्हें दूर किया जा सकता था। यह तो आज़ाद, संगठित और प्रजातन्त्रात्मक भारत चाहनेवाले लोगों और उन अति प्रतिगामी और सामन्त प्रथावादी लोगों का राजनैतिक झगड़ा था जो मज़हब की ओट में अपने ख़ास हितों को क़ायम रखना चाहते थे। भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय के लोग धर्म के नाम पर जैसा आचरण कर रहे थे और उसका दुरुपयोग कर रहे थे, वह मुझे एक अभिशाप और सभी प्रकार की सामाजिक और वैयक्तिक प्रगति का निषेध प्रतीत होता था। वह धर्म, जिससे आशा की गई थी कि वह आध्यात्मिकता और भ्रातृ-भाव का प्रचार करेगा, अब घृणा, संकीर्णता और कमीनेपन का और निचले दर्जे की भौतिकता का ख़ास सोता बन गया।

में कुछ नहीं आता, मैं काम कर नहीं सकता, और जो-कुछ हुआ है उसकी दलील मेरी समझ में क़तई नहीं आती।" आगे मैंने लिखा था—"हममें से बहुतेरों के आगे पसन्दगी की कठिनाई बढ़ती जा रही है, और सवाल न दक्षिण-वाम (नरम-गरम) पक्ष का है, न राजनैतिक फ़ैसलों का ही है। पसन्दगी के लिए केवल यही है कि या तो ऐसे फ़ैसलों को बिना सोचे-समझे कबूल कर लो कि जो कभी-कभी एक-दूसरे का ही विरोध करते हैं और उनमें दलील की गुंजाइश नहीं है, या विरोध करो या फिर निष्क्रिय वन जाओ। इनमें से एक भी तरीक़े को अच्छा कह सकना आसान नहीं है। बिना सोचे-समझे किसीकी ऐसी बात मान लेने से, जो समझ में नहीं आती या ख़ुशी से मंजूर नहीं की जा सकती, मानसिक कमज़ोरी और जड़ता पैदा होती है। इस बुनियाद पर बड़े आन्दोलन नहीं चलाये जा सकते और प्रजातन्त्रीय आन्दोलन तो निश्चित रूप से नहीं। विरोध करना तब मुश्किल हो जाता है, जबकि वह हमें कमज़ोर करता और प्रतिपक्षी को मदद पहुंचाता हो। जिस समय कर्म की पुकार चारों ओर से उठ रही हो उस समय निष्क्रिय रहने से निराशा पैदा होती है औंर सब तरह की पेचीदगियां पैदा होती हैं।"

१९३८ के अख़ीर में यूरोप से लौटने के थोड़े समय बाद ही दो और हलचलों में मुझे लग जाना पड़ा। मैंने अखिल भारतीय देशी राज्य लोक-परिषद के लुधियाना-अधिवेशन का सभापतित्व किया और इस तरह अर्ध-सामन्ती देशी रियासतों के प्रगतिशील आन्दोलनों से मेरा और भी घनिष्ठ सम्वन्ध हो गया। बहुत-सी रियासतों में असन्तोष बढ़ता जा रहा था, जिससे जब-तब प्रजा-मण्डलों और अधिकारियों में संघर्ष हो जाता था। इन रियासतों के सम्बन्ध में अथवा ब्रिटिश सरकार के मध्ययुग के इन खंडहरों को क़ायम रखने में जो हिस्सा लिया है उसके बारे में लिखते हुए ज़बान पर लगाम लगाना मुश्किल है। हाल में एक लेखक ने उन्हें हिन्दुस्तान में ब्रिटेन का 'पांचवां दल' (शत्रु का गुप्त दल) ठीक ही कहा है। कुछ सुलझे हुए समझदार शासक भी हैं, जो अपनी प्रजा का पक्ष लेना चाहते हैं और कारगर सुधार जारी करना चाहते हैं. मगर सर्वोच्च सत्ता उनके रास्ते में रोड़े अटकाती है। एक प्रजातन्त्रीय रियासत 'पांचवां दल' बनकर काम नहीं कर सकती।

यह साफ़ है कि ये छोटी-बड़ी ५५० रियासतें राजनैतिक या आर्थिक इकाइयां

बनकर अलग-अलग काम नहीं कर सकतीं। प्रजातंत्री भारत में वे सामन्ती गढ़ बनकर नहीं रह सकतीं। चन्द बड़ी-बड़ी रियासतें फ़ेडरेशन (संघ) में प्रजातन्त्रीय इकाई बन सकती हैं, लेकिन दूसरों को तो बिलकुल मिट जाना होगा। इससे कम या छोटे सुधार से मसला हल नहीं हो सकेगा। देशी राज्यों की प्रथा को मिटना होगा और वह तभी मिटेगी, जब ब्रिटिश साम्राज्यवाद मिटेगा।

मेरी दूसरी हलचल थी, राष्ट्र-निर्माण समिति, (नेशनल प्लैनिंग कमेटी) का, जो कांग्रेस के तत्त्वावधान में प्रान्तीय सरकारों के सहयोग से बनी थी, सभापतित्व। जैसे-जैसे हम इस काम को लेकर चले वैसे-वैसे ही वह बढ़ता गया; यहां तक कि राष्ट्रीय गतिविधि के हरेक पहलू से उसका सम्बन्ध हो गया। हमने विविध विषय-समूहों के लिए २९ उप-समितियां मुक़र्रर कीं—कृषि, औद्योगिक, सामाजिक, आर्थिक आदि—और उनमें परस्पर सहयोग पैदा करने की कोशिश की, ताकि हिन्दुस्तान के लिए एक सुनिश्चित अर्थ-व्यवस्था की कोई योजना बन सके। हमारी योजना ज़रूरी तौर पर ढांचे की शकल में होगी, जिसमें बाद में ब्योरे की बातें शामिल होती रहेंगी। यह राष्ट्र-निर्माण-समिति अब भी काम कर रही है और अभी कुछ महीनों इसका काम खत्म होने की सम्भावना नहीं है। मेरे लिए यह काम बड़ा लुभावना रहा और इसमें मैंने बहुत-कुछ सीखा है। यह साफ़ है कि कोई भी योजना हम बनायें, वह अमल में तभी आ सकती है, जबकि हिन्दुस्तान आज़ाद हो। यह भी साफ़ है कि किसी भी उपयोगी योजना में आर्थिक ढांचे का समाजीकरण हो जाना ज़रूरी है।

१९३९ की गर्मी में मैं थोड़े दिन के लिए सीलोन (लंका) गया, क्योंकि वहां के हिन्दुस्तानी बाशिन्दों और सरकार में झगड़ा पैदा हो गया था। मुझे उस सुन्दर टापू में जाने से बड़ी खुशी हुई और मैं समझता हूं कि इस यात्रा से हिन्दुस्तान और सीलोन में निकट-सम्बन्धों की नींव पड़ी। हरेक शख्स की तरफ़ से मेरा हार्दिक स्वागत हुआ, जिनमें सरकार के सीलोनी मेम्बर भी थे। मुझे इसमें शक नहीं कि किसी भी भावी व्यवस्था में सीलोन और भारत को साथ-साथ रहना पड़ेगा। भविष्य में, मेरी कल्पना के अनुसार तो एक संघ बनेगा जिसमें चीन, भारत, बर्मा, सीलोन, अफगानिस्तान, और शायद दूसरे मुल्क भी शामिल होंगे। अगर विश्व-संघ बने तो फिर कहना ही क्या!

१९३९ के अगस्त में यूरोप की हालत डरावनी थी और संकट की घड़ी में

मैं हिन्दुस्तान छोड़कर नहीं जाना चाहता था। लेकिन चीन की यात्रा करने की इच्छा—भले ही थोड़े दिन के लिए सही—प्रबल थी। और मैं चीन के लिए हवाई जहाज़ से रवाना हुआ और हिन्दुस्तान छोड़ने के दो ही दिन के अन्दर-अन्दर मैं चुंगकिंग में था। पर जल्दी ही मुझे वापस हिन्दुस्तान आ जाना पड़ा, क्योंकि अन्त में यूरोप में लड़ाई छिड़ गई थी। मैंने स्वतन्त्र चीन में दो हफ़्ते से भी कम बिताये, लेकिन ये दो हफ़्ते थे बड़े स्मरणीय—न सिर्फ़ व्यक्तिगत रूप से मेरे ही लिए, बल्कि हिन्दुस्तान और चीन के भावी सम्बन्धों के लिए भी। मुझे यह जानकर बड़ी ख़ुशी हुई कि मेरी इस इच्छा को कि चीन और हिन्दुस्तान एक-दूसरे के अधिक निकट आयें, चीन के नेताओं ने भी दुहराया और ख़ास तौर पर उस महान् पुरुष ने, जो चीन की एकता और स्वतन्त्र रहने की लगन का प्रतीक बन गया है। मार्शल च्यांग काई शेक और मैडम च्यांग से मैं कई मर्तबा मिला और अपने-अपने देशों के वर्तमान और भविष्य पर विचार-विनिमय किया। जब मैं भारत लौटा तो चीन और चीनी लोगों का पहले से भी ज़्यादा प्रशंसक बनकर लौटा। मुझे यह कल्पना भी न थी कि दुर्दिन इन पुरातन लोगों की आत्मा को कुचल सकता है; वे फिर नौजवान बन गये थे।

युद्ध और हिन्दुस्तान! हमें अब क्या करना है! बरसों से हम इसके बारे में सोचते आ रहे थे और अपनी नीति की घोषणा कर चुके थे। मगर यह सब होते हुए भी ब्रिटिश सरकार ने, हम लोगों की, केन्द्रीय धारासभा की या प्रान्तीय सरकारों की राय लिये बिना, हिन्दुस्तान को लड़ाई में शरीक मुल्क क़रार दे दिया। इस उपेक्षा को हम यों ही नहीं टाल सकते थे; क्योंकि इससे प्रकट होता था कि साम्राज्यवाद पहले की तरह काम कर रहा है। सितम्बर १९३९ के मध्य कांग्रेस कार्य समिति ने एक लम्बा वक्तव्य जारी किया, जिसमें हमारी पिछली और हाल की नीति की व्याख्या की गई और ब्रिटिश सरकार से मांग की गई कि वह अपने युद्ध-उद्देश्य, ख़ासकर ब्रिटिश साम्राज्यवाद के प्रश्न पर, साफ़ करे। हमने अक्सर फ़ासिज़्म और नाज़ीवाद की निन्दा की थी, लेकिन हमारा निकट-सम्बन्ध तो साम्राज्यवाद से था जो हमारे ऊपर सवार था। क्या यह साम्राज्य-वाद मिट जायगा? क्या उन्होंने हिन्दुस्तान की आज़ादी को और विधान-पंचायत द्वारा अपना विधान स्वयं बनाने के अधिकार को स्वीकार किया? केन्द्रीय शासन को तत्काल लोक-निर्वाचित सरकार के मातहत लाने के लिए क्या क़दम उठाये

जायंगे ? बाद में, किसी भी अल्पसंख्यक समूह की ओर से उठाये जा सकने वाले ऐतराज़ों को रफ़ा करने के लिए विधान-पंचायत का विचार और भी अच्छी तरह स्पष्ट कर दिया गया। यह बयान दिया गया कि इस पंचायत में अल्प-संख्यकों के हक़ों पर अल्पसंख्यकों की राय से फ़ैसले किये जायंगे, बहुमत से नहीं। अगर किसी सवाल पर इस प्रकार समझौता मुमकिन न हो सकेगा, तो वह एक निष्पक्ष पंचायत में आख़िरी फ़ैसले के लिए पेश होगा। लोकतन्त्रवादी दृष्टि से यह प्रस्ताव ख़तरे से ख़ाली नहीं था, लेकिन अल्पसंख्यकों के सन्देह को मिटाने के लिए कांग्रेस चाहे जितनी दूर तक जाने को तैयार थी।

ब्रिटिश सरकार का जवाब साफ़ था। इसमें कोई शक नहीं रहा कि वह अपने युद्ध-उद्देश्यों को स्पष्ट करने या शासन को जनता के प्रतिनिधियों के हाथों में सौंप देने को तैयार नहीं थी। पुरानी व्यवस्था चलती रही और चलती रहने-वाली थी; हिन्दुस्तान में अंग्रेजों के हित अरक्षित नहीं छोड़े जा सकते थे। इस बात पर कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों ने इस्तीफ़ पेश कर दिये; क्योंकि वे युद्ध चलाने में इन शर्तों पर सहयोग करना नहीं चाहते थे। विधान स्थगित कर दिया गया और स्वेच्छाचारी हुकूमत फिर से क़ायम हो गई। ठीक वही पुराना वैधानिक संघर्ष हिन्दुस्तान में भी आ खड़ा हुआ जैसा कि पश्चिमी देशों में निर्वाचित पार्लमेंट और सम्राट् के विशेषाधिकारों में छिड़ा था, और जिसमें इंग्लैंड और फ्रांस के दो सम्राटों को अपनी जान देनी पड़ी थी। लेकिन इस वैधानिक पहलू के अलावा कुछ और बात भी थी। ज्वालामुखी अभी फूटा नहीं था, लेकिन वह छिपा ज़रूर था, और उसकी गर्जना सुनाई दे रही थी।

अड़ंगा जारी रहा और इसी दरमियान नये कानून और आर्डिनेंस धीरे-धीरे हमपर लादे जाने लगे और कांग्रेसियों और दूसरे लोगों की गिरफ़्तारियां बढ़ने लगीं। विरोध बढ़ा और हमारी तरफ़ से कुछ कार्रवाई करने की मांग भी। लेकिन लड़ाई के रवैये और ख़ुद इंग्लैंड के संकट से हम झिझक भी रहे थे, क्योंकि हम वह पुराना सबक पूरी तौर से नहीं भूल सकते थे, जो गांधीजी ने हमें सिखाया था, कि हमारा लक्ष्य विपक्षी को उसकी मुसीबत की घड़ी में परेशान करना नहीं होना चाहिए।

ज्यों-ज्यों लड़ाई बढ़ती गई, नये-नये मसले खड़े होते गये या पुराने मसले नई शकलें इख़्तियार करते गये, और पुरानी रूप-रेखाएं बदलती मालूम

होने लगीं, पुराने स्टैण्डर्ड (माप) धुंधले पड़ने लगे। कई धक्के लगे और जमे रहना मुश्किल हो गया। रूस-जर्मनी का समझौता, सोवियत का फिनलैंड पर हमला और जापान की तरफ़ दोस्ताना झुकाव! इस दुनिया में क्या कोई सिद्धान्त भी है? संसार में आचरण का कोई आदर्श भी है? या सब-कुछ केवल अवसरवादिता ही है?

अप्रैल आया और नार्वे की हार हुई। मई में हालैंड और बेलजियम के भयंकर काण्ड हुए। जून में अचानक ही फ्रांस का पतन हुआ और पेरिस, जो एक घमंडी और मनोरम नगर था और आज़ादी का पालना था, अब कुचला हुआ और गिरा हुआ पड़ा था। फ्रांस की सिर्फ़ फ़ौजी हार ही नहीं, बल्कि उसका नैतिक दासत्व और पतन भी हुआ जो बेहद बुरी बात थी। मैं अचम्भे में था कि यदि मूल में कोई ख़राबी न थी तो यह सब कैसे हुआ! क्या ख़राबी यह थी कि इंग्लैंड और फ्रांस उस पुरानी व्यवस्था के सबसे बड़े प्रतिनिधि थे, जिसको अब ख़त्म होना चाहिए, और इसीलिए वे क़ायम नहीं रह सकते थे? क्या साम्राज्यवाद ज़ाहिरा तौर पर उन्हें ताक़त पहुंचा रहा था, पर दरअसल उस क़िस्म की लड़ाई में उनको कमज़ोर कर रहा था? अगर वे ख़ुद अपने यहाँ आज़ादी का दमन करते थे तो उसके लिए लड़ कैसे सकते थे! तब उनका साम्राज्यवाद नग्न फ़ासिज़्म में बदल जाता—जैसा कि फ्रांस में हुआ। मि० चैम्बरलेन और उनकी पुरानी नीति की छाया अब भी इंग्लैंड पर पड़ रही थी। जापान को ख़ुश करने के लिए बर्मा-चीन का रास्ता बन्द किया जा रहा था। और यहाँ हिन्दुस्तान में किसी परिवर्तन का संकेत तक नहीं था, और हमारी ख़ुद अपनेपर लगाई हुई रोक का मतलब यह लगाया जाता था कि हम कोई कारगर काम करने के क़ाबिल नहीं हैं। मुझे आश्चर्य होता था कि ब्रिटिश सरकार में ज़रा भी दूरदर्शिता नहीं है और वह ज़माने की रफ़्तार को, और जो कुछ हो रहा है उसको समझने, और अपने-आपको उसके मुताबिक़ बनाने में असमर्थ है। क्या यह कोई प्राकृतिक नियम था कि अन्य क्षेत्रों की तरह राजनैतिक घटनाओं में भी कारण के बाद कार्य अवश्य होना चाहिए, और जिस पद्धति की अब कोई उपयोगिता नहीं रह गई थी, वह अब समझदारी के साथ अपनी रक्षा भी नहीं कर सकती थी!

अगर ब्रिटिश सरकार ही मन्दबुद्धि थी और तजरबे से भी कुछ सबक़ नहीं ले सकती थी तो भारत-सरकार की निस्बत कोई क्या कहे! इस सरकार

की कारगुज़ारियों पर कुछ तो हँसी आती है, पर कुछ दुःख भी होता है, क्योंकि कोई भी दलील, ख़तरा या आफ़त उसकी स्वतःसन्तुष्ट रहने की सदियों पुरानी नीति से उसे डिगाती नहीं दिखाई देती। रिप वॉन विंकिल की तरह वह जागते हुए भी शिमला-शैल पर सोती रहती है।

युद्ध की परिस्थिति में तब्दीलियां होती गई, और कांग्रेस कार्य-समिति के सामने नये-नये सवाल आते गये। गांधीजी चाहते थे कि कार्य-समिति अभी तक अहिंसा के जिस सिद्धान्त का आज़ादी की लड़ाई में पालन कर रही थी, उसे बढ़ाकर स्वतन्त्र राष्ट्र-संचालन के लिए भी अनिवार्य कर दे। स्वतन्त्र भारत को बाहरी हमलों या अन्दरूनी झगड़ों से अपनी हिफ़ाज़त करन के लिए इसी सिद्धान्त पर निर्भर रहना होगा। उस वक़्त हमारे सामने यह सवाल नहीं था, लेकिन उनके खुद के दिमाग़ में वह समाया हुआ था और वह महसूस करते थे कि उसकी स्पष्ट घोषणा का वक़्त आ चुका है। हममें से हरएक यह विश्वास करता था कि हमको अपनी लड़ाई में अहिंसा की नीति पर पूर्ववत् डटे रहना चाहिए। यूरोप के युद्ध ने इस विश्वास को पक्का कर दिया था। लेकिन इसके साथ भविष्य के राष्ट्र को बांध देना एक दूसरी ही और ज़्यादा मुश्किल बात थी। और यह देखना आसान न था कि राजनीति की सतह पर चलने-फिरनेवाला कोई इसे कैसे कर सकेगा!

गांधीजी ने महसूस किया, और शायद ठीक ही किया, कि वह सारी दुनिया की ख़ातिर अपना सिद्धांत न तो छोड़ सकते हैं, और न उसे सीमित कर सकते हैं। उनको अपनी इच्छानुसार अपने सिद्धांत का प्रचार करने की आज़ादी होनी चाहिए और राजनीतिक आवश्यकताएं उनके मार्ग में बाधक नहीं होनी चाहिए। इसलिए पहली मर्त्तबा उन्होंने एक रास्ता इख़्तियार किया और कांग्रेस कार्य-समिति ने दूसरा। उनसे पूर्ण सम्बन्ध-विच्छेद नहीं हुआ था, क्योंकि आपस के बन्धन बड़े कड़े थे और निस्सन्देह अब भी वह तरह-तरह से सलाह देते रहेंगे और अक्सर नेतृत्व करते रहेंगे। फिर भी इतना तो शायद सच है कि उनके कांग्रेस से आंशिक रूप से हट जाने से हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन का एक काल ख़त्म हो गया है। इन पिछले बरसों में मैंने उनमें एक कड़ाई आती देखी है, और परिस्थितियों से मेल बैठाने की जो क्षमता उनमें थी, वह कम हो गई है। लेकिन पुराना जादू उनमें अभी है। वह पुराना आकर्षण अब भी काम करता है।

और उनका व्यक्तित्व और उनकी महानता सर्वोपरि है । कोई यह खयाल न करे कि हिन्दुस्तान के करोड़ों लोगों पर उनका जो असर था, वह कुछ कम हो गया है । वह बीस साल से अधिक समय से हिन्दुस्तान के भाग्य-निर्माता रहे हैं और उनका काम अभी पूरा नहीं हुआ है ।

पिछले चन्द हफ़्तों में चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य के कहने पर कांग्रेस ने ब्रिटेन के सामने एक और प्रस्ताव रक्खा । राजगोपालाचार्य कांग्रेस के नरम पक्ष के कहे जाते हैं । उनकी अद्भुत मेधाशक्ति, निःस्वार्थ चारित्र्य और विश्लेषण की अपूर्व क्षमता हमारे लक्ष्य के लिए बहुत लाभदायक रही है । कांग्रेस-मन्त्रि-मण्डल के शासनकाल में वह मद्रास के प्रधान मंत्री थे । संघर्ष से बचने के लिए वह चिन्तित थे, इसलिए उन्होंने एक प्रस्ताव रखा जिसे उनके कुछ साथियों ने बिना हिचकिचाहट के मंजूर कर लिया । प्रस्ताव यह था कि ब्रिटेन हिन्दुस्तान की आज़ादी मंजूर करे, केन्द्र में फ़ौरन ऐसी अस्थायी राष्ट्रीय सरकार बना दे, जो मौजूदा केन्द्रीय धारासभा के प्रति ज़िम्मेदार हो । अगर यह हो जाय, तो रक्षा का भार यह नई सरकार ले ले और इस तरह लड़ाई की कोशिशों में मदद पहुंचाये ।

कांग्रेस का यह प्रस्ताव खासतौर से व्यावहारिक था और फ़ौरन बिना कोई गड़बड़ी पैदा किये अमल में लाया जा सकता था । राष्ट्रीय सरकार अनिवार्य रूप से सम्मिलित रूप की होती, जिसमें अल्पसंख्यक दलों का पूरा प्रतिनिधित्व होता । प्रस्ताव निश्चित रूप से नरम था । रक्षा और युद्ध-प्रयत्नों की दृष्टि से कोई गम्भीर कार्य किया जाय, तो जनता का विश्वास और सहयोग होना चाहिए, इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं । और सिर्फ़ राष्ट्रीय सरकार को ही ऐसा विश्वास और सहयोग मिल सकता है । साम्राज्यवाद के द्वारा यह होना नामुमकिन है ।

लेकिन साम्राज्यवाद तो उलटी ही दिशा में सोचता है । वह खयाल करता है कि वह अपना काम चलाता रह सकता है और अपनी मर्जी पूरी करने के लिए लोगों पर दबाव भी डालता रह सकता है । खतरा सिर पर होने पर भी वह इस बड़ी भारी मदद को पाने के लिए तैयार नहीं है, क्योंकि इसमें हिन्दुस्तान की राजनीतिक और आर्थिक बागडोर छोड़नी पड़ती है । और तो और, उसे उस बड़ी भारी नैतिक प्रतिष्ठा की भी परवा नहीं है, जो उसे हिन्दुस्तान में और

साम्राज्य के बाक़ी हिस्सों में इस तरह की न्यायोचित बात करने से मिल सकती है।

आज, ८ अगस्त, १९४० को, जब मैं यह लिख रहा हूं, वाइसराय ने ब्रिटिश सरकार का जवाब हमें दे दिया है। वह साम्राज्यवाद की पुरानी भाषा में है और मजमून किसी क़दर भी नहीं बदला है। यूरोप और दुनिया की तरह यहां हिन्दुस्तान में भी कालचक्र घूमता जा रहा है।

मेरे साथी वापस जेल में पहुंच गये हैं और मुझे उनपर थोड़ा रश्क भी है। शायद युद्ध, राजनीति, फ़ासिज़्म और साम्राज्यवाद की इस पागल दुनिया की बनिस्बत कारावास के एकान्त में जीवन की अखंडता की भावना उत्पन्न कर लेना अधिक आसान है।

लेकिन कभी-कभी कम-से-कम इस दुनिया से थोड़ी देर को छुटकारा मिल ही जाता है। पिछले महीने २३ बरस के बाद मैं काश्मीर हो आया। मैं वहां सिर्फ १२ दिन रहा, लेकिन ये बारह दिन बड़े सुन्दर थे, और मैंने जादू-भरे उस देश की रमणीयता का भोग किया। मैं घाटी के इधर-उधर घूमा, ऊंचे-ऊंचे पहाड़ों की सैर की और एक ग्लेशियर पर चढ़ा और महसूस किया कि जीवन भी एक काम की चीज है।

इलाहाबाद

८ अगस्त, १९४०

परिशिष्ट

: १ :

(२६ जनवरी १९३०, पूर्ण स्वाधीनता-दिवस का प्रतिज्ञा-पत्र)

"हम भारतीय प्रजाजन भी अन्य राष्ट्रों की भांति अपना यह जन्मसिद्ध अधिकार मानते हैं कि हम स्वतन्त्र होकर रहें, अपनी मेहनत का फल खुद भोगें और हमें जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक सुविधाएं मिलें, जिससे हमें भी विकास का पूरा-पूरा मौक़ा मिले। हम यह भी मानते हैं कि अगर कोई सरकार ये अधिकार छीन लेती है और प्रजा को सताती है तो प्रजा को उस सरकार को बदल देने या मिटा देने का भी हक़ है। हिन्दुस्तान की अंग्रेजी सरकार ने हिन्दुस्तानियों की स्वतन्त्रता का ही अपहरण नहीं किया है, बल्कि उसका आधार ही ग़रीबों के रक्त-शोषण पर है और उसने आर्थिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक दृष्टि से हिन्दुस्तान का नाश कर दिया है। इसलिए हमारा विश्वास है कि हिन्दुस्तान को अंग्रेजों से सम्बन्ध-विच्छेद करके पूर्ण स्वराज्य या मुकम्मिल आज़ादी प्राप्त कर लेनी चाहिए।

"भारत की आर्थिक बरबादी हो चुकी है। जनता की आमदनी को देखते हुए उससे बेहिसाब कर वसूल किया जाता है। हमारी औसत दैनिक आय सात पैसे है। और हमसे जो भारी कर लिये जाते हैं उनका २० फ़ीसदी किसानों से लगान के रूप में और ३ फ़ीसदी ग़रीबों से नमक-कर के रूप में वसूल किया जाता है।

"हाथ-कताई आदि ग्राम-उद्योग नष्ट कर दिये गए हैं। इससे साल में कम-से-कम चार महीने किसान लोग बेकार रहते हैं। हाथ की कारीगरी नष्ट हो जाने से उनकी बुद्धि भी मन्द हो गई है और जो उद्योग इस प्रकार नष्ट कर दिये गए हैं उनकी जगह दूसरे देशों की भांति कोई नये उद्योग जारी भी नहीं किये गए हैं।

"चुंगी और सिक्के की व्यवस्था इस प्रकार की गई है कि उससे किसानों का भार और भी बढ़ गया है। हमारे देश में बाहर का माल अधिकतर अंग्रेज़ी कारख़ानों से आता है। चुंगी के महसूल में अंग्रेज़ी माल के साथ साफ़तौर पर

पक्षपात होता है। इसकी आय का उपयोग गरीबों का बोझा हल्का करने में नहीं, बल्कि एक अत्यन्त अपव्ययी शासन को क़ायम रखने में किया जाता है। विनिमय की दर भी ऐसे मनमाने तरीक़े से निश्चित की गई है जिससे देश का करोड़ों रुपया बाहर चला जाता है।

"राजनैतिक दृष्टि से हिन्दुस्तान का दर्जा जितना अंग्रेज़ों के जमाने में घटा है उतना पहले कभी नहीं घटा था। किसी भी सुधार-योजना से जनता के हाथ में असली राजनैतिक सत्ता नहीं आई। हमारे बड़े-से-बड़े आदमी को विदेशी सत्ता के सामने सिर झुकाना पड़ता है। अपनी राय आज़ादी से ज़ाहिर करने और आज़ादी से मिलने-जुलने के हमारे हक़ छीन लिये गए हैं और हमारे बहुत-से देशवासी निर्वासित कर दिये गए हैं। हमारी सारी शासन की प्रतिभा मारी गई है और सर्व-साधारण को गांवों के छोटे-छोटे ओहदों और मुंशीगिरी से सन्तोष करना पड़ता है।

"संस्कृति के लिहाज़ से शिक्षा-प्रणाली ने हमारी जड़ ही काट दी और हमें जो तालीम दी जाती है उससे हम अपनी ग़ुलामी की ज़ंजीरों को ही प्यार करने लगे हैं।

"आध्यात्मिक दृष्टि से हमारे हथियार ज़बरदस्ती छीनकर हमें नामर्द बना दिया गया। विदेशी सेना हमारी छाती पर सदा मौजूद रहती है। उसने हमारी मुक़ाबले की भावना बड़ी बुरी तरह से कुचल दी है। उसने हमारे दिलों में यह बात बिठा दी है कि हम न अपना घर सम्हाल सकते हैं और न विदेशी हमलों से देश की रक्षा कर सकते हैं। इतना ही नहीं, चोर, डाकू और बदमाशों के हमलों से भी हम अपने बाल-बच्चों और जान-माल को नहीं बचा सकते। जिस शासन ने हमारे देश का इस तरह से सर्वनाश किया है, उसके अधीन रहना हमारी राय में मनुष्य और ईश्वर दोनों के प्रति अपराध है। किन्तु हम यह भी मानते हैं कि हमें हिंसा के द्वारा स्वतन्त्रता नहीं मिलेगी। इसलिए हम ब्रिटिश सरकार से यथा-सम्भव स्वेच्छापूर्वक किसी भी प्रकार का सहयोग न करने की तैयारी करेंगे और सविनय अवज्ञा और करबन्दी तक के साज सजायेंगे। हमारा पक्का विश्वास है कि अगर हम राज़ी-राज़ी सहायता देना और उत्तेजना मिलने पर भी हिंसा किये बग़ैर कर देना बन्द कर सके, तो इस अमानुषी राज्य का नाश निश्चित है। इसलिए हम शपथपूर्वक संकल्प करते हैं कि पूर्ण स्वराज्य की स्थापना के लिए कांग्रेस समय-समय पर जो आज्ञाएं देगी, उनका हम पालन करते रहेंगे।"

: २ :

यरवदा सेण्ट्रल जेल, पूना से १५ अगस्त, १९३० को कांग्रेस-नेताओं द्वारा सर तेजबहादुर सप्रू और श्री मुकुन्दराव जयकर को लिखा गया सुलह की शर्तों वाला पत्र—

आप लोगों ने ब्रिटिश सरकार और कांग्रेस में शान्तिपूर्ण समझौता करने का जो भार अपने ऊपर लिया है, उसके लिए हम लोग आपके बहुत-बहुत आभारी हैं। आपका वाइसराय के साथ जो पत्र-व्यवहार हुआ है, और आपके साथ हम लोगों की जो बहुत अधिक बातें हुई हैं और हम लोगों में आपस में जो कुछ परामर्श हुआ है, उन सबका ध्यान रखते हुए हम इस नतीजे पर पहुंचे हैं कि अभी ऐसे समझौते का समय नहीं आया है, जो हमारे देश के लिए सम्मानपूर्ण हो। पिछले पांच महीनों में देश में जो ग़जब की जाग्रति हुई है और भिन्न-भिन्न सिद्धान्त व मत रखने वाले लोगों में से छोटे-बड़े सभी प्रकार और वर्ग के लोगों ने जो बहुत अधिक कष्ट सहन किया है, उसे देखते हुए हम लोग यह अनुभव करते हैं कि न तो वह कष्ट-सहन काफ़ी ही हुआ है, और न वह इतना बड़ा ही हुआ है कि उससे तुरन्त ही हमारा उद्देश्य पूरा हो जाय। शायद यहां यह बतलाने की कोई आवश्यकता न होगी कि हम आपके या वाइसराय के इस मत से सहमत नहीं हैं कि सत्याग्रह-आन्दोलन से देश को हानि पहुंची है या वह आन्दोलन कुसमय में खड़ा किया गया है या वह अवैध है। अंग्रेज़ों का इतिहास ऐसी-ऐसी रक्तपूर्ण क्रान्तियों के उदाहरणों से भरा पड़ा है, जिनकी प्रशंसा के राग गाते हुए लोग कभी नहीं थकते; और उन्होंने हम लोगों को भी ऐसा ही करने की शिक्षा दी है। इसलिए जो क्रान्ति विचार की दृष्टि से बिलकुल शान्तिपूर्ण है और जो कार्यरूप में भी बहुत बड़े पैमाने में और अद्‌भुत रूप से शान्तिपूर्ण ही है, उसकी निन्दा करना वाइसराय या किसी और समझदार अंग्रेज़ को शोभा नहीं देता। पर जो सर-कारी या ग़ैर-सरकारी आदमी वर्त्तमान सत्याग्रह-आन्दोलन की निन्दा करते हैं, उनके साथ झगड़ा करने की हमारी कोई इच्छा नहीं है। हम मानते हैं कि सर्व-साधारण जिस आश्चर्यजनक रूप से इस आन्दोलन में शामिल हुए, वही इस

बात का यथेष्ट प्रमाण है कि यह उचित और न्यायपूर्ण है। यहां कहने की बात यही है कि हम लोग भी प्रसन्नतापूर्वक आपके साथ मिलकर इस बात की कामना करते हैं कि अगर किसी तरह सम्भव हो तो यह सत्याग्रह-आन्दोलन बन्द कर दिया जाय या स्थगित कर दिया जाय। अपने देश के पुरुषों, स्त्रियों और बच्चों तक को अनावश्यक रूप से ऐसी परिस्थिति में रखना कि उन्हें जेल जाना पड़े, लाठियां खानी पड़ें और इनसे भी बढ़कर दुर्दशाएं भोगनी पड़ें, हम लोगों के लिए कभी आनन्ददायक नहीं हो सकता। इसलिए जब हम आपको और आपके द्वारा वाइसराय को यह विश्वास दिलाते हैं कि सम्मानपूर्ण शान्ति और समझौते के लिए जितने मार्ग हो सकते हैं, उन सब को ढूंढ़कर उनका सहारा लेने के लिए हम अपनी ओर से कोई बात न उठा रखेंगे, तो आशा है कि आप हम लोगों की इस बात पर विश्वास करेंगे। लेकिन फिर भी हम मानते हैं कि अभीतक हमें क्षितिज पर ऐसी शांति का कोई लक्षण नहीं दिखाई देता। हमें अभीतक इस बात का कोई आसार नहीं दिखाई पड़ता कि ब्रिटिश सरकारी दुनिया का अब यह विचार हो गया है कि खुद हिन्दुस्तान के स्त्री-पुरुष ही इस बात का निर्णय कर सकते हैं कि हिन्दुस्तान के लिए सबसे अच्छा कौन-सा रास्ता है। सरकारी कर्मचारियों ने अपने शुभ विचारों की जो निष्ठापूर्ण घोषणाएं की हैं, और जिनमें से बहुत-सी प्रायः अच्छे उद्देश्य से की गई हैं, उनपर हम विश्वास नहीं करते। इधर मुद्दतों से अंग्रेज़ इस प्राचीन देश के निवासियों की धन-सम्पत्ति का जो बराबर अपहरण करते आये हैं, उनके कारण उन अंग्रेजों में अब इतनी शक्ति और योग्यता नहीं रह गई कि वे यह बात देख सकें कि उनके इस अपहरण के कारण हमारे देश का कितना अधिक नैतिक, आर्थिक और राजनैतिक ह्रास हुआ है। वे अपने-आपको यह देखने के लिए तैयार ही नहीं कर सकते कि उनके करने का सबसे बड़ा एक काम यही है कि वे जो हमारी पीठ पर चढ़े बैठे हैं, उसपर से उतर जायं, और लगभग सौ बरसों तक भारत पर उनका राज्य रहने के कारण सब प्रकार से हम लोगों का नाश और ह्रास करनेवाली जो प्रणाली चल रही है, उससे बाहर निकलकर विकसित होने में हमारी सहायता करें; और अबतक उन्होंने हमारे साथ जो अन्याय किये हैं, उनका इस रूप में प्रायश्चित्त कर डालें।

पर हम यह बात जानते हैं कि आपके और हमारे देश के कुछ और विज्ञ

लोगों के विचार हमारे इन विचारों से भिन्न हैं। आप यह विश्वास करते हैं कि शासकों के भावों में परिवर्तन हो गया है; और अधिक नहीं तो कम-से-कम इतना परिवर्तन ज़रूर हो गया है कि जिससे हम लोगों को प्रस्तावित परिषद् में ज़रूर शरीक होना चाहिए। इसलिए हालांकि हम इस समय एक ख़ास तरह के बन्धन में पड़े हुए हैं; तो भी जहांतक हमारे अन्दर शक्ति है, वहां तक हम इस काम में खुशी से आप लोगों का साथ देंगे। हम जिस परिस्थिति में पड़े हुए हैं, उसे देखते हुए, आपके मित्रतापूर्ण प्रयत्न में हम अधिक-से-अधिक जिस रूप में और जिस हद तक सहायता दे सकते हैं, वह इस प्रकार है—

(१) हम यह समझते हैं कि वाइसराय ने आपके पत्र का जो जवाब दिया है उसमें प्रस्तावित परिषद् के सम्बन्ध में जिस भाषा का प्रयोग किया गया है, यह भाषा ऐसी अनिश्चित है कि पार साल लाहौर में जो राष्ट्रीय मांग पेश की गई थी, उसका ध्यान रखते हुए हम वाइसराय के उस कथन का कोई मूल्य या महत्त्व ही निर्धारित नहीं कर सकते; और न हमारी स्थिति ही ऐसी है कि कांग्रेस की कार्य-समिति, और ज़रूरत हो तो महासमिति के नियमित अधिवेशन में बिना विचार किये हम लोग अधिकारपूर्ण रूप से कोई बात कह सकें। पर हम इतना अवश्य कह सकते हैं कि व्यक्तिगत तौर पर हम लोगों के लिए इस समस्या का कोई ऐसा निराकरण तबतक सन्तोषजनक न होगा, जबतक कि—

(क) पूरे और स्पष्ट शब्दों में यह बात न मान ली जाय कि भारत को इस बात का अधिकार प्राप्त होगा कि वह, जब चाहे तब, ब्रिटिश साम्राज्य से अलग हो जाय;

(ख) भारत में ऐसी पूर्ण राष्ट्रीय सरकार स्थापित न हो जाय जो उसके निवासियों के प्रति उत्तरदायी हो ताकि उसे देश की रक्षक शक्तियों (सेना आदि) पर और तमाम आर्थिक विषयों पर पूरा अधिकार और नियन्त्रण प्राप्त हो और जिसमें उन ११ शर्तों का भी समावेश हो जाय जो गांधीजी ने वाइसराय को अपने पत्र में लिखकर भेजी थीं; और

(ग) हिन्दुस्तान को इस बात का अधिकार न प्राप्त हो जाय कि ज़रूरत हो तो वह एक ऐसी स्वतन्त्र पंचायत बैठाकर इस बात का निर्णय करा सके कि, अंग्रेज़ों को जो विशेष अधिकार और रिआयतें वग़ैरा प्राप्त हैं, जिसमें भारत का सार्वजनिक ऋण भी शामिल होगा और जिनके सम्बन्ध में राष्ट्रीय सरकार

का यह मत होगा कि ये न्यायपूर्ण नहीं हैं या भारत की जनता के लिए हितकर नहीं हैं, वे सब अधिकार, रिआयतें और ऋण आदि उचित, न्यायपूर्ण और मान्य हैं या नहीं।

नोट—अधिकार हस्तान्तरित होते वक़्त भारत के हित के विचार से इस क़िस्म के जिस लेन-देन आदि की ज़रूरत होगी, उसका निर्णय भारत के चुने हुए प्रतिनिधि करेंगे।

(२) ऊपर बतलाई हुई बातें ब्रिटिश सरकार को अगर ठीक जंचें और वह इस सम्बन्ध में सन्तोषजनक घोषणा कर दे तो हम कांग्रेस की कार्य-समिति से इस बात की सिफ़ारिशें करेंगे कि सत्याग्रह-आन्दोलन या सविनय-अवज्ञा का आन्दोलन बन्द कर दिया जाय; अर्थात् केवल आज्ञा-भंग करने के लिए ही कुछ विशिष्ट क़ानूनों का भंग न किया जाय। पर विलायती कपड़े और शराब, ताड़ी वग़ैरा की दुकानों पर तबतक शान्तिपूर्ण पिकेटिंग जारी रहेगा, जबतक कि सरकार ख़ुद क़ानून बनाकर शराब, ताड़ी आदि और विलायती कपड़े की बिक्री बन्द न कर दे। सब लोग अपने घरों में बराबर नमक बनाते रहेंगे और नमक-क़ानून की दण्ड-सम्बन्धी धाराएं काम में नहीं लाई जायंगी। नमक के सरकारी या लोगों के निजी गोदामों पर धावा नहीं किया जायगा।

(३) ज्योंही सत्याग्रह-आन्दोलन रोक दिया जायगा, त्योंही :

(क) वे सब सत्याग्रही क़ैदी और राजनैतिक क़ैदी, जो सज़ा पा चुके हैं पर जो हिंसा के अपराधी नही हैं या जिन्होंने लोगों को हिंसा करने के लिए उत्तेजित नहीं किया है, सरकार द्वारा छोड़ दिये जायंगे;

(ख) नमक-क़ानून, प्रेस-क़ानून, लगान-क़ानून और इसी प्रकार के और क़ानूनों के अनुसार, जो तमाम सम्पत्तियां जब्त की गई हैं, वे सब लोगों को वापस कर दी जायंगी;

(ग) सजायाफ्ता सत्याग्रहियों से जो जुर्माने वसूल किये गए हैं या जो ज़मानतें ली गई हैं, उन सबकी रक़में लौटा दी जायंगी;

(घ) वे सब राज-कर्मचारी, जिनमें गांवों के कर्मचारी भी शामिल हैं, जिन्होंने अपने पद से इस्तीफ़ा दे दिया है या जो आन्दोलन के समय नौकरी से छुड़ा दिये गए हैं, अगर फिर से सरकारी नौकरी करना चाहें तो अपने पद पर नियुक्त कर दिये जायंगे।

नोट—ऊपर जो उपधाराएं दी गई हैं उनका व्यवहार असहयोग-काल के सजायाफ्ता लोगों के लिए भी होगा ।

(ड) वाइसराय ने अबतक जितने आर्डिनेंस जारी किये हैं, वे सब रद्द कर दिये जायंगे ।

(च) प्रस्तावित परिषद में कौन-कौन लोग सम्मिलित किये जायंगे और उसमें कांग्रेस का प्रतिनिधित्व किस प्रकार होगा, इसका णिर्णय उसी समय होगा, जब पहले ऊपर बताई हुई आरम्भिक बातों का सन्तोषजनक निपटारा हो जायगा ।

भवदीय,

मोतीलाल नेहरू, मोहनदास करमचन्द गांधी,
सरोजिनी नायडू, वल्लभभाई पटेल,
जयरामदास दौलतराम, सैयद महमूद, जवाहरलाल नेहरू

: ३ :

[२६ जनवरी, १९३१ को पढ़ा गया पुण्य-स्मरण का प्रस्ताव]

"भारत-माता की उन सन्तानों का, जिन्होंने आज़ादी की महान लड़ाई में भाग लिया और देश की स्वतन्त्रता के लिए अनेक कष्ट सहे और क़ुर्बानी कीं; अपने उस महान और प्रिय नेता महात्मा गांधी का, जो कि हमारे लिए सतत स्फूर्ति के स्रोत रहे हैं, और जो हमें सदैव उसी ऊंचे आदर्श और पवित्र साधनों का मार्ग दिखाते रहे हैं; उन सैकड़ों हज़ारों बहादुर नवयुवकों का, जिन्होंने स्वतन्त्रता की वेदी पर अपने प्राणों की बलि चढ़ाई; पेशावर और सारे सीमाप्रान्त और शोलापुर, मिदनापुर और बम्बई के शहीदों का; उन सैकड़ों हज़ारों भाइयों का, जिन्होंने दुश्मन के नृशंस लाठी-प्रहारों का मुक़ाबला किया और उन्हें सहा; गढ़-वाली रेजीमेंट के सैनिकों और फौज और पुलिस के उन सब भारतीय सिपाहियों का, जिन्होंने अपनी जानें खतरे में डालकर भी अपने देश-भाइयों पर गोली आदि चलाने से इन्कार कर दिया; गुजरात के उन दबंग किसानों का, जिन्होंने बिना झुके और पीठ दिखाये सभी नृशंस अत्याचारों का मुक़ाबला किया; भारत के अन्य प्रदेशों के उन बहादुर और पीड़ित किसानों का, जिन्होंने सब प्रकार के दमन को सहकर भी लड़ाई में पूरा भाग लिया; उन व्यापारियों और व्यवसाय-क्षेत्र के अन्य समुदायों का जिन्होंने ज़बरदस्त नुक़सान उठाकर भी राष्ट्रीय संग्राम में, विशेष कर विदेशी वस्त्र और ब्रिटिश माल के बहिष्कार में सहायता की; उन एक लाख स्त्री-पुरुषों का, जो जेल गये और सब प्रकार के कष्ट सहे, यहांतक कि कभी-कभी जेल के अन्दर भी लाठी-प्रहार और चोटें सहीं; और ख़ासकर उन साधारण स्वयंसेवकों का जिन्होंने भारतमाता के सच्चे सिपाहियों की तरह बिना किसी प्रकार की ख्याति या पुरस्कार की इच्छा के एकमात्र अपने महान ध्येय का ही ध्यान रखकर कष्टों और कठिनाइयों के बीच भी अनवरत और शान्ति-पूर्वक कार्य किया, हम. . . . नगर के निवासी गौरव और कृतज्ञतापूर्ण हृदय से अभिवादन करते हैं; और हम अभिनन्दन और हार्दिक सराहना करते हैं भारत की नारी जाति की, कि जो भारत-माता के संकट-समय में अपने घरों की शरण

छोड़कर अदम्य साहस और सहिष्णुतापूर्वक, राष्ट्रीय सेना में अपने भाइयों के साथ कन्धे-से-कन्धा मिलाकर अगली कतार में खड़ी रहीं और बलिदान और सफलता के उल्लास में पूरा-पूरा भाग लिया; और भारत की उस युवक शक्ति और वानर-सेना पर जिसे उसकी सुकुमार आयु भी लड़ाई में भाग लेने और अपने ध्येय पर क़ुर्बान होने से न रोक सकी, अपना गर्व प्रकट करते हैं।

और साथ ही, हम कृतज्ञतापूर्वक इस बात की सराहना करते हैं कि भारत की सब बड़ी और छोटी जातियों और वर्णों ने इस महान संग्राम में हाथ बंटाया और ध्येय की प्राप्ति के लिए शक्ति-भर प्रयत्न किया। ख़ासकर—मुस्लिम, सिक्ख, पारसी, ईसाई आदि अल्पसंख्यक जातियों के प्रति और भी कृतज्ञता प्रकट करते हैं, जिन्होंने अपने साहस और अपनी अनन्य मातृभूमि के प्रति अपनी एक-निष्ठ भक्ति के साथ, एक ऐसे संयुक्त और अविभाज्य राष्ट्र के निर्माण में, जिसकी कि जय निश्चित है, सहायता दी, और हिन्दुस्तान की स्वतन्त्रता प्राप्त करने और उसे क़ायम रखने तथा उस नवीन स्वतन्त्रता का भारत के सब समुदाय के लोगों की बेड़ियां तोड़कर सबमें असमानता दूर करने के रूप में मानवता के उच्चतर उद्देश्य की पूर्ति के लिए उपयोग करने का निचय किया। भारत के हित के लिए बलिदान और कष्ट-सहन के ऐसे महान और स्फूर्तिदायक उदाहरणों को अपने सामने रखते हुए हम स्वतन्त्रता की अपनी प्रतिज्ञा को दुहराते हैं और जबतक हिन्दुस्तान आज़ाद नही हो जाता तबतक अपनी लड़ाई जारी रखने का निश्चय करते हैं।

●